#### THE

## MANUSMRTI

WITH THE COMMENTARY

### MANVARTHAMUKTĀVALI

OF

### KULLŪKA.

VARIOUS READINGS, FOOT-NOTES, INDICES ETC.,

#### TENTH EDITION

EDITED WITH CRITICAL & EXPLANATORY NOTES ETC.,

BY

NĀRĀYAŅ RĀM ĀCHĀRYA "KĀVYATĪRTHA"

PUBLISHED BY

SATYABHĀMĀBĀĪ PĀŅDURANG,

FOR THE NIRNAYA SAGAR PRESS,

BOMBAY

[ All rights reserved by the Publisher.]

Publisher:-Satyabhamabai Pandurang. For the Mirnaya Sagar Press, Printer:-Ramehandra Yesu Shedge, 26-28, Kolbhat Street, Bombay.



इह खुळ जगति सर्वे मनुष्यप्रभृतयः स्थावरान्ताः प्रादुर्भवन्तः परिणममाना-स्तिरोभवन्तश्चेकसूत्रनिगडिताः सन्तो वर्तन्तामितीयं जगत्पालयितुरिच्छा दश्यते । आपाततस्तु तिर्यवः स्थावरा ये चामीभ्यः प्रस्यवो बाह्मणक्षत्रविदश्द्रदास्ते सर्वे भिन्नां भिन्नां सर्णिमनुरुन्धाना व्यवहरन्ति, नह्येतावदेवापि त प्रतिपिण्डं भिन्ना इति प्रतिभासन्ते स्थूलदशाम्, एवमपि सूक्ष्मविचारणायामेकसूत्रानियन्त्रितत्वमेव ससमज्ञसं भवति । तद्यथा--ते ते जनिमन्तस्तादशीं तादशीं योनिमापन्नास्तत्तदा-काररूपपरिमाणशीला अवलोक्यन्ते । नहि कदाचित्केनचित्स्थावरो मानुषाकारादि-भाग्दष्टः । नवा मनुष्यर्क्तियग्धर्ममुद्वहुन्दश्यते । तदेवं निपुणं निरूप्यमाणे किम-प्येकं सूत्रमालम्बयिन्नदं जगत्स्वेषु स्वेष्विधकारेषु नियतं वर्तत इति स्थिरीभवति । तदेवाधिष्ठानभूतं सूत्रं प्रति धर्म इलाचक्षते मनुव्यासवसिष्ठादयः परमर्षयः । तथा 'धर्मे सर्वे प्रतिष्ठितम्' इति ब्रवन्यकं सर्वशब्दवाच्यजगत्प्रतिष्ठाकारणं धर्म इलाख्यापयति । सर्वशब्दवाच्यस्य जगतोऽस्य विचित्रतरप्रपञ्चजालर्चनाया-स्तद्भावे सत्त्वात्तदभावे चाभावाद्यक्तमेवैतत्। पश्चमवेदाभिख्यस्यातिगभीरस्य सर्वे-ज्ञानाकरस्य भारतस्यापि तात्पर्यमिदमेवेति ज्ञातव्यम्। तथा हि 'न जात कामान भयात्र लोभाद्धर्मे त्यजेजीवितंस्यापि हेतोः । घर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये' इति भारतसावित्रीत्वेन वसन्ते पिक इव पश्चमं, मधुरं जेगीयते ततोऽ-वगच्छाम धर्मः परमं कारणमिति। भगवानपि 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः' इति कर्मशब्देन धर्ममभिलषंस्तद्भिरतो निःश्रेयसं लभत इत्यर्जु-नाय निजैकभक्तायोपदिदेश । अयमेवार्थः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्वाह्लाह्लो-द्घोष्यत इति विपश्चिद्धरैः समीक्षणीयम् । तसात्पूर्वपूर्वार्जितधर्मेण तां तां दैवीं मानुषीं वा नारकीं वा प्रतिनियतस्वभावफलविचित्रां स्थितिं सर्वो लभत इत्युप-पद्यते । न ह्यतत्सर्वतन्त्रसिद्धमर्थमनभ्यूपगम्यमानैर्छोकस्थितिकारणमनुगतं सुवचं समजसं चोदाहर्तुं शक्यमिति तस्त्रनिपुणैर्विचक्षणवरेण्यैः समीक्षणीयमित्यप्रास-क्रिकविस्तरभियोपरम्य प्रकृतप्रन्थप्रस्ताविकोपयोगि किंचिदुलिख्यते ।

मानवेऽसिन्नतिमहनीयधर्मप्रन्थे प्रथममुद्रणावसरे प्राथमिकत्वाद्धेतोर्जातान्य-संगतपदरचनावदवाक्यरचनाब्रह्ममीमांसास्त्रविपर्यासमन्त्रापपाठेत्यासैन्यशुद्धानि परिमार्ज्य, पादशः श्रोकानुक्रमणिकां चाद्ययावत्कापि हगगोचरामुपनिबध्य, विषयानुक्रममपि संगृह्य महतायासेन सपरिष्कारं सावधानं च संशोध्य धार्मिक-विपश्चितामुपायनीकृतोऽयं प्रन्थः। एवमपि यत्र कचिदस्माहशालपप्रज्ञजनालपदृष्टि-मतिदोषसुल्यसंभवा मुद्रकदोषसंभवा वा अशुद्धयो हक्पथमापतेयुश्चेद्विदुषां तिर्दं स्खलनकश्चीलत्वं मानवीयज्ञानस्य परिभावयन्तो धीमन्तः क्षम्येरिचिति बाढं विश्वसिति नश्चेतः।

इदमेकं च विज्ञापनीयमास्ते यदेवं महतायासेन शोधिता, सौलभ्येन लामार्थं चाल्पमूल्या, वैदिकधमैंकप्रतिपादिका चेयं मनुस्मृतिश्चिरं स्मारयतु वेदप्रणिहितं धर्मं, कालत्रयं च विलसतु धार्मिकानां हृदये कादिम्बन्यामिव सौदामिनी, वित-रतु च नैःश्रेयसं तदिमलाषुकाणां, वर्धयतु च धर्मप्रन्थानुवचनरुचिमार्याणाम् । वेन च तत्रभवतो प्रन्थनिर्मातुरस्मदीयालपश्रमस्यापि साफत्यं भवत्विति विज्ञाप्य श्चितिस्मृतिजनयितुर्भगवतो धर्मेहपस्य ख्यंज्योतिषः प्रसादादेतत्सफलं भवत्विति तमाराध्यामेति शिवमिति—

रामचन्द्रश्चर्माणः ।

# मनुसंहितास्थविषयानुक्रमः ।

## प्रथमोऽध्यायः ।

| प्रकरणम्                         | ૠ                      | ोकाः ।     | प्रष्टम् | प्र <b>कर</b> णम्          | શ્રુ     | ोकाः पृ | ष्टम् |
|----------------------------------|------------------------|------------|----------|----------------------------|----------|---------|-------|
| मनुं प्रति मुनीनां ध             | र्मप्रश्नः             | 9          | 9        | महाप्रलयस्थितिः            | •••      | ५४      | 96    |
| तान् प्रति मनोक्तर               |                        | ४          | 3        | जीवस्थोत्क्रमणम्           |          | ५५      | 96    |
| जगदुत्पत्तिकथनम्                 |                        | ધ્ષ        | 8        | जीवस्य देहान्तरप्रह        | ^        | ५६      | 96    |
| जलसृष्टिकमः                      |                        | ٥          | 4        | जाप्रत्खप्ताभ्यां ब्रह्मा  | सर्व     |         |       |
| ज्ञह्योत्पत्तिः<br>इह्योत्पत्तिः | •••                    | 9          | ا        | सृजति                      | •••      | 43      | 98    |
| _                                |                        |            | ا ق      | एतच्छास्त्रप्रचारमाह       | •••      | ५८      | 98    |
| नारायणशब्दार्थकथ                 | नभ्                    | 90         | - 1      | मृगुरेतच्छास्रं युष्म      | कं       |         |       |
| व्रह्मखरूपकथनम्                  | •••                    | 99         | ٠        | कथ्यिष्यति                 | •••      | ५९      | 98    |
| खर्गभूम्या <b>दि</b> सृष्टिः     | •••                    | 93         | ٥        | <b>भृगुस्तान्मुनीनुवाच</b> | •••      | ६०      | 98    |
| महदादिक्रमेण जगर्                | रुपत्तिः               | 38         | 6        | मन्वन्तरकथनम्              | •••      | ę٩      | २०    |
| देवगणादिसृष्टिः                  | •••                    | २२         | 99       | अहोरात्रमानादिकथ           | नम्      | ६४      | २०    |
| वेदत्रयसृष्टिः                   | ***                    | २३         | 99       | पित्र्याहोरात्रकथनम        | Į        | ६६      | २०    |
| कालादिसृष्टिः                    | •••                    | २४         | 92       | दैवाहोरात्रकथनम्           | •••      | ६७      | २१    |
| कामकोधादिसृष्टिः                 | •••                    | २५         | 92       | चतुर्युगप्रमाणम्           | •••      | ६९      | २१    |
| धर्माधर्मविवेकः                  | ***                    | २६         | 92       | दैवयुगप्रमाणम्             | •••      | 60      | २१    |
| सूक्ष्मस्थूलाद्युत्पत्तिः        | •••                    | २७         | 92       | ब्राह्माहोरात्रप्रमाणम्    | Į        | ७२      | २२    |
| कर्मसापेक्षा सृष्टिः             |                        | 36         | 93       | ब्रह्मणः सृष्ट्यर्थं मन    | ोर्नियो- |         |       |
| ब्राह्मणादिवर्णसृष्टिः           |                        | 39         | 93       | जनम्•••                    | •••      | ७३      | २२    |
| स्त्रीपुरुषसृष्टिः               | ***                    | ३२         | 98       | मनस आकाशप्रादु             | भोवः     | ७५      | २३    |
| मनोरुत्पत्तिः                    |                        | 33         | 98       | आकाशाद्वायुप्रादुभ         |          | ७६      | २३    |
| <b>मरी</b> च्याद्युत्पत्तिः      | ***                    | 38         | 38       | वायोस्तजः प्रादुर्भाव      |          | 90      | २३    |
| यक्षगन्धर्वाद्युत्पत्ति          | :                      | ३७         | 94       | तेजसो जलं जला              |          | 30      | २३    |
| मेघादिस्रष्टिः                   |                        | 36         | 94       | मन्वन्तरप्रमाणम्           | ***      | 48      | २३    |
| पशुपक्ष्यादि सृष्टिः             | ***                    | ३९         | 94       | सले चतुष्पादमीः            | •••      | 69      | १४    |
| <del>कृमि</del> कीटाद्युत्पत्तिः | •••                    | 80         | 94       | अन्ययुगे धर्मस्य पा        | दशो हा   | नि:८२   | २४    |
| जरायुजगणना                       | •••                    | ४३         | 98       | युगे युगे आयुःप्रम         |          | 63      | 38    |
| अण्डजादयः                        | •••                    | ४४         | 3 €      | युगे युगे धर्मवैलक्ष       |          | 64      |       |
| खेदजादयः                         | ***                    | <b>፠</b> ሤ | 9 €      | ब्राह्मणस्य कर्म           |          | 66      | 24    |
| <b>उद्भिजादयः</b>                | •••                    | 86         | 9 4      | 1                          | ~~~      | 68      | રૂપ   |
| वनस्पतिबृक्षभेदः                 | ***                    | 80         |          | क्षत्रियस्य कर्म           | ***      |         | રૂપ   |
| गुरुछगुलमादयः                    | ***                    | * XC       |          | वैश्यस्य कर्म              | ***      | 30      |       |
| एवं सङ्घा ब्रह्मणो               | sन्तर्घां <del>न</del> | म् ५१      | 90       | शहस्य कर्म ***             | •••      | .59     | ः २६  |

| प्रकरणम्   | श्लोकाः  | पृष्टम्  | प्रकरणम्                          | ,     | श्चोकाः | पृष्ठम् |
|--|----------|----------|-----------------------------------|-------|---------|---------|
| द्धाह्मणस्य श्रेष्ठत्वम् •••   | 35       | २६       | स्वाच्यायादेमीं <b>कृहे</b> तुत्व | माह   | २८      | ३९      |
| ब्राह्मणेषु ब्रह्मवेदिनः श्रेष्ठ   | T: ९७    | २७       | जातकर्माह .                       | ••    | 25      | 38      |
| एतच्छास्रं ब्राह्मणेनाध्येत  | व्यं १०३ | २८       | नामकरणमाह् •                      | ••    | 30      | 38      |
| <b>ए</b> तच्छास्राध्ययनफलम्  | 908      | 26       | स्त्रीणां नामकरणमाहः              | ••    | 33      | ४०      |
| आचारो धर्मप्रधानः  |          | 39       | 1                                 | ••    | ३४      | ४०      |
| <b>प्रन्थार्थानुकमणिका</b>   | 999      | २९       | चूडाकरणम् .                       | ••    | 34      | ४०      |
| <b>द्वितीयोऽध्या</b> य   | T: 1     |          |                                   | ••    | ३८      | ४१      |
| धर्मसामान्यलक्षणम्   | 9        | 39       | कामनाभेदेनाब्दनियम                |       | ३ ७     | ४१      |
| कामात्मतानिषेधः  | ર        | 39       | उपनयनकालविचारः.                   |       | ३८      | ४१      |
| व्रतादयः संकल्पजाः   | 3        | 33       | त्राखाः                           |       | ३९      | ४१      |
| अकामस्य न कापि किया  | 8        | 33       | कृष्णाजिनादिधारणम्                |       | ४१      | ४१      |
| धर्मप्रमाणानि  | Ę        | 33       | मौङ्यलाभे कुशादि-                 |       |         |         |
| धर्मस्य वेदमूलत्वम्  | v        | २२<br>३४ |                                   | ••    | ४३      | ४२      |
| श्रुतिस्मृत्युदितथर्मोऽनुष्ठेयः  |          | 38       | उपवीतमाह .                        | ••    | ४४      | ४२      |
| श्रुतिसम्खोः परिचयः  | 90       | 38       | अथ दण्डाः                         | ••    | ४५      | ४२      |
| नास्तिकनिन्दा  | 99       | ३५       | अथ भिक्षा                         | ••    | ४९      | ४३      |
| चतुर्घा धर्मप्रमाणमाह  | 92       | 34       | प्राद्धुखादिकाम्यभोजन             | गफलं  | ५२      | 88      |
| श्रुतिस्मृखोर्विरोधे श्रुति-   |          | ```      | भोजनादावन्ते चाचम                 | ानम्  | ५३      | ४४      |
| र्बलवती  | 93       | ३५       | श्रद्धयानं भुजीत 🔐                |       | ५४      | ४४      |
| श्रुतिद्वैधे उभयं प्रमाणम्   | 98       | 34       | अश्रद्धया भोजनं निधि              | बंदम् | 44      | ४५      |
| श्रुविद्वेधे दष्टान्तमाह   | 94       | 36       | भोजने नियमाः                      |       | ५६      | ४५      |
| दशकर्मोपेतस्यात्राधिकारः   | 9 €      | 38       | अतिमोजननिषेधः                     | •     | 40      | ४५      |
| धर्मानुष्ठानयोग्यदेशकथनम्  |          | 38       | ब्राह्मादितीर्थेनाचमनं न          | 7     |         |         |
| ब्रह्मावर्तदेशीयः सदारः  | 96       | 3 €      | पितृतीर्थेन                       | • •   | 46      | ४५      |
| <b>कुरक्षेत्रा</b> दिब्रह्मधिंदेशानाह  |          | ३७       | ब्राह्मादितीर्थान्याह             | •     | 48      | ४६      |
| तद्शीयबाह्यणादाचारं  |          | `        | आचमनविधिः                         |       | Ęo      | ४६      |
| शिक्षेत्   | २०       | ३७       | सन्यापसन्यमाह                     |       | ६३      | لالا    |
| मध्यदेशमाह   | 39       | 30       | विनष्टे पूर्वदण्डादौ द्वित        | तैयाः |         |         |
| आर्यावर्तमाह   | 23       | ३७       | दिप्रहणम्                         | •     | 88      | 80      |
| यशियदेशमाह   | 23       | 30       | केशान्ताख्यसंस्कारः               | • •   | 44      | 80      |
| वर्णधर्मादिकमाह  | २५       | 36       | स्रीणां संस्काराद्यमन्त्रक        | म्    | 44      | ४७      |
| द्विजानां वैदिकमन्त्रैर्गर्भा-   |          |          | जीणां वैवाहिकविधिवै               | दे-   |         |         |
| भानादिकं कार्यम्   | ₹.       | 36       | कमन्त्रेरेव                       | i e   | Ę O     | ¥ø      |
| मर्भाधानादेः पापक्षयहेतुः  | •        |          | उपनीतस्य कर्मोह                   |       | -       | 86      |
| and the second s | 30       | 36       | वेदाध्ययनविधिः                    |       | vo.     | 86      |
|  |          |          |                                   |       |         | •       |

| <b>अकरणम्</b>              | श्लोकाः     | पृष्ठम् | प्रकरणम् श्लोकाः                | पृष्ठम्    |
|----------------------------|-------------|---------|---------------------------------|------------|
| गुरुवन्दनविधिः             | ७२          | 86      | अपृष्टो वेदं न ज़्यात् ११०      | 40         |
| गुरोराज्ञयाऽध्ययनविरामी    | ् ७३        | ४९      | निषेधातिक्रमे दोषः १९१          | 40         |
| अध्ययनादावन्ते च प्रण      | वः ७४       | ४९      | असच्छिष्याय विद्या न            |            |
| प्राणायामः •••             | ৬५          | ४९      | वक्तव्या ११२                    | 40         |
| प्रणवाद्युत्पत्तिः         | ७६          | ४९      | सच्छिष्याय वक्तव्या १९५         | 40         |
| सावित्रयुत्पत्तिः          | . <b>७७</b> | ४९      | अध्ययनं विना वेदप्रहण-          |            |
| सावित्रीजपफलम्             | ७८          | 40      | निषेधः ११६                      | 46         |
| सावित्रीजपाकरणे प्रायि     | तं ८०       | 40      | अध्यापकानां मान्यत्वमाह ११७     | 46         |
| प्रणवव्याहृतिसावित्री-     |             |         | अविदिताचरणनिन्दा ११८            | 46         |
| प्रशंसा                    | 69          | 40      | गुरोरभिवादनादौ ११९              | 46         |
| प्रणवप्रशंसा •••           | ८४          | 49      | वृद्धाभिवादने १२०               | 40         |
| मानसजपसाधिक्यम्            | 24          | 49      | अभिवादनफलम् १२१                 | 49         |
| इन्द्रियसंयमः ,            | 66          | ५२      | अभिवादनविधिः १२२                | ५९         |
| एकादशेन्द्रियाणि           | ८९          | 43      | प्रसमिवादने १२५                 | Ęo         |
| इन्द्रियसंयमेन सिद्धिन ह   | Ţ           |         | प्रसिवादनाज्ञाने दोषः १२६       | Ęo         |
| भोगैः                      | ९३          | ५३      | कुशलप्रश्नादी १२७               | Ęo         |
| विषयोपेक्षकः श्रेष्ठः      | 38          | ५३      | दीक्षितादेर्नामग्रहणनिषेधः १२८  | <b>६</b> 9 |
| इन्द्रियसंयमोपायमाह्       | 38          | 48      | परस्र्यादेनीमप्रहणनिषेधः १२९    | 69         |
| कामासक्तस्य यागादयो ।      | त .         |         | कनिष्ठमां तुलादिवन्दननिषे० १३०  | Ę٩         |
| फलदाः                      | <b>९७</b> , | ५४      | मातृष्वसादयो गुरुस्रीव-         |            |
| जितेन्द्रियखरूपमाह         | 96          | 48      | त्पूज्याः 📑 १३१                 | <b>£9</b>  |
| एकेन्द्रियासंयमोऽपि        |             |         | भ्रातृभार्याद्यभिवादने १३२      | ६१         |
| निवार्यः                   | 55          | 48      | ज्येष्ठभगिन्याद्यभिवादने १३३    | ६२         |
| इन्द्रियसंयमस्य पुरुषार्थ- | 4.4         |         | पौरसख्यादौ १३४                  | ६२         |
| हेतुत्वम् •••              | 900         | 48      | दशवर्षोऽपि ब्राह्मणः क्षत्रि-   |            |
| संध्यात्रयवन्दनम्          |             | 44      | यादिभिः पितेव वृन्दः १३५        | <b>63</b>  |
| संध्याहीनः श्रद्रवत्       | 903         | 44      | वित्तादीनि मान्यत्वकार-         |            |
| वेदपाठाशकौ सावित्री-       |             |         | णानि १३६                        | ६२         |
| मात्रज्यः                  | 908         | dd      | रथारूढादेः पन्या देयः १३८       | ६३         |
| नित्यकर्मादौ नानध्यायः     | 904         | ५६      | स्नातकस्य पन्था राज्ञा देयः १३९ | ६३         |
| जपयज्ञफलम्                 | 900         | ५६      | अथाचार्यः १४०                   | ६३         |
| समावर्तनान्तं होमादि       | **          |         | अथोपाच्यायः १४१                 | ६३         |
| कर्तव्यम्                  | 906         | ५६      | अथ गुरः १४२                     | ER         |
| कीद्दशः शिष्योऽध्याप्य     |             |         | अयर्तिक् १४३                    | E.R.       |
| . इलाइ                     | 108         | 48      | अध्यापकप्रशंसा १४४              | . É.A.     |

| <b>प्र</b> करणम्           | श्लोकाः | पृष्ठम् | प्रकरणम् श्लोकाः पृष्टम्            |
|----------------------------|---------|---------|-------------------------------------|
| मात्रादीनामुत्कर्षः        | 984     | ६४      | सायंत्रातर्होमस्मिधः ••• १८६ ७२     |
| आचार्यस्य श्रेष्ठत्वम्     |         | ६४      | होमायकरणे १८७ ७२                    |
| बालोऽप्याचार्यः पितेव      |         | 44      | एकग्रहभिक्षानिषेघः १८८ ७२           |
| अत्र दृष्टान्तमाह          | 949     | ६५      | निमन्त्रितस्यैकाचभोजने १८९ ७२       |
| वर्णक्रमेण ज्ञानादिना      |         |         | क्षत्रियवैश्ययोर्नैकान्नभोज-        |
| ज्यैष्ट्यम् •••            | 944     | . ६६    | नम् 🤈 १९० ७३                        |
| मूर्खनिन्दा                | 940     | ξĘ      | अध्ययने गुरुहिते च यतं              |
| शिष्याय मधुरा वाणी प्रय    | गे-     |         | कुर्यात् १९१ ७३                     |
| क्तव्या                    | 948     | ६७      | गुर्वोज्ञाकारित्वमाह ••• १९२ ७३     |
| नरस्य दाब्धनःसंयममाह       | 950     | ६७      | गुरी सुप्ते शयनादि १९४ ७३           |
| परद्रोहादिनिषेधः           | 969     | ६७      | गुर्वोज्ञाकरणप्रकारः १९५ ७४         |
| परेणावमाने ऋतेऽपि क्षम     | TÎ .    |         | गुरुसमीपे चाञ्चल्यनिषेधः १९८ ७४     |
| कार्या                     | १६२     | ६७      | गुरोर्नामग्रहणादिकं न कार्यं १९९ ७४ |
| अवमन्तुर्दोषः              | 963     | Ę७      | गुरुनिन्दाश्रवणनिषेधः २०० ७४        |
| अनेन विधिना वेदोऽध्ये-     |         |         | गुरुपरिवादकरणफलम् २०१ ७५            |
| तव्यः                      | १६४     | Ęc      | समीपं गत्वा गुरुं पूजयेत् २०२ ७५    |
| वेदाभ्यासस्य श्रेष्ठत्वम्  | १६६     | ६८      | युर्वादिपरोक्षे न किंचित्क-         |
| वेदाभ्यासस्तुतिः           | 950     | EC      | थयेत २०३ ७५                         |
| वेदमनधील वेदाङ्गान्य-      |         | i       | यानादौ गुरुणा सहोप-                 |
| विद्याध्ययननिषेधः          | •       | ६९      | वेशने २०४ ७५                        |
| द्वेजत्वनिरूपणार्थमाह      | १६९     | '६९     | परमगुरौ गुरुवद्वृत्तिः २०५ ७५       |
|                            | 909     | ६९      | विद्यागुरुविषये २०६ ७६              |
| इतोपनयनस्य वेदाध्ययनं      | •       | ७०      | गुरुपुत्रविषये 🔐 २०७ ७६             |
| गोदानादौ नव्यदण्डादयः      |         | ७०      | गुरुस्त्रीविषये २१० ७६              |
| नियमा एते अनुष्ठेयाः       |         | ७०      | स्रीखभावकथनम् २१३ ७७                |
| नेलस्नानतर्पणहोमादि        |         | ဖစ      | मात्रादिभिरेकान्तवास-               |
| बह्मचारिणो नियमाः          |         | ७०      | निषेधः २१५ ७७                       |
| ममाद्रेतःपातनिषेधः         | 960     | ७१      | युवतीगुरुस्रीवन्दने 🗻 २१६ ७७        |
| खमे रेतः पाते              | 969     | 60      | गुरुशुश्रूषाफलम् २१८ ७८             |
| आचार्यार्थं जलकुशादाह-     |         |         | ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह्२१९ 🔻 ७८ |
| रणम्                       | 963     | 9       | स्योंदयास्तकालसापे २२० ७८           |
| देदयशोपेतगृहाद्भिक्षा      |         | 1       | संध्योपासनमवद्यं कार्यम् २२२ ७९     |
|                            | 963     |         | ह्यादेः श्रेयःकरणे २२३ ७९           |
| <b>प्रकलादि</b> भिक्षायाम् | 358     | ७२      | त्रिवर्गमाह २२४ ७९                  |
| श्रामशस्त्रामक्षानिषेधः    | 964     | ७२      | पित्राचार्यादयो नाबमान्याः २२५ ७९   |
| *,                         |         |         |                                     |

| प्रकरणम्                      | स्रोकाः        | पृष्ठम् | प्रकरणम् श्लोका  | : पृष्ठम्  |
|-------------------------------|----------------|---------|--|------------|
| तेषां ग्रुश्रूषाकरणादौ        | २२८            | 60      | ब्राह्मविवाहलक्षणम् २७   | ٩٩         |
| तेषामनादरनिन्दा               | २३४            | 69      | दैवविवाहलक्षणम् २८   | 59         |
| मात्रादिशुश्रूषायाः प्राधान   |                | 69      | आर्षविवाहलक्षणम् २९  | ९२         |
| नीचादेरपि विद्यादिग्रहण       |                | 63      | प्राजापत्यविवाहलक्षणम् ३०  | 53         |
| आपदि क्षत्रियादेरप्यध्ये-     |                |         | आसुरविवाहलक्षणम् ३१  | 92         |
| तव्यं तेषां पादप्रक्षार       | 5 <del>-</del> |         | गान्धर्वविवाहरुक्षणम् ३२   | ९२         |
| नादि न कार्यम्                | २४१            | 42      | राक्षसविवाहरुक्षणम् ३३   | ९२         |
| क्षत्रियादिगुरावतिवास-        |                |         | पैशाचिववाहलक्षणम् ३४   | <b>5</b> 2 |
| निषेधः                        |                | ८३      | उदकदानाद्राह्मणस्य   | • •        |
| यावज्जीवं गुरुशुश्रूषणे०      | २४३            | ८३      | विवाहः ३५  | ९३         |
|                               | २४५            | ८३      | ब्राह्मादिविवाहफलम् ३७   | •          |
| आचार्ये मृते तत्पुत्रादि-     |                |         | ब्राह्मादिविवाहे सुप्रजोत्पत्तिः ३८  | <b>5</b> ₹ |
| सेवनम्                        | २४७            | 68      | निन्दितविवाहे निन्दित-   |            |
| यावजीवं गुरुकुलसेवा-          |                |         | प्रजोत्पत्तिः ४१   | ९४         |
| फलम्                          |                | 68      | सवर्णाविवाहविधिः ४३  | 58         |
| <b>तृतीयो</b> ऽध्याय          | : 1            |         | असवर्णाविवाहविधिः ४४   | ९४         |
| अथ ब्रह्मचर्याविधः            | 9              | 68      | खदारोपगमनकालः ४५   | 38         |
| गृहस्थाश्रमवासमाह             | २              | 64      | ऋतुकालावधिः ४६   | 54         |
| गृहीतवेदस्य पित्रादिभिः       | i.             |         | दारोपगमे निन्दितकालाः ४७   | ९५         |
| पूजनम्                        |                | 64      | युग्मतियौ पुत्रोत्पत्तिः ४८  | ९६         |
| कृतसमावर्तनो विवाहं कु        | र्भाव् ४       | ८६      | स्रीपुंनपुंसकोत्पत्तौ हेतुमाह ४९   | 38         |
| असपिण्डाद्या विवाह्या         | 4              | ८६      | वानप्रस्थस्यापि ऋतुगमनमाह् ५०  |            |
| विवाहे निन्दितकुलानि          | Ę              | ८६      | कन्याविकये दोषः ५१   | <b>ઙ</b> ૬ |
| कन्यादोषाः                    | 6              | ८७      | स्त्रीधनग्रेहणे दोषः ५२  | ९६         |
| कन्यालक्षणम्                  | 90             | ৫৩      | वरादल्पमपि न श्रहीतव्यम् ५३  | 90         |
| पुत्रिकाविवाहनिन्दा           | 99             | 60      | कन्याये घनदानमाह ५४  | ९७         |
| सवर्णा स्त्री प्रशस्ता        | 93             | ८७      | वस्त्रालंकारादिना कन्या  |            |
| चातुर्वर्णस्य भार्गापरित्रह   | 093            | 69      | भूषियतव्या ५५  | 90         |
| त्राह्मणक्षत्रयोः स्ट्राम्नी- |                |         | कन्यादिपूजनापूजनफलम् ५६  | 66         |
| निषेधः                        | 38             | 66      | उत्सवेषु विशेषतः पूज्याः ५९  | 63         |
| हीनजातिनिवाहनिषेधः            | 94             | 68      | दम्पत्योः संतोषफलम् ६०   | 28         |
| ऋदाविवाहविषये                 | 95             | 68      | श्चियोऽलंकरणादिदानादाने ६१   | 68         |
| अष्टौ विवाहप्रकाराः           | 30             | 9.      | कुलापकर्षकर्माण ६३   | 33         |
| वर्णानां धर्म्यविवाहानाह      | 22             | 80      | कुलोत्कर्षकर्माह ६६  | 58.        |
| मैशाचासुरविवाहनिन्दा          | 34             | 90      |  | 900        |
| म०८० २                        |                |         | The second secon |            |

| प्रकरणम्                                | श्लोकाः पृष्ठम | म् प्रकरणम् श्लोकाः पृ                             | ष्र      |
|---|----------------|--|----------|
| -प्रवस्नाः                              | EC 900         |  |          |
| पश्चयज्ञानुष्ठानं नित्यं कर्त           |                | येत् १११ १   |          |
| व्यम्                                   | ६९ १००         | भारत्यादीनिप संस्कृत्य                             | 06       |
| पश्चयज्ञानाह                            | Vo 900         | " and all disease                                  |          |
| पश्चयज्ञाकरणे निन्दा                    | 49 900         | प्रथमं गर्भिण्यादयो भोज-                           | 06       |
| पश्चयज्ञानां नामान्तराण्या              |                |  |          |
| भशकौ ब्रह्मयज्ञहोमौ                     |                | ग्रहस्थस्य प्रथमं भोजन-                            | ۵6       |
| कर्तव्यौ                                | UE 909         |  |          |
| होमादृष्ट्याद्युत्पत्तिः                | ve 909         |  | ۶,       |
| गृहस्थाभमप्रशंसा                        | 40 909         | प्रम्पलाः सवश्वण माजन११६ १                         |          |
| ऋष्याद्यर्चनमवद्यं कर्तव्या             |                | जातमाथपाकानवधः ११८ १                               |          |
| निसश्राद्धमाह                           | ८२ १०२         | ्र रहागतराजादिपूजामाह ११९ १                        | 3        |
| पित्रर्थबाह्मणभोजने                     | ८३ १०२         | राजसातकमाः पूजासका-                                |          |
| बलिवैश्वदेवकर्माह                       | 80 908         | ्र चनाह ••• १२० १९                                 | 0        |
| बलिवैश्वदेवफलमाह                        | 53 904         | । ज्ञया उमञ्जक बालहरण                              |          |
| मिक्षादानम्                             | 88 904         | किंग्सि ••• पुरुष पुरु                             | 0        |
| भिक्षादानफलम्                           | द्रष् १०५      | जयामावास्थाया पावणम् १२२ ११                        | 0        |
| सत्कृत्य भिक्षादिदानम्                  | 98 904         | ] नाचन श्राद्ध कर्तव्यम् १२३ ११                    | ٥        |
| अपात्रदानमफलम्                          | ९७ १०५         | पावणादा भाजनाय-                                    |          |
| पात्रापात्रदानफलम्                      | ९८ १०५         | नासगवल्या पुरुष पुष                                |          |
| अतिथिसत्कारे                            | 33 906         | ब्राह्मणविस्तरं न कुर्यात् १२६ ११                  | 9        |
| अतिथ्यनर्चननिन्दा                       | 900 906        | पार्वणस्यावश्यकर्माणि १२७ ११                       | २        |
| <b>प्रियवचनजलासनदानादौ</b>              | 909 906        | देवपित्रन्नानि श्रोत्रियाय<br>द्रेयानि ••• १२८ १९: | _        |
| 00                                      | 907 908        | .20  | -        |
|   | 308 308        |  | •        |
| नातिथिः प्रत्याख्यातव्यः                | 904 900        | 1  | Ę        |
| अतिथिमभोजयित्वा स्वयं                   |                | ज्ञाननिष्ठादिषु कव्यादि-                           |          |
| न भोक्तव्यम्                            | १०६ १०७        | दानम् १३५ ११४                                      | •        |
| बहुष्वतिथिषु यथायोग्यं                  | '              | श्रोत्रियस्य पुत्रस्य प्रा॰ १३६ ११४                | •        |
| परिचर्या                                | 00 900         | श्राद्धे मित्रादिभोजननिषेधः १३८ ११४                | <b>A</b> |
| अतिथ्यर्थं पुनः पाके न                  |                | अविदुषे श्राद्धदानमफलम् १४२ ११५                    |          |
| बलिकर्म                                 | 106 900        | विदुषे दक्षिणादानं फलदम् १४३ ११५                   | i        |
| मोजनार्थं कुलगोत्रकथन-<br>निषेधः        |                | विद्वहाद्मणाभावे सित्रं                            |          |
| • | 08 900         | भोजयेन शत्रुम् १४४ ११५                             | ı        |
| महाणस्य क्षत्रियादयो<br>नातिभगः         |                | वेदपारगादीन यक्षेत्र भोज-                          |          |
| नातिथयः १                               | 10 406         | भेत् ५०० १४५ ११६                                   |          |

| •                                      |  |
|--|--|
| प्रकरणम् श्लोकाः पृष्ठम्               | प्रकरणम् श्लोकाः पृष्ठम्   |
| मातामहादीनिप श्राद्धे                  | निमस्त्रितानामासनादि-  |
| भोजयेत् १४८ ११६                        | दानम् २०८ १२८  |
| ब्राह्मणपरीक्षणम् १४९ ११६              | गन्धपुष्पादिना तेषामर्चा २०९ १२८   |
| स्तेनपतितादयो निषिद्धाः १५० ११७        | तैरनुज्ञातो होमं कुर्यात् २१० १२८  |
| श्राद्धे निषिद्धा ब्राह्मणाः १५१ ११७   | अद्रयभावे वित्रस्य पाणौ  |
| अध्ययनग्र्न्यत्राह्मणनिन्दा १६८ १२०    | होमः २१२ १२८   |
| अपाङ्क्षियदानं निषिद्धफलम् १६९ १२१     | अपस्रव्येन अग्नौकरणादि २१४ १२९   |
| परिवेत्रादिलक्षणमाह १७१ १२१            | पिण्डदानादिविधिः २१५ १२९   |
| परिवेदनसंबन्धिनां फल-                  | कुशमूळे करावघर्षणम् २१६ १२९  |
| माह ••• ••• १७२ १२१                    | ऋतुनमस्कारादि २१७ १२९  |
| दिधिषूपतिलक्षणमाह १७३ १२१              | प्रखननेजनादि २१८ १३०   |
| कुण्डगोलकावाहः १०४ १२१                 | पित्रादिब्राह्मणान्मोजयेत् २१९ १३०   |
| तयोर्दाननिषेधः १७५ १२२                 | जीवति पितरि पितामहा-   |
| स्तेनादिर्थथा न पश्यति तथा             | दिपार्वणम् २२० १३०   |
| ब्राह्मणभोजनं कार्यम् १७६ १२२          | मृते पितरि जीवति पिता-   |
| अन्धायसंनिहिते ब्राह्मण-               | महे पार्वणम् २२१ १३०   |
| भोजनम् १७७ १२२                         | I a section to the section of the se |
| श्रद्भयाजकिनषेधः १७८ १२२               |  |
| शुद्धयाजकप्रतिप्रहनिषेधः १७९ १२२       | व्यज्ञनादिदाने २२६ १३१   |
| सोमविकयादिभोजनदाने-                    | रोदनकोधादिकं न कार्यम् २२९ १३२   |
| ्रानिष्टफलम् १८० १२३                   | 1 1441-0014014166444 261 752   |
| पङ्किपावनानाह १८३ १२३                  | विश्वासामालयात आवनार १४४ १४४   |
| ब्राह्मणनिमन्त्रणे १८७ १२४             | 1 4164-11-41CH 4 AC 100 255 15C  |
| निमन्त्रितस्य नियमाः १८८ १२४           | दौहित्रं श्राद्धे यत्नतो भो-   |
| निमन्त्रणं सीकृत्यामीजने               | जयेत् २३५ १३३  |
| दोषः १९० १२५                           | द्राहित्रावलकुतपादयः अ•  |
| निमन्त्रितस्य स्त्रीगमने १९१ १२५       | सालाः ••• रस्य १२२   |
| कोधादिकं भोक्ता कर्त्रा च              | उष्णात्रभोजनं ह्विर्गुणाय-   |
| न कार्यम् १९२ १२५                      |  |
| पितृगणोत्पत्तिः १९३ १२७                | The state of the s |
| पितॄणां राजतं पात्रं प्र० २०२ १२५      | भोजनकाळे बाह्मणान् चा-   |
| देवकार्यात्पतृकार्यं विशिष्टं २०३ १२५  |  |
| दैवकार्यस्य पितृकार्याक्रत्वम् २०४ १२५ |  |
| दैवायन्तं पितृकार्यम् २०५ १२५          |  |
| अथ श्राद्धदेशाः १०६ ११                 | मिश्रकादिमोजने २४३ १३४   |
|  | and the second s |

| <b>अकरणम्</b>   | श्लोकाः | पृष्ठम् | Я           |
|---|---------|---------|-------------|
| अमिदग्धान्नदाने                                       | २४४     | १३४     | कृष्ण       |
| उच्छेषणं भूमिगतं दास-                                 |         |         | अपस         |
| स्यांशः   |         | १३४     | रात्रि      |
| सपिण्डनपर्यन्तं विश्वेदेवा                            | -       |         | प्रतिम      |
| दिरहितं श्राद्मम्                                     |         | १३५     | सामे        |
| सपिण्डीकरणादूर्घं पार्वण                              | -       |         | तर्पण       |
| विधिना श्रादम्  | २४८     | १३५     | पितृष       |
| श्राद्धे उच्छिष्टं श्रद्धाय न                         |         |         | विघर        |
| देयम्   | २४९     | 934     |             |
| श्राद्धभोजिनः स्रीगमन-                                |         |         | ब्रह्मच     |
| निषेधः  |         | १३५     | शिल         |
| कृतभोजनान् द्विजानाचा                                 |         |         | उचि         |
| मयेत्   | 249     | १३५     | अना         |
| स्वधाऽस्तिति ते ब्र्युः                               |         | १३६     | ł           |
| शेषात्रं तदनुज्ञातो विनि-<br>युजीत                    | २५३     | 0.5.0   | ऋता<br>किया |
| एकोहिष्टादिविधिमाह                                    |         |         | अश्वर       |
| अपराह्णादयः   |         |         | जीवः        |
|   |         |         | शिले        |
| श्राद्धविहितान्नादयः<br>ब्राह्मणान्विसञ्च वरप्रार्थे- | २५७     | 945     | असउ         |
| नम् •••   |         | 9314    | संतोष       |
| पिण्डान् गवादिभ्यो द्यात                              | . 250   | 720     | स्नातः      |
| सुतार्थिन्या स्त्रिया पिता-                           | , 140   | 720     | वेदोवि      |
| महपिण्डो मक्षणीयः                                     | २६१     | 930     | गीता        |
| ततो ज्ञालादीन् भोजयेत्                                | 258     | 93.4    | इन्द्रिः    |
| अवशिष्टान्नेन गृह्बलिः                                | ,       |         | वेदार्थ     |
| •   | २६५     | 932     | वयःवु       |
| तिलादयः पितॄणां मासं                                  | • • •   |         | निखं        |
| विधदाः  | २६७     | 936     | पश्चय       |
| मांसादिविशेषेण तृप्तिकाल                              | :२६८    | 936     | ्य          |
| मधुदानं मघादिश्राद्धे                                 | २७३ .   | 938     | केचिवि      |
| गजच्छायादौ  | २७४     | 939     | केचिइ       |
| गजच्छायादौ<br>श्रद्धया दानम्                          | २७५     | 980     | केचित्      |
| पितृपक्षे प्रशस्तास्तिथयः                             | २७६     | 980     | संच्या      |
| युग्मतिथिनक्षत्रादिप्रश-                              |         |         | सोमय        |
| त्तम्   | २७७     | 980     | नवाञ्च      |
|   |         |         |             |

प्रकरणम् श्रीकाः पृष्ठम कृष्णपक्षापराह्मप्रशस्यं २७८ १४० अपसव्यक्कशादयः ... २७९ १४१ रात्रिश्राद्धतिषेधः ... २८० १४१ प्रतिमासं श्राद्धकरणाशक्तौ२८१ १४१ साप्तरमौकरणे ... २८२ १४१ तर्पणफलम् ... २८३ १४२ पितॄणां प्रशंसा ... २८४ १४२

### चतुर्थोऽध्यायः ।

वर्यगाईस्थ्यकालौ 9 983 शेञ्छादिना जीवनम् तार्थसंप्रहं कुर्यात् ापदि जीवनकर्माह । यर्थकथनम् द्दनमर्जयेत्तत्राह... स्तनिकप्रशंसा नोपायाः शेञ्छाभ्यां जीवने जीविकां न कुर्यात् षस्य प्रशंसा कव्रतानि 93 986 दितं कर्म कर्तव्यम दिना धनार्जननिषेधः १५ १४७ यार्थासक्तिनिषेधः 98 980 र्यविरोधिकर्मस्यागः 90 <u>कुलानुरूपेणाचरेत्</u> शास्त्राद्यवेक्षणम् 98 980 ाज्ञान् यथाशकि न

खजेत् ... २० १४७
केचिदिन्द्रियसंयमं कुर्वन्ति २२ १४८
केचिद्राचा यजन्ति ... २३ १४८
केचित्रु ज्ञानेन यजन्ति २४ १४८
संघ्याद्वयहोमदर्शपौर्णमासाः२५ १४९
सोमयागादयः ... २६ १४९
नवाभ्रश्राद्धकरणे ... २७ १४९

|                                   | *            |                |                                  |         |         |   |
|-----------------------------------|--------------|----------------|----------------------------------|---------|---------|---|
| प्रकरणम्                          | श्लोकाः      | <u>पृष्ठम्</u> | <b>प्रकरणम्</b>                  | श्लोकाः | पृष्ठम् |   |
| शक्तितोऽतिंथि पूजयेत्             | २८           | 988            | ग्र <b>द्रराज्यवासादिनिषे</b> धः | Ęg      | 944     |   |
| पाषण्ड्याद्यर्चननिषेधः 🕈          | ३०           | 940            | अतिभोजनादिनिषेधः                 | -       | 948     |   |
| श्रोत्रियादीन्पूजयेत्             | ३१           | 940            | अञ्जलिना जलपानादिनिषेध           |         | 948     |   |
| ब्रह्मचार्यादिभ्योऽचदानम          | (३२          | 940            | च्लादिनिषेधः                     |         | १५६     |   |
| क्षत्रियादेर्घनग्रहणे             | 33           | 940            | कांस्ये पादप्रक्षालनभिन्ना-      | •       |         |   |
| सति विभवे शुधा न सीदे             | त् ३४        | 949            | दिभाण्डे भोजननिषेधः              | ६५      | 945     |   |
| शुचिः खाध्यायादियुक्तः            |              |                | यज्ञोपवीतादि परघृतं न            |         |         |   |
| स्यात्                            | 34           | 949            | धारयेत्                          | ६६      | 946     |   |
| दण्डकमण्डल्वादिधारणम्             | ३६           | 949            | अविनीतयानवृषादि-                 |         |         |   |
| सूर्यदर्शननिषेधः                  |              | 949            | निषेधः                           | ξv      | १५६     |   |
| बत्सरज्जुलङ्घने, जले च            |              |                | विनीतवाहनानि                     | ६८      | 940     |   |
| प्रतिबिम्बनिरीक्षणे दो            | ष:३८         | 949            | प्रेतधूमनखादिच्छेद <b>ननि०</b>   | ६९      | 340     | • |
| मार्गे गवादीन् दक्षिणतः           |              |                | तृणच्छेदनादिनिषेधः               | ७०      | 340     |   |
| कुर्यात्                          | ३९           | 942            | लोष्टमर्दनादे <b>र्मन्दफलम्</b>  | ৩৭      | 940     |   |
| रजखलागमनादिनिषेधः                 | ४०           | 942            | मालाघारणगोयानादौ                 | ७२      | 940     |   |
| भार्यया सह भोजनादिनिषे            | <b>धः</b> ४३ | 942            | अद्वारेण गृहगमनादौ               | ५३      | 946     |   |
| कालविशेषे स्नीदर्शननिषे           | बः४४         | 942            | अक्षकीडाशय <b>नस्थान-</b>        |         |         |   |
| नमस्नानादिनिषेधः                  | ४५           | 943            | भोजननिषेधः                       |         | 946     |   |
| मार्गादौ विष्मुत्रादिनिषेध        | . ४६         | 943            | रात्रौ तिलभोजने नमशय             | ने ७५   | 946     |   |
| म्त्रादौ सूर्यादिदर्शननिषेध       | 4:86         | १५३            | दुर्गगमनम <b>ळदर्शननदी</b> तर्ग  | गे ७६   | 946     |   |
| विष्मूत्रोत्सर्गविधिः             | ४९           | 943            | आर्द्रपाद एव भुज्जीत•••          |         | 946     |   |
| दिवादाञ्जदश्चुखादि                | 40           | १५३            | केशभसादौ न तिष्ठेत्              | ७८      | 946     |   |
| अन्धकारादौ खेच्छामुख              | 49           | 948            | पतितादिभिन संवसेत्               | ७९      | 949     |   |
| मन्त्रादौ अस्यादिसंमुखनि          |              |                | श्रद्राय वतकथनादिनिषेध           | : ८२    | 948     |   |
| षेघः                              | ५२           | 948            | <b>बिरःकण्ड्र्यनस्नानादौ</b>     | ८२ '    | 945     |   |
| अमी पादप्रतापनादिनिषे             | घ:५३         | 948            | कोपेन शिरःप्रहारकेश-             |         |         |   |
| अभेर्लङ्गनादिनिषेधः               | 48           | 348            | ग्रहणे                           | ८३      | 360     |   |
| संघ्याभोजनमूमिलिखनाव              |              | 948            | तैछेन झातस्य पुनस्तैल-           |         |         |   |
| जले मूत्रादिप्रक्षेपनिषेधः        | 44           | 944            | स्पर्शने                         |         | 960     |   |
| <b>अ्न्यगृहस्वापसुप्तो</b> त्थापन | दौ५७         | 944            | अक्षत्रियराजादिप्रति <b>म</b> हे | 68      | 960     | 1 |
| भोजनादी दक्षिणपाणिः               |              | 944            | तैलिकादिप्रतिप्रहनिषेधः          |         | 360     |   |
| जलार्थिनीं गां न वारयेत           | : 49         | 944            | शास्त्रोलङ्घकराजप्रतिमहे         | ८७      | 969     |   |
| इन्द्रधतुर्न दर्शयेत्             | ५९           | 944            | तामिस्रायेकविंशविनरकाः           |         | 363     |   |
| अधार्मिकप्रामवास एकार्व           | ì-           |                | ब्राह्म मुहूर्ते उत्तिष्टेत्     |         | 969.    |   |
| गमने                              | Ęo           | 944            | प्रातःकृत्यादि •••               | ५३      | 9 6 3   |   |

| <del>प्र</del> करणम्   | श्लोकाः  | पृष्ठम्                                 |
|--|--|---|
| अस्यायुःकीत्यीदिवर्धकत्वा  | र् ९४  | १६२                                     |
| श्रावण्यामुपाकमें कार्यम्  | ९५   | १६२                                     |
| पुष्ये उत्सर्जनाख्यं कर्म  | ९६   | १६२                                     |
| कृते उत्सर्जने पक्षिणीं ना   | <b>[-</b>  |   |
| ध्येतव्यम्   | ९७   | 982                                     |
| ततो वेद शुक्रेऽज्ञानि कृष  | णे   |   |
| पठेत् ्  | 86   | १६३                                     |
| अस्पष्टपादनिशान्ते खाप   | •  |   |
| निषेधः   | 88   | 983                                     |
| नित्यं गायत्र्यादि पठेत्   | 900  | १६३                                     |
| अन्ध्यायानाह   | 909  | १६३                                     |
| वर्षाकालिकानध्यायमाह   | १०२  | 983                                     |
| अकालिकान ध्यायमाह  | १०३  | 363                                     |
| सार्वकालिकान घ्यायमाह  | 904  | <b>3</b> & &                            |
| संध्यागर्जनादौ   | 90€  | १६४                                     |
| नगरादौ निलानध्यायः   | 900  | 368                                     |
| श्राद्धभोजनप्रहणादौ त्रिर  | <b>τ-</b>  |   |
|  |  |   |
| त्रम्  | 990  | 984                                     |
| गन्धळेप्युक्तो नाधीयीत   | 990  | १६५<br>१६५                              |
| गन्धळेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत  | ,  |   |
| गम्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने   | 999<br>992   | १६५                                     |
| गम्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः  | 999<br>992   | १६५                                     |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं  | 999<br>992<br>9 <b>9</b> ¥                           | 9                                       |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत   | 999<br>998<br>998                                    | 9                                       |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्  | 999<br>992<br>9 <b>9</b> ¥                           | 9                                       |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्यनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-   | 999<br>992<br>998<br>923<br>928                      | 9                                       |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमानास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-<br>पाठः   | 999<br>998<br>998<br>988<br>988                      | 9                                       |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-<br>पाठः   | 999<br>992<br>998<br>928<br>928<br>924               | 9                                       |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-<br>पाठः<br>गवायन्तरागमने<br>श्रुविदेशे स्रुविना ध्येयम्   | 999<br>992<br>998<br>928<br>928<br>928               | 9                                       |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-<br>पाठः<br>गवायन्तरागमने<br>श्रुविदेशे श्रुचिना ध्येयम् प्रतावप्यमावास्यादौ न                                 | 999<br>992<br>998<br>928<br>924<br>924               | 9 6 4 9 6 6 9 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-<br>पाठः<br>गवायन्तरागमने<br>श्रुविदेशे श्रुचिना ध्येयम् अस्तावप्यमावास्यादौ न<br>स्रीगमनादि                   | 999<br>992<br>998<br>928<br>924<br>924<br>926        | 9 6 4 9 6 4 9 6 4 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-<br>पाठः<br>गवाद्यन्तरागमने<br>श्रविदेशे श्रुचिना ध्येयम्<br>श्रीगमनादि<br>रागसानशक्तसाननिषेषः                 | 999<br>992<br>998<br>928<br>924<br>926<br>926        | 9 6 4 9 6 4 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-<br>पाठः<br>गवाद्यन्तरागमने<br>श्विदेशे छुचिना ध्येयम्<br>श्विगमनादि<br>स्रीगमनादि<br>स्रीगमनादि<br>स्रीगमनादि | 999<br>992<br>998<br>928<br>924<br>926<br>926        | 9 6 4 9 6 4 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत<br>शयनादौ नाधीयीत<br>अमावास्यादयोऽध्ययने<br>निषिद्धाः<br>सामध्वनौ सति वेदान्तरं<br>नाधीयीत<br>वेदत्रयदेवताकथनम्<br>गायत्रीजपानन्तरं वेद-<br>पाठः<br>गवाद्यन्तरागमने<br>श्रविदेशे श्रुचिना ध्येयम्<br>श्रीगमनादि<br>रागसानशक्तसाननिषेषः                 | 999<br>992<br>998<br>928<br>924<br>926<br>926<br>926 | 9 6 4 9 6 4 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 6 |

श्लोकाः पृष्टम् प्रकरणम रक्तश्रेष्मादौ न तिष्ठेत् १३२ १६९ शत्रचोरपरस्रीसैवानिषेधः १३३ १६९ परदारनिन्दा • १३४ १६९ क्षत्रियसर्पविप्रा नावमन्त-••• १३५ १६९ आत्मावमाननिषेधः ... १३६ १७० प्रियसत्य**कथनम्** 936 900 वृथा वादं न कुर्यात् ... उषःकालादावज्ञातेन सह न गन्तव्यम् 🕝 हीनाङ्गायाक्षेपनिषेधः... १४१ १७१ **उच्छिष्टस्पर्शसूर्यादिदर्शने** स्वकीयेन्द्रियस्पर्शादौ... मङ्गलाचारयुक्तः स्यात् 984 909 वेदाध्ययनस्य प्राधान्यम् १४६ १७१ अष्टकाश्राद्धायवस्यं कार्यम् १५० १७२ अभिगृहदूरतोमुत्राद्युत्सर्गः १५१ १७२ पूर्वीके स्नानपूजादि ... १५२ १७२ पर्वेस देवादिर्दर्शनम् ... १५३ १७३ आगतवृद्धादिसत्कारे ... १५४ १७३ श्रुतिस्मृत्युदिताचारः कार्यः १५५ १७३ आचारफलम दुराचारनिन्दा आचारप्रशंसा परवशकर्मखागादौ ... १५९ १७३ चित्तपारितोषिकं कर्म कार्य १६० १७४ आचार्यादिहिंसानिषेघः 969 908 नास्तिक्यादिनिषेधः ... १६२ १७४ परताडनादिनिषेधः ... १६३ १७४ **ब्राह्मणता**डनोद्योगे **ब्राह्मणता**डने ... 964 904 बाह्मणस्य शोणितोत्पादे १६६ १७५ अधार्मिकादीनां न सुखम् १७० १७५ अधर्मे मनो न निद्ध्यात् १७१ १७६ शनैरघर्मफलोत्पत्तिः ... १७२ १७६

| •                                     |  |
|---------------------------------------|--|
| प्रकरणम् श्लोकाः पृष्ठम्              | प्रकरणम् श्लोकाः पृष्ठम्               |
| शिष्यादिशासने १७५ १७६                 | कदर्यश्रोत्रियवार्धुषिकाने २२४ १८६     |
| अर्थकामत्यागे १७६ १७७                 | श्रद्धादत्तवदान्यवार्धुषिकान्ने२२५ १८७ |
| पाणिपादचापल्यनिषेधः १७७ १७७           | श्रद्धया यागादिकं कुर्यात् २२६ १८७     |
| कुलमार्गगमनम् १७८ १७७                 | श्रद्धादानफलम् २२७ १८७                 |
| ऋत्विगादिभिर्वादं न                   | जलभूमिदानादिफलम् २२८ १८७               |
| ् कुर्यात् १७९ १७७                    | वेददानप्रशंसा ••• २३३ १८७              |
| <b>ए</b> तैर्विवादोपेक्षायां          | काम्यदाने २३४ १८८                      |
| फलमाह १८१ १७७                         | विधिवद्दानग्रहणप्रशंसा २३५ १८८         |
| प्रतिमहनिन्दा १८६ १७८                 | द्विजनिन्दादानकीर्तनादि-               |
| विधिमज्ञात्वा प्रतिप्रहो न            | निषेधः २३६ १८८                         |
| कार्यः १८७ १७८                        | अनृतादिफलम् २३७ १८८                    |
| मूर्बस्य खर्णाद्प्रतिप्रहे १८८ १७९    | शनैर्धर्ममनुतिष्ठेत २३८ १८८            |
| बैडाल्ब्रितिकादौ दान-                 | धर्मप्रशंसा २३९ १८८                    |
| निषेधः १९२ १७९                        | उत्कृष्टैः संबन्धः कार्यो न            |
| बैडालव्रतिकलक्षणम् १९५ १८०            | हीनैः २४४ १८९                          |
| बकन्रतिकलक्षणम् १९६ १८०               |  |
| तयोर्निन्दा १९७ १८०                   |  |
| प्रायश्चित्ते वश्वना न कार्या १९८ १८१ | अहणम् २४८ १९०                          |
| छलेन वताचरणे १९९ १८१                  |  |
| छलेन कमण्डल्वादिधारणे २०० १८१         | अयाचितभिक्षायाम् २५० १९१               |
| परकृतपुष्करिण्यादिसाने २०१ १८१        | कुटुम्बार्था भिक्षा . ३५१ १९१          |
| अदत्तयानादिभोगनिषेधः २०२ १८१          | स्वार्थ साधुभिक्षा ••• २५२ १९१         |
| नवादिषु स्नानं कर्तव्यम् २०३ १८१      | भोज्याजश्रुद्धाः २५३ १९१               |
| यमनियमौ २०४ १८२                       |  |
| अश्रोत्रिययज्ञादिभोजन-                | असल्यकथने निन्दा २५५ १९१               |
| निषेधः २०५ १८२                        | योग्यपुत्राय कुटुम्बभार-               |
| आदायनं केशादिसंस्टं                   | दानम २५७ १९२                           |
| न मुजीत २०७ १८२                       | ब्रह्मचिन्ता २५८ १९२                   |
| रजखलास्प्रष्टायमनिषेघः २०८ १८३        | उक्तस्य फळकथनम् २६० १९२                |
| गवाघातं गणिकाद्यन्तं च                |  |
| निषिद्धम् २०९ १८३                     | पश्चमोऽध्यायः।                         |
| अमोज्यानि स्तेनाद्यशानि २१० १८३       | मनुष्याणां कथं मृत्युरिति              |
| राजायमभोजने मन्द-                     |  |
| फलम् २१८ १८५                          | मृत्युप्रापकानाह ••• ३ १९३             |
| तेषामसमोजने प्रायिक्तं २२२ १८५        |  |
| श्रद्भाकानिषेधः २२६ १८६               | वृथामांसादिनिषेधः ७ १९४                |

| प्रकरणम्                     | श्लोकाः      | पृष्ठम् | प्रकरणम्                      | श्लोकाः प्रष्ठम                         |
|------------------------------|--------------|---------|-------------------------------|---|
| _्अभक्ष्यक्षीराणि            | ۵            | 988     | बालाद्यशौचम्                  | ६७ २०५                                  |
| शुक्तेषु दध्यादयो भक्ष्याः   | 90           | 984     | ऊनद्विवार्षिकस्य भूमिखन       |   |
| अथाभक्ष्यपक्षिणः             | 99           | 984     | नम्                           | ६८ २०७                                  |
| सौनशुष्कमांसादयः             | 93           | १९५     | नास्याभिसंस्कारादि            | ६९ २०८                                  |
| ्राम्यस् <b>करमत्स्यादयः</b> | 98           | 988     | बालस्योदकदाननिषेधः            | ७० २०८                                  |
| मत्स्यभक्षणनिन्दा            | 94           | १९६     | सहाध्यायिमरणे                 | ७१ २०८                                  |
| भक्ष्यमत्स्यानाह             | 9 €          | १९६     | वाग्दत्तख्यशौचम्              | ७२ २०८                                  |
| सर्पवानरादिनिषेधः            | 90           | १९७     | हविष्यभक्षणादि                | ७३ २०९                                  |
| भक्ष्यपत्रनखानाह             | 96           | 980     | विदेशस्थसाशौचम्               | ७५ २०९                                  |
| छत्राकादिभक्षणनिषेधः         | 98           | 990     | आचार्यतत्पुत्रादिमरणे         | ८० २१०                                  |
| यागार्थपशुहिंसाविधिः         | २२           | 956     | श्रोत्रियमातुलादिमरणे         | ८१ २१०                                  |
| पयुषितान्यपि भक्ष्याणि       | २४           | 986     | राज्याध्यापकादिमरणे           | ८२ २१०                                  |
| मांसभक्षणे                   | २७           | 988     | संपूर्णाशौचमाह                | ८३ २११                                  |
| प्रोक्षितमांसभक्षणनियमः      | ३१           | 988     | अभिहोत्रार्थं स्नानाच्छुद्धिः | ८४ २११                                  |
| <b>त्रथामांसभक्षणनिषेधः</b>  | ३३ :         | २००     | स्पर्शनिमित्ताशौचम्           | ८५ २११                                  |
| श्राद्धे मांसभोजननिन्दा      | ३५ :         |         | अशुचिदर्शने                   | ८६ २१२                                  |
| अप्रोक्षितमां न भक्षयेत्     | ३६ः          |         | मनुष्यास्थिस्पर्शे            | ८७ २१२                                  |
| यज्ञार्थवधप्रशंसा            | ३९ :         |         | आब्रह्मचारीव्रतसमापनात        | <b>ग्रेतो-</b>                          |
| पशुहननकालनियमः               | ४१ :         |         | दकदानादि न कुर्यात्           | ८८ २१२                                  |
| वेदाविहितहिंसानिषेधः         | ४३ ३         |         | न पतितादीनामुद्कदाना          | ८९ २१२                                  |
| आत्मसुखेच्छया हुनने          | ४५ :         |         | व्यभिचारिण्यादीनां नोद-       |   |
| वधवन्धनं न कर्तव्यम्         | 86 =         |         | कदानम्                        | ९० २१२                                  |
| मांसवर्जने                   | 86           |         | ब्रह्मचारिणः पित्रादिनिईर     |   |
| अथ घातकाः                    | 49 :         | 1       | श्रद्राचीन्दक्षिणादितो निर्ह  |   |
| मांसवर्जनादिफलम्             | ५३ :         | 808     | रेव                           | ९२ २१३                                  |
| सर्पिडानां दशाहायशौ-         |              |         | राजादीनामशौचाभावे             | <b>53 393</b>                           |
| चम्                          | 46 3         | 80)     | राज्ञः सदाःशौचम्              | ९४ २१३                                  |
| अय सपिण्डता                  | ६० ३         | 104     | वजादिहतानां सद्यःशीचम्        |   |
| जननाशीचम्                    | ६१ २         | ٥٤٩     | राज्ञोऽशौचाभावस्तुतिः         | \$                                      |
| जनने मातुरस्पृश्यत्वम्       | ६२ २         | 9.0     | क्षात्रधमेहतस्य सद्यःशौचा     | 146 29X                                 |
| शुक्रपाते परपूर्वापलमर्णे    | ६३ २         | 08      | अशौचान्तकृत्यम्               | 35 39¥                                  |
| श्वनस्पर्शे समानोदकमरणे      | <b>\$8.3</b> | 0.5     | असपिण्डाशीचमाह                | 100 294                                 |
| . गुरोमेरणाशीचम्             | 44 3         | 00      |                               | 109 294                                 |
| गर्भसावे रजखलागुद्धौ         | £            | 00      | <b>A</b>                      | १०२ २१५                                 |
|                              |              |         |                               | * |

| प्रकरणम्                          | श्लोकाः   | <b>पृ</b> ष्ठम् | ं प्रकरणम् क्षीकाः पृष्ठम्   |
|-----------------------------------|-----------|-----------------|--|
| निर्हारकानुगमने                   | 903       | २१५             | विमुद्दरमश्र्वादिकं नोच्छि-  |
| ब्राह्मणं शुद्रैर्न निर्हारयेत्   | 908       | 294             | ष्टम् १४१ २२३  |
| ज्ञानादीनि शुद्धिसाधनानि          |           |                 | पादे गण्डूषजविन्दवः  |
| अर्थशौचप्रशंसा                    | 908       | २१६             | ग्रुद्धाः १४२ २२३  |
| क्षमादानजपतपांसि शोध              | <b>T-</b> |                 | *                              |
| कानि                              | 900       | २१६             |  |
| समलनदीम्नीद्विजशुद्धौ             | 906       | २१६             |  |
| गात्रमनसात्मबुद्धिशुद्धौ          | 909       | २१७             |  |
| द्रव्यशुद्धिमाह                   | 990       | २१७             | अथ स्त्रीधमोनाह १४६ २२४<br>स्त्रिया स्त्रातन्त्र्यंन कार्यम् १४७ २२४ |
| सुवर्णादिमणिशुद्धौ                | 999       | २१७             | कस्य वशे तिष्ठेदित्यत्राह १४८ २२४                                    |
| <b>घृतादिशय्यादिकाष्ट्रशुद्धौ</b> | 994       | 296             | प्रसन्ता गृहकर्म कुर्यात् १५० २२४                                    |
| यज्ञपात्रशुद्धौ                   | 998       | २१८             | खामिश्रश्रूषा १५१ २२४  |
| धान्यवस्रश्रदी                    | 996       | 296             | खाम्यहेतुमाह १५२ २२५   |
| चर्मवंशपात्रशाकफलमूल              |           |                 | खामिप्रशंसा १५३ २२५  |
| गुडौ                              |           | २१८             | स्रीणां प्रथग्यज्ञनिषेधः १५५ २२५                                     |
| कम्बलपटवस्रादिशुद्धौ              |           | 298             | खामिनोऽप्रियं नाचरेत् १५६ २२५  |
| तृणकाष्ठगृहमृद्धाण्डशुद्धौ        |           | 298             | मृतपितकाधर्मः १५७ २२६  |
| शोणिताद्यपद्दतमृद्धाण्ड०          |           | 399             | परपुरुषगमननिन्दा १६१ २२६   |
| भूमिशुद्धौ                        | 928       | 399             | पावित्रसफलम् १६५ २२७   |
| पक्षिजग्धगवाघातादौ                | 924       | 299             | भार्यायां मृतायां श्रीतामिना   |
| गन्धलेपयुक्तद्रव्यशुद्धी          | १२६       | २२०             | दाहः १६७ २२७   |
| पवित्राण्याह                      |           | २२०             | पुनर्दारप्रहणे १६८ २२७   |
| जलगुद्धौ                          | 926       | २२०             | गृहस्थस्य कालावधिः १६९ २२८   |
| निल्यगुद्धानाह                    | 925       | २२०             | षष्ठोऽध्यायः ।   |
| स्पर्शे निल्युद्धानि              | १३२       | २२१             | वानप्रस्थाश्रममाह १ २२८  |
| मुत्राद्युत्सर्गशुद्धौ            |           | २२१             | सभार्याप्रिहोत्रो वने वसेत् ३ २२८                                    |
| अथ द्वादश मलाः                    |           | २२१             | फलमूळेन पद्मयज्ञकरणम् ५ २२९  |
| मृद्वारिप्रहणे नियमः              | 336       | २२२             | चर्मचीरजटादिधारणम् ६ २२९   |
| ब्रह्मचार्यादीनां द्विगुणाद्या    | -         |                 | अतिथिचर्या ७ २२९   |
| चमनानन्तरमिन्द्रिया-              |           |                 | वानप्रस्थनियमः ८ २३९   |
| दिस्पर्धः                         | 930       | २२२             | मधुमांसादिवर्जनम् १४ २३०   |
| आचमनविधिः •••                     | 938       | २२२             | आश्विने संचितनीवारादि-   |
| श्रदाणां मासि वपनं द्वि           | जो-       |                 | त्यागः १५ २३०  |
| च्छिष्टभोजनम्                     |           | २२२             | फालकृष्टाद्यक्रनिषेदः १६ २३१   |

| प्रकरणम्                 | स्रोकाः       | पृष्ठम् ।      | 3      |
|--------------------------|---------------|----------------|--------|
| अञ्मकुद्दादयः •••        | , 90          | २३१            | भूमिं  |
| नीवारादिसंचयने           | -             | २३१            | क्षद्र |
| भोजनकालादयः ••           | . 98          | २३१            | সাण    |
| भूमिपरिवर्तनादि          | . 37          | २३२            | घ्या   |
| तपःप्रकारः               | . २३          | २३२            | ब्रह्म |
| देहशोषणम्                | २४            | २३२            | मोध    |
| अग्निहोत्रसमापनादयः      |               | २३२            | देह    |
| बृक्षमूलभूशय्यादयः •     |               | २३२            | देह    |
| भिक्षाचरणे               |               | २३३            | प्रिय  |
| वेदादिपाठः •••           |               | २३३            | विष    |
| महाप्रस्थानम्            | ३१            | २३३            | अ      |
| परिवाजककालमाह ।          | ३३            |                | पर्    |
| ब्रह्मचर्यादिक्रमेण परि  | व्रजेत् ३४    | २३४            | वे     |
| ऋणमशोध्य न परिव          |               |                | च      |
| पुत्रमनुत्पाद्य न परि    | व्रजेत् ३६    | २३४            | स      |
| प्राजापसेष्टिं कृत्वा प  | रिव्रजेत् ३ ५ | : २३५          | गृ     |
| अभयदानफलम्               | ···· 30       | ८ २३५          | द      |
| निःस्पृहः परिव्रजेत्     | ٠ ४           | १ २३५          | द      |
| एकाकी मोक्षार्थ चरे      | त् ४          | २ २३५          | द      |
| परित्राजकनियमः           | ٠ ٧           | ३ २३६          | वे     |
| मुक्तलक्षणम्             | ··· 8.        | ४ २३६          | वे     |
| जीवनादिकामनारा           | हेलम् ४       | ५ २३६          |        |
| परिवाजकाचारः             |               | ६ २३६          |        |
| भिक्षाप्रहणे             |               | ० २३५          | - 1 '  |
| दण्डकमण्डल्वादय          |               | १२ २३।         |        |
| भिक्षापात्राणि           |               | १३ २३          | -      |
| एककाले भिक्षाचर          |               | ९५ २३          | - 1    |
| भिक्षाकालः               | •••           | १६ २३          | ا ک    |
| ल्यभालामे हर्षविष        | ादौ           |                | . ] .  |
| न कार्यों •••            |               | ५७ ३३          | 6      |
| पुजापूर्वेकभिक्षानि      | विधः '        | ५८ २३          | 2      |
| इन्द्रियनिप्रदः          |               | ५९ २३          | 8      |
| संसारगतिकथनस             | (             | <b>६</b> १. २३ | 3      |
| <b>मुखदुः स</b> रोधर्माध |               | \$¥ 33         | 8      |
| न छिज्ञमात्रं धर्म       |               | ६६ २४          | 0      |
|                          | •             |                |        |

श्लोकाः पृष्ठम् प्रकरणम् निरीक्ष्य पर्यटेत EC 280 जन्तुहिंसाँप्रायिश्वत्तम् ES 380 ७० २४० **ायामप्रशंसा** नयोगेनात्मानं पश्येत् ७३ २४१ ७४ २४१ ासाक्षातकारे मुक्तिः ञ्चसाधककर्माणि ... ७५ २४२ ७६ २४२ खरूपमाह त्यागे दृष्टान्तमाह... ७८ २४२ यात्रियेषु पुण्यपापत्यागः ७९ २४२ षयानभिलाषः ८० २४३ ८२ २४३ त्मनो ध्यानम् ८५ २४४ रिव्रज्याफलम् ८६ २४४ दसंन्यासिनां कर्म ८७ २४५ त्वार आश्रमाः ८८ २४५ र्वाश्रमफलम् हस्थस्य श्रेष्ठत्वम् 🚥 ८९ २४५ श्चिविघो धर्मः सेवितव्यः ९१ २४५ ९२ २४६ श्चिवधर्मानाह दशविधधर्माचरणफलम् ९३ २४६ ९५ २४६ वेदमेवाभ्यसेत् ९६ २४६ वेदसंन्यासफलम्

## सप्तमोऽध्यायः ।

अथ राजधर्मानाह ... १ २४७

कृतसंस्कारस्य प्रजारक्षणम् २ २४७

रक्षार्थामिन्द्रायंशाद्राजोत्पत्तिः ३ २४८

राजप्रशंसा ... ६ २४८

राजद्वेषनिन्दा ,.. १२ २४९

राजस्थापितधर्म न नालयेत् १३ २४९

दण्डोत्पत्तिः ... १४ २४९

दण्डोत्पत्तिः ... १५ २५०

दण्डोत्प्रात्म ... १५ २५०

स्वयादण्डनिषेधः ... १९ २५०

पुनर्दण्डप्रशंसा ... १९ २५०

पुनर्दण्डप्रशंसा ... २६ २५०

पुनर्दण्डप्रशंसा ... २६ २५०

|   | प्रकरणम्                 | 18        | ोकाः      | पृष्ठम् | प्रकरण            |
|---|--------------------------|-----------|-----------|---------|-------------------|
|   | चण्डप्रणेता कीहरा इ      | त्यत्राह  | २६        | २५२     | अथ दुर्गप्र       |
|   | अधर्मदण्डे राजादीन       |           |           | २५२     | अस्राचादिः        |
|   | मूर्खादीनां न दण्डप्रण   | गयनम्     | ३०        | २५२     | सुन्दरीं भा       |
|   | सलसंघादिना दण्डः         | प्रणय-    |           |         | पुरोहिताद         |
|   | नम्                      | •••       | 39        | २५२     | यज्ञादिकरण        |
|   | चात्रुमित्रविप्रादिषु द  |           | ·         |         | करप्रहणे          |
|   | विधिः                    | •••       | ३२        | २५२     | अधाष्यक्षाः       |
|   | न्यायवर्तिनो राज्ञः ।    |           | <b>३३</b> | २५३     | त्राह्मणानां      |
|   | दुर्वतराज्ञो निन्दा      | •••       |           | २५३     | त्राह्मणानां      |
|   | राजकृत्यानि              | •••       | ३७        | २५३     | पात्रदानफ         |
|   | विनयप्रहणम् •••          | • • •     | ३९        | २५३     | संप्रामे आ        |
|   | <b>अविनयनिन्दा</b>       | •••       | ४०        | २५४     | <b>सं</b> सुखमरणे |
|   | अत्र दष्टान्तमाह         | •••       | ४९        | २५४     | कूटास्त्रादि      |
|   | विनयाद्राज्यादिप्राप्ति  | दष्टान्तः | ४२        | २५४     | संप्रामेऽवध       |
| - | विद्याप्रहणम् •••        | ***       | ४३        | २५४     | मीतादिहन          |
|   | इन्द्रियजयः              | •••       | 88        | २५४     | संश्रामे पर       |
|   | कामकोधजव्यसनला           |           | ४५        | २५४।    | येन यजित          |
|   | कामजदशब्यसनान्य          |           | ४७        | २५५     | राज्ञः श्रेष्ठ    |
|   | कोधजाष्ट्रव्यसनान्या     | ह         | ४८        | २५५     | 'हस्त्यश्वादि     |
|   | ·सर्वमूललोभस्यागः _      | •••       | ४९        | २५५     | अलब्धं ल          |
|   | <b>अ</b> तिदुःखदव्यसनानि | ते        | 40        | २५५     | <b>जिल्यमश्वप</b> |
|   | व्यसननिन्दा              | •••       | ५३        | २५६     | नित्यमुद्यत       |
|   | अथ सचिवाः                | •••       |           | २५६     | अमात्यादि         |
|   | संधिविग्रहादिचिन्त       |           |           | २५७     | प्रकृतिभेदा       |
|   | मित्रिभिविंचार्य हितं    | कायम्     | 40        | 340     | अर्थादिनिः        |
| , |                          |           | 40        |         | बिजयविरो          |
|   | अन्यानप्यमालान् ः        |           | -         | 246     | करपास्            |
|   | आकरान्तः पुराष्येक्ष     |           |           | २५८     | सामदण्डप्र        |
|   | दुतादिलक्षणानि           |           |           | २५८     | राजरक्षा          |
|   |                          | ***       |           | ३५९     | प्रजापीहने        |
|   | -                        | ***       | ŧŧ        | 348     | प्रजारक्षणे       |
|   | अतिराजेप्सितं दूतेन      | 1         |           |         | माधिपर            |
|   | जानीयात्                 | ***       |           | 248     | मामदोषनि          |
|   | आहरुदेशाश्रयणे           | ***       | 45        | 245     | भागावि <b>क</b>   |
|   |                          |           |           |         |                   |

श्लोकाः पृष्ठम् Ħ. 100 34S काराः पूरितं दुर्गं कुर्यात् ७५ २६० ार्यामुद्रहेत् 835 00 (७८) २६१ यः गम् ७९ २६१ 60 389 69 859 **वृत्तिदानम्** ८२ २६९ वृत्तिदानप्रशंसा ८३ २६२ लमाहं ... ८५ २६२ ाहूतो न निवर्तेत ८७ २६३ गे खर्गः ... ८९ २६३ निषेघः ९० २६३ ध्यानाह 59 343 ••• तने दोषः ... ९४ २६४ राङ्मुखद्दतस्य दोषः ९५ २६४ तंतद्धनंतस्यैव ९६ २६४ ९७ २६४ वस्तुदानम् वर्धनम् ••• ९९ २६५ ऋधुमिच्छेत् १०१ २६५ **ब्हालादिशिक्षा १०२ २६५** ादण्डः स्यात् १०३ २६५ ख़ुमायानकार्या १०४ २६५ ादिगोपनीयम् १०५ २६६ न्तनम् ... १०६ २६६ ोधिनो वशी-र ... अ १०७ २६६ रशंसा ... 909 744 ... ११० २६७ दोषः ... 999 350 सुखम् ... ११३ २६७ **बादयः** ... 994 750 विदनम् ... ११६ २६८ तस्य प्रतिसाह ११८ १६८

| <b>अकरणम्</b>                 | श्लोकाः पृष्ठम् | प्रकरणम्                  | श्लोकाः पृष्ठम् |
|-------------------------------|-----------------|---------------------------|-----------------|
| <b>प्रा</b> म्यकार्याण्यन्येन |                 | राजरक्षा                  | •               |
| कर्तव्यानि                    | १२० २६८         | अरिराज्ययानविधिः          |                 |
| सर्थेचिन्तकः                  |                 | शत्रुसेविमित्रादी सावधा   |                 |
| तचरितं खयं जानीयात            |                 | नत्वम्                    |                 |
| <b>उ</b> त्कोचादिप्राहकशासनम् |                 | व्यूहकरणे                 |                 |
| प्रेष्यादिवृत्तिकल्पनम्       | •               | जलादौ युद्धप्रकारः        |                 |
| वणिक्करप्रहणे •••             |                 | अप्रानीकयोग्यानाह         | १९३ २८२         |
| सल्पाल्पकरग्रहणे              |                 | सैन्यपरीक्षणम्            |                 |
| थान्यादीनां करप्रहणे          |                 | परराष्ट्रपीडनम्           | १९५ २८२         |
| श्रोत्रियात्करं न गृहीया      |                 | परप्रकृतिभेदादि           | १९७ २८३         |
| श्रोत्रियवृत्तिकल्पने         | 938 309         | उपायाभावे युघ्येत्        | २०० २८३         |
| शाकादिव्यवहारिणः              | •               | जित्वा ब्राह्मणादिपूजनं   |                 |
| खल्पकरः                       | १३७ २७१         | प्रजानामभयदानं च          |                 |
| विल्प्यादिकं कर्म कारये       | ११३८ २७१        | तृद्धंश्याय तद्राज्यदाने  | २०२ २८४         |
| स्तरपादिप्रचुरकरप्रहण-        |                 | देवमानुषकर्मे             | २०५ २८५         |
| निषेघः                        | १३९ २७१         | करअहणादि                  | २०६ २८५         |
| तीक्ष्णमृदुताचरणम्            | १४० २७२         | मित्रप्रशंसा              | २०७ २८५         |
| अमास्येन सह कार्य-            |                 |                           | २१० २८५         |
| चिन्तनम्                      | १४१ २७२         | उदासीनगुणाः               |                 |
| दस्युनिप्रहणम्                | १४३ २७२         | आत्मार्थं भूम्यादिल्यागः  |                 |
| ञ्रजापालनस्य श्रेष्टत्वम्     | १४४ २७२         | आपदि उपायचिन्तनम्         |                 |
| सभाप्रवेशनम्                  | १४५ २७२         | अय राज्ञो भोजने           | २१६ २८६         |
| एकान्ते गोप्यमन्त्रणम्        |                 | अन्नादिप्रीक्षा           | २१७ २८६         |
| मन्त्रणकाळे ह्याद्यपसार-      |                 | विहारादौ •••              | २२१ २८७         |
| यम्                           |                 | आयुधादिदर्शनम्            | २२२ २८७         |
| धर्मकामादिचिन्तनम्            | १५१ २७३         | संच्यासुपास्य प्रणिधि-    |                 |
| दूतसंप्रेषणादयः               |                 | चेष्टितं।दि               | २२३ २८७         |
| अथ प्रकृतिप्रकाराः            |                 | ततो रात्रिभोजनाद्यः       | २२४ २८७         |
| अरिप्रकृतयः                   |                 | अखस्थः श्रेष्ठामासेष्ठ    |                 |
| अश्र षह्गुणाः                 | १६० २७६         | निःक्षिपेत्               |                 |
| संघ्यादिप्रकारः •••           | 952 205         | अष्टमोऽघ्याय              |                 |
| संविविप्रहादिकालाः            | 948 206         | व्यवहारान् दिष्टश्चः सभां |                 |
| बिछन्यसंश्रयणे                | १७५ २७९         | प्रविशेत्                 | 9 366           |
| आत्माक्षिकं कुर्यात्          | १७७ २७९         | कुळशास्त्रादिभिः कार्ये   | , ,             |
| आगामिगुणदोषचिन्ता             | 906 308         | ्यश्येत्                  | - ३ २८८         |

| प्रकरणम्                      | श्लोकाः      | पृष्ठम् | प्रकरणम्                        | श्लोकाः पृष्ठम् |
|-------------------------------|--------------|---------|---------------------------------|-----------------|
| अष्टाद्श विवादानाह            | . v          | २८९     | जातिदेशधर्मा विरोधेन            | •••             |
| धर्ममाश्रिख निर्णयं कुय       | त् ८         | २८९     | करणीयम्                         | ४१ २९६          |
| खयमशक्ती विद्वांसं नियु       |              |         | राज्ञा विवादोत्थापनादि          |                 |
| इयात्                         | . 9          | २९०     | कार्यम्                         |                 |
| सित्रिभिर्नाह्मणैः सह कार्य   | ř            | •       | अनुमानेन तत्त्वं निश्चिर्       | यात्४४ २९६      |
| पश्येत 🐽 🐽                    | . 90         | २९०     | सलादिना व्यवहारं पः             |                 |
| त्तत्सभाप्रशंसा               | . 99         | 290     | सदाचार आचरणीयः                  | ४६ २९७          |
| अधर्मे सभासदां दोषः           | . 93         | २९०     | ऋणादानम्                        | ४७ २९७          |
| सदिस सल्यमेव वक्तव्यम         |              | २९०     | अथ हीनाः                        | ••• ५३ २९८      |
| अध्मैवादिशासनम्               | . 98         | २९१     | अभियोक्तुर्दण्डादिः             |                 |
| धर्मातिकमणे दोषः              |              | २९१     | धनपरिणाममिध्याकथ                | ने ५९ं २९९      |
| दुर्व्यवहारे चतुर्णामधर्मः    |              | २९१     | साक्षिविभावनम्                  | ••• ६० २९९      |
| अर्थिप्रखर्थिपापे             |              | २९२     | अथ साक्षिणः                     | ••• ६१ ३००      |
| कार्यदर्शने श्र्वनिषेधः       |              | २९२     | साक्ष्ये निविद्धाः              | ••• ६४ ३००      |
| राष्ट्रनास्तिकदुर्भिक्षादि-   |              |         | इयादीनां ख्यादयः साहि           | क्षेणः ६८ ३०१   |
| निषेधः ू                      | . 29         | २९२     | वादिसाक्षिणः                    | ६९ ३०१          |
| लोकपालानप्रणम्य कार्य-        |              |         | बालादिसाक्ष्यादी                | ٠٠٠ ٥٥ ٤٥٩      |
| दशेनम्                        | •. २३        | 333     | साहसादी न साक्षिपरी             | शा ७२ ३०२       |
| बाह्मणादिक्रमेण कार्य पर्वे   |              |         | साक्षिद्वेषे                    | ७३ ३०२          |
| स्वरवर्णोदिना अर्थ्योदि       |              |         | साक्षिणः सत्यकथनम्              | ७४ ३०२          |
| परीक्षेत्                     |              |         | मिथ्यासाक्ष्ये दोषः             | ७५ ३०२          |
| बालधनं राज्ञा रक्षणीया        |              |         | श्रुतसाक्षिणः                   | ••• ७६ ३०२      |
| <b>प्रो</b> षितपतिकादिधनरक्षण |              |         | एकोऽपि धर्मवित्साक्षी           | ६०६ ७७          |
| अपुत्राधनहारकशासनम्           |              |         | खभाववचनं साक्षिणो               |                 |
| अखामिकधनरक्षणे कार            |              |         | गृह्णीयुः •••                   | ७८ ३०३          |
| द्रव्यरूपसंख्यादिकथनम्        |              |         | साक्षिप्रश्ले                   | ४९ ३०३          |
| अक्रथने दण्डः                 |              |         | साक्षिभिः सत्यं वक्तव्य         | म् ५ ८५ ३०३     |
| प्रणष्टद्रव्यात् षड्भुग्यप्रह |              |         | रहः कृतं कमें आत्मादिः          |                 |
| चौरघातनम्                     |              |         | र्जानाति                        | ••• ८४ ३०४      |
| निध्यादौ षड्भागप्रहणा         | -            |         | <b>ब्राह्मणादिसाक्षिप्रश्ने</b> |                 |
| परनिधौ अन्ततकथने .            |              |         | असलकथने दोषः                    |                 |
|                               | . <b>ą</b> v |         | सत्यप्रशंसा                     | ••• ९२ ३०५      |
| राज्ञा निधि प्राप्यार्ध .     |              |         | असलकथनफलम्                      | t t             |
| ् विप्राय देयम्               |              |         |                                 |                 |
| चौरहृतधनं राज्ञा दातव         | यम् ४०       | २९६     | विषयभेदेन सलफलम्                | ९७ ३०६          |
| म० अ० ३                       |              |         |                                 |                 |

| प्रकरणम्                    | श्लोकाः                                     | पृष्ठम् | - |
|-----------------------------|---|---------|---|
| निन्दितबाह्मणान् स्रह्नवत   |   |         |   |
| पृच्छेत्                    | 903   | ४०५     |   |
| विषयभेदेऽसत्यक्थने दोष      | ा: १०२                                      | ४०६     |   |
| अनृतकथने प्रायश्चित्तम्     | 904   | ३०८     |   |
| त्रिपक्षं साक्ष्यकथने परा-  |   |         |   |
| जयः                         | 900   | ३०८     |   |
| साक्षिभङ्गे                 | 906   | ३०८     |   |
| असाक्षिविवादे रापथः         | 908   |         |   |
| बृथाशपथे दोषः               |   |         |   |
| <b>बृथाशपथप्रतिप्रसवमाह</b> | 993   | ३०९     | 1 |
| विप्रादेः सलोचारादि-        |   |         |   |
| शपथः                        | 993   | ३०९     |   |
| -ग्रूदशपथे                  | 998   | ३१०     |   |
| शपथे शुचिमाह                | 994   |         |   |
| अथ पुनर्वादः                | 990   |         |   |
| लोभादिना साक्ष्ये दण्ड-     | ,   |         |   |
| विशेषः                      | 996   | 390     |   |
| दण्डस्य हस्तादिदश-          |   |         |   |
| स्थानानि                    | 928   | 399     |   |
| अपराधमपेक्य दण्डकरण         | 192६  | ३१२     |   |
| अधर्मदण्डनिन्दादयः          | 920   | 393     | - |
| दण्डविपर्यये                | 926   | ३१२     |   |
| वारदण्डिधिरदण्डादि          | 938   | ३१२     |   |
| त्रसरेण्वादिपरिमाणान्याह    | 939   | ३१३     | 1 |
| प्रथममध्यमोत्तमसाहसाः       | १३८   | ४१६     |   |
| ऋणादाने दण्डनियमः           | १३८:  | ३१४     | - |
| अथ वृद्धिः                  | 380   | ३१४     |   |
| आधिस्थले                    | 983.  | 394     |   |
| बढादाधिभोगनिषेधः            | 988   | 394     |   |
| भाविनिक्षेपादी              | 984   | 394     |   |
| घेन्वादौ भोगेऽपि न 🦠        | 2 May 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 | •       | - |
| ्खृत्वहानिः                 | 386   |         |   |
| <b>बा</b> ध्यादयो भोगेन न   |   |         |   |
| नष्टाः                      | 180   | ३१५     |   |
| बलादाधिमोगेऽर्घवृद्धिः      | 386   | 396     | l |
|                             |   |         |   |

श्लोकाः पृष्ठम् प्रकरणम् हैगुण्याद्धिकवृद्धिन भवति १५१ ३१६ वृद्धिप्रकाराः ... १५२ ३१६ पुनर्लेख्यकरणे १५४ ३१७ देशकालवृद्धौ ... १५६ ३१७ दर्शनप्रतिभूस्थले ... १५८ ३१८ प्रातिभाव्यादि ऋणं पुत्रैर्न देयम ... १५९ ३१८ दानप्रतिभूस्थले ... 940 396 निरादिष्टधने प्रतिभुवि १६२ ३१९ कृतव्यवहारासिद्धौ ... १६३ ३१९ कुटुम्बार्थकृतर्ण देयम् 944 398 बलकृतं अकृतमेव ... १६८ ३२० प्रातिभाव्यादिनिषेधः १६९ ३२० अग्राह्यमर्थं न गृह्णीयात् १७० ३२० **याह्यसागे दोषः** १७१ ३२० ... राज्ञो बलवर्धकानि ... १७२ ३२० अधर्मकार्यकरणे दोषः 948 389 धर्मेण कार्यकरणम् ... १७५ ३२१ धनिकेन धनसाधने ... १७६ ३२१ धनाभावे कर्मणा ऋण-शोधनम् ... ... १७७ ३२१ अथ निक्षेपः ... १७९ ३२२ साक्ष्यभावे निक्षेपनिर्णयः १८२ ३२२ निक्षेपदाने ... खयं निक्षेपार्वणे १८६ ३२३ समुद्रनिक्षेपे ... १८८ ३२३ चौरादिहृते निक्षेपे ... १८९ ३२४ निक्षेपापहारे शपथः 🔐 १९० ३२४ निश्नेपापहारादौ दण्डः 959 378 छळेन परधनहरणे ... १९३ ३२४ निक्षेपे मिध्याकथने दण्डः १९४ ३२४ निक्षेपदानप्रहणयोः ... १९५ ३२५ अखामिविकयः ... १९६ ३२५ सागमभोगप्रमाणम् ... २०० ३२५ प्रकाशकये मूल्यधनलामे २०१ ३२६

| प्रकरणम्                      | श्लोकाः    | पृष्ठम्     | ĺ |
|-------------------------------|------------|-------------|---|
| संस्रष्टवस्तुविकये            | २०२        | ३२६         |   |
| अन्यां कन्यां दर्शयित्वा      | •          | •           |   |
| अन्याविवाहे                   | २०४        | ३२६         |   |
| उन्मत्तादिकन्याविवाहे         | २०५        | ३२६         |   |
| पुरोहितदक्षिणादाने            | २०६        | ३२७         |   |
| अध्वय्वादिदक्षिणा             | .२०९       | ३२७         |   |
| संभूयसमुत्यानम्               | 299        | ३२८         |   |
| दत्तादानप्रकिया               | २१२        |             |   |
| मृतिस्थले                     | २१५        | -           |   |
| संविद्यतिकमः                  | २१८        | ३२९         |   |
| कीतानुशयः                     | २२२        | ३२९         |   |
| अनाख्याय दोषवती-              |            |             |   |
| कन्यादाने                     | २२४        | ३३०         |   |
| मिथ्याकन्यादृष्णकथने          |            |             |   |
| दृषितकन्यानिन्दा              | २२६        | ३३०         |   |
| अथ सप्तपदी                    | .२२७       | ३३१         |   |
|                               | २२९        |             |   |
| क्षीरमृतिः                    |            |             |   |
| पालदोषेण नष्टस्थले            | <b>२३२</b> | <b>₹</b> ₹9 |   |
| चोरहते                        | २३४        | 333         |   |
| रुष्ट्रादिदर्शनम्             | २३४        | ३३२         |   |
| वृकादिहतस्थले                 | २३५        | ३३२         |   |
|                               | २३७        | ३३२         | l |
| सीमाविवादः                    | २४५        | 333         |   |
| सीमाद्यक्षादयः                | २४६        |             |   |
| उपच्छन्नानि सीमालिङ्गानि      |            |             |   |
| सोगेन सीमां नयेत्             | 242        | ३३५         |   |
| सीमासाक्षिणः 🗼 🔐              |            |             |   |
| साक्ष्युक्तां सीमां बक्षीयात् |            |             |   |
| साक्ष्यदानविधिः               | -          |             |   |
| अन्यथाकयने दण्डः              | 240        | १३५         |   |
| साक्ष्यभावे प्रामसाम-         |            | ~           |   |
| न्तादयः                       | 246        | 444         |   |
| सामन्तानां स्थाकश्रने         | . , , , ,  |             |   |
| द्ण्डः                        | 443        | 336         |   |

श्लोकाः पृष्ठम् प्रकरणम् यहादिहरणे दण्डः ... २६४ ३३७ राजा खयं सीमानिर्णयं कुर्यात् ... २६५ ३३७ अथ वाक्पारुषदण्डः... २६६ ३३७ ब्राह्मणाद्याकोशे ... २६७ ३३७ समवर्णाकोशे ... २६९ ३३७ शूदस्य द्विजाकोशे ... २७० ३३८ धर्मोपदेशकर्तः ग्रहस्य द्0ड: ... २७२ ३३८ श्रुतदेशजात्याक्षेपे ... २७३ ३३८ काणाद्याक्रोञ्चे 🕝 ... २७४ ३३८ मात्राद्याक्रोशे ... २७५ ३३८ परस्परपतनीयाक्रोशे २७६ ३३९ अथ दण्डपारुष्यम् ... २७८ ३३९ श्रदस्य ब्राह्मणादिताडने २७९ ३३९ पादादिप्रहारे ... ... २८० ३३९ महता सहोपवेशने ... २८१ ३३९ निष्ठीवनादी ... ... २८२ ३४० केशप्रहणादौ ... ... २८३ ३४० त्वगस्थिभेदादौ ... २८४ ३४० वनस्पतिच्छेदने ... ३८५ ३४० मनुष्याणां दुःखानुसारेण द्ण्डः ... ... २८६ ३४० समुत्थानव्ययदाने ... २८७ ३४० द्रव्याहिंसायाम् ... २८८ ३४१ चार्मिकभाण्डादौ ••• २८९ ३४१ यानादेर्दशातिवर्तनानि , १९० ३४१ रथखाम्यादिदण्डने ... २९३ ३४२ भार्यादिताङ्ने 🔑 👀 २९९ ३४३ अन्यथाताडने दृण्डः ३०० ३४३ स्तेननिमहणे ... ३०१ ३४३ चोरादितोऽभयदानफलम् ३०३ ३४३ राजा धर्माधर्मषष्ठांशभागी ३०४ ३४३ अरक्षया करप्रहणनिन्दा ३०७ ३४४ पापनिप्रहसाध्यंप्रहणे ३१० ३३४

श्लोकाः पृष्ठम् प्रकरणम् बालवृद्धादिषु क्षमा ... ३१२ ३४५ **ब्राह्मणसुवर्णस्तेये** ... ३१४ ३४५ अशासने राज्ञो दोषः ३१६ ३४५ परपापसंश्लेषणम् ... ३१७ ३४५ राजदण्डेन पापनाशः... ३१८ ३४६ कूपरज्वादिहरणप्रपाभेदने३१९ ३४६ **धान्यादिहरणम् सुवर्णादिहरणम्** ... ३२१ ३४६ स्रीपुरुषादिहरणेणम् ... ३२३ ३४७ महापश्वादिहरणादौ ... ३२४ ३४७ स्त्रकार्पासादिहरणम् ३२६ ३४७ हरितधान्यादौ ... ३३० ३४८ निरन्वयसान्वयधान्यादौ ३३१ ३४८ स्तेयसाहसलक्षणम् ... ३३२ ३४८ त्रेतामिस्तेये ... ३३३ ३४८ चौरहस्तच्छेदादि ••• ३३४ ३४९ पित्रादिदण्डे ... ... ३३५ ३४९ राज्ञो दण्डे ... ... ३३६ ३४९ विश्रश्रद्गादेरष्टगुणादिदण्डः ३३७ ३४९ अस्तेयान्याह ... ... ३३९ ३४९ चौरयाजनादौ ... ३४० ३५० पथि स्थितेशुद्धयप्रहणे ३४१ ३५० दासाश्वादिहरणादी ... ३४२ ३५० **अथ**ःसाहसमाह ... ३४४ ३५० द्विजातेः शस्त्रप्रहणकालः ३४८ ३५१ आततायिहनने 🛴 ... ३५० ३५१ परदाराभिमर्शने दण्डः ३५२ ३५२ परिक्रया रहःसंभाषणे ३५४ ३५२ बीसंप्रहणम् ... ३५८ ३५३ भिश्चकादीनां परस्री-... संभाषणे ... • ३६० ३५३ परिवया निषिद्धसंभाषणं ३६१ ३५३ नटादिसीषु संभाषणे न ् दोषः ु ... े ... ३६२ ३५३

**प्रकरणम्** श्लोकाः पृष्ठम् कन्यादूषणे दोषः ••• ३६४ ३५४ अङ्गुलिप्रक्षेपादी ... ३६७ ३५४ व्यभिचरितस्रीजारयोर्दण्डे ३७१ ३५५ संवत्सराभिशस्तादौ ... ३७३ ३५५ श्रदादेररक्षितोत्कृष्टादि-••• ३७४ ३५६ ब्राह्मणस्य गुप्तावित्रागमने ३७८ ३५६ ब्राह्मणस्य न वधदण्डः ३८० ३५७ गुप्तावैश्यक्षत्रिययोर्गमने ३८२ ३५७ अगुप्ताक्षत्रियादिगमने स्तेनादिश्र्न्यराज्य-प्रशंसा ... ३८६ ३५८ कुलपुरोहितादित्यागे ... ३८८ ३५८ मात्रादिलागे ... विप्रयोवींदे राज्ञा न धर्म-... ३९० ३५८ कथनम् ... सामाजिकायभोजने ... ३९१ ३५८ अथ आकराः ••• ३९४ ३५% रजकस्य वस्त्रप्रक्षालने ३९५ ३५% तन्तुवायस्य सूत्रहरणे ३९७ ३५९ पण्यमूल्यकर्णे ••• ३९८ ३६० राज्ञा प्रतिषिद्धानां निर्हरणे ३९९ ३६० अकालविकयादौ विदेशविकये ... पण्यानां कयविकयः ... ४०२ ३६० तुलादिपरीक्षा ... ४०३ ३६० अथ तरिशुल्कम् ... ४०४ ३६१ गर्भिण्यादीनां न तरिञ्चलकम्४०७ ३६५ नाविकदोषेण वस्तुनाशे ४०८ ३६५ वैश्यादेवीणिज्याकरणे ४१० ३६२ क्षत्रियवैश्यौ न दासकर्माही ४११ ३६२ ग्रदं दासकर्म कारयेत् ४१३ ३६२ ग्रहो दास्पान मुच्यते ४१४ ३६२ अथ सप्तदश दासप्रकाराः ४१५ ३६२ भार्यादासादयोऽधनाः 896 363

|   |         | •            |                                      |         |         |
|---|---------|--------------|--------------------------------------|---------|---------|
| प्रकरणम्  | श्लोकाः | पृष्ठम्      | प्रकरणम् .                           | श्लोकाः | पृष्टम् |
| वैश्यश्र्द्रौ खंकमं कारयि-  |         |              | प्रोषितभर्तृकानियमाः                 | ७५      | ३७७     |
| तव्यौ   | 896     | इं६३         | संवत्सरं स्त्रियं प्रतीक्षेत         |         | ३७७     |
| दिने दिने आयव्ययनिरी-   |         |              | रोगार्तखाम्यतिकमे                    |         | ३७७     |
| क्षणम्  | ४१९     | ३६३          | क्षीबादेर्न स्त्रीलागः               |         | २७७     |
| सम्यग्व्यवहारदर्शनफलम्  | (४२०    | ३६३          | अधिवेदने                             |         | ३७७     |
| ् नवमोऽध्या   | यः ।    |              | स्त्रिया मद्यपाने                    |         | ३७८     |
|   | 3       | ३६४          | सजात्या व्रिया धर्मकार्य             |         |         |
| स्त्रीरक्षा   |         |              | नान्यया                              | ८६      | ३७८     |
| जायाशब्दार्थकथनम्   | 6       |              | गुणिने कन्यादानं न                   |         |         |
| स्रीरक्षणोपायाः   | 99      |              | निर्गुणाय                            | 66      | ३७९     |
| स्त्रीखभावः   | 98      | ३६६          | खयंवरकालः                            |         | ३७९     |
| स्त्रीणाममन्त्रिकिया  | 96      |              | खयंवरे पितृदत्तालंकार-               |         |         |
| व्यभिचारप्रायश्चिते   | 98      | ३६७          | त्यागः                               | ९२      | ३७९     |
| स्त्री खामिगुणा भवति  |         | ३६७          | ऋतुमतीविवाहे न शुल्क                 | •       |         |
| श्रीत्रशंसा   |         | 386          | दानम्                                | ८३      | ३८०     |
| अव्यभिचारफलम्   |         | ३६९          | कन्यावरयोर्वयोनियमः                  |         | ३८०     |
| व्यभिचारफलम्  |         | ३६९          | विवाहस्याव <b>र्</b> यकत्व <b>म्</b> | 34      | ३८०     |
| बीजक्षेत्रयोर्बलाबले  |         | ३६९          | दत्तशुल्काया वरमरणे                  | 80      | 360     |
| परस्रीषु बीजवपननिषेधः   |         | ३७१          | ग्रुल्कप्रहणनिषेधः                   | 86      | ३८०     |
| वीपुंसयोरेकत्वम्  |         | ३७१          | वाचा कन्यां दत्त्वाऽन्यसै            |         |         |
| सकृदंशभागादयः   |         | ३७२          | न दानम्                              | 38      | ३८१     |
| क्षेत्रप्राधान्यम्  |         | ३७३          | स्रीपुंसयोरव्यभिचारः                 | 990     | ३८१     |
| अथ स्त्रीधर्मः  |         | <b>₹</b> 0\$ | अथ दायभागः                           | 903     | ३८१     |
| ञ्रातुः स्नीगमने पातित्यम   | 7       |              | विभागकालः                            |         |         |
| अथ नियोगः   |         | ४७६          | सहावस्थाने ज्येष्ठस्य प्रा           | ग-      | 1,0     |
| न नियोगे द्वितीयपुत्रोत्पा  |         |              | न्यम्                                | 904     | ३८२     |
| दनम्  |         | ₹'७४         | ज्येष्ठप्रशंसा                       | 906     | ३८२     |
| कामतो गमननिषेषुः  | ₹ ₹     | ₹@¥          | अज्येष्ठवृत्ती ज्येष्ठे              | 990     | ३८३     |
| नियोगनिन्दा   | €8      | ३७५          | विभागे हेतुमाह                       | 999     | ३८३     |
|   |         |              | ज्येष्ठादेविंशोद्धारे                |         |         |
| बाग्दताविषये 👵 🔐  | 48      | ३७६          | एकमपि श्रेष्ठं ज्येष्ठस्य            |         |         |
| वणसहरकालः वाग्दत्ताविषये कन्यायाः पुनर्दाननिषेधः सप्तपदीपूर्वं कीत्यागे | 40      | ३७६          | दशवस्तुषु समानां नोद्धार             |         |         |
| सप्तपदीपूर्व की लागे  | ७२      | ३०६          | समभागविषमभागौ                        |         |         |
| Medarica and a see  | ~ 4     | ३७६          | खखांशेभ्यो भगिन्ये देय               |         |         |
| जीवृति अकल्प्य प्रवसेत्   | ७४      | ३७६          | विषममजाविकं ज्येष्ठस्यैव             | 998     | ३८५     |

| प्रकरणम्                        | श्चोकाः पृष्ठा | ( प्रकरणम् क्षेकाः पृष्ठम्       |
|---------------------------------|----------------|----------------------------------|
| क्षेत्रजेन विभागे               | 970 36         |                                  |
| अनेकमातृकेषु ज्येक्षे           |                | श्रेष्ठः १८४ ३९७                 |
| जन्मतो ज्येष्ट्यम्              |                |                                  |
| पुत्रिकाकरणे                    | १२७ ३८         | •                                |
| पुत्रिकायां धनमाहित्वम्         | १३० ३८         |                                  |
| मातुः स्त्रीधनं दुहितुः         | १३१ ३८         |                                  |
| पुत्रिकापुत्रस्य धनग्राहि-      |                | राजाधिकारः १८९ ३९९               |
| त्वम्                           | १३२ ३८         | द्वाराध स्वराद्ध याद्ध या        |
| पुत्रिकौरसयोर्विभागे            |                | धिकारः १९० ४००                   |
| अपुत्रपुत्रिकाधने               |                | औरसपौनर्भवविभागे १९१ ४००         |
| पुत्रिकाया द्वैविध्यम्          |                |                                  |
| पौत्रप्रपौत्रयोधनविभाग          | : १३७ ३८       | MIN'II   MID   AAA   1 2 0 0 4 4 |
| पुत्रशब्दार्थः                  |                | संभ्रजलावनाविकारिणः १८५ ४०४      |
| पुत्रिकापुत्रकर्तृकश्रादे       |                | अप्रजलाधनाधिकारणः १९६ ४०१        |
| दत्तकस्य धनप्राहकत्वे           |                | साधारणात्त्राधन न क्रयात ५९५ ४०५ |
| कामजादेन धनप्राहकत्व            |                | अजिम्लकरणसविमाद्यमर०० ४०५        |
| क्षेत्रजस्य धनप्राहकत्वे        |                | े अथानंशाः २०१ ४०२               |
| अनेकमातृकविभागः                 |                | हीबादिक्षेत्रजा अंश-             |
| अनुदश्दापुत्रस्य भाग-<br>निषेघः | . १५५ ३९       | भागितः ३०३ ४०३                   |
| सजातीयानेकमातृक-                | 177 42         | अविभक्तार्जितधने २०४ ४०२         |
| विभागे                          | १५६ ३९         | विद्यादिधने २०६ ४०२              |
| शूदस्य पुत्राणां सम एव          |                | त्रक्तसांशोपेक्षणे २०७ ४०३       |
|                                 | १५७ ३९         | ३ अविभाज्यधने २०८ ४०३            |
| दायादादायादबान्धवत्व            | म्१५८ ३९       | नष्टोद्धारे २०९ ४०३              |
| कुपुत्रनिन्दा                   | 989 38         | संस्टिधनविभागे २१० ४०३           |
| औरसङ्गेत्रजविभागे               | १६२ ३९         | विदेशादिगतस्य न भाग-             |
| क्षेत्रजानन्तरमौरसोत्पत्तं      | ी १६३ ३९       | होपः २११ ४०३                     |
| दत्तकाद्यो गोत्ररिक्थ-          |                | वसको ज्येष्ठः अभागः २१३ ४०४      |
| भागिनः                          | १६५ ३९         | विकर्मस्था धनं नाईन्ति २१४ ४०४   |
| औरसादिद्वादशपुत्रछक्ष           |                |                                  |
| दासीपुत्रस्य समभागित्व          |                |                                  |
| क्षेत्रजादयः पुत्रप्रतिनिध      | यः१८० ३९       | विभागानन्तरोत्पचस्यके २१६ ४०४    |
| संखौरसे दत्तकादयो न             |                | अनपसम्ने मातुर्धिकारः २१७ ४०४    |
| कर्तव्या                        | १८१ ३९         | अण्यनयोः समं विभागः २१८ ४०५      |
| श्य पुत्रित्वातिदेशः            | १८२ ३८५        | विभाज्यमाह ••• २१९ ४०५           |

| प्रकरणम्                               | श्लोकाः | पृष्ठम्                               | प्रकरणम्                             |       | श्लोकाः    | पृष्ठम्     |
|--|---------|---------------------------------------|--------------------------------------|-------|------------|-------------|
| अथ चूतसमाह्यः                          | 220     | ४०५                                   | चौराद्युपद्रवे अधा                   | वतो   |            |             |
| द्यूतसमाह्यनिषेधः                      |         |                                       | दण्डः                                |       | २७४        | ४१४         |
| चूतसमाह्वयार्थः                        | २२३     | ४०५                                   | राज्ञः कोशहारका                      | दयो   | '          |             |
| चूतसमाह्वयार्थः<br>चूतादिकारिणां दण्डः | २२४     | ४०६                                   | दण्ड्याः                             | . *** | २७५        |             |
| पाषण्डादीन्देशान्त्रिर्वासयेत          | र्२२५   | 808                                   | संधिच्छेदे                           | •••   | २७६        |             |
| दण्डदानाशकौ                            | २२९     | 808                                   | प्रनिथमेदने                          | ***   | २७७        |             |
| स्नीबालादिदण्डे                        | 230     | VoV                                   | चौरलोप्त्रधारणादौ                    | •••   | २७८        |             |
| नियुक्तस्य कार्यहनने                   |         |                                       | तडागागारभेदने                        | ···   | २७९        |             |
| कूटशासनबालवधादिकरण                     | रि३१    | ४०४                                   | राजमार्गे मलादिख                     |       |            |             |
| धर्मकृतं व्यवहारं न                    | _       |                                       | मिथ्याचिकित्सने व                    |       | २८४        |             |
| निवर्तयेत्                             | २३४     | ४०४                                   | प्रतिमादिभेदने दंड<br>मणीनामपवेधादौ  |       | २८५        |             |
| अधर्मेकृतं निवर्लम्                    |         |                                       | मणानामपववादा<br>विषमव्यवहा <b>रे</b> | •••   | २८६        |             |
| प्रायश्चित्ताकरणे महा-                 |         |                                       | ानष्म व्यवहार<br>बन्धनस्थानम्        | •••   | २८७<br>२८८ |             |
| पातकिदण्डः 🕖                           | २३५     | ७०४                                   | प्राकारभेदादौ<br>-                   | •••   | 268        |             |
| प्रायश्वित्तकरणे नाङ्गाः               |         |                                       | अभिचारकर्मण <u>ि</u>                 |       | 230        | ,           |
| महापातके बाह्मणस्य दण्ड                | :२४१    | 806                                   | आम पार्यमान<br>अबीजविक्रयादौ         |       | 239        |             |
| क्षत्रियादेर्षण्डः                     | २४२     | ४०९                                   | खणकारदण्डने                          |       | 293        |             |
| महापात्किध्नप्रहणे                     |         |                                       | <b>इ</b> लोपकरणहरणे                  |       | २९३        |             |
| ब्राह्मणपीडने दण्डः                    |         |                                       | अथ सप्तप्रकृतयः                      | •••   | 338        |             |
| वध्यमोक्षणे दोषः                       | 288     | ४१०                                   | खपरशक्तिवीक्षणम                      |       |            |             |
| राजा कण्टकोद्धरणे यतं                  |         |                                       | कर्मारम्भे                           | 7     | 233        |             |
| कुर्यात्                               | २५२     | ४१०                                   | राज्ञो युगत्वकथन                     |       | ३०१        |             |
|  |         |                                       | इन्द्रादीनां तेजो च                  |       | •          |             |
| आर्थरक्षाफलम्<br>तस्करायशासने दोषः     | 248     | 899                                   | विभर्ति                              |       | ३०३        | 898         |
| निर्मयराज्यवर्धनम्                     | 244     | ४११                                   | स्तेननिप्रहणम्                       | •••   |            | ४२१         |
| अकाशाप्रकाशतस्कर <b>ज्ञान</b>          |         |                                       | ब्राह्मणं न कोपयेत                   |       | 333        | 833         |
| प्रकाशाप्रकाशतस्क <b>राना</b> ह        |         |                                       | त्राह्मणप्रशंसा                      | ***   | 398        | 839         |
| तेषां शासनम् 📞 🚥                       |         | · · · · · · · · · · · · · · · · · · · | रमशानाभिने दुष्ट                     | एवं 🗆 | •          |             |
| चौराणां निमाहको दण्ड                   |         |                                       | त्राह्मणः                            |       | ३१८        | ४२ <b>२</b> |
| एव                                     | 263     | ४१२                                   | ब्रह्मक्षत्रयोः परस्य                |       |            |             |
| तस्करान्वेषणम्                         | 260     | ×95                                   | साहित्यम्                            |       |            | ४२२         |
| लोप्त्रादर्शने                         | 3/00    | ×42                                   | पुत्रे राज्यं दत्त्वा                | र्ष   | ३२३        | ¥2.3        |
| चौराश्रयदायकदण्डः                      | 2100    | V 93                                  | प्राणखागः<br>नैकाधार्यानाम           |       |            |             |
| स्त्रधर्मच्युतदण्डने                   |         |                                       | वैश्यधर्मानाह<br>ग्रह्मधर्मानाह      |       |            |             |
| स्त्रमण्युतप्रवन •••                   | 404     | Q. J. A.                              | सिर्ध्यम्।गाष्ट् •••                 | ***   | . २५४      | 0.7.        |

| प्रकरणम्                                 | श्लोकाः पृष्ठा               | प्रकरणम्                                 | श्लोकाः प्रष्ठम्                            |
|--|------------------------------|--|---|
| दशमोऽध्य                                 | ायः ।                        | आपदि विप्रस्य हीन-                       |   |
| अध्यापनं ब्राह्मणस्यैव                   | 9 834                        | ्याचनादि .                               | 902 888                                     |
| वर्णानां बाह्मणः प्रभुः                  |                              | प्रतिप्रहिनन्दा                          | • १०९ ४४६                                   |
| द्विजवर्णकथनम्                           | ४ ४२(                        | याजनाध्यापन द्विजान                      |   |
| सजातीयाः                                 | ••• ५ ४२६                    | त्रावभहादपापनाशः                         | •   |
| पितृजातिसदृशाः .                         | ६ ४२६                        |  | • 992 886                                   |
|  | •• ८ ४२५                     |  | <ul><li> ११३ ४४६</li><li> ११५ ४४७</li></ul> |
|  | २० ४२९                       |  |   |
| त्रात्येत्पनादिसंकीर्णाः .               |                              | ਕਵਿਤੀ ਤਾਜੀ ਹੈ।                           | •   |
|  | •• ४१ ४३४                    | रिशामापद्ममाह                            | . ११८ ४४७                                   |
| वे सुकर्मणा उत्कर्ष गच्छ                 |                              | ग्र्रस्य आपद्धर्मः                       | १२१ ४४८                                     |
| कियालोपात् वृषलत्वम्.                    | •• ४३ ४३४                    | श्रदस्य बाह्यणाराधन                      | ,   |
| दस्यवः                                   | • ४५ ४३४                     | 1  | . १२२ ४४८                                   |
| वर्णसंकराणां कर्माण्याह                  | •                            | ग्रहिशत्तकस्पनम्<br>ग्रहस्य न संस्कारादि | •   |
|  | ५१ ४३५                       | श्रहस्यामञ्जर्कं धर्मकार्यम              | १२६ ४४९<br>[ १२७ ४४९                        |
| 0 1                                      | . ५७ ४३६                     | श्रहस्य धनसंचयनिषेधः                     | •   |
| एषां विप्राद्ये प्राणसाग                 | • ६४ २४ •                    | 1  | •   |
| साधारणधर्माः श्रेष्ठाः                   |                              | एकादशोऽध्य<br>स्नातकस्य प्रकाराः         |   |
| सप्तमे जन्मनि ब्राह्मण्यं                |                              | नवस्नातकेभ्योऽसदाने                      | 9 840                                       |
| सदत्वं च                                 | • ६४ ४३ •                    | वेदविद्धो दानम्                          | ३ ४५१<br>४ <b>४५१</b>                       |
| वर्णसंकरे श्रेष्ट्यम्                    |                              | भिक्षया द्वितीयविवाह-                    | 0 071                                       |
| बीजक्षेत्रयोर्बलाबले                     |                              | निषेधः                                   | ५ ४५१                                       |
| षट्कर्माण्याह<br>ब्राह्मणजीविका          |                              | कुडुम्बिबाह्मणाय दानम्                   | ६ ४५१                                       |
| क्षत्रियवैश्यकर्माह                      | . <i>৬</i> ६ ४४०<br>. ৬৬ ४४० | सोमयागाधिकारिणः                          | 0 899                                       |
| द्विजानां श्रेष्ठकर्माह                  |                              | कुदुम्बाभरणे दोषः                        | 8 849                                       |
| आपद्धर्ममाह                              |                              | यज्ञशेषार्थं वैश्यादेर्धन-               |   |
| विक्रये वर्ज्यानि                        |                              | षड्डपवासे आहारप्रहणे                     |   |
| क्षीरादिविकयफलम्                         | ९२ ४४३                       | त्रहासादिहरणनिषेधः                       | १६ ४५३<br>१८ ४५३                            |
| क्यायसीवृत्तिनिषेधः                      | ९५ ४४३                       | असाधुधनं हत्वा साधुभ्यो                  | · 7.74                                      |
| परधर्मजीवनिन्दा<br>वैश्यसद्वयोरापद्धर्मः | 80 888                       | दाने दण्डः                               | १९ ४५३                                      |
| काराज्यस्याराजस्यः कृति                  | 35 888                       | यज्ञशीलादिघनप्रश्रंसा                    | २० ४५३                                      |
| · '.                                     |                              | •  |   |

प्रकरणम् श्लोकाः पृष्टम् यज्ञाद्यर्थं विष्रस्य स्तेनादौ

न दण्डः ... २१ ४५४
धुधावसचस्य वृत्तिकल्पने २२ ४५४
यज्ञार्थं शुद्रभिक्षानिषेषः २४ ४५४
यज्ञार्थं धनं भिक्षित्वा न

रक्षणीयम् ... २५ ४५४ देवब्रह्मस्वहरणे... २६ ४५४ सोमयागाशकौ वैश्वानरयागः२७ ४५४ समर्थस्यानुकल्पनिषेधः २८ ४५५ द्विजस्य स्वशक्तया वैरिजयः ३१ ४५६ ब्राह्मणस्यानिष्टं न ब्रूयात् ३५ ४५६ अल्पविद्यक्यादेहींतृत्व-

निषेधः अश्वदक्षिणादाने ... ३८ ४५६ अल्पदक्षिणयज्ञनिन्दा ... ३९ ४५६ अमिहोत्रिणस्तदकरणे ... ४१ ४५७ शुद्राप्तधनेनामिहोत्रनिन्दा ४२ ४५७ विहिताकरणादौ प्रायिक्षतं ४५ ४५८ कामाकामकृतपापे प्रायश्चित्तिसंसर्गनिषेधः ४७ ४५९ पूर्वपापेन कुछ्यन्धादयः 86 848 प्रायिश्वत्तमवस्यं कर्तव्यम् ५३ ४५९ पश्चमहापातकान्याह ५४ ४६० ब्रह्मह्लादिसमान्याह ... 48 860 49 869 उपपातकान्याह जातिश्रंशकराण्याह E0 863 संकरीकरणान्याह ... ६८ ४६३ **अ**पात्रीकरणान्यां ह ६९ ४६३ मलिनीकरणान्या**ह** \$ \$ 8 ov ... अथ जद्मवधप्रायिकतम् 634 Se गर्भात्रेगीक्षत्रवैश्यमधे ... ८७ ४६८ भी सुद्रह्मधनि क्षेपहरणादी अय प्ररापानप्रायश्वितम् 84 A00 स्राप्रकाराः ...

प्रकरणम् श्लोकाः पृष्ठम्
सुवर्णस्तेयप्रायश्वित्तम् ... ९९ ४७१
गुरुह्मीगमनप्रायश्वित्तम् १०३ ४७२
गोवधाद्युपपातकप्राय-

श्चित्तम ... १०८ ४७३ धवकीर्णिप्रायश्वित्तम् ... ११८ ४७४ जातिभ्रंशकरप्रायिशतम् १२४ ४७५ संकरीकरणादिप्रायश्वित्तम् १२५ ४७६ क्षत्रियादिवधप्रायिक्तम् १२६ ४७६ मार्जीरादिवधप्रायश्चित्तम् १३१ ४७७ हंसादिवधप्रायश्चित्तम् 938 806 व्यभिचरितस्त्रीवधे ... १३८ ४७८ सर्पादिवधे दानाशकौ 939 806 <u>श्चद्रजन्तु समृहवधादी</u> 308 089 बुक्षादिच्छेदनादौ<u>ै</u> ... 982 808 अन्नजादिसत्त्ववधे ... १४३ ४७९ बृथौषध्यादिच्छेदने ... १४४ ४७% **अमुक्यसुरापानप्रायश्चित्तं १४६ ४७९ सुराभाण्डस्थ**जलपाने शुद्रोच्छिष्टजलपाने ... १४८ ४८० सरागन्धाघाणे \*\*\* 988 860 विष्मुत्रसुरासंसृष्टभोजने 940 869 पुनःसंस्कारे दण्डादि-

नियुत्तिः ... १५९ ४८९ अभोज्याचन्त्रीसूदोन्छिष्टा-

भस्यमांसभक्षणे ... १५२ ४८१ शुक्तादिभक्षणे ... १५३ ४८१ स्करादिविण्मूत्रभक्षणे १५४ ४८१ शुक्कस्नास्याज्ञातमांस-

भक्षण ... १५५ ४८३ कुकुटनरस्करादिभक्षणे १५६ ४८३ मासिकासभक्षणप्राय-

श्चित्तम् ... ... १५७ ४८२ त्रद्यचारिणो मधुमांसादिम.१५८ ४८२ विडालागुव्छिद्धादिमक्षणे १५९ ४८२ स्रमोज्यासमुत्तार्थम् ... १६० ४८३

| सजातीयधान्यादिस्तेये १६२ ४८३<br>मनुष्यादिहरणप्रायश्चित्तम् १६३ ४८३<br>त्रपुसीसकादिहरणे १६४ ४८३ |    |
|--|----|
| मनुष्यादिहरणप्रायश्चित्तम् १६३ ४८३   |    |
| • •  |    |
|  |    |
| भक्ष्ययानशय्यादिहरणे १६५ ४८३   |    |
| ग्रुष्कान्नगुडादिहरणे १६६ ४८४  |    |
| मणिमुक्तारजतादिहरणे १६७ ४८४  |    |
| कार्पासां शुकादिहरणे १६८ ४८४   |    |
| अगम्यागमनप्रायश्चित्तम् १७० ४८४  |    |
| वडवारजखलादिगमने १७३ ४८५  |    |
| दिवामैथुनादौ १७४ ४८५   |    |
| नाण्डाल्यादिगमने १७५ ४८५   |    |
| व्यभिचारे स्त्रीणां प्राय० १७६ ४८५   |    |
| चाण्डालीगमने १७८ ४८६   |    |
| पतितसंसर्गप्रायश्चित्तम् १७९ ४८६   |    |
| पतितस्य जीवत एव प्रेत-   |    |
| ्र किया १८२ ४८७  |    |
| पतितस्यां शादिनिवृत्तिः १८५ ४८७  |    |
| कृतप्रायश्चित्तसंसर्गः १८६ ४८७   |    |
| प्रतितस्त्रीणामचादि देयम् १८८ ४८८  |    |
| पतितसंसर्गनिषेधादि १८९ ४८८   |    |
| बालझादिलागः •• १९० ४८८   |    |
| वासवेदसक्तप्रायश्चित्तम् १९१ ४८८   |    |
| गहिँतार्जितधनस्यागः १९३ ४८९  |    |
| असत्प्रतिप्रहप्रायश्चित्तम् १९४ ४८९  |    |
| क्रतप्रायश्चित्तं साम्यं पृच्छेत् १९५ ४८९  |    |
| गोभ्यो घासदानं तत्र  |    |
| संसर्गः १९६ ४८९  | '  |
| वांखयाजनपतितिकिया० १९७ ४८९   |    |
| वेदशरणागतत्यागे १९८ ४९०  | ;  |
| श्वादिदंशनप्रायश्वित्तम् १९९ ४९०   | *  |
| अपाङ्क्यप्रायश्चित्तम् २०० ४९०   | 3  |
| <b>उष्ट्रा</b> दियानप्रायित्राम् २०१ ४९०   | Ŝ  |
| जले जलं विना वा मूत्रादि-<br>त्यांने   | ₹  |
| 270 20   | ₹7 |
| वदादतकमोदिखागे २०३ ४९१   | f  |

प्रकरणम् श्रीकाः प्रष्ठम् व्राह्मणस्य धिकारे ... २०४ ४९१ व्राह्मणस्यर्थे ... २०५ ४९१ व्राह्मणस्यर्थे ... २०५ ४९१ व्राह्मणस्यश्चित्तस्यर्थे ... २०५ ४९१ प्राणानस्यादिवतिनिर्णयः २११ ४९६ पापं न गोपनीयम् ... २२० ४९६ पापानतापे ... २३२ ४९६ पापानतापे ... २३३ ४९६ पापानतिनिन्दा ... २३३ ४९६ तपःप्रशंसा ... २३४ ४९६ वेदाभ्यासप्रशंसा ... २४५ ४९८ रहस्यप्रायश्चित्तम्

#### द्वादशोऽध्यायः।

ग्रुभाग्रुभकर्मफलम् ... कर्मणो मनः प्रवर्तकम् त्रिविधमानसकर्माण ... चतुर्विधवाचिककर्माणि त्रिविधशारीरकर्माणि मनोवाक्कायकर्मभोगफलम् त्रिदण्डिपरिचयः क्षेत्रज्ञपरिचयः जीवात्मपरिचयः ५०५ जीवानामानन्सम् परलोके पाचभौतिकशरीरम् १६ मोगानन्तरमात्मनि लीयते १७ धर्माधर्मबाहुल्याङ्गोगः त्रिविधगुणकथनम् ... अधिकगुणप्रधानो देहः सत्त्वादिलक्षणमाह 🃫 सात्त्विकगुणलक्षणम् ... राजसगुणलक्षणम् तामसगुणलक्षणम् ... संक्षेपतस्तामसाविकक्षणम् गुणत्रयात्रिविधा गतिः त्रिविधगतिप्रकाराः

| प्रकरणम्                  | श्लोकाः | पृष्ठम् |
|---------------------------|---------|---------|
| पापैन कुतिसता गतिः        | ५२      | 493     |
| पापविशेषेण योनिविशेषोर    | प.५३    | 492     |
| पापप्रावीण्याचरकादि       | ७३      | 494     |
| मोक्षोपायषट्कर्माण्याह    | ८३      | 498     |
| आत्मज्ञानस्य प्राधान्यम्  | 64      | ५१७     |
| वेदोदितकर्मणः श्रष्ठत्वम् | 68      | 490     |
| वैदिकं कर्म द्विविधम्     | 66      | 496     |
| प्रकृतनिवृत्तकर्मफलम्     | 90      | 496     |
| समदर्शनम्                 | 89      | 496     |
| वेदाभ्यासादौ              | 53      | 499     |
| वेदबाह्यस्मृतिनिन्दा      | 34      | 499     |
| वेदप्रशंसा                | 90      | 470     |
| वेदादिविदः सेनापखादि      | 900     | 490     |
| वेदज्ञप्रशंसा             | 909     | ५२०     |
|                           |         |         |

| प्रकरणम्                   | श्लोकाः | पृष्ठम् |
|----------------------------|---------|---------|
| वेदव्यवसायिनः श्रेष्ठत्वम् | 903     | ५२१     |
| तपोविद्याभ्यां मोक्षः      |         | 439     |
| प्रत्यक्षानुमानशब्दाः      |         |         |
| त्रमाणानि                  | 904     | ५२१     |
| धर्मज्ञलक्षणम्             | 908     | ५२१     |
| अकथितधर्मस्थले             | 906     | ५२२     |
| भय विष्टाः                 | 909     | ५२२     |
| अथ परिषत्                  | 990     | ५२२     |
| मूर्खाणां न परिषत्त्वम्    | 998     | ५२३     |
| आत्मज्ञानं पृथकृत्याह      | 996     | 428     |
| वाय्वाकाशादीनां लयमाह      | 920     | ५२४     |
| आत्मखरूपमाह                | 922     | ५२५     |
| आत्मदर्शनमवश्यमनुष्टेयम्   | 924     | 424     |
| <b>ए</b> तत्संहितापाठफलम्  | १२६     | ५२६     |

## संपूर्णोऽयं मनुस्तृतिविषयानुक्रमः।



# मनुस्मृतिः

# कुछूकभद्दकृतमन्वर्थमुक्तावलीसंवलिता ।

## प्रथमोऽध्यायः १

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः । प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमञ्जवन् ॥ १ ॥

ॐनमो भगवते वासुदेवाय ।

गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्बन्धे वरेन्द्रां कुळे
श्रीमद्भटिवाकरस्य तनयः कुळूकभटोऽभवत् ।
काश्यामुत्तरवाहिजहुतनयातीरे समं पण्डितेस्तेनेयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावळी ॥ १ ॥
सर्वज्ञस्य मनौरसर्वविदिपि व्याख्यामि यद्वाद्ध्ययं
युक्त्या तद्वहुभिर्यतो सुनिवरेरेतद्वहु व्याहृतम् ।
तां व्याख्यामधुनातनैरिपि कृतां न्याच्यां खुवाणस्य मे
भक्त्या मानववाद्ध्यये भवभिदे भूयादशेषेश्वरः ॥ २ ॥
मीमांसे बहु सेवितासि सुहृदस्तर्काः समस्ताः स्थ मे
वेदान्ताः परमात्मबोधगुरवो यूयं मयोपासिताः ।
जाता व्याकरणानि बाळसखिता युष्माभिरभ्यर्थये
प्राप्तोऽयं समयो मन्किविवृतौ साहाय्यमाळम्ब्यताम् ॥ ३ ॥

द्वेषादिदोषरहितस्य सतां हिताय मन्वर्थतत्त्वकथनाय ममोद्यतस्य । देवाद्यदि क्रचिदिह स्वलनं तथापि निस्तारको भवतु मे जगदन्तरात्मा ॥ ४॥

> मानववृत्तावस्यां श्रेया व्याख्या नवा मयोद्धिशा। प्राचीनो अपि रुचिरा व्याख्यादृणामशेषाणाम् ॥ ५॥

मनुमेकाग्रमासीनमिलादि॥ अत्र महर्षीणां धर्मविषयप्रश्ने मनोः 'श्रूयताम्' (११४) इत्युत्तरदानपर्यन्तश्चोकचतुष्टयेनैतस्य शास्त्रस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयुक्तानि विषयसंबन्धप्रयोजनान्युक्तानि। तत्र धर्म एव विषयः। तेन सह वचनसंदर्भरू-पस्य मानवशास्त्रस्य पतिपाधप्रतिपादक्ष्वश्रणः संबन्धः। प्रमाणान्तरासञ्जिकृष्टस्य स्वर्गापवर्गादिसाधनस्य धर्मस्य शास्त्रकग्नयत्वात् । प्रयोजनं तु स्वर्गापवर्गादि, तस्य धर्माधीनत्वात् । यद्यपि पर्युप्रामनादिरूपः कामोऽप्यत्राभिन

हितस्तथापि 'ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा' ( ३।४५ ) इस्यृतु-कालादिनियमेन सोऽपि धर्म एव। एवं चार्थार्जनमपि 'ऋतामृताभ्यां जीवेत' (४।४) इत्यादिनियमेन धर्म एवेत्यवगन्तन्यम् । मोक्षीपायत्वेनाभिहितस्यात्म-ज्ञानस्यापि धर्मत्वाद्धर्मविषयत्वं मोक्षोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्योपपन्नम्। पौरुषेयत्वेऽपि मनुवाक्यानामविगीतमहाजनपरिग्रहाच्छ्रत्युपग्रहाच वेदमूल-कतया प्रामाण्यम् । तथा च छान्दोग्यब्राह्मणे श्रूयते-'मनुवें यत्कि-चिदवदत्तद्वेषजं भेषजतायाः' इति । बृहस्पतिरप्वाह-'वेदार्थोपनिबद्ध-त्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् । मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्तते ॥ तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च । धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ॥' महाभारतेऽप्युक्तम्-'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेद-श्चिकित्सितम् । माज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुसिः ॥' विरोधि-बोद्धादितकैंने हन्तव्यानि । अनुकूलस्तु मीमांसादितकेः प्रवर्तनीय एव । अत एव वक्ष्यति (१२।१०६)-'भार्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणा-नुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः ॥' इति। सकलवेदार्थादिमननान्मनुं महर्षय इदं · द्वितीयश्लोकवान्यरूपमुच्यतेऽनेनेति वचनमञ्जवन् । श्लोकस्वादौ मनुनिर्देशो मङ्गलार्थः । परात्मन एव संसारस्थितये सार्वज्ञ्येश्वर्यादिसंपन्नमनुरूपेण प्रादु-र्भूतत्वात्तद्भिधानस्य मङ्गळातिशयत्वात् । वक्ष्यति हि (१२।१२३)-'एनमेके वदन्सिर्प्सं मनुमन्ये प्रजापतिम्' इति । एकाम्रं विषयान्तराव्याक्षिप्तचित्तम् । आसीनं सुखोपविष्टम् । ईदशस्यैव महर्षिप्रश्लोत्तरदानयोग्यत्वात् । अभिग-स्याभिमुखं गत्वा । महर्षयो महान्तश्च ये ऋषयश्चेति तथा । प्रतिपूज्य पूज-यित्वा। यद्वा मनुना पूर्वं स्वागतासनदानादिना पूजितास्तस्य पूजां कृत्येति प्रतिशब्दादुत्रीयते । यथान्यायं येन न्यायेन विधानेन प्रश्नः कर्तुं युज्यते प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना । वक्ष्यति च (२।११०)-'नापृष्टः कस्यचिद्रयाञ्च चान्यावेन प्रच्छतः' इति। 'अभिगम्य, प्रतिपूज्य, अञ्चवन्' इति क्रियात्रयेऽपि मनुमिल्येव कर्म । अञ्जवन्नित्यत्राकथितकर्मता । ख्रविधातोर्द्धिकर्मकत्वात् ॥ १ ॥

किमबुवन्नित्यपेक्षायामाह—

भगवन्सर्ववर्णानां यथावद्तुपूर्वशः । अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्रो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

भगवित्रत्यादि ॥ ऐश्वर्यादीनां 'भग'शब्दो वाचकः । तहुक्तं विष्णुपुराणे— 'ऐश्वर्थस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चेव षण्णां भग इतीङ्गना ॥' इति । मतुबन्तेन संबोधनं भगविज्ञिति । वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैदय-

पाठा०-1 इतीरणा.

१ तथा चोक्तम्—'ऋचो यज्षि सामानि मञ्जा आथर्वणाश्च ये। सप्तिषिभिक्तु यत्त्रोक्तं तत्तर्वं मनुरम्बीत्' इति ।

<sup>·</sup> २ वहा, न्यायस्तु शास्त्रमर्यादेत्यभिषीयते, तदनुगुणं वा वचनमिति ध्येयम् ।

श्रद्धाः । सर्वे च ते वर्णाश्चेति सर्ववर्णाः, तेषामन्तरप्रभवाणां च संकीर्णजातीनां वापि अनुलोमप्रतिलोम्जातानां अम्बष्टक्षत्तृकर्णप्रसृतीनां तेषां विजातीयमैथुनसंभवत्वेन खरतुरगीयसंपर्काजाताश्चतरवजात्मन्तरत्वाद्धर्णशब्देनाग्रहणारप्टथक् प्रश्नः । एतेनास्य शास्त्रस्य सर्वोपकारकत्वं दशितम् । यथावत् यो धर्मोः
यस्य वर्णस्य येन प्रकारेणाईतीत्यनेनाश्रमधर्मादीनामपि प्रश्नः । अनुपूर्वशः
क्रमेण जातकर्म, तद्नु नामध्यमित्यादिना । धर्मान्नोऽसम्यं वक्तुम्हंसि सर्वेधर्माभिधाने योग्यो भवसि तस्माद्भृहीत्यध्येषणमध्याहार्थम् । यत्तु ब्रह्महत्यादिरूपाधर्मकीर्तनमप्यत्र तत् प्रायश्चित्तविधरूपधर्मविषयत्वेन न स्वतन्नतया ॥ २ ॥

सकलधर्माभिधानयोग्यत्वे हेतुमाह—

# त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभ्रवः। • अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्त्रभो ॥ ३॥

त्वमेक इसादिना ॥ हिशब्दो हेता । यसान्त्वमेकोऽद्वितीयः अस्य सर्वस्य प्रत्यक्षश्चतस्य स्मृत्याद्यनुमेयस्य च विधानस्य विधीयन्तेऽनेन कर्माण्य-प्रिहोत्रादीनीति विधानं वेदस्तस्य स्वयंभुवोऽपौर्षयस्याचिन्तस्य बहुशाखा-विभिन्नत्वादियत्तया परिच्छेतुमयोग्यस्य, अप्रमेयस्य मीमांसादिन्यायनिरपेक्ष-तयानवगम्यमानप्रमेयस्य, कार्यमनुष्ठेयमग्निष्टोमादि, तत्त्वं ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैति. २।१।१) इत्यादि वेदान्तवेद्यं तदेवार्थः प्रतिपाद्यभागसं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थवित् । मेधातिथिस्तु कर्ममीमांसावासन्या वेदस्य कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थविदिति व्याच्छे । तन्न । वेदानां ब्रह्मण्यपि प्रामाण्याभ्युपगमान्न कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थः ।धर्माधर्मेव्यवस्थापनसमर्भत्वात् प्रभो इति संबोधनम् ॥ ३॥

# स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः । प्रत्युवाचाच्ये तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्यतामिति ॥ ४ ॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगित्यादि ॥ स मनुस्तैर्महर्षिभिस्तथा तेन प्रकारेण प्रवेक्तिन न्यायेन प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना पृष्टस्तान्सम्यग्यथातत्तं प्रत्यु-वाच श्र्यतामित्युपक्रम्य। अमितमपरिच्छेद्यमोजः सामर्थ्यं ज्ञानतत्त्वाभिधानादे यस्य स तथा । अत एव सर्वज्ञसर्वशक्तितया महर्षाणामपि प्रश्नविषयः। महात्मभिमेहानुभावैः । आच्धं पूजयित्वा । आङ्पूर्वस्याचेतेल्यंबन्तस्य रूप-मिदम् । धर्मस्याभिधानमपि पूजनपुरःसरमेव कर्तव्यमित्यनेन फलितम्। ननु मनुप्रणीतत्वेऽस्य शाखस्य 'स पृष्टः प्रत्युवाच' इति न युक्तम्, 'अहं पृष्टो श्रवीमि' इति युज्यते । अन्यप्रणीतत्वे च कथं मानवीयसंहितेति ? उच्यते—

प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्स्वाभिप्रायमिप परोप देशियव वर्णयन्ति; अत एव 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्' (जै.न्या.स. १।१।४) इति जैमिनेरेव सूत्रम् । अत एव 'तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्' (ज्ञ. स. १।१।२६) इति बादरायणस्यैव शारीरकसूत्रम् । अथवा मन्पदिष्टा धर्मास्तिच्छप्येण भृगुणा तदाज्ञयोपनिवद्धाः । अत एव वक्ष्यति (१।५९)-'एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं आवयिष्यत्यशेषतः' इति । अतो युज्यत एव स पृष्टः प्रत्युवाचेति । मन्पदिष्टधर्मोपनिवद्धत्वाच मानवीयसंहितेति न्यपदेशः ॥ ४॥

श्रूयतामित्युपक्षिप्तमर्थमाइ—

## आसीदिदं तमोभृतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतक्र्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

आसीदिद्मिति ॥ ननु मुनीनां धर्मविषयप्रश्चे तत्रैवोत्तरं दातुमुचितं, तत्कोऽयमप्रस्तुतः प्रखयदशायां कारणलीनस्य जगतः सृष्टिप्रकरणावतारः ? अत्र मेधातिथिः समादधे-शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वमनेन सर्वेण प्रतिपाद्यते । ब्रह्माचाः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते— 'तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना' (१।४९) इति । वक्ष्यति च (१२।२३)-'एता दृष्टास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्चेव धर्मे दृध्या-त्सदा मनः' इति । ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुर्धर्मः, तद्विपरीतश्चाधर्मः, तद्र्प-परिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयोजनमध्येतन्यम्, इत्याद्यध्यायतात्पर्यमित्य-न्तेन । गोविन्दराजस्यापीदमेव समाधानम् । नैतन्मनोहरम् । धर्मस्वरूपप्रश्ने यद्रमेस्य फलकीर्तनं तद्प्यप्रस्तुतम् । धर्मोक्तिमात्राद्धि शास्त्रमर्थवत् । किंच 'कर्मणां फलनिर्दृत्ति शंसेत्युक्ते महर्षिभिः । द्वादशे वक्ष्यमाणा सा वक्तमादौ न युज्यते ॥' इदं तु वदामः-मुनीनां धर्मविषये प्रश्ने जगत्कारणतया ब्रह्म-प्रतिपादनं धर्मकथनमेवेति नाप्रस्तुताभिधानम् । आत्मज्ञानस्यापि धर्मरूप-त्वात्; मनुनैव(६।९२)-'एतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मछक्षणम्' इति दशविधधर्माभिधाने विद्या-सब्दवाच्यमात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम् । महाभारतेऽपि-'आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप' इत्यात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तंम् । याज्ञवर्क्येन तु परमधर्म-त्वेनःयदुक्तम्-'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् (या स्ट. १।८) इति । जगत्कारणत्वं च श्रक्कालम् । वत एव ब्रह्ममीमांसामाम् (ब. स. १।१।६)-'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति स्त्रानन्तरं ब्रह्मलक्षणकथनाय 'जन्माद्यस्य यतः' (त्र. स्. १।१।२) इति द्विती-. यस्त्रं सगवान्बादरायणः प्रणिनाय । अस्य जगतो यत्तो जन्मादि सृष्टिस्थि-तिप्ररूपसिति सूत्रार्थः । तथा च श्रुतिः (तैत्तिः ३।१)-'यतो वा हमानि भूतानि

जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्य । तद्रह्मेति' इति प्राधान्येन जगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तोपादानब्रह्मप्रतिपादनम्। क्षात्मज्ञानस्बरूपपरमधैर्मीवगमाय प्रथमाध्यायं कृत्वा संस्कारादिरूपं धर्म तदक्रतया द्वितीयाध्यायादिक्रमेण वक्ष्यतीति न कश्चिद्विरोधः॥ किंच प्रश्नोत्तरवा-क्यानामेव स्वारस्याद्यं मदुक्तोऽर्थो लभ्यते। तथा हि-'धर्मे पृष्टे मनुर्बह्म जगतः कारणं ज्ञवन्। आत्मज्ञानं परं धर्मं वित्तेति व्यक्तमुक्तवान् ॥ प्राधान्यात्प्रथमा-ध्याये साधु तस्यैव कीर्तनम् । धर्मीऽन्यस्तु तदङ्गत्वाधुक्तो वकुमनन्तरम् ॥' इद्मित्यध्यक्षेण सर्वस्य प्रतिभासमानत्वाजगिष्ठार्दिश्यते । इदं जगत् व्यमोभूतं तमसि स्थितं लीनमासीत्। तमःशब्देन गुणवृत्त्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते। तम इव तमः । यथा तमसि लीनाः पदार्था अध्यक्षेण न प्रकारयन्त एवं प्रकृतिलीना अपि भावा नावगम्यन्त इति गुणयोगः। प्रलयकाले सुक्ष्मरूपतया प्रकृतौ लीन मासीदित्यर्थः । तथा च श्रुतिः (ऋ.सं.८।७।१७)-'तम श्रासीत्तमसा गृहळमप्रे' इति प्रकृतिरपि ब्रह्मात्मनाऽन्याकृतासीत् । अत एव अप्रज्ञातमप्रत्यक्षं सकल-प्रमाणश्रेष्ठतया प्रत्यक्षगोचरः प्रज्ञात इत्युच्यते, तश्र भवतीत्वप्रज्ञातम् । अल-क्षणमनन्मेयं लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं लिक्नं, तदस्य नास्तीति अलक्षणं अप्रतक्यं तर्कयितुमशक्यं तदानीं वाचकस्थूळशब्दाभावाच्छब्दतोऽप्यविशेयम् । एत-देव च प्रमाणत्रयं सतर्कं द्वादशाध्याये मनुनाभ्युपगतं अत एवाविशेयमित्य-र्थापत्त्याधगोचरमिति धरणीधरस्यापि व्याख्यानम्। न च नासीदेवेति वाच्यम्। तदानीं श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रूयते (इ.रा४)७)-'तद्धेदं तद्धीव्याकृतमा-सीत्'। छान्दोग्योपनिषच (६।२।१)-- 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'। इदं जगत्सदेवासीत्। ब्रह्मात्मना बासीदित्यर्थः। सच्छब्दो ब्रह्मवाचकः। अत एव प्रसुप्तमिव सर्वतः । प्रथमार्थे तसिः । स्वकार्याक्षममित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ किमभूदित्याह—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयनिदम् । महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

ततः स्वयं मूर्भगवानित्यादि ॥ ततः प्रख्यावसानानन्तरं स्वयं भूः पर-मासा स्वयं भवति स्वेच्छ्या शरीरपरिप्रदं करोति, न त्वितरजीववस्त्रमियत्त-देहः। तथा च श्रुतिः (छान्दोः ७।२६।२)-'स एकधा भवति द्विधा भवति'। मग-वानैश्वर्यादिसंपद्धः। अन्यको बाह्यकरणागोचरः। योगाभ्यासावसेय इति यावत्। इदं महाभूतादि। आकाशादीनि महाभूतानि। आदिप्रहणान्महदा-दीनि च न्यञ्जयञ्जन्यकावस्यं प्रथमं सूक्ष्मरूपेण ततः स्थूलरूपेण प्रकाशयम्। वृत्तीजाः वृत्तमप्रतिहतसुच्यते। अत एव 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' (पा.१।३।३८)

पाठा०-1 महाभूतानुवृत्तीजाः.

१ महाभूतादिपु पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमहदादिषु वृत्तं सदोजो वीर्यं सर्जनशक्तिर्थस्य स इति 'महाभूतादिवृत्तोजाः' इति श्विष्टपाठे क्याख्यानम् ।

इत्यत्र वृत्तिरप्रतिघात इति व्याख्यातं जयादित्येन । वृत्तमप्रतिहतमोजः सृष्टि-सामर्थ्यं यस्य स तथा । तमोनुदः प्रकृतिप्रेरकः । तदुक्तं भगवद्गीतायाम् (९।१०)—'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' इति । प्रादुरासीत्प्रका-शितो बभूव । तमोनुदः प्रलयावस्थाध्वंसक इति तु मेधातिथि-गोविन्द-राजौ ॥ ६ ॥

> योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सक्ष्मोऽच्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव खयग्रद्वभौ।। ७॥

योऽसाविति॥ योऽसाविति सर्वनामह्रयेन सकल्लोकवेदपुराणेतिहासादि-यसिदं परमात्मानं निर्दिशति। अतीन्द्रियप्राद्यः इन्द्रियमतीत्य वर्तत इत्य-तीन्द्रियं मनस्तद्वाद्य इत्यर्थः। यदाइ व्यासः—'नैवासौ चश्चषा प्राद्यो न च श्रिष्टेरपीन्द्रियः। मनसा तु प्रयत्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः॥' सूक्ष्मो बहिरि-निद्र्यागोचरः। अव्यक्तो व्यक्तिरवयवस्तद्वितः। सनातनो नित्यः। सर्वभूत-मयः सर्वभूतात्मा। अत एवाचिन्त्यः इयत्त्या परिच्छेतुमशक्यः। स एव स्वयं उद्दभौ महदादिकार्यरूपतया प्रादुर्वभूव। उत्पूर्वो भातिः प्रादुर्भावे वर्तते। धात्नामनेकार्थत्वात्॥ ७॥

## सोऽभिष्याय शरीरात्स्वात्सिसृश्चर्विविधाः प्रजाः। अप एव संसर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥८॥

पाठा०-1 प्रसन्तेन (=रागादिदोषैरविलिप्तेन),

पूर्वाभिधानादनन्तरमपि महदादिसप्टेर्वक्ष्यमाणत्वात् । तास्वप्सु बीजं शक्ति-रूपं आरोपितवान ॥ ८॥

#### तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तिसाञ्जा स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

तदण्डमभवद्भैममिति ॥ तद्वीजं परमेश्वरेच्छ्या हैममण्डमभवत् । हैम-मिव हैमं शुद्धिगुणयोगान्न तु हैममेव। तदीयैकशकलेन सूमिनिर्माणस्य वक्ष्य-माणत्वात् । भूमेश्राहैमत्वस्य प्रत्यक्षत्वादुपचाराश्रयणम् । सहस्रांशुरादित्यस्त-त्त्रस्यप्रभम् । तस्मिन्नण्डे हिरण्यगर्भी जातवान् । येन पूर्वजन्मनि हिरण्य-गर्भोऽहमस्मीति भेदाभेदभावनया परमेश्वरोपासना कृता तदीयं लिङ्गशरीरा-विच्छन्नजीवमनुप्रविदय स्वयं परमात्मैव हिरण्यगर्भरूपतया प्रादुर्भृतः । सर्व-लोकानां पितामहो जनकः । सर्वलोकपितामह इति वा तस्य नाम ॥ ९ ॥

इदानीमागमप्रसिद्धनारायणशब्दार्थनिर्वचनेनोक्तमेवार्थं द्रदयति-

#### आपो नीरा इति प्रोक्ता आपो वै नरस्नवः । ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

आपो नारा इत्यादि ॥ आपो नाराशब्देनोच्यन्ते । अप्सु नाराशब्दस्था-मसिद्धेसाद्रथमाह-यतस्ता नराख्यस्य परमात्मनः सूनवोऽपत्यानि । 'तस्येदम्' (पा.४।३।१२०) इत्यण्यत्यः। यद्यपि आणि कृते ङीप्यत्ययः प्राप्तस्तथापि छान्द-सलक्षणरपि स्मृतिष ज्यवहारात 'सर्वे विधयर्छन्दास विकरूप्यन्ते' (परि. २६) इति पाक्षिको जीप्प्रत्ययस्तस्याभावपञ्जे सामान्यलक्षणप्राप्ते टापि कृते नारा इति रूपसिद्धिः । आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमयनमाश्रयः इत्यसौ नारायण इत्यागमेष्वास्नातः। गोविन्दराजेन तु 'आपो नराः' इति पठितं ब्याख्यातं च-नारायण इति प्राप्ते 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा.६।३।१३७) इति दीर्घत्वेन नारायण इति रूपमिति। अन्ये तु-'आपो नाराः' इति पठन्ति ॥१०॥

#### यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । तिद्वसृष्टः स पुरुषो लोके बहाति कीत्यंते ॥ ११ ॥

यत्तत्कारणम्ब्यक्तमिति ॥ यत्तदिति सर्वनामभ्यां लोकवेदादिसर्वप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति । कारणं सर्वोत्पत्तिमतां । अध्यक्तं बहिरिन्द्रियागोचरं । नित्यं उत्पत्तिविनाशरहितम् । वेदान्तसिद्धत्वात्सत्त्वभावम् शत्यक्षाद्यगोचर-स्वादसत्स्वभावमिव । अथवा सद्भावजातं असद्भावस्तयोरात्मभूतम् । तथा च श्रुतिः (छान्दो.६।८।७)—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इति । तद्विसृष्टस्तेनोत्पा-वितः स पुरुषः सर्वत्र ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

## तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्धिश्वा ॥ १२ ॥

तसिम्नण्डे स भगवानित्यादि ॥ तसिन् पूर्वोक्तेऽण्डे स ब्रह्मा वक्ष्यमाण-ब्रह्ममानेन संवत्सरमुषित्वा स्थित्वा 'आत्मनैवाण्डं द्विधा भवतु' इत्यात्मगत-ध्यानमात्रेण तदण्डं द्विखण्डं कृतवान् ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।

मध्ये व्योम दिशश्वाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां चेत्यादि ॥ शकलं खण्डं ताभ्यामण्डशकलाभ्याः

उत्तरेण दिवं स्वलेंकिमधरेण भूलोंकं उभयोर्मध्ये आकाशं दिशश्चान्तरालदिशिशः सहाधौ समुद्राख्यं अपां स्थानं स्थिरं निर्मितवान् ॥ १३ ॥

इदानीं महदादिक्रमेणेव जगन्निर्माणमिति दर्शयितुं तत्तत्सृष्टिमाह-

#### उद्भवर्हात्मनश्रेव मनः सदसदात्मकम् । मनस्थाप्यद्वंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

उद्वर्द्यातमस्त्रेवित्यादि॥ ब्रह्मा आत्मनः परमात्मनः सकाशात्तेन रूपेण मन उद्भृतवान् । परमात्मन एव ब्रह्मस्वरूपेणोत्पन्नत्वात्परमात्मन एव च मनःसृष्टिवेदान्तदर्शने, न प्रधानात् । तथा च श्रुतिः (मुण्डः २।१।३)—'एतस्मा-ज्ञायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥' मनश्च श्रुतिसिद्धत्वाद्युगपञ्ज्ञानानुत्पत्तिस्त्रिङ्गाच सत् अप्रसक्ष्यत्वा-दसदिति मनसः पूर्वमहंकारतत्त्वं अहमित्यिममानाख्यकार्ययुक्तं ईश्वरं स्वकार्य-करणक्षमम्॥ १४॥

#### महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च । विषयाणां ग्रहीवृणि शनैः पश्चेन्द्रियाणि च ॥ १५॥

महान्तमेव चात्मानंमित्यादि ॥ महान्तमिति महदाख्यतत्त्वमहंकारात्पूर्वं परमात्मन एवाव्याकृतशिक्तस्पत्रकृतिसिहितादुकृतवान् । आत्मन उत्पन्नत्वात् आत्मानमात्मोपकारकत्वाद्वा यान्यभिहितानि अभिधास्यन्तं च तान्युत्पत्ति-मन्ति सर्वाणि सत्त्वरक्तसोगुणयुक्तानि विषयाणां शब्दस्पर्शस्परसगन्धामां आह्काणि शनैः क्रमेण वेदान्तिसिद्धेन श्रोत्रादीनि द्वितीयाध्यायवक्तस्यानि पञ्च खुद्धीन्द्रियाणि, चशब्दात् पञ्च पाय्वादीनि कर्मेन्द्रियाणि, शब्दतन्मान्नादीनि च पञ्चोत्पादितवान् । नन्वभिध्यानपूर्वकस्थ्यभिधानाद्वेदान्तिस्वान्त एव मनोरभिमत इति प्रागुक्तं तम्न संगच्छते । इदानीं महदादिक्रमेण स्ष्ट्याभिधानाद्वेदान्तदर्शनेन च परमात्मन एवाकाशादिक्रमेण स्ष्टिरुत्वा । तथा च

तैत्तिरीयोपनिषत् (२।१।१)—'तसाद्वा एतसादात्मन आकाशः संभूतः।
आकाशाद्वायुः। वायोरिमः। अमेरापः। अन्यः पृथिवी' इति। उच्यते—
प्रकृतितो महदादिक्रमेण सृष्टिरिति भगवद्वास्करीयदर्शनेऽभ्युपपद्यत इति
तद्विदो व्याचक्षते। अव्याकृतमेव प्रकृतिरिष्यते, तस्य च सृष्ट्युन्मुखत्वं सृष्ट्याद्यकालयोगरूपं तदेव महत्तत्त्वम्। तते आकाशादिपञ्चभूतसूक्ष्माणि क्रमेणोत्पन्नानि पञ्च तन्मात्राणिः ततस्तेभ्य एव स्थूलान्युत्पन्नानि पञ्च महाभूतानि
सूक्ष्मस्थूलक्रमेणेव कार्योद्यदर्शनादिति न विरोधः। अव्याकृतगुणत्वेऽपि
सत्त्वरजस्तमसां सर्वाणि त्रिगुणानीत्युपपद्यते। भवतु वा सन्वरजस्तमःसमतारूपेव मूलप्रकृतिः, भवन्तु च तत्त्वान्तराण्येव महद्दंकारतन्मात्राणि, तथापि
प्रकृतिर्वद्याणोऽनन्येति मनोः स्वरसः। यतो वक्ष्यति (१२।९१)—'सर्वभूतेषु
वात्मानं सर्वभूतानि चात्मिन' इति। तथा (१२।१२५)—'एवं यः सर्वभूतेषु
पर्यत्यात्मानमात्माना। स सर्वसमतामेल ब्रह्माभ्येति परं पदम्' इति॥३५॥

## तेषां त्ववयवानसङ्मान्षण्णामप्यमितौजसाम् । सन्निवेज्यात्ममात्रासु सर्वभृतानि निर्ममे ॥ १६ ॥,

तेषां त्ववयवान्स्क्ष्मानित्यादि ॥ तेषां षण्णां पूर्वोक्ताहंकारस्य तन्मा-त्राणां च ये सूक्ष्मा अवयवास्तान् आत्ममात्रासु षण्णां स्वविकारेषु योजयित्वा मनुष्यतिर्येक्स्थावरादीनि सर्वभूतानि परमात्मा निर्मितवान् । तत्र तन्मात्राणां विकारः पञ्चमहाभूतानि अहंकारस्थेन्द्रियाणि पृथिव्यादिभूतेषु शरीररूपतया परिणतेषु तन्मात्राहंकारयोजनां कृत्वा सकलस्य कार्यजातस्य निर्माणम् । अत पुवामितौजसामनन्तकार्यनिर्माणेनातिवीर्यशालिनाम् ॥ १६॥

## यन्मूर्त्ववयवाः सक्ष्मास्तेस्थेमान्याश्रयन्ति षद् । तसाच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७॥

यन्मूर्यवयवाः सृक्ष्मा इत्यादि ॥ यसान्मूर्तिः शरीरं तत्संपादका अव-यवाः सृक्ष्मास्तन्मात्राहंकाररूपाः षद तस्य ब्रह्मणः सप्रकृतिकस्य इमानि वक्ष्य-माणानि भूतानीन्द्रियाणि च पूर्वोक्तानि कार्यत्वेनाश्रयन्ति, तन्मात्रेभ्यो भूतो-त्पत्तेः अहंकाराच इन्द्रियोत्पत्तेः । तथा च पठन्ति (सा. का. २२)—'प्रकृते-मेहांस्ततोऽहंकारस्तसाद्रणश्च षोडशकः । तस्मादिष षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥' तस्मात्तस्य ब्रह्मणो या मूर्तिः स्वभावस्तां तथा परिणतामिन्द्रियादि-शालिनीं लोकाः शरीरमिति वदन्ति । षडाश्रयणाच्छरीरमिति शरीरनिर्वचनेना-नेन पूर्वोक्तोत्पत्तिकम एव दक्षकृतः ॥ १७ ॥

## तदाविशन्ति भृतानि महान्ति सह कर्मभिः। मनश्रावयवैः सक्ष्मैः सर्वभृतकृद्व्ययम्।। १८॥

तदाविशन्ति भूतानीत्यादि ॥ पूर्वश्लोके तस्येति प्रकृतं ब्रह्मात्र तदिति परामृदयते। तद्वह्म शब्दादिपञ्चतनमात्रात्मनाऽवस्थितं महाभूतान्याकाशादीनि आविशन्ति तेभ्य उत्पद्यन्ते। सह कर्मभिः स्वकार्यः, तत्राकाशस्यावकाशदानं कर्म, वायोर्व्यूहनं विन्यासरूपं, तेजसः पाकोऽपां संग्रहणं, पिण्डीकरणरूपं पृथिन्या धारणम् । अहंकारात्मनावस्थितं ब्रह्म मन आविशति । अहंकारादु-त्यचत इत्यर्थः । अवयवैः स्वकार्यैः ग्रुभाग्रुभसंकल्पसुखदुःखादिरूपेः सूक्ष्मे॰ बहिरिन्द्रियागोचरैः सर्वभूतकृत्सर्वोत्पत्तिनिमित्तं मनोजन्यग्रुभाग्रुभकर्मप्रभ-वत्वाज्ञगतः । अव्ययमविनाशि ॥ १८ ॥

## तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् । स्रक्ष्माभ्यो मृर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९॥

तेषामिदं तु सप्तानामित्यादि ॥ तेषां पूर्वप्रकृतानां महदहंकारतन्मा-त्राणां सप्तसंख्यानां पुरुषादात्मन उत्पन्नत्वात्तद्वृत्तिग्राह्यत्वाच पुरुषाणां महौ-जसां स्वकार्यसंपादनेन वीर्यवतां सूक्ष्मा या मूर्तिमात्राः शरीरसंपादकभागा-स्ताभ्य इदं जगन्नश्वरं संभवति, अनश्वराद्यत्कार्यं तद्विनाशि स्वकारणे लीयते । कारणं तु कार्यापेक्षया स्थिरम् । परमकारणं तु ब्रह्म नित्यसुपासनीयमित्येत-द्दर्शयितुमयमनुवादः ॥ १९ ॥

## आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवामोति परः परः । यो यो यावतिथञ्जैषां स स तावद्धणः स्मृतः ।। २०॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामित्यादि॥ एषामिति पूर्वतरक्षोके (१।१८) 'तदा-विशनित भूतानि' इत्यत्र भूतानां परामर्शः। तेषां चाकाशादिक्रमेणोत्पत्ति-क्रमः, शब्दादिगुणवत्ता च वद्यते। तत्राद्याद्याकाशादेगुणं शब्दादिकं वाख्वादिः परः परः प्रामोति। एतदेव स्पष्टयति—यो य इति। एषां मध्ये यो यावतां पूरणो यावतियः 'वतोरिथुक्' (पा.५।२।५३), सं स द्वितीयादिः द्वितीयो द्विगुणः तृतीयिखगुण इत्येवमादिर्मन्वादिभिः स्मृतः। एतेनैतदुर्कं भवति—आकाशस्य शब्दो गुणः, वायोः शब्दस्पर्शो, तेजसः शब्दस्पर्शे-रूपाणि, अपां शब्दस्पर्शेरूपरसाः, भूमेः शब्दस्पर्शेरूपरसगन्धाः। अत्र यद्यपि 'नित्यवीप्सयोः' (पा.८।१।४) इति द्वियंचनेनाद्यस्याद्यस्ति प्राप्तं तथापि स्मृतीनां छन्दःसमानविषयत्वात् 'सुपां सुलुक्' (पा.७।१।३९) इति प्रथमाद्यस्य सुब्लुक् तेनाद्याद्यस्ति रूपसिद्धः॥ २०॥

#### सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य. एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

सर्वेषां तु स नामानीत्यादि ॥ स परमात्मा हिरण्यगर्भरूपेणावस्थितः सर्वेषां नामानि गोजातेगौरिति, अश्वजातेरश्व इति; कर्माणि ब्राह्मणस्याध्य-यनादीनि, क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि, पृथक् पृथक् यस्य पूर्वकल्पे यान्यभूवन् आदौ सुष्ट्यादौ वेदशब्देभ्य एवावगम्य निर्मितवान् । भगवता व्यासेनापि वेदमीमांसायां वेदपूर्विकैव जगत्सृष्टिब्युत्पादिता । तथा च शारीरकसूत्रम् (त्र.स.१।३।२८)-'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्त्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'। अस्यार्थः-देवतानां विग्रहवत्त्वे वैदिके वस्वादिशब्दे देवतावाचिनि विरोधः स्याद्वेदस्या-दिमत्त्वप्रसङ्गादिति चेन्नास्ति विरोधः । कस्मात् ? अतःशब्दादेव, जगतः प्रभ-वादुत्पत्तेः प्रलयकालेऽपि सृक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः, स इह कल्पादौ हिरण्यगर्भस्य परमात्मन एव प्रथमदेहिमूर्तेर्मनस्ववस्थान्तरमनापन्नः सप्तप्रबुद्धस्येव प्राद्धभैवति । तेन प्रदीपस्थानीयेन सुरनरतिर्थगादिप्रविभक्तं जग-दिभिधेयभूतं निर्मिमीते। कथिमदं गम्यते ? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् , श्रुतिस्मृ-तिभ्यामित्वर्थः । प्रत्यक्षं श्रुतिरनपेक्षत्वात् । अनुमानं स्मृतिरनुमीयमान-श्चितिसापेक्षत्वात् । तथा च श्चिति:-'एत इति वै प्रजापतिर्देवानस्जता-स्म्यमिति मनुष्यानिन्द्व इति पितृंस्तिरःपवित्रमिति प्रहानाशव इति स्तोत्रं बिश्वानीति शस्त्रमभि सौभगेत्यन्याः प्रजाः' । स्मृतिस्तु (१।२१)-'सर्वेषां तु स नामानि' इत्यादिका मन्वादिप्रणीतैव । पृथक्संस्थाश्चेति । कौकिकीश्च व्यवस्थाः कुलालस्य घटनिर्माणं, कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिकविभागेन निर्मितवान् ॥ २१ ॥

> कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्त्राणिनां प्रभुः । साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥

कर्मात्मनां च देवानामित्यादि ॥ स ब्रह्मा देवानां गणमस्जत् । प्राणि-नामिन्द्रादीनां कर्माणि भात्मा स्वभावो येषां तेषामप्राणिनां च ग्रावादीनां देवानां साध्यानां च देवविशेषाणां समूहं यज्ञं च ज्योतिष्टोमादिकं कल्पान्तरे-ऽप्यचुमीयमानत्वाशित्यम् । साध्यानां च गणस्य प्रथग्वचनं सुक्षमत्वाद्॥२२॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ २३ ॥

अग्निवायुरविभ्यस्तिवसादि ॥ बहा ऋग्यज्ञःसामसंज्ञं वेदत्रयं अग्निवा-युरविभ्य आकृष्टवान् । सनातनं नित्यं । वेदापौरुषेयत्वपक्ष एव मनोरभिमतः।

१ इन्द्र-विष्णु-रुद्रादयस्तु देवताः स्वरूपतो महाभारतादिषु सुश्रुताः २ प्रावाद-यस्तु—'प्रेते वदंतु प्रवयं वदाम प्रावभ्यो वाचं वदता वदन्यः' (ऋ.सं.८।४।२९) इत्यादिषु विगीताः

पूर्वकल्पे ये वेदास एव परमात्ममूर्तेर्बह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यास्त्वाः, तानेव कल्पादो अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष । श्रोतश्चायमर्थो न शङ्कनीयः । तथा च श्वतिः—'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यज्ञवेद आदित्यात्सामवेदः' इति । आकर्षणार्थ-त्वाद्विद्यातोर्नाग्निवायुरवीणामकथितकर्मता किंत्वपादानतेव । यज्ञसिद्धर्थं त्रयीसंपाद्यत्वाद्यज्ञानां आपीनस्थक्षीरविद्वद्यमानानामेव वेदाना मभिन्यक्ति- प्रदर्शनार्थं आकर्षणवाचको गौणो दृष्टिः प्रयुक्तः ॥ २३ ॥

#### कारुं कालविभक्तीश्र नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा । सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥

कालं कालविभक्तीश्चेत्यादि ॥ अत्र 'ससर्ज' इत्युक्तरक्षोकवर्तिनी क्रिया संवध्यते । आदित्यादिक्रियाप्रचयरूपं कालं, कालविभक्तीर्मासर्त्वयनाद्याः, नक्षत्राणि कृत्तिकादीनि, यहान्सूर्यादीन्, सरितो नदीः, सागरान्ससुद्रान्, शैलान्पर्वतान्, समानि समस्थानानि, विषमाणि उच्चनीचरूपाणि ॥ २४ ॥

#### तपो वाचं रितं चैव कामं च कोधमेव च । सृष्टिं ससर्ज चैवेमां सृष्टुमिच्छिनिमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

तपो वाचिमित्यादि ॥ तपः प्राजापत्यादि वाचं वाणीं रितं चेतःपरितोषं कामिमिच्छां कोधं चेतोविकारं इमां एतच्छ्रोकोक्तां पूर्वश्लोकोक्तां च सृष्टिं चकार । सञ्यत इति सृष्टिः । कर्मणि किन् । इमाः प्रजा वश्यमाणा देवा-दिकाः कर्तुमिच्छन् ॥ २५ ॥

#### कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मी व्यवेचयत् । इन्द्रैरयोजयचेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

कर्मणां चिति॥ धर्मी यज्ञादिः, स च कर्तव्यः; अधर्मी ब्रह्मवधादिः, स न कर्तव्यः; इति कर्मणां विभागाय धर्माधर्मी व्यवेचयत् पृथक्त्वेनास्यधात् । धर्मस्य फळं सुखं, अधर्मस्य फळं दुःखम् । धर्माधर्मफळभूतेईन्द्रैः परस्पर-विरुद्धैः सुखदुःखादिभिरिमाः प्रजा योजितवान् । आदिग्रहणात् कामकोध-रागद्वेषञ्चत्पिपासाञोकमोहादिभिः॥ २६॥

> अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः । ताभिः सार्धमिदं सव संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७॥

अण्ट्यो मात्रा इति ॥ दशार्थानां पञ्चानां महाभूतानां याः सूक्ष्माः पञ्च-

पाठा०-1 कर्मणां तु विवेकाय.

१ 'यतोऽभ्युदयिनः श्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वै. १।१।२) श्रीरेण प्रशस्तदान-'परित्राणादिकर्माचरणं, वाचा हितसत्यादिसंलापनं, मनसाऽजिधांसादिकम्, एवं पुण्य-रूपा प्रवृत्तिर्धर्मः; 'अर्थत्वे सित चोदनागग्यो धर्मः' (जै.स्.१।१।१) इति धर्मळक्षणानि.

तन्मात्ररूपा विनाशिन्यः पञ्चमहाभूतरूपतया विपरिणामिन्यः ताभिः सह उक्तं वश्यमाणं चेदं सर्वमुत्पद्यते । अनुपूर्वशः क्रमेण । सृक्ष्मात्स्थूलं स्थूलात्स्थूलं तरमित्यनेन सर्वशक्तं क्रमेणो मानससृष्टिः कदाचित्तत्वितरपेक्षा स्यादितीमां शङ्कामपितनीषंसद्भारेणेवेयं सृष्टिरिति मध्ये पुनः पूर्वीकं स्मारितवान् ॥२०॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क प्रथमं प्रभुः । स तदेव खयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८॥

यं तु कर्मणीति ॥ स प्रजापतिर्यं जातिविशेषं व्याद्यादिकं यस्यां क्रियायां हरिणमारणादिकायां सृष्ट्यादों नियुक्तवान् स जातिविशेषः पुनःपुनरि सृज्यमानः स्वकर्मवशेन तदेवाचरितवान् । एतेन प्राणिकर्मसापेक्षं प्रजापते-रक्तमाधमजातिनिर्माणं न रागद्वेषाधीनमिति दर्शितम् । अत एव वक्ष्यति (१।४१) 'यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्' इति ॥ २८॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

हिंस्नाहिंस्रे मृदुऋरे धर्माधर्मावृतानृते । यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥

हिंस्नाहिंस्ने इत्यादि ॥ हिंसं कर्म सिंहादेः करिमारणादिकम् । अहंसं हरिणादेः । मृदु द्याप्रधानं विप्रादेः । कूरं क्षत्रियादेः । धर्मो यथा ब्रह्मवार्यादेः गुरुग्धश्रूषादिः । अधर्मो यथा तस्यैव मांसमेथुनसेवनादिः । ऋतं सत्यं,
तच्च प्रायेण देवानाम् । अनृतमसत्यं, तद्पि प्रायेण मनुष्याणाम् । तथा च
श्रुतिः—'सत्यवाचो देवा अनृतवाचो मनुष्याः' इति । तेषां मध्ये यत्कर्मं स
प्रजापतिः सर्गादौ यस्याधारयत् सृद्धुत्तरकालमपि स तदेव कर्म प्राक्तनादृष्टवशात्स्वयमेव भेजे ॥ २९ ॥

भत्र दृष्टान्तमाह-

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः खयमेवर्तुपर्यये । खानि खान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३०॥

यथित्विति ॥ वया वसन्तादिऋतव ऋतुचिह्नानि चृतमक्षर्यादीनि ऋतुपर्यये स्वकार्यावसरे स्वयमेवामुवन्ति तथा देहिनोऽपि हिंसादीनि कर्माणि ॥ ३० ॥

लोकानां तु विदृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः । ब्राह्मणं क्षत्रियं वैदयं द्भादं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥

लोकानां त्विति ॥ भूरादीनां लोकानां बाहुल्यार्थं मुखबाहुरुपादेश्यो माम्रणक्षत्रियवैश्यश्चदान्यथाकमं निर्मितवान् । ब्राह्मणादिभिः सायंप्रातरमा-२ म० स्मृ० वाहुितः प्रक्षिप्ता सूर्यमुपितष्टते सूर्यादृष्टिर्वृष्टरश्वमश्वात्प्रजाबाहुस्यम् । वक्ष्यिति च-'भग्नौ प्रास्ताहुितः सम्यगादित्यम्-' (३।७६) इत्यादि । दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणम् । ब्राह्मणो न विशक्क्ष्मीयः श्रुतिसिद्धत्वात् । तथा च श्रुतिः 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (क्र.सं.८।४।१९) इत्यादिः ॥ ३१ ॥

## द्विधा कृत्वात्मनो देहमधेन पुरुषोऽभवत् । अधेन नारी तस्यां स विराजमसृजतप्रभुः ॥ ३२ ॥

द्विधा कृत्वेति ॥ स ब्रह्मा निजदेहं द्विखण्डं कृत्वा अर्धेन स्त्री तस्यां मैथुनधर्मेण विरादसंज्ञं पुरुषं निर्मितवान् । श्रुतिश्च (क्र. सं. ८।४।१७)-'ततो विराडजायत' इति ॥ ३२॥

## तपस्तान्त्रासृजदं तु स खयं पुरुषो विराट् । तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

तपस्तक्ष्वेति ॥ स विराट् तपो विधाय यं निर्मितवान् तं मां मनुं जानीत अस्य सर्वस्य जगतः स्रष्टारम् । भो द्विजसत्तमाः । एतेन स्वजन्मोत्कर्षसाम-र्थ्यातिशयावभिहितवान् लोकानां प्रस्ययितप्रस्थयार्थम् ॥ ३३ ॥

> अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तस्वा सुदुश्वरम् । पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश् ॥ ३४ ॥

अहमिति ॥ अहं प्रजाः सष्टुमिच्छन् सुदुश्चरं तपस्तत्वा दश प्रजापतीन् प्रथमं सष्टवान् । तैरपि प्रजानां सज्यमानत्वात् ॥ ३४ ॥

> मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं ऋतुम् । प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५॥

मरीचिमित्यादि ॥ त एते दश प्रजापतयो नामतो निर्दिष्टाः ॥ ३५ ॥

एते मनृंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः । देवान्देवनिकायांश्च महर्षीश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

एते मनूंस्त्वित ॥ एते मरीच्यादयो दश भूरितेजसो बहुतेजसोऽन्यात् सप्तापरिमिततेजस्कान् मनून्देवान् ब्रह्मणाऽसष्टान् देवनिवयस्थानानि स्वर्गा-दीन्महर्षीश्च स्रष्टवन्तः। 'मनु'शब्दोऽयमधिकारवाची । चतुर्दशसु मन्वन्तरेषु यस्य यत्र सर्गाद्यधिकारः स तस्मिन्मन्वन्तरे स्वायंभुवस्वारोचिषादिनाम-भिर्मनुरिति व्यपदिश्यते ॥ ३६ ॥

१ यक्तेतद्ये मनुरेव वक्ष्यति—(९।३१७) 'अविद्वांश्चेव विद्वांश्च बाह्यणो देवतं महत्' इति; बाह्यणलक्षणं चोक्तं वसिष्ठेन-'योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्चतम् । विद्या विज्ञानमास्तिक्यमेतद्वाह्मणलक्षणम् ॥' इति ।

# यक्षरश्वःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्सर्पान्सुपणीश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

यस्ररक्ष इति॥ 'एतेऽस्जन्'इति पूर्वस्वैवात्रानुषक्षः उत्तरत्र श्लोकद्वये च।
यक्षो वैश्रवणस्तदनुचराश्च। रक्षांसि रावणादीनि । पिशाचास्तेभ्योऽपकृष्टा
अञ्चिमरुदेशनिवासिनः। गन्धर्वाश्चित्ररथादयः। अप्सरस उर्वश्याद्याः।
असुरा विरोचनादयः। नागा वासुक्यादयः। सर्पास्ततोऽपकृष्टा अलगदिदयः।
सुपर्णा गरुडादयः। पिद्यणामाज्यपादीनां गणः समूहः। एषां च भेद्
इतिहासादिप्रसिद्धो नाध्यक्षादिगोचरः॥ ३७॥

#### विद्युतोऽभूनिमेघांश्र रोहितेन्द्रधन्ं्षि च ।

उल्कानिर्घातकेतृंश्र ज्योतींष्युचावचानि च ॥ ३८ ॥

विद्युत इति ॥ मेघेषु दश्यं दीर्घाकारं ज्योतिर्विद्युत् । मेघादेव यज्योतिर्वृक्षा-दिविनाशकं तदशिनः । मेघाः प्रसिद्धाः । रोहितं दण्डाकारम् । नानावणं दिवि दश्यते यज्योतिस्तदेव वक्रमिन्द्रधनुः । उल्का रेखाकारमन्तिरक्षात्पतज्योतिः । निर्घातो भूम्यन्तिरक्षगत उत्पातध्वनिः । केतवः शिखावन्ति ज्योतींथि उत्पातस्पाणि । अन्यानि ज्योतींषि ध्रुवागस्त्यादीनि नानाप्रकाराणि ॥ ३८॥

#### किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान् । पश्चन्मृगान्मज्ञष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

किन्नरानिति ॥ किन्नरा अश्वमुखा देवयोनयो नरविग्रहाः। वानराः प्रसिद्धाः। मत्स्या रोहितादयः । विदुङ्गमाः पक्षिणः । पश्चवो गवाद्याः । सृगा दरिणाद्याः। च्यालाः सिंहाद्याः । उभयतोदतः द्वे दन्तपङ्की येषां उत्तराधरे भवतः ॥३९॥

#### क्रमिकीटपतङ्गांश्च युकामक्षिकमत्कुणम् । सर्वे च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

कृमिकीटेति ॥ कीटाः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलाः । पतङ्गाः शलभाः । युकादयः प्रसिद्धाः । 'क्षुद्रजन्तवः' (पा. २।४।८) इत्यनेन एकवद्भावः । स्थावरं वृक्षलतादिभेदेन विविधप्रकारम् ॥ ४०॥

#### एवमेतैरिदं सर्वं मिन्नयोगान्महात्मिभः। यथाकमे तपोयोगात्मृष्टं स्थावरजङ्गमम्।। ४१।।

एवमेतैरिति ॥ एवमित्युक्तप्रकारेण एतैर्मरीच्यादिभिरिदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम् । यथाकर्म यस्य जन्तोर्यादशं कर्म तद्जुरूपम् । तस्य देवमनुष्यतिर्यन

१ ते च पाञ्चथानिकविथाने वस्यन्ते मनुनैव (३।१९७-९८)-भोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्धुजः । वैदयानामाज्यपा नाम' ब्रत्युपत्रम्य भुक्तस्यस्याज्यपाः पुत्राः' इत्यन्तेन ।

गादियोनिपूत्पादनं मन्नियोगान्मदाज्ञया । तपोयोगान्महत्तपः कृत्वा । सर्व-मैश्वर्यं तपोधीनमिति दर्शितम् ॥ ४१ ॥

## येषां तु यादशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।

तत्त्रथा बोडिभधास्थामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥ येषामिलादि ॥ येषां पुनर्यादशं कर्म इह संसारे पूर्वाचायैंः कथितम्।

यथा-'ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः' (१।४६) । ब्राह्मणादीनां चाध्ययनादिकर्म तत्तथैव वो युष्माकं वक्ष्यामि । जन्मादिक्रमयोगं च ॥४२॥

#### पश्चश्च मृगाश्चेव च्यालाश्चोभयतोदतः।

रक्षांसि च पिशाचाश्र मनुष्याश्र जरायुजाः ॥ ४३ ॥

पश्चिति ॥ जैरायुर्गर्भावरणचर्मे, तत्र मनुष्यादयः प्रादुर्भवन्ति पश्चा-न्मुक्ता जायन्ते । एषामेव जन्मक्रमः प्रागुक्तो विवृतः । दन्तराब्द्समानार्थो द्च्छव्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति, तस्येदं प्रथमाबहुवचने रूपमुभयतोदत इति ॥४३॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नका मत्स्याश्च कच्छपाः ।

यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥

अण्डजाः पश्चिण इति ॥ अण्ड आदौ संभवन्ति ततो जायन्त इति एषां जन्मकमः । नकाः कुम्भीराः । स्थलजानि कुकलासादीनि । औदकानि शङ्खादीनि ॥ ४४ ॥

## खेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।

ऊष्मणश्चोपजायन्ते यचान्यत्किचिदीदशम् ॥ ४५ ॥

स्वेदजमिति ॥ स्वेदः पार्थिवद्रन्याणां तापेन होदः, ततो दंशमशकादि जायते । ऊष्मणश्च स्वेदहेतुतापाद्पि अन्यदंशादिसदशं पुत्तिकापिपीलिकादि जायते ॥ ४५ ॥

#### उद्भिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

उद्भिजा इति ॥ उद्भेदनमुद्भित् । भावे किए । ततो जायन्ते ऊर्ध्व बीजं भूमिं च भित्त्वेत्युद्धिजा वृक्षाः; ते च द्विधा—केचिद्धीजादेव जायन्ते. केचित्काण्डात् शाखा एव रोपिता वृक्षतां यान्ति । इदानीं येषां यादशं कर्म तदुच्यते—ओषध्य इति ॥ ओषध्यो बीहियवादयः फलपाकेनैव नश्यन्ति बहुपुष्पफलयुक्ताश्च भवन्ति । 'ओषधि'शब्दादेव 'कृदिकारादक्तिनः' (ग. ५०) इति ङीपि दीर्घत्वे ओषध्य इति रूपम् ॥ ४६ ॥

१ पतच-'यथोल्वेनावृतो गर्भः' इत्यादिनोक्तः, ऐतरेयमाह्मणेऽपि (१।३) 'उल्लं वा म्प्राइक्षितस्य यद्वास उल्बेनैवेनं इत्युपक्रम्य 'उल्बाज्जरायु जरायुणैवेनं तत्प्रोर्णुवन्ति' इलादिना बहिवेष्टनसाम्यनिरूपणे स्पष्टीकृतमस्ति ।

#### अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः । पुष्पिणः फलिनश्रेव दृक्षास्त्भयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

अपुष्पा इति ॥ नास्य श्लोकस्याभिधानकोशवःसंज्ञासंज्ञिसंबन्धपरत्वम्, भप्रकृतत्वात् किंतु 'क्रमयोगं च जनमि' (१।४२) इति प्रकृतं तद्रथमिद-मुच्यते । ये वनस्पतयस्तेषां पुष्पमन्तरेणैव फलजन्म, इतरेभ्यस्तु पुष्पाणि जायन्ते तेभ्यः फलानीति । एवं वृक्षा इभयस्पाः । प्रथमान्तात्तिः ॥ ४७॥

#### गुच्छगुरुमं तु विविधं तथैव तृणजातयः। बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वस्त्र्य एव च ॥ ४८॥

गुच्छगुर्लमं त्विति ॥ मूलत एव यत्र लतासमूहो भवति, न च प्रका-ण्डानि ते गुच्छा मिल्लकादयः । गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः शरेश्चयन्द्र-तयः । तृणजातय उलपाद्याः । प्रतानास्तन्तुयुक्तास्त्रपुषालाव्यपन्तयः । वल्लघो गुड्डच्यादयो या भूमेर्नृक्षमारोहन्ति । एतान्यपि बीजकाण्डरुहाणि । 'नपुंसक-मनपुंसकेनैकवचास्यान्यतरस्याम्' (पा. १।२।६९) इति नपुंसकत्वम् ॥ ४८॥

#### तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना । अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

तमसेति ॥ एते वृक्षादयस्तमोगुणेन विचित्रदुःखफलेनाधर्मकर्महेतुकेन भ्यासा अन्तश्चेतन्या भवन्ति । यद्यपि सर्वे चान्तरेव चेतयन्ते तथापि बहि-र्व्यापारादिकार्यविरहात्तथा न्यपदिश्यन्ते । त्रिगुणारब्धत्वेऽपि चेषां तमोगुण-बाहुल्यात्तथा न्यपदेशः । अत एव सुखदुःखसमन्विताः । सत्त्वसापि भावा-स्कद्मचित्सुखलेशोऽपि जलधरजनितजलसंपकदिषां जायते ॥ ४९ ॥

#### एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः सम्रदाहृताः । घोरेऽस्मिन्भृतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५०॥

एतद्न्ता इति ॥ स्थावरपर्यन्ता ब्रह्मोपक्रमा गतय उत्पत्तयः कथिताः । भूतानां क्षेत्रज्ञानां जन्ममरणप्रबन्धे दुःखबहुळतया भीषणे सदा विनश्वरे ५०

इत्थं सर्गमिभधाय प्रलयंद्शामाह—

#### एवं सर्वे स सृष्टेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः। आत्मन्यन्तर्देधे भूयः कालं कालेन पीडयन्।। ५१॥

एवं सर्विमिति ॥ एवं उक्तप्रकारेण । इदं सर्वे स्थावरजङ्गमं जगत्सङ्का स प्रजापतिरिचन्त्रशक्तिरात्मिन शरीरत्यागरूपमन्तर्धानं कृतवान् । सृष्टिकाळं प्रलयकालेन नाशयन्प्राणिनां कर्मवशेन पुनःपुनः सर्गप्रलयान्करोतीत्यर्थः ५३

**१ स्थानराः पृ**थिन्यप्तेजोवायुवनस्पतयः, तत्पर्यन्ताः इति भावः

अत्र हेतुमाह—

यदा स देवो जागित तदेदं चेष्टते जगत् । यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

यदेति ॥ यदा स प्रजापतिर्जागर्ति सृष्टिस्थिती इच्छिति तदेदं जगत् श्वास-प्रश्वासाहारादिचेष्टां छभते । यदा स्वपिति निवृत्तेच्छो भवति शान्तात्मा उप-संहारमनाः तदेदं जगत्मछीयते ॥ ५२ ॥

पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति-

तिसन्खपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः । खकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥

तिसन्ध्वपतीति ॥ तिसन्प्रजापती निवृत्तेच्छे सुस्थे उपसंहतदेहमनी-च्यापारे कर्मलब्धदेहाः क्षेत्रज्ञाः स्वकर्मभ्यो देहग्रहणादिभ्यो निवर्तन्ते । मनः सर्वेन्द्रियसहितं वृत्तिरहितं भवति ॥ ५३ ॥

इदानीं महाप्रलयमाह—

युगपत्त प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि । तदायं सर्वभृतात्मा सुखं स्वपिति निर्दृतः ॥ ५४ ॥

युगपत्विति ॥ एकस्मिन्नेव काले यदा तस्मिन्परमात्मिन सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति तदायं सर्वभूतानामात्मा निर्वृतः निवृत्तजाग्रत्स्वग्रव्यापारः सुखं स्विपिति सुषुप्त इव भवति । यद्यपि नित्यज्ञानानन्दस्वरूपे परमात्मिनि न सुष्वापस्तथापि जीवधर्मोऽयसुपचर्यते ॥ ५४ ॥

इदानीं प्रलयप्रसङ्गेन जीवस्थोत्क्रमणमपि स्लोकह्रयेनाह— तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः । न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मृर्तितः ॥ ५५ ॥

तमोऽयमिति ॥ अयं जीवस्तमो ज्ञाननिवृत्तिं प्राप्य बहुकालमिन्द्रियादि-सहितस्तिष्ठति । न चात्मीयं कमे श्वासप्रश्वासादिकं करोति तदा मूर्तितः पूर्व-देहादुत्कामित अन्यत्र गच्छति । लिङ्गक्षरीराविच्छन्नस्य जीवस्य उद्गमात्तद्भमन-मप्युपपद्यते । तथा चोक्तं बृहद्गरण्यके (४।४।२)—'तमुत्कामन्तं प्राणो-उन्तृत्कामित, प्राणमनुत्कामन्तं सर्वे प्राणा अन्तृत्कामिन्तं' इति । प्राणा इन्द्रियाणि ॥ ५५॥

कदा देहान्तरं गृह्णातीत्यत भाइ-

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च । समाविश्वति संसृष्टस्तदा मूर्ति विमुश्चति ॥ ५६ ॥ यदाणुमात्रिक इति ॥ भणवो मात्राः पुर्यष्टकरूपा यस्य सोऽणुमात्रिकः । 'पुर्यष्टक'शब्देन भूतादीन्यष्टाबुच्यन्ते। तदुक्तं सनन्देन—'भूतेन्द्रियमनोबुद्धि-वासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः॥' ब्रह्मपुराणे-ऽप्युक्तम्—'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते। तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो सुक्तस्य तेन तु॥' यदाणुमात्रिको भूत्वा संपद्य स्थासु वृक्षादिहेतुभूतं, चरिष्णु मानुवादिकारणं बीजं प्रविशत्यधितिष्ठति तदा संसृष्टः पुर्यष्टकयुक्तो मूर्ति स्थूलदेहान्तरं कर्मानुरूपं विसुञ्चति गृह्णाति॥ ५६॥

प्रासङ्गिकं जीवस्थोत्क्रमणमभिधाय प्रकृतमुपसंहरति-

एवं स जाग्रत्स्वप्ताभ्यामिदं सर्वं चराचरम् । संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्ताभ्यामिति ॥ स ब्रह्मा अनेन प्रकारेण स्वीयजाग्र-त्स्वप्ताभ्यामिदं स्थावरजङ्गमं संजीवयति मारयति च । अजस्रं सततम् । अञ्ययः अविनाशी ॥ ५७ ॥

> इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः । विधिवद्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं सुनीन् ॥ ५८ ॥

इदं शास्त्रमिति ॥ असौ ब्रह्मा इदं शास्त्रं कृत्वा सष्ट्यादौ मामेव विधि-वच्छास्रोक्ताङ्गजातानुष्ठानेनाध्यापितवान् । अहं तु मरीच्यादीनध्यापितवान् ॥ ननु ब्रह्मकृतत्वेऽस्य शास्त्रस्य कथं मानवच्यपदेशः ? अत्र मेधातिथिः-शास्त्र-शब्देन शास्त्रार्थों विधिनिषेधसमूह उच्यते । तं ब्रह्मा मनुं ब्राह्मयामास । मनुस्तु तत्प्रतिपादकं प्रन्थं कृतवानिति न विरोधः । अन्ये तु ब्रह्मकृतत्वेऽप्यस्य मनुना प्रथमं मरीच्यादिभ्यः स्वरूपतोऽर्थतश्च प्रकाशितत्वान्मानवच्यपदेशो वेदापौरुषेयत्वेऽपि काठकादिच्यपदेशवत् । इदं त्च्यते—ब्रह्मणा शतसाहस्र-मिदं धर्मशास्त्रं कृत्वा मनुरध्यापित आसीत् , ततस्तेन च स्ववचनेन संक्षिप्य शिष्येभ्यः प्रतिपादितमित्यविरोधः । तथा च नारदः 'शतसाहस्रोऽयं प्रन्थ' इति स्मरति सा॥ ५८॥

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्राविष्यत्यशेषतः ।

एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं ग्रुनिः ॥ ५९ ॥

एतद्वोऽयमिलादि ॥ एतच्छाक्रमयं भृगुः युष्माकमिल्छं कथिष्यति ।

यसादेषोऽशेषसैतन्मतोऽधीतवान् ॥ ५९ ॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः । तानत्रवीद्दपीन्सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥ ततस्तथेति ॥ स भृगुर्मनुना तथोक्तोऽयं श्रावयिष्यतीति, यसादिषोऽधिः

१ 'शतसाहस्रोऽयं प्रन्थः प्रजापतिना कृतः, ततः स मन्वादिभिः क्रमेण संक्षिप्तः' इति नारदस्कृतिः।

ि अध्यायः १

जग इत्युक्तस्ततोऽनन्तरमनेकमुनिसंनिधौ गुरुसंभावनया शीतमनास्तानृषीन् प्रत्युवाच-'श्रृयताम्' इति ॥ ६० ॥

> खायं भ्रवस्थास्य मनोः पङ्गंक्या मनवे उपरे । सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥६१॥

स्वायंभुवस्थेति ॥ ब्रह्मपुत्रस्थास्य मनोः षद्वंशप्रभवा अन्ये मनवः । एवं कार्यकारिणः स्वस्वकाले सृष्टिपालनादावधिकृताः स्वाः स्वाः प्रजा उत्पादित-वन्तः ॥ ६९ ॥

> स्त्रारोचिषश्रोत्तमश्र तामसो रैवतस्तथा । चाक्षुपश्र महातेजा विवस्तत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

स्वारोचिषश्चेति ॥ एते भेदेन मनवः षद नामतो निर्दिष्टाः ॥ ६२ ॥

खायं अवाद्याः सप्तेते मनवो भूरितेजसः । स्रे स्वेऽन्तरे सर्वमिदग्रत्पाद्यापुत्रराचरम् ॥ ६३ ॥

स्वायं भुवेति ॥ स्वायं भुवमुखाः सप्तामी मनवः स्वीयस्वीयाधिकारकाले इदं स्थावरजङ्गममुल्पाद्य पालितवन्तः ॥ ६३ ॥

इदानीमुक्तमन्वन्तरसृष्टिप्रलयादिकालपरिमाणपरिज्ञानायाह—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्टा, त्रिंशत्तु ताः कला । त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्थादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

निमेषा दश चाष्टाविति ॥ अक्षिपक्ष्मणोः स्वाभाविकस्य उन्मेषस्य सह-कारी निमेषः । तेऽष्टादश काष्टा नाम कालः । त्रिशच काष्टाः कलासंज्ञकः । त्रिशस्कलाः मुहूर्ताख्यः कालः । तावित्रश्चिममुहूर्तान् अहोरात्रं कालं विद्यात् । तादत इति द्वितीयानिर्देशात् 'विद्यात्' इत्यध्याहारः ॥ ६४ ॥

> अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके । रात्रिः समाय भूतानां चेष्टाय कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

अहोरात्रे इति ॥ मानुषदैवसंबन्धिनौ दिनरात्रिकालावादित्यः पृथक्करोति। तयोर्मध्ये भूतानां स्वमार्थं रात्रिभैवति, कर्मानुष्ठानार्थं च दिनम् ॥ ६५ ॥

> पित्र्ये रात्र्यहनी मासः, प्रविभागस्तु पक्षयोः । कर्मचेष्टाखहः कृष्णः ग्रुक्तः स्वभाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

पित्र्ये इति ॥ मानुषाणां मासः पितृणामहोरान्ने भवतः । तत्र पश्चद्वयेन विभागः-कर्मानुष्ठानाय कृष्णपक्षोऽहः, स्वापार्थं ग्रुक्तपक्षो रात्रिः ॥ ६६ ॥

## दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः । अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्यादक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

दैवे राज्यह्नी वर्षमिति ॥ मानुषाणां वर्ष देवानां रात्रिदिने भवतः । तयोरप्ययं विभागः-नराणामुद्गयनं देवानामहः; तत्र प्रायेण देवकर्मणा-मनुष्ठानं, दक्षिणायनं तु रात्रिः ॥ ६७ ॥

#### ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्त्रमाणं समासतः । एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तिबोधत ॥ ६८ ॥

ब्राह्मस्येति ॥ ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य यत्परिमाणं प्रत्येकं युगानां च कृतादीनां तत्क्रमेण समासतः संक्षेपतः श्रृणुत । प्रकृतेऽपि कालविभागे यद्वह्मणोऽहोरा-त्रस्य पृथक् प्रतिज्ञानं तत्तदीयज्ञानस्य पुण्यफलज्ञानार्थम् । वक्ष्यति च (१।७३) 'ब्राह्मं पुण्यमहर्विद्यः' इति । तद्वेदनात्पुण्यं भवतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

## चत्वार्योद्धः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् । तस्य तावच्छती संघ्या संघ्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥

चत्वार्योहुरिति ॥ चत्वारि वर्षसहस्राणि कृतयुगकालं मन्वादयो वदन्ति तस्य तावद्वषेशतानि संध्या संध्यांशश्च भवति । युगस्य पूर्वा संध्या, उत्तरश्च संध्यांशः । तदुक्तं विष्णुपुराणे—'तत्प्रमाणेः शतैः संध्या पूर्वा तत्राभिधीयते । संध्यांशकश्च तत्तुख्यो युगस्यानन्तरो हि यः ॥ संध्यासंध्यांशयोरन्तर्यः कालो सुनिसत्तम । युगाख्यः स तु विशेषः कृतन्नेतादिसंज्ञकः ॥' वर्षसंख्या चेथं दि-ष्यमानेन, तस्यैवानन्तरप्रकृतत्वात् । 'दिन्यैवंर्षसहस्नेस्तु कृतन्नेतादिसंज्ञितम् । चतुर्थुगं द्वादशमिस्तद्विभागं निवोध मे ॥' इति विष्णुपुराणवचनान्न ॥६९॥

#### इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु । एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

इतरेष्टिवति ॥ अन्येषु त्रेताद्वापरकलियुगेषु संध्यासंध्यांशसिहतेषु एक-हान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति । तेनैवं संपद्यते-त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगं, तस्य त्रीणि वर्षशतानि संध्या संध्यांशश्च । एवं द्वे वर्षसहस्रे द्वापरः, तस्य द्वे वर्षशते संध्या संध्यांशश्च । एवं वर्षसहस्रं कलिः, तस्यैकवर्षशतं संध्या संध्यांशश्च ॥ ७० ॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेत चतुर्धुगम् ।

एतद्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

यदेतदिति ॥ एतस्र श्लोकस्यादौ यदेतन्मानुषं चतुर्युगं परिगणितं एत-

हेवानां युगमुच्यते । 'चतुर्युग'शब्देन संध्यासंध्यांशयोरप्राप्तिशङ्कायामाह—
एतद्वादशसाहस्त्रमिति । स्वार्थेऽण् । चतुर्युगैरेव द्वादशसंख्यैदिंध्यं युगमिति
तु मेधातिथेश्रमो नादर्तेच्यः । मनुनानन्तरं दिच्ययुगसहस्रेण ब्रह्माहस्याप्यभिधानात् । विष्णुपुराणे च मानुषचतुर्युगसहस्रेण ब्रह्माहःकीर्तनान्मानुषचतुर्युगैनैव दिच्ययुगानुगमनात् । तथा च विष्णुपुराणम्—'कृतं त्रेता द्वापरं च
कलिश्रेति चतुर्युगम् । प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने' ॥ ७३ ॥

#### दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥

देविकानामिति ॥ देवयुगानां सहस्रं ब्राह्मं दिनं ज्ञातन्यम् । सहस्रमेव रात्रिः । परिसंख्ययेति श्लोकपूरणोऽर्थानुवादः ॥ ७२ ॥

#### तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥

तद्वे युगेति ॥ युगसहस्रेणान्तः समाप्तिर्थस्य तद्वाह्यमहस्तत्परिमाणां च रात्रिं ये जानन्ति तेऽहोरात्रज्ञा इति स्तुतिरियम् । स्तुत्या च बाह्यमहोरात्रं ज्ञातन्यमिति विधिः परिकल्प्यते । अत एतत्पुण्यहेतुत्वात्पुण्यमिति विशेषणं कृतम् ॥ ७३ ॥

#### तस्य सोऽहर्निशस्थान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते । प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

तस्येति ॥ स ब्रह्मा तस्य पूर्वोक्तस्य स्वीयाहोरात्रस्य समाप्तौ प्रतिबुद्धो भवति । प्रतिबुद्धश्च स्वीयं मनः स्वति भूलोंकादित्रयसृष्ट्ये नियुक्के नतु जन्यति । तस्य महाप्रलयानन्तरं जातत्वादनष्टत्वाच, अवान्तरप्रलये भूलोंकादित्रयमात्रनाशात् सृष्ट्यर्थं मनोनियुक्तिरेव मनःसृष्टिः । तथा च पुराणे श्र्यते – भनः सिस्क्षया युक्तं सर्गाय निद्धे पुनः' इति । अथवा 'मनः'शब्दोऽयं मह्त्तत्वपर एव । यद्यपि तन्महाप्रलयानन्तरसुत्पन्नं, 'महान्तमेव च' (१११८) इत्यादिना सृष्टिरपि तस्योक्ता, तथाप्यनुक्तं भूतानामुत्पत्तिकमं तद्भुणांश्च कथ-यितुं महाप्रलयानन्तरितामेव महदादिसृष्टिं भृतसृष्टिं च हिरण्यगर्भस्यापि परमार्थत्वात्तत्कर्तृतामनुवद्ति । एतेनेद्मुक्तं भवति—ब्रह्मा, महाप्रलयानन्तरितस्युक्तादेवात्त्वात्ति जगत्सृष्ट्यर्थं स्वति । अत एव शेषे वद्मयति (११७८) 'इत्येषा सृष्टिरादितः' इति । अवान्तरप्रलयानन्तरं सु मनःप्रभृतिसृष्टाविभधानक्रमेणेव प्राथम्यप्राप्तिः 'इत्येषा सृष्टिरादितः' इति निष्ययोजनोऽनुवादः स्यात् ॥ ७४ ॥

१ अवान्तरप्ररुय-महाप्रलयस्वेन प्रलयस्य द्वैविध्यम् , तन्नाचे मनसो हि पूर्वमेवोतपन्नत्वानः तत्त्वान्तर्मोषात्वः द्वितीयपद्वे तु मनोहेतुस्वात्मदः तत्त्वमेव सत इति सर्वमनवसम्।

#### मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया । आकाशं जायते तसात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥

मनः सृष्टिमिति ॥ मनो महान् सृष्टिं करोति । परमात्मनः स्रष्टुमिच्छया प्रेर्यमाणं तस्मादाकाशमुत्पद्यते । तच पूर्वोकानुसारादहंकारतन्मात्रक्रमेणा-काशस्य शब्दं गुणं विदुर्मन्वादयः ॥ ७५ ॥

> आकाशात्त विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः । बलवाङ्मायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥

आकाशादिति ॥ भाकाशातु विकारजनकात्सुरभ्यसुरभिगन्धवहः पवित्रो बळवांश्च वायुरुत्पद्यते । स च स्पर्शाख्यगुणवान्सन्वादीनां संसतः ॥ ७६ ॥

> वायोरिप विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् । ज्योतिरुत्पद्यते भास्तत्तद्वपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

वायोरपीति ॥ वायोरपि तेज उत्पद्यते । विरोचिष्णु परप्रकाशकं तमो-नाशनं भास्त्रःप्रकाशकम् । तच्च गुणरूपमभिधीयते ॥ ७७ ॥

> ज्योतिषश्च विक्कर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः । अद्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

ज्योतिषश्चेति ॥ तेजस आप उत्पद्यन्ते । ताश्च रसगुणयुक्ताः । अद्यो गन्धगुणयुक्ता भूमिरिलेषा महाप्रलयानन्तरसृष्ट्यादौ भूतसृष्टिः । तैरेव भूतै-रवान्तरप्रलयानन्तरमपि भूरादिलोकत्रयनिर्माणम् ॥ ७८ ॥

> यत्त्राग्द्वादशसाहस्रम्रदितं दैनिकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

यत्प्रागिति ॥ यत्पूर्वं द्वादशवर्षसहस्रपरिमाणं संध्यासंध्यांशसहितं मनु-ध्याणां चतुर्युगं देवानामेकं युगमुक्तं तदेकसप्ततिगुणितं मन्वन्तराख्यः काल इह शास्त्रेऽभिधीयते । तत्रैकस्य मनोः सर्गाद्यधिकारः ॥ ७९ ॥

> मन्बन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च । क्रीडिविवेतत्कुरुते परमेष्टी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

मन्वन्तराणीति ॥ यद्यपि चतुर्दशमन्वन्तराणि पुराणेषु परिगण्यन्ते, तथापि सर्गप्रलयानामानन्त्यादसंख्यानि । शाष्ट्रस्या सर्गः संहारश्चासंख्यः । पृतस्तर्वं क्रीडिश्राव प्रजापतिः पुनः पुनः कुरुते । सुखार्था हि प्रवृत्तिः क्रीडा । तस्य चासकामस्वाश सुखार्थितेति 'इव'शब्दः प्रयुक्तः । परमे स्थानेऽनाष्ट्रत-

लक्षणे तिष्ठतीति परमेष्ठी । प्रयोजनं विना परमात्मनः सृष्ट्यादौ कथं प्रवृत्ति-रिति चेत्,-लील्येव, एवंस्वभावत्वादित्यर्थः । न्याख्यातुरिव करताडनादौः; तथा च शारीरकसूत्रं (ब.स.२।१।३३)-'लोकवत्तु लीर्लाकैवल्यम्' इति ॥८०॥

#### चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे । नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्त्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

चतुष्पात्सकलो धर्म इति ॥ सत्ययुगे सकलो धर्मश्रतुष्पात् सर्वाङ्गसंपूर्ण आसीत् । धर्मे मुख्यपादासंभवात् 'वृषो हि भगवान्धर्मः' इत्याद्यागमे वृष्यवेन कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन संपूर्णत्वात्सत्ययुगेऽपि धर्माणां सर्वेरङ्गेः समग्रत्वात्संपूर्णत्वपरोऽयं 'चतुष्पात्'शब्दः । अथवा 'तपः परम्' (१:८६) इत्यत्र मनुनैव तपोज्ञानयज्ञदानानां चतुर्णो कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन संपूर्णत्वात्पादत्वेन निरूपिताः सत्ययुगे समग्रा इत्यर्थः । तथा सत्यं च कृतयुग-मासीत् । सकलधर्मश्रेष्ठत्वात्सत्यस्य प्रथग्यहणम् । तथा न शास्त्रातिक्रमेण धनविद्यादेरागम उत्पत्तिमंनुष्यान्प्रति संपद्यते ॥ ८१॥

#### इतरेष्वागमाद्धर्मः पाद्शस्त्ववरोपितः । चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्रापैति पाद्शः ॥ ८२ ॥

इतरेष्विति ॥ सत्ययुगादन्येषु त्रेतादिषु आगमादधर्मेण धनविद्यादेरर्ज-नात्तस्यैन पूर्वश्लोके प्रकृतत्वात् । आगमाद्वेदादिति तु गोविन्दराजो मेधाति-थिश्च । धर्मो यागादिः यथाक्रमं प्रतियुगं पादं पादमवरोपितो हीनः कृतस्तथा धनविद्यार्जितोऽपि यो धर्मः प्रचरति, सोऽपि चौर्यासत्यन्छद्यभिः प्रतियुगं पादशो हासाद्यपगन्छति । त्रेतादियुगैः सह चौरिकानृतन्छद्यनां न यधा-संख्यम् । सर्वत्र सर्वेषां दर्शनात् ॥ ८२॥

#### अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्रतुर्वर्षश्रतायुषः । कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुईसति पादशः ॥ ८३ ॥

अरोगा इति ॥ रोगनिमित्ताधर्माभावादरोगाः सर्वसिद्धकाम्यफलाः प्रति-बन्धकाधर्माभावाचतुर्वर्षशतायुद्धं च स्वाभाविकम् । अधिकायुःप्रापकधर्म-चशादिधकायुषोऽपि भवन्ति । तेन 'दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमचीकरत्' इत्याद्यविरोधः । 'शतायुर्वे पुरुषः' इत्यादिश्चता तु शतशब्दो बहुत्वपरः कलिपरो वा । एवंरूपा मनुष्याः कृते भवन्ति । त्रेतादिषु पुनः पादं पाद-मायुरल्पं भवतीति ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मत्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् । फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च श्वरीरिणाम् ॥ ८४ ॥ वेदोक्तमायुरिति ॥ 'शवायुर्वे पुरुषः' इत्यादि वेदोक्तमायुः, कर्मणां च काम्यानां फलविषयाः प्रार्थनाः, ब्राह्मणादीनां च शापानुप्रहक्षमत्वादि-प्रभावा युगानुरूपेण फलन्ति ॥ ८४ ॥

> अन्ये कृतयुगे धर्मास्नेतायां द्वापरेऽपरे । अन्ये कलियुगे नृणां युगहासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

अन्य इति ॥ कृतयुगेऽन्ये धर्मा भवन्ति । त्रेतादिष्वपि युगापचयानु-रूपेणाधर्मवैलक्षण्यम् ॥ ८५ ॥

> तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥

तपः परमिति ॥ यद्यपि तपःश्रस्तिनि सर्वाणि सर्वयुगेष्वनुष्टेयानि तथापि सत्ययुगे तपः प्रधानं महाफलमिति ज्ञाप्यते । एवमात्मज्ञानं त्रेतायुगे, द्वापरे यज्ञः, दानं कलौ ॥ ८६ ॥

> सर्वस्थास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः । मुखवाहूरुपज्ञानां पृथकर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

सर्वस्यास्येति ॥ स ब्रह्मा महातेजा अस्य सर्गस्य समयस्य 'अग्नी प्रास्ता-हुतिः' (३।७६) इति न्यायेन रक्षार्थं मुखादिजातानां ब्राह्मणादीनां विभागेन कर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि निर्मितवान् ॥ ८७ ॥

> अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

अध्यापनिमिति॥ अध्यापनादीनामिह सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविशेषतयाभिधान-विधिस्तेषामुत्तरत्र भविष्यति । अध्यापनादीनि षट् कर्माणि ब्राह्मणानां कल्पितवान् ॥ ८८॥

> प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्व क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥

प्रजानामिति ॥ प्रजारक्षणादीनि क्षत्रियस्य कर्माणि कल्पितवान् । विषयेषु जीतनृत्यवनितोपभौगादिष्वप्रसिक्तिषां पुनरनासेवनम् । समासतः संझे-पेण ॥ ८९ ॥

पश्नां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । विशेषां क्रियां क्रियं क्रायं क्रियं क्रियं क्रियं क्रियं क्रियं क्रियं क्रियं क्रियं क्रि

पश्नामिति ॥ पश्नां पालनादीनि वैश्यस्य कल्पितवान् । विश्वनपर्थं स्थलजलादिना वाणिज्यम् । कुसीदं वृद्धाः धनप्रयोगः ॥ ९० ॥

## एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनस्रययाः।। ९१ ॥

एकमेव त्विति ॥ प्रभुकेहा सूद्रस्य ब्राह्मणादिवर्णत्रयपरिचर्यात्मकं कर्म निर्मितवान् । एकमेवेति प्राधान्यप्रदर्शनार्थम् । दानादेरपि तस्य विहित-त्वात् । अनस्यया गुणानिन्दया ॥ ९३ ॥

हदानीं प्राधान्येन सर्गरक्षणार्थत्वाह्राह्मणस्य तदुपक्रमधर्माभिधानत्वा-चास्य शास्त्रस्य, ब्राह्मणस्य स्तुतिमाह—

> ऊर्ध्व नामेमेंध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः । तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभ्रवा ॥ ९२ ॥

ऊर्ध्वमिति ॥ सर्वत एव पुरुषो मेध्यः, नामेरूर्ध्वमितशयेन मेध्यः, ततोऽपि मुखस्य मेध्यतमत्वं ब्रह्मणोक्तम् ॥ ९२ ॥

ततः किमत आह-

उत्तमाङ्गोद्भवाङ्ग्यैष्ट्याद्वसणश्रेव धारणात् । सर्वस्थैवास्य सर्गस्य धर्मतो त्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

उत्तमाङ्गोद्भवादिति ॥ उत्तमाङ्गं मुखं, तदुद्भवत्वात् क्षत्रियादिभ्यः पूर्वोत्पन्नत्वादध्यापनव्याख्यानादिना युक्तस्यातिशयेन वेदधारणात्सर्वस्यास्य जगतो धर्मानुशासनेन ब्राह्मणः प्रभुः । 'संस्कारस्य विशेषात्तु वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः' ॥ ९३ ॥

कस्योत्तमाङ्गादयमुद्भृत इत्यत आह-

तं हि खयंभूः खादास्थात्तपस्तात्रादितोऽसृजत् । हन्यकन्याभिवाह्याय सर्वस्थास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

तं हि खयंभूरिति। तं ब्राह्मणं ब्रह्मा आत्मीयमुखादैविपत्र्ये हिनःकन्ये बहनाय तपः कृत्वा सर्वस्य जगतो रक्षाये च क्षत्रियादिभ्यः प्रथमं सृष्ट-बान् ॥ ९४ ॥

पूर्वोक्तहब्यकब्यवहनं स्पष्टयति-

यसासेन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः। कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः॥ ९५॥

यस्यास्येनेति ॥ यस्य विशस्य मुखेन श्राद्धादौ सर्वदा देवा हन्यानि पितरश्च कस्यानि भुक्षते ततोऽन्यत्प्रकृष्टतमं भूतं किं भवेत् ॥ ९५ ॥

# भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु त्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

भूतानामिति ॥ भूतारब्धानां स्थावरजङ्गमानां मध्ये प्राणिनः कीटादयः श्रेष्ठाः, कदाचित्सुखलेशात् ; तेषामपि बुद्धिजीविनः सार्थनिरथंदेशोपसर्प-णापसर्पणकारिणः पश्चादयः । तेभ्योऽपि मनुष्याः, प्रकृष्टज्ञानसंबन्धात् । तेभ्योऽपि ब्राह्मणाः, सर्वपूज्यत्वादपवर्गाधिकारयोग्यत्वा ॥ ९६ ॥

#### त्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कतोरः कर्तृषु त्रह्मवेदिनः॥ ९७॥

ब्राह्मणेषु चेति ॥ ब्राह्मणेषु तु मध्ये विद्वांसो महाफलज्योतिष्टोमादि-कर्माधिकारित्वात् ; तेभ्योऽपि कृतबुद्धयः अनागतेऽपि कृतं मयेति बुद्धियेषाम् । शास्त्रोक्तानुष्टानेषूत्पन्नकर्तव्यताबुद्धय इत्यर्थः; तेभ्योऽपि अनुष्टातारः । हिता-हितप्राप्तिपरिहारभागित्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मविदः, मोक्षलाभात् ॥ ९७ ॥

#### उत्पत्तिरेव विष्रस मृतिंर्धर्मस शाश्वती । स हि धर्मार्थम्रत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

उत्पत्तिरेवेति ॥ बाह्मणदेहजन्ममात्रमेव धर्मस्य शरीरमविनाशि । यसादसौ धर्मार्थं जातः धर्मानुगृहीतात्मज्ञानेन मोक्षाय संपद्यते ॥ ९८ ॥

#### त्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते । ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९॥

ब्राह्मण इति ॥ यसाद्राह्मणो जायमानः पृथिन्यामधि उपरि भवति । श्रेष्ठ इत्यर्थः । सर्वभूतानां धर्मसमूहरक्षाये प्रभुः । ब्राह्मणोपदिष्टस्वात्सर्व-धर्माणाम् ॥ ९९ ॥

#### सर्व सं त्राह्मणस्येदं यत्किचिज्जगतीगतम्। श्रष्टिचेनाभिजनेनेदं सर्व वै त्राह्मणोऽईति ॥ १००॥

सर्वे स्वमिति ॥ यक्तिविज्ञगद्वर्ति धनं तद्वाह्यणस्य स्वमिति स्तुत्योच्यते । स्वमिव स्वं, न तै स्वमेव । ब्राह्मणस्यापि मनुना स्तयस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तसाद्रह्ममुखोद्भवत्वेनाभिजनेन श्रेष्ठतया सर्वे ब्राह्मणोऽईति सर्वेश्रहणयोग्यो भवत्येव । वै अवधारणे ॥ १०० ॥

स्तमेव ब्राह्मणो भुद्धे सं वस्ते सं ददाति च । आनृशंस्याद्वाह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥ स्वमेनेति ॥ यत्परसाण्यनं ब्राह्मणो भुद्धे, परस्य च वसं परिधत्ते, परस्य गृहीत्वान्यसौ ददाति तदिप बाह्यणस्य स्त्रमेव। पूर्ववत्स्तुतिः। एवं सित बाह्यणस्य कारुण्यादन्ये भोजनादि कुर्वन्ति॥ १०१॥

इदानीं प्रकृष्टबाह्मणकर्माभिधायकतया शास्त्रप्रशंसां प्रक्रमते-

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।

खायं भ्रवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

तस्य कर्मविवेकार्थमिति ॥ ब्राह्मणस्य कर्मज्ञानार्थं रोषाणां क्षत्रियादीनां च स्वायंभुवो ब्रह्मपुत्रो धीमान् सर्वविषयज्ञानवान्मनुरिदं शास्त्रं विरचित-वान् ॥ १०२ ॥

#### विदुषा त्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।

शिष्येभ्यश्च प्रवक्तज्ञ्यं सम्यङ्गान्येन केनचित् ॥ १०३॥

विदुषेति॥ एतच्छास्राध्ययनफलज्ञेन ब्राह्मणेन एतस्य शास्त्रस्य व्याख्यान्नाध्यापनोत्तितं प्रयत्नतोऽध्ययनं कर्तव्यं, शिष्येभ्यश्चेदं व्याख्यातव्यं; नान्येन क्षत्रियादिना। अध्ययनमात्रं तु व्याख्यानाध्यापनरहितं क्षत्रियवैद्ययोरिषि 'निषेकादिद्मशानान्तैः' (२।१६) इत्यादिना विधास्यते। अनुवादमात्रमेत-दिति मेधातिथिमतम्। तन्न मनोहरम्; द्विजैरध्ययनं ब्राह्मणेनैवाध्यापनव्याख्याने इत्यस्यालाभात्। यत्तु 'अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः' (१०।१) इत्यादि तद्वेदविषयमिति वक्ष्यति। विधेणेवाध्यापनमिति विधानेन संभवत्यप्यनुवादन्वमत्येति वृथा मेधातिथेर्यहः॥ १०३॥

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः । मनोवाग्देहजैनिंत्यं कर्मदोपैने लिप्यते ॥ १०४ ॥

इदं शास्त्रमिति ॥ इदं शास्त्रं पठनेतदीयमर्थं ज्ञात्वा शंसितवतोऽनुष्टित-वतः मनोवाक्कायसंभवैः पापैर्न संबध्यते ॥ १०४ ॥

> पुनाति पङ्कि वंश्यांश्र सप्त सप्त परावरान् । पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽईति ॥ १०५॥

पुनातीति ॥ इदं शास्त्रमधीयान इत्यनुवर्तते । अपाक्षतयोपहतां पक्किमानुपूर्व्या निविष्टजनसमूहं पवित्रीकरोति । वंशभवांश्च सप्त परान्पित्रादीन् ,
अवरांश्च पुत्रादीन् । पृथिवीमपि सर्वा सकलधर्मज्ञतया पात्रत्वेन ग्रहीतुं
सोग्यो भवति ॥ १०५॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् । इदं यशर्संमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

इदमिति॥ अभिप्रेतार्थस्याविनाशः स्वस्ति, तस्यायनं प्रापकम्; एतच्छास्त्र-

पाठा०—1 शेषाणां चानुपूर्वशः. 2 °स्यं सतत°.

स्याध्ययनं स्वस्त्ययनं जपहोमादिबोधकत्वाच श्रेष्ठं स्वस्त्ययनान्तरात्प्रकृष्टं बुद्धिविवर्धनम् । एतच्छास्वाभ्यासेनाशेषविधिनिषेधपरिज्ञानात् । यशसे हितं यशस्यं विद्वत्तया ख्यातिलाभात्परं प्रकृष्टम् । निःश्रेयसं निःश्रेयसस्य मोक्ष-स्योपायोपदेशकत्वात् ॥ १०६॥

> अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् । चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्वव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

अस्मिन्धर्म इति ॥ अस्मिन्कात्क्र्येन धर्मोऽभिहित इति शास्त्रप्रशंसा । कर्मणां च विहितनिषिद्धानामिष्टानिष्टफले । वर्णचतुष्टयस्यैव पुरुषधर्मेरूप आचारः शाश्वतः पारम्पर्यागतः । धर्मत्वेऽप्याचारस्य प्राधान्यस्यापनास् प्रशिक्तेर्देशः ॥ १०७ ॥

प्राधान्यमेव स्पष्टयति-

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः सार्त एव च । तसादसिन्सदा युक्तो नित्यं स्थादात्मवान्द्विजः॥१०८॥

आचार इति ॥ युक्तो यत्नवान् आत्महितेच्छुः । सर्वस्थात्मास्तीति आत्म-इाव्देन आत्महितेच्छा लक्ष्यते ॥ १०८ ॥

> आचाराद्विच्युतो विष्रो न वेदफलमश्चते । आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥

आचारादिति ॥ आचाराद्विच्युतो विशो न वैदिकं फलं लभेत्। आचार-युक्तः पुनः समग्रफलभाग्भवति ॥ १०९॥

> एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य ग्रुनयो गतिम् । सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

एवमिति ॥ उक्तप्रकारेणाचाराद्धर्मप्राप्तिसृषयो बुद्धा तपसश्चान्द्रायणादेः समग्रस्य कारणमाचारमनुष्टेयतया गृहीतवन्तः । उत्तरत्र वक्ष्यमाणस्याचार-स्वेह स्तुतिः शास्त्रस्तुत्यर्था ॥ ११० ॥

इदानीं शिष्यस्य सुखप्रतिपत्तये वश्यमाणार्थानुक्रमणिकामाह-

जगतश्र सम्रुत्पत्ति संस्कारविधिमेव च । व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

जगतश्च समुत्पत्तिमिति ॥ 'पाषण्डगणधर्माश्च' (१।११८) इस्यन्तं जगदुत्पत्तिर्थथोक्ता । ब्राह्मणस्तुतिश्च सर्गरक्षार्थत्वेव । ब्राह्मणस्य शास्त्रस्या- दिकं च सृष्टावेवान्तर्भवति । एतत्प्रथमाध्यायप्रमेयम् । संस्काराणां जात-कर्मादीनां विधिमनुष्टानम् । ब्रह्मचारिणो वताचरणम् । उपचारं च गुर्वादीना-मभिवादनोपासनादि । 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषेकवद्भवति' (कौ. ५. ३६ ) इत्येकवद्भावः । एतद्वितीयाध्यायप्रमेयम् । स्नानं गुरुकुळान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेषस्तस्य प्रकृते विधानम् ॥ १११ ॥

## दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।

महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च श्राश्वतम् ॥ ११२ ॥

दाराधिगमनमिति ॥ दाराधिगमनं विवाहः, तिह्नशेषाणां ब्राह्मादीनां च रूक्षणम् । महायज्ञाः पञ्च वैश्वदेवादयः । श्राद्धस्य विधिः शाश्वतः प्रतिसर्ग-मनादिप्रवाहप्रवृत्त्या नित्यः । एष तृतीयाध्यायार्थः ॥ ११२ ॥

#### वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।

#### स्त्रीधर्मयोगं तापसं मोक्षं संन्यासमेव च।

राज्ञश्च धर्ममिखलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥

स्त्रीधर्मयोगमिति ॥ स्त्रीणां धर्मयोगं धर्मोपायं एतत्पाञ्चमिकम् । तापस्यं तपसे वानप्रस्थाय हितं तस्य धर्मम् । मोक्षहेतुःवान्मोक्षं यतिधर्मम् । यति-धर्मत्वेऽपि संन्यासस्य पृथगुपदेशः प्राधान्यज्ञापनार्थः । एष षष्ठाध्यायार्थः । राज्ञोऽभिषिक्तस्य सर्वो दृष्टादृष्टार्थो धर्मः । एष सप्तमाध्यायार्थः । कार्याणा-मृणादीनामर्थिप्रस्यर्थिसमर्पितानां विनिर्णयो विचार्य तत्त्वनिर्णयः ॥ ११४ ॥

## साक्षिप्रश्नविधानं च धर्म स्त्रीपुंसयोरपि।

विभागधर्भ द्युतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

साक्षिति॥ साक्षिणां च प्रभे यहिषानम्। व्यवहाराक्षत्वेऽपि साक्षिप्रभस्य विधाननिर्णयोपायत्वारप्रथिवदेशः। एतदाष्टमिकम् । स्वीपुंसयोर्भार्यापत्थोः सिक्षिपावसिष्ठियो च धर्मानुष्ठानं, ऋक्यभागस्य च धर्मस्। यद्यपि ऋक्य-मानोऽपि कार्याणां च विनिर्णयम् (१।११४) इत्यनेनैव प्राप्तस्तथाप्यध्यायभेदारप्रथिहिदेशः। द्यविषयो विधिर्यूतशब्देनोच्यते। कण्टकानां चौरादीनां शोधनं निरसनम्॥ ११५॥

## वैश्यग्रुद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम् । आपद्धर्म च वर्णानां प्रायश्चित्तविधि तथा ।। ११६ ॥

वैस्यशुद्धोपचारं चेति ॥ वैश्यशुद्धोपचारं स्वधर्मानुष्ठानम् । एतन्नवमे । एवं संकीर्णानां अनुलोमप्रतिलोमजानामुत्पत्तिं, आपदि च जीविकोपदेशं आपद्धर्मम् । एतदशमे । प्रायश्चित्तविधिमेकादशे ॥ ११६ ॥

## संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम् ।

निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

संसारगमनमिति ॥ संसारगमनं देहान्तरप्राप्तिरूपं उत्तममध्यमाधम-भेदेन त्रिविधं ग्रुभाग्रुभकर्महेतुकम् । निःश्रेयसमात्मज्ञानं सर्वोत्कृष्टमोक्षलक्ष-णस्य श्रेयोहेतुत्वात् । कर्मणां च विहितनिषिद्धानां गुणदोषपरीक्षणम् ॥११७॥

## देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्माश्च शाश्वतान् । पाषण्डगणधर्माश्च शास्त्रेऽसिचुक्तवान्मनुः ॥ ११८॥

देशधर्मानिति ॥ प्रतिनियतदेशेऽनुष्ठीयमाना देशधर्माः, बाह्मणादिजाति-नियता जातिधर्माः, कुलविशेषाश्रयाः कुलधर्माः, वेदबाह्यागमसमाश्रया प्रतिषिद्धवतचर्या पाषण्डं, तद्योगात्पुरुषोऽपि पाषण्डः, तन्निमित्ता ये धर्माः 'पाषण्डिनो विकर्मस्थान्' (४।३०) इत्याद्यः, तेषां पृथम्धर्मानभिधानात् । गणः समुहो वणिगादीनाम् ॥ ११८॥

#### यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया । तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाञ्चान्त्रिबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

यथेद्मिति ॥ पूर्वं मया पृष्टो मनुर्यथेदं शास्त्रमभिहितवांस्तथैवान्यूनानित-रिक्तं मत्सकाशाच्छ्रणुतेति ऋषीणां श्रद्धातिशयार्थं पुनरभिधानम् ॥ ११९ ॥

इति श्रीकुळूकसदृक्तायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ प्रथमोऽप्यायः ॥ १ ॥

## द्वितीयोऽध्यायः २

प्रकृष्टपरमात्मज्ञानरूपधर्मज्ञानाय जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपाद्याधुना ब्रह्म-ज्ञानाङ्गभृतं संस्कारादिरूपं धर्मं प्रतिपिपादयिषुधर्मसामान्यलक्षणं प्रथममाह-

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाम्यतुज्ञातो यो भर्मलं निवायन् ॥ १ ॥ विद्वद्विरिति ॥ विद्वद्विवेद्विद्धिः सद्भिर्भाभिके रागद्वेषशून्यैरनुष्ठितौ

हृद्येनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यनेन श्रेयःसाधनमभिहितम् । तत्र हि स्वरसा-न्मनोऽभिमुखीभवति । वेद्विद्धिर्ज्ञात इति विशेषगोपादानसामर्थ्याञ्ज्ञातस्य वेदस्यैव श्रेयःसाधनज्ञाने कारणत्वं विवक्षितम् । 'खङ्गधारिणा हतः' इत्युक्ते र्षतत्त्वद्गस्यैव हनने प्राधान्यम् । अतो 'वेद्प्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्मः' इत्यु-क्तम् । एवंविधो यो धर्मस्तं निबोधत । उक्तार्थसंग्रहस्रोकाः-- वेदविद्विर्ज्ञात इति प्रयुक्षानो विशेषणम् । वेदादेव परिज्ञातो धर्म इत्युक्तवान्मनुः ॥ हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यपि निर्दिशन् । श्रेयःसाधनमित्याह तत्र ह्यभि-मुखं मनः ॥ वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्यतः । मनुक्तमेव मुनयः प्रणि-न्युर्धमेलक्षणम् ॥' अत एव हारीतः (१।१)—'अथातो धर्मं न्याख्यास्यामः । श्चित्तप्रमाणको धर्मः । श्चितिश्च द्विविधा वैदिकी तान्निकी च' इति । भविष्य-पुराणे—'धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् । स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥ अस्य सम्यगनुष्ठानात्स्वर्गी मोक्षश्च जायते । इह लोके सुकैश्वर्यमतुलं च खगाधिप ॥' श्रेयःसाधनमित्यर्थः । जैमिनिरपीदं धर्मलक्षण-मसूत्रयत्—'चोदैनालक्षणोऽथों धर्मः' (जै. स्. १।१।२) इति । उभयं चोदनया लक्ष्यते-अर्थः श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिः, अनर्थः प्रत्यवायसाधनं स्येनादिः । तत्र वेद्यमाणकं श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादि धर्म इति सूत्रार्थः । स्मृत्यादयोऽपि वेदमूलत्वेनैव धर्मे प्रमाणमिति दर्शयिष्यामः । गोविन्दराजस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यन्तःकरणविचिकित्साञ्चन्य इति व्याख्यातवान् । तन्मते वेदिविद्रिरनुष्टितः संशयरहितश्च धर्म इति धर्मलक्षणं स्यात् । एवं च दृष्टार्थ-मामगमनादिसाधारणं धर्मेलक्षणं विचक्षणा न श्रद्दधते । मेधातिथिस्तु हृद्ये-नाभ्यनुज्ञात इति यत्र चित्तं प्रवर्तयतीति व्याख्याय, अथवा हृद्यं वेदः, स द्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो हृदयमित्युच्यत इत्युक्तवान् ॥ १ ॥

## कामात्मता न प्रशस्ता न चैनेहास्त्यकामता । काम्यो हि नेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

कामात्मतेति ॥ फलाभिलाषशील्यं पुरुषस्य कामात्मता । सा न प्रशस्ता, बन्धहेतुत्वात् । स्वर्गादिफलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्टीयमानानि पुन-र्जन्मने कारणं भवन्ति । नित्यनैमित्तिकानि त्वात्मज्ञानसहकारितया मोक्षाय कल्पन्ते । न पुनिरच्छामात्रमनेन निषिध्यते । तदाह—न चेवेहास्त्यकाम-तेति । यतो वेदस्वीकरणं वैदिकसकल्धमसंबन्धश्रेच्छाविषय एव ॥ २ ॥

१ चोदनेति प्रवर्तकाशब्दनाम, लक्ष्यते शायत इति लक्षणम्, यथा धूमेन विश्वलिक्ष्यत इति विश्वाने लक्षणं धूमः तद्वदर्मशाने लक्षणं चोदनाः इत्थं च चोदनैय लक्षणं करणं पदिषयकशानस्य तत्त्वे सति अर्थत्वं लक्षणं; अर्थत्वं च सुखाधिकदुः खाजनकत्व-मिसाश्चरः।

भत्रोपपत्तिमाह---

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः । व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

संकल्पमूळ इति ॥ अनेन कर्मणेद्रमिष्टं फर्डं साध्यत इत्येवंविषया बुद्धिः संकल्पः, तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तसिन्निच्छा जायते, तद्र्थं प्रयतं कुरुते चेलेवं यज्ञाः संकल्पप्रभवाः, वतानि, यमरूपाश्च धर्माश्चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणाः । सर्वे इत्यनेन पदेन अन्येऽपि शास्त्रार्थाः संकल्पादेव जायन्ते । इच्छामन्तरेण तान्यपि न संभवन्तीत्यर्थः । गोविन्दराजस्तु व्रतान्यन्रष्टेय-रूपाणि, यमधर्माः प्रतिषेधार्थका इत्याह ॥ ३ ॥

अत्रेव लौकिकं नियमं द्रीयति—

अकामस्य क्रिया काचिदृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्भि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

अकामस्येति ॥ लोके या काचिद्रोजनगमनादिकिया साप्यनिच्छतो न कदाचिद्रस्यते । ततश्च सर्वं कर्म लौकिकं वैदिकं च यदायुरुषः कुरुते तत्तदि-च्छाकार्यम् ॥ ४ ॥

संप्रति पूर्वोक्तं फलाभिलाषनिषेधं नियमयति—

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् । यथासंकल्पितांश्रेह सर्वान्कामान्समश्रुते ॥ ५ ॥

तेषु सम्यग्वर्तमान इति ॥ नात्रेच्छा निषध्यते किंतु शास्त्रोक्तर्मसु सम्यग्वृत्तिर्विधीयते । बन्धहेतुफलाभिलाषं विना शास्त्रीयकर्मणामनुष्ठानं तेषु सम्यग्वृत्तिः सम्यग्वर्तमानोऽमरलोकताममरधर्मकं ब्रह्मभावं गच्छति । मोक्षं प्राप्नोतीलर्थः । तथाभूतश्च सर्वेश्वरत्वादिहापि लोके सर्वानभिलिषता-न्यामोति । तथा च छान्दोग्ये (८।२।१)-'स यदि पितृकोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इत्यादि ॥ ५ ॥

इदानीं धर्मप्रमाणान्याह-

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तिद्वदाम्। आचारश्रेव साधुनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति ॥ वेदः ऋग्यजःसामाथर्वलक्षणः, स सर्वे। विध्यर्थवादमञ्चात्मा धर्मे मूळं प्रमाणम् । अर्थवादानामपि विध्येकवान्यतया स्तावकत्वेन धर्मे प्रामाण्यात् । यदाह जैमिनिः (जै. स. १।२।७)-'विधिना . त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'। मन्नार्थवादानामपि विधिवाक्यैक-

१ विधिविषयाणां 'वायव्यं श्वेतमारुमेत' इति विद्वितवायुदेवतादीनां स्तुतिसापेक्षेण विधिना वाक्येकवाक्यत्वाद्विधेयं स्तुवन्तोऽर्थवादा धर्मे प्रमाणानि स्युकित जैमिनिस्त्रारायः।

वाक्यतयैव धर्मे प्रामाण्यं, प्रयोगकाले चानुष्ठेयसारकःवं, वेदस्य च धर्मे प्रामाण्यं यथानुभवकरणत्वरूपं न्यायसिद्धम् । स्मृत्यादीनामपि तन्मूलःवेनेव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थमनुद्यते । मन्वादीनां च वेदविदां स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम् । वेदविदांमिति विशेषणोपादानाद्वेदमूलःवेनेव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिमतम् । शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम् । तदाह हारीतः-'ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता । अपरोपतापिता अनस्यता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता । अर्रापतापिता अनस्यता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता । शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदश्चविधं शीलम्' । गोविन्दराजस्तु शिलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह । आचारः कम्बलवल्कलाद्याचरणरूपः, साधूनां धार्मिकाणां आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम् । तदाह गर्गः—'वैकल्पिक आत्मतुष्टिः प्रमाणम्' ॥ ६ ॥

वेदादन्येषां वेदमूलस्वेन प्रामाण्येऽभिहितेऽपि मनुस्मृतेः सर्वोत्कर्षज्ञाप-नाय विशेषेण वेदमूलतामाह—

#### यः कश्चित्कस्यचिद्धमीं मनुना परिकीर्तितः । स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

यः कश्चिदिति ॥ यः कश्चित्कस्यचिद्राह्मणादेमीनुना धर्म उक्तः स सर्वे वेदे प्रतिपादितः । यसात्सर्वेज्ञोऽसौ मनुः सर्वेज्ञतया चोत्सन्नविप्रकीर्णपट्य-मानवेदार्थं सम्यग्ज्ञाता छोकहितायोपनिबद्धवान् । गोविन्द्रराजस्तु 'सर्वज्ञान-मयः' इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेदविशेषणतामाह ॥ ७ ॥

#### सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा । श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्खधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

सर्वे त्विति ॥ सर्वं शास्त्रजातं वेदार्थावगमोचितं ज्ञानं मीमांसान्याकर-णादिकं ज्ञानमेव चक्षुस्तेन निखिलं तद्विशेषेण पर्यालोच्य वेद्प्रामाण्येना-नुष्टेयमवगम्य स्वधमें ऽवतिष्ठेत ॥ ८ ॥

#### श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम्जुतिष्ठन्हि मानवः । इह कीर्तिमवामोति प्रेत्य चाजुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

श्रुतिस्मृत्युद्तिमिति ॥ श्रुतिस्मृत्युद्तिं धर्ममनुतिष्ठन्मानव इहलोके धार्मिकत्वेनानुषिक्षितिं कीर्तिं परलोके च धर्मफलमुत्कृष्टं स्वर्गापवर्गादि-सुखरूपं प्रामोति । अनेन वास्तवगुणकथनेन श्रुतिस्मृत्युद्तिं धर्ममनुतिष्ठेदिति विधिः कल्प्यते ॥ ९ ॥

#### श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः । ते सर्वार्थेष्वमीमांस्थे ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ ॥ १०॥ श्रुतिस्त्विति ॥ ङोकप्रसिद्धसंज्ञासंज्ञिसंबन्धाज्ञवादोऽयं श्रुतिस्सृत्योः

१ पद्मपुराणे तु (ज. अ. ४३) स्मृतेः सास्त्रिक-राजस-तामसभेदेन नैविध्यमुक्तम्-वासिष्ठं चैव हारीतं व्यासं पाराशरं तथा । भारद्वाजं काश्यपं च सास्त्रिक्यो मुक्तिदाः अभाः स्वादिभिः

प्रतिकूलतर्केणामीमांस्यत्विधानार्थं, स्मृतेः श्रुतितृत्यत्ववोधनेनाचारादिभ्यो बलवन्त्वप्रतिपादनार्थं च । तेन स्मृतिविरुद्धाचारो हेय इत्सस्य फलम् । श्रुतिर्वेदः, मन्वादिशास्त्रं स्मृतिः, ते उमे प्रतिकूलतर्केनं विचारियत्वयैः, यतसाभ्यां निःशेषेण धर्मों बभौ प्रकाशतां गतः ॥ १०॥

## योऽवमन्येत् ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाहिजः।

स साधुमिर्बिहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्द्कः ॥ ११ ॥
योऽवमन्येतेति ॥ यः पुनस्ते द्वे श्वितिस्मृती द्विजोऽवमन्येत स शिष्टेद्विजाजुष्ठेयाध्ययनादिकर्मणो निःसार्वः । पूर्वश्चोके सामान्येनामीमांस्थे इति
मीमांसानिषेधादजुकूलमीमांसापि न प्रवर्तनीयेति अमो मा भूदिति विशेषयति—'हेतुशास्त्राश्रयात्'। वेदवाक्यमप्रमाणं वाक्यत्वात् विप्रलम्भकवाक्यविद्यादिप्रतिकूलतकविष्टम्मेन चार्वाकादिनास्तिक इव नास्तिकः । यतो वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

इदानीं शीलस्याचार एवान्तर्भावसंभवाद्वेदम्लतैव तम्नं न स्मृतिशीला-दिप्रकारनियम इति द्शियतुं चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह—

> वेदः स्मृतिः सदाचारः खस्य च प्रियमात्मनः । एतचतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

वेद इति ॥ वेदो धर्मप्रमाणं, स कवित्प्रसक्षः कवित्स्मृत्यानुमित इत्येवं तात्पर्यं नतु प्रमाणपरिगणने । अत एव 'श्वतिस्मृत्युदितं धर्म' (२।९) इत्यत्र द्वयमेवाभिहितवान् । सदाचारः शिष्टाचारः । स्वस्य चात्मनः प्रिय-मात्मतृष्टिः ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्कसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थकामेष्विति ॥ अर्थकामेष्वसक्तानामर्थकामिलिप्साशून्यानां धर्मोपदेशोऽयम् । ये त्वर्थकामसमीह्या लोकप्रतिपत्त्यर्थं धर्ममनुतिष्ठन्ति न तेषां
कर्मफलमित्यर्थः । धर्म च ज्ञातुमिन्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः । प्रकर्षबोधनेन
च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः । अत एव जाबालः—
'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी । अविरोधे सदा कार्यं स्मातं वैदिकवत्सता ॥' भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—'श्रुत्वा सह विरोधे तु बाध्यते विषयं
विना' । जैमिनिरप्याह (जै. न्या. स. १।३।३ )—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति
द्यानुमानम्'। श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम् । असति
विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः ॥ १३ ॥

१ 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टियतव्या' इति स्मृतिः 'औदुम्बरी स्मृष्ट्रोद्वायेत्' इति श्रुति-विरुद्धाः, पक्षे श्रुतेवीधिका संकोज्ञिका वा सती धर्मे प्रमाणं स्मृतिवस्वात् इति विरोधः, तथा विरोधेऽप्युपलभ्यमानश्रुतिविरोधेऽनपेक्ष्यं स्मृतिप्रामाण्यमनादरणीयं, कल्पश्रुत्यपेक्षयाः प्रत्यक्षश्रुतेविलयस्वेन वाधासंभवादिति भावः।

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुमौ स्मृतौ । उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीविभिः ॥ १४ ॥

श्रुतिद्वेधं त्विति ॥ यत्र पुनः श्रुखोरेव द्वैधं परस्परिवरूद्वार्थप्रतिपादनं तत्र द्वाविप धर्मों मनुना स्मृतौ । तुल्यबलतया विकल्पानुष्टानविधानेन च विरोधाभावः । यसान्मन्वादिभ्यः पूर्वतरेरिप विद्वद्विः सम्यक् समीचीनौ द्वाविप तौ धर्मावुक्तौ । समानन्यायतया स्मृत्योरिप विरोधे विकल्प इति प्रकृतोपयोगः तुल्यबलत्वाविशेषात् । तदाह गौतमः—'तुल्यबलविरोधे विकल्पः'॥ १४॥

अत्र दृष्टान्तमाह-

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा । सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

उदितेऽनुदिते चैवेति ॥ सूर्यनक्षत्रवर्णितः कालः 'समयाध्युषित'शब्देनो-च्यते । उदयाल्पूर्वमरूणिकरणवान्प्रविरलतारकोऽनुदितकालः । परस्परविरुद्ध-कालश्रवणेऽपि सर्वथा विकल्पेनाग्निहोत्रहोमः प्रवर्तते । देवतोहेशेन द्रव्य-त्यागगुणयोगात् 'यज्ञ'शब्दोऽत्र गौणः । 'उदिते होतब्यम्' इत्यादिका वैदिकी श्चतिः ॥ १५ ॥

> निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यसोदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽसिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् १६

निषेकादीति ॥ गर्भाधानादिरन्लेष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मञ्चेरनुष्टान-कलाप उक्तो द्विजातिरित्थर्थः । तस्यास्मिन्मानवधर्मशाक्षेऽध्ययने श्रवणेऽधि-कारः, न त्वन्यस्य कस्यचिच्छूद्वादेः । एतच्छास्नानुष्टानं च यथाधिकारं सर्वे-रेव कर्तेच्यं, प्रवचनं त्वस्याध्यापनं च्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति 'निदुषा ब्राह्मणेन' (१।१०३) द्वस्त्र च्याख्यातम् ॥ १६ ॥

ं धर्मस्य स्वरूपं प्रमाणं परिभाषां चोक्त्वा इदानीं धर्मानुष्टानयोग्यदेशा-नाह—

> सरस्रतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७॥

सरस्वतीति ॥ सरस्वतीद्दषद्वत्योर्नचोरुभयोर्भध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः । देवनदी-देवनिर्मितशब्दी नदीदेशमाशस्त्राथौं ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८॥ तस्मिन्देश इति ॥ तस्मिन्देशे प्रायेण शिष्टानां संभवासेषां ब्राह्मणादि- वर्णानां संकीर्णजातिपर्यन्तानां य आचारः पारंपर्यक्रमागतो न त्विदानींतनः स सदाचारोऽभिधीयते ॥ १८॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्थाश्र पश्चालाः श्रूरसेनकाः । एप ब्रह्मपिंदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्रमिति ॥ मन्स्यादिशब्दा बहुवचनान्ता एव देशविशेषवाचकाः। पञ्चालाः कान्यकुब्जदेशाः । शूरसेनका मथुरादेशाः । एव ब्रह्मिदेशो ब्रह्मवर्ताक्षिचेदृनः॥ १९ ॥

एतदेशप्रसतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

सं सं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिन्यां सर्वमानवाः ॥ २०॥

एतदेश इति ॥ कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्य ब्राह्मणस्य सकाशात्सर्वमनुष्या श्रात्मीयमात्मीयमाचारं शिक्षेरन् ॥ २० ॥

> हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्त्राग्विनशनाद्पि । प्रत्यगेव प्रयागाच मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

हिमवदिति ॥ उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ तयोर्यन्मध्यं विनशनात् सरस्वत्यन्तैर्धानदेशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच यत्पश्चिमं स मध्यदेशनामा देशः कथितः ॥ २१ ॥

> आ समुद्रातु वै पूर्वादा समुद्राच पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गियोरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

आ समुद्रात्त्विति ॥ भा पूर्वसमुद्रात् भा पश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्थावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति । मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ । तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता । भार्या भन्नावर्तन्ते पुनःपुनरुद्भवन्ती-त्यार्यावर्तः ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र खभावतः।

स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥ कृष्णसारस्त्वितः ॥ कृष्णसारो सृगो यत्र स्वभावतो वसति नतु बलादानीतः स यज्ञाहीं देशो ज्ञातच्यः । अन्यो म्लेच्छदेशो न यज्ञाही इत्यर्थः ॥ २३ ॥

१ संगमी यत्र गङ्गायमुनयोस्तद्देशातः; तथा चोक्तं—'गङ्गायमुनयोमेध्ये यत्र गुप्ता सरस्वती' इत्यादिना । २ म्लेच्छा नाम प्रतिलोमजातीयाधिकाररहिताः शबरपुलिदादयः, अत्र विस्तरस्तु मागवते (स्कं. ९।१६।३३) द्रष्टव्यः।

#### एतान्द्रिजातयो देशान्संश्रयेरन्त्रयत्नतः । शूद्रस्तु येस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वत्तिकर्भर्शेतः ॥ २४ ॥

एतानिति ॥ अन्यदेशोद्भवा अपि द्विजातयो यज्ञार्थत्वाददृष्टार्थत्वाचैतान्दे-श्चान्प्रयत्नादाश्रयेरन् । सूद्भस्तु वृत्तिपीडितो वृत्त्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत् ॥२४॥

#### एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता । संभवश्रास्य सर्वस्य वर्णधर्मानिवोधत ॥ २५ ॥

एषा धर्मस्येति ॥ एषा युष्माकं धर्मस्य योनिः संक्षेपेणोक्ता । योनिर्ज्ञिक्तिः कारणं 'वेदोऽिक्षले धर्ममूल्यम्' (२१६) इत्यादिनोक्तमित्यर्थः । गोविन्दराज-िस्वह 'धर्म'शब्दोऽपूर्वाख्वात्मकधर्मे वर्तत इति 'विद्वद्धिः सेवितः' (२११) इत्यत्र तत्कारणेऽष्टकादौ वाऽपूर्वाख्यस्य धर्मस्य योनिरिति व्याख्यातवान् । संभवश्चोत्पित्तर्जगत इत्युक्ता । इदानीं वर्णधर्माव्यक्ष्यः । 'वर्णधर्म'शब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणामुपलक्षकः । ते च भवि-ध्यपुराणोक्ताः—'वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम् । वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्त्रथा ॥ वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥ यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः अवर्तते । स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा ॥ वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते । स वर्णाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा ॥ वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते । स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौजीया मेखला यथा ॥ यो गुणेन प्रवर्तत गुणधर्मः स उच्यते । यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥ निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तन्विधिर्यथा' ॥ २५ ॥

#### वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेहच ॥ २६ ॥

वैदिकौरिति ॥ वेदमूलत्वाद्वैदिकैः पुण्यैः शुभैर्मञ्जयोगादिकर्मभिः द्विजा-तीनां गर्भाधानादिशरीरसंस्कारः कर्तव्यः । पावनः पापक्षयहेतुः । प्रेत्य परलोके संस्कृतत्य यागादिफलसंबन्धात्, इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधि-कारात् ॥ २६ ॥

कुतः पापसंभवो येनैषां पापक्षयहेतुत्वमत आह—ू

गाँभें होंमैर्जातकर्मचौडमै। झीनिबन्धनैः । वैजिकं गाभिंकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

गार्भेरिति ॥ ये गर्भग्रुद्धये कियन्ते ते गार्भाः । होमग्रहणमुपलक्षणम् । गर्भाघानादेरहोमरूपत्वात्। जातस्य यत्कर्म मन्नवत्सर्पिःप्राशनादिरूपं तजात-

पाठा०—1 यसिस्तस्मिन्वा.

कर्म । चौडं चूडाकरणकर्म । मौश्लीनिबन्धनमुपनयनम् । एतैबैंजिकं प्रति-षिद्धमैथुनसंकल्पादिना पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं, गार्भिकं चाशुन्तिमातृगर्भ-वासजं तद् द्विजातीनामपमुज्यते ॥ २७ ॥

> स्वाध्यायेन व्रतेहोंमेस्नेविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञेश्व यज्ञेश्व ब्राह्मीयं क्रियते ततः॥ २८॥

स्वाध्यायेनेति ॥ वेदाध्ययनेन । व्रतेर्मधुमांसवर्जनादिनियमैः, होमैः सावित्रचरहोमादिभिः, सायंप्रातहोंमेश्च, त्रैविद्याख्येन च, व्रतेष्वप्राधानयादस्य पृथगुपन्यासः । इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देविषिपितृतर्पणरूपया, गृहस्थाव-स्थायां पुत्रोत्पादनेन । महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः । यज्ञैज्योतिष्टोमा-दिभिः । ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्येयं तनुः तन्वविष्ठिन्न आत्मा क्रियते । कर्म-सहकृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः ॥ २८ ॥

प्राङ्गाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते । मन्त्रवत्प्राञ्चनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

प्राशिति ॥ नाभिच्छेदनात्पाक् पुरुषस्य जातकर्माख्यः संस्कारः कियते । तदा चास्य स्वगृद्योक्तमञ्जैः स्वर्णमधुवतानां प्राशनम् ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् । पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

नामघेयमिति ॥ 'जातकर्म'इति पूर्वश्लोके जन्मनः प्रस्तुतत्वाजन्मापेक्ष-यैव दशमे द्वादशे वाऽहिन अस्य शिशोर्नामधेयं स्वयमसंभवेऽन्येन कारयेत्। अथवा 'आशोचे च व्यतिकान्ते नामकर्म विधीयते' (शं. स्ट. २।२) इति शङ्कवचनाइशमेऽहन्यतीते एकादशाह इति व्याख्येयम् । तत्राप्यकरणे प्रशस्ते तिथौ प्रशस्त एव मुहूर्ते नक्षत्रे च गुणवत्येव ज्योतिषावगते कर्तव्यम् । वाशव्दोऽवधारणे ॥ ३०॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्थात्क्षत्रियस्य वलान्वितम् । वैश्यस्य धनसंयुक्तं श्रद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

मङ्गल्यमिति ॥ त्राह्मणादीनां यथाकमं मङ्गल-बल-धन-निन्दावाचकानि ग्रुभ-बल-वसु-दीनादीनि नामानि कर्तेच्यानि ॥ ३१ ॥

इदानीसुपपदनियेमार्थमाइ-

शर्मवद्राक्षणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् । वैश्यस्य पृष्टिसंयुक्तं शृद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥ शर्मवद्राह्मणस्येति ॥ एषां यथाकमं शर्म-रक्षा-पृष्टि-प्रेष्यवाचिकानि कर्त-

१ नामकरणं तु कुछदेवता-पितामह-मातामहादिसंबद्धं शस्तं, यदुक्तं शङ्केन-'कुछ-देवतासंबद्धं पिता नाम कुर्यात्' इति ।

न्यानि शर्म-वर्म-भूति-दासादीनि उपपदानि कार्याणि । उदाहरणानि तु शुभ-शर्मा, बलवर्मा, वसुभूतिः, दीनदासः इति । तथा च यमः—'शर्म देवश्र विष्रस्य वर्म त्राता च भूभुजः । भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दौसः शूद्रस्य कारयेत् ॥' विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्—'शर्मवद् बाह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम् । गुप्तदासा-तमकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्वयोः' ॥ ३२ ॥

> स्रीणां सुखोद्यमक्क्र्रं विस्पष्टार्थं मनोहरम् । मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाञ्चीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

स्त्रीणामिति ॥ सुखोचार्यमकरार्थवाचि व्यक्ताभिधेयं मनः प्रीतिजननं मङ्गलवाचि दीर्घस्वरान्तं आशीर्वाचकेनाभिधानेन शब्देनोपेतं स्त्रीणां नाम कर्तव्यम् । यथा यशोदादेवीति ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोनिष्क्रमणं गृहात् । षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यदेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

चतुर्थे मासीति ॥ चतुर्थे मासे बालस्य जन्मगृहान्निष्कमणमादिखदर्शनार्थं कार्यम् । अन्नप्राशनं च षष्ठे मासे; अथवा कुलधर्मत्वेन यन्मङ्गलिष्टं तत्कर्तव्यं, तेनोक्तकालादन्यकालेऽपि निष्कमणम् । तथा च यमः—'तत-स्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्'। सकलसंस्कारशेष(विषय)श्चायम् । तेन नान्नां शर्मादिकमण्युपपदं कुलाचारेण कर्तव्यम् ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।

प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्चितिचोदनात् ॥ ३५ ॥

चूडाकर्मेति ॥ चूडाकरणं प्रथमे वर्षे तृतीये वा द्विजातीनां धर्मतो धर्मार्थं कार्यम्, श्रुतिचोदनात् । 'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव' इति मन्निल्जात् कुलधर्मानुसारेणायं व्यवस्थितविकल्पः । अत एवाश्वलायन-गृह्यम् (१।१७)—'तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा'॥ ३५॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भातु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

गर्भाष्टम इति ॥ गर्भवर्षादृष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं कर्तव्यम् । उप-नयनमेवोपनायनम् । 'अन्येषामपि दश्यते' (पा. ६।३।१३७) इति दीर्घः । गर्भेकादशे क्षत्रियस्य । गर्भद्वादशे वैश्यस्य ॥ ३६ ॥

त्रहावर्चसकामस्य कार्यं वित्रस्य पश्चमे । राज्ञो वलार्थिनः पष्ठे वैदयस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७॥ व्यवर्चसकामस्येति ॥ वेदाध्ययनतदर्थज्ञानादिशकर्पकृतं तेज्ञो वसन वर्चसं, तत्कामस्य ब्राह्मणस्य गर्भपञ्चमे वर्षे उपनयनं कार्यम् । क्षत्रियस्य हस्त्यश्वादिराज्यबलार्थिनो गर्भाषष्ठे । वैश्यस्य बहुकृष्यादिचेष्टार्थिनो गर्भाष्टमे, गर्भवर्षाणामेव प्रकृतत्वात् । यद्यपि बालस्य कामना न संभवति तथापि तिपातुरेव तद्गतफलकामना तस्मिश्चपचर्यते ॥ ३७ ॥

आ षोडशाह्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते । आ द्वाविंशात्क्षत्रवन्धोरा चतुर्विंशतेविंशः ॥ ३८ ॥

आ पोडशादिति॥ अभिविधावाङ् । ब्राह्मणक्षत्रियविशामुक्ताष्टमैका-दशहादशवर्षद्वेगुण्यस्य विवक्षितत्वात् षोडशवर्षपर्यन्तं ब्राह्मणस्य सावि-व्यथ्ये वचनमुपनयनं नातिकान्तकालं भवति । क्षत्रियस्य द्वाविशतिवर्षपर्य-नतम् । वैश्यस्य चतुर्विशतिवर्षपर्यन्तम् । अत्र मर्यादायामाङ् । केचिद्याख्या-पयन्ति यमवचनदर्शनात् । तथा च यमः—'पतिता यस्य सावित्री दश् वर्षाणि पञ्च च । ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः॥ प्रायश्चित्तं भवेदेषां प्रोवाच वदतां वरः। विवस्ततः सुतः श्रीमान् यमो धर्मार्थतत्त्वित् ॥ सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः । हविष्यं भोजयेदनं ब्राह्मणानस्त पञ्च वा'॥ ३८॥

> अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः । सावित्रीपतिता त्रात्या भवन्त्यार्यविगहिंताः ॥ ३९ ॥

अत अर्ध्विमिति ॥ एते ब्राह्मणादयो यथाकालं यो यसानुकल्पिकोऽप्यु-पनयनकाल उक्तः षोडशवर्षादिपर्यन्तम्, तत्रासंस्कृतासदूर्ध्वं सावित्रीपतिता उपनयनहीनाः शिष्टगिर्हिता 'बाल्य'संज्ञा भवन्ति । संज्ञाप्रयोजनं च 'बाल्यानां याजनं कृत्वा' (११।१९७) इल्यादिना व्यवहारसिद्धिः ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैविधिवदापद्यपि हि कहिंचित् ।

त्राह्मान् योनांश्च संवन्धानाचरेद्वाह्मणः सह ॥ ४० ॥ नैतिरिति ॥ एतैरपूर्वर्वास्यैर्थथाविधिमायश्चित्तमकृतविद्वः सह आपत्काले-इपि कदाचिद्ध्यापनकन्यादानादीन्संबन्धान् ब्राह्मणो नानुतिष्ठेत् ॥ ४० ॥

> कार्ष्णरीरव्रवास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरकानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

कार्ष्णरौरववास्तानीति ॥ कार्ष्ण इति विशेषानभिधानेऽपि सृगविशेषो स्रुसाहचर्यात् 'हारिणमेणेयं वा कार्ष्णं वा ब्राह्मणस्य' इत्यापस्तम्बवचनाद्यः कृष्णसृगो गृह्यते । कृष्णसृगरुरुच्छागचर्माणि ब्रह्मचारिण उत्तरीयाणि वसी स्नु । 'चर्माण्युत्तरीयाणि' इति गृह्यवचनात् । तथा शणक्षुमामेषकोमभवान्यधोवसनानि ब्राह्मणाद्यः क्रमेण परिद्धीरन् ॥ ४१ ॥

## मोज्जी त्रिवृत्समा श्रक्ष्णा कार्या वित्रस्य मेखला । क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥

मौञ्जीति ॥ मुञ्जमयी त्रिगुणा समगुणत्रयनिर्मिता ञुखस्पर्शा ब्राह्मणस्य मेखला कर्तन्या। क्षत्रियस्य मूर्वामयी ज्या धनुर्गुणरूपा मेखला। क्षतो ज्यात्वविनाशापत्तेस्त्रिनृत्त्वं नास्तीति मेधातिथि-गोविन्दराजौ। वैद्यस्य शण-सूत्रमयी। अत्र त्रैगुण्यमनुवर्तेत एव। 'त्रिगुणाः प्रदक्षिणा मेखलाः' इति सामान्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात्॥ ४२॥

## मुंजालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकवल्वजैः । त्रिष्टेता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पश्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

मुझालाभे त्विति ॥ कर्तव्या इति बहुवचननिर्देशाद्वहाचारित्रयस्य प्रकृत-त्वान्मुख्यालाभे त्रिष्वप्यपेक्षायाः समत्वात्कौशादीनां च तिस्णां विधाना-न्युझाबलाभ इति बोद्धव्यम् । कर्तव्या इति बहुवचनमुपपन्नतरम् । भिन्न-जातिसंबन्धितयेति बुवाणस्य मेधातियेरपि बहुवचनपाटः संमतः । मुझाब-लाभे बाह्यणादीनां त्रयाणां यथाक्रमं कुशादिभिस्तृणविशेषैभेंखलाः कार्याः । त्रिगुणेनैकप्रन्थिना युक्तास्त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वा । अत्र च वाशव्दनिर्देशाद्वन्थीनां न विप्रादिभिः क्रमेण संबन्धः किंतु सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः । प्रन्थिभेदश्रायं मुख्यासुख्यापेक्षासंभवाद्वहीतव्यः ॥ ४३ ॥

## कार्पासम्रपवीतं स्याद्वित्रस्योध्वेष्टतं त्रिष्टत् । शणस्त्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४॥

कार्पासमिति ॥ यदीयविन्यासिवशेषस्रोपवीतसंज्ञां वस्यित तद्धमिंबाह्य-णस्य कार्पासम्, क्षत्रियस्य शणस्त्रमयम्, वैश्यस्य मेषलोमिनितम् । त्रिवृदिति त्रिगुणं कृत्वा अर्ध्ववृतं दक्षिणावर्तितम् । एतच सर्वत्र संबध्यते । यद्यपि गुणत्रयमेवोर्ध्ववृतं मनुनोक्तं तथापि तित्रगुणीकृत्याधोवृतं त्रिगुणं कार्यम् । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—'अर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् । त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको प्रनिथरिष्यते ॥' देवलोऽप्याह—'यज्ञोपवीतं कुर्वीत स्त्राणि नव तन्तवः'॥ ४४॥

## ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ । पैलबौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानईन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण इति ॥ यद्यपि द्वन्द्वनिर्देशेन समुचयावगमाद्वारणमपि समुचित-स्यैव प्राप्तं तथापि 'केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः' (२।४६) इति, तथा 'प्रतिगृद्धोप्सतं दण्डम्' (२।४८) इति विधावेकत्वस्य विवक्षितत्वात् 'बैठवः पालाशो वा दण्डः' इति वासिष्ठे विकल्पदर्शनादेकस्यैव दण्डस्य धारणविक-ल्पितयोरेवैकबाह्मणसंबन्धात्समुचयो द्वन्द्वेनानूद्यते । ब्राह्मणादयो विकल्पेन द्वौ द्वौ दण्डौ वक्ष्यमाणकार्ये कर्तुमहीन्त ॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः । ठलाटसंमितो राज्ञः स्यात्त नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥ केशान्तिक इति ॥ केशललाटनासिकापर्यन्तपरिमाणक्रमेण ब्राह्मणादीनां दण्डाः कर्तव्याः ॥ ४६ ॥

> ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरवणाः सौम्यदर्शनाः । अनुद्रेगकरा चृणां सत्वचोऽनिवद्षिताः ॥ ४७ ॥

ऋजव इति ॥ ते दण्डा अवणा अक्षताः शोमनदर्शनाः सवल्कला अग्नि-दाहरिहता भवेयुः ॥ ४७ ॥

न च तैः प्राणिजातमुद्देजनीयमित्याह—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम्रपस्थाय च भास्करम् । प्रदक्षिणं परीत्याप्तिं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

प्रतिगृहोप्सितमिति ॥ उक्तलक्षणं प्राप्तुमिष्टं दण्डं गृहीत्वा आदित्याभि-मुखं स्थित्वाप्तिं प्रदक्षिणीकृत्य यथाविधि भैक्षं याचेत् ॥ ४८ ॥

> मवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः । भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

भवदिति ॥ ब्राह्मणो 'भवति भिक्षां देहि' इति भवच्छब्दपूर्वं भिक्षां याचन् वाक्यमुचारयेत् । क्षत्रियो 'भिक्षां भवति देहि' इति भवन्मध्यम् । वैदयो 'भिक्षां देहि भवति' इति भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

> मातरं वा खसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्। भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्॥ ५०॥

मातरं वेति ॥ उपनयनाङ्गभूतां भिक्षां प्रथमं मातरं भिनीं ना मातुर्वा भिनीं सहोदरां यानेत् । या चैनं ब्रह्मचारिणं प्रत्याख्यानेन नैविमन्येत । पूर्वासंभव उत्तरापरिष्रहः ॥ ५० ॥

पाठा०—1 न विमानयेत्.

१ उपनीयमानस्य वटोः प्रथमे हि मैसे नावमानना युक्ता, अत प्वैतादृशं प्रति भिसेत यो होनं 'न दीयते' इत्यादिना नावमन्येत, येन वा द्वितीयं प्रति न याचेत ; यदुक्त-माश्रज्यनगृह्यस्त्रे (१।२२)—'अप्रत्याख्यायिनम्ये भिसेताऽप्रत्याख्यायिनीं वा' इति ।

## समाहत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया । निवेद्य गुरवेऽश्रीयादाचम्य प्राञ्जखः शुचिः ॥ ५१ ॥

समाहृत्येति ॥ तद्भैक्षं बहुभ्य भाह्त्य यावद्षं तृप्तिमात्रोचितं गुरवे निवेच निवेदनं कृत्वा अमायया न कद्शेन सद्शं प्रच्छाचैवमेतद्वर्र्ध्वहीष्यतीत्यादि-मायाच्यतिरेकेण तद्वुज्ञात आचमनं कृत्वा ग्रुचिः सन् प्राञ्जुखो भुक्षीत ५१

इदानीं काम्यभोजनमाह-

आयुष्यं प्राञ्जलो भुङ्के यशसं दक्षिणामुखः । त्रियं प्रत्यश्चलो भुङ्के ऋतं भुङ्के ह्युद्शुखः ॥ ५२ ॥

आयुष्यमिति ॥ भायुषे हितमन्नं प्राञ्जुको भुक्के । आयुःकामः प्राञ्जुको भुक्क इत्यर्थः । यशसे हितं दक्षिणामुन्तः । श्रियमिच्छन्प्रत्यञ्जुकः । ऋतं सत्यं तत्फरुमिच्छन्नुदञ्जुको भुक्षीत ॥ ५२ ॥

## उपस्पृत्रय द्विजो नित्यमत्रमद्यात्समाहितः । अक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३॥

उपस्पृश्येति ॥ 'निवेध गुरवेऽश्रीयःदाचम्य' (२१५१) इति यद्यपि भोजनात्त्रागाचमनं विहितं तथापि 'अद्भिः खानि च संस्पृशेत्' इति गुणविधानार्थोऽनुवादः । नितं ब्रह्मचर्यानन्तरमपि द्विज आचम्याश्चं भुज्ञीत । समाहितोऽनन्यमनाः भुन्तवा चाचामेदिति । सम्यग्यथाशास्त्रम् । तेन 'प्रक्षात्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिवेदम्बु वीक्षितम्' इत्यादि दक्षाद्यक्तमपि संगृद्धाति । जलेन खानीन्द्रियाणि षद छिद्राणि च स्पृशेत्, तानि च शिरःस्थानि प्राणचक्षुःश्रोत्रादिनि प्रहीतन्यानि । 'खानि चोपस्पृशेच्छीर्पण्यानि' इति गौतम्वचनात् । उपस्पर्शनं कृत्वा खानि संस्पृशेदिति पृथिविधानाश्चिरवमक्षणमात्रन्याचमनम्, खस्पर्शनादिकमितिकर्तव्यतेति दर्शितम् ॥ ५३ ॥

# पूजयेदशनं नित्यमद्याचैतदकुत्सयन् । दृष्ट्या हृष्येत्प्रसीदेच प्रतिनन्देच सर्वशः ॥ ५४ ॥

पूजयेद्शनमिति ॥ सर्वदा अत्रं पूजयेत्प्राणार्थत्वेन ध्रुयायेत् । तदुक्तमादिपुराणे-'अत्रं विष्णुः स्वयं प्राह' इत्यनुवृत्तौ 'श्राणार्थं मां सदा ध्यायेत्स मां
संपूजयेत्सदा । अनिन्दंश्चैतद्धासु दृष्ट्वा इच्येत् प्रसीदेश्च' इति । हेत्यन्तरमिष्
खेदमत्रदर्शने स्वजेत् । प्रतिनन्देत् नित्यमस्माक्षमेतद्दिः स्वत्यमिश्वाय वन्द्नं
प्रतिनन्दनम् । तदुक्तमादिपुराणे—'अत्रं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्चिः कथयेत्ततः।'
अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत् ॥' सर्वश्चः सर्वमन्नम् ॥ ५४ ॥

#### प्जितं द्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति । अपूजितं तु तुद्धक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

पूजितिमिति ॥ यसात्पूजितमश्चं सामर्थ्यं वीर्यं च ददाति, अपूजितं पुनरेतदुभयं नाशयतिः, तसात्सर्वदाऽत्रं पूजयेदिति पूर्वेणैकवाक्यतापन्नमिदं
फलश्रवणम् । संध्यावन्दनादावुपात्तदुरितक्षयवन्नित्यं कामनाविषयत्वेनापि
नित्यश्चितिरविहता नित्यश्चितिविरोधात् । फलश्रवणं स्तुत्यर्थमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ ५५॥

## नोच्छिष्टं कस्यचिद्द्यानाद्याचैव तथान्तरा । न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः कचिद्वजेत् ॥ ५६ ॥

नोच्छिष्टमिति ॥ अक्तावशेषं कस्यचित्र दद्यात् । चतुर्थ्यां प्राप्तायां संबन्ध-मात्रविवक्षया षष्टी । अनेनैव सामान्यनिषेवेन श्रद्वसाप्युच्छिष्टदाननिषेवे सिद्धे 'नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्' (४।८०) इति श्रद्धगोचरनिषेधश्चातुर्थस्वातकत्रत-त्वार्थः । दिवासायंभोजनयोश्च मध्ये न भुश्लीत, वारद्वयेऽप्यतिभोजनं न कुर्यात् । नातिसौहित्यमाचरेदिति चातुर्थस्वातकत्रतार्थम् । उच्छिष्टः सन् कवित्र गच्छेत् ॥ ५६॥

#### अतिभोजने दोषमाह-

## अनारोग्यमनायुष्यमखर्ग्यं चातिभोजनम् । अपुण्यं लोकविद्धिष्टं तसात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

अनारोग्यमिति ॥ अरोगो रोगाभावः, तस्मै हितमारोग्यम्, आयुषे हितमायुष्यम्। यसादितभोजनमनारोग्यमनायुष्यं च भवति,अजीर्णजनकत्वेन रोगमरणहेतुत्वात् । अस्वर्ग्यं च स्वर्गहेतुयागादिविरोधित्वात् । अपुण्य-मितरपुण्यप्रतिपक्षत्वात् । लोकविद्विष्टं बहुभोजितया लोकैर्निन्दनात् । तस्मात्तन कुर्यात् ॥ ५७॥

#### त्राक्षेण वित्रस्तीर्थेन नित्यकालग्रुपस्पृशेत् । कायत्रैद्शिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

ब्राह्मेणेति ॥ ब्राह्मोदिसंज्ञेयं शास्त्रे संज्यवहाराथीं स्तुत्यर्था च । नतु मुख्यं ब्रह्मदेवताकरवं संभवितः अयागरूपरवात् । 'तीर्थ'शब्दोऽपि पावनगुण-योगात् ब्राह्मेण तीर्थेन सर्वदा विप्रादिराचामेत् । कः प्रजापतिस्तदीयः कायः, 'तस्येदम्' (पा. ४।३।१२०) इत्यण् । इकारश्चान्तादेशः । त्रैदिशको देवस्ताभ्यां वा । पित्र्येण तु तीर्थेन न कदाचिदाचामेत् , अप्रसिद्धत्वात् ॥ ५८ ॥

ब्राह्यादितीर्थान्याह—

अङ्ग्रष्टमूलस्य तले बाह्यं तीर्थं प्रचक्षते । कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरघः ॥ ५९ ॥

अङ्कुष्टमूलस्येति॥ अङ्कष्टमूलस्याधोभागे बाह्मं, किनष्टाङ्किल्मूले कायम्, अञ्चलिनामये दैवं, अञ्चल्यदेशिन्योर्मध्ये पित्र्यं तीर्थं मन्वादय आहुः। यद्यपि कायमञ्जलिम्ले, तयोरध इत्यत्र चाङ्किलमात्रं श्चतं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेष-परिग्रहः। तथा च याज्ञवल्क्यः (२।१९)—'किनष्टादेशिन्यञ्जष्टमूलान्यग्रं करस्य च। प्रजापतिपितृबह्मदेवतीर्थान्यनुकमात्'॥ ५९॥

सामान्येनोपदिष्टस्याचमनस्यानुष्टानकममाह-

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमुज्यात्ततो मुखम् । खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

त्रिराचामेदिति ॥ पूर्वं ब्राह्मादितीथंन जलगण्डूषत्रयं पिवेत् । अनन्तरं संवृत्योष्टाधरौ वारद्वयमङ्ग्रष्टमूलेन संमृज्यात् । 'संवृत्याङ्ग्रष्टमूलेन द्विः प्रमृज्यात्तो मुखम्' इति दक्षेण विशेषाभिधानात् । खानि चेन्द्रियाणि जलेन स्पृशेत् । मुख्यस्य सिन्नधानान्मुखखान्येव । गौतमोऽप्याह—'खानि चोप-स्पृशेच्छीर्षण्यानि', 'ह्रद्यन्तज्योतिः पुरुषः' (वृद्दः ४।३।७) इत्युपनिषत्सु हृदयदेशत्वेनात्मनः श्रवणादात्मानं हृदयं शिरश्राद्विरेव स्पृशेत् ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् । शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुद्बुखः ॥ ६१ ॥

अनुष्णाभिरिति ॥ अनुष्णीकृताभिः फेनवर्जिताभिर्माह्यादितीर्थेन शौच-मिच्छन्नेकान्ते जनैरनाकीर्णे ग्रुचिदेश इत्यर्थः । प्राञ्चल उद्बुखो वा सर्वदा-चामेत् । आपल्लम्बेन 'तप्ताभिश्च कारणात्' इत्यभिधानाद्याध्यादिकारण-व्यतिरेकेण नाचामेत् । व्याध्यादौ तु उष्णीकृताभिरप्याचमने दोषाभावः । तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभाव इति द्शीयतुमुक्तस्यापि तीर्थस्य पुन-र्वचनम् ॥ ६१ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—

हृद्गाभिः प्यते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः । वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥ हृद्गाभिरिति ॥ ब्राह्मणो हृदयगामिनीभिः, क्षत्रियः कण्ठगामिनीभिः, वैश्योऽन्तरास्यप्रविद्याभिः कण्ठमप्राप्ताभिरिष, श्रृद्धो जिह्नौष्टान्तेनापि स्पृष्टा-भिरिद्धः पूतो भवति । अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः ॥ ६२ ॥ आचमनाङ्गतामुपवीतस्य दर्शयितुमुपवीतलक्षणं ततः प्रसङ्गेन प्राचीना-चीतीनिवीत्यादिलक्षणमाह—

> उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः । सच्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसञ्जने ॥ ६३ ॥

उद्धृते इति ॥ दक्षिणे पाणाबुद्धृते वामस्कन्धस्थिते दक्षिणस्कन्धावलम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे वोपवीती द्विजः कथ्यते । वामपाणाबुद्धृते दक्षिणस्कन्धस्थिते वामस्कन्धावलम्बे प्राचीनावीती भण्यते । सन्ये प्राचीनआवीतीति छन्दोऽजुरोधादुक्तम् । तथा च गोभिलः—'दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सन्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणस्कन्धमवलम्बनं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति' । सन्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सन्यं कक्षमवलम्बनं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति । निवीती कण्ठसज्जन इति । शिरोऽवधाय दक्षिणपण्यादावत्यनुद्धृते कण्ठादेव सज्जने ऋजुप्रालम्बे यज्ञसूत्रे वस्रे च निवीती भवति ॥ ६३ ॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् । अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मत्रवत् ॥ ६४ ॥

मेखलामिति ॥ मेखलादीनि विनष्टानि भिन्नानि छिन्नानि च जले प्रक्षि-प्यान्यानि स्वस्वगृह्योक्तमच्चेर्गृह्वीयात् ॥ ६४ ॥

> केशान्तः पोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोद्वीविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

केशान्त इति ॥ केशान्ताख्यो गृह्योक्तसंस्कारो 'गर्भादिसंख्या वर्षाणाम्' इति बौधायनवचनाद्गर्भषोडशे वर्षे बाह्यणस्य, क्षत्रियस्य गर्भद्वाविंशे, वैश्यस्य ततो द्यधिके गर्भचतुर्विंशे कर्तन्यः ॥ ६५ ॥

> अमित्रका तु कार्येयं स्त्रीणामादृद्शेषतः । संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाकमम् ॥ ६६ ॥

अमिन्नकेति ॥ इयमावृद्यं जातकर्मादिकियाकलापः समग्र उक्तकाल-क्रमेण शरीरसंस्कारार्थं स्नीणाममञ्जकः कार्यः ॥ ६६ ॥

**अनेनोपनयनेऽपि प्राप्ते विशेषमाह**—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां 'संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥ वैवाहिक इति ॥ विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनास्यो

मन्वादिभिः स्मृतः । पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययनरूपः । गृहकृत्यमेव सायंत्रातः समिद्धोमरूपोऽग्निपरिचर्या । तस्माद्विवाहृादेरुपनयनस्थाने विधा-नादुपनयनादेनिवृत्तिरिति ॥ ६७ ॥

> एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः । उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ।। ६८ ।।

एष इति ॥ औपनायनिक इत्यनुशतिकादित्वादुभयपदृष्ट्विः । अयं द्विजा-तीनामुपनयनसंबन्धी कर्मकलाप उक्तः उत्पत्तेद्वितीयजन्मनो व्यक्षकः ॥६८॥

इदानीमुपनीतस्य येन कर्मणा योगस्तं श्रणुतेत्याह-

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः । आचारमिकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

उपनीय गुरुरिति ॥ गुरुः शिष्यमुपनीय प्रथमं 'एका लिङ्गे गुदे तिस्तः' (५।१३६) इत्यादिवक्ष्यमाणं शौचं स्नानाचमनाद्याचारमञ्जो सायंप्रातः समिद्रोमानुष्ठानं समञ्रकसंध्योपासनविधि च शिक्षयेत् ॥ ६९॥

, अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रप्रदश्चुखः । . ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

अध्येष्यमाण इति ॥ अध्ययनं करिष्यमाणः शिष्यो यथाशास्त्रं कृताचमनं उत्तराभिमुखः कृताञ्जलिः पवित्रवस्तः कृतेन्द्रियसंयमो गुरुणाऽध्याप्यः । प्राञ्चुः खो दक्षिणतः शिष्य उद्बुखो वा' इति गौतमवचनात्प्राञ्चुखस्याप्यध्ययनम् । ब्रह्माञ्जलिकृत इति 'वाहितास्यादिषु' (पा.२।२।३७) इत्यनेन 'कृत'शडद्स्य परनिपातः ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्मौ गुरोः सदा । संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्पृतः ॥ ७१ ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने चेति ॥ वेदाध्ययनस्यारम्भे कर्तव्ये समापने च कृते गुरोः पादोपसंत्रहणं कर्तव्यम्। इस्तौ संहत्य संश्विष्टौ कृत्वाऽध्येतव्यम्। 'स हि ब्रह्माआिटः स्मृतः' इति पूर्वश्लोकोक्त'ब्रह्माआिट'शब्दार्थव्याकारः॥ ७१॥

व्यत्यस्तपणिना कार्यम्रुपसंग्रहणं गुरोः।

सन्येन सन्यः स्प्रष्टन्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥ यत्यस्तपाणिनेति ॥ पादोपसंग्रहणं कार्यसिन्यन्तरसम्बं कार्यसम्बन्धाः

च्यत्यस्तपाणिनेति ॥ पादोपसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तं तद्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति विधीयते । कीदशो व्यत्यासः कार्य इत्यत भाह—सन्येन पाणिना सन्यः पादो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः पादो गुरोः स्प्रष्टन्यः । उत्तान-इस्ताभ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यस् । यदाह पैठीनसिः—'उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सन्यं सन्येन पादावभिवाद्येत् । दक्षिणोपरिभावेन न्यत्यासो वायं शिष्टसमानारात्'॥ ७२॥

> अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः । अधीष्व भो इति ब्र्याद्विरामोऽस्त्वित चारमेत् ॥ ७३॥

अध्येष्यमाणमिति ॥ अध्ययनं करिष्यमाणं शिष्यं सर्वदा अनलसी गुरु। 'अधीष्व भोः' इति प्रथमं वदेत् । शेषे 'विरामोऽस्तु' इत्यभिधाय विरमे-न्निवर्तेत ॥ ७३ ॥

> त्रक्षणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा । सवत्यनोङ्कतं पूर्वे पुरस्ताच विज्ञीर्यति ॥ ७४ ॥

त्रह्मणः प्रणविमिति ॥ ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भे अध्ययनसमाप्तौ चोड्कारं कुर्यात् । यसात्पूर्वं यस्योङ्कारो न कृतस्तत्स्ववित शनैः शनैर्नेश्यति, यस्य पुरस्तात्र कृतस्तद्विशीर्यति अवस्थितिमेव न लभते ॥ ७४ ॥

> प्राक्तानपर्श्वपासीनः पवित्रैश्चैत्र पावितः । प्राणायामेस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥ ७५ ॥

प्राकृतानिति ॥ प्राकृतान्त्रागमान्दर्भानध्यासीनः पवित्रैः कुशैः करद्वयसौः पवित्रीकृतः 'प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्राः' (१।४९) इति गौतमस्तरणात्पञ्च-दशमात्रीस्त्रिमः प्राणायामैः प्रयतः । अकारादिलव्यक्षरकालश्च मात्रा । ततो-ऽध्ययनार्थमोङ्कारमईति ॥ ७५ ॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयानिरदृहद्भुधेवः खरितीति च ॥ ७६ ॥

अकारं चेति ॥ 'एतदक्षरमेतां च' (२।४४) इति वक्ष्यति तस्यायं शेषः । अकारमुकारं मकारं च प्रणवावयवभूतं ब्रह्मा वेदत्रयाद्ययञ्जःसामस्क्रभणाज्यः भ्रेवःस्वरिति न्याहतित्रयं च क्रमेण निरदुहदुद्भववान् ॥ ७६ ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदृदुहत् । तदित्युचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७॥

त्रिभ्य एवेति ॥ तथा त्रिभ्य एव वेदेभ्य ऋग्यज्ञःसामभ्यः तदिस्यृष इति प्रतीकेनान्दितायाः साविज्याः पादं पादमिति त्रीन्पादान् ब्रह्मा चक्कं । परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी ॥ ७७ ॥

यत एवमतः--

#### एतदक्षरमेतां च जपन्त्र्याहृतिपूर्विकाम् । संघ्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

एतद्श्वरमिति ॥ एतद्श्वरमोङ्काररूपम्, एतां च त्रिपदां सावित्रीं व्याहृतित्रयप्विकां संध्याकाले जपन्वेदज्ञो विप्रादिवेदत्रयाध्ययनपुण्येन युक्तो भवति । अतः संध्याकाले प्रणवन्याहृतित्रयोपेतां सावित्रीं जपेदिति विधिः कल्प्यते ॥ ७८ ॥

#### सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतित्रकं द्विजः । महतोऽप्येनसो मासान्वचेत्राहिर्विग्रुच्यते ॥ ७९ ॥

सहस्रकृत्व इति ॥ संध्यायामन्यत्र काल एतत्प्रकृतं प्रणवन्याहृतित्रय-सावित्र्यात्मकं त्रिकं प्रामाद्वहिनंदीतीरारण्यादौ सहस्रावृत्तिं जिपत्वा महत्तोऽपि पापात्सपं इव कञ्जकान्मुच्यते । तस्मात्पापक्षयार्थमिदं जपनीयमित्यप्रकरणे-ऽपि लाघवार्थमुक्तम् । अन्यत्रतत्रयोचारणमपि पुनः कर्तव्यं स्यात् ॥ ७९ ॥

## एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रिययो खया । ब्रह्मश्रियविद्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

एतयर्चेति ॥ संध्यायामन्यत्र समय ऋचैतया साविष्या विसंयुक्तस्यक्त-सावित्रीजपः स्वकीयया क्रियया सायंत्रातर्होमादिरूपया स्वकाले त्यक्तो बाह्यणः क्षत्रियो वैश्योऽपि सज्जनेषु निन्दां गच्छति । तसात्स्वकाले सावित्री-जपं स्वक्रियां च न त्यजेत् ॥ ८० ॥

#### ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महान्याहृतयोऽन्ययाः । त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं त्रक्षणो मुखम् ॥ ८१ ॥

ओङ्कारपूर्विका इति ॥ ओङ्कारपूर्विकासिस्रो व्याहतयो भूर्श्वेवःस्वरित्येता अक्षरब्रह्मावाप्तिफल्केवनाव्ययाः । त्रिपदा च सावित्री ब्रह्मणो वेदस्य मुख-माद्यम् । तत्पूर्वकवेदाध्ययनारम्भात् । अथवा ब्रह्मणः परमात्मनः प्राप्तेद्वरि-मेतत् । अध्ययनजपादिना निष्पापस्य ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण-मोक्षावाप्तेः ॥ ८१ ॥

वत प्वाइ--

## योऽघीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः । स त्रह्म परमभ्येति वायुभृतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

योऽधीत इति ॥ यः प्रत्यहमनलसः सन्सावित्रीं प्रणवन्याहृतियुक्तां वर्ष-त्रयमधीते स परं ब्रह्माभिमुखेन गच्छति । स वायुभूतो वायुरिव कामचारी जायते । सं ब्रह्म तदेवास्य मूर्तिरिति खमूर्तिमान् भवति शरीरस्यापि नाशा-इह्येव संपद्यते ॥ ८२ ॥

> एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः। साविज्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥ ८३॥

एकाक्षरमिति ॥ एकाक्षरमोङ्कारः परं ब्रह्म, परब्रह्मावासिहेतुत्वात् । ओङ्का-रस्य जपेन तदर्थस्य च परब्रह्मणो भावनया तदवासेः । प्राणायामाः सप्रणव-सन्याहृतिसशिरस्कगायत्रीभिक्तिरावृत्तिभिः कृताश्चान्द्रायणादिभ्योऽपि परं तपः । प्राणायामा इति बहुवचननिर्देशाश्चयोऽवश्यं कर्तन्या इत्युक्तम् । साविन्याः प्रकृष्टमन्यनमञ्जातं नास्ति । मौनादपि सत्यं वाग्विशिष्यते । एषां चतुर्णां सतुत्या चत्वायेतान्युपासनीयानीति विधिः कल्प्यते । धरणीधरेण तु 'एकाक्षरपरं ब्रह्म प्राणायामपरं तपः' इति पठितं, न्याख्यातं च-एकाक्षरं परं यस्य तदेकाक्षरपरम्, एवं प्राणायामपरमिति । 'मेधातिथिप्रभृतिभिर्वृद्धैर-लिखितं यतः । लिखनपाठान्तरं तत्र स्वतन्नो धरणीधरः' ॥ ८३ ॥

> क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जहोति-यजतिक्रियाः । अक्षरं त्वेक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

क्षरन्तीति ॥ सर्वा वेदविहिता होमयागादिरूपाः कियाः खरूपतः फल-तश्च विनश्यन्ति । अक्षरं तु प्रणवरूपमक्षयं ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्फलद्वारेणाक्षरं ब्रह्मीभावस्याविनाशात् । कथमस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वमत आह—ब्रह्म चैवेति । चशब्दो हेतौ । यस्माय्प्रजानामधिपतिर्यद्गस्य तदेवायमोङ्कारः । स्वरूपतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन चास्य ब्रह्मत्वम् । उभयथापि ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वेन वाय-मुपासितो जपकाले मोक्षहेतुरिस्यनेन दर्शितम् ॥ ८४ ॥

विधियज्ञाजपयज्ञो विशिष्टो दश्मिर्गुणैः।

उपांञ्जः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

विधियशादिति ॥ विधिविषयो यज्ञो विधियज्ञो दर्शपौर्णमासादिस्तसा-त्प्रकृतानां प्रणवादीनां जपयज्ञो दशगुणाधिकः । सोऽप्युपां अश्वेदनुष्ठितस्तदाः शतगुणाधिकः । यत्समीपस्थोऽपि परो न श्रणोति तदुपां गुः । मानसस्तु जपः सहस्रगुणाधिकः । यत्र जिद्धोष्टं मनागपि न चलति स मानसः ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्रत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नाहीन्त पोडशीम् ॥ ८६ ॥

ये पाकयज्ञा इति ॥ ब्रह्मयज्ञादन्ये ये पश्चमहायज्ञान्तर्गता वैश्वदेवहोम-

पाठा०—1 दुष्करं.

१ पञ्चमहायज्ञास्तु गारुडे (अ. ११५) भोक्ताः—'अध्यापनं महायज्ञः पितृयज्ञस्तुः तर्पणम् । होमो दैवो बलिभोतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्' इति ।

बिछकमेनित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाश्रत्वारः पाकयज्ञाः विधियज्ञा दर्शपौर्ण-मासादयसैः सहिता जपयज्ञस्य षोडशीमपि कलां न प्राप्नुवन्ति । जपयज्ञस्य षोडशांशेनापि न समा इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

## जप्येनैव तु संसिध्येद्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

जण्येनेवृति ॥ ब्राह्मणो जण्येनेव निःसंदेहां सिद्धिं लभते मोक्षप्राप्तियोग्यो भवति । अन्यद्वैदिकं यागादिकं करोतु न करोतु वा । यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणो ब्रह्मणः संबन्धी ब्रह्मणि लीयत इत्यागमेषूच्यते । मित्रमेव मैत्रः । स्वार्थेऽण् । यागादिषु पद्मवीजादिवधान्न सर्वप्राणिप्रियता संभवति, तस्माद्यागादिना विनापि प्रणवादिजपनिष्ठो निस्तरतीति जपप्रशंसा, न तु यागादीनां निषेध-स्तेषामपि शास्त्रीयत्वात् ॥ ८७ ॥

इदानीं सर्ववर्णानुष्ठेयं सकलपुरुषार्थोपयुक्तमिन्द्रियसंयममाह-

## इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु । संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

इन्द्रियाणामिति ॥ इन्द्रियाणां विषयेष्वपहरणशीलेषु वर्तमानानां क्षियित्वादिविषयदोषाञ्जानन् संयमे यतं क्रुर्यात्सारिथिरिव स्थिनयुक्तानाम-श्वानाम् ॥ ८८ ॥

## एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः । तानि सम्यक्त्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

एकाद्रोति ॥ पूर्वपण्डिता यान्येकाद्रशेन्द्रियाण्याहुस्तान्यर्वाचां शिक्षार्थं सर्वाणि कर्मतो नामतश्च कमाह्रस्यामि ॥ ८९ ॥

## श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पश्चमी। पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता॥ ९०॥

श्रोत्रमिति ॥ तेष्वेकादशसु श्रोत्रादीनि दशैतानि बहिरिन्दियाणि नामतो निर्दिष्टानि। पायूपस्यं हस्तपादमिति 'द्वन्द्वश्च प्राणित्यंसेनाङ्गानाम्' (पा. २१४।२) इति प्राण्यङ्गद्वनद्वत्वादेकवद्गावः॥ ९०॥

## बुद्धीन्द्रियाणि पञ्जेषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः । कर्मेन्द्रियाणि पञ्जेषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

बुद्धीन्द्रियाणीति ॥ एषां दशानां मध्ये श्रोत्रादीनि पञ्च क्रमोक्तानि बुद्धेः करणत्वाहुद्धीन्द्रयाणि । पाय्वादीनि चोत्सर्गादिकर्मकरणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तद्विदो वदन्ति ॥ ९१ ॥

#### एकादशं मनो झेयं खगुणेनोभयात्मकम् । यसिञ्जिते जितावेतौ भवतः पश्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

एकाद्शमिति ॥ एकादशसंख्यापूरकं च मनोरूपमन्तरिन्द्रियं ज्ञातव्यम् । स्वगुणेन संकल्परूपेणोभयरूपेन्द्रियगणप्रवर्तकस्वरूपम् । अत एव यस्मिन्मनिस् जिते उभाविप पञ्चको बुद्धीन्द्रियकमेन्द्रियगणौ जितौ भवतः । पञ्चकाविति 'तदस्य परिमाणम्' (पा. ५।१।५७) इत्यनुवृत्तौ 'संख्यायाः संज्ञासङ्खसूत्रा-ध्ययनेषु' (पा. ५।१।५८) इति पञ्चसंख्यापरिमितसङ्घार्थे कः ॥ ९२ ॥

मनोधर्मसंकल्पमूलत्वादिन्द्रियाणां प्रायेण प्रवृत्तेः किमर्थमिन्द्रियनिप्रहः कर्तव्य हत्यत आह—

#### इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् । संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

इन्द्रियाणामिति ॥ यसादिन्द्रियाणां विषयेषु प्रसत्तया दृष्टादृष्टं च दोषं निःसंदेहं प्राप्तोति । तान्येव पुनिरिन्द्रियाणि सम्यङ्गियम्य सिद्धं मोक्षादि-पुरुषार्थयोग्यतारूपां रूभते । तसादिन्द्रियसंयमं कुर्यादिति शेषः ॥ ९३ ॥

किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेरलब्धकामो निवर्त्सतीत्याशक्क्याह—

#### न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवत्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

न जात्विति ॥ न कदाचित्कामोऽभिलाषः काम्यन्त इति कामा विषया-स्तेषामुपभोगेन निवर्तते, किंतु घृतेनागिरिवाधिकाधिकतममेव वर्धते । प्राप्त-भोगत्यापि प्रतिदिनं तद्धिकभोगवाञ्छादर्शनात् । अत एव विष्णुपुराणे ययातिवाक्यम्—'यत्पृथिव्यां वीहियवं हिरण्यं पश्चाः स्त्रियः । एकत्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत् ॥' तथा—'पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः । तथाप्यनुदिनं नृष्णा यत्तेष्वेव हि जायते'॥ ९४ ॥

## यश्रैतान्त्राष्ट्रयात्सर्वान् यश्रैतान्केवलांस्त्यजेत् । प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

यश्चेतानिति ॥ य एतान्सर्वान्विषयान्प्राप्त्रयात्, यश्चेतान्कामानुपेक्षते, तयोर्विषयोपेक्षकः श्रेयान्; तस्मात्सर्वकामप्राप्तेसत्तुपेक्षा प्रशस्ता । तथा हि—
विषयलोल्जपस्य तत्साधनाद्यत्पादने कष्टसंभवो विपत्ती च क्रेशातिशयो नतुः
विषयविरसस्य ॥ ९५ ॥

इदानीमिन्द्रियसंयमोपायमाह— न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया । विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

न तथेति ॥ एतानीनिद्रयाणि विषयेषु प्रसक्तानि तथा नासेवया विषय-सिक्किथिवर्जनरूपया नियन्तुं न शक्यन्ते, दुर्निवारत्वात् । यथा सर्वदा विषयाणां क्षियित्वादिदोषज्ञानेन शरीरस्य च 'अस्थिस्थूणम्' (६।७६) इत्यादिवश्य-माणदोषचिन्तनेन । तस्माद्विषयदोषज्ञानादिना बहिरिनिद्रयाणि मनश्च निय-च्छेत् ॥ ९६ ॥

यसाद्नियमितं मनो विकारस्य हेतुः स्यादत आह—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च । न विप्रदृष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

वेदा इति ॥ वेदाध्ययनदानयज्ञनियमतपांसि भोगादिविषयसेवासंकल्प-श्रीलिनो न कदाचित्फलसिद्धये प्रभवन्ति ॥ ९७ ॥

जितेन्द्रियस्य स्वरूपमाह—

श्चत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च श्चक्त्वा घात्वा च यो नरः । न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

श्रुत्वेति ॥ स्तुतिवाक्यं निन्दावाक्यं च श्रुत्वा, सुखस्पर्शं दुक्लादि, दुःख-स्पर्शं मेषकम्बलादि स्पृष्ट्वा, सुरूपं कुरूपं च दृष्ट्वा, स्वादु अस्वादु च सुक्त्वा, सुरभिमसुरभिं च घात्वा, यस्य न हर्षविषादौ स जितेन्द्रियो ज्ञातब्यः ॥९८॥

एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यत इत्याह—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

इन्द्रियाणां त्विति ॥ सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्ये यद्येकमपीन्द्रियं विषय-प्रवणं भवति ततोऽस्य विषयपरस्य इन्द्रियान्तरैरिप तत्त्वज्ञानं क्षरित न व्यव-तिष्ठते । चर्मनिर्मितोदकपात्राद्विकेनापि छिद्रेण सर्वस्थानस्थमेवोदकं न व्यवतिष्ठते ॥ ९९ ॥

हिन्द्रयसंयमस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां दर्शयति— त्रशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा । सर्वान्संसाधयेदथीनक्षिण्वन् योगतस्ततुम् ॥ १००॥

वशे कृत्वेति ॥ बहिरिन्द्रियगणमायत्तं कृत्वा मनश्च संपन्य सर्वान्युस्वा-र्यान् सम्यक्साधयेत् । योगत उपायेन स्वदेहमपीडयन्यः सहजसुखी संस्कृ-ताबादिकं सुक्के स क्रमेण तं स्वजेत् ॥ १०० ॥

## पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्ड्कदर्शनात्। पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१॥

पूर्वी संध्यामिति ॥ पूर्वी संध्यां पश्चिमामिति च । 'कालाध्वनोरत्यन्त-संयोगे' (पा. २।३।५ ) इति द्वितीया । प्रथमसंध्यां सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीं जपंसिष्ठेत् । श्वासनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे कुर्यात् । पश्चिमां तु संध्यां सावित्रीं जपन्सम्यङ्कक्षत्रदर्शनपर्यन्तमुप्विष्टः स्थात् । अत्र च फळवत्त्वाजपः प्रधानं, स्थानासने त्वङ्गे । 'फळवत्सिक्षिधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात् । 'संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते' । (२।७८) 'सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य' (२।७९) इति पूर्वं जपात्फलमुक्तम् । मेधातिथिस्तु स्थानासनयोरेव प्राधान्यमाह । संध्याकालश्च मुहूर्तमात्रम् । तदाह योगियाज्ञवल्क्यः—'हासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाकमम् । संध्या मुहूर्तमात्रं तु हासे वृद्धौ च सा स्मृता' ॥ १०१ ॥

## पूर्वी संध्यां जपंस्तिष्ठनैशमेनो व्यपोहति ।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥ पूर्वी संध्यामिति ॥ पूर्वसंध्यायां तिष्ठन् जपं कुर्वाणो निशासंचितं पाप

नाशयति । पश्चिमसंध्यायां त्पविष्टो जपं कुर्वन्दिवार्जितं पापं निहन्ति । तत्रापि जपारफलमुक्तम् । एतचाज्ञानादिकृतपापनिषयम् । अत एव याज्ञ-वल्क्यः—'दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत् । त्रिकालसंध्याकरणा-क्तसर्वं विप्रणश्यति' ॥ १०२ ॥

#### न तिष्ठति तु या पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स श्रुद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्माद्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥

न तिष्ठतीति ॥ यः पुनः पूर्वसंध्यां नानुतिष्ठति पश्चिमां च नोपास्ते । तत्तत्कालविहितं जपादि न करोतीत्वर्थः । स शूद्ध इव सर्वसाद्विजातिकर्म-णोऽतिथिसस्कारादेरिप बाद्यः कार्यः । अनेनैव प्रत्यवायेन संध्योपासनस्य नित्यतोक्ता । नित्यत्वेऽपि सर्वदापेक्षितपापक्षयस्य फलत्वमविरुद्धम् ॥ १०३ ॥

#### अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः । सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

अपां समीप इति ॥ ब्रह्मयज्ञरूपमिदं बहुवेदाध्ययनाशक्तौ सावित्री-मात्राध्ययनमपि विधीयते । अरण्यादिनिर्जनदेशं गत्वा नद्यादिजलसमीपे नियतेन्द्रियः समाहितोऽनन्यमना नैत्यकं विधि ब्रह्मयज्ञरूपमास्थितोऽनुतिष्टासुः सावित्रीमपि प्रणवन्याहृतित्रयसुतां यथोक्तामधीयीत ॥ १०४ ॥

[अध्यायः र

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके । नाजुरोघोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

वेदोपकरण इति ॥ वेदोपकरणे वेदाङ्गे शिक्षादौ नैत्यके नित्यानुष्ठेये च स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञरूपे होममञ्जेषु चानध्यायादरो नास्ति ॥ १०५ ॥

> नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् । ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

नैत्यक इति ॥ पूर्वोक्तनैसकस्वाध्यायस्यायमनुवादः । नैसके जपयज्ञेऽन-ध्यायो नास्ति । यतः सततभवत्वात् । ब्रह्मसत्रं तन्मन्वादिभिः स्मृतम् । ब्रह्मैवाहुतिर्वह्माहुतिर्विस्तस्यां हुतमनध्यायाध्ययनमध्ययनरूपमनध्यायवषद्द-कृतमिष पुण्यमेव भवति ॥ १०६ ॥

यः खाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः । तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दिध घृतं मधु ॥ १०७ ॥

यः स्वाध्यायमिति ॥ अब्दमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । यो वर्षमप्येकं स्वाध्यायमहरहर्विहिताङ्गयुक्तं नियतेन्द्रियः प्रयतो जपित तस्यैव स्वाध्यायो जपयज्ञः क्षीरादीनि क्षरति क्षीरादिभिर्देवान्पित्यं प्रीणाति । ते च प्रीताः सर्वकामेजपयज्ञकारिणस्तर्पयन्तीत्यर्थः । अत एव याज्ञवल्क्यः (२१४१)—'मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयद्विज्ञः । पितृन्मधुष्टताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम् ॥' इत्युपक्रम्य चतुर्णामेव वेदानां पुराणानां जपस्य च । देवपितृतृप्तिफलमुक्त्वा शेषे 'ते तृक्षास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः ज्ञुमैः' (या. स्मृ. २१४७) इत्युक्तवान् ॥ १०७॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोहितम् । आ समावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

अग्नीन्धनमिति ॥ सायंप्रातः समिद्धोमं, भिक्षासमूहाहरणं, भखद्वाशयन-रूपामधःशय्यां नतु स्थण्डिलशायित्वमेव, गुरोरुद्ककुम्भाषाहरणरूपं हितं कृतोपनयनो ब्रह्मचारी समावर्तनपर्यन्तं कुर्यात् ॥ १०८ ॥

कीदशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह—

आचार्यपुत्रः ग्रुश्रुषुर्ज्ञानदो धार्मिकः ग्रुचिः । आप्तः क्रकोऽर्थदः साधुः स्त्रोऽप्याप्या दश्च धर्मतः १०९

आचार्यपुत्र इति ॥ आचार्यपुत्रः, परिचारकः, ज्ञानान्तरदाता, धर्म-वित्, मृद्वार्यादिषु श्रुषिः, बान्धवः प्रहणधारणसमर्थः, धनदाता, हितेष्छुः, ज्ञातिः, दुशैते धर्मणाध्याप्याः ॥ १०९ ॥

#### नापृष्टः कस्यचिद्यात्र चान्यायेन पृच्छतः । जानत्रपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

नापृष्ट इति ॥ यदन्येनाल्पाक्षरं विस्तरं चाधीतं तस्य तस्त्वं न वदेत् । शिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तन्यम् । भक्तिश्रद्धादिशक्षधर्मोक्षञ्चनमन्यायः, तेन पृच्छतो न बूयात् । जानन्नपि हि प्राज्ञो लोके मूक इव व्यवहरेत् ॥ ११०॥

उक्तप्रतिषेधद्वयातिक्रमे दोषमाह—

अधर्मेण च यः प्राह यश्राधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥

अधर्मेणेति ॥ अधर्मेण पृष्टोऽपि यो यस्य वदति यश्चान्यायेन यं पृच्छति तयोरन्यतरो न्यतिक्रमकारी स्रियते, विद्वेषं वा तेन सह गच्छति ॥ १११ ॥

> धर्मार्थौ यत्र न स्थातां शुश्रुषा वापि तद्विधा । तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

धर्मार्थाविति ॥ यस्मिन् शिष्येऽध्यापिते धर्मार्थों न भवतः परिचर्या वाध्य-यनानुरूपा तत्र विद्या नार्पणीया । सुष्ठु ब्रीह्मादिबीजमिनोषरे । यत्र बीजमुसं न प्ररोहति स ऊषरः । न चार्थब्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयम्, यद्येता-वन्मसं दीयते तदैतावद्ध्यापयामीति नियमाभावात् ॥ ११२ ॥

> विद्ययेव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना । आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

विद्ययेति ॥ विद्ययेव सह वेदाध्यापकेन वरं मर्तन्यं नतु सर्वथाध्यापन-योग्यशिष्याभावे चापात्रायेव तां प्रतिपादयेत् । तथा च छान्दोग्यवात्रणम् 'विद्यया सार्थं स्रियेत न विद्यामुष्रं वपेत्' ॥ ११३ ॥

अस्यानुवादमाह-

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेविधेष्टिङ्सि रक्ष माम् । अस्यकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

विद्या ब्राह्मणमिति ॥ विद्याधिष्ठात्री देवता कंचिद्ध्यापकं ब्राह्मणमाग-स्वैवमवदत् 'तवाहं निधिरस्मि । मां रक्ष । अस्यकादिदोषवते न मां वदेः । तथा सस्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम्' । तथा च छान्दोग्यबाह्मणम्-'विद्या ह वे ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालय, अनर्हते मानिने नैय मादाः, गोपाय मां, श्रेयसी तथाहमस्मि' इति ॥ ११४ ॥

#### यमेव तु शुचिं विद्यानियतं ब्रह्मचारिणम् । तसै मां बृहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥

यमेवेति ॥ यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि तसौ विद्यारूपनिधिरक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद् ॥ ११५ ॥

> ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्रुयात् । स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

ब्रह्मेति ॥ यः पुनरभ्यासार्थमधीयानादन्यं वा कंचिद्ध्यापयतस्तद्वुमित-रहितं वेदं गृह्णाति स वेदस्तेययुक्तो नरकं गच्छति तस्मादेतन्न कर्तव्यम् ११६

> लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च । आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमिमवादयेत ॥ ११७॥

लौकिकमिति ॥ लौकिकमर्थशास्त्रादिज्ञानं, वैदिकं वेदार्थज्ञानं, आध्या-त्मिकं ब्रह्मज्ञानं, यसातु गृह्णाति तं बहुमान्यमध्ये स्थितं प्रथममभिवादयेत् । लौकिकादिज्ञानदादणामेव त्रयाणां समवाये यथोत्तरं मान्यत्वम् ॥ ११७॥

> सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः । नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८॥

सावित्रीति ॥ सावित्रीमात्रवेत्तापि वरं सुयन्नितः शास्त्रतियमितो वित्रा-दिर्मान्यः, नायन्नितो वेदत्रयवेत्तापि निषिद्धभोजनादिशीलः प्रतिषिद्धविक्रेता च । एतच प्रदर्शनमात्रम् । 'सुयन्नित'शब्देन विधिनिषेधनिष्ठत्वस्य विविक्षत-त्वात् ॥ ११८ ॥

> शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् । शय्यासनस्यश्रेवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

शञ्चेति ॥ शञ्चा चासनं च शञ्चासनं 'जातिरप्राणिनाम्' (पा.२।४।६) इति द्वन्द्वेकवद्गावः । तसिञ्छ्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुरुणा चाध्याचरिते साधारण्येन स्वीकृते च तत्कालमपि नासीत । स्वयं च शञ्चासनस्थो गुरा-नागते उत्थायाभिवादनं कुर्यात् ॥ ११९॥

मसार्थवादमाह—

ऊर्ध्व प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥ ऊर्ध्वमिति ॥ यस्माधूनोऽल्पवयसो वयोविद्यादिना स्थविरे सायति साग- च्छति सति प्राणा अर्थे उत्कामन्ति देहाह्नहिनिर्गन्तुमिष्छन्ति तान्वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनः सुस्थानकरोति । तसाद्वृद्धस्य प्रत्युत्थायाभिवादनं कुर्यात् ॥ १२० ॥

इतश्च फलमाइ---

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः । चत्वारि संप्रविधन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ १२१॥ अभिवादनशीलस्येति ॥ उत्थाय सर्वदा वृद्धाभिवादनशीलस्य वृद्ध-सेविनश्च शायु:-प्रज्ञा-यशो-बलानि चत्वारि सम्यक् प्रकर्षेण वर्धन्ते ॥ १२१॥

संप्रत्यभिवादनविधिमाह-

अभिवादात्परं वित्रो ज्यायांसमभिवाद्यन् ।

असी नामाहमसीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥ अभिवादात्पर्मिति ॥ वृद्धमिनादयन् विप्रादिरभिनादात्परं 'अभिवाद्ये' इति शब्दोचारणानन्तरम् 'अमुकनामाहमस्मि' इति स्वं नाम परिकीर्तयेत् । अतो नामशब्दस्य विशेषपरत्वात्स्वनामविशेषोचारणानन्तरमभिनादनवानये नामशब्दोऽपि प्रयोज्य इति मेधातिथि—गोविन्दराजयोरभिधानमप्रमाणम् । अत एव गौतमः—(६।१) 'स्वनाम प्रोच्याहमभिनाद्य इत्यभिनदेत्'। साङ्क्ष्यायनोऽपि 'असावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेत्' इत्युक्तवान् । यदि च नामशब्दश्रवणान्तस्य प्रयोगस्तद् । 'अकारश्रास्य नास्रोऽन्ते' (२।१२५) इत्यभिधानात्प्रत्यभिनवादनवानये नामशब्दोचारणं स्वात्न च तत्कस्यचित्संमतम् ॥ १२२॥

नामधेयस्य ये केचिदिभवादं न जानते । तान्त्राज्ञोऽहमिति ब्र्यात्स्त्रियः सर्वास्तथेव च ॥ १२३॥

नामध्यस्येति ॥ नामध्यस्य उचारितस्य सतो ये केचिद्भिवाद्याः संस्कृतानिभज्ञतयाभिवाद्मभिवादार्थं न जानन्ति तान्प्रत्यभिवादनेऽप्यसमर्थत्वान्त्राज्ञ इत्यभिवाद्यक्षितिज्ञोऽभिवाद्यिता 'अभिवाद्येऽहम्' इत्येवं ब्यात् । स्थियः सर्वास्त्रथेव ब्रुयात् ॥ १२३ ॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते खस्य नास्रोऽभिवादने । नाम्नां खरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४॥

भोःशब्द्मिति ॥ अभिवादने यज्ञाम प्रयुक्तं तस्यान्ते मोःशब्दं कीर्तेयेद-भिवाद्यसंबोधनार्थम् । अत एवाह—नाम्नामिति ॥ भो इत्यस्य यो भावः सत्ता सोऽभिवाद्यनामां स्वरूपभाष ऋषिभिः स्मृतः । तस्मादिवममिवादन-वाक्यम् 'अभिवादये ग्रुभशमहिमस्मि मोः' ॥ १२४ ॥

पाठा०—1 तस्य वर्षन्ते. 2 आयुर्षमीं.

#### आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने । अकारश्रास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाश्वरः प्रुतः॥ १२५॥

आयुष्मानिति ॥ अभिवादने कृते प्रत्यभिवादियत्रा अभिवादको विप्रादिः 'भायुष्मान्भव सौम्य' इति वाच्यः । भस्य चाभिवादकस्य यन्नाम तस्यान्ते योऽकारादिः खरो नाम्नामकारान्तत्वनियमाभावात्स प्रतः कार्यः । स्वरापेक्षं चेदकारान्तत्वं व्यक्षनान्तेऽपि नाम्नि संभवति । पूर्वं नामगतमक्षरं संश्विष्टं यस्य स पूर्वाक्षरस्तेन नागन्तुरपकृष्य चाकारादिः स्वरः प्रुतः कार्यः । एतच 'वान्यस देः द्वुत उदात्तः' (८।२।८२) इत्यसानुवृत्तौ 'प्रसमिवादेऽश्रृहे' (८।२।८३) इति क्षुतं सारन्पाणिनिः स्फुटमुक्तवान् । ब्याख्यातं च वृत्तिकृता वामनेन-- 'टेरिति किम्, व्यक्षनान्तस्यैव टेः प्रुतो यथा स्यात्' इति । तस्मा-दीदशं प्रत्यभिवादनवाक्यं 'आयुष्मान्भव सौम्य शुभशर्मन्', एवं श्रत्रियस्य 'बलवर्मन्', एवं वैश्यस्य 'वसुभूते'। 'ड्रुतो राजन्यविशां वा' ( वा. ४८६५ ) इति कालायनवचनाःक्षत्रियवैश्ययोः पक्षे ह्रतो न भवति । शुद्धस्य ह्रतो न कार्यः, '-अशूद्धे' (८।२।८३ ) इति पाणिनिवचनात् । 'स्रियामपि निषेधः' ( वा. ४८६४ ) इति कालायनवचनात्म्मियामपि प्रत्यभिवादनवाक्ये न प्रुतः। गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणस्य नाम्नि शर्मोपपदं नित्यं प्रागभिधाय प्रत्यभिवादन-वाक्ये 'बायुष्मान् भव सौम्य भद्र' इति निरुपपदोदाहरणसोपपदोदाहर-णानभिज्ञत्वमेव निजं ज्ञापयति । घरणीधरोऽपि 'श्रायुष्मान् भव सौम्य' इति संबुद्धिविभक्त्यन्तं मनुवचनं परयन्नप्यसंबुद्धिप्रथमैकवचनान्तममुकशर्मेत्यु-दाहरन्विचक्षणैरप्युपेक्षणीय एव ॥ १२५ ॥

## यो न वैत्त्यभिवादस्य विष्ठः प्रत्यभिवादनम् । नाभिवाद्यः स विदुषा यथा श्रूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

यो न वेत्तीति ॥ यो विप्रोऽभिवादनसानुरूपं प्रत्यभिवादनं न जानात्य-सावभिवादनविदुषापि स्वनामोचारणाद्यक्तविधिना शूद्ध इव नाभिवाद्यः । 'अभिवादयेऽहम्' इति शब्दोचारणमात्रं तु चरणग्रहणादिशून्यमनिषिद्धम् । प्रागुक्तत्वात् ॥ १२६ ॥

## त्राह्मणं कुशलं प्रच्छेत्क्षत्रवन्धुमनामयम् । वैदयं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७॥

ब्राह्मणमिति ॥ समागम्य समागमे कृते भभिवादयमवरवयस्कं समान-वयस्कमनभिवादकमि ब्राह्मणं कुशलं, अन्नियमनामयं, वैद्दयं क्षेमं, श्रद्गमारोग्यं प्रच्छेत् । अत एवापसम्बः—'कुशलमवरवयसं समान-वयसं वा विश्रं प्रच्छेत् , अनामयं क्षत्रियं क्षेमं वैद्दयं आरोग्यं श्रूद्रम् । अवरवयसमभिवादकं वयस्यमनभिवादकमपी'ति मन्वर्थमेवापसम्बः स्फुट- यति सः । गोविन्दराजस्तु प्रकरणाद्यस्यिवादकस्यैव कुशलादिप्रश्नमाह । तम्भः भभिवादकेन सह समागमस्यानुप्राप्तत्वात् । समागम्येति निष्प्रयोजना-नुवादप्रसङ्गात् । भतः कुशलक्षेमशब्दयोरनामयारोग्यपदयोश्च समामार्थत्वा-च्छब्दविशेषोचारणमेव विवक्षितम् ॥ १२७ ॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्। भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित्॥ १२८॥.

अवाच्य इति ॥ प्रत्यभिवादनकाले अन्यदा च दीक्षणीयातः प्रसृत्यावसृथ-स्नानात्किनिष्ठोऽपि दीक्षितो नाम्ना न वाच्यः, किंतु भोभवच्छव्दपूर्वकं दीक्षि-तादिशब्दैरुत्कर्षाभिधायिभिरेव धार्मिकोऽभिभाषेत—'भो दीक्षित, इदं कुरु, भवता यजमानेन इदं कियताम्' इति ॥ १२८ ॥

> परपत्नी तु या स्त्री स्याद्संबन्धा च योनितः । तां त्र्याद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

परपत्नी त्विति ॥ या स्त्री परपत्नी भवति, असंबन्धा च योनित इति स्वस्नादिने भवति तामनुपयुक्तसंभाषणकाले 'भवति, सुभगे, भगिनि' इति वा वदेत् । 'परपत्नी' प्रहणात् कन्यायां नैष विधिः। स्वसुः कन्यादेस्तु 'आयुष्मती'-स्वादिपदेरभिभाषणम् ॥ १२९ ॥

मातुलांश्व पितृच्यांश्व श्वज्ञुरानृत्विजो गुरून् । असावहमिति त्र्यात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

मातुलांश्चेति ॥ मातुलादीनागतान्कनिष्ठानासनादुत्थाय 'असावहस्' इति वदेत् नाभिवादयेत् । असाविति स्वनामनिर्देशः, 'भृयिष्ठाः खलु गुरवः' इत्युपक्रम्य ज्ञानबृद्धतपोबृद्धयोरिप हारीतेन गुरुत्वकीर्तनात्तयोश्च कनिष्ठयो-रिप संभवात्तिद्विषयोऽयं 'गुरु'शब्दः ॥ १३० ॥

> मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा । संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

मातृष्वसेति ॥ मातृष्वस्नादयो गुरुपत्नीवत्प्रत्युत्थानाभिवादनासनदाना-दिभिः संपूज्याः । अभिवादनप्रकरणादिभवादनमेव संपूजनं विज्ञायत इति समास्ता इत्यवीचत् । गुरुभार्यासमानत्वात्प्रत्युत्थानादिकमपि कार्यमित्यर्थः ॥

आतुर्भायोपसंत्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि । वित्रोष्य तूपसंत्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोपितः ॥ १३२ ॥ आतुर्भार्येति ॥ आतुः सजातीया भार्या ज्येष्ठा पूजावकरणाहुपसंत्राह्या

पाठा०-1 असंबद्धा.

६ म० स्मृ०

पादयोरिमवाद्या । अहन्यहिन प्रत्यहमेव । अपिरेवार्थे । ज्ञातयः पितृपक्षाः पितृन्यादयः, संबन्धिनो मातृपक्षाः श्रञ्जरादयश्च, तेषां पत्यः पुनिर्विप्रोष्य प्रवासाध्यत्यागतेनैवाभिवाद्याः, न तु प्रत्यहं नियमः ॥ १३२ ॥

## पितुर्भगिन्यां मातुश्र ज्यायसां च खसर्थपि । मातृबद्धृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

पितुर्भगिन्यामिति ॥ पितुर्मातुश्च भगिन्यां ज्येष्टायां चात्मनो भगिन्यां मातृबद्धत्तमातिष्टेत् । माता पुनस्ताभ्यो गुरुतमा । नतु 'मातृष्वसा मातुलानी' (२।१३१) इस्पनेनैव गुरुपलीवत्पूज्यत्वमुक्तं किमधिकमनेन बोध्यते ? उच्यते-इदमेव 'माता ताभ्यो गरीयसी' इति । तेन पितृष्वस्नातुज्ञायां दत्तायां मात्रा च विरोधे मातुराज्ञाऽनुष्टेयेति; अथवा पूर्वं पितृष्वस्नादेर्मातृवत्पूज्य-त्वमुक्तम् । अनेन तु स्नेहादिवृत्तिरप्यतिदिश्यत इत्यपुनरुक्तिः ॥ १३३ ॥

## दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पश्चाब्दाख्यं कलाभृताम् । ज्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां खल्पेनापि खयोनिषु ॥ १३४॥

द्शाब्दाख्यमिति ॥ दश अब्दा आख्या यस्य तद्दशाब्दाख्यं पौरसख्यम् । अयमर्थः-एकपुरवासिनां वक्ष्यमाणविद्यादिगुणरहितानामेकस्य दशभिरव्दैज्येष्ठत्वे सत्यपि सख्यमाख्यायते । 'पुर'ग्रहणं प्रदर्शनार्थं, तेनैकग्रामादिनिवासिनामपि स्यात् । गीतादिकलाभिज्ञानां पञ्चवर्षपर्यन्तं सख्यं, श्रोत्रियाणां
ज्यब्दपर्यन्तं, सपिण्डेष्वत्यन्ताल्पेनैव कालेन सह सख्यम् । अपिरेवार्थे ।
सर्वत्रोक्तकालादृर्ध्वं ज्येष्ठव्यवहारः ॥ १३४ ॥

#### त्राह्मणं दश्चवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् । पितापुत्री विजानीयाद्वाह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

ब्राह्मणमिति ॥ दशवर्षं ब्राह्मणं, शतवर्षं पुनः क्षत्रियं पितापुत्रौ विजा-नीयात् । तयोर्मध्ये दशवर्षोऽपि ब्राह्मण एव क्षत्रियस्य शतवर्षस्यापि पिता । तसात्पितृवदसौ तस्य मान्यः ॥ १३५ ॥

## वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पश्चमी । एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

वित्तमिति ॥ वित्तं न्यायार्जितं धनं, बन्धः पितृन्यादिः, वयोऽधिकवय-स्कता, कर्मे श्रोतं सार्तं च, विद्या वेदार्थतत्त्वज्ञानं, एतानि पञ्च मान्यत्वका-रणानि । एषां मध्ये यद्यदुत्तरं तत्तत्पूर्वसाच्छ्रेष्ठमिति बहुमान्यमेळके बला-बलमुक्तम् ॥ १३६ ॥

#### पश्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च । यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शुद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७॥

पश्चानामिति ॥ त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र पुरुषे पूर्वमप्यनेकं भवति स एवोत्तरसादिष मान्यः । तेन वित्तवन्धुयुक्तो वयोधिकान्मान्यः । एवं वित्तादित्रययुक्तः कर्मवतो मान्यः । वित्तादिचतुष्टय-युक्तो विदुषो मान्यः । गुणवन्ति चेति प्रकर्षवन्ति । तेन द्वयोरेव विद्यादिसत्त्वे प्रकर्षो मानहेतुः । ग्रुद्भोऽपि दशमीमवस्थां नवत्यधिकां गतो द्विजन्मनामपि मानार्दः । शतवर्षाणां दशधा विभागे दशस्यवस्था नवत्यधिका भवति १३७

अयमपि पूजाप्रकारः प्रसङ्गादुच्यते-

चित्रणो दशमीस्थस रोगिणो भारिणः स्नियाः। स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८॥

चिकिण इति ॥ चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य, नवत्यधिकवयसः, रोगार्तस्य, भारपीडितस्य, स्त्रियाः, अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य, देशाधिपस्य, विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्रक्तव्यः । त्यागार्थत्वाच ददातेर्न चतुर्थो ॥ १३८ ॥

> तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ । राजस्नातकयोश्चेव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

तेषामिति ॥ तेषामेकत्र मिलितानां देशाधिपस्नातको मान्यो । राजस्नात-कयोरिप स्नातक एव राजापेक्षया मान्यः । अतो 'राज'शब्दोऽत्र पूर्वश्लोके न केवलजातिवचनः । क्षत्रियजात्यपेक्षया 'ब्राह्मणं दशवर्षं तु' (२।१३५) इत्यनेन ब्राह्मणमात्रस्य मान्यत्वाभिधानात् स्नातकप्रहणवैयर्थ्याच ॥ १३९॥

माचार्यादिशब्दार्थमाह--

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

उपनीयिति ॥ तैः शब्दैरिह शास्त्रे प्रायो व्यवहारात् । यो बाह्मणः शिष्य-मुपनीय कल्परहस्यसृद्धितां वेदशासां सर्वामध्यापयित तमाचार्यं पूर्वे मुनयो वदन्ति । कल्पो यज्ञविद्या, रहस्यमुपनिषत् । वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्य-विवक्षया पृथक्षिदेशः ॥ १४० ॥

> एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः । योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

एकदेशमिति ॥ वेदस्यैकदेशं मध्रं बाह्मणं च वेदरहितानि व्याकरणादी-म्यङ्गानि यो वृत्त्यर्थमध्यापयति स उपाध्याय उच्यते ॥ १४१ ॥

#### निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । संभावयति चान्नेन स विष्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

निषेकादीनीति ॥ निषेको गर्भाधानं, तेन पितुर्यं गुरुत्वोपदेशः । गर्भा-धानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथाशास्त्रं यः करोति, अञ्चेन च संवर्धयति स विश्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

## अध्याधेयं पाक्यज्ञानप्रिष्टोमादिकान्मखान् ।

यः करोति इतो यस स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

अर्याधेयमिति ॥ भाहवनीयाद्यस्यादकं कर्मास्याधेयं, अष्टकादी-न्पाकयज्ञान्, अभिष्टोमादीन्यज्ञान्कृतवरणो यस्य करोति स तस्यर्तिगिह् साक्षेऽभिधीयते । ब्रह्मचारिधर्मेष्वनुपयुक्तमप्यृत्विग्लक्षणमाचार्यादिवद्दत्वि-जोऽपि मान्यत्वं दर्शयितुं प्रसङ्गादुक्तम् ॥ १४३ ॥

## य आर्रुणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।

स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्वह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥ य आवृणोतीति ॥ य उभौ कणौं अवितथितित वर्णस्वरवैगुण्यरहितेन सत्यरूपेण वेदेनाप्रयित स माता पिता च होयः । महोपकारकत्वगुणयोगा-दयमध्यापको 'माता-पिनृ'शब्दवाच्यस्तं नापकुर्यात् । कदाचनेति गृहीते वेदे ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता । सहस्रं तु पिदन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

उपाध्यायानिति ॥ दशोपाध्यायानपेक्ष्य आचार्यः, आचार्यशतमपेक्ष्यः पिता, सहस्रं पितृनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिक्ता भवति । अत्रोपनयनपूर्वक-सावित्रीमात्राध्यापिता आचार्योऽभिमेतः, तमपेक्ष्य पितृरुत्कर्षः। 'उत्पादक-ऋत्वात्रोः' (२।१४६) इत्यनेन मुख्याचार्यस्य पितरमपेक्ष्योत्कर्षं वक्ष्यतीत्य-विरोधः॥ १४५॥

## उत्पादकत्रहादात्रोर्गरीयान्त्रहादः पिता ।

त्रसजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्चतम् ॥ १४६ ॥ उत्पादकेति ॥ जनकाचार्यों द्वावि पितरों । जनमदातृत्वात् । तयोराचार्यः पिता गुरुतरः । यसाद्विप्रस्य ब्रह्मप्रहणार्थं जन्मोपनयनसंस्काररूपं जन्म परलोके इहलोके च शाश्चतं नित्यम् । ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात् ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः । संभूति तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७॥ कामादिति ॥ मातापितरौ यदेनं बालकं कामवद्येनान्योन्यमुत्पादयतः संभवमात्रं तत्तस्य पश्चादिसाधारणम् । यद्योनौ मानुकुक्षाविभजायतेऽङ्ग-प्रत्यङ्गानि रुभते ॥ १४७ ॥

> आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः । उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥ १४८॥

आचार्य इति ॥ भाचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यजन्म विधिवत्सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकसावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जातिः सत्या भजरामरा च । ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात् । उपनयनपूर्वकस्य वेदाध्ययन-तद्र्यज्ञानानुष्टानैर्निकामस्य मोक्षलाभात् ॥ १४८ ॥

> अर्ल्प वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः। तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपिक्रयया तया ॥ १४९ ॥

अर्ह्प वेति ॥ श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः । उपाध्यायो यस्य शिष्यस्यार्ह्णं वा बहु वा कृत्वा श्रुतेनोपकरोति तमपीह शास्त्रे तस्य गुरुं जानीयात् । श्रुत-मेवोपिकिया, तया श्रुतोपिकयया ॥ १४९ ॥

> ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता । बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५०॥

ब्राह्मस्पेति ॥ ब्रह्मश्रवणार्थं जन्म ब्राह्ममुपनयनम् । स्वधर्मस्य शासिता वेदार्थव्याख्याता तादशोऽपि बालो वृद्धस्य ज्येष्टस्य पिता भवति । धर्मत इति पितृधर्मास्त्रसिम्बनुष्टातव्याः ॥ १५० ॥

प्रकृतानुरूपार्थवादमाह-

अध्यापयामास पिवृञ्ज्ञिज्ञुराङ्गिरसः कविः । पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अध्यापयामासेति ॥ अङ्गिरसः पुत्रो बालः कविर्विद्वान् पिद्वन्गौणान् पितृच्यतःपुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापितवान् । ताञ्ज्ञानेन परिगृह्य शिष्या-न्कृत्वा 'पुत्रकाः' इति आजुहाव। इतिह इत्यन्ययं पुरावृत्तसूचनार्थम् ॥३५९॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।

देवाश्रेतान्समेत्योचुन्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥
ते तमर्थमपृच्छन्तेति॥ते पितृतुच्याः 'पुत्रकाः' इत्युक्ता अनेन जातक्रोधाः
'पुत्रक'शब्दार्थं देवानपृष्टवन्तः । देवाश्र पृष्टा मिलित्वा एतानवोचन्-युष्मान्यिष्छद्यः 'पुत्र'शब्देनोक्तवांस्त्युक्तम् ॥ १५२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्नदः । अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्नदम् ॥ १५३॥

अज्ञ इति ॥ वैशब्दोऽवधारणे । अज्ञ एव बालो भवति न त्वल्पवयाः । मन्नदः पिता भवति । 'मन्न'ग्रहणं वेदोपलक्षणार्थम् । यो वेदमध्यापयति ब्याचष्टे स पिता । अन्नैव हेतुमाह—यस्मात्पूर्वेऽपि मुनयोऽज्ञं वालमित्यूचुः, मन्नदं च पितेलेवान्चवित्त्याह ॥ १५३ ॥

न हायनैर्न पिलतेर्न वित्तेन न बन्धुभिः।

ऋषयश्रिकरे धर्म योऽनुचानः स नो महान्॥ १५४॥

न हायनैरिति ॥ न बहुभिर्वर्षैः, न केशस्मश्रुलोमभिः शुक्कैः, न बहुना धनेन, न पितृन्यत्वादिभिर्बन्धुभावैः, समुदितैरप्येतैर्न महस्वं भवति, किंतु ऋषय इमं धर्म कृतवन्तः। यः साङ्गवेदाध्येता सोऽस्माकं महान् संमतः॥ १५४॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठयं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः । वैक्यानां धान्यधनतः ऋद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

विप्राणामिति ॥ बाह्मणानां विद्यया, क्षत्रियाणां पुनवींर्येण, वैश्यानां धान्यवस्तादिधनेन, श्रूद्राणामेव पुनर्जन्मना श्रेष्टत्वम् । सर्वत्र तृतीयार्थे तसिः ॥ १५५ ॥

न तेन दृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।

यो वे युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥ न तेनेति ॥ न तेन बृद्धो भवति येनास्य शुक्रकेशं शिरः किंतु युवापि सन् यो विद्वांसं देवाः स्थविरं जानन्ति ॥ १५६ ॥

> यथा काष्ट्रमयो हस्ती यथा चर्ममयो सृगः। यश्च विप्रोऽनधीयानस्रयस्ते नाम विश्रति ॥ १५७॥

यथा काष्ट्रमय इति ॥ यथा काष्ट्रघटितो हस्ती, यथा चर्मनिर्मितो मृगः, यश्च वित्रो नाधीते, त्रय एते नाममात्रं द्रधति, नतु हस्त्यादिकार्यं शश्चवधा-दिकं कर्तुं क्षमन्ते ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्तीषु यथा गौर्गवि चाफला । यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८॥

यथा षण्ड इति ॥ यथा नषुंसकः कीषु निक्तलः, यथा च स्नीगवी गन्यामेव निक्तला, सभा चान्ने दानमफलं, तथा अस्त्रकोऽन्यनश्रीयानो विक्तलः श्रीतसार्वक्रमान्देत्तवा तत्फलरहितः ॥ ३५८ ॥

## अहिंसयैव भूतानां कार्य श्रेयोनुशासनम्।

वाक्चैव मधुरा श्रक्ष्णा प्रयोज्या घर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

अहिंसयैवेति ॥ भूतानां शिष्याणां प्रकरणाच्छ्रेयोर्थमनुशासनमनित-हिंसया कर्वव्यम्, 'रज्वा वेणुद्छेन वा' ( ८।९९ ) इत्यल्पहिंसाया अभ्यनु-ज्ञानात् । वाणी मधुरा प्रीतिजननी श्रक्ष्णा या नोचैरुच्यते सा शिष्य-शिक्षायै धर्मबुद्धिमिच्छता प्रयोक्तन्या ॥ १५९ ॥

इदानीं पुरुषमात्रस्य फुळं धर्म वाङ्मनःसंयममाह—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा । स वै सर्वमवामोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

यस्येति ॥ अध्यापयितुरेव यस्य वाज्ञनश्चोभयं शुद्धं भवति, वागनृता-दिभिरदृष्टा, मनश्च रागद्वेषादिभिरदृषितं भवति, एते वाज्यनसी निषिद्ध-विषयप्रकरणे सर्वदा यस्य पुंसः सुरक्षिते भवतः, स वेदान्तेऽवगतं सर्वं फलं सर्वज्ञत्वं सर्वेज्ञानादिरूपं मोक्षलाभादवामोति ॥ १६० ॥

> नारुंतदः स्यादातींऽपि न परद्रोहकर्मधीः। ययास्योद्विजते वाचाऽनालोक्यां ताम्रदीयेत् ॥ १६१ ॥

नारुंतद इति ॥ अयमपि पुरुषमात्रस्येव धर्मो नाध्यापकस्य । आर्तः पीडितोऽपि नारुंतुदः स्यान मर्मपीडाकरं तत्त्वदूषणमुदाहरेत् । तथा परस्य द्रोहोऽपकारस्तदर्थं कर्म बुद्धिश्च न कर्तव्या। तथा यया वाचाऽस्य परो व्यथते तां मर्मस्पृशमनालोक्यां स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिनीं न वदेत ॥ १६१ ॥

> संमानाह्राह्मणो नित्यमुद्धिजेत विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्केदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

संमानादिति ॥ ब्राह्मणः संमानाद्विषादिव सर्वदोद्विजेत संमाने प्रीति न कुर्यात् । अमृतस्येव सर्वसाञ्चोकादवमानस्याकाङ्क्षेत्, अवमाने परेण कृतेऽपि श्रमावांसत्र खेदं न कुर्यात् । मानावमानद्वन्द्वसहिष्णुत्वमनेन विधीयते ॥ १६२ ॥

अवमानसहिष्णुत्वे हेतुमाइ—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते । सुखं चरति लोकेऽसिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

सुखं ह्यवमतः शेत इति ॥ यसादवमाने परेण कृते तत्र खेदमकुर्वाणः

सुखं निद्राति । अन्यथाऽवमानदुःखेन दद्यमानः कथं निद्रां लभते । कथं च सुखं प्रतिबुध्यते । प्रतिबुद्धश्र कथं सुखं कार्येषु चरति । अवमानकर्ता तेन पापेन विनद्दयति ॥ १६३ ॥

#### अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः । गुरौ वसन्संचितुयाद्वह्याधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

अनेनेति ॥ अनेन क्रमकथितोपायेन जातकर्मादिनोपनयनपर्यन्तेन संस्कृतो द्विजो गुरुकुले वसन् शनैरत्वरया वेदग्रहणार्थं तपोऽभिहिताभिधास्यमानिन-यमकलापरूपमनुतिष्ठेत् । विध्यन्तरसिद्धस्याप्ययमर्थवादोऽध्ययनाङ्गत्वबोध-नाय ॥ १६४ ॥

अध्ययनाङ्गत्वमेव स्पष्टयति--

#### तपोविशेषैर्विविधैर्त्रतेश्च विधिचोदितैः । वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तन्यः सरहस्रो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

तपोविशेषेरिति ॥ तपोविशेषेनियमकलापैविविधेर्बहुप्रकारैश्च 'अध्येष्य-माणस्त्वाचान्तः' (२।७०) इत्यादिनोक्तेः, 'सेवेतेमांस्तु नियमान्' (२।१७५) इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणरिप, वतिश्चोपनिषन्महानाश्चिकादिभिर्विधिचोदितैः स्वगृद्ध-विहितैः समप्रवेदो मञ्जबाह्मणात्मकः सोपनिषत्कोऽप्यध्येतन्यः। रहस्यमुप-निषदः। प्राधान्यस्यापनाय पृथक्षिरेशः॥ १६५॥

#### वेदमेव सदाभ्यस्रेत्तपस्तप्सिन्द्वजोत्तमः । वेदाभ्यासो हि विष्रस्य तपः परिमहोच्यते ॥ १६६ ॥

वेद्मेवेति ॥ यत्र नियमानामङ्गलमुक्तं तत्कृत्सस्वाध्यायाध्ययनमनेन विधत्ते । तपस्तप्संश्ररिष्यन्द्विजो वेदमेव प्रहणार्थमावर्तयेत् । तसाद्वेदाभ्यास एव विधादेरिष्ट् लोके प्रकृष्टं तपो मुनिभिरभिधीयते ॥ १६६ ॥

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः । यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते खाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७॥

आ हैवेति ॥ स्वाध्यायाध्ययनस्तुतिरियम् । हृश्व्दः परमशब्द्विहित-स्थापि प्रकर्षस्य सूचकः । स द्विज मा नखाग्रेभ्य एव चरणनखपर्यन्तं सर्व-देहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते । यः स्वव्यपि कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते । स्वव्यपीत्यनेन वेदाध्ययनाय ब्रह्मचारिनियम-स्यागमपि स्तुत्यर्थं दर्शयति । तप्यत इति 'तपस्तपःकर्मकस्यैव' (पा. ३।१।८८) इति यगारमनेपदे भवतः ॥ १६७ ॥

#### योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शुद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

योऽनधीत्येति ॥ यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नाति-श्रयं करोति स जीवन्नेव पुत्रपौत्रादिसहितः शीघं श्रद्भत्वं गच्छति । वेदमन-धीत्यापि स्मृतिवेदाङ्गाध्ययने विरोधाभावः। अत एव शङ्क-लिखितौ-'न वेद-मनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः' ॥ १६८ ॥

द्विजानां तत्र तत्राधिकारश्चतेद्विजत्वनिरूपणार्थमाह-

## मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौज्जिबन्धने । तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

मातुरम्र इति ॥ मातुः सकाशादादौ पुरुषस्य जन्म । द्वितीयं मौञ्जिब-न्धने उपनयने । 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुल्स्' (पा. ६।३।६३) इति हस्तः; तृतीयं ज्योतिष्टोमादियज्ञदीक्षायां वेदश्रवणात् । तथा च श्चितिः 'पुनर्वा यद्दिक्जो यज्ञियं कुर्वन्ति यदीक्षयन्ति' इति । प्रथमद्वितीयतृतीय-जन्मकथनं चेदं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थं, द्विजस्येव यज्ञदीक्षायामण्यधिकारात् १६९

#### तत्र यद्रह्मजन्मास्य माँझीवन्धनचिह्नितम् । तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

तत्रेति ॥ तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये यदेतद्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनसंस्कार-रूपं मेखलाबन्धनोपलक्षितं तत्रास्य माणवकस्य सावित्री माता, आचार्यश्र पिता, मातृपितृसंपाद्यत्वाजनमनः ॥ १७० ॥

#### वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते । न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौज्जिबन्धनात ॥ १७१॥

वेदप्रदानादिति ॥ वेदाध्यापनादाचार्यं पितरं मन्वादयो वदन्ति । पितृ-वन्महोपकारफलाद्गौणं पितृत्वम् । महोपकारमेव दर्शयति – सास्मिक्षिति । यसादसिन्माणवके प्रागुपनयनान्धिनिक्कमे श्रौतं सार्तं च न संबध्यते, न तत्राधिकियत इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

#### नाभिन्याहारयेद्वस स्वधानिनयनाहते । शुद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

नाभिन्याहारयेदिति ॥ भामौक्षिवन्धनादित्यनुवर्तते । प्रागुपनयनाहेदं नोषारयेत् । 'स्वधा'शब्देन श्राह्ममुच्यते । निनीयते निष्पाद्यते येन मञ्जजातेन तह्रजीयित्वा मृतपितृको नवश्राद्धादौ मन्नं नोचारयेत् । तद्यतिरिक्तं वेदं नोदा-हरेत् । यसाद्यावहेदे न जायते तावदसौ शूद्रेण तुल्यः ॥ १७२ ॥

#### कृतोपनयनस्थास्य त्रतादेशनमिष्यते । त्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

कृतोपनयनस्येति ॥ यसादस्य माणवकस्य 'समिधमाधेहि' ( गृ. स. ११२२१६ ) 'दिवा मा स्वाप्सीः' ( गृ. स. १।२२।२ ) इत्यादिवतादेशनं वेद-स्याध्ययनं मञ्जवाद्यणक्रमेण 'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः' (२।७०) इत्यादिविधि-पूर्वकमुपनीतस्योपदिश्यते, तस्मादुपनयनात्पूर्वं न वेदमुदाहरेत् ॥ १७३ ॥

> यद्यस्य विहितं चर्म यत्स्त्रं या च मेखला । यो दण्डो यच वसनं तत्तदस्य त्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

यद्यस्पेति ॥ यस ब्रह्मचारिणो यानि चर्मसूत्रमेखलादण्डवस्राण्युपनयन-काले गृह्येण विहितानि, गोदानादिवतेष्वपि तान्येव नवानि कर्तव्यानि ॥१७४॥

> सेवेतेमांस्तु नियमान्त्रह्मचारी गुरौ वसन् । सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोष्टद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

सेवेतेति ॥ ब्रह्मचारी गुरुसमीपे वसन्निन्द्रियसंयमं कृत्वानुगतादृष्टवृज्यर्थ-मिमान्नियमाननुतिष्ठेत् ॥ १७५ ॥

> नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्यादेविषिपृतर्पणम् । देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

नित्यमिति ॥ प्रत्यहं स्नात्वा देविषिपितृभ्य उदकदानं, प्रतिमादिषु हरि-हरादिदेवपूजनं, सायंप्रातश्च समिद्धोमं कुर्यात् । यस्तु गौतमीये स्नानिषेषो ब्रह्मचारिणः स सुखस्नानिषयः । अत एव बौधायनः (२१३८)—'नाप्सु स्नाधमानः स्नायात्' । विष्णुनात्र-'कालद्वयमभिषेकाञ्चिकार्यकरणमप्सु, दण्डवनमज्जनम्' हति ब्रवाणेन वारद्वयं स्नानसुपदिष्टम् ॥ १७६॥

> वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्रियः । छक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥

वर्जयेदिति ॥ क्षोदं मांसं च न खादेत् । गन्धं च कर्ष्रचन्दनकस्त्रि-कादि वर्जयेत् । एषां च गन्धानां यथासंभवं भक्षणमनुष्ठेपनं च निषिद्धम् । माल्यं च न धारयेत् । उदिक्तरसांख्र गुडादीच खादेत् । ख्रियश्च नोपेयात् । यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि काल्वदोनोद्कवासादिना चाम्लयन्ति तानि खुक्तानि न खादेत् । प्राणिनां हिंसां न दुर्यात् ॥ १७७ ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं त्रं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् । कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८॥ अभ्यङ्गमिति ॥ वैकादिना शिरःसहितदेहमर्दनकक्षणं, कजकादिभिश्र चक्षुषोरञ्जनं, पादुकायाद्र इस्र च धारणं, कामं मैथुनातिरिक्तविषयाभिला-षातिरायम् । मैथुनस्य स्त्रिय इस्रनेनैव निषिद्धत्वात् । कोधलोभनृत्यगीत-बीणापणवादि वर्जयेत् ॥ १७८॥

> द्युतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् । स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भम्रपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

द्यूतं चेति ॥ अक्षकीडां, जनैः सह निरर्थकवाक्रलहं, परस्य दोषवादं, मृषाभिधानं, श्वीणां च मैथुनेच्छया सानुरागेण प्रेक्षणालिङ्गनं, परस्य चापकारं वर्जयेत् ॥ १७९ ॥

> एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् । कामाद्धि स्कन्दयनरेतो हिनस्ति त्रतमात्मनः ॥ १८०॥

एक इति ॥ सर्वत्र नीचशय्यादावेकाकी शयनं कुर्यात् । इच्छया न स्वशुक्रं पातयेत् । यसादिच्छया स्वमेहनाच्छुकं पातयन्स्वकीयव्रतं नाशयति । व्रतलोपे चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ १८० ॥

> स्त्रमे सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः । स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

स्वप्न इति ॥ ब्रह्मचारी स्वमादावनिच्छया रेतः सिक्त्वा कृतस्नानश्चन्द-नाद्यनुरुपनपुष्पभूषादिभिः सूर्यमभ्यर्च्य 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' (आश्व. गृ. ३।६) इत्येतामृचं वारत्रयं पठेत् । इदमत्र प्रायश्चित्तम् ॥ १८१ ॥

> उदकुम्भं सुमनसो गोशकुन्मृत्तिकाकुशान् । आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

उद्कुरभिति॥ जलकलशपुष्पगोमयमृत्तिकाक्तशान् यावद्थानि यावद्धिः प्रयोजनानि आचार्यस्य तावन्त्याचार्याथमाहरेत् । अत एवोद्कुरभित्यत्रैक-त्वमप्यविवक्षितम् । प्रदर्शनं चैतत् । अन्यद्प्याचार्योपयुक्तमुपाहरेदेशं च प्रत्यहमर्जयेत् ॥ १८२॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां खक्मंसु।

ब्रह्मचार्याहरेद्भेशं गृहेम्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥ विदयन्नेरिति ॥ वेदयन्नैश्रालकानां स्वकर्मस दक्षाणां गृहेम्यः प्रलाहं ब्रह्म-

चद्यक्षारात ॥ वदयज्ञश्चात्यकाना स्वक्रमसु दक्षाणा गृहभ्यः प्रत्यह चारी सिद्धान्नभिक्षासमृहमाहरेत् ॥ १८३ ॥

पाठा०-1 प्रेक्षणालंभावुप.

१ बहाचारिणा कीणां प्रेक्षणालम्भने वर्जयितच्ये इत्युक्तं गौतनेनापि 'क्रिप्रिक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम्' (गौ. स्ट. २।१६ ) इत्यादिना ।

#### गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलवन्धुषु । अलामे त्वन्यगेहानां पूर्व पूर्व विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

गुरोः कुल इति ॥ भाचार्यस्य सपिण्डेषु, बन्धुषु, मातुलादिषु च न भिक्षेत । तदृह्व्यतिरिक्तभिक्षायोग्यगृहाभावे चोक्तेभ्यः पूर्व पूर्व वर्जयेत् । तदश्च प्रथमं बन्धृन्भिक्षेत, तत्रालाभे ज्ञातीन्, तत्रालाभे गुरोरपि ज्ञातीन्भिक्षेत ॥१८४॥

### सर्वं वापि चरेद्वामं पूर्वोक्तानामसंभवे । नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

सर्वे विति ॥ पूर्वे 'वेदयञ्चेरहीनानाम्' (२११८३) इत्यनेनोक्तानामसंभवे सर्वे वा, ग्राममुक्तगुणरहितमपि शुनिमोंनी भिन्नेत । महापातकाद्यभिशक्तां-स्राजेत् ॥ १८५ ॥

#### द्रादाहृत्य समिधः संनिद्ध्याद्विहायसि । सायंत्रातश्च छुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

दूरादिति ॥ दूराहिग्भ्यः परिगृहीतवृक्षेभ्यः समिध आनीय आकाशे धारणाशकः पटलादौ स्थापयेत् । ताभिश्र समिद्धिः सायंप्रातरनले होमं कुर्यात् ॥ १८६ ॥

## अकृत्वा भैक्षचरणमसिमध्य च पावकम् । अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णित्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

अकृत्वेति ॥ भिक्षाहारं, सायंत्रातः समिद्धोमं, अरोगो नैरन्तर्थेण सप्त-रात्रमकृत्वा छुप्तवतो भवति । तत्रश्चावकीर्णित्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ १८७ ॥

## मैक्षेण वर्तयेत्रित्यं नैकान्नादी भवेद्वती । मैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्पृता ॥ १८८ ॥

भेक्षेणेति ॥ ब्रह्मचारी न एकान्नमद्यात्कितु बहुगृहाहृतभिक्षासमूहेग प्रत्यहं जीवेत् । यसाद्रिक्षासमृहेन ब्रह्मचारिणो वृत्तिरुपवासतुल्या सुनिभिः समृता ॥ १८८ ॥

## त्रतबद्देवदेवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् । काममभ्यर्थितोऽश्रीयाद्वतमस्य न छप्यते ॥ १८९ ॥

वतवदिति ॥ पूर्वनिषिद्धस्यैकाञ्चभोजनस्यायं प्रतिप्रसवः । देवदैवस्ये कर्मणि देवतोद्देनाभ्यर्थितो ब्रह्मचारी वतवदिति वतविरुद्धमधुमांसादिवर्जितमेक-स्वाप्यमं यथेप्सितं भुक्षीत । मथ पित्रद्देशेनाभ्यर्थितो भवति तदा ऋषियैतिः सम्यग्दर्शनसंपन्नत्वात्स इव मधुमांसवर्जितमेकस्याप्यमं यथेप्सितं भुक्षीत इति स एवार्थो वैद्ग्ध्येनोक्तः, तथापि भैक्षवृत्तिनियमरूपं व्रतमस्य छुतं न भवति । याज्ञवल्क्योऽपि श्राद्धेऽभ्यर्थितस्यैकाञ्चमोजनमाह-'ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि । ब्राह्मणः काममश्रीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥' (याज्ञ. स्मृ. ११३२)-इति । विश्वरूपेण तु 'व्रतमस्य न छुप्यते' इति पश्यता ब्रह्मचारिणो मांसभक्षणमनेन मनुवचनेन विधीयत इति ब्याख्यातम् १८९

## ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः। राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते॥ १९०॥

ब्राह्मणस्पेवेति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणामेव ब्रह्मचारिणां मेक्षाचरण-विधानात् 'व्रतवत्' (२।१८९) इत्यनेन तद्पवादरूपमेकान्नभोजनमुपदिष्टं क्षत्रियवैश्ययोरिप पुनरुक्तेन पर्युदस्यते । एतदेकान्नभोजनरूपं कर्मे तद्राह्मण-स्यैव वेदार्थविद्विविद्वितम् । क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्न चैतत्कर्मेति ब्रूते ॥ १९० ॥

## चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा । कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

चोदित इति ॥ आचार्येण प्रेरितो न प्रेरितो वा स्वयमेव प्रत्यहमध्ययने गुरुहितेषु चोद्योगं कुर्यात् ॥ १९१ ॥

#### शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च । नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्ध्वस् ॥ १९२ ॥ परं चेति ॥ देवपायद्वीन्द्रियमगांसि नियस्य क्रवाव्यक्षिकम्यं पर्या

दारीरं चेति ॥ देहवाग्बद्धीन्द्रियमनांसि नियम्य कृताञ्जलिगुँरुमुखं पश्यं- धित्रहेन्नोपविशेत् ॥ १९२ ॥

नित्यग्रुद्धृतपाणिः स्थात्साध्वाचारः सुसंयतः। आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिग्रुखं गुरोः॥ १९३॥

नित्यमिति ॥ सततमुत्तरीयाद्धहिष्कृतदक्षिणबाहुः, शोभनाचारः, वस्न-वृतदेहः, 'आस्वताम्' इति गुरुणोक्तः सन् गुरोरभिमुखं यथा भवति तथा आसीत ॥ १९३ ॥

## हीनान्नवस्त्रचेषः स्थात्सर्वदा गुरुसनिधौ । उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

हीनान्नवस्त्रेति ॥ सर्वदा गुरुसमीपे गुर्वपेक्षया त्ववकृष्टान्नवस्त्रप्रसाधनो भवेत् । गुरोश्च प्रथमं रात्रिशेषे शयनादुत्तिष्ठेत्, प्रदोषे च गुरौ सुप्ते पश्चा-च्छयीत ॥ १९४ ॥

पाठा०—1 योगमाचार्यस्य.

७ म० स्मृ०

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् । नासीनो न च भुद्धानो न तिष्ठन पराख्युखः ॥ १९५॥ श्रिवणेति ॥ प्रतिश्रवणमाज्ञाङ्गीकरणं, संभाषणं च गुरोः शय्यायां गसनोपविष्टः, भुञ्जानः, तिष्ठन्, विमुखश्च न कुर्यात् ॥ १९५॥ तर्हि कुर्यात्तदाह—

आसीनस्य स्थितः कुर्योदभिगच्छंस्तु तिष्ठतः । प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

क्षेत्रस्येति ॥ श्वासनोपविष्टस्य गुरोराज्ञां ददतः स्वयमासनादुत्थितः, गुरोरादिशतस्तद्भिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा, यथा गुरुरागच्छति भिमुखं गत्वा, यदा तु गुरुर्धावन्नादिशति तदा तस्य पश्चाद्धावन्त्रति-भाषे कुर्यात् ॥ १९६ ॥

पराञ्जुखस्याभिमुखो दूरस्यसैत्य चान्तिकम् । प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७॥

इमुखस्येति ॥ पराञ्चुखस्य वादिशतः संमुखस्थः, दूरस्थस्य गुरोः तगत्य, शयानस्य गुरोः प्रणम्य प्रह्मो भूत्वा, निदेशे निकटेऽवतिष्ठतो शातः प्रह्मीभूयैव प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् ॥ १९७ ॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसिनधौ । गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८॥ गिति ॥ गुरुसमीपे चास्य गुरुशय्यासनापेक्षया नीचे एव शय्यासने गताम् । यत्र च देशे समासीनं गुरुः पश्यति न तत्र यथेष्टचेष्टां गरणादिकां कुर्यात् ॥ १९८॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥
गहरेदिति ॥ अस्य गुरोः परोक्षमि उपाध्यायाचार्यादिपूजावचनोपनाम नोचारयेत् । नतु गुरोर्गमनभाषितचेष्टितान्यनुकुर्वीत गुरुगमकान्यात्मनो गमनादीन्युपहासबुद्धा न कुर्वीत ॥ १९९ ॥
गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।

शुरायत्र परावाद्। निन्द्। वाप प्रवत्त । कर्णों तत्र पिधातव्यो गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २००॥ क्षेत्रेति॥विद्यमानदोषस्याभिधानं परीवादः, अविद्यमानदोषाभिधानं निन्दा, यत्र देशे गुरोः परीवादो निन्दा च वर्तते तत्र स्थितेन शिष्येण कर्णों हस्तादिना तिरोधातन्यो । तसाद्वा देशाहेशान्तरं गन्तन्यम् ॥ २०० ॥

इदानीं शिष्यकर्तृकपरीवादकृतफलमाह—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।

परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ।। २०१ ॥ परीवादादिति ॥ गुरोः परीवादाच्छिष्यो मृतः खरो भवति । गुरोर्निन्दकः कुकुरो भवति । परिभोक्ता अनुचितेन गुरुधनेनोपजीवकः कृमिर्भवति । मत्सरी गुरोरुत्कर्षासहनः कीटो भवति; कीटः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलो भवति ॥२०१॥

> दूरस्थो नार्चयेदेनं न कुद्धो नान्तिके स्त्रियाः । यानासनस्थक्षेत्रैनमवरुखाभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

दूरस्थ इति ॥ दूरस्थः शिष्योऽन्यं वियुज्य माल्यवस्त्रादिना गुरुं नार्च-येत् । स्वयं गमनाशको त्वदोषः । कुद्धः कामिनीसमीपे च स्थितं स्वयमपि नार्चयेत् । यानासनस्थश्च शिष्यो यानासनादवतीर्य गुरुमभिवादयेत् । 'यानासनस्थश्चेवैनं प्रत्युत्थाय' (२।१९) इत्यनेन यानासनादुत्थानं विहितम्; अनेन तु यानासनत्याग इत्यपुनक्किः ॥ २०२ ॥

> प्रीतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह । असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

प्रतिवात इति ॥ प्रतिगतोऽभिमुखीभूतः शिष्यस्तदा गुरुदेशाच्छिष्यदेश-मागच्छिति स प्रतिवातः, यः शिष्यदेशाद्धरुदेशमागच्छिति सोऽनुवातः, तत्र गुरुणा समं नासीत । तथाऽविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन्नसंश्रवे । गुरुर्यत्र न श्र्णोतीत्यर्थः । तत्र गुरुगतमन्यगतं वा न किंचित्कथयेत् ॥ २०३ ॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासाद्स्रसारेषु कटेषु च।

आसीत गुरुणा सार्ध शिलाफलकनौषु च ।। २०४ ॥

गोऽश्वेति ॥ 'यान'शब्दः प्रत्येकमिसंबध्यते। बलीवर्दयाने, घोटकप्रयुक्ते याने, उष्ट्रयुक्तयाने, रथकाष्ठादौ, प्रासादोपरि, स्नस्तरे, कटे च तृणादिनिर्मिते, शिलायां, फलके च दारुघटितदीर्घासने, नौकायां च गुरुणा सह सासीत ॥२०४॥

गुरोर्गुरौ सिन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् । न चानिसृष्टो गुरुणा स्नान्गुरूनिभवादयेत् ॥ २०५ ॥ गुरोर्गुराविति ॥ भाचार्यस्याचार्ये सिन्निहिते भाचार्यं इव तस्मिन्नप्यिम-पाटा०—1 प्रतिवातानुवाते च. 2 °प्रस्तरेषु (=दर्भोदितृणाकीर्णप्रस्तरेषु ).

१ अत्र 'शय्यासनस्थक्षेवेन' इति पाठो युक्तः, तथैव मूले प्राक्पठनात्; लेखकस्य विभ्रमोऽयं प्रकृतलोकोक्तरार्थपाठेन सममिति विभान्यते ।

वादनादिकां वृत्तिमनुतिष्ठेत् । तथा गुरुगृहे वसन् शिष्य भाचार्येणानियुक्तो न स्वान्गुरून्मानृषितृज्यादीनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

> विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या दृत्तिः खयोनिषु । प्रतिषेधत्सु चैाधमीद्धितं चोपदिश्चत्खपि ॥ २०६ ॥

विद्यति ॥ आचार्यव्यतिरिक्ता उपाध्याया विद्यागुरवः, तेष्वेतदेवेति सामान्योपक्रमः । किं तत् ? शाचार्य इव निस्मा सार्वकालिकी वृत्तिविधेया, तथा स्वयोनिष्वपि पितृज्यादिषु तद्वृत्तिः, अधर्मान्निषेधःसु धर्मतत्त्वं चोपदिशःसु गुरुवद्वर्तितन्यम् ॥ २०६॥

श्रेयःसु गुरुबद्धृतिं नित्यमेव समाचरेत् । गुरुषुत्रेषुं चार्येषु गुरोश्रेव सबन्धुषु ॥ २०७ ॥

श्रेयःस्विति ॥ श्रेयःसु विद्यातपःसमृद्धेषु, आर्थेष्विति गुरुपुत्रविशेषणम् । समानजातिगुरुपुत्रेषु गुरोश्च ज्ञातिष्वपि पितृन्यादिषु सर्वदा गुरुवद्वृत्तिमनु- तिष्ठेत् । गुरुपुत्रश्चात्र शिष्याधिकवयाश्च बोद्धन्यः । शिष्यबालसमानवयसा-मनन्तरं शिष्यस्य वक्ष्यमाणःवात् ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि । अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमईति ॥ २०८ ॥

बाल इति ॥ किनष्टः सवया वा ज्येष्ठोऽपि वा शिष्योऽध्यापयञ्जध्यापन-समर्थः । गृहीतवेद इत्यर्थः । स यज्ञकर्मणि ऋत्विगनृत्विग्वा यज्ञदर्शनार्थ-मागतो गुरुवत्पूजामर्हेति ॥ २०८ ॥

आचार्यवदित्यविशेषेण प्जायां प्राप्तायां विशेषमाइ—

उत्साद्नं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।

न कुर्याद्वरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

उत्सादनमिति ॥ गात्राणामुत्सादनमुद्रर्तनं, उच्छिष्टस्य भक्षणं, पादयोश्च प्रकालनं गुरुपुत्रस्य न कुर्यात् ॥ २०९ ॥

गुरुवत्यतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।

असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥
गुरुवदिति ॥ सवर्णा गुरुपद्यः गुरुवदाज्ञाकरणादिना पूज्या भवेयुः ।
अस्वर्णाः पुनः केवलप्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।

े गुरुपत्थ्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥ अभ्यञ्जनमिति ॥ तैलादिना देहाभ्यक्रः, स्नापनं, गात्राणां चोद्वतेनं, केशानां च मालादिना प्रसाधनम्; एतानि गुरुपन्या न कर्तन्यानि । केशानामिति प्रदर्शनमात्रार्थे, देहस्यापि चन्द्रनादिना प्रसाधनं न कुर्यात् ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः । पूर्णविंद्यतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

गुरुपत्ती त्विति ॥ युवतिर्गुरुपत्ती पादयोरुपसंगृह्य अभिवादनदोषगुणसेन यूना नाभिवाद्या । पूर्णविंशतिवर्षत्वं यौवनप्रदर्शनार्थम् । बालस्य पादयो-रिभवादनमनिषिद्धम् । यूनस्तु भूमावभिवादनं वक्ष्यति ॥ २१२ ॥

खभाव एष नारीणां नराणामिह दृषणम् ।

अतोऽर्थान प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥ स्वभाव इति ॥ स्रीणामयं स्वभावः यदिह श्रङ्कारचेष्टया व्यामोह्य पुरुषाणां दूषणम् । अतोऽर्थादसाद्धेतोः पण्डिताः स्त्रीषु न प्रमत्ता भवन्ति ॥ २१३ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमि वा पुनः।

प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

अविद्वांसमिति॥ 'विद्वानहं जितेन्द्रिय' इति बुद्धा न स्वीसिश्विधिवेधेयः। यसादविद्वांसं विद्वांसमिप वा पुनः पुरुषं देहधर्मात्कामकोधवशानुयायिनं स्विय उत्पर्थ नेतुं समर्थाः॥ २१४॥

अत आह—

मात्रा खस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

मात्रेति ॥ मात्रा, भगिन्या, दुहित्रा, निर्जनगृहादौ नासीत । यतोऽति-बल इन्द्रियगणः शास्त्रनियमितात्मानमपि पुरुषं परवशं करोति ॥ २१५ ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भ्रवि ।

विधिवद्दन्दनं कुर्यादसावहमिति ज्ञुवन् ॥ २१६ ॥

कामं त्विति ॥ कामं तु गुरुपत्तीनां युवतीनां स्वयमपि युवा यथोकः विधिना 'अभिवादयेऽमुकशर्माहं भोः' इति खुवन्पादमहणं विना यथेष्टमभिन्वादनं कुर्यात् ॥ २१६॥

वित्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् । गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुसरन् ॥ २१७ ॥

विप्रोच्येति ॥ प्रवासादागत्य 'सन्येन सन्यं दक्षिणेन च दक्षिणम्' इत्यु-क्तिबिधना पादमहणं प्रत्यहं भूमावभिवादनं च गुरुपत्नीषु युवा कुर्यात् । शिष्टानामयमाचार इति जानन् ॥ २६७ ॥ उक्तस्य ग्रुश्रूषाविधेः फलमाह—

# यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति । तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरिधगच्छति ॥ २१८ ॥

यथेति ॥ यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण भूमिं खनन् जलं प्राप्तोति, एवं गुरौ स्थितां विद्यां गुरुसेवापरः शिष्यः प्राप्तोति ॥ २१८ ॥

ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह-

मुण्डो वा जिटलो वा स्याद्थवा स्याच्छिखाजटः । नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् सूर्यो नाभ्युदियात्कचित् ॥२१९॥

मुण्डो वेति ॥ मुण्डितमस्तकः, शिरःकेशजटावान्वा, शिखैव वा जटा जाता यस्य वा, परे शिरःकेशा मुण्डितास्तथा वा भवेत् । एनं ब्रह्मचारिणं कचिद्रामे निदाणं, उत्तरत्र 'शयानम्'इति दर्शनात्सूर्यों नाभिनिम्छोचेन्नास्तमियात् २१९

अत्र प्रायश्चित्तमाह-

तं चेदभ्युदियात्स्र्यः श्रयानं कामचारतः । निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाञ्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

तं चेदिति ॥ तं चेत्कामतो निद्राणं निद्रोपवशत्वेन सूर्योऽभ्युदियादस्तमियाचदा सावित्रीं जपन्नभयत्रापि दिनसुपवसन् रात्रो सुक्षीत । अभिनिम्छक्तस्योत्तरेऽहिन उपवासजपौ । 'अभिरभागे' (पा. ११४१९१) इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, ततः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । सावित्रीजपं तु गौतमवचनात् ।
तदाह गौतमः (२४१२) — 'सूर्याभ्युदिते ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरसुक्षानोऽभ्यस्वैमिते च रात्रिं जपन्सावित्रीम्' । नतु गौतमवचनात्सूर्याभ्युदितस्येव दिनाभोजनजपानुक्ती, अभ्यस्तमितस्य तु रात्र्यभोजनजपौ । नैतत्; अपेक्षायां
व्याख्यासंदेहे वा सुन्यन्तरविवृतमर्थमन्वयं वाश्रयामहे नतु स्फुटं मन्वर्थ
स्मृत्यन्तरदर्शनादन्यथा कुर्मः । अत एव जपापेक्षायां गौतमवचनात्सावित्रीजपोऽभ्युपेय एव, नत्भयत्र स्फुटं मन्कं दिनोपवासजपावपाकुर्मः । तस्मादभ्यस्तमितस्यमानवगौतमीयप्रायश्चित्तविकल्पः ॥ २२०॥

भस्य तु प्रायश्चित्तविधेरर्थवादमाह-

स्र्येण हाँभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्र यः । प्रायश्रित्तमकुर्वाणो युक्तः स्थान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

सूर्येणेति॥ यसात्स्र्येणाभिनिर्मुकोऽभ्युदितश्च निद्राणः प्रायश्चित्तमकुर्वन् सहता पापेन युक्तो नरकं गच्छति । तसाचयोक्तप्रायश्चित्तं कुर्यात्॥ २२१॥

पाठा०—1 सूर्याभ्यदितो. 2 भ्यस्तमितो. 3 ह्याभिनिम्छक्तः.

यसादुक्तप्रकारेण संध्यातिक्रमे महत्पापम्, अतः—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः।

शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

आचम्येति ॥ आचम्य पवित्रो नित्यमनन्यमनाः ग्रुचिदेशे सावित्री जप-त्रुभे संध्ये विधिवदुपासीत ॥ २२२ ॥

> यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् । तत्सर्वमाचरेद्यक्तो यत्र चास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

यदीति ॥ यदि स्त्री शूद्रो वा किंचिच्छ्रेयोऽनुतिष्ठति तत्सर्व युक्तोऽनु-तिष्ठेत् । यत्र च शास्त्रानिषिद्धे मनोऽस्य तुत्यित तदपि कुर्यात् ॥ २२३ ॥

श्रेय एव हि धर्माथौं तद्दर्यति—

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च । अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

धर्माथीविति ॥ धर्माथौँ श्रेयोऽभिधीयते, कामहेतुत्वादिति केचिदाचार्या मन्यन्ते । अन्ये त्वर्धकामी सुखहेतुत्वाच्छ्रेयोऽभिधीयते । धर्म एवेत्यपरे । अर्थकामयोरम्युपायत्वात् । अर्थ एवेह छोके श्रेय इत्यन्ये । धर्मकामयोरि साधनत्वात् । संप्रति स्वमतमाह—धर्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धिवर्ग एव पुरुषार्थतया श्रेय इति विनिश्चयः । एवं च बुभुक्षूनप्रत्युपदेशो न मुमुक्षून् । मुमुक्षूणां तु मोक्ष एव श्रेय इति षष्ठे वक्ष्यते ॥ २२४ ॥

आचार्यश्र पिता चैव माता आता च पूर्वजः।

नार्तेनाप्यवमन्तव्या बाह्मणेन विशेषतः ॥ २२५ ॥

आचार्यश्चेति ॥ आचार्यो जनको जननी च आता च सगर्भो ज्येष्टः पीडितेनाप्यमी नावमाननीयाः, विशेषतो ब्राह्मणेन ॥ २२५ ॥

यसात्,—

आचार्यो ब्रह्मणो मृतिः पिता मृतिः प्रजापतेः ।

माता पृथिच्या मृतिंस्तु आता खो मृतिंरात्मनः ॥ २२६॥

आचार्य इति ॥ आचार्यो वेदान्तोदितस्य ब्रह्मणः परमात्मनो मूर्तिः शरीरं, पिता हिरण्यगर्भस्य, माता च धारणात्पृथिवीमूर्तिः, आता च स्वः सगर्भः क्षेत्रज्ञस्य । तसादेवतारूपा एता नावमन्तन्याः ॥ २२६ ॥

यं मातापितरी क्वेशं सहेते संभवे नृणाम्।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरिप ॥ २२७ ॥ यमिति ॥ वृणामपुर्यानां संभवे गर्भाधाने सति अनन्तरं यं क्रेशं माता-

पाठा०-1 वास्य.

१ गौतमोऽप्याह—'न पूर्वाक्रमध्यन्दिनापराक्कानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः' (गौ. स्पृ. ९।४६) इति ।

पितरा सहेते तस्य वर्षशतैरप्यनेकैरपि जन्मिभरानृण्यं कर्तुमशक्यम् । मातु-स्तावत्कुक्षा धारणदुःखं, प्रसववेदनातिशयः, जातस्य रक्षणवर्धनकष्टं च पितु-रिधकान्येव । रक्षासंवर्धनदुःखं, उपनयनात्प्रभृति वेदतदङ्गाध्यापनादिक्केशा-तिशय इति सर्वसिद्धम् ॥ २२७ ॥

तसात्,-

तयोनिंत्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा । तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

तयोर्नित्यमिति ॥ तयोर्मातापित्रोः प्रत्यहमाचार्यस्य च सर्वदा प्रीतिमु-त्पादयेत् । यसात्तेष्वेव त्रिषु प्रीतेषु सर्व तपश्चान्द्रायणादिकं फलद्वारेण सम्यक्प्राप्यते मात्रादित्रयतुष्ट्येव सर्वस्य तपसः फलं प्राप्यत इत्यादि २२८

> तेषां त्रयाणां ग्रुश्रूषा परमं तप उच्यते । न तैरैनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

तेषामिति ॥ तेषां मातापित्राचार्याणां परिचर्या सर्वं तपोमयं श्रेष्टमित एव सर्वतपःफलप्राप्तेः । यद्यन्यमपि धर्मं कथंचित्करोति तद्प्येतश्रयानुमित-व्यतिरेकेण न कुर्यात् ॥ २२९ ॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः। त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्रयः॥ २३०॥

त एवेति ॥ यसात्त एव मातापित्राचार्यास्त्रयो लोकाः, लोकत्रयप्राप्ति-हेतुत्वात् । कारणे कार्योपचारः । त एव ब्रह्मचर्यादिभावत्रयरूपा क्षाश्रमाः । गार्हस्थ्याद्याश्रमत्रयप्रदायकत्वात् । त एव त्रयो वेदाः, वेदत्रयजपफलोपाय-त्वात् । त एव हि त्रयोऽप्तयोऽभिहितास्नेतासंपाद्ययज्ञादिफलदातृत्वात् २३०

> पिता वै गाईपत्योऽप्रिर्माताप्तिर्दक्षिणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु साप्तित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

पितेति ॥ वैशब्दोऽवधारणे । पितेव गाईपत्योऽग्निः, माता दक्षिणाग्निः, भाचार्य भाइवनीयः । सेयमग्नित्रेता श्रेष्ठतरा । स्तुत्यर्थत्वासास्य न वस्तु-विरोधोऽत्र भावनीयः ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यनेतेषु त्रीं होकान्विजयेद्वृही । दीप्यमानः स्ववषुषा देववदिवि मोदते ॥ २३२ ॥ त्रिष्विति ॥ एतेषु त्रिषु प्रमादमकुर्वन्त्रस्थारी तावजयस्थेष, गृहस्थोऽपि त्रीं छोकान्विजयते । संज्ञापूर्वकस्यात्मनेपद्विधरनित्यत्वाच 'विपराभ्यां जेः' (पा. १।३।१९) इत्यात्मनेपदम् । त्रीं छोकान्विजयेदिति त्रिष्वाधिपत्यं प्राप्तोतिः; तथा स्ववपुषा प्रकाशमानः सूर्यादिदेववद्दिव हृष्टो भवति ॥ २३२॥

इमं लोकं मात्मक्तया पितृभक्तया तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्रुते ॥ २३३ ॥

इममिति ॥ इमं भूलोंकं मातृभक्त्या, पितृभक्त्या मध्यममन्तिरिक्षम्, भाचार्यभक्त्या तु हिरण्यगर्भलोकमेव प्राप्तोति ॥ २३३ ॥

> सर्वे तस्यादता धर्मा यसैते त्रय आदताः । अनादतास्तु यसैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

सर्वे इति ॥ यस्यैते त्रयो मातृपित्राचार्या बादताः सत्कृतास्तस्य सर्वे धर्माः फलदा भवन्ति । यस्यैते त्रयोऽनादतास्तस्य सर्वाणि श्रोतसार्तकर्माणि निष्फलानि भवन्ति ॥ २३४ ॥

यावत्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् । तेष्वेव नित्यं ग्रुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

याबिद्ति ॥ ते त्रयो यावजीवन्ति तावदन्यं धर्मं स्वातज्ञ्येण नानुतिष्ठेत । तद्नुज्ञ्या तु धर्मानुष्टानं प्राग्विहितमेव । किंतु तेष्वेव प्रत्यहं प्रियहितपरः ग्रुश्रूषां तद्थे प्रीतिसाधनं प्रियम्, नेषजपानादिवत् । आयत्यामिष्टसाधनं हितम् ॥ २३५ ॥

> तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् । तत्तक्षिवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

तेषामिति ॥ तेषां शुश्रूषाया अविरोधेन तदनुज्ञातो यद्यन्मनोवचन-कर्मभिः परलोकफलं कर्मानुष्ठितं तन्मयैतदनुष्ठितमिति पश्चात्तेभ्यो निवे-दयेत्॥ २३६॥

> त्रिष्वतिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते । एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

त्रिष्विति ॥ इतिशब्दः कात्स्यें । हिशब्दो हेतौ । यसादेतेषु त्रिषु ग्रुश्रूषितेषु पुरुषस्य सर्व श्रीतसार्त कर्तव्यं संपूर्णमनुष्ठितं भवति, तत्फला-वासेः। तसादेव श्रेष्ठो धर्मः साक्षात्सर्यपुरुषार्थसाधनः। अन्यस्त्वित्रहोत्रादि-प्रतिनियतस्वर्गादिहेतुरूपधर्मो जघन्यधर्म इति श्रुश्रूषास्तुतिः॥ २३७॥

## श्रद्दधानः ग्रुमां विद्यामाददीतावरादिप । अन्त्यादिप परं धर्म स्नीरतं दुष्कुलादिप ॥ २३८ ॥

श्रद्दधान इति ॥ श्रद्धायुक्तः ग्रुमां दृष्टशक्तिं गारुडं।दिविद्यामवराच्छूद्रादृषि गृह्णीयात् । अन्त्यश्चाण्डालस्तसादिष जातिसरादेविहितयोगप्रकर्षात्
दुष्कृतशेषोपभोगार्थमवासचाण्डालजन्मतः परं धर्मं मोक्षोपायमात्मज्ञानमादृदीत । तथा अज्ञानमेवोपकम्य मोक्षधमें 'प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वैद्याच्छूद्रादिष नीचादभीक्षणं श्रद्धातन्यं श्रद्धधानेन नित्यम् ।' न श्रद्धिनं प्रति
जन्ममृत्युविशेषता । मेधातिथिस्तु-''श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिकः ।
धर्मशब्दो न्यवस्थायामि युज्यते । यदि चाण्डालोऽपि-'अत्र प्रदेशे मा
चिरं स्था मा चासिन्नम्भिस स्नासीः' इति वदति तमिष धर्ममनुतिष्ठेत् ।''
'प्रागत्म्याङ्गोकिकं वस्तु परं धर्ममिति ज्ञुवन् । चित्रं तथापि सर्वत्र श्रुव्यो
मेधातिथिः सताम् ॥' स्नीरतं आत्मापेक्षया निकृष्टकुलादिष परिणेतुं
स्वीकुर्यात् ॥ २३८॥

## विषाद्प्यमृतं ग्राह्यं बालाद्पि सुभाषितम् । अमित्राद्पि सद्भृत्तममेष्याद्पि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

विषादिति ॥ विषं यद्यमृतसंयुक्तं भवति तदा विषमपसार्थं तसादमृतं ब्राह्मम्, बालादिप हितवचनं ब्राह्मं, शत्रुतोऽपि सज्जनवृत्तं, अमेध्यादिप सुवर्णादिकं ब्रहीतव्यम् ॥ २३९ ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् । विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥

स्त्रिय इति ॥ अत्र ख्यादीनामुक्तानामि दृष्टान्तत्वेनोपादानम्; यथा ख्यादयो निकृष्टकुलादिभ्यो गृह्यन्ते तथा अन्यान्यपि हितानि चित्रलिखनादीनि सर्वतः प्रतिप्रहीतन्यानि ॥ २४० ॥

> अत्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते । अनुत्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

अब्राह्मणादिति ॥ ब्राह्मणादन्यो यो द्विजः क्षन्नियस्तद्भावे वैश्यो वा तसाद्ध्ययनमापत्काले ब्राह्मणाध्यापकासंभवे ब्रह्मचारिणो विधीयते । अनु-वज्यादिरूपा गुरोः ग्रुश्रूषा यावदध्ययनं तावत्कार्या । गुरुपादप्रक्षालनो-

पाठा०-1 °मापत्कल्पे.

१ आस्तिक्यबुद्धयोपेतो हि शिष्यः शुभां विद्यां न्यायशास्त्र-तर्कशास्त्र-काव्य-नाट्यादीक्षिपं हीनजातीयाच्छिक्षेत इति मन्यन्ते मेधातिथ्यादयः । तत्तु 'शुभां दृष्टशक्तिं गारुकदिनिद्याम्' इति व्याख्यानात् कुळूकभष्टस्य नात्य-तमभिप्रेतमिति संभाव्यते ।

च्छिष्टप्राशनादिरूपा शुश्रूषाऽप्रशस्ता सा न कार्या। तदर्थमनुव्रज्या चेति विशेषितम् । गुरुत्वमि यादद्ध्ययनमेव क्षत्रियस्याह व्यासः (व्या. स्ट. ११३५)—'मञ्जदः क्षत्रियो विषेः शुश्रूषानुगमादिना । प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः'॥ २४१॥

ब्रह्मचारित्वे नैष्ठिकस्याप्यब्राह्मणाद्ध्ययनं प्रसक्तं प्रतिषेधयति--

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् । ब्राह्मणे चानन्चाने काङ्कन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

नाब्राह्मण इति ॥ श्रात्मन्तिकं वासं यावजीविकं ब्रह्मचर्यं क्षत्रियादिके गुरौ ब्राह्मणे साङ्गवेदानध्येतिर । अनुत्तमां गतिं मोक्षलक्षणामिच्छन् शिष्यो नावतिष्ठेत ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले । युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥ यदीति ॥ यदि तु गुरोः कुले नैष्ठिकब्रह्मचर्यात्मकमात्यन्तिकं वासमिच्छे-चदा यावज्ञीवनमुद्युक्तो गुरुं शुश्रूषयेत् ॥ २४३ ॥

भस्य फलमाइ—

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।

स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥ आ समाप्तेरिति ॥ समाप्तिः शरीरस्य जीवनत्यागः, तत्पर्यन्तं यो गुरूं परिचरति स तत्त्वतो ब्रह्मणः सम्मरूपमविनाशि पदं प्रामोति । ब्रह्मणि स्रीयत इत्यर्थः ॥ २४४ ॥

न पूर्व गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।

स्नासंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

न पूर्वमिति॥ उपकुर्वाणस्यायं विधिः, नैष्टिकस्य स्नानासंभवात् । गुरुद्क्षि-णादानं धर्मजो ब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वं किंचिद्रोवस्नादि धनं गुरवे नावश्यं दृद्यात् । यदि तु यद्दच्छातो लभते तदा गुरवे दृद्यादेव । अत एव स्नानात्पूर्वं गुरवे दानमाहापस्तम्बः—'यदन्यानि द्रव्याणि यथालामग्रुपहरति दृक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यवतम्' इति। स्नास्यन्पुनर्गुरुणा दृत्ताज्ञो यथा-शक्ति धनिनं याचित्वापि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहत्यावश्यं दृद्यात् २४५

किं तत्तदाह—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् । धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

क्षेत्रमिति ॥ 'शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्' (२।२४५) इत्युक्तत्वात्क्षेत्रहिरण्या-

पाठा०—1 वाऽननूचाने. 2 धान्यं वासांसि शाकं वा. 3 प्रीतिमाहरेत, प्रीतिमाहरत,

दिकं यथासामर्थं विकिष्पतं समुदितं वा गुरवे दत्त्वा तत्प्रीतिमर्जयेत् । विकल्पपसे चान्ततोऽन्यासंभवे छत्रोपानहमपि द्वात् ; द्वन्द्वनिर्देशात् समु-दितदानम् । प्रदर्शनार्थं चैतत् । संभवेऽन्यदपि द्वात् । स्नत एव छष्टु-हारीतः-'एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेद्येत् । पृथिव्यां नास्ति तद्वव्यं यद्त्वा चानृणी भवेत्'॥ असंभवे शाकमपि द्वात् ॥ २४६॥

## आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते । गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

आचार्य इति ॥ नैष्ठिकस्यायमुपदेशः । आचार्ये मृते तत्सुते विद्यादिगुण-युक्ते, तद्भावे गुरुपच्यां, तद्भावे गुरोः सपिण्डे पिनृब्यादी गुरुवच्छुश्रूषा-मनुतिष्ठेत् ॥ २४७ ॥

## एतेष्वविद्यमानेषु स्तानासनविहारवान् । प्रयुक्जानोऽग्निशुश्रुषां साधयेदेहमात्मनः ॥ २४८ ॥

एतेष्विति ॥ एतेषु त्रिष्विविद्यमानेषु सततमाचार्यस्थैवाग्नेः समीपे स्नाना-सनिवहारैः सायंत्रातरादौ समिद्धोमादिना चाग्नेः ग्रुशूषां कुर्वेशात्मनो देह-मात्मदेहाविष्ठक्वं जीवं ब्रह्मशिक्षयोग्यं साध्येत् ॥ २४८ ॥

## एवं चरति यो विष्रो ब्रह्मचर्यमविष्ठुतः । स गच्छत्युत्तमस्थानं नै चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

एवं चरतीति ॥ 'आ समाप्तेः शरीरस्य' (२।२४४) इत्यनेन याव-जीवमाचार्यश्चश्रूषाया मोक्षलक्षणं फलम् । इदानीमाचार्ये मृतेऽपि एवमित्य-नेनानन्तरोक्तविधिना आचार्यपुत्रादीनामप्यप्तिपर्यन्तानां शुश्रूषको यो नैष्ठिक-ब्रह्मचर्यमखण्डितव्रतोऽनुतिष्ठति स उत्तमं स्थानं ब्रह्मण्यात्यन्तिकलक्षणं प्रामोति । न चेह संसारे कर्मवशादुत्पत्तिं लभते ॥ २४९ ॥

इति श्रीकुष्ट्रकमदृक्ततायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

# तृतीयोऽध्यायः ३

पूर्वत्र 'आ समाप्तेः शरीरस्य' (२।२४४) इत्यनेन नैष्टिकब्रह्मचर्यमुक्तं न तत्रावध्यपेक्षा । 'आ समावर्तनात्' (२।१०८) इत्यनेन चोपकुर्वाणकस्य सावधिब्रह्मचर्यमुक्तम् । अतस्तस्येव गाईस्थ्याधिकारः । तत्र कियदवधिविधौ ब्रह्मचर्ये तस्य गाईस्थ्यमित्यपेक्षायामाह—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरो त्रैवेदिकं वतम् । तद्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥

षट्त्रिंशदाब्दिकमिति ॥ त्रयो वेदा ऋग्यज्ञःसामाख्यासेषां समाहार-

खिवेदी, तद्विषयं वर्त स्वगृद्धोक्तियमसमूहरूपं षद्त्रिंशद्वर्षं यावद्वरकुले चरि-तब्यम्। यद्रित्रदाब्दिकमिति पद्त्रित्राद्बद्शब्दात् 'कालाट्टम्' (पा.४।३।११) असिश्च पक्षे 'समं खाद्श्वतत्वात्' इति न्यायेन प्रतिवेदशाखं द्वादश्चवर्षणि वताचरणम् । तद्धिकमष्टादश वर्षाणि । तत्र प्रतिवेदशाखं पद । पादिकं नव वर्षाणि । तत्र प्रतिवेदशाखं त्रीणि । यावता कालेनोक्तावधेरूर्ध्वमधो वा वेदान्गृह्णाति तावत्कारुं वा व्रताचरणम् । विषमशिष्टत्वेऽपि पक्षाणामेका देयास्त्रिस्तो देयाः षद देया इतिवन्नियमफले न्युनापेश्लो विकल्पः। तथा च श्वतिः-- 'नियमेनाधीतं वीर्यवत्तरं भवति' इति । प्रहणान्तिकपक्षसंदर्शना-त्पूर्वोक्तपक्षत्रये प्रहणादूर्ध्वमपि वतानुष्ठानमवगम्यते । अथर्षवेदस्यर्वेदांशत्वे-ऽपि 'ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थम्' इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थवेदत्वेन कीर्तनात् 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारः' इति विष्णुपुराणादिवाक्येषु च पृथङ्किर्देशाचतुर्थवेदत्वेऽपि प्रायेणाभिचाराद्यर्थत्वाद्यज्ञविद्यायामनुपयोगा-चानिर्देशः । तथा हि-'ऋग्वेदेनैव हौन्नं कुर्वन्यजुर्वेदेनाध्वर्यं सामवेदे-नौद्गात्रं यदेव त्रथ्ये विद्याये सुक्तं तेन बहात्वम्' इति श्रुतेस्वयीसंपा-चारवं यज्ञानां ज्ञायते । अयं च मानवस्त्रैवेदिकवतचर्याविधिर्नाथर्यवेद्वतचर्या निषेधयति। तत्परत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गाच्छ्रसन्तरे वेदमात्रे वतश्रवणाच। यदाह योगियाज्ञवल्क्यः (आचारा. २।३६)—'प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा' इति॥ १॥

# वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाऋमम् । अविष्ठुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

वेदानधीत्येति ॥ 'वेद'शब्दोऽयं भिन्नवेदशाखापरः । स्वशाखाध्ययनपूर्वकवेदशाखात्रयं द्वयमेकां वा शाखां मन्नवाह्मणक्रमेणाधीत्य गृहस्थाश्रमं
गृहस्थिविहितकमेककापरूपमनुतिष्ठेत् । कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः। 'गृह'शब्दस्य
दारवचनत्वात् । अविद्धुतब्रह्मचर्यं इति पूर्वविहितस्त्रीसंयोगमधुमांसभक्षणवर्जनरूपब्रह्मचर्यानुवादोऽयं प्रकृष्टाध्ययनाङ्गत्वस्थापनार्थः । पुरुषशक्तयपेक्षश्रायमैकद्वित्रिशाखाध्ययनविकल्पः । यद्यपि व्रतानि वेदाध्ययनं च नित्यवदुपदिशाता मनुनोभयस्नातक एव श्रेष्ठत्वाद्भिहितस्त्रथापि स्मृत्यन्तरादन्यस्नातकोऽपि बोद्धव्यः । तदाह हारीतः—'त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्यतस्नातकश्र्यः हति । यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदं समावर्तते स व्रतस्नातकः । उभयं समाप्य समावर्तते यः स विद्याव्यतस्नातकः । याज्ञवल्क्योऽप्याह (आचारा श्रादश्र)—'वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा' हति ॥२॥

तं प्रतीतं स्वधमेण ब्रह्मदायहरं पितुः । स्विवणं तल्प आसीनमहीयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥ तमिति ॥ तं ब्रह्मचारिधमीनुष्ठानेन स्थातं, दीयत इति दायः ब्रह्मैव दायो

ज्ञह्मदायः तं हरतीति ब्रह्मदायहरं, पितुः पितृतो गृहीतवेदमित्यर्थः । पितृतो-ऽध्ययनं मुख्यमुक्तं, पितुरभाव माचार्यादेरप्यधीतवेदं माख्याखंकृतं उस्कृष्टश-यनोपविष्टं गोसाधनमधुपर्केण पिता माचार्यो वा विवाहात्प्रथमं पूजयेत् ॥३॥

# गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि । उद्घद्देत द्विजो भार्यां सवर्णां रुक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

गुरुणेति ॥ गुरुणा दत्तानुज्ञः स्वगृद्योक्तविधिना कृतस्नानसमावर्तनः समानवर्णो ग्रुभलक्षणां कन्यां विवहेत् ॥ ४ ॥

## असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

अस्पिण्डा चेति ॥ मातुर्या सपिण्डा न भवति । ससैमपुरुषपर्यन्तं सपिण्डतां वक्ष्यति ( ५।६० ) 'सपिण्डतां तु पुरुषे ससमे विनिवर्तते' इति । तेन मातामहादिवंशजा जाया न भवतीत्यर्थः । चशब्दान्मानुसगोन्नापि मानुवंशपरंपराजन्मनान्नोः प्रत्यभिज्ञाने सति न विवाद्या, तदितरा तु मानुसगोन्ना विवाद्येति संगृहीतम् । तथा च व्यासः—'सगोन्नां मातुरुष्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि । जन्मनान्नोरिवज्ञान उद्वहेदिवशिष्क्रतः ॥' यत्तु मेधातिथिना विसष्ठनान्ना मानुसगोन्नानिषेधवचनं छित्तितम्—'परिणीय सगोन्नां तु समानप्रवरां तथा । तत्यां कृत्वा समुत्सगं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् । मातुरुत्य सुतां चैव मानुगोन्नां तथैव च' इति, तद्पि मानुवंशजन्मनामपरिज्ञानविषयमेव । अस्मगोन्ना च या पिनुरिति । पिनुर्या सगोन्ना न भवति, चकारात्पनृसपिण्डापि । पिनुव्यादिसंततिभवा या न भवतीत्यर्थः; सा द्विजातीनां दारत्यसंपान्दके विवाहे प्रशस्ता, मैथुनसाध्ये अध्याधानकर्मपुत्रोत्पादनादौ चेति ॥ ५॥

## महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः । स्त्रीसंबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

महान्त्यपीति ॥ उत्कृष्टान्यपि गवादिभिः समृद्धान्यपि इमानि दश कुलानि विवाहे त्यजेत् ॥ ६ ॥

#### पाठा०—1 क्रमण्यमैथुनी (=िपतृबीजादेव जातमात्रः ).

१ गौतमस्तु (४।३।५) — 'कर्ष्वं सप्तमात्पितृवन्धुभ्यो, मातृवन्धुभ्यः पञ्चमात्' इति सापिण्ड्यनिष्ट्तौ विशेषमाह । २ यच गौतमेनोक्तं (४।२) 'असमानप्रवरेविवाहः' इत्यत्र 'तत्र गोत्रसमत्वे सत्यपि प्रवर्भदश्चेद् युज्यते विवाहः' इति, तन्नातिरमणीयम् ; 'अरोणिणीं आतुमतीमसमानार्षगोत्रज्ञाम्' (याद्यः आ. ३।५३) इति निषेधात् । मिताक्षरायां च—अत्र चासपिण्डामित्यनेन पितृष्वस्य-मातृष्वस्नादिदुहितृनिषेधः । तथाऽसगोत्रामित्यनेन असपिण्डाया अपि मिन्नसमानगोत्राया निषेधः । तथाऽसमानप्रवरामित्यनेनाण्यसपिण्डाया असमोत्राया अपि समानप्रवराया निषेधः । तथाऽसमानप्रवरामित्यनेनाण्यसपिण्डाया असमोत्राया अपि समानप्रवराया निषेधः । इति स्पष्टीक्ररणाच्च ।

तानि कानीत्याह-

## हीनिकयं निष्पुरुषं निक्छन्दो रोमशार्शसम् । क्षय्यामयाच्यपसारिश्वित्रिकुष्टिकुलानि च ॥ ७ ॥

हीनिकियमिति ॥ जातकमादिकियारहितं, स्रीजनकं, वेदाध्यापनश्चन्यं, बहुदीर्घरोमान्वितं, सर्शोनामन्याधियुक्तम् । क्षयो राजयक्ष्मा मन्दानलापसारिश्च कुष्ठमुक्तां च कुलानि वर्जयेदिति पूर्विकियासंबन्धः । दृष्टमूलता चास्य प्रतिषेधस्य मातुलवदुत्पन्ना अनुवहन्ते । तेन हीनिकियादिकुलात्परिणीतायां संतितरिप तादशी स्यात् । न्याधयः 'संचारिणः' इति वैद्यकाः पठन्ति—'सर्वे संकामिणो रोगा वर्जयित्वा प्रवाहिकाम्' इति । अवेदमूला कथिमयं प्रमाण-मिति चेन्न । दृष्टार्थतयेव प्रमाण्यसंभवात् । तदुक्तं भविष्यपुराणे—'सर्वा एता वेदमूला दृष्टार्थाः परिहत्य तु' । मीमांसाभाष्यकारेणापि स्मृत्यधिकरणेऽभि-हितम् 'ये दृष्टार्थास्ते तत्प्रमाणं, ये त्वदृष्टार्थासेतु वैदिकशब्दानुमानम्' इति॥॥

कुलाश्रयं प्रतिषेधमभिधाय कन्यास्त्ररूपाश्रयप्रतिषेधमाह-

नोद्धहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् । नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम् ॥ ८॥ नोद्धहेदिति ॥ कपिलकेशां नित्यव्याधितामविद्यमानलोमां प्रचुरलोमां बहुपरुषभाषिणीं पिङ्गलाक्षीं कन्यां नोपयच्छेत् ॥ ८॥

> नर्श्वद्यसनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पश्यहित्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्।। ९।।

नेति ॥ ऋक्षं नक्षत्रं तन्नामिकां आर्दारेवतीत्यादिकाम् । एवं तरुनदीम्छे-च्छपर्वतपश्चिसपदासभयानकनामिकां कन्यां नोद्वहेत् ॥ ९ ॥

> अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् । तनुलोमकेशदशनां मृदङ्गीमुद्रहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥

अञ्यङ्गाङ्गीमिति ॥ अविकलाङ्गी मधुरसुखोद्यनाङ्गी हंसगजरुचिरगमनां अनितस्थूललोमकेशदशनां कोमलाङ्गी कन्यामुद्वहेत् ॥ १०॥

अत्र विधिनिषेधयोरिभधानमनिषिद्धविहितकन्यापरिणयनमभ्युदयार्थमिति दर्शयितुमाह—

यस्यास्तु न भवेद्धाता न विज्ञायेत वा पिता । नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

यस्या इति ॥ यस्याः पुनर्भाता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोहहेत् । 'यद्-पसं भवेदस्यासन्मम स्यात्स्वधाकरम्' हत्यभिसंधानमात्राद्पि पुत्रिका भव- ति । 'अभिसंधिमात्रारपुत्रिकेत्येके' इति गौतमस्मरणात् । यस्या वा विशेषेण पिता न ज्ञायतेऽनेनेयमुरपक्षेति तामपि नोद्वहेत् । अत्र च पुत्रिकाधर्मशक्क्येति न योजनीयमिति केचित्। गोविन्दराजस्त्वाह-'भिन्नपितृकयोरप्येकमातृक-योर्जातृत्वप्रसिद्धेः सञ्चातुकत्वेऽपि यस्या विशेषेण पिता न ज्ञायते तामपि पुत्रिकाशङ्कयैव नोद्वहेत्' इति । मेघातिथिस्त्वेकमेवेमं पक्षमाह । यस्यास्तु आता नास्ति तां पत्रिकाशङ्कया नोपयच्छेत । पिता चेस ज्ञायते प्रोपितो मृतो वा। वाशब्दश्चेद्धें। पितरि तु विद्यमाने तदीयवाक्यादेव पुत्रिका-त्वाभावमवगम्याऽभ्रातकापि वोढ्व्येति । असाकं तु विकल्पस्वरसादिदं प्रतिभाति—यस्या विशेषेण पिता न ज्ञायते तामपि जारजवेनाधर्मशङ्कया नोद्धहेत्। मत्र च पक्षे पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति पुत्रिका च अधर्मश्र तयोः शङ्काः पुत्रिकाधर्मशङ्का, तयेति यथासंख्यं योजनीयम् । अत्र च प्रकरणे सगोत्रपरि-णयने 'सगोत्रां चेदमलोपयच्छेन्मातृवदेनां विभृयात्' इति परिलागश्रवणात् 'परिणीय सगोत्रां च' इति प्रायश्चित्तश्रवणाचः तत्र तत्समभिष्याहृते च मातृः सपिण्डापरिणयनादौ 'भार्या'शब्दस्याहवनीयादिवत्संस्कारवचनत्वात् । येषां पुनर्दष्टगुणदोषमूलके विधिनिषेधाभिधाने यथा हीनिकयमिति, न तद्तिकमे भार्यात्वाभावः । अत एव मनुना 'महान्त्यपि समृद्धानि' (३।३) हत्यादिपृथ-करणं कृतम् । एतन्मध्यपतितश्च 'नक्षेत्रश्चनदीनाञ्चीम्' (३।९) इत्यादिप्रतिषे-धोऽपि न भार्यात्वाभावफलकः किंत्वत्र शास्त्रातिक्रमात्त्रायश्चित्तमात्रम् ११

## सवर्णाञ्ये द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः ऋमशो वराः ॥ १२ ॥ स्वर्णाऽत्र इति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैद्यानां प्रथमे विवाहे कर्तस्ये सवर्णा श्रेष्ठा भवति । कामतः पुनर्विवाहे प्रवृत्तानामेता वश्यमाणा श्रानुकोम्येन श्रेष्ठा भवेयुः ॥ १२ ॥

गूद्रैव भार्या ग्रुद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ १२ ॥ श्रू हैवेति ॥ श्रू इस्य श्रू हैव भार्या भवति न तुःकृष्टा वैश्यादयस्तिसः । वैश्यस्य च श्रू हो वैश्या च भार्या मन्वादिभिः स्मृता । क्षत्रियस्य वैश्याश्च क्षत्रिया वैश्या च श्रू शत्रिया च । वसिष्ठोऽपि विश्वामप्येके मञ्जवर्जम् इति द्विजातीनां मञ्जवर्जितं श्रू हाविवाहमाह ॥ १२ ॥

## न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।

कासिबिदपि वचान्ते श्द्रा भायोपदिस्यते ॥ १४॥

न ब्राह्मणेति ॥ ब्राह्मणक्षत्रिययोगाईस्थ्यमिच्छतोः सर्वथा सवर्णालाभे क्रांसिश्रद्धि वृत्तान्ते इतिहासाल्यानेऽपि श्रुद्धा भार्या नाभिश्रीयते । पूर्व-

पाठा -- 1 ऋगशोऽवराः.

सवर्णानुक्रमेणानुलोम्येन विवाहाधनुज्ञानाद्यं निषेधः प्रातिलोम्येन विवाह-विषयो बोद्धन्यः। ब्राह्मणक्षत्रियप्रहणं चेदं दोषभूयस्त्वार्थम्। सनन्तरं 'द्विजा-तयः' इति बहुवचनात् वैदयगोचरनिषेधस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १४॥

> हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो दिजातयः। कुलान्येव नयन्त्याग्च ससंतानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

हीनजातिस्त्रियमिति ॥ सवर्णामपि परिणीय हीनजाति सूदां शास्त्रावि-वेकात्परिणयन्तो ब्रह्मश्रियवैदयासन्नोत्पन्नपुत्रपौत्रादिकमेण कुळान्येव ससं-तिकानि सूद्धतां गमयन्ति । अत्र 'द्विजातयः' इति बहुवचननिर्देशाश्चिन्दया वैद्यस्यापि निषेधः कल्प्यते । ब्राह्मणक्षत्रिययोस्तु पूर्वत्रैव निषेधकल्पनात्तन्नि-न्दामात्रार्थतेव ॥ १५ ॥

> भूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च । भौनकस्य सुतोत्पत्त्या, तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

शृद्धावेदीति ॥ श्रूडां विन्दति परिणयतीति श्रूडावेदी, स पतित पतित इव भवति । इदमन्नेमेतं उतथ्यतनयस्य गौतमस्य च । अन्यादिश्रहणमादरार्थम् । पृतद्घाद्यणविषयम् । 'श्रूडायां सुतोत्पत्त्या पतिते' इति शौनकस्य मतमेत-रक्षत्रियविषयम् । 'श्रूडासुतोत्पत्त्या पतिते' इति भुगोमेतं एतद्वैद्दयविषयम् । एतस्य महर्षिमतत्रयस्य व्यवस्थासंभवे विसदशपतनविकल्पायोगात् । मेधा-तिथिगोविन्दराजयोस्तु मतं श्रूडावेदी पततीति पूर्वोक्तश्रुद्धाविवाहिनेधविशेषः सुतोत्पत्त्या पततीति देवाज्यातश्रुद्धाविवाहे 'ऋतौ नोपेयात्' इति विधानार्थम् । ऋतुकालगमने सुतोत्पत्तः । तदपस्यतयेति तु तान्येव श्रूडोत्पञ्चान्यपत्यानि यस्य स तदपस्यसस्य भावस्तदपस्यता तथा पति । पतेनेदसुकं भवति— ऋतावुपयन्नितरासु जातापस्य उपयात् ॥ १६ ॥

> ग्रद्रां शयनमारोप्य बाह्यणो यात्यधोगतिम् । जनयित्वा सुतं तस्यां बाह्यण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

शुद्धामिति ॥ सवर्णामपरिणीय दैवारकेहाहा श्रद्धापरिणेतुर्काह्मणस्य श्रयन-निषेधोऽयं निन्द्या निषेधस्मृत्यतुमानाच्छ्नां गरवा नाह्मण्ये नरकं गच्छति । 'जनयित्वा सुतं तस्याम्' इस्यृतुकालगमननिषेधपरम् । ब्राह्मण्यादेव हीयत इति दोषभूयस्त्वार्थम् ॥ १७ ॥

> दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस तु । नाश्चनित पितृदेवास्तन्न च स्वर्ग स गच्छति ॥ १८॥

वृंबेति ॥ यदि कथंचित्सवर्णानुक्रमेणाक्रमेण वा श्रुद्धापि परिणीयते तदा मार्थात्वेन प्रसक्तानि तत्कर्तृकानि देवेत्यनेन निषिष्यन्ते । देवं होमादि, पित्र्यं श्राद्धादि, श्रातिथेयमतिथिभोजनादि, एतानि यस ग्रद्धासंपाचानि तद्धन्यं कन्यं पितृदेवा नाश्चन्ति । न च तेनातिथ्येन स गृही स्वर्गं याति । 'यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्मा स्थितयान्यया' (९।८७) इति सवर्णायां सन्नि-हितायां निषेधं वक्ष्यति । स्वयं त्वसन्निहितायामपीत्यपुनरुक्तिः ॥ १८ ॥

## वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च । तस्यां चैव प्रसृतस्य निष्कृतिने विधीयते ॥ १९ ॥

बुषलीति ॥ वृषलीफेनोऽधररसः, स पीतो येन स वृषलीफेनपीतः । 'वाहि-ताझ्यादिषु' (पा.२।२।३७) इत्यनेन समासः । भनेन श्रूदाया अधररसपानं निषिध्यते । 'तिःश्वासोपहतस्य च' इति तया सहैकशय्यादौ शयननिषेधः । तस्यां जातापत्यस्य श्रुद्धिनीपदिश्यत इत्यृतुकालगमननिषेधानुवादः ॥ १९ ॥

# चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् । अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहानिबोधत ॥ २० ॥

चतुर्णामिति ॥ चतुर्णामि वर्णानां ब्राह्मणादीनां परलोके इहलोके च कांश्चिद्धितान्कांश्चिद्दितानिमानभिधास्त्रमानानष्टौ संक्षेपेण भार्याप्राप्तिहेत्-न्विवाहान् ऋणुत ॥ २० ॥

> त्राक्षो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः । गान्धर्वो राक्षसश्चेव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

ब्राह्म इति ॥ त एते नामतो निर्दिश्यन्ते । ब्राह्मराक्षसादिसंज्ञा चेयं शास्त्र-संव्यवहारार्था स्तुतिनिन्दाप्रदर्शनार्था च । ब्रह्मण इवायं ब्राह्मः । रक्षस इवायं राक्षसः । न तु ब्रह्मादिदेवतात्वं विवाहानां संभवति । पैशाचस्याधम-त्वाभिधानं निन्दातिशयार्थम् ॥ २१ ॥

> यो यस धम्यों वर्णस गुणदोषों च यस यो । तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

य इति ॥ धर्मादनपेतो धर्म्यः । यो विवाहो धर्म्यो यस्य विवाहस्य यौ गुण-दोषौ इष्टानिष्टफले तत्तद्विवाहोत्पन्नापत्येषु ये गुणागुणास्तत्सर्वे युष्माकं प्रक-वैषाभिषास्यामा । वक्ष्यमाणानुकीर्तनिमिदं शिष्याणां सुंखग्रहणार्थम् ॥ २२ ॥

# पडानुपूर्व्या विष्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् । विद्रश्रुद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धम्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥

षद्धित ॥ त्राक्षणस्य त्राक्षादिक्रमेण षट् । क्षत्रियस्यावरानुपरितनानासुरा-द्धात्रदुरः । विद्युद्धयोस्तु तानेव राक्षसवर्जितानासुरगान्धर्वपैशाचान् धर्म्या-रूथर्म्यदुर्त्तपेताञ्जानीयात् ॥ २३ ॥

## चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्त्रशस्तान्कवयो विदुः । राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैक्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

चतुर इति ॥ ब्राह्मणस्य प्रथमं पिठतान्ब्राह्मादींश्चतुरः । क्षत्रियस्य राक्षस-मेकमेव । वैश्यग्रूद्रयोरासुरम् । एताञ्क्रेष्ठान् ज्ञातारो जानन्ति । अत एव ब्राह्मणादिष्वासुरादीनां पूर्वविहितानामप्यत्राप्युपादानं जघन्यत्वज्ञापनार्थम् । तेन प्रशस्तविवाहासंभवे जघन्यस्मापि परिग्रह इति दृशितम् । एवमुत्तरन्नापि विगर्हितपरित्यागो बोद्धन्यः ॥ २४ ॥

## पश्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यों स्मृताविह । पैशाचश्चासुरश्चेव न कर्तव्यो कदाचन ॥ २५ ॥

पञ्चानामिति ॥ इह पैशाचप्रतिषेधादुपरितनानां पञ्चानां प्राजापत्यादीनां प्रहणं, तेषु मध्ये प्राजापत्य-गान्धर्व-राक्षसाख्ययो धर्मादनपेताः, तत्र प्राजापत्यः क्षत्रियादीनामप्राप्तो विधीयते । ब्राह्मणस्य विहितःवादनूद्यते । गान्धर्वस्य च चतुर्णामेव प्राप्तत्वादनुवादः । राक्षसोऽपि वैद्ययहृद्धयोविधीयते । ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्त्यवस्थितस्याप्यासुरपेशाचौ न कर्तव्यो । कदाचनेत्यविशेषाचतुर्णामेव निषिध्यते । अत्र यं वर्णं प्रति यस्य विवाहस्य विधिनिषेधौ तस्य तं प्रति-विकल्पः, स च विहितासंभवे बोद्धन्यः ॥ २५ ॥

## पृथकपृथग्वा मिश्रो वा विवाही पूर्वचोदितो । गान्धर्वो राक्षसञ्चेव धम्यी क्षत्रस्य ते। स्मृतो ॥ २६ ॥

पृथगिति ॥ पृथनपृथगिति प्राप्तत्वादन्यते । मिश्राविति विधीयते । पृथन्वपृथगिति ॥ पृथन्विति त्राप्तत्वादन्यते । मिश्राविति विधीयते । पृथन्वपृथगिति । प्रवादिनिः स्मृतौ । यदा स्त्रीपुंसयोरन्योन्यानुरागपूर्वकसंवादेन परिणेता युद्धादिना विजिल्य तामुद्धहेत्तद्वा गान्धवराक्षसौ मिश्रौ भवतः ॥ २६ ॥

## आच्छाद्य चार्चियत्वा च श्रुतिशीलवते खयम्। आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ २७॥

आच्छाद्यति ॥ आच्छादनमात्रस्वैवौचित्यप्राप्तत्वात्सविशेषवाससा कन्या-वरावाच्छाद्यालंकारादिनी च पूजयित्वा विद्याचारवन्तमप्रार्थकवरमानीय तस्मै कन्यादानं ब्राह्मो विवाहो मन्वादिभिरुक्तः ॥ २७ ॥

## यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते । अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्म प्रचक्षते ॥ २८ ॥

यञ्च इति ॥ ज्योतिष्टोमादियसे प्रारब्धे यथाविधि ऋत्विजे कर्मकर्त्रे अछं-कृत्य कन्यादानं दैवं विवाहं मुनयो बुवते ॥ २८ ॥ एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः । कन्याप्रदानं विधिवदाषीं धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

एकमिति ॥ स्त्रीगवी पुंगीश्र गोमिश्चनम्; तदेकं द्वे वा वरास्त्रमेतो धर्मार्थं यागादिसिद्धये कन्याये वा दातुं नतु शुक्कबुष्या गृहीस्वा यद्यथाशास्त्रं कन्या-दानं स आर्थो विवाहो विधीयते ॥ २९ ॥

सहोभी चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।

कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३०॥ सहेति ॥ सह युवां धर्मं क्रस्तमिति सुताप्रदानकाले वचसा पूर्वं नियम्यार्चियता यक्वन्यादानं स प्राजापत्यो विवाहः स्मृतः ॥ ३०॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्याये चैव शक्तितः।

कन्याप्रदानं खाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

श्चातिभ्य इति ॥ कन्याया ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यः कन्यायै यद्यथाशक्ति धनं दस्वा कन्याया आप्रदानमादानं स्वीकारः स्वाच्छन्द्यात्स्वेच्छया न त्वार्षे इव शास्त्रीयधनजातिपरिमाणनियमेन स आसुरो विवाह उच्यते ॥ ३१ ॥

> इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च । गान्धर्वः स त विज्ञेयो मेथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

इच्छयेति ॥ कन्याया वरस्य चान्योन्यानुरागेण यः परस्परसंयोग भालि-क्रनादिरूपः स गान्धवों ज्ञातन्यः । संभवत्यसादिति संभवः । यसात्कन्या-वरयोरभिलाषादौ संभवति । अत एव मैथुन्यो मैथुनाय हितः, सर्वविवाहा-नामेव मैथुन्यत्वेन यदस्य मैथुन्यत्वाभिधानं तत्सस्यपि मैथुने न विरोध इति प्रदर्शनार्थम् ॥ ३२ ॥

हत्ना छित्त्वा च भित्त्वा च कोशन्तीं रुदतीं गृहात्। प्रसद्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

हत्वेति ॥ प्रसद्धा बलाकारेण कन्याया हरणं राक्षसो विवाह इत्येव सक्षणम्। यदा तु हर्तुः शक्त्यतिशयं ज्ञात्वा पित्रादिभिरुपेक्ष्यते तदा नावश्यकं हननादि। यदि कन्यापक्षः प्रतिपक्षतां याति तदा हननादिकमपि कर्त्तेश्य-मित्रार्थप्राप्तमन् वते। कन्यापक्षान्विनाश्य तेषामङ्ग्लेदं कृत्वा प्राकारादी-निभवा 'हा पितर्जातरनाथाऽहं हिये' हति वदन्तीमश्रूणि मुखन्तीं यत्कन्यां गृहादपहरति। अनेन कन्यायामनिष्णोक्षा गान्धर्वाद्विवेकार्थम् ॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति । स पापिष्ठो विवाहानां पैशार्चः प्रथितोऽश्रमः ॥ ३४ ॥ सुप्तामिति ॥ निदामिश्रुतां मधमदतिहृ्छां श्रीलसंस्थ्रणेन रहितां विजनदेशे यत्र विवाहे मैथुनधर्मेण प्रवर्तते स पापहेतुर्विवाहानां मध्येऽधमः पैशाचः स्वातः ॥ ३४ ॥

> अद्भिरेव द्विजाऱ्रयाणां कन्यादानं विशिष्यते । इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

अद्भिरिति॥ उद्कदानपूर्वकमेव बाह्यणानां कन्यादानं प्रशस्तम् । क्षत्रिया-दीनां पुनर्विनाप्युद्कं परस्परेच्छ्या वाङ्यात्रेणापि कन्यादानं भवति । उद्क-पूर्वकमपीत्यनियमः॥ ३५ ॥

यो यसैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः । सर्वे शृणुत तं विप्राः सैम्यकीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

य इति ॥ यद्यपि 'गुणदोषौ च यस्य यौ' (३।२२) इति गुणाभिधानमपि प्रतिज्ञातमेव तथापि बहूनामर्थानां तत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वाद्विशेषज्ञाप-नार्थः पुनरुपन्यासः । एषां विवाहानामिति निर्धारणे षष्ठी । एषां मध्ये यस्य विवाहस्य यो गुणो मनुना कथितस्तत्सर्वे हे विद्याः मम कथयतः शृणुत ॥३६॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् । ब्राह्मीपुत्रः सकृतकृनैमोचयत्येनसः पिदन् ॥ ३७॥

द्शेति ॥ दश पूर्वान्पित्रादीन्वंश्यान्, परान्पुत्रादीन्दश, भात्मानं चैक-विशकं माह्मणविवाहोडापुत्रो यदि सुकृतकृद्भवति तदा पापान्मोचयति । पित्रा-दीक्षरकादुद्धरति, पुत्रादयश्च तस्य कुले निष्पापा जायन्त इति मोचनार्थः । तेषामनुत्पत्तेः पापध्वंसस्याशक्यत्वात् ॥ ३७ ॥

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।

आर्षोदाजः सुतस्तिंस्तीन्षद्षद् कायोदजः सुतः ॥ ३८ ॥ दैवोद्वेति॥ दैवविवाहोदायाः पुत्रः सप्त परान्पित्रादीन् सप्तावरान्पुत्रादीश्च ॥ आर्षिववाहोदायाः पुत्रस्तिन्पत्रादीश्चिश्च पुत्रादीन् । प्राजापत्यविवाहोदायाः पुत्रः षद पित्रादीन् षद पुत्रादीन् आत्मानं चैनसो मोचयतीति पूर्वस्यैव सर्वन्त्राचुषकः । कायोदज इति 'ड्यापोः संज्ञाङन्दसोर्बहुङम्' (पा. ६।३।६३) इति इस्तत्वम् । ब्राह्माद्यविवाहोदेशक्रमानुसारेण मन्द्रफलस्वार्षस्येह बहु-फलप्राजापत्यात्पूर्वाभिधानम् । ब्राह्मादिविवाहोदेशस्त्रोक एव कथमयं क्रम इति चेत् 'पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः" (३।२५) इत्यत्र प्राजापत्यप्रहणार्थम् । अन्यथा त्वार्षस्येव प्रहणं स्वात् ॥ ३८॥

प्रसवे च गुणागुणानिति यदुक्तं तदुच्यते—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुष्वेवातुपूर्वशः।

ब्रैह्मवर्चिसेनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥ ब्राह्मेति ॥ ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेषु कमावस्थितेषु श्वताध्ययनसंपत्तिक-

पाठा०-1 सर्व कीर्तयतो. 2 मोचयेदेनसः. 3 ब्रह्मवर्चेखिनः.

तेजोयुक्ताः पुत्राः शिष्टप्रिया जायन्ते । प्रियार्थत्वाच संमतशब्दस्य 'केन च पूजायाम्' (पा. २।२।१२) इति न षष्टीसमासप्रतिषेधः । संबन्धसामान्य-विषया षष्टीयं समस्यते ॥ ३९॥

## रूपसन्तराणोपेता धनवन्तो यशस्त्रनः । पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥

रूपेति ॥ रूपं मनोहराकृतिः, सन्वं द्वादशाध्याये वक्ष्यमाणं, गुणा दया-दयः, तैर्युक्ताः धनिनः ख्यातिमन्तो यथेप्सितवस्रसम्गन्धलेपनादिभोगशालिनो धार्मिकाश्च पुत्रा जायन्त इति पूर्वमनुवर्तते । शतं च वर्षाणि जीवन्ति ॥४०॥

## इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः । जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

इतरेष्ट्रित ॥ ब्राह्मादिभ्यश्चतुभ्योऽन्येष्वासुरादिषु चतुर्षु विवाहेषु कूर-कर्माणो मृषावादिनो वेदद्वेषिणो यागादिधर्मद्वेषिणः पुत्रा जायन्ते ॥ ४१ ॥

> अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा । निन्दितैर्निन्दिता दृणां तसान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

अनिन्दितैरिति ॥ संक्षेपेण विवाहानां फलकथनमिदम् । अगहिँतैर्भार्या-प्राप्तिहेतुभिविंवाहैरगर्हिता मनुष्याणां संतिर्भवति । गर्हितैस्तु गर्हिता । तसाद्गहिंतविवाहान्न कुर्यात् ॥ ४२ ॥

> पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासपदिक्यते । असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥

पाणीति ॥ समानजातीयासु गृह्यमाणासु इस्तग्रहणलक्षणः संस्कारो गृह्या-दिशास्त्रेण विधीयते । विजातीयासु पुनरुद्धमानासु विवाहकर्मणि पाणिप्रहण-स्थानेऽयमनन्तरस्रोके वक्ष्यमाणो विधिज्ञेयः ॥ ४३ ॥

> शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया । वसनस्य दशा ग्राह्या शृद्धयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

द्वार इति ॥ क्षत्रियया पाणियहणस्थाने बाह्यणर्विवाहे बाह्यणहस्तपरिगृही-तकाण्डैकदेशो याद्यः । वैश्यया बाह्यणक्षत्रियविवाहे बाह्यणक्षत्रियावध्तप्रतो-देकदेशो याद्यः । शूद्रया पुनर्द्विजातित्रयविवाहे प्रावृतवसनदशा प्राद्धा ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्वात्स्वदारनिरतः सदा । पर्ववर्ज ब्रजेचैनां तद्वतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥ ऋत्विति ॥ ऋतुर्नाम शोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्यः स्रीणा- मवस्थाविशेषः। तत्कालाभिगामी स्यादित्ययं नियमैविधिः नत् परिसंख्या.स्वार्थ-हानिपरार्थकल्पनाप्राप्तबाधात्मकदोषत्रयदुष्टत्वात् । ऋतुकालेऽपि रागतः पक्षे गमनप्राप्तौ यस्मिन्पक्षेऽप्राप्तिस्तत्र विधिः 'समे यजेत' इतिवत्। अत एव ऋताव-गमने दोषमाह पराश्वर:- 'ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घो-रायां भ्रृणहत्यायां पतते नात्र संशयः ॥' अनुत्पन्नपुत्रस्य चायं नियमः । 'ब्राह्मणो ह वै जायमानिखिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पित्रम्यः स्वाध्या-येनिषिभ्यः' इत्येतत्प्रत्यक्षश्चितिमूळत्वेऽस्य संभवति मूळान्तरकल्पनस्यायुक्त-त्वात्। 'तसाबुग्मासु पुत्रार्थी संविशेदातेवे स्त्रियम्' (३।४८) इति च वश्यति । ततोऽप्येतच्छृतिमूलस्वमवगम्यते । पुत्रोत्पादनशास्त्रस्य चैकपुत्रोत्पादनेनैव चरितार्थत्वात् 'कामजानितरान्विद्ः' (९।१०७) इति दर्शनाद्जातपुत्रस्थैव नियमः । 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' इति मन्नस्तु बहुपुत्रप्रशंसापरः । जात-पुत्रस्याप्यतुकालगमननियमो न दशस्वेवावतिष्ठते । स्वदारनिरतः सदेति 'नित्यं स्त्रदारसंतुष्टः स्वान्नान्यभार्यामुपगच्छे'दिति विधानात्परिसंख्यैव । वाक्यान-र्थक्यात्स्वदारगमनस्य प्रशस्तत्वात् । ऋतावगमने दोषश्रवणाच नियमविधिः । पर्ववर्जं व्रजेचैनामिति । पर्वाण्यमावास्यादीनि वक्ष्यन्ते। तानि वर्जयित्वा भार्या-शीतिवतं यस्य स तहतोऽनृतावप्युपेयात्। अत एव रतिकाम्यया नतु पुत्रोत्पाद-नशास्त्रबुद्धा । तसाद्विधित्रयमिद्म्-ऋताबुपेयादेव, अन्यभार्यां नोपगच्छेत्, अनुतावि भार्याप्रीतये गच्छेदिति । अत्र च गौतमः-'ऋतावुपेयादनृतौ च पर्ववर्जम्' ( गौ.स्षु.५।१ )। याज्ञवल्क्योऽप्याह ( आचारा. ३।८१ ) 'यथा-कामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्तरन्' । पर्ववर्जमिति ऋतावनृतौ चोभयत्र संबध्यते ॥ ४५॥

> ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः । चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥

ऋतुरिति ॥ अत्र 'राज्यहः'शब्दाबहोरात्रपरो । शोणितदर्शनात्रमृति स्त्रीसंपर्कगमनादो शिष्टतिन्दितैश्चतुर्भिरन्यैरहोरात्रैः सह पोडशाहोरात्राणि मासि मासि स्त्रीणामृतुः । स्वभावे भवः स्वाभाविकः । व्याध्यादिना तु न्यूनाधिककालोऽपि भवति ॥ ४६ ॥

> तासामाद्याश्रतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या । त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः ॥ ४७ ॥

तासामिति ॥ तासां पुनः षोडशानां रात्रीणां शोणितदर्शनात्रसृति भाद्याश्चतस्रो रात्रय एकादशी त्रयोदशी च रात्रिगमने निन्दिता। अवशिष्टा दशरात्रयः प्रशस्ता भवेयुः॥ ४७॥

१ 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र वा प्राप्तौ परिसंख्या निगचते ॥' इति वचनात् ।

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु । तसाद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

युग्मास्तिते॥ पूर्वोक्तास्त्रपि दशसु षष्ठष्टम्याद्यासु रात्रिषु गमने पुत्रा उत्पद्यन्ते । अयुग्मासु पञ्चमीससम्यादिषु दुहितरः । अतः पुत्रार्थी युग्मासु ऋतुकाले भार्यो गच्छेत् ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।

समेऽपुमान्पुंस्त्रियों वा श्लीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥
पुमानिति ॥ पुंसो बीजेऽधिकेऽयुग्मास्वि पुत्रो जायते । खीबीजेऽधिके
युग्मास्विष दुहितैव । अतो वृष्याहारादिना निजबीजाधिक्यं भार्यायाश्चाहारलाववादिना बीजाल्पत्वमवगम्य युग्मास्विष पुत्रार्थिना गन्तव्यमिति दृशितम् ।
स्वीपुंसयोस्तु बीजसाम्येऽपुमान्नपुंसकं जायते । पुंस्वियाविति यमौ च ।
निःसारेऽल्पे चोभयोरेव बीजे गर्भस्यासंभवः ॥ ४९ ॥

निन्द्याख्रष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् । ' ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

निन्द्यति ॥ निन्द्यासु पूर्वोक्तासु षद्सु रान्निषु अन्यासु च निन्द्यास्विप यासु कासुचिद्दृष्टासु स्त्रियो वर्जयन्द्वे रान्नी अविशिष्टे पर्ववर्जिते वजस्व खण्डित वस्त्रास्वार्ये मन्ति । यत्रतत्राश्रमे वसन्तिति वानश्रस्थापेक्षया । तस्य हि भार्यया सह गमनपक्षे ऋतुगमनं प्रसक्तम् । नच वनस्थभार्याया । ऋतुर्न भवतीति वाच्यम् । 'वनं पञ्चाशतो वजेत्' इति, 'वर्षे रेकगुणां भार्यासुद्वहेद्द्रिगुणः पुमान्' इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनया तत्संभवात् । मेधातिथिस्तु 'यत्रतत्राश्रमे वसन्नित्यत्वविद्यान्त्रम् । गृहस्थेतराश्रमत्रये जितेनिद्वयत्विधानाद्रात्रिद्वयाभ्यनुज्ञानासंभवात्' इत्याह । गोविन्दराजस्तु—'उत्पन्नविनष्टपुत्रस्याश्रमान्तरस्थस्यापीच्छ्या पुत्रार्थे रान्निद्वयगमने दोषाभावप्रतिपादनार्थमेतत् । यत्रतत्राश्रमे वसन्निति वचनात्पुत्रार्थी संविशेदिति च प्रस्तुतत्वात्पुत्रस्य महोपकारकत्वात्' इत्याह । 'इन्त गोविन्दराजेन विशेषमिववृण्वता । ब्यक्तमङ्गीकृतमृतौ सदारसुरतं यतेः' ॥ ५० ॥

न कन्यायाः पिता विद्वानगृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यात्ररोऽपत्यविक्रयी ॥ ५१ ॥
नेति ॥ कन्यायाः पिता धनम्रहणदोषश्चोऽल्पमपि धनं कन्यनदाननिमित्तकं
न गृह्णीयात् यस्माञ्चोभेन तद्वहृह्णपत्यविक्रयी भवति ॥ ५३ ॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति वान्धवाः । नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ५२॥ स्त्रीधनानीति ॥ कन्यादानिमित्तकश्चलकप्रहणनिषेधप्रसङ्गान्नवमाध्याया- मिधेयश्रीष्रनग्रहणनिषेधोऽयम् । ये बान्धवाः पतिपित्रादयः कल्जबुहित्रादि-धनानि गृह्वन्तिः, नारी श्री, यानान्यश्रादीनि, वश्रं चेति प्रदर्शनार्थम् । सर्वमेव धनं न ग्राह्मम् । ते गृह्वानाः पापकारिणो नरकं गच्छन्ति ॥ ५२॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषेव तत् । अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥

आर्ष इति ॥ आर्षे विवाहे गोमिशुनं शुल्कं वराद्राद्यमिति केचिदाचार्या वदन्ति, तत्पुनरसत्यम् । यसादल्पमूल्यसाध्यत्वादल्पो वा भवतु, बहुमूल्य-साध्यत्वान्महान्वा भवतु, स तावद्विकयो भवत्येव। यत्पुनः 'एकं गोमिथुनम्' (३।२९) इति पूर्वमुक्तं तत्परमतमिति गोविन्दराजस्तद्युक्तम् । मनुमते रुक्षणमार्पस्य न स्यादेव । वराद्गोमिश्चनग्रहणपूर्वककन्यादानस्वैवार्षविवाह-लक्षणत्वात् । मन्वभिमतमन्यदेवार्षलक्षणम् , एकं गोमिश्रुनमिति परमतमिति चेत्-' एकं गोमिथुनं हे चेस्रेतत्परमतं यदि । तदा मनुमतेनार्षलक्षणं कि तद्व्यताम् ॥ अष्टौ विवाहान्कथयन्नार्षोडासंततेर्गुणान्।मनुः किं स्वमतेनार्ष-लक्षणं वक्तमक्षमः ॥' मेघातिथिस्तु पूर्वापरविरोधोपन्यासनिरासमेव न कृत-वान् । तसादसाभिरित्थं व्याख्यायते-आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुत्कोच-रूपमिति केचिदाचार्या वदन्ति । मनोस्तु मतं नेदम्, शास्त्रनियमितजाति-संख्याकं प्रहणं न शुल्करूपम् । शुल्कत्वे मूल्यालपत्वमहत्त्वे अनुपयोगिनी विकय एव तदा सात् । किंत्वार्वविवाहसंपत्त्ये अवश्यकतेन्ययागादिसिद्धये कन्याये वा दातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते । अत एवार्षेरुक्षणश्लोके 'वरा-दादाय धर्मतः ( ३।२९ ) इति धर्मतो धर्मार्थमिति तत्यार्थः । भोगलोमेन तु धनप्रहणं शुल्करूपमशास्त्रीयम् । अत एव 'गृह्धन् शुल्कं हि लोमेन' ( ३।५१ ) इति निन्दामुक्तवान् । तस्मात्पौर्वापर्यपर्यालोचनादार्षे धर्मार्थं गोमिश्चनं याद्यं नतु भोगार्थमिति मनुना स्वमतमनुवर्णितम् ॥ ५३ ॥

'आर्षे गोमिशुनं गुल्कम्' (३।५३) इत्युक्तम्, इदानीं कन्यार्थमपि धनस्य दानं न गुल्कमित्याह—

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः। अर्हणं तत्क्रमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

यासामिति ॥ यासां क्रन्यानां प्रीत्या वरेण दीयमानं धनं पित्रादयो न गृह्णन्ति किंतु कन्याये समर्पयन्ति सोऽपि न विकयः; यसात्क्रमारीणां पूजनं तदानृशंस्यमहिंसकत्वं केवळं तदनुकम्पारूपम् ॥ ५४ ॥

पितृभिश्रीतृभिश्चेताः पतिभिदेवरैस्तथा ।
पूज्या भूषित्रतव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥
पितृभिरिति ॥ न केवलं विवाहकाले वरेण दसं धनं समर्पणीयं, किंतु

धाठा०-1 तावानेव स विकयः.

O TTA IIIA

तदुत्तरकालमपि पित्रादिभिरप्येता भोजनादिना पूजयितम्याः वस्रालंकारा-विना भूषयितन्याश्च; बहुधनादिसंपदं प्राप्तुकामैः ॥ ५५ ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥ यत्रेति ॥ यत्र कुले पित्रादिभिः खियः पूज्यन्ते तत्र देवताः प्रसीदिन्ति । यत्र पुनरेता न पूज्यन्ते तत्र देवताप्रसादाभावाद्यागादिकियाः सर्वा निष्फला अवन्तीति निन्दार्थवादः ॥ ५६ ॥

## शोचिन्त जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् । न शोचिन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

द्योचन्तीति ॥ 'जामिः स्वस्कुलिखयोः' इत्याभिधानिकाः । यस्मिन्कुले भगिनीगृहपतिसंवर्धनीयसिक्षिहितसपिण्डिखयश्च पत्नीदुष्टितृसुषाद्याः परि-तापादिना दुःखिन्यो भवन्ति तत्कुलं दीव्रं निर्धनीभवति दैव राजादिना च पीड्यते । यत्रैता न शोचन्ति तद्धनादिना नित्यं वृद्धिमेति । मेधातिथि-गोधिन्द-राजौ तु 'नवोदादुहितृसुषाद्या जामयः' इत्याहतुः ॥ ५७ ॥

> जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः । तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

जामय इति ॥ यानि गेहानि भगिनीपत्नीदुहितृसुवाद्या अपूजिताः सत्योऽभिशपन्ति 'इदमनिष्टमेषामस्तु' इति तान्यभिचारहतानि धनपश्चादि-सिहतानि नश्यन्ति ॥ ५८ ॥

> तसादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । भृतिकार्मनरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

तसादिति ॥ यसादेवं तसात्कारणादेता भूषणाच्छादनाशनैर्निसं सत्का-रेषु कौमुद्यादिषु, उत्सवेषूपनयनादिषु समृद्धिकामैर्नृभिः सदा पूजनीयाः ॥५९॥

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।

पुत्रपौत्रादिसंततिः श्रेयोभागिनी भवति ॥ ६० ॥

यसिनेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥
संतुष्ठ इति ॥ भार्यया भर्ता इति हेतौ तृतीया । यत्र कुले भार्यया भर्ता
श्रीतो भवति रूपन्तराभिलाषादिकं न करोति, भार्या च स्वामिना श्रीता
भवति तसिन्कुले चिरं श्रेयो भवति । कुल्प्रहणान्न केवलं भार्यापती एव,

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् । अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥ यदीति ॥ विष्यर्थोऽत्र रुचिः । यदि स्त्री वस्त्राभरणादिना शोभाजनकेन दीसिमती न स्यात्तदा स्वामिनं पुनर्न हर्षयेदेव । हिशब्दोऽवधारणे । अप्रहर्षा-त्पुनः स्वामिनः प्रजनं गर्भधारणं न संपद्यते ॥ ६१ ॥

> स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् । तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

स्त्रियामिति ॥ स्त्रियां मण्डनादिना कान्तिमत्यां भर्तृस्नेहविषयतया पर-पुरुषसंपर्कविरद्वात्तत्कुलं दीसं भवति । तत्यां पुनररोचमानायां भर्तृविद्विष्टतयाः नरान्तरसंपर्कात्सकलमेव कुलं मलिनं भवति ॥ ६२ ॥

> कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च । कुलान्यकुलतां यान्ति बाह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥

कुविवाहैरिति ॥ आसुरादिविवाहैर्यथावर्णनिषिद्धैर्जातकर्मादिक्रियालोपै-वेंदापाठेन ब्राह्मणापूजनेन प्रख्यातकुलान्यपकर्षे गच्छन्ति ॥ ६३ ॥

> शिल्पेन व्यवहारेण श्रुद्रापत्यैश्व केवलैः । गोभिरश्वेश्व यानैश्व कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

द्विल्पेनेति ॥ चित्रकर्मादिशिल्पेन कलया धनप्रयोगात्मकन्यवहारेण केवलश्चवापत्येन गवाश्वरथक्रयविक्रयादिना कृषिराजसेवाभ्यां कुलानि विन-इयन्तीत्युत्तरेण संबन्धः ॥ ६४ ॥

> अयाज्ययाजनैश्वेव नास्तिक्येन च कर्मणाम् । कुलान्याञ्च विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्नतः ॥ ६५ ॥

अयाज्येति ॥ अयाज्यवात्यादियाजनैः कर्मणां श्रोतसार्वादीनां नास्तिक्येन 'शास्त्रीयफलवत्कर्मसु फलाभावबुद्धिनास्तिक्यम्' । वेदाध्ययनशून्यानि कुलानि क्षिप्रमपकर्षे गच्छन्ति । अत्र च विवाहपकरणे विवाहनिन्दाप्रसङ्गेन कियालोपादयो निन्दिताः । निन्दया चैतस्र कर्वच्यमिति सर्वत्र निषेधः कल्प्यते ॥ ६५ ॥

इदानीं क्रियालोपादिगतपासिककुलनिन्दानुप्रसत्त्या कुलोत्कर्षमाइ-

मत्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यलपधनान्यपि । कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥ ६६ ॥

मन्त्रेति ॥ यद्यपि 'धनेन कुलम्' इति लोके प्रसिद्धं तथाप्यल्पधनान्यपि कुलानि वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानप्रसक्तान्युत्कृष्टकुलगणनायां गण्यन्ते महतीं च स्यातिमर्जयन्ति ॥ ६६ ॥

विवाहप्रकरणमतिकान्तम् । इदानीं वैवाहिकामौ संपाधं महायज्ञविधानं चेति वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं सहायज्ञाद्यनुष्ठानमाह-

# वैवाहिकेऽग्रौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि। पञ्चयज्ञविधानं च पिकं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

वैवाहिक इति ॥ विवाहे भवो वैवाहिकः । अध्यात्मादित्वाट्टञ् । तस्मि-क्यों गृह्योक्तं कर्म सायंत्रातहोंमाष्टकादि यथाशास्त्रमिसंपाचं च पद्ममहा-यज्ञान्तर्गतवैयादेवायनुष्ठानं, प्रतिदिनसंपाद्यं च पाकं गृहस्थः कुर्यात् ॥ ६७ ॥

# पश्च सना गृहस्थस्य चुह्नी पेषण्युपस्करः।

कण्डनी चोदकुम्भश्र बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

पञ्चिति ॥ पशुवधस्थानं स्ना । स्ना इव स्ना हिंसास्थानगुणयोगाचुछ्या-दयः पञ्च गृहस्थत्य हिंसाबीजानि हिंसास्थानानि । चुङ्की उद्गाहनी, पेषणी द्दपदुपलात्मिका, उपस्करो गृहोपकरणकुण्डसंमार्जन्यादिः, कण्डनी उल्रू-खलमुसले, उद्कुम्भो जलाधारकल्याः । याः स्वकार्ये योजयन्पापेन संबध्यते ॥ ६८ ॥

## तासां क्रमेण सर्वासां निष्कुत्यर्थं महर्षिभिः। पश्च ऋप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ः॥

तासामिति ॥ तासां चुछ्यादिस्थानानां यथाकमं निष्कृत्यर्थेमुलक्रपाप-नाशार्थं गृहस्थानां पञ्चमहायज्ञाः प्रतिदिनं मन्वादिभिरनुष्टेयतया समृताः । एवं च निष्कृत्यर्थमित्रभिधानाद्धिसास्थानत्वेन च कीर्तनात् 'सूनादोषैर्न िरप्यते' (३।७१-) इति वक्ष्यमाणस्वास्पञ्जसुनानां पापहेतुकस्वं, पञ्जयज्ञानां च तत्पापनाशकत्वसवगम्यते । प्रत्यहमित्यभिधानात्प्रतिष्टिनं तत्पापक्षयत्या-पेक्षितस्वारसंध्यावन्दनादिवक्षित्यस्वमपि न विरुध्यते ॥ ६९ ॥

# अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिभौतो नृयज्ञोऽतिथिप्जनम् ॥ ७० ॥

अध्यापनमिति ॥ 'अध्यापन'शब्देनाध्ययनमपि गृह्यते। 'जपोऽहृत'(३।७४) इति वक्ष्यमाणत्वात् । अतोऽध्यापनमध्ययनं च ब्रह्मयज्ञः । 'अञ्चार्यनोदकेन वा' (३।८२) इति तर्पणं वक्ष्यति स पितृयज्ञः । असी होमो वक्ष्यमाणो देव-यज्ञः । भूतबिरुभूतयज्ञः । अतिथिपूजनं मनुष्ययज्ञः । अध्यापनादिषु यज्ञ-शब्दो महच्छब्दश्च स्तुत्यर्थ मोणः॥ ७०॥

## पश्चेतान्यो महायज्ञान हापयति शक्तितः। स गृहेञ्जि वसन्नित्यं सनादोपैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

ु पञ्चिति ॥ सकित इत्येतद्विधानार्थोऽयमनुवादः । अनुकरुपेनापि यथासं-भवमेते कर्तस्याः । हापयतीति प्रकृत्यर्थे एव छान्दसत्वाण्याच् । जहातीत्यर्थः॥

## देवतातिथिभृत्यानां पिदृणामात्मनश्च यः । न निर्वपति पश्चानामुच्छुसन्। स जीवति ॥ ७२ ॥

देवतेति ॥ 'देवता'शब्देंन भूतानामि ग्रहणम् । तेषामि बलिहरणे देवतारूपत्वात् । भूत्या वृद्धमातापित्रादयोऽवश्यं संवर्धनीयाः । 'सर्वत एवात्मानं गोपायेत' इति श्रुत्या आत्मपोषणमप्यवश्यं कर्तव्यम् । देवतादीनां पञ्चानां योऽतं न ददाति स उच्छ्रसन्नि जीवितकार्याकरणान्न जीवतीति निन्दयावश्यकर्तव्यता बोध्यते ॥ ७२ ॥

## अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।

ब्राह्म्यं हुतं प्राश्चितं च पश्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

अहुतं चेति ॥ नामभेदेऽपि वाक्यभेद इति दर्शयितं पञ्चमहायज्ञानां मुन्यन्तरकृतान्यहुतादीनि संज्ञान्तराण्यभिधेयानि तानि स्वयं न्याचष्टे ॥७३॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः।

ब्राह्मयं हुतं द्विजाय्याची प्राधितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

जप इति॥ 'अहुत'शब्देन ब्रह्मयज्ञाख्यो जप उच्यते । 'हुत'शब्देन देव-यज्ञाख्यो होमः । 'प्रहुत'शब्देन भूतयज्ञाख्यो भूतविलः । 'ब्राह्मयहुत'शब्देन मनुष्ययज्ञाख्यो ब्राह्मणश्रेष्ठस्यार्चा । 'प्राशित'शब्देन पितृयज्ञाख्यं नित्य-श्राद्धम् ॥ ७४ ॥

खाध्याये निखयुक्तः खाँदैवे चैवेह कर्मणि।

दैवकर्मणि युक्ती हि निभतींदं चराचरम् ॥ ७५ ॥

स्वाध्याय इति ॥ यदि दारिब्रादिदोषेणातिर्थिभोजनादिकं कर्जुं न श्रमते तदा ब्रह्मयरे नित्ययुक्तो भवेत्। दैवे कर्मण्यक्तो होमे च। होमस्य स्तुतिमाह-यतो दैवकर्मणर इदं स्थावरजङ्गमं धारयति ॥ ७५॥

कुत एतदित्याह-

अग्री प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते

आदित्याजायते बृष्टिबृष्टेरतं ततः त्रजाः ॥ ७६ ॥

अद्माविति ॥ यजमानेनामावाहुतिः सम्यक् श्विष्ठा रसाहरणकारित्वादा-दिसस्यादिसं प्रामोति । स चाहुतिरस भादित्यादृष्टिरूपेण जायते। ततोऽसम् । तदुपभोगेन जायन्ते प्रजाः ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य सेवें जीवन्ति जन्तवः।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सँवै आश्रमाः ॥ ७७ ॥

यश्चेति ॥ यथा प्राणाख्यवाय्वाश्रयेण सर्वप्राणिनो जीवन्ति तथा गृहस्था-श्रमेण सर्वाश्रमिणो निर्वहन्ति ॥ ७७ ॥ गृहस्थः प्राणतुल्यः सर्वाश्रमिणामित्युक्तं तदेवोपपादयति-

यसात्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् । . गृहस्येनैव धार्यन्ते तसाज्येष्ठाश्रमो गृंही ॥ ७८ ॥

यस्मादिति ॥ यसादृहस्थन्यतिरिक्तास्त्रयोऽप्याश्रमिणो वेदार्थन्यास्त्राना-ब्रदानाभ्यां नित्यं गृहस्थैरेवोपिकयन्ते तस्माज्येष्ठाश्रमो गृहस्थः । ज्येष्ठ आश्रमो यस्य स तथेति बहुन्नीहिः ॥ ७८ ॥

> स संधार्यः प्रयत्नेन खर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियः ॥ ७९ ॥

स इति ॥ यत एवमतः स गृहस्थाश्रमः स्वर्गसुखिमच्छता भनन्तिमव निरस्थायित्वात् । इह लोके च स्वीसंभोगस्वाहन्तादिभोजनसुसं संततिमच्छता अयत्नेनानुष्टेयः । योऽसंयतेन्द्रियैर्धारयितुं न शक्यते ॥ ७९ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।

आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥ अष्य इति ॥ एते गृहस्थेभ्यः सकाशास्त्रार्थयन्ते । अतः शास्त्रमेन तेभ्यः कर्तन्यम् ॥ ८० ॥

किं तत्तदाह-

खाध्यायेनार्चयेतर्षांन्होमैदेवान्यथाविधि । पिदन्श्राद्धेश्च नृनन्भर्तानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

स्वाध्यायेनेति॥नानाप्रकारत्वादुर्श्वनस्य स्वाध्यायादेरर्शनार्थत्वमुस्तितम्। महायज्ञान्तर्गतैः स्वाध्यायादिभिः ऋषिदेवपित्रतिथिभूतानि यथाशासं पूजयेत्॥ ८१॥

तत्र पितृयज्ञं तावदाह-

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।

पयोमूलफलैर्वापि पित्रभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

कुर्यादिति॥ प्रत्यहं यथासंभवं श्राद्धं कुर्यात्। 'श्राद्ध'शब्दोऽयं कर्मविधि-वाक्यवर्ती कौण्डपायिनामयनीयाग्निहोत्रशब्दवद्वस्यमाणपार्वणश्राद्धधर्माति-देशार्थः। अन्नाधेनेति तिलैवीहिभिर्यवैदिस्यादेखपादानम्। पयः श्लीरम् ॥८२॥

एकमप्याशयेदिप्रं पित्रथे पाञ्चयित्तके ।

न चैत्रात्रारायेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥ एकमिति ॥ पिक्वयोजने पञ्चयकान्तर्गते एकमपि नाक्षणं भोजयेत् । अपिशब्दात्संभवे बहुनिप । पार्वणधर्मग्रहणाच वैश्वदेवब्राह्मणभोजनप्राप्ता-बाह-न कंचिद्वैश्वदेवार्थं ब्राह्मणमत्र भोजयेत् ॥ ८३ ॥

> वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्रौ विधिपूर्वकम् । आभ्यः कुर्यादेवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

वैश्वदेवस्येति ॥ विश्वदेवार्थः सर्वदेवतार्थो वैश्वदेवसस्य पक्रसान्नस्यावस-ध्याम्भौ स्वगृह्यविहितपर्युक्षणादीतिकर्तव्यतापूर्वकमाभ्यो वक्ष्यमाणदेवताभ्यो ब्राह्मणः प्रस्तदं होमं कुर्यात् । ब्राह्मणग्रहणं द्विजातिप्रदर्शनार्थम् । त्रयाणां प्रकृतत्वात् ॥ ८४ ॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्वेव समस्तयोः । विश्वेभ्यश्वेव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

अश्लेरिति ॥ वचनद्वयम् 'स्वाहाकारप्रदानहोमः' इति कात्यायनस्परणादादौ 'मप्तये स्वाहा सोमाय स्वाहा' इति निरपेक्षदेवताकं होमद्वयं कृत्वा, 'मप्तीपोमाभ्यां स्वाहा' इति समस्तदेवताकं होमं कुर्यात् । ततो विश्वेभ्यो देवेभ्यो धन्वन्तरये ॥ ८५ ॥

> कुह्वै चैवानुमत्ये च प्रजापतय एव च । सहद्यावापृथिच्योश्र\_तथा खिष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

कुह्नै चेति ॥ कुह्ना अनुमर्लै प्रजापतये द्यावापृथिवीभ्यां 'अप्नये स्वष्टकृते' इत्येवं स्वाहाकारान्तान्होमान्कुर्यात् । श्रुत्यन्तरेष्विप्निवेशेषणत्वेन स्विष्टकृतो विधानात्केवलं स्विष्टकृतिदेशेऽप्यग्निविशेषणत्वेनैव प्रयोगः । पाठादेवान्तत्वे सिद्धे 'स्विष्टकृतेऽन्ततः' इत्यभिधानं स्मृत्यन्तरीयहोमसमुखयेऽप्यन्तत्वज्ञाप-नार्थम् ॥ ८६ ॥

एवं सम्यग्घविर्द्धत्वा सर्वदिश्च प्रदक्षिणम् । इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बर्लि हरेत् ॥ ८७॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण सम्यगनन्यिको देवताध्यानपर एव होमा-न्कृत्वा सर्वासु प्राच्यादिषु दिश्च प्रदक्षिणमिन्द्रादिम्यः सपुरुषेभ्यो बर्लि हरेत्। तथा प्राच्यामिन्द्राय नमः इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः; दक्षिणस्यां यमाय नमः, यम-पुरुषेभ्यो नमः; पश्चिमायां वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः; उत्तरस्यां सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः । यद्यपि शब्दावगम्यत्वादेवतात्वस्थान्त-काप्पतीन्दुशब्दैरेवोदेशो युक्तस्तथापि बह्वचानुष्ठानसंवादाद्वहृचगृद्ये च (११२) 'यमाय यमपुरुषेभ्यो वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यः सोमाय सोमपुरुषेभ्य इति प्रतिदिशम्' इति पाठाद्यथोक्त एव प्रयोगः ॥ ८७॥

# मरुख्न इति तु द्वारि क्षिपेदप्सद्ध इस्यपि । वनस्पतिभ्य इस्रोवं ग्रुसलोल्लुखले हरेत् ॥ ८८ ॥

मरुद्भा इति ॥ इतिशब्दः स्वरूपविवक्षार्थः। 'मरुद्भो नमः' इति द्वारे बिलं द्यात् । जलेऽच्य इति । मुसलोल्खल इति द्वन्द्वनिर्देशात्सहयुक्तयोरन्यतस्त्र वनस्पतिभ्य इति बिलं द्यात् । गुणानुरोधेन प्रधानबलिकर्मावृत्तेरन्याय्य-त्वात् ॥ ८८ ॥

# उच्छीर्षके श्रिये कुर्याद्भद्रकाल्ये च पादतः । ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बिंहं हरेत् ॥ ८९ ॥

उच्छीर्षके इति ॥ वास्तुपुरुषस्य शिरः प्रदेश उत्तरपूर्वस्यां दिशि श्रिये वालं द्वात् । तस्यैव पाददेशे दक्षिणपश्चिमायां दिशि भद्रकांच्ये । अन्ये तु उच्छीर्षकं गृहस्थशयनस्य शिरः स्थानभूभागं पादत इति तस्यैव चरणभूप्रदेशमाहुः । 'ब्रह्मणे वास्तोष्पतये' इति गृहमध्ये । द्वन्द्वनिर्देशेऽपि ब्रह्मवास्तोष्पत्योः पृथगेव देवतात्वम् । यत्र द्वनद्वे मिलितस्य देवतात्वमपेक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोति; यथा 'सहद्यावापृथिब्योश्च' (३।८६) इति ॥ ८९॥

# विश्वेभ्यश्रैव देवेभ्यो बलिमाकाञ्च उत्क्षिपेत्। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ ९०॥

विश्वेभ्य इति ॥ 'विश्वेभ्यश्चेव देवेभ्यः' इति शब्दादेकेयमाहुतिः। 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः' इति गृहाकाशे बाले दद्यात्। 'दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यः' इति दिवा, 'नकंचारिभ्यः' इति नक्तम्। 'दिवाचारिभ्यो दिवा' (बहु.गृ.१।२) इत्यादिबह्वचगृह्यदर्शनादियं व्यवस्था॥ ५०॥

#### पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बिंह सर्वीत्मभूतये । पित्रभ्यो बलिशेषं त सर्व दक्षिणतो हरेत ॥ ९१ ॥

पृष्ठिति ॥ गृहस्योपिर यहृहं तत्पृष्टवास्तु बिह्नातुः पृष्ठदेशे भूभागे वा तत्र 'सर्वातमभूतये नमः' इत्येव बिह्न द्यात् । उक्तबिह्नानादिश्यं सर्वमक्तं दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणामुसः 'स्वधा पितृभ्यः' इति बिह्न हरेत् । प्राचीना-वितिना चायं बिह्नेदेयः। 'स्वधा पितृभ्य इति प्राचीनावीती शेषं दक्षिणामुखो नित्येत्' (११२) इति बह्वचगृद्यावचनात् ॥ ९१॥

#### ग्रुनां च पतितानां च श्रपचां पापरोगिणाम् । वीयसानां क्रमीणां च शनकैनिवेषेद्धवि ॥ ९२ ॥

छुनां चेति ॥ अन्यद्वं पात्रे समुद्ध्य श्वपतिवादिभ्यः सनकैयेथा रजसा न संगुद्धते तथा सुवि दद्यात् । पापरोगी कुष्टी क्षयरोगी वा ॥ ९२ ॥

पाठा०-1 सर्वात्रभूतये. 2 वर्धसां चू.

# एवं यः सर्वभूतानि बाह्मणो नित्यमर्चिति । स गच्छति परं स्थानं तेजोर्मूर्ति पथर्जना ॥ ९३ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण यः सर्वभूतान्यबदानादिना निसं पूजयित स परं स्थानं ब्रह्मात्मकं तेजोमूर्ति प्रकाशं अवकेण वर्त्मनार्चिरादिमार्गेण प्रामोति । ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः । ज्ञानकर्मभ्यां मोक्षप्राप्तेः । 'तेजोमूर्तिः' इति सविसर्गपाठे प्रकृष्टब्रह्मवोधस्वभावो भूत्वेति ब्याख्या ॥ ९३ ॥

## कृत्वैतद्धलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् । भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्वद्वचारिणे ॥ ९४ ॥

कृत्वेति ॥ एवमुक्तप्रकारेणैतद्विकर्म कृत्वा गृहभोक्तभ्यः पूर्वमितिथिं भोजयेत्। भिक्षवे परिवाजे ब्रह्मचारिणे प्रथमाश्रमिणे च विधिवत्स्वस्तिवाच्य 'भिक्षादानमप्यूर्धम्'इति गौतमाधुक्तविधना भिक्षां दद्यात्। प्रासप्रमाणाः च भिक्षा भवति। 'प्रासमात्रा भवेद्रिक्षा' इति शातातपवचनात्। संभवे त्विकमिष देयम्॥ ९४॥

यत्पुण्यफलमामोति गां दत्त्वा विधिवहुरोः । तत्पुण्यफलमामोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥ यदिवि ॥ गुरवे गां दत्त्वा विधिवस्सर्णश्चक्रिकादिविधानेन यत्फलं प्रामोति तद्वहस्सो विधिवा भिक्षादानात्प्रामोति ॥ ९५ ॥

# भिक्षामप्युद्पात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् । वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥

भिश्चामिति ॥ प्रचुराश्चाभावे प्रासप्रमाणां भिश्चामपि व्यञ्जनादिना सत्कृत्य तदभावे जलपूर्णे पात्रमपि फलपुष्पादिना सत्कृत्य तत्त्वतो वेदतदर्थ- ज्ञानवते ब्राह्मणाय स्वस्तिवाच्येत्यादिविधिपूर्वकं द्यात् ॥ ९६ ॥

नक्यन्ति ह्व्यकव्यानि नराणामविजानताम् । भैस्मीभृतेषु विषेषु मोहाद्द्वानि दातृभिः ॥ ९७ ॥

नद्यन्तीति ॥ मोद्दायत्पात्रानभिक्तत्या देवपित्रुदेशेनाद्यानि वेदाध्ययन-तदर्थज्ञानानुष्टानतेजःश्रुन्यतया भस्मरूपेष्त्रिव पात्रेषु दत्तानि दातृभि-निष्फलानि भवन्ति ॥ ९७ ॥

> विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं वित्रम्रखात्रिषु । निस्तारयति दुर्गाच महतश्रेव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

विद्यातपःसमृद्धेष्विति ॥ विद्यातपस्तेजःसंपद्मवित्राणां मुखानि होमाधि-

पाठा०-1 तेजोमूर्तिः. 2 मसम्तेषु.

करणत्वेनाभितया निरूपितानि हन्यकन्यादि प्रक्षिप्तमिह लोके दुस्तराद्याधि-शत्रुराजपीढादिभयान्महतश्च पापादसुत्र नरकाश्चायते ॥ ९८ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रद्बादासनोदके ।

अनं चैव यथाशक्ति संत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

संप्राप्तायेति ॥ स्वयमागताय त्वतिथये आसनं पादप्रक्षालनाशुदकं यथासंभवं न्यञ्जनादिभिः सत्कृतं चानम् 'आसनावसथौ' (३।१०७) इत्यादिवक्ष्यमाणविधिपूर्वकं द्यात् ॥ ९९ ॥

> शिलानप्युञ्छतो नित्यं पश्चाग्रीनपि जुह्वतः । सर्वे सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ १००॥

शिलानिति ॥ ॡनकेदारशेषधान्यानि शिलासानप्युचिन्वतः, वृत्तिसंय-मान्वितस्य, त्रेता, आवसथ्यः, सभ्यश्चेति पञ्चामयः । सभ्यो नामाप्तः शीता-पनोदाचर्थं यसत्र प्रणीयते । पञ्चस्वप्तिषु होमं कुर्वाणस्यापि सर्वं वृत्तिसंकोचेन पञ्चाप्तिहोमार्जितपुण्यमनर्चितोऽतिथिर्वसन्गृह्णाति । अनया च निन्द्यातिथ्य-र्वनस्य निस्रतावगम्यते ॥ १०० ॥

> तृणानि भूमिरुद्कं वाक्चतुर्थी च सनुता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छियन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥

तृणानीति ॥ अन्नासंभवे पुनस्तृणविश्रामभूमिपादप्रक्षालनाद्यर्थजलप्रिय-वचनान्यपि धार्मिकगृहेष्वतिथ्यर्थं न कदाचिदुच्छिद्यन्ते अवश्यदेयानीति विधीयते । 'तृण'ग्रहणं शयनीयोपलक्षणार्थम् ॥ १०१ ॥

अप्रसिद्धत्वादतिथिलक्षणमाह---

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिन्नीह्मणः स्मृतः ।

अनित्यं हि स्थितो यसात्तसादतिथिरुच्यते ॥ १०२॥

एकेति ॥ एकरात्रमेव परगृहे निवसन्त्राह्मणोऽतिथिभैवति । अनित्यावस्था-मान्न विद्यते द्वितीया तिथिरस्थेत्यतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

नैकग्रामीणमतिथि विष्रं साङ्गतिकं तथा।

उपस्थितं गृहे विद्याद्भायां यत्राप्रयोऽपि वा ॥ १०३ ॥ नैकेति ॥ एकप्रामनिवासिनं लोकेषु विचित्रपरिहासकथादिभिः संगत्या वृत्त्यर्थिनं भार्याप्रियुक्तो गृहे वैश्वदेवकालोपस्थितमपि नातिथिं विद्यात् । प्रतेन भार्याप्रिरहितस्य प्रवासिनो नातिथित्वमिति बोधितम् ॥ १०६ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।

तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यनादिदाँयिनाम् ॥ १०४॥ उपासत इति ॥ भतिथिपकरणादातिथ्यकोमेन ये गृहस्थाः प्रामान न्तराणि गत्वा पराञ्चं सेवन्ते तेनिषिद्धपराञ्चदोषानभिज्ञाः तेन पराञ्चभोजनेन जन्मान्तरे अञ्चादिदायिनां पश्चतां वजन्ति । तस्मादिदं न कुर्यादिति निषेधः कल्प्यते ॥ १०४ ॥

> अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योद्यो गृहमेधिना । काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्चनगृहे वसेत् ॥ १०५ ॥

अप्रणोद्य इति ॥ सूर्येऽस्तमिते गृहस्थेनातिथिनं प्रसाख्येयः । सूर्येणोढः प्रापितो रात्रो स्वगृहगमनाशकः । द्वितीयवैश्वदेवकाले प्राप्तः । अकाले वा सायंभोजने निवृत्तेऽपि नास्य गृहेऽतिथिरनश्नन्वसेद्वइयमस्य भोजनं देयम् । प्रसाख्याने प्रायश्चित्तगौरवाथोंऽयमारमभः । अत एव विष्णुपुराणे 'दिवाऽ-तिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप । तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखे गते ॥' गोविन्दराजस्तु प्रतिषद्धातिथिप्रतिप्रसवार्थत्वमस्याह ॥ १०५ ॥

न वै खयं तदशीयादतिथि यन्न भोजयेत् । धन्यं यञ्चसायुष्यं खर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥

न वा इति ॥ यद्भृतदृष्याधुत्कृष्टमितिथिन प्रत्याचष्टे तत्तस्यै अदस्वा न स्वयं भोक्तव्यम् । धनाय हितं, धनस्य निमित्तं वा धन्यम् । एवं यशस्यादयोऽपि शब्दाः । अतिथिभोजनफलकथनमिदम् । न चानावश्यकतापितः । 'सर्वे सुकृतमादत्ते' (१।१००) इत्यादिदोषश्रवणात् ॥ १०६ ॥

> आसनावसथौ शय्यामनुत्रज्याग्रुपासनाम् । उत्तमेषूत्तमं क्रुर्याद्वीने हीनं समे समम् ॥ १०७॥

आसनेति ॥ भासनं पीठं चर्म वा, भावसथो विश्रामस्थानम् ,शय्या खद्वादि, भनुवज्या गच्छतोऽनुगमनम् , उपासना परिचर्या । एतत्सर्वे बहुष्वतिथिषु युगपदुपस्थितेष्वितरेतरापेक्षयोत्कृष्टापकृष्टमध्यमं कुर्यान्न पुनः सर्वेषां समम् ॥

> वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् । तस्याप्यनं यथाञ्चक्ति प्रदद्यान वींल हरेत् ॥ १०८ ॥

वैश्वदेच इति ॥ 'अन्य'शब्दनिर्देशाद्तिथिभोजनपर्यन्तं वैश्वदेवे कृते यद्यपरोऽतिथिरागच्छेचद्गा तद्र्थं पुनः पाकं कृत्वा तस्यान्नं द्यात् । बिलहरणं ततो नात्र कुर्यात् । बिलनिषेधादन्नसंस्काराभावो वैश्वदेवस्यावगम्यते । अन्न-संस्कारपन्ने कथमसंस्कृतान्नभोजनमनुजानीयात् ॥ १०८॥

न भोजनार्थं स्त्रे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् । भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥ नेति ॥ भोजनलाभार्थं बाह्मणः स्वकुलगोत्रे न निवेदयेत् । यसाद्रोजनार्थं ते कथयब्रद्वीर्णाशीति पण्डितैः कथ्यते ॥ १०९ ॥

# न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते । वैश्यशुद्धी सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥

नेति ॥ ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयोऽतिथयो न भवन्ति, क्षत्रियादीनां ब्राह्मण-स्योत्कृष्टजातित्वात् । मित्रकातीनामात्मसंबन्धात् । गुरोः प्रभुत्वात् । अनेनैव न्यायेन क्षत्रियस्य उत्कृष्टो ब्राह्मणः सजातीयश्च क्षत्रियोऽतिथिः स्यात्रापकृष्टो वैदयद्यद्वी । एवं वैदयस्यापि द्विजातयोऽतिथयो न स्दृदः ॥ ११० ॥

# यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमात्रजेत् । भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

यदीति ॥ यदि प्रामान्तरादागतत्वादतिथिकाछोपस्थितत्वादतिथिधर्मेण क्षत्रियो विप्रगृहमागच्छेत्तदा विष्रगृहोपस्थितविष्रेषु कृतभोजनेषु स्थितेष्वि-च्छातस्तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

# वैदयग्रद्रावि प्राप्ती कुदुम्बेऽतिथिधर्मिणौ । भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

वैद्येति ॥ यदि वैदयस्द्भाविष बाह्मणस्य कुटुम्बे गृहे प्राप्तौ मामान्तरा-दागतस्वाद्यतिथिधर्मशालिनौ तदा ताविष क्षत्रियभोजनकालात्परतो दम्पती-भोजनात्पूर्वं दासभोजनकाले अनुकम्पामाश्रयन्भोजयेत् ॥ ११२ ॥

# इतरानिप संख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान् । प्रकृत्यानं यथाशक्ति भोजयेत्सह भाषया ॥ ११३ ॥

इतरानिति ॥ उक्तभोजनकाले क्षत्रियादिन्यतिरिक्तान्सिखसिहाध्यायि-प्रभृतीन्संप्रीत्या गृहमागतान् । न त्वतिथिभावेन, तस्य प्रतिषेधात् । यथा-शक्ति प्रकृष्टमन्नं कृत्वा भार्याया भोजनकाले भोजयेत् । गृहस्थस्यापि स एव भोजनकालः। 'अवशिष्टं तु दम्पती' (३।११६) इति वस्यमाणत्वात् । आत्मना सहिति वक्तन्ये वचनवैचित्रीयमाचार्यस्य । गुरोस्तु भोजनकालानिभधानं प्रभु-त्वेन स्वाधीनकालत्वात् ॥ ११३॥

# सुवासिनीः कुमारीश्र रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः । अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

सुवासिनीरिति ॥ सुवासिन्यो नवोढाः स्त्रियः सुषा दुहितरश्च ताः, कुमा-रीगीर्भणीश्चातिथिभ्योऽमे पूर्वमेवातिथिभ्यो भोजयेत् । कथमितिथिष्वभोजितेषु भोजनमेषामिति विचारमकुर्वन् । मेघातिथिस्तु 'अन्वरोव' इति पठित्वातु-गतानेवैतान्भोजयेदतिथिसमकालमिति व्याख्याय अन्ये तु अम इति पठन्ती-त्युक्तवान् ॥ ११४॥

#### ं अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्व भुङ्के विचक्षणः । स भुञ्जानो न जानाति श्वगृत्रेर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥

अद्स्वेति ॥ एतेभ्योऽतिथ्यादिशृत्यपर्यन्तेभ्योऽन्नमद्त्वा व्यतिक्रमभोजन-दोषमजानन् यः पूर्व भुङ्के स मरणानन्तरं श्वगृधेरात्मनो भक्षणं न जानाति । व्यतिक्रमस्वेदं फलमिति वचनवैदग्ध्येनोक्तम् ॥ १९५॥

## भुक्तवत्स्वथ विशेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि। भुज्जीयातां ततः पश्चादविशष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

भुक्तविस्विति ॥ विप्रेष्वितिथिषु, स्वेषु ज्ञातिषु, भृत्येषु दासादिषु कृत-भोजनेषु ततोऽत्नादविशष्टं भार्यापती पश्चादश्रीयाताम् ॥ ११६ ॥

## देवानृषीनमनुष्यांश्र पितृनगृह्याश्र देवताः । पूजयित्वा ततः पश्चाद्वहस्थः शेषभ्रग्मवेत् ॥ ११७ ॥

देवानिति ॥ 'गृह्याश्च देवताः' इत्यनेन भूतयज्ञ उक्तः। पञ्चयज्ञानुष्टानस्य 'अविशष्टं तु दम्पती' (३।११६६) इत्यनेन रोपभोजनस्य च विहित्तत्वात् । वक्ष्य-माणदोषकथनार्थोऽयमनुवादः । अथवा देवानित्यनेनेव भूतयज्ञस्यापि संग्रहः । गृहे भवा गृह्या देवताः प्जयित्वेति वासुदेवादिप्रतिकृतिप्जाविधा-नार्थत्वमस्य ॥ ११७॥

## अर्घ स केवलं भ्रङ्के यः पचत्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामनं विधीयते ॥ ११८॥

अधिमिति ॥ यस्त्वात्मार्थमेवात्रं पक्त्वा भुक्के देवादिभ्यो न ददाति स पापहेतुत्वात्पापमेव केवलं भुक्के नात्रम् । तथा च श्रुतिः—'केवलाधो भवति केवलादी'। यसाद्यदेव पाकयज्ञावशिष्टमशनमन्नमन्यत् एतदेव साध्ना-मन्नभुपदिस्यत इति ॥ ११८॥

भविधिपुजाप्रसङ्गेन राजादीनामपि गृहागतानां पूजाविशेषमाह— राजित्वे कस्नातकगुरूनिप्रयश्चगुरमातुलान् । अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्प्रनः ॥ ११९ ॥

राजिति॥ राज्याभिषिकः क्षत्रियो राजा, ऋत्विक् यज्ञे येन यस्यात्विज्यं कृतम्, स्नातको विद्यावताभ्याम्, प्रियो जामाता। राजादीनेतानगृहागता-नसस गृद्योक्तेन मधुपर्काख्येन कर्मणा पूजयेत्। परिसंवत्सरादिति संवत्सरं वर्जयित्वा तद्ध्वं गृहागतानपुनर्मधुपर्केण पूजयेत्। 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (पा. २।३।१०) इति सूत्रेण वर्जनार्थपरियोगेनेयं पञ्चमी। अत एवैतत्सुत्रव्या-च्याने जयादित्येनोक्तं 'अपेन साहचर्यात्परेवर्जनार्थस्य ग्रहणम्' इति । मेधा-

तिथिस्तु 'परिसंवत्सरान्'इति पठित्वा परिगतो निष्कान्तः संवत्सरो येषां तान्यूजयेदिति व्याख्यातवान् । उभयत्रापि पाठे संवत्सरमध्यागमने न मधुपर्काईता ॥ ११९ ॥

राजस्नातकयोः पूजासंकोचार्थमाह-

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपिस्थितौ । मधुपर्केण संपूज्यो न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥

राजिति ॥ राजस्नातको संवत्सराद्ध्वमिष यज्ञकर्मण्येव प्राप्तो मधुपर्केण पूजनीयो नतु यज्ञ्चितिरेकेण । जामात्रादयस्तु संवत्सराद्ध्वं यज्ञं विनाषि मधुपर्कोहाः । संवत्सरमध्ये तु सर्वेषां यज्ञविवाह्योरेव मधुपर्कः । तदाह गोतमः-( ५१२५-२७ ) 'ऋत्विगाचार्यश्वशुरिषतृ व्यमातु छादीनामुपस्थाने मधु-पर्कः । संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाह्योरर्वाक् राज्ञः श्रोत्रियस्य च' ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्त्यमत्रं बार्ल हरेत् । वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंत्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

सायमिति ॥ दिनान्ते सिद्धस्यात्रस्य पत्नी अमन्नं बिह्नहरणं कुर्यात् 'इन्द्राय नमः' इति मञ्चपाठवर्जम् । मानसस्तु देवतोदेशो न निषिध्यते । यत . एतद्विश्वदेवं नामान्नसाध्यं होमबिह्नदानातिथिभोजनात्मकं तत्सायंप्रातर्गृहस्य-स्थोपदिश्यते ॥ १२१ ॥

'श्राद्धकरुपं च शाश्वतम्' (१।११२) इत्यनुक्रमणिकायां प्रतिज्ञातं श्राद्धकरूप-मुपक्रमते—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् । पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥

पितृयञ्जमिति ॥ साग्निरमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञाख्यं कर्म कृत्वा श्रादं कुर्योत् । पितृयज्ञपिण्डानामनु पश्चादाहियत इति पिण्डान्वाहार्यकं श्रादं मासा-नुमासिकं मासश्चानुमासश्च तयोभेवम् । प्रतिमासं कर्तव्यमित्यर्थः । अनेनास्य निस्यत्व मुक्तम् । विप्रयहणं द्विजातिपरम् । त्रयाणां प्रकृतत्वात् ॥ १२२ ॥

इदानीं नामनिर्वचनेनोक्तमेव पितृयशानन्तर्यं दृढयुति-

पितृणां मासिकं श्राद्धमन्वाहायँ विदुर्बुधाः । तचामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ॥ १२३ ॥

चितृणामिति ॥ इदं मासिकं प्रतिमासभवं श्राद्धं यसात्पितृयज्ञपिण्डाना-मनु पक्षादाहियते तेन पिण्डान्वहार्यकमिदं पिण्डिता जानन्ति । ततो युक्तं

पाठा०-1 °कर्मण्यपस्थिते. 2 °श्चन्द्रक्षये.

पितृयज्ञानन्तर्यमस्य । तचामिषेण वश्यमाणमांसेन प्रशस्तेन मनोहरेण प्ति-गन्धादिरहितेन प्रयस्तः कर्तेन्यम् । 'पिण्डानां मासिकं श्राद्धम्' इति वा पाठः । पिण्डानां पितृयज्ञपिण्डानाम् । शेषं तुल्यम् ॥ १२३ ॥

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्थे च वर्ज्या दिजोत्तमाः । यावन्तश्रेव यैश्रानेस्तान्त्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

तंत्रेति ॥ तस्मिन् श्राद्धे ये भोजनीया ये च त्याज्या यत्संख्याकाः यैश्राक्षेत्रत्सर्वं प्रवक्ष्यामि ॥ १२४ ॥

अत्र यद्यप्युदेशक्रमेण ये भोजनीया इति वक्तुमुचितं तथाप्यलपवक्तव्य-त्वाद्राह्मणसंख्यामाह—

द्रौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा । भोजयेत्ससमृद्धोऽपि न प्रवर्तेत विस्तरे ॥ १२५ ॥

द्वाविति ॥ देवश्रादे द्वौ ब्राह्मणौ पितृ-पितामह-प्रपितामहानां त्रीन्ब्राह्मणान् भथवा दैवे एकं पित्रादित्रिके चैकं बाह्यणं भोजयेत् । उक्तातिरिक्तभोजनसम-थाँऽपि नाधिकभोजनेषु प्रवर्तेत । मेधातिथिस्त्वाह-पितृक्रत्ये त्रीनिति पित-खीन्ब्राह्मणान्, पितामहस्य त्रीन्ब्राह्मणान्, प्रपितामहस्य त्रीन्ब्राह्मणान्भोज-येत् । एकैकम्भयत्रवेति । दैव एकं, पित्रादित्रयस्य चैकैकं, न त्वेकं पित्रान दित्रयस्य । 'न त्वेवैकं सर्वेषां काममनाद्ये पिण्डैव्याख्यातम्' (आश्व.गृ.१६१७) इसाश्वलायनगृह्यविरोधात । यथैकपिण्डः पित्रादित्रयस्य न निरूप्यते तथैकौ बाह्मणो न भोजयितन्य इत्यर्थः । तसान्न पित्रादित्रयस्यैकबाह्मणभोजनम् । तदसतः गृह्यकारेणैव 'न स्वेवैकं सर्वेषां पिण्डैर्व्याख्यातम्' (आश्व. गृ.१६१७) इति पठित्वा 'काममनाधे' इत्यभिहितम् । अत्यार्थः --- बहुपित्रादिदेवताक-श्राद्धानामार्थं सपिण्डीकरणमभिमतं तद्यतिरिक्तश्राद्धे काममेकः पित्रादीनां बाह्मण इलर्थः। अथवा अनाद्ये अदनीयद्रव्याभावे एकोऽपि भोजयितव्यः। उभयत्रापि ब्याख्याने पार्वणादौ पित्रादित्रयस्यैकबाह्मणभोजनं गृह्यकतै-वोक्तम् । वसिष्ठोऽपि (११।२७)—'यद्येकं भोजयेच्छाद्धे दैवतम्रं कथं भवेत् । अत्रं पात्रे समुद्धत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च ॥ देवतायतने कृत्वा यथाविधि प्रवर्तयेत् । प्रास्येदन्नं तद्भौ वा द्याद्वा ब्रह्मचारिणे ॥' हति सर्वेभ्य एकबाह्मण-भोजनमाह । तसाद्यथोक्तेव न्याख्या। 'प्रथने वावशन्दे' (पा.शश्र) इत्यनेन विस्तार इति प्राप्ते छन्दःसमानत्वात्स्मृतीनां 'सर्वे विधयदछन्द्सि विकल्पन्ते' (कौ. परि. ३६) इति विस्तर इति रूपम्॥ ३२५॥

सित्तियां देशकालों च शौचं ब्राह्मणसंपदः । पञ्जेतान्विस्तरो हन्ति तसानेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥ सिदिति ॥ सित्त्रयां ब्राह्मणस्य पूजां देशं दक्षिणप्रवणत्वादिवक्ष्यमाणं कालमपराहं, शौवं श्राद्धकर्तृभोक्तृबाह्यणप्रेष्यगतं, गुणवहाह्यणलाभं च ब्राह्मणविस्तारो नाशयति। तस्माद्राह्मणविस्तरं न कुर्यादिति। सिक्तयादिविरोधतो ब्राह्मणविस्तरिनेषेधात्सिक्तयादिसंभवे पित्रादेरेकैकस्यापि ब्राह्मणत्रयाभ्यनुज्ञा-नम्। श्रत एव गौतमः (१५१२)—'न चावरान्भोजयेद्युजो वा यथोत्साहम्'। बह्वचगृह्मकारोऽपि (१६१७)—'अथातः पार्वणे श्राद्धे काम्य श्राम्युद्यिक एकोदिष्टे वा ब्राह्मणान्' इत्युपक्रम्य 'एकैकमेकैकस्य द्वौ द्वौ त्रीस्त्रीन्वा वृद्धौ फलभूयस्त्वम्' इत्याह। 'द्वौ द्वौ' इत्याभ्युद्यिकश्राद्धविषयं स्मृत्यन्तरेषु तथा विधानात्, श्रत्राप्याभ्युद्यिक इत्युपक्रमाच ॥ १२६॥

# प्रिथता प्रेतकृत्येषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।

तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥
प्रिथितेति ॥ यदेतित्वत्यं कर्म श्राद्धरूपं प्रथितेयं प्रख्याता प्रेतकृत्या पित्र-

पकारार्था किया। प्रकर्षेण इतः प्रेतः पितृलोकस्थ एवोच्यते। विधुक्षयेऽमा-वास्यायां तस्मिन्पिन्ये कर्मणि युक्तस्यैतत्परस्य लोकिको स्मार्तिको प्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था किया गुणवत्पुत्रपोत्रधनादिफलप्रबन्धरूपेण कर्तारसुपतिष्ठते तस्मादिदं कर्तन्यम्। गोविन्दराजेन तु विधिः क्षय इति पठितं, न्याख्यातं च— योऽयं नाम विधिः पित्र्यं कर्मेति। क्षये चन्द्रक्षये गृहे वा तद्सांप्रदायिकम्। मेधातिथिप्रभृतिभगोविन्दराजादिष बृद्धतरेरनभ्युपेतत्वात्क्षय इति संबन्ध-क्रेशाच ॥ १२०॥

श्रोत्रियायैव देयानि ह्व्यकव्यानि दातृभिः।

अहत्तमाय विप्राय तसे दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

श्रोत्रियायेति ॥ छन्दोमात्राध्यायी श्रोत्रियस्तसौ दैविपञ्यात्तानि यत्ततो देयानि । श्रईतमाय श्रुताचाराभिजनादिभिः पूज्यतमाय तसौ दत्तं महाफर्छ अवति ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च मीजयेत्। पुष्कलं फलमामोति नामत्रज्ञान्बहूनपि ॥ १२९॥

एकेकमिति ॥ दैविषित्र्ययोरेकेकमि वेदतस्विविदं बाह्यणं भोजयेत् । तदापि विशिष्टं श्राद्धफळं प्राप्तोति नत्विविद्धषो बहुनिष । एवं च 'फळश्रवणा-द्राह्मणभोजनमेव प्रधानं, पिण्डदानादिकं त्वज्ञम्' इति गोविन्दराजः । वयं तु पित्रुदिशेन द्रव्यत्यागं बाह्मणस्वीकारपर्यन्तं श्राद्धशब्दवाच्यं प्रधानं बूमः । तदेव मनुना (३।१२२) 'पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यात्' इति विहितम् । आपसम्बेन तु मन्वर्थस्येव व्याख्यातत्वात् । तदाहापसम्बः-'तयैत-नमनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच प्रजानिःश्रेयसार्थं, तत्र पितरो देवता बाह्मण-स्त्वाहवनीयार्थं, मासि मास्यपरपक्षस्यापराह्यः श्रेयान्' इति। श्राद्धशब्दं श्राद्ध-

पाठा०-1 मोजयन्,

मिति शब्दो वाचको यस्य तत्तथा। ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे श्राहवनीयवस्यक्त-द्रन्यप्रतिपत्तिस्थानत्वात् । पितरो देवतेति नियतपितृदेवताकत्वास श्राद्धस्य । देवताश्राद्धादौ श्राद्धशब्दस्तु तद्धर्मप्राप्त्यथों गौणः। कौण्डपायिनामयन इवा-श्रिहोत्रशब्दः। पुष्कलं फलं प्रामोतीति तु पुष्टतरफलार्थिनो गुणफलविधिः। स भोजनस्याङ्गत्वेऽपि तदाश्रयो न विरुद्धः। 'श्रापस्तम्बोऽभ्यधाच्छाद्धं कर्मैत-रिपतृदैवतम्। मनवर्थं कथयंस्तस्मान्नेदं ब्राह्मणभोजनम्'॥ १२९॥

> द्रादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् । तीर्थं तद्भव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३०॥

दूरादिति ॥ दूरादेव पितृपितामहाद्यभिजनशुद्धिनिरूपणेन कृत्स्रशासा-ध्यायिनं ब्राह्मणं परीक्षेत । यसात्त्रथाविधो ब्राह्मणो हन्यादीनां तीर्थं पात्रम् । प्रदाने सोऽतिथिरेव, महाफलप्राप्तेर्हेतुत्वात् ॥ १३० ॥

> सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुज्जते । एकस्तान्मच्चवित्त्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

सहस्रामिति ॥ यत्र श्राहे ब्राह्मणानामवेदविदां दशलक्षाणि सुक्षते तत्रको वेदविद् भोजनेन परितृष्टो धर्मतो धर्मोत्पादनेन तान्सर्वानहिति स्वीकर्तुं योग्यो भवति । तद्गोजनजन्यं फलं जनयतीत्यर्थः । छान्दसत्वादेकवचनम् । अथवा बहुवचनानां स्थाने सहस्रमिति मनोरभिमतम् । गोविन्दराजस्त्वाह—'सहस्रं गच्छन्तु भूतानि' इति वेदे ॥ १३३ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कन्यानि च हवींपि च । न हि हस्तावसृग्दिग्धी रुधिरेणैव शुध्यतः ॥ १३२ ॥

श्चानेति ॥ विद्यया उत्कृष्टेभ्यो हव्यानि कव्यानि च देयानि न मूर्लेभ्यः । अर्थान्तरन्यासो नामालंकारः । न हि रक्ताक्तौ हस्तौ रक्तेनैव विद्युद्धौ भवतः किंतु विमलजलेन, एवं मूर्लभोजनेन जनितं दोषं न मूर्ल एव भोजितोऽपहन्ति किंतु विद्वान् ॥ १३२ ॥

भविद्वित्रन्दया विद्वदानमेवोक्तं वकोक्तया सौति— यावतो ग्रसदे ग्रासान्हव्यकव्येष्वमञ्जवित् । तावतो ग्रसते प्रत्य दीप्तग्रुलप्ट्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥

यावत इति ॥ यत्संख्याकान्मासान् इन्यकन्येष्ववेदविद् भुक्के तत्संख्या-कानेव प्रकृतश्राह्मकर्ता ज्वलितश्रूलष्ट्यांख्यायुघलोहिपण्डान् मसते। श्राह्मकर्तु-रेघेदमविद्वदानफलकथनम् । तथा च न्यासः—'मसते यावतः पिण्डान्यस्य वे हविषोऽनुवः । असते तावतः श्रूलान्गत्वा वैवस्वतक्षयम्' ॥ १३३ ॥

# ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे । तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥

क्कानेति ॥ केचिदात्मज्ञानपरा ब्राह्मणा भवन्ति, अन्ये प्राजापत्यादितपः-प्रधानाः, अपरे तपोध्ययननिरताः, इतरे यागादिपराः ॥ १३४ ॥

ततः किमत आह-

ज्ञाननिष्ठेषु कन्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः । हन्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्विषि ॥ १३५ ॥

ज्ञानेति ॥ ज्ञानप्रधानेभ्यः पित्रर्थान्नानि यलादातन्यानि, देवान्नानि पुन-न्यायावधतार्थशास्त्रानुसारेण चतुभ्योऽपि ॥ १३५ ॥

तयोः कः श्रेष्ठ इत्युपन्यस्य विशेषमाह-

अश्रोत्रियः पिता यस पुत्रः स्याद्वेदपारगः । अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६॥

अश्रोत्रिय इति ॥ योऽश्रोत्रियपितृकः खयं च श्रोत्रियः, यः श्रोत्रिय-रितृकः खयं वा अश्रोत्रियः॥ १३६॥

> ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता । मञ्जसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

ज्यायांसमिति ॥ अनयोः पूर्वश्लोकनिर्दिष्टयोर्मध्ये श्रोत्रियपुत्रं स्वयम-श्लोत्रियमपि ज्येष्टं जानीयात् । पितृविद्यादरपरिमदम् । यः पुनरश्लोत्रियस्य पुत्रः स्वयं च श्लोत्रियः स तदधीतवेदपूजनार्थं पूजामहिति। वेद एव तद्वारेण पूज्यत हृति पुत्रविद्यादरपरिमदम् । तस्माद्वचनभङ्ग्या श्लोत्रियपुत्रः स्वयं च श्लोत्रियः श्लाद्धे भोजयितव्य इत्युक्तम् । नतु श्लोत्रियपुत्रस्य स्वयमश्लोत्रियस्यैवाभ्यतुत्तानं, 'श्लोत्रियायेव देयानि' (१।१२८) इति विरोधात् । एवं च 'दूरादेव परीस्नेत' (१।१३०) हृति विद्याव्यतिरिक्ताचारादि परीक्षार्थत्वेनावतिष्ठते ॥ १३७॥

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं घनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेहिजम् ॥ १३८॥
नेति ॥ श्राद्धे न मित्रं भोजयेत् । धनान्तरैरस्य मैत्री संपादनीया । न
कार्त्रं न च मित्रं यं जानीयात्तं ब्राह्मणं श्राद्धे भोजयेत् ॥ १३८॥

यस मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवीं वि च । तस्य प्रत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९॥ यस्येति॥ भित्र'शब्दोऽयं भावप्रधानः। यस मैत्रीप्रधानानि हव्यकव्यानि

तस पारकोकिकं फलं न भवतीति फलाभावकथनपरमिदम् । प्रेलेति पर-

कोक इत्यर्थे शब्दान्तरमञ्ययमिदं नतु क्वान्तम्, तेनासमानकर्तृकत्वे कथं क्विति नाशक्वनीयम् ॥ १३९ ॥

स्वर्गफलं श्राद्धस्य दृशीयतुं पूर्वीक्तफलाभावमेव विशेषेण कथयति—

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छाद्वेन मानवः।

स खर्गाइयवते लोकाच्छाद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥

य इति ॥ यो मनुष्यः संगतिनि मित्रभावं शास्त्रानिभज्ञतया श्राद्धेन कुरुते श्राद्धमेव मित्रलाभहेतुत्वान्मित्रं यस्य स श्राद्धमित्रो द्विजापसदः स स्वर्गलोकाच्यवते । तं न प्रामोतीत्यर्थः । श्राद्धसापि स्वर्गफलत्वमाह याज्ञ-वस्त्रयः (आचार ११२७०)—'क्षायुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च । प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः'॥ १४०॥

> संभोजनी साऽभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः । इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥

संभोजनीति ॥ सा दक्षिणा दानिक्रया संभोजनी सह भुज्यते यया सा संभोजनी गोष्ठी बहुपुरुषभोजनात्मिका पिशाचधर्मत्वात्पैशाची मन्वादिभि-रुक्ता। सा च मैत्रीप्रयोजनकत्वान्न परलोकफला इह लोक एवास्ते। यथान्धा गौरेकस्मिन्नेव गृहे तिष्ठति न गृहान्तरगमनक्षमा ॥ १४१ ॥

यथेरिणे बीजमुद्र्या न बप्ता लभते फलम्।

तथाऽनृचे हिविदेच्या न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥ यथेति ॥ ईरिणमूषरदेशो यत्र बीजमुहं न प्ररोहति तत्र यथा बीजमुह्वा कर्षको न फलं प्राप्तोत्येवमविदुषे श्राद्धदानफलं दाता न प्राप्तोतीति ॥ १५२ ॥

दावृन्त्रतिग्रहीवृंश्र कुरुते फलभागिनः।

विदुषे दक्षिणां दन्ता विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

दातृ निति ॥ वेदतस्वविदे यथाशाखं दत्तमेहिकामुष्मिकफलभागिनो दाद्व-न्करोति । ऐहिकं फलं यथाशाखानुष्ठानेन लोके ख्यातिरूपमानुषङ्गिकमिति मेधातिथि-गोविन्दराजौ।वयं त्वायुरादिकमेवैहिकफलं बूमः। 'आयुः प्रजां धनं विद्याम्' (यात्र. आचार. १।२७०) इत्याचैहिकामुष्मिकादिफलत्वेनापि श्राद्धस्य याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तत्वात् । प्रतिप्रहीखंश्च श्राद्धल्डघधनानुष्टितयागादि-फलेन परलोके सफलान्कुरुते । अन्यायार्जितधनानुष्टितयागादेरफलप्रद-त्वात् । इह लोके न्यायार्जितधनारब्धकृष्यादिफलातिशयलाभात् सफलान् कुरुते ॥ १४३ ॥

कामं श्राद्धेऽचियेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् । द्विषता हि हविश्चेक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥ काममिति ॥ वरं विद्वहाहाणाभावे गुणवन्मित्रं भोजयेखन्न विद्वांसमपि

शत्रुम् ; यतः शत्रुणा श्राद्धं भुक्तं परलोके निष्फलं भवति । यथोक्तपात्रासंभवे मित्रप्रतिप्रसवार्थमिदम् ॥ १४४ ॥

'श्रोत्रियायैव देयानि' (३।१२८) इत्यनेन छन्दोमात्राध्यायिनि 'श्रोत्रिय'-शब्दप्रयोगात्तदाश्रयणमावश्यकमुक्तम्, इदानीं त्वधिकफलार्थं मन्नव्राह्मणा-स्मकत्कृत्स्वशाखाध्यायिनि श्रोत्रिये दानमाह—

# यत्तेन भोजयेच्छाद्धे बह्वचं वेदपारगम् ।

शाखान्तगमथाध्वयुँ छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥ यत्नेनेति ॥ ऋग्वेदिनं मञ्जवाह्मणात्मकशाखाध्यायिनं यत्नतो भोजयेत् । तथाविधमेव यज्जेदिनम् । व्वेदस्य पारं गच्छतीति वेदपारगः । शाखाया अन्तं गच्छतीति शाखान्तगः । समाप्तिरस्यास्तीति समाप्तिकः । सर्वेरेव शब्दै-मेन्नवाह्मणात्मककृत्स्वशाखाध्येताऽभिहितः ॥ १४५ ॥

तद्भोजनेऽधिकं फलमाह-

#### एषामन्यतमो यस्य भुज्जीत श्राद्धमर्चितः ।

पितृणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥
एषामिति ॥ एषां संपूर्णशाखाध्यायिनां बहुचादीनां मध्यादन्यतमो यस्य
सम्यक् पूजितः सन् श्राद्धे सुङ्के तस्य पुत्रादिसप्तपुरुषाणां शाश्वती अविच्छिना
पितृणां तृप्तिः स्यात् । 'साप्तपौरुषी' इत्यनुशतिकादित्वादुभयपद्वृद्धिः, तस्य
चाक्नतिगणत्वात् ॥ १४६ ॥

एष वे प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः । अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्धिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

एष इति ॥ हन्यकन्ययोरुभयोरेव प्रदाने यदसंबन्धिश्रोत्रियादिभ्यो दीयत इत्ययं मुख्यः कल्प उक्तः । अयं तु मुख्याभावे वश्यमाणोऽनुकल्पो ज्ञातन्यः, सर्वदा साधुभिरनुष्टितः ॥ १४७ ॥

मातामहं मातुरुं च खस्रीयं श्रशुरं गुरुम्।

दौहित्रं विद्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥१४८॥ मातामहमिति ॥ स्वसीयो भागिनेयः, गुरुर्विद्यागुरुराचार्यादिः, विद्द दुहिता, तस्याः पतिर्विद्वपतिर्जामाताः, बन्धुर्माकृष्वस्पितृस्वसृपुत्रादिः, प्रतान्मातामहादीन्दश सुख्यश्रोत्रियाद्यसंभवे भोजयेत् ॥ १४८॥

# न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्।

पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

नेति ॥ धर्मज्ञो दैवश्राद्धे भोजनार्थं न बाह्मणं यत्नतः परीक्षेत । लोक-प्रसिद्धिमात्रेणासौ साधुतमा भोजयितच्यः । पित्र्ये पुनः कर्मण्युपस्थिते पितृ-पितामद्दायभिजनपरीक्षा कर्तव्येति 'प्रयत्नतः'शब्दस्यार्थः ॥ १४९ ॥

# ये स्तेनपतितक्कीवा ये च नास्तिकवृत्तयः। तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननहीन्मनुरत्रवीत्॥ १५०॥

य इति ॥ स्तेनश्चौरः स च सुवर्णचोरादन्यः, तस्य 'पतित'शब्देनैव यहणात् । पतितो महापातकी, क्षीबो नपुंसकः, नास्तिकवृत्तिनीस्ति परछोक इस्वेवं वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य एतान्दैवपितृकृत्ययोरुभयोरेवायोग्यान्मनुरव्रवीदिति। 'मनु'यहणं निषेधादरार्थम् । सर्वधर्माणामेव मनुनोक्तत्वात् ॥ १५०॥

# जिटलं चानधीयानं दुवेलं कितवं तथा।

याजयन्ति च ये पूर्गास्तांश्व श्राद्धे न भोजयेत् ॥१५१॥

जिटलिमित ॥ जिटलो ब्रह्मचारी। 'मुण्डो वा जिटलो वा सात्' (२।२१९) इत्युक्तब्रह्मचार्थुपलक्षणत्वाज्ञिटलत्वस्य मुण्डोऽपि निषिध्यते । अनधीयानं वेदाध्ययनरिहतं यस्योपनयनमात्रं कृतं न वेदादेशः । तेनास्वीकृतवेदस्यापि ब्रह्मचारिणो वेदाध्ययनकर्तुरभ्यनुज्ञानार्थोऽयं निषेधः । अतः 'श्रोत्रियायैव देयानि' (३।१२८) इति ब्रह्मचारीतरिवषयम् । दुर्वलो दुश्चर्मा । मेधातिथिस्तु 'दुर्वालम्' इति पठित्वा खलतिलोहितकेशो वा दुश्चर्मा वेसर्थत्रयमुक्तवान् । कितवो चूतकृत् । प्रायाजका बहुयाजकाः, 'पृगः क्रमुकवृन्दयोः' इत्यानिभानिकाः । अत एव वासिष्टः—'यश्चापि बहुयाज्यः स्याद्यश्चोपनयते बहुन्' इति । तान्श्राद्धे न भोजयेदिति न दैवे निषेधः । यत्रोभयत्र निषेधो मनोरिभमतस्तत्र हन्यकन्यग्रहणमुभयत्रेति वा करोति ॥ १५१ ॥

#### चिंकित्सका देवलका मांसविक्रयिणस्तथा । विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युईव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥

चिकित्सकानिति ॥ चिकित्सको भिषक, देवलकः प्रतिमापरिचारकः, वर्तनार्थस्वेनेतत्कर्म कुर्वतोऽयं निषेघो नतु धर्मार्थम् । 'देवकोशोपभोजी च नाम्ना देवलको भवेत्' इति देवलवचनात् । मांसविकयिणः सक्रदिप । 'सद्यः पतित मांसेन' (१०।९२) इति लिङ्गात् । विपणोनिति । विपणो वणिज्या तया जीवन्तः । 'इन्यकन्ययोः' इत्यभिधानाहै वे पिन्ये चैते त्याज्याः ॥ १५२ ॥

#### प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी इयावदन्तकः । प्रतिरोद्धा गुरोश्चेव त्यक्ताग्निर्वाधिषित्तथा ॥ १५३ ॥

प्रेच्य इति ॥ सृतिग्रहणपूर्वकं प्रामाणां राज्ञश्चाज्ञाकारी कृत्सितनखकृष्ण-

पाठा०—1 दुर्बार्ल (=खलतिं, लोहितकेशं विकलेन्द्रियं वा ). 2 चिकित्सका-न्देवलकान्मांस°.

१ उपजीविकान्तरे सित वृद्धिजीविको वार्शुषिरित्युच्यते; यचोक्त-'वृद्धिस्तु योक्ता धान्यानां वार्शुषित्वं तदुच्यते' इति, तत्तु स्वप्रिक्षयाविषयकमेवेति केचित् । वैयाकरणास्त्वन्यत्र धान्याद्वार्शुषिकशान्यं सर्गन्त. वसिष्ठस्तु (२।४६) 'समर्थं धान्यसुद्धृत्य महार्षं यः प्रयच्छिति । स वै वार्शुषिको नाम बहावादिषु गहितः' इत्युपक्रम्य 'वसिष्ठवचनप्रोक्तां वृद्धिं वार्शुषिके मृणु । पञ्च माषास्तु' इत्यदिना धान्य-वृज्यासुभयान्यतर्जीवित्वमाहः

दन्तः, गुरुप्रतिकूलाचरणशीलस्यक्तश्रौतसार्ताप्तः कलोपजीवनश्च हृज्यकव्य-योर्वज्या इति पूर्वस्थैवात्रानुषङ्ग उत्तरत्र एव च ॥ १५३ ॥

# यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।

ब्रह्मद्विट्र परिवित्तिश्व गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥

यक्ष्मीति ॥ यक्ष्मी क्षयरोगी, पशुपालो वृत्त्यर्थतया छागमेषादिपोषकः, परिवेत्त्पारिवित्ती वक्ष्यमाणलक्षणौ, निराकृतिः पञ्चमहायज्ञानुष्ठानरहितः । तथा च छन्दोगपरिशिष्टम्-'निराकर्तामरादीनां स विज्ञेयो निराकृतिः', ब्रह्महिद ब्राह्मणादीनां हेष्टा, गणाभ्यन्तरो गणार्थोपसृष्टसंबन्धियनाद्युपजीवी १५४

#### कुशीलवोऽवकीणीं च दृष्लीपतिरेव च । पोनर्भवश्र काणश्र यस चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥

कुर्शीलव इति ॥ कुर्शीलवो नर्तनवृत्तिः, अवकीणीं स्त्रीसंपर्काद्विष्ठुतब्रह्म-चर्यः प्रथमाश्रमी यतिश्र, वृषलीपितः सवर्णामपरिणीय कृतश्रदाविवाहः, पौनर्भवः पुनर्भूपुत्रो वक्ष्यमाणः, उपपतिर्थस्य जायाजारो गृहेऽस्ति ॥ १५५॥

# भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा । ग्रुद्रिशिष्यो गुरुश्चेव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

भृतकेति ॥ भृतिवेतनं तद्वाही, भृतकः सन् योऽध्यापकः स तथा; एवं भृतकाध्यापितः, शूद्रशिष्यो न्याकरणादौ गुरुश्च तस्यैव । वाग्दुष्टः परुष-भाषी । अभिशस्त इत्यन्ये । कुण्डगोलको वक्ष्यमाणौ ॥ १५६ ॥

#### र्अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्शरोस्तथा । ब्राह्मयौनैश्र संबन्धेः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥

अकारणेति॥ मातुः पितुर्गुरूणां च परित्यागकारणं विना त्यक्ता शुश्रूषादे-रकतां, पतितैश्राध्ययनकन्यादानादिभिः संबन्धेः संपर्कं गतः। पतितत्वा-देवास्य निषेध इति चेन्न। संवत्सरात्प्रागिदं भविष्यति 'संवत्सरेण पतित' (११।१८०) इति वक्ष्यमाणत्वात्॥ १५७॥

#### अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविकयी।

समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः क्रुटकारकः ॥ १५८॥

अगारेति ॥ गृहदाहकः, मरणहेतुद्रव्यस्य दाता, कुण्डस्य वक्ष्यमाणस्य योऽन्नमश्चातिः, प्रदर्शनार्थत्वात्कुण्डस्य गोलकस्यापि ग्रहणम् । अत एव देवलः—'अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तिरि गोलकः । यसयोरन्नमश्चाति स कुण्डाशीति कथ्यते ॥' सोमलताविकेता, समुद्दे यो वहित्रादिना द्वीपान्तरं गच्छति, बन्दी स्तुतिपाठकः, तैलार्थं तिलादिबीजानां पेष्टा, साक्षिवादे कूटस्य मृषावादस्य कर्ता ॥ १५८ ॥

#### पित्रा विवद्मानश्च कितवो मद्यपस्तथा। पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविकयी।। १५९॥

पिन्निति ॥ पित्रा सह शास्त्रार्थे लोकिके वा वस्तुनि निरर्थं यो विवद्ते, कितवो यः स्वयं देवितुमनिभन्नः स्वार्थं परान्देवयित न स्वयं देविता तस्यो-कत्वात् । न च सिभकः तस्य यूतवृत्तिपदेनाभिधास्यमानत्वात् । 'केकरः' इति पाठे तिर्थग्दष्टिः, सुरान्यतिरिक्तमद्यपाता, कुष्ठी, भनिणीतेऽपि तस्मिन्महा-पातकादौ जाताभिशापः, छग्नना धर्मकारी, रसिकेता ॥ १५९॥

#### धतुः शराणां कर्ता च यश्राग्रेदिधिषूपतिः । मित्रधुग्यूतवृत्तिश्र पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

धनुरिति ॥ धनंषि शरांश्र यः करोति, ज्येष्ठायां सोदरभगिन्यामन्द्रायां या किनष्ठा विवाहेन दीयते साऽग्रेदिधिषूस्तस्याः पितः । तथा च लौगाक्षिः— 'ज्येष्ठायां यद्यन्द्रायां कन्यायामुद्धतेऽनुजा । सा चाग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥' गोविन्दराजस्तु 'आतुर्मृतस्य भार्यायाम्' (३।१७३) इत्यने-नाग्रेदिधिषूपतिरेव मृत्तिवशादग्रेपदलोपेन दिधिषूपतिरिति मनुना वक्ष्यते स इह गृद्धत इत्याह । मित्रधुक् यो मित्रस्यापकारे वर्तते द्यतमृत्तिः, सभिकः, पुत्रेणाध्यापितः पिता मुख्येन पुत्राचार्यत्वासंभवात् ॥ १६०॥

#### श्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा। उन्मत्तोऽन्ध्रश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्द्क एव च ॥ १६१॥

भ्रामरीति ॥ अपसारी, गण्डमालांख्यन्याध्युपैतः, श्वेतकुष्ठयुक्तः, दुर्जनः, उन्मादवान्, अचञ्चः, वेदनिन्दाकरः ॥ १६१ ॥

# हित्तगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति । पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

हस्तीति ॥ हस्तिगवाश्वीष्ट्राणां विनेता, 'नक्षत्र'शब्देन ज्योतिःशास्त्रमुप-रूक्ष्यते; तेन यो वर्तते, पक्षिणां पञ्जरस्थानां क्रीडाद्यर्थं विक्रयार्थं वा पोषकः, युद्धार्थमायुधविद्योपदेशकः ॥ १६२ ॥

# स्रोतसां मेदको यश्र तेषां चावरणे रतः । गृहसंवेशको दृतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

स्रोतसामिति ॥ प्रवहज्जलानां सेतुभेदादिना देशान्तरनेता, तेषामेवा-चरणकर्ता निजगतिप्रतिबन्धकः, गृहसंनिवेशोपदेशको वास्तुविधोपजीवी, दूतो राजप्रामप्रेष्यव्यतिरिक्तोऽपि, वृक्षरोपयिता वेतनप्रहणेन नतु धर्मार्थी । 'पञ्जास्ररोपी नरकं न याति' इति विधानात् ॥ १६३॥

# श्वक्रीडी स्थेनजीवी च कन्याद्वक एव च । हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥

श्वकीडीति॥ कीडार्थं ग्रुनः पोषयति, रथेनैर्जीवति कयविकयादिना, कन्या-भिगन्ता, हिंसारतः, सूद्रोपक्रुप्तवृत्तिः। 'वृषलपुत्रश्च' इति पाठान्तरम् । तर्त्र वृषला एव केवलाः पुत्रा यस्येत्यर्थः । विनायकादिगणयागकृत् ॥ १६४ ॥

> आचारहीनः क्वीवश्र नित्यं याचनकस्तथा । कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिनिन्दित एव च ॥ १६५॥

आचारेति ॥ गुर्वतिथिप्रत्युत्थानाद्याचारवर्जितः, क्लीबो धर्मकृत्यादौ निरु-त्साहः, नपुंसकस्योक्तत्वात् । नित्यं याचनेन परोद्वेजकः, स्वयंकृतया कृष्या यो जीवति, वृत्त्यन्तरेऽपि वा संभवत्यस्वयंकृतयापि । श्लीपदी व्याधिना स्थूळचरणः, केनापि निमित्तेन साधूनां निन्दाविषयः ॥ १६५ ॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा । य्रेतनिर्यापकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

औरभिक इति ॥ मेषमहिषजीवनः, परपूर्वा पुनर्भूस्तस्याः पितः, प्रेत-निर्हारको धनप्रहणेन नतु धर्मार्थम् । 'एतहै परमं तपो यत्प्रेतमरण्यं हरन्ति' इस्यवस्यश्चरा विहितत्वात् ॥ १६६ ॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्केयान्द्रिजाधमान् । द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

एतानिति ॥ एतान्सेनादीन्निन्दताचारान्काणादींश्च पूर्वजन्मार्जितनिन्दित-कमेरोषलब्धकाणादिभावान्साधुभिः सहैकत्र भोजनाद्यनहान्त्राह्मणापसदान् ब्राह्मणश्रेष्टः शास्त्रज्ञो देवे पित्र्ये च त्यजेत् ॥ १६७ ॥

ब्राह्मणैस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति । तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥

ब्राह्मण इति ॥ तृणाग्निर्यथा न हिवर्दहनसमर्थो हिविष प्रक्षिसे शाम्यति निक्छलस्त्र होमः, एवं वेदाध्ययनग्नः वाह्मणस्तृणाग्निसमलस्य देवोद्देशेन स्यक्तं हिवर्न दातव्यं, यतो भस्मिन न हूयते। 'श्रोत्रियपयेव देवानि' (३।१२८) इस्यनेनैवानधीयानस्यापि प्रतिषेधासिस्यो स्तेनादिवत्पङ्किद्षकत्वज्ञापनार्थं पुनर्वचनम्। अन्ये तु दैवेऽनधीयान एव वर्जनीयः, अधीयानस्तु काणादिरपि ग्रारिरदोषयुक्तो ब्राह्म इत्येतदर्थं पुनर्वचनम्। अत एव वसिष्ठः—'अय चेन्मक्र-विद्युक्तः शारिरेः पङ्किद्ष्योः । अद्ष्यं तं यमः प्राह पङ्किपावन एव सः।' इतिरैः कारणस्वादिभिनंतु स्वयमुत्पादैः स्तेनत्वादिभिः॥ १६८॥

पाठा०-1 प्रेतांनेर्यातक?. 2 °णो ह्यनधीयान°.

अपाङ्कदाने यो दातुर्भवत्यूर्घ्वं फलोदयः । देवे हैविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥ अपाङ्कदान इति ॥ पिक्कमोजनानर्दशासणाय देवे द्विषि पित्र्ये वा दत्ते

दातुर्यो दानादृष्वं फलोदयस्तमशेषमभिधास्यामि ॥ १६९ ॥

अत्रतेर्यद्विजैर्धकं परिवेत्रादिमिस्तथा । अपाङ्केयेर्यदन्येश्व तद्वै रक्षांसि भ्रुझते ॥ १७० ॥

अज्ञतिरिति॥वेदप्रहणार्थं जतरितिसाथा परिवेशादिभिरन्येश्वापाक्केयैः स्तेना-दिभिर्यद्वर्यं मुक्तं तद्वक्षांसि मुक्षते । निष्फळं तच्छ्राद्धं भवतीत्यर्थः ॥१७०॥

अप्रसिद्धत्वात्परिवेश्रादिलक्षणमाह—

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

दारेति ॥ 'अभिहोत्र'मञ्दोऽयमप्तिहोत्राद्याधानपरः । यः सहोदरे ज्येष्ठे आतर्यन्देऽनिभिके च दारपरिम्रहं श्रौतस्मार्ताभिहरणं च कुरुते स परिवेत्ता, ज्येष्ठश्च परिवित्तिभैवति ॥ १७१ ॥

प्रसङ्गात्परिवेदनसंबन्धिनां प्रश्लानामप्यनिष्टं फलमाह

परिवित्तिः परीवेत्ता यया च परिविद्यते । सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

परीति ॥ परिवित्तिः परीवेता च यया च कन्यया परिवेदनं कियते कन्या-प्रदाता याजकश्च तद्विवाहहोमकर्ता स पञ्चमो येषां ते सर्वे नरकं व्रजन्ति ॥ १७२॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः । धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥

भातुरिति ॥ सृतस्य भातुर्वेद्यमाणनियोगधर्मेणापि नियुक्तायां भायियां 'सकृत्सकृदतावृतों' इत्यदिविधि हित्वा कामेनानुरागं भावयेदाश्चेषचुम्बनादि कुर्यादसकृद्वा प्रवर्तेत स दिधिषूपतिक्तांत्रस्यः । स्रतः श्राद्धनिषिद्धपात्रमध्य-पाठादस्यापि हन्यकन्यपात्रयोनिषेधः कर्यानीयः ॥ १७३ ॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥ १७४ ॥
परेति ॥ परदारेषु कुण्डगोककाल्यौ द्वौ सुताबुत्पचेते । तत्र जीवत्पतिकाथासुत्पन्नः कुण्डः; मृतपतिकायां च गोलकः ॥ १७४ ॥

११ म० स्मृ०

पाठा०-1 कर्मणि.

ती तु जाती परक्षेत्रे प्राणिनी प्रेत्य चेह च । दत्तानि हच्यकच्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥

ताविति ॥ ते परभार्यायां जाताः कुण्डाद्या दृष्टानुपयोगात्प्राणिन इति व्यपिदृष्टाः । प्राणिनौ ब्राह्मणत्वेऽपि तत्कार्याभावात्प्रेत्य फलाभावात्परलोके चानुपङ्गिककीर्त्यादिफलाभावाद्यानि दृष्यकव्यानि प्रेत्य फलाभावादिह कीर्ते-रभावाज्ञाशयेते नाशयतः, प्रदायिभिर्द्यानि इव्यकव्यानि निष्फलानि कुर्वतः ॥ १७५॥

अँपाङ्कचो यावतः पाङ्कचान्भुज्ञानाननुपञ्यति ।

तावतां न फलं तत्र दाता प्रामोति बालिशः ॥ १७६ ॥ अपाङ्क्ष्य इति ॥ सिन्धः सहैकपङ्क्ष्यां भोजनानईः स्तेनादिर्यत्संख्यान्भोज-नार्हान्पश्यति तावत्संख्यानां भोजनस्य फलं तत्र श्रास्ते दाता न प्रामोति । बालिशोऽज्ञः । अतः स्तेनादिर्यथा न पश्यति तथा कर्तन्यम् ॥ १७६ ॥

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तुं । पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ।। १७७ ।।

वीक्ष्येति ॥ अन्यस्य वीक्षणासंभवाद्वीक्षणयोग्यदेशसंनिहितोऽसौ पा-क्ष्यानां नवतेभोंजनफळं नाशयति, एवं काणः षष्टेः, श्वेतकुष्ठी शतस्य, पाप-रोगी रोगराजोपहतः । सहस्रस्येत्यन्धादिसन्निधिनिरासार्थं वचनम् । गुरु-ळघुसंख्याभिधानं चेह संख्योपचये दोषगौरवं, तत्र च प्रायश्चित्तगौरविमिति दर्शयितुम् ॥ १७७॥

यावतः संस्पृशेदङ्गैत्रीह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।

तावतां न भवेदातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

यावत इति ॥ ग्रद्धस्य यज्ञादावृत्विग्यावत्संख्यान्त्राह्मणान्तरप्रशति 'श्रास-नेषूपक्कृसेषु' (११२०८) इत्यासनभेदस्य वक्ष्यमाणत्वानमुख्यस्पर्शासंभवे यावतां श्राह्मभोजिनां पङ्कानुपविशति तावतां संबन्धि पौर्तिकं फर्छ श्राह्मीयं दातुर्नं भवति । तावतां पौर्तिकं फर्छं बहिवेदिदानाच यत्फर्छं तज्ञ भवति इति मेधा-तिथि गोविन्दराजौ । अतस्तयैव निन्दया निषिद्धगणापिठतस्थापि ग्रद्धयाजकस्य भोजनिषेधः करूप्यते ॥ १७८ ॥

प्रसङ्खाच शूद्रयाजकप्रतिप्रहं निषेधति, लाघवार्थसन्यत्र निषेधकरणे शूद्र-याजकशब्दोचारणं कर्तव्यं स्मात्—

वेदिवचापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् । विनाशं त्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥ वेदेति ॥ वेदज्ञोऽपि त्राह्मणः श्रद्धयाजकस्य लोभाव्यतिग्रहं कृत्वा शीक्षं पाठा०—1 ते तु जाताः परक्षेत्रे प्राणिनः, 2 नाशयन्ति, 3 अपंत्तयो यावतः पंत्तयान्, 4 च. शरीरादिना विनाशं गच्छति । सुतरामवेदवित् । अपक्रमृन्म्यशरावादि-कमिवोदके ॥ १७९ ॥

> सोमविक्रयिणे विष्ठा भिष्जे पूर्यशोणितम् । नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वाधुषौ ॥ १८० ॥

सोमविक्रियण इति ॥ सोमविक्रियणे यहत्तं तहातुर्भोजनार्थं विष्ठा संप-चते । जनमान्तरे विष्ठाभोजिनां जातौ जायत इत्यर्थः । एवं पूय-शोणितेऽपि व्याख्येयम् । नष्टं नाशभागितया निष्फलं विवक्षितम् । अप्रतिष्ठ-मनाश्रयतया निष्फलमेव ॥ १८० ॥

> यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् । भसानीव हुतं हैर्च्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

यत्त्विति ॥ वाणिजकाय यद्तं श्राद्धे तन्नेहानुषङ्गिककीर्तादिफलाय, नापि पारलौकिकफलाय भवति । पुनर्भूपुत्राय यद्दं तन्नसाहुतहविःसमम् । निष्फलमित्यर्थः ॥ १८१ ॥

> इतरेषु त्वैपाङ्कचेषु यथोदिष्टेष्वसाधुषु । मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

इतरेष्विति ॥ इतरेभ्यो विशेषेणानुक्तफलेभ्यः पङ्किभोजनानहेभ्यः सेना-दिभ्यो यथाकीर्तितेभ्यो यहत्तमक्तं तहातुभोजनार्थं मेदोरुधिरमांसमजास्थि भवतीति पण्डिता वदन्ति । अत्रापि जनमान्तरे मेदःशोणितादिभुजां जातिषु जायन्त इत्थर्थः ॥ १८२ ॥

अपाङ्क्षचोपहता पङ्किः पान्यते यैदिजोत्तमैः ।

तानिबोधत कात्रुर्येन द्विजाग्रयान्पङ्किपविनान् ॥१८३॥ अपाङ्क्रयेति ॥ एकपङ्कयुपविष्ठस्तेनादिवृषिता पङ्क्रियेर्बाह्यणैः पवित्रीक्रियते तान्पवित्रीकारकान्त्राह्यणानशेषेण शृणुत । निषेधादेकपङ्किभोजनासंभवेऽपि स्तेनादीनां रहस्यक्रताज्ञातदोषविषयत्वेन साधकतास्य वचनस्य ॥ १८३ ॥

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।

श्रोत्रियान्वयजाश्रेव विज्ञेयाः पङ्क्षिपावनाः ॥ १८४ ॥

अद्रया इति ॥ सर्वेषु वेदेषु चतुर्विष्यम्याः श्रेष्ठाः सम्यग्गृहीतवेदा बाह्यणाः पिक्कपावनाः । अत एव यमः पिक्कपावनगणनायां—'चतुर्वेदविदे चैव' इति पिठतवान् । तथा प्रकर्षेणैवोच्यते वेदार्थं एभिरिति प्रवचनान्यङ्गानि तेष्वप्यम्याः पद्धक्रविदस्ते च चतुर्वेदिनोऽपि पिक्कपावनाः । 'न्यायविच्च पदक्रविदि'ति पिक्कपावनमध्ये यमेन पृथक्पठितत्वात् । तथा 'छन्दसां गुद्धदशपुरुष' इत्युशनोवचनादशपुरुषपर्यन्तमविच्छिन्नवेदसंप्रदायवंशजाः पिक्कपावनाः ॥ १८४ ॥

#### त्रिणाचिकेतः पश्चाग्निस्तिसुपर्णः पडङ्गवित् । ब्रह्मदेयात्मसंतानो ज्येष्टसामग एव च ॥ १८५ ॥

त्रिणाचिकेत इति ॥ त्रिणाचिकेतोऽध्वर्युवेदभागसद्भतं च, तद्योगात्पुरुषोऽपि त्रिणाचिकेतः । पञ्चाग्निरिग्नहोत्री । तथा च हारीतः—'पवनः पावनस्नेता यस्य पञ्चाग्नयो गृहे । सायंत्रातः प्रदीप्यन्ते स विष्रः पङ्किपावनः॥'
पवन आवसथ्याग्नः । पावनः सभ्योऽग्निः । शीतापनोदाद्यर्थं बहुषु देशेष्विप
विधीयते । त्रिसुपणी बहुचां वेदभागसद्भतं च, तद्योगात्पुरुषोऽपि त्रिसुपणीः ।
षडङ्गानि शिक्षादीनि यो व्याचष्टे स षडङ्गवित् सर्वप्रवचनेन षडङ्गाध्येतोक्तः ।
ब्रह्मदेया ब्राह्मविवाहोढा, तस्या आत्मसंतानः पुत्रः । ज्येष्ठसामान्यारण्यके
गीयन्ते तेषां गाता । एते षद्म 'विज्ञेयाः पङ्किपावनाः' इत्युत्तरश्लोकेन
संबन्धः ॥ १८५॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः । श्रुतायुश्चेव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्किपावनाः ॥ १८६ ॥

वेदेति ॥ अनधीत्यापि वेदाङ्गानि गुरूपदेशाधिगतवेदार्थः, प्रवक्ता वेदार्थ-स्यैव, ब्रह्मचारी प्रथमाश्रमी, सहस्रद इति देयविशेषानुपादानेऽपि 'गावो वै यज्ञस्य मातरः' इत्यादिविशेषप्रवृत्तश्रुतिदर्शनाद्गोसहस्रदाता बहुप्रदो वा। शतायुः शतवर्षवयाः । 'श्रोत्रियायैव देयानि' (२।१२८) इति नियमात्सति श्रोत्रियत्वे उक्तगुणयोगात्पङ्किपावनत्वम् ॥ १८६॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।

निमन्त्रयेत ज्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥

पूर्वेद्युरिति ॥ श्राद्धकर्मणि प्राप्ते श्राद्धाहात्पूर्वदिने तदसंभवे श्राद्धदिन एवोक्तळक्षणान्त्राह्मणान्सम्यगतिसत्कृत्य निमञ्जयेत् । त्रयोऽवरा न्यूना येषां ते ज्यवराः नतु तावत एव । 'एकैकम्' ( २।१२९ ) इत्युक्तेः ॥ १८७ ॥

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।

न च छन्दांस्यधीयीत यस श्राद्धं च तद्भवेत् ॥ १८८ ॥

निमन्त्रित इति ॥ श्राद्धे निमन्त्रितो बाह्यणो निमन्नणादारभ्ये श्राद्धाहोरात्रं यावन्मेश्रुननिवृत्तिसंयमनियमवान् स्थात् । अवश्वकर्तव्यजपादिवर्जं वेदा-भ्ययनं च न कुर्यात् । श्राद्धकर्तापि तथैव स्थात् ॥ १८८ ॥

निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्रिजान् । वायुवचानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥ निमन्त्रितानिति ॥ पूर्वनियमविधेरयमनुवादः । यसाजान्त्राह्मणान्नि- मित्रतानदृश्यरूपेण पितरोऽधितिष्टन्ति प्राणवायुवद्गच्छतोऽनुगच्छन्ति, तथोप-विष्टेषु तेषु समीप उपविशन्ति, तसान्नियता भवेयुः ॥ १८९ ॥

> केतितस्तु यथान्यायं हैन्यकन्ये द्विजोत्तमः। कथंचिद्प्यतिकामन्पापः स्रकरतां त्रजेत् ॥ १९० ॥

केतित इति ॥ हब्यकव्ये यथाशास्त्रं निमन्नितो बाह्यणः स्वीकृत्य केनापि प्रकारेण भोजनमकुर्वाणस्त्रेन पापेन जन्मान्तरे सुकरो भवति ॥ १९० ॥

'नियताःमा भवेत्सदा' (३।१८८) इत्यनेन मैथुननिषेधे कृतेऽपि वृष्ठीगमन-स्याधिकदोषज्ञापनायाह—

> आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते । दातुर्यद्दष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

आमिन्नितस्त्वित ॥ वृष्ठी शृदा तत्र मृद्ध्वाच्छ्राद्धे निमन्नितः सन् यो वृष्ट्या सार्थं स्त्रीपुंसधर्मेण सुरतादिना रमते स दातुर्यत्पापं तत्वामोति । पापोत्पित्तमात्रं विवक्षितम्। अन्यथा दातर्यपापे पापं न जायते। न चेदं दातुः प्रायश्चित्तत्या विहितं येनासौ पापान्सुच्यते । मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु सामान्त्रेन ब्रह्मचर्थस्य विधानाद्वृषस्यन्ती चपल्यति भर्तारमिति योगाश्रयणेन श्राद्धभोक्त्रस्टा ब्राह्मण्यपि वृष्ट्यभिमतात्रेत्याहतुः॥ १९१॥

अक्रोधनाः शौचपुराः सततं ब्रह्मचारिणः ।

न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

अक्रोधना इति ॥ क्रोधरिहताः, बहिःशौचं मृद्वारिभ्याम्, अन्तःशौचं रागद्वेषादित्यागस्तद्युक्ताः, सर्वदा स्त्रीसंयोगादिश्चन्याः, त्यक्तयुद्धाः, द्याद्यष्ट-गुणयोगो महाभागता तद्वन्तः, अनादिदेवतारूपाः पितरः । तस्माक्कोधादि-रहितेन भोक्त्रा कर्त्रा च भवितव्यम् ॥ १९२ ॥

यसादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।

ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तानिबोधत ॥ १९३ ॥

यसादिति ॥ एषां सर्वेषां पितृणां यसादुत्पत्तियें च पितरो यैर्जाह्मणादि-भिर्वेनियमैः शास्त्रोक्तकर्मभिरुपचरणीया भवेयुस्तान्साकल्येन ऋणुत ॥१९३॥

मैनोहैंरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सताः।

तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४॥

मनोरिति ॥ हिरण्यगर्भापत्यस्य मनोर्थे मरीच्यादयः पुत्राः पूर्वमुक्ताः 'मरीचिरत्र्यक्तिरसौ' (११३५) इत्यादिना तेषामृषीणां सर्वेषां सोमपादयः पितृगणाः पुत्रा मन्वादिभिः स्मृताः ॥ १९४ ॥

पाठा०-1 हव्ये कव्ये. 2 मनोहिंरण्य.

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः । अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्चताः ॥ १९५ ॥

विराहिति ॥ विरादसुताः सोमसदो नाम साध्यानां पितरः, अभिष्वात्ता मरीचेः पुत्राः, लोकविल्याता देवानां पितरः ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धवीरगरक्षसाम् ।

सुपर्णिकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥ दैत्येति ॥ दैत्यादीनां प्रथमाध्यायोदितभेदानामत्रिपुत्रा बर्हिषदो नाम पितरः स्मृताः ॥ १९६ ॥

सोमपा नाम वित्राणां क्षत्रियाणां हविश्वेजः । वैदयानामाज्यपा नाम शृद्धाणां तु सुकालिनः ।।१९७॥ सोमपा इति ॥ बाह्मणप्रमृतीनां चतुर्णां वर्णानां सोमपाप्रमृतयश्चरवारः पितरः स्मृताः ॥ १९७ ॥

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हिवष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः । पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥ सोमपा इति ॥ कवेर्न्यगोः सोमपाः पुत्राः । हिवर्भुज एव हिवष्मन्तोऽङ्गिर् रसः पुत्राः । आज्यपाः पुलस्त्यसुताः ॥ सुकालिनो वसिष्ठसुताः ॥ १९८ ॥

अग्निद्ग्धानमिद्ग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा । अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ।।१९९॥ अग्नीति ॥ अग्निद्ग्धानमिद्ग्धकान्यबर्हिषदमिष्वात्तसौम्याख्यान्परान्पि-वन्त्रियाणामेव जानीयात् ॥ १९९॥

य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्तिताः । तेषामपीह विज्ञेयं प्रत्रपात्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

य इति ॥ य एते प्रधानभूताः पितृगणा उक्तास्तेषामपीह जगति पितर एव पुत्रपौत्रा अनन्ता विज्ञेयाः । पुत्रपौत्रमिति 'गवाश्वप्रस्तीनि च' (पा. १।४।११) इत्येकवद्भावः । एतच्छ्लोकसूचिता एव 'वरो वरेण्यः' इत्यादयो- इन्येऽपि पितृगणा मार्कण्डेयादिपुराणादिषु श्रूयन्ते ॥ २००॥

अस्विभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः । देवेभ्यस्तु जगत्सर्व चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥ अविभ्य इति ॥ अविभ्यो मरीच्यादिभ्य उक्तक्रमेण वितसे जाताः । वितृभ्यो देवमानवा जाताः, देवेभ्यश्च जक्तमस्यावरं जगत्क्रमेण जातम् ।

पाठा०—L अनिमदाधानिमदाधान.

तसात्सोमपादिप्रभवत्वात्स्विपितृपितामह्मपितामहानां श्राह्के एते पूजनीयाः । सोमपादयोऽपि पूजिताः सन्तः श्राद्धफळदानाय करूपन्त इति । प्रकृतश्च पित्रादिशाद्धस्तुत्यर्थोऽयं सोमपादिपितृगणोपन्यासः । अथवा आवाहनकाले निजिपत्रादयो ब्राह्मणादिभिः सोमपादिरूपेण ध्येयाः । एवं व्यवस्थाज्ञान-मनुष्ठानपरता च स्रात् ॥ २०१ ॥

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा रंजतान्त्रितः। वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥

राजतैरिति ॥ एषां पितृणां रूप्यमयपात्रैः रूप्ययुक्तैर्वा ताम्रादिपात्रैर्जल-मपि श्रद्धया दत्तमक्षयसुखहेतुः संपद्यते कि पुनः प्रशस्तपायसादीति ॥२०२॥

> देवकार्याद्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते । देवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं समृतम् ॥ २०३॥

देवेति ॥ देवानुहिश्य यिक्कयते तद्देवकार्यम् । ततः पितृकार्यं द्विजातीनां विशेषेण कर्तव्यमुपदिश्यते । अनेन पितृश्राद्धस्य प्राधान्यं, देवं तन्नाङ्गामिस्याद् । एतदेव स्पष्टयति—यतो देवं कर्म पितृकृत्यस्य पूर्वं सद्गाप्यायनं परिपुरकं स्मृतम् ॥ २०३ ॥

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं देवं नियोजयेत् ।
रैक्षांसि हि विद्धम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥
तेषामिति ॥ आरक्षो रक्षा तेषां पिदणां रक्षाभूतं दैवं विश्वदेवब्राह्मणं पूर्वं
निमन्नयेत् । यसाद्वक्षावर्जितं श्राद्धं राक्षसा ब्राच्छिन्दन्ति ॥ २०४ ॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् । पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नक्ष्यति सान्वयः ॥ २०५॥

देविति ॥ यत एवमतः तच्छादं दैवाधन्तं दैवे कर्मणि भाधन्तावारम्भान्ताने यस्य तत्तथा । एतेनेद्मुक्तम्-निमञ्जणादि सर्वं दैवपूर्वं, विसर्जनं तु देवानां रोषे । अत एव देवलः—'यत्तत्र क्रियते कर्म पैतृके ब्राह्मणान्प्रति । तत्सर्वं तत्र कर्तव्यं वैश्वदेविकपूर्वकम् ॥' नतु तच्छादं पित्रुपक्रमावसानं पित्राधनं, तद्नुतिष्ठन्ससंतानः शीधं विनश्यति ॥ २०५ ॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् । दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥ शुचिमिति ॥ अस्थ्यङ्गाराग्रनुपद्दतं देशं निर्जनं च गोमयेनोपलेपयेत् । दक्षिणादिगवनतं च प्रयत्नतः संपादयेत् ॥ २०६ ॥

पाठा०-1 राजतान्वितै:. 2 श्रुतम्. 3 रक्षांसि विप्रकुम्पंति.

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि । विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥ अवेति ॥ चोक्षाः स्वभावश्चचयोऽरण्यादिप्रदेशास्तेषु, नद्यादितीरेषु, तथा

अवात ॥ पाकाः स्वनावस्त्रप्रवास्त्रप्रवास्त्रस्तुःस्वन्ति ॥ २०७ ॥ निर्जनप्रदेशेषु दत्तेन श्राद्धादिना सर्वदा पितरस्तुःस्यन्ति ॥ २०७ ॥

आसनेषूपऋप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक् ।

उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्वित्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

आसनेष्विति ॥ तत्र च देशे भासनेषु पृथकपृथिनिन्यस्तेषु सकुरोषु प्रागामित्रतबाह्मणान्सम्यकृतस्नानाचमनानुपवेशयेत् । अत्र देवबाह्मणासने कुशद्वयम्, पित्रासनेषु च प्रत्येकं दक्षिणाप्र एकः कुशो देयः । तदाह देवलःद्वयम्, पित्रासनेषु च प्रत्येकं दक्षिणाप्र एकः कुशो देयः । तदाह देवलःरथे चात्र विश्वदेवानां विप्राः पूर्वनिमित्रताः । प्राञ्चालान्यासनान्येषां
द्विदमीपहितानि च ॥ दक्षिणामुखयुक्तानि पितृणामासनानि च । दक्षिणामैकद्मीणि प्रोक्षितानि तिलोदकैः ॥' दक्षिणामुखयुक्तानि दक्षिणाप्राणि ।
अग्रं काण्डमूलापेक्षया ॥ २०८ ॥

उपवेक्य तु तान्विप्रानासनेष्वज्रगुप्सितान् । गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देर्वंपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

उपेति ॥ तान्विप्रानामित्रतानासनेषुपवेश्य कुङ्कमोदिगन्धमाल्यधूपादिभिः स्ट्रहणीयगन्धेर्देवपूर्वकमर्चयेत् ॥ २०९ ॥

तेषामुद्कमानीय सपवित्रांस्तिलान्पि ।

अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥

तेषामिति ॥ तेषां बाह्मणानामघोंद्कपवित्रतिलान्संमिश्रान्कृत्वा तैर्बाह्मणैः सहानुज्ञातोऽग्नौ वश्यमाणं होमं कुर्यात् । अनुज्ञासामर्थ्याच प्रार्थनापि पूर्वं कर्तव्या । सा च स्वगृह्यानुसारेण करवाणि करिष्य इत्यादिका । अनुज्ञापि ओमिलोवंस्त्रा कुरुष्वेति वा ॥ २१० ॥

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः । हविदीनेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत्पितृन् ॥ २११ ॥

अग्नेरिति ॥ अग्नेः सोमयमयोश्च विधिवत्पर्युक्षणादिपूर्वं द्दविद्गिन प्रीणन-मादौ कृत्वा पश्चादबादिना पिदंस्तर्पयेत् । सोमयमयोर्द्वन्द्दनिर्देशेऽपि पृथगैव देवतात्वम् । सहादिशब्दप्रयोगाभावात् । यत्र साहित्यं विवक्षितं तत्र सहा-दिशब्दं करोतीत्युक्तं प्राक् ॥ २११ ॥

अस्यभावे तु विप्रस्य पाणावेबोपपादयेत् । यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मश्रद्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥ अस्यभावे त्विति ॥ मध्यभावे पुनर्वाक्षणहस्त एवोक्ताहुतित्रयं दशात् ।

पाठा०—1 जलतीरेषु. 2 ° दैवपूर्वकम्.

यसाय एवाप्तिः स एव बाह्मण इति वेद्विदिर्बाह्मणैरकः । अध्यमावश्चानु-पनीतस्य संभवति । उपनीतस्य समावृत्तस्य च पाणिप्रहणात्पूर्वम् ; मृत-भार्यस्य वा ॥ २१२ ॥

## अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् । लोकसाप्यायने युक्ताञ्क्लाद्धदेवान्द्विजोत्तमान् ॥ २१३॥

अकोधनेति ॥ कोधशून्यान्सुप्रसादान्प्रसन्धमुखान्प्रवाहानादितया पुरा-तनान् 'अग्नो प्रास्ताहुतिः' (३।७६) इति न्यायेन छोकगृद्धय उद्युक्तान्श्राद्धपात्र-भूतान्मन्वादयो वदन्ति । तस्मादेवतुल्यत्वाच्छ्राद्धं ब्राह्मणस्य इस्ते दातन्य-मिति पूर्वविध्यनुवादः ॥ २१३॥

# अपसन्यमग्री कृत्वा सर्वमाष्ट्रत्य विक्रमम् । अपसन्येन हस्तेन निर्वपेदुद्कं भ्रुवि ॥ २१४ ॥

अपेति ॥ अग्नौ पर्युक्षणाचङ्गमुक्तं अग्नौकरणहोमानुष्टानक्रममपसन्धं दक्षिणसंस्थं कृत्वा ततोऽपसन्धेन दक्षिणहस्तेन पिण्डाधारभूतायां भुन्धुदकं क्षिपेत् ॥ २१४ ॥

# त्रींस्तु तसाद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः । औदकेनैव विधिना निर्वपेदक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

त्रीनिति ॥ तसाद्भ्यादिहोमादुङ्तादबादुङ्ताविश्यांस्वीन्पिण्डान्कृत्वा भौदकेनैव विधिना दक्षिणहस्तेन समाहितोऽनन्यमना दक्षिणामुखः 'तेषु दभेषु' (३।२१६) इति वक्ष्यमाणत्वादभेषु दद्यात् ॥२१५॥

# न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् । तेषु दर्भेषु तं हस्तं निर्मुंज्याह्नेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

न्युरयेति ॥ विधिप्र्वंकं स्वगृद्धोक्तविधिना दभेषु तान्दण्डान्द्रत्वा 'दर्भ-मूलेषु करावधर्षणम्' इति विष्णुवचनाच तेषु दभेषु मूलदेशे हस्तं निर्लेषं कुर्यात्प्रपितामहपित्रादीनां त्रयाणां लेपभुजां तृसये ॥ २१६॥

# आचम्योदक्पराष्ट्रत्य त्रिरायम्य शनैरस्रन् । षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पिदनेव च मन्नवित् ॥ २१७ ॥

आचम्येति ॥ अनन्तरमुपस्पृत्योदञ्जुलो भूत्वा यथात्रक्ति प्राणायामत्रयं कृत्वा 'वसन्ताय नमस्तुभ्यम्' इत्यादिना षड्ऋत्त्वमस्कुर्यात् पितृंश्च 'नमो वः पितर' इत्यादिमञ्चयुक्तम् 'अभिपर्यावृत्त्य' (गृ. स. ४।८) इति गृद्धदर्शना- इक्षिणामुलो नमस्कुर्यात् ॥ २१७ ॥

पाठा०-1 ° इछाद्धे देवान्. 2 °मानृत्परिक्रमम्. 3 निर्मृज्या°.

# उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।

अवजिघ्रेच तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥

उद्कमिति ॥ पिण्डदानात्पूर्वं पिण्डाधारदेशद्त्तोद्कशेषमुद्कपात्रस्यं प्रति-पिण्डसमीपदेशे क्रमेण पुनरुत्स्जेत् । तांश्च पिण्डान्यथान्युहान् येनैव क्रमेण दृत्तांस्तेनैव क्रमेणावजिवेत् । समाहितोऽनन्यमनाः ॥ २१८ ॥

> पि<sup>6</sup>डेभ्यस्त्विष्यकां मात्रां समादायानुपूर्वशः । तेनैवं विप्रानासीनान्विधवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

पिण्डेभ्य इति ॥ अल्पिकेत्यक्वाल्पमात्रा अवयवभागाः पिण्डेषूरपञ्चानल्प-भागान्पिण्डक्रमेणेव गृहीरवा तेनैव पित्रादिबाह्मणान्भोजनकाले भोजनात्पूर्व «भोजयेत् । विधिवत्पिण्डानुष्ठानवत्पित्रमुद्दिश्य यः पिण्डो दत्तस्तद्वयवं पितृबाह्मणं भोजयेत् । एवं पितामहप्रपितामहपिण्डयोरपि ॥ २१९ ॥

धियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वेपेत् । विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाश्चयेत् ॥ २२० ॥

भ्रियमाणे त्विति ॥ भ्रियमाणे जीवति पितरि मृतानां पितामहादित्रयाणां श्राद्धं कर्तव्यम् । अथवा पितृविप्रस्थाने तमेव स्वपितरं भोजयेत् । पितामह-प्रपितामहयोश्च बाह्यणौ भोजयेतिण्डद्वयं च दद्यात् ॥ २२० ॥

पिता यस निवृत्तः स्माञ्जीवेचापि पितामहः।

पितुः स नाम संकीत्यं कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥ २२१ ॥ पितिति ॥ नामकीर्तनमत्र श्राह्योपलक्षणार्थम् । पिनृजीवनापेक्षोऽयं वा शब्दः। यस्य पुनः पिता मृतः स्थात्पितामहे जीवति स पिनृप्रपितामहयोः श्राद्धं कुर्यात् । गोविन्दराजस्तु 'यस्य पिनृप्रपितामहौ प्रेतौ स्थातां स पित्रे पिण्डं निधाय पितामहात्परं द्वाभ्यां द्वादिति विष्णुवचनात्प्रपितामहन्तितितृभ्यां द्वात् इति व्याख्यातवान् ॥ २२१॥

पितामहो वा तच्छाद्धं भुज्जीतेत्यत्रवीन्मनुः । कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत ॥ २२२ ॥

पितामह इति ॥ यथा जीवित्पता भोज्यस्तथा पितामहोऽपि पितामह-ब्राह्मणस्थाने भोज्यः । पितृपपितामहयोश्च ब्राह्मणभोजनं पिण्डदानं च कुर्यात् । स्रथवा जीवता पितामहेन 'त्वमेव यथारुचि कुरु' इति दत्तानुज्ञः स्वरुच्या पितामहं वा भोजयेत् । पितृपितामहयोर्वा श्राद्धद्वयं कुर्यादिति विष्णुवचना-स्पितृ-प्रपितामह-बृद्धप्रपितामहानां श्राद्धश्चयं कुर्यात् ॥ २२२ ॥

पाठा० —1 पिण्डेभ्यः खल्पिकां. 2 तानेव.

१ तस्यायं भावः — पितामहे जीवित सित मृते च पितिर पितुरेकं पिण्डमेकोहिष्टिविषा-नेन निषाय पितुर्यः पितामहस्ततः पराभ्यां द्वाभ्यां द्वान्तः। पितामहस्त्वात्मनः प्रपिता-महः संप्रदानभृतः स्थित प्रवेति प्रपितामहाय ततः पराभ्यां द्वाभ्यां च द्वादिति निष्कर्षः।

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् । तत्त्पण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥

तेषामिति ॥ 'पिण्डेम्यस्त्विष्यकां मात्राम्' (३।२१९) इति यदुक्तं तस्यायं कालविधिः । प्रदेयविधिश्च तेषां ब्राह्मणानां हस्तेषु सदर्भतिलोदकं दस्वा तदिति पूर्वनिर्दिष्टं पिण्डाग्रं 'पित्रे स्वधाऽस्तु' इत्येवमादि ब्रुवन्पित्राद्विण्यद्विभ्यः क्रमेण दद्यात् ॥ २२३ ॥

पाणिस्यां तृपसंगृह्य स्वयमनस्य वर्धितम् । विप्रान्तिके पिदन्ध्यायञ्ज्ञनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥

पाणिभ्यामिति ॥ अन्नस्येति नृतीयार्थे षष्टी । विधितं पूर्णं पिठरादिपान्नं स्वयं पाणिभ्यां गृहीत्वा पितृश्च चिन्तयत्रसवन्त्यगारादानीय ब्राह्मणानां समीपे परिवेषणार्थमत्वरया स्थापयेत् ॥ २२४ ॥

उभयोईस्तयोर्धक्तं यदत्रमुपनीयते । तद्विप्रस्तम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

उभयोरिति ॥ अधिकरणसप्तमीयम् । उभयोः करयोर्मुक्तमस्थितं यदश्चं ब्राह्मणान्तिकमानीयते तदसुरा दुष्टबुद्धय आच्छिन्दन्ति तस्मान्नैकहस्तेनानीय परिवेष्टन्यम् ॥ २२५ ॥

गुणांश्र सपञ्चाकाद्यान्पयो दिघ घृतं मधु । विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

गुणानिति ॥ गुणान्व्यक्षनानि, अन्नापेक्षयाऽप्राधान्यादुणयुक्तान्वा सूप-ग्नाकाद्यान्त्रयतः ग्रुचिः समाहितः अनन्यमनाः सम्यक् यथा न विशीर्यन्ति तथा भूमावेव स्वपात्रस्थाने स्थापयेन दारुफळकादौ ॥ २२६ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मृलानि च फलानि च । हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

भक्ष्यमिति ॥ भक्ष्यं खरविश्चदमभ्यवहरणीयं मोदकादि, मोज्यं पाय-सादि, नानाप्रकारफलमूलानि, हृदयस्य प्रियाणि मांसानि, पानानि सुगन्धीनि सुमावेव विन्यसेदिति पूर्वेण सुंबन्धः ॥ २२७ ॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः । परिवेषयेत् प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

उपेति ॥ एतत्सर्वमन्नादिकं ब्राह्मणसमीपमानीय प्रयतः श्रुचिरनन्यमनाः क्रमेण परिवेषयेत् । इदं मधुरमिदमम्लमित्येवं माधुर्यादिगुणान्कथयन् ॥२२८॥ नास्त्रमापातयेजातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् । न पादेन स्पृशेदनं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

नास्त्रमिति ॥ रोदनकोधमृषाभाषणानि न कुर्यात् । पादेन चाम्नं न स्पृशेत् । न चोत्क्षिप्योत्क्षिप्यान्नं पात्रे क्षिपेत् । पुरुषार्थतया प्रतिषिद्धयोरिप कोधानृतयोः श्राद्धाङ्गत्वज्ञापनार्थोऽयं निषेधः ॥ २२९ ॥

अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं ग्रुनः । पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

अस्त्रमिति ॥ अश्च कियमाणं प्रेतान्भृतिविशेषान्श्राद्धान्नानि प्रापयति न पितृ-णामुपकारकं भवति, क्रोधः शत्रून्, मृषावादः कुकुरान्, पादस्पशोंऽन्नस्य राक्षसान्, अवधूननं पापकारिणः । तसान्न रोदनादि क्वर्यात् ॥ २३० ॥

यद्द्रोचेत विष्रेभ्यस्तत्त्द्द्यादम्त्सरः ।

ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥ यद्यदिति ॥ यद्यद्विप्राणामीप्सितमञ्जन्यक्षनादि तत्तद्मत्सरो द्वात् । परमात्मनिरूपणपराः कथाश्च कुर्यात् । यतः पितृणामेतदपेक्षितम् ॥ २३१ ॥

खाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहासांश्र पुराणानि खिलानि च ॥ २३२ ॥

स्वाध्यायमिति ॥ स्वाध्यायं वेदं, मानवादीनि धर्मशास्त्राणि, आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि, इतिहासान्महाभारतादीन्, पुराणानि ब्रह्मपुराणादीनि, खिलानि श्रीसुक्तशिवसंकल्पादीनि श्राद्धे बाह्मणान्श्राव्येत् ॥ २३२ ॥

हर्षयेद्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच शनैः शनैः । अनाद्यनासक्रचेतान्गुणेश्र परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

हर्षयेदिति ॥ स्वयं हृष्टो भूत्वा प्रियवचनादिभिर्झाह्मणान्परितोषयेत् । अश्वं चात्वरया भोजयेत् । मिष्टाश्चेन पायसादिभिः 'पायसमिदं स्वादु, मोद्-कोऽयं हृद्यो गृह्यताम्' इत्यादिगुणाभिधानैः पुनर्झाह्मणान्प्रेरयेत् ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् । कुतपं चौसने दद्यात्तिलेश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

अतेति ॥ अह्मचारिणमपि दौहित्रं श्राह्म प्रयक्षतो भोजयेत् । अपिशब्दाद-अह्मचारिणमपि । आनुकत्पिकमध्यपिठतस्यापि अह्मचारिणो यक्षवचनाच्छ्रे-ष्ठत्वं कथयति दौहित्रमन्तरेणापि । नेपालकम्बलं चासने द्धात् । तिलांश्च श्राह्मभूमी विकिरेत् ॥ २३४ ॥

#### पाठा०-1 चासनं.

१ कुतपो नामाजासूर्णीस्त्रकृतः पट औदीच्यादिषु 'कम्बलासन' इति नाम्ना च श्रसिद्धः; लघुहारीतेन दु (को. ९८) 'ब्राह्मणाः कम्बलो गावः स्योऽग्निरितिथिग्रेरः । तिला दभीश्चं कालश्च दरोते कुतपाः रमृताः' इत्येते दश कुतपशब्दवाच्या इत्युक्तम् ।

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दे।हित्रः क्रुतपस्तिलाः ।

त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥ त्रीणीति ॥ प्वेक्तान्येव त्रीणि दौहित्रादीनि श्राद्धे पवित्राणीति ज्ञाप्यन्ते । त्रीणि च शौचादीनि प्रशंसन्ति ॥ २३५ ॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं साद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।

न च द्विजातयो ब्र्युदोत्रा पृष्टा हिर्विगुणान् ॥ २३६ ॥ अत्युष्णमिति ॥ उष्णमेवात्युष्णम्, यस्योष्णसाबादेभीजनमुनितं तदुष्णं दद्याञ्चतु फलाद्यपि । अत एव शङ्कः (शं.स्म.१४।१२-१३)—'उष्णमम्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत् । अन्यत्र फलमूलेभ्यः पानकेभ्यश्च पण्डितः ॥' संयतवाचश्च ब्राह्मणा अभीयुः । 'किमिदं स्वाद्वस्वादु वा'इति दात्राऽबादिगुणान् पृष्टा वक्षाद्यभिनयेनापि न ब्र्युः । वाग्यतत्वस्यात्रैव विधानात् ॥ २३६ ॥

योवदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्चन्ति वाग्यताः ।

पितरस्तावदश्चन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७॥ यावदिति ॥ यावदन्ने उष्णता भवति, यावच मौनिनो सुझते, यावच हिर्विर्गुणा नोच्यन्ते तावित्पतरोऽश्चन्तीति पूर्वोक्तस्यैवार्थस्य प्रश्नंसा ॥ २३७॥

यद्वेष्टितशिरा भुद्गे यद्भुद्गे दक्षिणामुखः ।

सोपानत्कथ यद्भक्क तद्वै रक्षांसि भुज्जते ॥ २३८ ॥

यदिति ॥ वस्नादिवेष्टितशिरा यदन्नं भुक्के, तथा दक्षिणामुखः, सपादुकश्च तद्दाक्षसा भुक्षते, न पितरः । तसादिवंरूपं न कर्तव्यम् ॥ २३८ ॥

चाण्डालश्च वराहश्च कुकुटः श्वा तथैव च ।

रजखला च षण्डश्र नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ २३९ ॥

चाण्डाल इति ॥ चाण्डालमाम्यस्करकुकुटकुकुरोदक्यानपुंसका यथा ब्राह्मणान्भोजनकाले न पश्येयुस्तथा कार्यम् ॥ २३९ ॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।

दैवे हैविषि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥

होम इति ॥ यसाद्धोमेऽप्तिहोत्रादौ, प्रदाने गोहिरण्यादौ, भोज्ये स्वाभ्यु-द्यार्थं त्राह्मणभोजने, दैने हिविष दर्शपौर्णमासादौ, पित्र्ये श्राद्धादौ, यदेभि-वीक्ष्यते क्रियमाणं कर्म तद्यदर्थं क्रियते तक्ष साध्यति ॥ २४० ॥

घ्राणेन स्करो हन्ति पश्चवातेन कुकुटः।

श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥ व्राणेनेति ॥ सुकरस्तदबादेर्गन्धं व्रात्वा कर्म निष्कलं करोति, तस्मादब्र-

पाठा०-1 यावदुष्मा भवत्यनं. 2 कर्मणि.

ब्राणयोग्यदेशाबिरसनीयः । कुक्कुटः पक्षवातेन सोऽपि पक्षपावनयोग्यदेशा-द्रपगमनीयः। श्वा दर्शनेन, छुनोऽन्नादिदर्शनं निषिद्धमपि दोषभूयस्त्वज्ञापनार्थं पुनरभिहितम् । अथवा दृष्टिनिपातेनेति श्राद्धकर्तृभोक्तृणां दृष्टिनिपातिवषय-त्वेन । अवरवर्णः ग्रद्धस्तसाज्ञातोऽवरवर्णजः ग्रुद्ध एव । असावन्नादिस्पर्शन द्विजातिश्राद्धं निष्फलयति ॥ २४१ ॥

> खज्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् । हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥

खओ वेति ॥ यदि गतिविकलः काणो वा दातुर्दासः ग्रूड्सत्सैव प्रेष्य-त्वविधानात् । 'अपि'शब्दादन्योऽपि ग्रूडो न्यूनाधिकाङ्कर्यादिर्वा स्यात्तदा तमपि ततः श्राद्धदेशादपसारयेत् ॥ २४२ ॥

> त्राक्षणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् । त्राक्षणरम्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

ब्राह्मणमिति ॥ ब्राह्मणमितिथिरूपं अन्यं वा भक्षणशीछं भोजनार्थं तत्का-छोपस्थितं श्राद्धपात्रब्राह्मणैरनुज्ञातो यथाशक्तयन्नभोजनेन भिक्षादानेन चाहँयेत् ॥ २४३ ॥

> सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाष्ठाव्य वारिणा । सप्रत्युजेद्भक्तवतामग्रतो विकिरन्ग्रुवि ॥ २४४ ॥

सार्वेति॥ 'वर्ण'शब्दः प्रकारवाची । सर्वप्रकारकमन्नादिकं व्यक्षनादिभि-रेकीकृत्योदकेनाष्ठावयित्वा कृतभोजनानां ब्राह्मणानां पुरतो भूमौ 'दर्भेषु विकिरश्च यः' (३।२४५) इति वक्ष्यमाणत्वादभौपरि निक्षिपेत्यजेत्॥ २४४॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् । उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दभेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥

असंस्कृतेति ॥ 'नास्य कार्योऽभिसंस्कारः' (५।६९) इति निषेधात्संस्का-रानर्हवालानां तथा कुळखीणामदृष्टदोषाणां ये त्यक्तारस्तेषां पात्रस्थमुच्छिष्टं दभेषु च यो विकिरः स भागः स्वात् । अन्ये तु त्यागिनामिति गुर्वादित्यागिनां, कुळयोषितामिति स्वात्रहयेण तु कुळयोषितामन्दकन्यानामिति व्याचक्षते । गोविन्दराजस्तु 'त्यागिनां कुळयोषिताम्'इति सामान्योपक्रमादिदं विशेषाभि-धानम्, 'संस्कृतं भक्षाः' (पा.४।११६) इतिवत् ; ततः स्वकुळं त्यक्त्या गतानां कुळखीणामित्याद् ॥ २४५ ॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्यस्याशठस्य च । दासवर्गस्य तिरिप्त्रये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥ उच्छेषणमिति ॥ उच्छिष्टं यद्भीगतं तद्दाससमृहस्यावकास्यानलसस्या-कृदिलस्य च पित्रये श्राह्यकर्मणि भागधेयं मन्वादयो वदन्ति ॥ २४६ ॥

#### आ सपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु । अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं चे निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

आ सिपण्डेति॥ मर्यादायामाङ् नाभिविधौ । सिपण्डीकरणश्राद्धपर्यन्त-मित्रमृतस्य द्विजातेश्च वैश्वदेवबाह्मणभोजनरितं श्राद्धार्थमन्नं बाह्मणं भोजभ्येत्, एकं चिपण्डं दद्यात् । अस्य च श्राद्धानुष्ठानम् 'एकोहिष्टं दैवहीनमे-कार्वेकपवित्रकम् । आवाहनाग्नौकरणरिहतं ह्यपसन्यवत् ॥' (आचार.१०१२५१) इति याज्ञवल्क्यादिसमृतिष्ववगन्तन्यम् ॥ २४७॥

#### सहिषण्डिक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः । अनयैवावृता कार्यं पिण्डिनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

सहेति ॥ अस्रोत यस्रेद्मेकोहिष्टं विहितं तस्र धर्मतः स्वगृह्यादिविधिना सिपण्डीकरणश्राहे कृते अनयेवावृता उक्तामावास्याश्राहेतिकर्तेव्यतया पिण्डिनिविपणं पार्वणविधिना श्राइं पुत्रैः सर्वत्र मृताहादौ कर्तव्यम् । नतु 'अन-यैवावृता' हस्यनेन प्रकृतमेकोहिष्टमेव हि किमिति न परामृश्यते ? उच्यते–तिर्हे सिपण्डीकरणात्पूर्वमेकोहिष्टं सिपण्डीकरणे कृते पुनरनयैवावृतेति भेदिनिर्देशो न स्वात् । ततोऽमावास्येतिकर्तव्यतैव प्रतीयते ॥ २४८ ॥

# श्राद्धं भ्रुक्त्वा य उच्छिष्टं द्वपलाय प्रयच्छति । स मृद्धो नरकं याति कालस्त्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥

श्राद्धमिति ॥ माश्रितश्रदायोच्छिष्टदानप्रसक्तावयं निषेधः । श्राद्धभोजनी-च्छिष्टं यः श्र्द्राय ददाति स मूर्खः कालसूत्रं नाम नरकमधोमुखं गच्छति॥ २४९॥

# श्राद्धभुग्वृषलीतर्लं तदहर्योऽधिगच्छति । तस्याः पुरीषे तं मांसं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

आहिति॥ 'वृषली'शब्दोऽत्र सीपर इत्याहुः। निरुक्तं च 'कुर्वन्ति वृष-सन्ती चपलयति भर्तारमिति वृषली । बाह्मणस परिणीता बाह्मण्यपि वृषलीति'। श्रादं अक्त्वा तदहोरात्रे यः स्त्रीसंप्रयोगं करोति तस्य पितर-सासाः पुरीषे तं मासं शेरत इति निवृत्त्यर्था निन्दा ॥ २५०॥

#### पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं द्वप्तानाचामयेचतः । आचान्तांश्रानुजानीयादंभि भो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

पृष्ट्विति ॥ नृप्तान्त्राह्मणान्त्रुच्या 'खदितम्' इति पृष्ट्वा तेषामाचमनं कारयेत । कृताचमनांश्च भो इति संबोध्य 'अभिरम्यताम्' इति त्र्यात्। 'अभितः' इति पाठे अभित उभयत इह वा स्वगृहे वास्त्रतामित्यंः ॥ २५१ ॥

खधाऽस्त्वित्येव तं न्युन्नीह्मणास्तदनन्तरम् ।

स्वधाकारः परा ह्याञीः सर्वेषु पितकर्मस् ॥ २५२ ॥

स्वधेति ॥ अनुज्ञानानन्तरं ब्राह्मणाः श्राद्धकर्तारं 'स्वधाऽस्तु' इति ब्र्युः । यसात्सर्वेषु श्राद्धतर्पणादिपितृकर्मसु स्वधाशब्दोचारणं प्रकृष्टा आशीः॥२५२॥

ततो भक्तवतां तेषामत्रशेषं निवेदयेत ।

यथा त्र्युस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥२५३ ॥

तत इति ॥ स्वधाशब्दोचारणानन्तरं कृतभोजनानां ब्राह्मणानां शेषमञ्ज-मप्यस्तीत्यवशिष्टमम्नं निवेदयेत् । तैर्बाह्मणेः 'इदमनेनान्नेन कियताम्' इत्यनुज्ञातो यथा ते बूयुस्तथान्नशेषविनियोगं कुर्यात् ॥ २५३ ॥

इ्दानीं प्रसङ्गाच्छ्राद्धान्तरेषु विशेषविधिमाह-

पित्र्ये खदितमित्येव वाच्यं, गोष्ठे तु सुरूतम्। संपन्नमित्यम्युद्ये, दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

पिज्ये इति ॥ पिज्ये निरपेक्षपितृमातृदेवताक एकोहिष्टश्राखे तृप्तिप्रश्लार्थ 'खदितम्' इति वाच्यम् । तथा च गोभिल सांख्यायनौ 'खदितम्' इति तृप्तिप्रश्नः । मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु श्राद्धकालागतेनान्येनापि स्वदितमित्येव कर्तेष्यमिति व्याचक्षतुः । 'श्राद्धे स्वदितमित्येतद्वाच्यमन्येन केनचित् । नातु-रुद्धमिदं विद्वद्वदेन अहथीमहि'। गोष्ठे गोष्ठीश्राद्धे 'संश्वतम्' इति वाच्यम् । 'गोष्ट्यां गुद्धार्थमप्टमम्' इति द्वादशविधश्राद्धगणनायां गोष्टीश्राद्धमपि विधा-मित्रेण पठितम् । अन्युद्ये वृद्धिश्राद्धे 'संपन्नम्' इति वाच्यम् । दैवे देवतो-देशेन श्राह्धे 'रुचितम्' इति वचनीयम् । दैवश्राद्धं तु भविष्यपुराणोक्तम्-'देवानुहिश्य यच्छ्राइं तत्तु दैविकमुच्यते । हविष्येण विशिष्टेन सप्तम्यादिषु यत्नतः॥ २५४ ॥ 🧎

अपराह्मस्तथा दुभा वास्तुसंपादनं तिलाः । सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्राप्रयाः श्राद्धकर्मसु संपदः ॥ २५५ ॥

अपराह्व इति ॥ अमावास्याश्राद्धस्य प्रकृतत्वात्तद्विषयोऽयमपराह्वकालः । 'प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्' इत्यादिना वृद्धिश्राद्धादौ स्मृत्यन्तरे प्रातःकालादिवि-धानात् । विष्टराद्यर्था दर्भाः, गोमयादिना श्राद्धदेशसंशोधनं, तिलाश्च विकि-रणाद्यर्थाः, सृष्टिरकार्पण्येनान्नादिविसर्गः, सृष्टिरञ्चादेश्च संस्कारविशेषः, पङ्कि-पावनाद्यश्च त्राह्मणाः, एताः श्राह्मे संपत्तय इत्यभिधानादङ्गान्तरापेक्षं प्रकृ ष्टत्वसेषां बोधितम्॥ २५५॥

दर्भाः पवित्रं पूर्वीको हविष्याणि च सर्वशः । 💎 🦩 पवित्रं यच पूर्वीक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥ दभी इति ॥ पवित्रं मन्त्राः, पूर्वोद्धः कालः, हविष्याणि सुन्यक्षादीति सर्वाणि च, यच पवित्रं पावनं वास्तुसंपादनादि पूर्वमुक्तम् ; एताश्च देवार्थस्य कर्मणः समृद्धयः । 'इन्य'शन्दो देवकर्मोपलक्षणार्थः ॥ २५६ ॥

मुन्यनानि पयः सोमो मांसं यचानुपस्कृतम्।

अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥

मुन्यन्नानीति ॥ मुनेर्वानप्रखसान्नानि नीवारादीनि, पयः क्षीरं, सोमलता-रसः, अनुपस्कृतमविकृतं पूर्तिगन्धादिरहितं मांसम्, अक्षारलवणमक्क्तिम-लवणं सैन्धवादि, एतत्स्वभावतो हविर्मन्वादिभिरभिधीयते ॥ २५७ ॥

विसृज्य त्राह्मणांसांस्तु नियतो वाग्यतः श्रुचिः।

दक्षिणां दिशमाकाङ्कन् याचेतेमान्वरान्पितृन् ॥ २५८॥

विसुज्येति ॥ तान्त्राह्मणान्विसुज्यानन्यमनाः मौनी पवित्रो दक्षिणां दिशं वीक्षमाण एतान्वक्ष्यमाणानभिल्जितानर्थान्पितृन्यार्थयेत् ॥ २५८ ॥

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च।

श्रद्धा च नो मान्यगमद्दहु देयं च नोऽस्त्वित॥२५९॥

दातार इति ॥ असत्कुले दातारः पुरुषा वर्धन्ताम् । वेदाश्राध्ययनाध्या-पनतदर्थनोधतदर्थयागायनुष्ठानेर्वृद्धिमाप्नुवन्तु । पुत्रपौत्रादिकं च वर्धताम् । वेदार्थश्रद्धा चास्मत्कुले न व्यपैतु । दातव्यं च धनादिकं बहु भवतु ॥२५९॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।

गां विप्रमजमिं वा प्राश्चेदप्स वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥ एवमिति ॥ एवसुक्तप्रकारेण पिण्डानां प्रदानं कृत्वा प्रकृतवरयाचनानन्तरं

एवामति ॥ एवसुक्तप्रकारण पिण्डाना प्रदान कृत्वा प्रकृतवरयाचनानन्तरं तान्पिण्डान् गां बाह्यणं छागं वा भोजयेत्, अग्नौ जले वा श्विपेत् ॥ २६०॥

यिण्डनिर्वपणं केचिर्त्युरस्तादेव कुर्वते ।

वयोभिः खादयन्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥

पिण्डेति ॥ पिण्डमदानं केचिदाचार्याः ब्राह्मणभोजनानन्तरं कुर्वते । अन्ये पक्षिभिः पिण्डान्बादयन्ति । इयं च पक्षिभोजनरूपा प्रतिपत्तिरस्युदकप्रक्रेप्पयोवैंकल्पिकीति दर्शयितुमुक्तस्रोरप्यभिधानम् ॥ २६१ ॥

पतिवृता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्पराः।

मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥

पतिञ्ञतेति ॥ धर्मार्थकामेषु मनोवाकायकर्मभिः पतिरेव मया परिचर-णीय इति वर्तं यस्याः सा पतिवता, धर्मपत्नी सवर्णा प्रथमोदा श्राद्धक्रियायां श्रद्धाशालिनी पुत्रार्थिनी तेषां पिण्डानां मध्यमं पितामहपिण्डं भक्षयेत् । सम्यक् 'आधत्त पितरो गर्भम्' इत्यादिगृद्धोक्तमन्नेण ॥ २६२ ॥

<sup>्</sup>पाठा॰—1विसर्ज्ये (=यथासुखविहारार्थमभ्यनुज्ञाय). 2 प्रयतो, 3°त्परस्तादेव.

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् । धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥

आयुष्मन्तमिति ॥ तेन पिण्डमक्षणेन दीर्घायुषं कीर्तिधारणात्मकबुद्धियुक्तं धनपुत्रादिसंतिधर्मानुष्टानसत्त्वाख्यगुणान्त्रितं पुत्रं जनयति ॥ २६३ ॥

> प्रक्षालय हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् । ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४॥

प्रक्षाल्येति ॥ वद्तु हस्तौ प्रक्षाल्य ज्ञातिप्रायमन्नं कुर्यात् । ज्ञातीन्त्रैति गच्छतीति ज्ञातिप्रायम्। कर्मण्यण् । ज्ञातिनभोजयेदित्यर्थः । तेभ्यः पूजापूर्वक-मझं दत्त्वा मानुपक्षानिप साईणं भोजयेत् ॥ २६४ ॥

उच्छेपणं त तत्तिष्टेद्यावदिप्रा विसर्जिताः ।

ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥

उच्छेषणमिति ॥ तद्राह्मणोच्छिष्टं तावस्कालं तिष्ठेत् यावद्राह्मणानां विस-र्जनम् , ब्राह्मणेषु तु निर्गतेषु मार्ष्टव्यमित्यर्थः। ततः संपन्ने श्राद्धकर्मणि वैश्वदेव-बलिहोमकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनानि कर्तज्यानि । 'बलि'शब्दस्य प्रदर्शनार्थ-त्वात् । अत एव मत्स्यपुराणे—'निवृत्त्य प्रतिपत्त्यर्थं पर्युक्ष्याद्मं च मन्नवित् । वैश्वदेवं प्रकुर्वीत नैत्यकं विधिमेव च' इति ॥ २६५ ॥

यैश्राज्ञेरिति पूर्वमुक्तमपि व्यवधानादबुद्धिस्थं शिष्यमुखप्रतिपत्तये पुनर्वक्त-व्यत्या प्रतिजानीते-

> हविर्यचिररात्राय यचानन्त्याय कल्पते । पितुभ्यो विधिवद्त्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

हविरिति ॥ चिररात्रायपदमन्ययं चिरकालवाचि । अत एव 'चिराय चिर-रात्राय चिरसाबाश्चिरार्थकाः' इत्याभिधानिकाः । यद्यद्धविः पितृभ्यो यथाविधि दुत्तं चिरकालतृप्तयेऽनन्ततृप्तये च संपद्यते तक्षिःशेषेणाभिधास्यामि ॥ २६६ ॥

तिलैबीहियवैर्मापैरद्भिर्मूलफलेन वा।

दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्यितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥

तिछैरिति ॥ तिल्धान्ययवमायज्ञसृत्यकानामन्यतमेन यथाशास्त्रं श्र-द्धया दत्तेन मनुष्याणां मासं पितरस्तृष्यन्ति । 'कृष्णा माषास्तिलाश्चेव श्रेष्ठाः स्युर्यंवशालयः' इति वायुपुराणवचनान्मावैरिति कृष्णमाषा बोद्धस्याः॥२६५॥

द्वी मासी मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु ।

औरश्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पश्च वै ॥ २६८ ॥ क्राबिति॥ पाठीनादिमत्स्वानी मांसेन हैं। बासी पितरः मीयन्त इति पूर्वेण संबन्धः । त्रीन्मासान्हारिणेन मांसेन, चतुरो मेषमांसेन, पञ्च द्विजाति-भस्यपक्षिमांसेन ॥ २६८ ॥

> षण्मासांक्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै । अष्टावेणस्य मांसेन रारवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥

षणमासानिति ॥ षण्मासांद्रज्ञागमांसेन प्रीयन्ते, पृषतश्चित्रसृगस्तन्मांसेन सप्त, पुणमांसेनाष्ट्रो, रुद्मांसेन नव । एणरुद्ध हरिणजातिविद्रोषी ॥ २६९ ॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।

शशकूर्मयोस्त मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥

द्शेति ॥ दशमासानारण्यस्करमहिषमांसैस्तृप्यन्ति, एकादश्च शशकच्छप-मांसेन ॥ २७० ॥

> संवत्सरं तु गन्येन पयसा पायसेन च । वार्घीणसस्य मांसेन तृप्तिद्वीद्यवार्षिकी ॥ २७१ ॥

संवत्सरमिति ॥ वर्षं पुनर्गोभवक्षीरेण तत्साधितौदनेन च तुष्यन्ति । तत्रैव पायसशब्दमिद्धेः । वाधींणसस्य मांसेन द्वादशवर्षपर्यन्तं पितृतृप्तिर्भवति । वाधींणसश्च निगमे व्याख्यातः—'त्रिपिबं त्विन्द्रयक्षीणं श्वेतं वृद्धमजापतिम् । वाधींणसं तु तं प्राहुर्योज्ञिकाः पितृकर्मणि'। नद्यादौ पयः पिबतो यस्य त्रीणि जलं स्पृशन्ति कर्णौ जिह्ना चः त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः ॥ २७१ ॥

कालशाकं महाशल्काः खङ्गलोहामिषं मधु ।

आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वेशः॥ २७२॥

कालेति ॥ कालशाकाल्यं शाकम् । महाशल्काः सशल्का इति मेषातिथिः । मत्स्यविशेषा इति युज्यते । 'महाशल्किलिनो मत्स्याः' इति वचनात् । खहो गण्डकः । लोहो लोहितवर्णश्लाग एवः 'लागेन सर्वलोहेनानन्त्यम्' इति पैठीन नस्तिवचनात्त्रयोरामिषम् , मधु माक्षिकम् , मुन्यशानि नीवारादीन्यारण्यानि सर्वाणि, एतान्यनन्ततृप्तये संपद्यन्ते ॥ २७३ ॥

यत्किचिन्मधुना मिश्रं प्रद्धातु त्रयोदशीम् । तद्प्यक्ष्यमेव स्वाद्वर्षामु च मघासु च ॥ २७३ ॥

यदिति ॥ ऋतुनक्षत्रतिथीनामयं समुचयः । यस्किनिदित्यप्रसिद्धं मधु-संयुक्तं वर्षाकाले मघात्रयोदश्यां दीयते तद्ग्यक्षयमेव भवति । त्रयोदश्या अधिकरणत्वेऽपीप्सितत्वविवक्षया प्राप्येत्यस्याहाराद्वा द्वितीया ॥ २७३ ॥

अपि नः स कुले जायाद्यो नो द्वात्रयोदशीम् । पायसं मधुसपिभ्या प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥ अपीति ॥ वर्षासु मबायुक्तव्रयोदशी पूर्वोका विवक्षिता । वत्रापि भीष्ट पद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम्। प्राप्य श्राइं हि कर्तन्यं मधुना पायसेन च' (शं. स्टू. १४।३२) इति शङ्कवचनान्नाद्रकृष्णत्रयोदशी पूर्वत्रेह च गृह्यते। पितरः किलेवमाशासते—अपि नाम तथाविधः कश्चिदसाकं कुले भूयात् यो ऽसम्यं प्रकृतायां त्रयोदश्यां तथा तिथ्यन्तरेऽपि हस्तिनः पूर्वा दिशं गतायां छायायां मधुधृतसंयुक्तं पायसं द्धात् । नतु त्रयोदशीहस्तिच्छाययोः समुख्यः। यथाह विष्णुः—'अपि जायेत सोऽसाकं कुले कश्चित्ररोत्तमः। प्रावृदकालेऽसिते पक्षे त्रयोदश्यां समाहितः ॥ मधुष्ठतेन यः श्राइं पायसेन समाचरेत् ॥ कार्तिकं सकलं वापि प्राक्छाये कुञ्जरस्य च' इति ॥ २७४ ॥

# यद्यद्दाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः । तत्तत्पिवृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

यद्यदिति ॥ यद्यदिति वीप्सायाम् । सर्वमन्नमप्रतिषिदं यथाशासं सम्य-प्रूपं श्रद्धायुक्तः पितृभ्यो ददाति तदनन्तकं सर्वकालमक्षयमनपचितं परलोके पितृतृप्तये भवति । अतस्तत्फलार्थिना श्रद्धया देयमिति विधीयते ॥ २७५॥

> कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जियत्वा चतुर्दशीम् । श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६ ॥

कृष्णेति ॥ कृष्णपक्षे दशमीमारभ्य चतुर्दशीं त्यक्त्वा श्राद्धे यथा तिथयः श्रेष्ठा महाफला न तथैतद्न्याः प्रतिपदादयः ॥ २७६ ॥

> युश्च कुर्वन्दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्चते । अयुश्च तु पितृन्सर्वान्त्रजां प्रामोति पुष्कलाम् ॥ २७७॥

युहिचिति ॥ 'दिन'शब्दोऽत्र तिथिपरः। युश्च युग्मासु तिथिषु द्वितीयाचतु-र्थ्यादिषु युग्मनक्षत्रेषु भरणीरोहिण्यादिषु श्राद्धं कुर्वन्सर्वाभिलिषतान्यामोति । अयुग्मासु तिथिषु प्रतिपचृतीयाप्रशृतिषु, अयुग्मेषु च नक्षत्रेष्विनीकृत्तिका-दिषु श्राद्धेन पिवृन्पूजयन्पुत्रादिसंतर्ति लभते पुष्कलां धनविद्यापरिपुष्टास् २७७

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते । तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्वादपराह्वो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

यथिति ॥ चैत्रसिताचा मासा इति ज्योतिःशास्त्रविधानाञ्छुक्रपक्षोपक्रम-त्वान्मासानां अपरः पक्षः कृष्णपक्षः, स यथा-ग्रुक्षपक्षात् श्राद्धस्य संबन्धी विशिष्टफलदो मवति, एवं पूर्वाधिदिवसादुत्तराधिदिवसः प्रकृष्टफलो विशिष्यत् इति वचनात्पूर्वाह्मेऽपि श्राद्धकर्तन्यतां बोधयति ॥ नतुः ग्रुक्षपक्षाद्युक्तोत्कर्ष-सापरपक्षस्य कथं इष्टान्तता ? प्रसिद्धो हि दष्टान्तो भवति । उच्यते-'कृष्णपद्धी दुक्तम्याद्यो' ( ३१२७६ ) इस्यतेव विशिष्टविधाद्भुक्तप्रभिधानात् ॥ २७८ ॥

# प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतिन्द्रणा । पित्र्यमा निधनात्कार्य विधिवद्भेपाणिना ॥ २७९ ॥

प्राचीति ॥ दक्षिणसंस्थितयज्ञोपवीतेनानलसेन दर्भहस्तेन अपसन्यं पितृ-तीर्थेन यथाशास्रं सर्वं पितृसंबन्धि कर्मे आ निधनादासमाप्तेः कर्तव्यम् । आ निधनाद्यावजीवमिति मेधातिथि-गोविन्द्राजौ ॥ २७९ ॥

# रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्ष्मी कीर्तिता हि सा । सन्ध्ययोरुभयोश्रैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥

रात्राविति ॥ रात्रौ श्राइं न कर्तव्यम् । यसाच्छ्राइविनाशनगुणयोगाद्राक्षसी मन्वादिभिरसौ कथिता । संध्ययोश्च न कुर्यात् । श्रादिखे चानिरोदिते
अनिरोदितादिखकालश्चापेक्षायां त्रिमुहूर्तं प्रातःकालो म्राह्मः । यथोक्तं
विष्णुपुराणे—'रेखाप्रमृत्यथादिले त्रिमुहूर्तं गते रवौ । प्रातस्ततः स्मृतः कालो
भागः सोऽह्मस्तु पञ्चमः ॥' अपराह्मस्य श्राह्माङ्गतया विधानात्कथमयमप्रसक्तप्रतिषेध इति चेत्,—नायं प्रतिषेधः । स हि रागप्राप्तस्य वा स्याद्विधिप्रासस्य वा ? नाद्यः । नात्र रागतो नित्यस्य दर्शश्राह्मस्य प्राप्तःवाद्विधिप्राप्तस्य वा शेष्वाद्विष्ठामस्य
निषेधे षोडिशामहणामहणवद्विकल्पः स्यात् । तस्मात्पर्युदासोऽयम् । राज्यादिपर्युदस्तेतरकाले श्राहं कुर्यात् । अनुयाजेतरयजतिषु 'येयजामहे' इति
मन्नवत् । अपराह्मविधिश्च प्राशस्त्यार्थः । अत एवोक्तम् (३।२७८) 'यथा
श्राह्मस्य प्रविद्वाद्वपराह्मो विशिष्यते' इति ॥ २८०॥

## अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् । हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाश्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

अनेनेति ॥ 'कुर्यान्मासानुमासिकम्' (३।१२२) इति प्रतिमासं श्रादं विहितं तदसंभवे विधिरयं चतुर्भिर्मासेश्वतुरेकः एकस्तु ऋतुः संवत्सर इतीमं पश्चमाश्रिलोच्यते । अनेनोक्तविधानेन संवत्सरमध्ये त्रीन्वारान् हेमन्त-प्रीष्म-वर्षासु श्रादं कर्तव्यम् । तच समयाचारात्कुम्भवृषकन्यास्थेऽके पञ्चसहायज्ञान्तर्गतं च 'एकमप्याञ्चयेद्विप्रम्' (३।८३) इत्यनेन विहितं प्रलहं कुर्यादिति तु पूर्वोक्तदार्व्वार्थम् ॥ २८१ ॥

#### न पैत्यज्ञियो होमो लौकिकेऽग्री विधीयते । न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्रेद्धिजन्मनः ॥ २८२ ॥

ं न पैत्रिति ॥ 'अग्नेः सोमयमाभ्यां च' (३।२११) इत्यनेन विहितिपतृ-यज्ञाङ्गभूतो होमो न लौकिके श्रोतसार्तव्यतिरिकाग्नो शास्त्रेण विधीयते; तसान्न कौकिकामानग्नोकरणहोमः कर्तव्यः । निरमिता तु 'अभ्यभावे तु विप्रस्य पाणौ' (३।२१२) इत्यभिधानाद्विप्रपाण्यादौ करणीयः। आहिताग्नेद्विजस्य नामावस्या- व्यतिरेकेण कृष्णपक्षे दशम्यादौ श्राद्धं विधीयते । सताहश्राद्धं त नियत-त्वात्क्रष्णपक्षेऽपि तिथ्यन्तरे न निषिध्यते ॥ २८२ ॥

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितुन्स्नात्वा द्विजोत्तमः। तेनैव कृत्स्नमामोति पितृयज्ञित्रयाफलम् ॥ २८३ ॥

यदिति ॥ पाञ्चयज्ञिकश्राद्धासंभवे विधिरयस् । यत्र स्नानानन्तरसुदकतर्पणं द्विजः करोति तेनैव सर्वं नित्यश्राद्धफलं प्राप्तोतिः द्विजोत्तमपदं द्विजपरम् ॥१८३॥

> वसून्वदन्ति तु पितृ त्रुद्रांश्वेव पितामहान् । प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥

वसनिति॥ यसात्पित्रादयो वस्तादय इत्येषामनादिभूता श्रुतिरस्तिः अतः पिवृन्वस्वाख्यदेवान्पितामहान् रुद्रान्प्रपितामहानादिस्थान्मन्वादयो वदन्ति । ततश्च सिद्धबोधनवैयर्थ्याच्छाद्धे पित्रादयो वस्वादिरूपेण ध्येया इति विधिः कल्प्यते । अत एव पैठीनसिः--'य एवं विद्वान्पितृन्यजते वसवो रुद्रा मादि-त्याश्चास्य प्रीता भवन्ति'। मेघातिथि-गोविन्दराजौ तु 'पितृद्वेषान्नास्तिनयाद्वा यः पितकर्मणि न प्रवर्तते तं प्रत्येतत्प्रवर्तनार्थं देवतात्वाध्यारोपेण पिचणाः स्तुतिवचनम्' इत्यूचतुः ॥ २८४ ॥

> विषसाशी भवेनित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः । विघसो भ्रुक्तरोषं तु यज्ञरोषं तथाऽमृतम् ॥ २८५ ॥

विद्यसाशीति ॥ सर्वदा विद्यसभोजनः स्यात्सर्वदा चामृतभोजनो भवेत । विद्यसामृतपद्योरप्रसिद्धत्वादर्थं व्याकुरुते । विद्यादिभुक्तरोषं विद्यस उच्यते । दुर्शपौर्णमासादियज्ञशिष्टं पुरोडाशाद्यमृतम् । सामान्याभिधानेऽपि प्रकृतत्वा-च्छाद्धे विष्रभुक्तरोषभोजनार्थोऽयं विधिः । अत एव 'सुक्षीतातिश्रिसंयुक्तः सर्वे पितृनिषेवितम्' इति स्मृत्यन्तरम् । अतिथ्यादिविशेषभोजनं तु 'अविशष्टं तु दम्पती'(श११६) इत्यनेनैव विहितम् । तस्यैव यज्ञशेषतुल्यत्वापादनेन स्तुत्यर्थं पुनर्वचनमिति तु गोविन्दराजन्याख्यानमनुष्ठानविशेषानईमप्राकरणिकं च २८५

#### एतद्रोऽभिहितं सर्वं विधानं पाश्चयज्ञिकम् । द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीबोऽध्यायः ॥ ३ ॥

एतदिति ॥ इदं पञ्चयज्ञभवमनुष्टानं सर्वे युष्माकमुक्तं पार्वेणश्राद्धव्यव-हितैरपि पञ्चयजैरुपसंहारस्तेषामभ्यार्हेतत्त्रज्ञापनार्थः । मङ्गरूर्थः इति तु मेघातिथि-गोविन्दराजौ । हदानीं द्विजानां मुख्यो ब्राह्मणस्तस्य सूचीनास्ता+ दीनामल्छानं भूयतामिति वश्यमाणाध्यायैकदेशोपन्यासः ॥ २८६ ॥ ्रहति श्रीकुछ्कमदृकुतायां मन्त्रर्थमुक्ताव्त्यां मनुदृत्तौ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

#### चतुर्थोऽध्यायः ४

श्रादकल्पानन्तरं 'वृत्तीनां रक्षणं चैव' (१।११३) हति वृत्तिषु व्यक्ततया प्रतिज्ञातासु वृत्त्यधीनत्वादाईस्थ्यस्थानन्तरं वक्तव्यासु ब्रह्मचर्यपूर्वकमेव गाई-स्थ्यं तत्रैव चात्र वक्ष्यमाणा वृत्तय इति द्शेयितुं ब्रह्मचर्यकाळं गाईस्थ्यकाळं चात्र वहति—

# चतुर्थमायुषो भागम्रिषत्वाद्यं गुरौ द्विजः। द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।। १ ॥

चतुर्थमिति॥ चतुर्थमायुषो भागम्। आद्यमित्युक्तं ब्रह्मचर्यकालोपलक्षणा-थंम्। अनियतपरिमाणत्वादायुषश्चतुर्थभागस्य दुर्ज्ञानत्वात्। न च 'शतायुर्वे पुरुषः' इति श्रुतेः पञ्चविंशतिवर्षपरत्वम्। षदित्रंशदाब्दिकं ब्रह्मचर्यमित्यादि-विरोधात्। आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उक्तब्रह्मचर्यकालं जन्मापेक्षाचं यथाशक्तिगुरुकुले स्थित्वा द्वितीयमायुषश्चतुर्थभागं गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत्। 'गृहस्थस्तु यदा पश्येत्' (६।२) इत्यनियतत्वात् 'द्वितीयमायुषो भागम्' इत्यपि गार्हस्थ्यकालमेव ॥ १॥

# अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।

या वृत्तिस्तां समास्थाय विश्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

अद्भोहेणेति ॥ परस्यापीडा शिलोञ्छायाचितादिरद्रोहः ईपत्पीडा याचि-तादिरल्पद्रोहः नतु हिंसैव द्रोहः, तस्या निषिद्धत्वात् । अद्रोहेण तदसंभवेऽल्प-द्रोहेण या वृत्तिर्जीवनोपायः तदाश्रयणेन भार्यादिशृत्यपञ्चयज्ञानुष्ठानयुक्तो ब्राह्मणो नतु क्षत्रियादिरनापदि जीवेत् । आपदि दशमे विधिभैविष्यति । अयं च सामान्योपदेशो याजनाध्यापनिवशुद्धप्रतिग्रहादिसंग्रहार्थः । वस्य-माणुर्तादिविशेषमात्रनिष्ठत्वे संकुचितस्वरसत्वहानिरनिषकारार्थत्वं याजनादे-वृत्तिप्रकरणानिवेशश्च स्यात्त्यापि जीवेत् ॥ २॥

# यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं खः कर्मभिरगहितैः । अक्केशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥

यात्रिति ॥ यात्रा प्राणस्थितिः शास्त्रीयकुदुम्बसंवर्धननित्यकर्मानुष्टानपूर्वक-प्राणस्थितिमात्रार्थं न तु भोगार्थं स्वसंबन्धितया शास्त्रविहितार्जनरूपैः कर्मभि-र्क्ततिद्वद्वयमाणैः कायक्केशं विनाऽर्थसंग्रहं कुर्यात् ॥ ३ ॥

#### कैं: कर्मभिरित्यत्राह-

ऋतामृताभ्यां जीवेतु मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यामिष वा न श्वष्ट्रया कदाचन ॥ ४ ॥ ऋतामृताभ्यामिति ॥ बनापदीत्यनुवर्तते । ऋतादिभिरनापदि जीवेत् । सेवया वनापदि कदापि न वर्तेत ॥ ४ ॥ अप्रसिद्धत्वाहतादीनि ब्याच्छे-

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्वादयाचितम् । मृतं त याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

ऋतमञ्छ्यिलामिति ॥ मबाधितस्थानेषु पथि वा क्षेत्रेषु वाऽप्रतिहताव-कारोषु यत्र यत्रीपधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गिलिभ्यां एकैकं कणं समुखयित्वेति बौधायनदर्शनात् एकैकधान्यादिगुटकोचयनसुल्छः। मक्षर्यात्मकानेकधान्यो-चयनं शिलः, उञ्छश्च शिलश्चेत्येकवद्गावः । तत्सत्यसमानफलत्वादतमित्यु-च्यते । अयाचितोपस्थितममृतमिव सुखहेतुत्वादमृतम् । प्रार्थिते पुनर्भेक्षं भिक्षासमृहरूपं मरणसमपीडाजननान्मृतम् । एतच साप्तेर्गृहस्थस्य मैक्षमपक् तण्डुळादिरूपं नतु सिद्धान्नं पराग्निपक्षेन स्वाग्नौ होमाभावात् । कर्षणं च भूमि-गतप्रचुरप्राणिमरणनिमित्तत्वाद्रहुदुदुःखफलकं प्रकर्षेण मृतमिव प्रमृतम् ॥५॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते । सेवा श्रवृत्तिराख्याता तसात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

सत्यानृतं त्विति ॥ प्रायेण सत्यानृतन्यवहारसाध्यत्वात्सत्यानृतं वाणि-ज्यम् । नतु वाणिज्ये शास्त्रेण सत्यानृताभ्यनुज्ञानम् । 'तेन चैवापि जीव्यते' इति चशब्देन वाणिज्यसमशिष्टत्वात्कुसीदमपि गृद्यते । पूर्वश्लोकोक्ता कृषि-रेतच्छ्रोके च वाणिज्यकुसीदे। अनापदीत्यनुवृत्तेरस्वयंकृतान्येतानि बोद्धव्यानि । यथाह गौतमः (१०।१)-'कृषिवाणिज्ये स्वयं चाकृते क्रसीदं च।' सेवा त वीन-दृष्टिसंदर्शनस्वामितर्जननीचिकयादिधर्मयोगाच्छन इव वृत्तिरतः श्रवृत्तिरुक्ताः तसात्तां प्रकृतो बाह्मणस्यजेत् ॥ ६ ॥

#### कुसूलधान्यको वा स्थात्कुम्भीधान्यक एव वा । ज्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥

° कुसुळधान्यक इति ॥ 'कुसूळो त्रीद्यगारं स्थात्' इत्याभिधानिकाः । इष्ट-कारिनिर्मितागारे धान्यसंचयो भवेत्। अत्र कालविशेषापेक्षायां 'यस त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भूत्यवृत्तये । अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमईति' (११।७) इति मनुक्तं एव कालो प्राह्मः । तेन नित्यनैमित्तिकधर्मकृत्यपोष्यवर्गसहितस्य गृहिणो यावता धान्यादिधनेन वर्षत्रयं समधिकं वा निर्वाहो भवति तावद्धनः कुसुरुधान्यक उच्यते । वर्षनिर्वाहोचितधान्यादिधनः कुम्भीधान्यकः । 'प्राक सौमिकी: किया ज्ञेर्याद्यसान्नं वार्षिकं भवेत्' (आचार. १।१२४) इति याज्ञ-वस्त्रयेन गृहस्थस्य वार्षिकसंचयाभ्यनुज्ञानात् । मनुरपि यदा वानप्रस्थस्थेव 'समानिचय एव वी' इत्यनेन समानिचयं वक्ष्यति (?) तदपेक्षया बहुपोष्य-

१ अस्याग्रे 'सच:प्रक्षालिको वा स्थान्मांससंचायिकोऽपि वा, षण्मासनिचयो वापि समानिचय एव वा' इति प्रक्षिप्तकोकोऽधिकः कचिद्वस्यतेः तस्यायं निर्देश इति श्रतिमाति । परं सोऽपि क्षोकः कुळ्कभेट्टसंमत इति न सुतरां वर्त्तः पारयामस्तद्वशाख्याना-नुपर्छमात् । अत एवैतद्रुदप्रतिपत्ती तु विचक्षणा एव सर्वथा शर्णम् ।

वर्गस्य गृहिणः समुचितः संवत्सरं संचयः । मेबातिथिस्तु बावता धान्यादि-धनेन बहु-मृत्यदारादिमतिश्वसंवत्सरिस्यितिभैवति तावत्सुवर्णादिधनवानिप कुस्लधान्य इत्यभिधाय कुम्भी उष्ट्रिका पाणमासिकधान्यादिनिचयः कुम्भी-धान्यक इति व्याख्यातवान् । गोविन्दराजस्तु कुस्लधान्यक इत्येतद्याचक्ष्य कोष्ठममाणधान्यसंचयो वा स्यात् । द्वादशाहमात्रपर्याप्तधनः कुम्भीधान्यक इत्येतद्याचष्टे । उष्ट्रिकाप्रमाणधान्यादिसंचयो वा षडहमात्रपर्याप्तधनः । 'द्वादशाहं कुस्लेन वृत्तिः कुम्भ्या दिनानि षद । इमाममूलां गोविन्दराजोिक्तिं नातुरुन्धमहे ॥' ईहा चेष्टा तस्यां भवं ऐहिकम्। श्यहपर्याप्तमैदिकं धनं यस्य स त्यदेदिकः तथा वा स्यात् । दिनन्नयनिर्वाहोचितधनमित्यथैः । श्वो भवं श्वस्तनं भक्तं तदस्यास्तीति मत्वर्थीयमिकं कृत्वा नन्नसमासः, तथा वा भवेत् ॥ ७ ॥

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् । ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८॥

चतुर्णामपीति ॥ एषां चतुर्णामपि कुसूलधान्यकादीनां ब्राह्मणानां गृह-स्थानां मध्ये यो यः शेषे पठितः स श्रेष्ठो ज्ञातन्यः । यतोऽसौ वृत्तिसंकोच-धर्मेण स्वर्गादिलोकजित्तमो भवति ॥ ८ ॥

> षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते । द्वाभ्यामेकश्रतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

षट्कर्मेति ॥ एषां गृहस्थानां मध्ये कश्चिद्वहस्थो यो बहुपोध्यवर्गः स प्रकृतैर्कतायानितमेश्वकृषिवाणिज्यैः पद्मिः 'तेन नेन' (४१६) इत्यन्तेन चग्नब्दसमुन्तिन क्रसीदेनेत्यं पङ्गः कर्मिनः पदकर्मा भवति पङ्गिरेतीर्जीवति । कृषिवाणिज्यक्रसीदान्येतान्यस्वयंकृतानि गौतमोक्तानित्युक्तम् । अन्यः पुनस्ततोऽरुपपरिकरः त्रिभिर्याजनाध्यापनप्रतिप्रहैः 'अद्रोहेण' (४१२) इत्येतच्छ्लोकसंगृहीतैः प्रवर्तते । प्रशब्दोऽनथंको वर्तेत इत्यर्थः । अपरः पुनः 'प्रतिप्रहः प्रत्यतरः' (१०१०९) इति वश्यमाणत्वात्तरपरित्यागेन हाभ्यां बाजमध्यापनाभ्यां प्रवर्तते । उक्तत्रयापेश्वया चतुर्थः पुनर्वक्रास्त्रां बाजमध्यापनाभ्यां प्रवर्तते । उक्तत्रयापेश्वया चतुर्थः पुनर्वक्रास्त्राचान्यकः प्रकृतेरुज्छशिलायानित्रायानित्रलामकृषिवाणिज्यैः पदकर्मा भवति पङ्गिजीवति । अन्यो द्वितीयः कुम्भीधान्यकः कृषिवाणिज्ययोनिन्दित्त-स्वात्तत्त्याग उज्छशिल्यांनितायानितानां मध्यादिच्छातस्त्रिमिनंदित्त-स्वात्त्त्याग उज्छशिल्यांनितायानितानां मध्यादिच्छातस्त्रिमिनंदित्त-स्वहिको यानित्रलामं विद्वायोज्छशिल्याचितानां मध्यादिच्छात द्वास्त्रतेति । एकस्यहिको यानित्रलामं विद्वायोज्छशिल्याचितानां मध्यादिच्छात द्वास्त्रतेति । यत्र्वेः पुनर्थस्तिनको ब्रह्यसत्रेण जीवति । ब्रह्यसत्रं शिक्रोज्छयोन्त्यतरा वृत्तिः, ब्रह्मणो ब्राह्मणस्त्रस्त्रमेत्वात्रमित्राह ॥ ९॥

९ 'सर्वेषु नियमस्तु आचार्यज्ञातिप्रियगुरुधनविद्यानियमेषु ब्राह्मणः संप्रदानम्, अन्यत्र यथोक्तान् कृषिवाणिज्ये चाखगंकृते क्रसीदं च' (गौ. स्य. १०।२) इति सहचनम्।

वर्तयंश्र शिलोञ्छाभ्यामप्रिहोत्रपरायणः । इष्टीः पार्वायणान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

वर्तयंश्चेति॥ त्रिलोन्छाभ्यां जीवन् धनसाध्यकर्मान्तरानुष्टानासामर्थ्या-दृप्तिहोत्रनिष्ठ एव स्यात्। पार्वायणान्तीयाश्च हृष्टीः केवला अनुतिष्ठेत्। पर्वे च अयनं च पर्वायणे, तयोरन्तसत्र भवा दर्शपौर्णमासामयणात्मिकाः॥ १०॥

न लोकपृतं वर्तेत पृत्तिहेतोः कथंचन । अजिह्यामशठां शुद्धां जीवेद्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥

न लोकवृत्तिमिति ॥ लोकवृत्तमसित्याख्यानं विचित्रपरिहासकथादिकं जीविकार्थं न कुर्यात्। अजिह्मां मृषात्मगुणार्थाभिधानादिपापरहिताम्। अशठां दुम्मादिन्याजश्रून्याम् । गुद्धां वैद्यादिवृत्तेरसंकीर्णां बाह्मणजीविकामनु-तिष्ठेत्। अनेकार्थत्वाद्धात्नामनुष्टानार्थोऽयं जीवितिरिति सकर्मकता ॥ ११ ॥

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ १२॥

संतोषमिति ॥ यथासंभवभृत्यात्मप्राणधारणावस्यकपञ्चयज्ञाचनुष्ठानमान्त्रोचितधनानिधका स्पृद्दा संतोषः, तमितशयितमालम्ब्य प्रजुरधनार्जने संयमं कुर्यात् । यतः संतोषहेतुकमिति सुखं, परत्र चान्यमस्य विहितानुष्ठानात्स्वर्गानिसुखम् । विपर्ययस्त्वसन्तोषो दुःखमूलं बहुधनार्जनप्रयासेन प्रजुरदुःखाद-संपत्तो विपत्तो च क्रेशात् ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः। स्वर्गायुष्ययशस्यानि त्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥

अतोऽन्यतमयेति ॥ अबहुमृत्यस्यैकवृत्या निर्वाह्संभवे सस्यन्यतमयेति विधीयते; बहुमृत्यस्यात्रसंभवे 'पदक्रमेंको भवसेषाम्' (४१९) इति विहित-त्वात् । अथवेकवान्यतावगमाइतविधायकत्वाचान्यतमया वृत्त्येत्यनुवादकत्वादेकत्वमिवक्षितम् । उक्तवृत्तीनामन्यतमया वृत्त्या जीवन्स्नातको ब्राह्मण इमानि वक्ष्यमाणानि यथासंभवं स्वर्गायुर्यशसां हितानि व्रतानि कुर्यात् । 'इदं मया कर्तव्यम्, इदं न कर्तव्यम्, इत्वेवविधसंकर्णविशेषाइतम् ॥ १३ ॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्योदतन्द्रितः । तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्रामोति परमां गतिम् ॥ १४ ॥

वेदोदितमिति ॥ वेदोक्तं सार्तमि वेदम्लस्वाद्वेदोक्तमेव । सकं स्वाश्र-मोक्तं यावज्ञीवमतन्द्रितोऽनलसः कुर्यात् । हिंहेतो । यसाप्तस्कुर्वन् यथासा-मध्यं परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्तोति । तिस्यकर्मानुष्ठानारपापश्चये सति निष्पापान्तःकरणेन ब्रह्मसाक्षात्कारान्मोक्षावाप्तेः । तदुक्तं मोक्षचर्मे - 'क्षानसु-रपचते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। तत्राद्शेतलप्रस्ये पश्यस्यात्मानमात्मिनि॥' ब्रात्मन्यन्तःकरणे ॥ १४ ॥

#### नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा। न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥१५॥

नेहेताथानिति ॥ प्रसज्यते यत्र पुरुषः स प्रसङ्गो गीतवादित्रादिस्तेनार्था-बार्जयेत्। नापि शास्त्रनिषिद्धेन कर्मणाऽयाज्ययाजनादिना च। न च विद्यमानेषु धनेषु। न चाप्यविद्यमानेष्वपि प्रकारान्तरसंभवे यतस्ततः पतितादिश्योऽपि १५

# इन्द्रियार्थेषु स्वेषु न प्रसन्येत कामतः।

अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ १६ ॥

इन्द्रियार्थेष्विति ॥ इन्द्रियाणामर्था रूपरसगन्धस्पर्शाद्यसेषु निषिद्धे-ध्वपि स्वदारसुरतादिषु न प्रसञ्चेत नातिप्रसक्तिमत्यन्तसेवनात्मिकां कुर्यात् । कामत उपभोगार्थम् । अतिप्रसक्तिनिवृत्त्युपायमाद्द-अतिप्रसक्तिमिति ॥ विषयाणामस्थिरत्वस्वर्गापवर्गात्मकश्रेयोविरोधित्वादिभावनया मनसा सम्यङ् निवर्तयेत् ॥ १६ ॥

# सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।

यैथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥

सर्वानिति ॥ वेदार्थविरोधिनोऽर्थानसन्तेश्वरगृहोपसर्पणकृषिलोकयात्रा-दयस्तान्सर्वान्परिस्रजेत् । कथं तिहें भृत्यात्मपोषणमित्याञ्चश्चाह—यथातथा केनाप्युपायेन स्वाध्यायाविरोधिना भृत्यात्मानौ जीवयन् । यसात् सास्य स्नात-कस्य कृतकृत्यता कृतार्थता यश्वितं स्वाध्यायपरता ॥ १७ ॥

# वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनसः च ।

वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८॥

वयस इति ॥ वयसः कियाया धनस्य श्वतस्य कुलस्यानुरूपेण वेषवाग्बुद्धी-राषरंछोके प्रवर्तेत । यथा यौवने स्नग्गन्धलेपनादिधारणं त्रिवर्गानुसारी वाग्बुद्धिश्व एवं कर्मादिष्वप्युन्नेयम् ॥ १८ ॥

# बुद्धिबृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्रेव वैदिकान् ॥ १९ ॥

बुद्धीति ॥ वेदाविरुद्धानि शीधं बुद्धिवृद्धिजनकानि न्याकरणमीयांसास्मृति-पुराणन्यायादीनि शासाणि, तथा धन्यानि धनाय हितान्यर्थशासाणि बाई-स्पत्यौशनसादीनि, तथा हितानि दष्टोपकारकाणि वैद्यकज्योतिषादीनि, तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकाक्षिगमाख्यांश्च प्रन्थान्निसं पर्याछोचयेत् ॥१९॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

्रतथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २०॥

यथा यथेति ॥ यसावधा यथा पुरुषः शास्त्रं सम्यगभ्यस्ति तथा

तथा विशेषण जानाति, शास्त्रान्तरिषयमपि चास्य विज्ञानं रोचत उज्ज्वलं भवति । दीप्त्यर्थत्वाद्भुचेरिमलापार्थत्वाभावात् 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा. १।४।३३) हृति न संप्रदानसंज्ञा ॥ २०॥

# ऋषियज्ञं देवयज्ञं भृतयज्ञं च सर्वदा ।

नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥

ऋषियञ्जमिति ॥ स्वाध्यायादीनपञ्चयज्ञान् यथाशक्ति न त्यजेत् । तृतीया-ध्यायाभिहितानामपि पञ्चयज्ञानामिह निर्देश उत्तरत्र विशेषविधानार्थः स्नात-कन्नतत्वबोधनार्थश्च ॥ २१ ॥

#### एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः । अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

एतानेक इति ॥ एके गृहस्था बाह्यान्तरयज्ञानुष्ठानशास्त्रका एतान्यक्ष-महायज्ञान् ब्रह्मज्ञानप्रकर्षाद्वहिरचेष्टमानाः पञ्चसु बुद्धीन्द्रियेष्वेवं पञ्चस्प-ज्ञानादिसंयमं कुर्वन्तः संपादयन्ति । यज्ञानां होमध्यानुपपत्तेः संपादनार्थो जुहोतिः ॥ २२ ॥

# वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्देत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥

वाचीति ॥ एके गृहस्या ब्रह्मविदो वाचि प्राणवायौ च यज्ञनिवृत्तिमक्षय-फलां जानन्तः सततं वाचि प्राणं च जुद्धति । वाचं च प्राणे; भाषमाणेन च वाचि प्राणं जुद्दोतीति। सभाषमाणेनोच्छ्रसता प्राणे वाचं जुद्दोमीति व्याख्या-तव्यमित्यनेन विधीयते । यथा कौषीतिकरहस्यबाद्मणम् (२।४।१) 'यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्तोति प्राणं तदा वाचि जुद्दोति, यावद्वि पुरुषः प्राणिति न तावद्माषितुं शक्तोति चाचं तदा प्राणे जुद्दोति, एतेऽनन्ते समृते बाहुती जाअत्स्वपंश्च सततं जुद्दोति । सथ या अन्या आहुतयोऽनन्तरन्यस्ताः कर्ममच्यो हि भवन्त्येवं हि तस्यैतत्पूर्वे विद्वांसोऽप्निहोतं न जुद्दवांचकुः' इति २३

# ज्ञानेनैवापरे विशा यंजनत्येतर्म् खैः सदा।

्ज्ञानमूलां क्रियामेषां पत्र्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

ज्ञानेनैवेति ॥ अपरे विमा बद्यानिष्ठाः सर्वथा बद्यानेनैवेतैमेखेरंजन्ति । एतांश्र यज्ञाननुतिष्ठन्ति । कथमेतदित्याह—ज्ञानं श्रह्या (सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (क्षेत्रः, छप. २।१।१) इत्याविश्वतिषु प्रतिद्धम् । ज्ञानमूलामेषां ज्ञानानां क्रियामुत्पाति जानन्तः ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चक्षुरिव चक्षुः ज्ञामचक्षुषोपनिषदा 'सर्वे खिवदं बद्धा तज्जकान्' (श्राः ३।१।३) इत्याविक्या पद्धम्कानिष क्षमोत्पतिकाळे बद्धात्मकान्यायन्तः संपादपन्ति । पद्धयज्ञप्रक्रमभुवत इत्यर्थः ।
श्रोक्त्रयेण वद्धाविद्धानां वेदसंन्यासिनां गृहस्थानामसी विभयः ॥ २४॥

# अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा । दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

अग्निहोत्रमिति ॥ उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ निशायाश्रादौ । अनुदितहोम-पक्षे दिनस्यान्ते निशायाश्रान्ते । यद्वा उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ दिनान्ते च । अनुदितहोमपक्षे निशादौ निशान्ते च अग्निहोत्रं कुर्यात्। कृष्णपक्षार्थमासान्ते दृशांख्येन कर्मणा ग्रुक्षपक्षार्थे च पौर्णमासाख्येन यजेत् ॥ २५ ॥

# सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः । पश्चना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मस्वैः ॥ २६ ॥

सस्यान्त इति ॥ पूर्वार्जितधान्यादिसस्ये समाप्ते 'शरिद नवान्नम्' इति स्त्रकारवचनादसमाप्तेऽपि पूर्वसस्ये नवसस्योत्पत्तावाग्रयणेन यजेत् । सस्यक्षयस्यानियतत्वात् , धनिनां बहुद्दावनजीवनोचितधान्यसंभवाच । सस्यान्त्रवाच नवसस्योत्पत्तिरेवाभिन्नेता नियतत्वात्तस्याः प्रस्कव्दं निमित्तस्योन्त्रपत्तेः । ऋतुसंवत्सर द्वेतन्मताश्रयणेन चत्वारश्रद्वारो मासा ऋत्वसद्नते-ऽध्वरैक्षातुर्मासास्यैर्यागैर्यजेत । अयनयोरनयोरुत्तरदक्षिणयोरादौ पञ्चना यजेत पञ्चवधाल्यं यागमनुतिष्ठेत् । ज्योतिःशास्त्रे चैत्रश्चक्षप्रतिपदादिवर्षगण-नाच्छितिरेण समासे वर्षे वसन्ते सोमरसस्यध्यैरिष्ठिष्टोमादियागैर्यजेत ॥२६॥

#### न्यानिष्टा नवसस्येष्ट्या पशुना चामिमान्द्रिजः । नवान्त्रमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥

नानिष्ट्रिति ॥ आहिताप्तिर्द्धिजो दीर्बमायुर्जीवितुमिच्छश्वामयणमञ्चरवा नवालं न भक्षयेत् । नच पञ्चयागमकृत्वा मांसमक्षीयात् ॥ २७ ॥

दोषं कथयन्ननित्यतामनयोराह-

# मवेनानर्चिता द्यस्य पशुहन्येन चाप्रयः। प्राणानेवातुमिन्छन्ति नवान्नामिषगर्धिनः ॥ २८॥

नवेनेति ॥ यसाववेन हन्येन पशुवदामेनानविता अकृतम्सा अग्नयो नवात्रमांसाभिलापिणोऽस्माहिताग्रेरप्रिहोत्रिणः भाषादेव साविद्वमिष्लिनि । गर्थोऽभिलापातिशयः । गृथेत्रेत्रन्तस रूप्रम् । सोऽस्मासीति गर्थो । मत्व-र्थीय हृतिः ॥ २८ ॥

आसनाञ्चनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।

नास्य कश्चिद्रसेद्रहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥ श्वासनाशमेति ॥ यथाशक्त्यासनभोजनादिभिरनर्चितोऽतिथिरस्य गृह-स्वस्य गृहे न वसेत् । अनेन शक्तितोऽतिथि प्जयेदिसुक्तमप्युक्तरार्थमन्सते ३९

पाठां -1 त्वयनान्ते तु.

## पापिष्डिनो विकर्मस्थान्बैडालवितकाञ्छठान् । हैतुकान्वकवृत्तींश्र वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥

पाषिण्डिन इति ॥ पाषिण्डिनो वेदबाह्मवतिलङ्गधारिणः शाक्यभिश्चक-क्षपणकाद्यः, विकर्मस्थाः प्रतिषिद्धवृत्तिजीविनः, बैदालव्यतिकबकवृत्ती वक्ष्य-माणलक्षणो, शठा वेदेन्वश्रद्दधानाः, हेतुका वेदविरोधितर्कन्यवद्दारिणः, एता-नतिथिकालोपस्थितान् वाङ्मात्रेणापि न पूजयेत् । पूजारहितेऽश्वदानमात्रं तु 'शक्तितोऽपचमानेभ्यः' (४।३२) इत्यनुज्ञातमेव ॥ ३० ॥

#### वेदिवद्यावतस्त्रातान्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः। पूजयेद्भव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत्॥ ३१॥

वेद्विद्येति ॥ वेद्वियावतस्नातानिति विद्यास्नातकव्रतस्नातकोभयस्नात-कास्त्रयोऽपि गृद्यन्ते । यथाह हारीतः—'यः समाप्य वेदानसमाप्य वतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य वतान्यसमाप्य वेदान्समावर्तते स वतस्नातकः । उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्यावतस्नातकः ।' यद्यपि स्नातकधर्मत्वेनैव स्नातकमात्रप्राप्तिस्त्रथापि श्लोत्रियत्वं विविश्वतं, तान्स्नातका-ङश्लोत्रियान्हृज्यकव्येन पूज्येत्, विपरीतान्युनवेजीयेत् ॥ ३१ ॥

#### शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना । संविभागश्च भृतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

दाक्तित इति ॥ अपचमाना ब्रह्मचारिपरिवाजकाः पाषण्डादयः । ब्रह्मचारि-परिवाजकानामुक्तमप्यबदानं पचमानापेक्षयातिशयार्थं स्नातकवत्त्वार्थं च पुनरुच्यते । मेघातिथि-गोषिन्दराजौ तु 'भिक्षां च भिक्षवे द्याद्विधिवद्रह्म-चारिणे' (३१९४) इति ब्रह्मचारिपरिवाजकयोरक्तत्वारपाषण्ड्यादिविषयत्व-मेवास्य वचनसेत्यूचतुः । स्त्रकुटुम्बानुरोधेन वृक्षादिपर्यन्तप्राणिभ्योऽपि जलादिनापि विभागः कर्तव्यः ॥ ३२ ॥

#### राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः श्रुधा । याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥

राजत इति ॥ 'न राजः प्रतिगृद्धीयादराजन्यंप्रसूतितः' (४।८४) इति निषेधाद्राजशब्दोऽत्र क्षत्रियनुपतिपरः । स्नातकः क्षुधावसीदिन्द्रजातिप्रतिमहस्य संभवेऽपि यथाशास्त्रवर्तिनः क्षत्रियादाक्षो याज्यशिष्याभ्यां वा प्रथमं धनमभिष्ठवेत् । राज्ञो महाधनत्वेन पीडाविरहात् । याज्यशिष्ययोत्र कृतोपकारतया प्रत्युपकारप्रवणत्वात् । तदसंभवे त्वन्यसादिपि द्विजास्नमाद्दीत ।
सद्भावे तु 'सर्वतः प्रतिगृद्धीयात्' (१०।१०२) इत्यापस्मे वस्यति। एवं चानापदि प्रथमं क्षत्रियनुपयाज्यशिष्येभ्यः प्रतिग्रह्मियमार्थं वचनम् । अत प्वाह

'न त्वन्यतः' इति । स्थितिः शास्त्रमर्यादा । नच 'संसीदन्'इत्यभिधानादा-पद्धमैविषयत्वमस्य वाच्यम् । अच्यभिचाराद्वनापत्यकरणात् । 'संसीदन्'इत्यस्य चौपात्तधनाभावपरत्वात् । नच धनाभावमात्रमापत् । किंतु तस्मिन्सति विहितोपायासंभवात् । अन्यथा सद्यःप्रक्षां क्षेत्रेऽप्यापद्धत्तिः स्यात् । यदि चापद्विषयत्वमस्य भवेत्तदा 'न त्वन्यतः' इत्यनेन 'सर्वतः प्रतिगृह्णोयात्' (१०।१०२) इति विरुध्येत । यचापत्यकरणे 'सीदद्धिः कुष्यमिच्छद्धिर्धनं वा पृथिवीपतिः । याच्यः स्थात्' (१०।११३) इत्युक्तं तच्छूद्रनृपविषयमेवं राजादिप्रतिग्रहासंभवे ॥ ३३॥

> न सीदेत्स्नातको विप्रः श्रुधा शक्तः कथंचन । न जीर्णमलबद्वासा भवेच विभवे सित ॥ ३४ ॥

न सीदेदिति ॥ विद्यादियोगात्प्रतिप्रहशकोऽपि स्नातको ब्राह्मण उक्त-राजप्रतिप्रहादिलाभे सति न श्रुधावसको भवेत् । नच धने संभवति जीर्णे मिछने च वाससी विभूयात् ॥ ३४॥

कृप्तकेशनखरमश्रुदीन्तः शुक्काम्बरः शुचिः । स्वाध्याये चैव युक्तः स्वानित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥ कृप्तकेशेति ॥ कल्पनं छेदनं छतकेशनखरमश्रः तपःक्रेशसहो दान्तः बुक्कवासा बाह्यभ्यन्तरशौचसंपन्नो वेदाभ्यासयुक्त औषधोपयोगादिना चात्म-हितपरः स्वात् ॥ ३५ ॥

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे राक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥ वैणवीमिति ॥ वेणुदण्डसुदकसहितं च कमण्डलुं यज्ञोपवीतं कुरासुष्टिं शोभने च सोवर्णकुण्डले धारयेत् ॥ ३६ ॥

नेश्वेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्यं न मध्यं नभसो गतम् ॥ ३७ ॥
नेश्वेतेति ॥ उद्यन्तमसं यन्तं च सूर्यविम्बं संपूर्णं नेश्वेत । उपसृष्टं प्रहोपरकं
वकाष्टुपसर्गयुकं च, वारिस्थं जलप्रतिविभ्वतं, नभोमध्वगतं मध्यंदिनसमये ॥ ३७ ॥

न लङ्क्षयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच वर्षति । न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥ न लङ्क्षयेदिति ॥ वत्सवन्धनरजुं न लङ्क्षयेत् । वर्षति मेषे न धावेत् । नच स्वदेहमतिविम्वं जले निरीक्षेतेति शास्त्रे निश्रयः ॥ ३८ ॥

पाठा०—1 खरूपमिति

#### मृदं गां दैवतं वित्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

मृद्मिति ॥ प्रस्थितः सन् संमुखावस्थितानुद्गतमृत्तिकागोपाषाणादि-वताबाक्षणवृतक्षोद्गचतुष्पथमहाप्रमाणज्ञातवृक्षान्दक्षिणहस्त्रमागेण कुर्यात् । ।दक्षिणानीति 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवचास्यान्यतरस्याम्' (पा. १।२।६९) इति ।पुंसकत्वम् ॥ ३९॥

> नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्नियमार्तवदर्शने । समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

नोपगच्छेदिति ॥ प्रमत्तः कामातोंऽपि रजोदर्शने निषिद्धस्पर्शदिनम्रये स्त्रियं नोपगच्छेत् । स्पर्शनिषेधेनैव 'तासामाद्याश्चतस्तः' (११४७) इति निषेध-सिद्धौ प्रायश्चित्तगौरवार्थं स्नातकव्रतस्वार्थं च पुनरारम्भः । न चागच्छन्नपि तया सहैकशय्यायां सुप्यात् ॥ ४० ॥

> रजसाभिष्ठुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः । प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥

रजसाभिष्ठतामिति ॥ यसाद्रजस्रलां स्त्रियं पुरुषस्रोपगच्छतः प्रज्ञा-वीर्यबलचक्षुरायूषि नश्यन्ति, तसाक्षां नोपगच्छेत् ॥ ४१ ॥

> तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिष्ठुताम् । प्रज्ञा तेजो वलं चक्षुरायुश्चेव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

तामिति ॥ तां तु रजस्वलामगच्छतस्तस्य प्रज्ञादयो वर्धन्ते, तस्मात्तां नोपेयात् ॥ ४२ ॥

> नाश्रीयाद्वार्यया सार्ध नैनामीक्षेत चाश्रतीम् । क्षुवर्ती जुम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥

नाश्चीयादिति ॥ भार्यया सहैकपात्रे नाश्चीयात् । एनां च भुञ्जानां छुत्रैं जुम्भां च कुर्वतीं यथासुखं निर्यन्नणप्रदेशावस्थितां च नेक्षेत ॥ ४३ ॥

> नाञ्जयन्ती सके नेत्रे न चाम्यकामनाष्ट्रताम् । न पश्येत्प्रसवन्ती च तेजस्कामी द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

नाञ्जयन्तीमिति ॥ तथा खनेत्रयोरञ्जनं कुर्वती तैळायम्यकां भनावृतां सत्तावरणरहितां नतु नम्राम् । 'नम्रां नेशेत च सियम्" (४।५३) इति वश्य-माणस्वात् । अपत्यं च प्रसवन्तीं ब्राह्मणो न निरीक्षेत ॥ ४४ ॥ नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्। न मूत्रं पथि कुर्वीत न भसनि न गोत्रजे ॥ ४५ ॥

नाममद्यादिति ॥ एकवस्रो नाम्नं भुक्षीत । उपस्थान्छादनवासोरहितौ न स्नायात् । मूत्रमहणमधःकायमलविसर्गोपलक्षणार्थम् । तेन मूत्रपुरीषे वर्त्मनि, भस्मनि, गोष्टे च न क्रयात्॥ ४५॥

> न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते। न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

न फालकृष्ट इति ॥ तथा फालकृष्टे क्षेत्रादौ, उदके, अस्यर्थकृतेष्टकाचये, पर्वते, चिरन्तनदेवतागारे, कृमिकृतमृत्तिकाचये च विष्मुत्रोत्सर्गं न कदाचन कुर्यात्॥ ४६॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः । न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

त ससत्वेदिवृति ॥ तथा समाणिषु विलेषु न वजन्न चोत्थितो न नदीतट-माश्रित्य नापि पर्वतश्यक्के मूत्रपुरीवे कुर्यात् । पर्वतनिवेधादेव तच्छक्कनिवेधे सिद्धे पुनः पर्वतश्वकृतिवेधस्तदितरपर्वते विकल्पार्थः । तत्रेच्छाविकल्पस्यान्य-थापि प्राप्तौ सामान्यनिषेधवैयर्थ्याद्यवस्थितोऽत्र विकल्पः। अत्यन्तार्तस्य पर्वते न दोषः ॥ ४७ ॥

वाय्विप्रविश्रमादित्यमपः पश्यंत्तथैव गाः।

न कदाचन कुवीत विष्मृत्रस विसर्जनम् ॥ ४८ ॥ वास्वशिविप्रमिति ॥ वायुं, अग्नि, ब्राह्मणं, सूर्यं, जलं, गां च पश्यक्त कदापि मुत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात् । वायोररूपत्वेन दर्शनासंभवे वालाप्रेरिततृष-काष्टादिनिषेघोऽयम् ॥ ४८॥

तिरस्कृत्योचरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना ।

नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥

तिरस्हत्योचरेदिति॥ अन्तर्धाय काष्टादिना भूमिमवागन्नव्छिष्टः प्रच्छा-दिताङ्गोऽवगुण्ठितशिरा मूत्रपुरीषोत्सर्ग कुर्यात् । 'शुष्कैस्तृपौर्का कार्धेर्वा पर्णे-र्वेणुद्छेन वा । मृन्मयैभाजनैर्वामि अन्तर्भाय वसुंधराम्' इति वायुपुराण-वचनात् गुब्काणि काष्ट्रपत्रतृणानि श्रेयानि ॥ ४९ ॥

मूत्रोचारसम्रत्सर्गं दिवा कुर्यादुद्बुखः। दक्षिणामिमुखो रात्रो संध्ययोश्र तथा दिवा ॥ ५० ॥ मूत्रोचारसमुत्सर्गमिति॥ मूत्रपुरीषोत्सर्गमहनि संध्ययोश्रोत्तरामिमुखो

पाठा०-1 यथा दिवा; खस्थोऽनाशाव चेतसः.

रात्री चेदक्षिणाभिमुखः कुर्यात् । धरणीधरस्तु 'खस्थोऽनाशाय चेतसः' इति वतर्थपादं पठित्वा चेतसो बुद्धेरनाशायेति न्याख्यातवान् । परंपरीयमाम्रायं हित्वा विद्वज्ञिराहतम् । पाठान्तरं व्यरचयन्मुधेह धरणीधरः '॥ ५० ॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः। यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणवीधाभयेषु च ॥ ५१ ॥

छायायामिति ॥ रात्रौ छायायामन्धकारे वा भहनि छायायां नीहाराद्य-न्धकारे वा दिग्विशेषाज्ञाने सति चौरव्याघादिकृतप्राणविनाशभयेषु च यथे-प्सित्मुखो मूत्रपुरीषे कुर्यात् ॥ ५१ ॥

> प्रत्यमिं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् । प्रैतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नक्ष्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

प्रत्यग्रिमिति ॥ 'वारविश्वमित्रम्' (४।४८) इत्यनेन मेहतोऽस्यादीनां दर्शनं निषिद्धम् । अनेन त्वपश्यतोऽपि संमुखीनत्वं निषिध्यते । अग्निसूर्यचन्द्र-जलबाह्मणगोवाताभिमुखं मूत्रपुरीषे कुर्वतः प्रज्ञा नश्यति, तसादेतन्न कर्तव्यम् । 'प्रतिवातम्' इत्यस्य स्थाने 'प्रतिसंध्यम्' इत्यन्ये पठन्ति ॥ ५२ ॥

#### नामिं प्रखेनोपधमेनमां नेक्षेत च स्त्रियम्। नामेध्यं प्रक्षिपेदग्री न च पादी प्रतापयेत ॥ ५३ ॥

नामिमिति ॥ नामिर्मुखेन ध्मातव्यः, किं तर्हि ? व्यजनादिना । 'न नमां स्त्रियमीक्षेत मैथुनादन्यत्र' इति सांख्यायनदर्शनान्मैथुनव्यतिरेकेण नम्नां स्त्रियं न पश्येत् । अमेध्यं मूत्रपुरीषादिकं नाम्नौ क्षिपेत् । नच पादौ प्रताप-वेत्। प्रशब्दाद्मी पादावुत्क्षिप्य साक्षाच प्रतापवेत्। वस्त्रादितापस्वेदे-**डिवरोधः ॥ ५३ ॥** 

#### अधस्तान्नोपदध्याच न चैनमभिलङ्घयेत्। न चैनं पादतः कुर्यात्र प्राणावाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अधस्तादिति ॥ खद्वादिभ्योऽधस्तादङ्गारसकट्यादिकं न कुर्यात् । न चान्निमुः बुद्य गच्छेत् । नच सुप्तः पाददेशेऽ भिं स्थापयेत् । नच प्राणपीडाकरं कर्म कुर्यात्॥ ५४॥

> नाश्रीयात्संधिवेलायां न गच्छेनापि संविशेत्। न चैव प्रलिखेन्द्र्मि नात्मनोऽपहरेत्स्रजम् ॥ ५५ ॥

नाश्रीयादिति ॥ संध्याकाले भोजनं प्रामान्तर्गमनं निद्रां च न कुर्यात् । नच रेखादिना भूमिमुखिखेत्। नच मालां धतां स्वयमेवापनयेत्। अर्थाद-न्येनापनयेदित्युक्तम् ॥ ५५ ॥

पाठा०—1 °बाध°. 2 °द्विजम्. 3 प्रतिगु; प्रतिसंध्यं.

नाप्सु मुत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा सम्रत्सृजेत् । अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

नाप्स मुत्रमिति ॥ मूत्रं पुरीषं श्लेष्माणं मूत्राद्यमेध्यलिप्तवस्रं अन्यद्वा भक्तोच्छिष्टाद्यमेध्यं रुधिरं विषाणि च कृत्रिमाकृत्रिमभेद्भिन्नानि न जले प्रक्षिपेत् ॥ ५६ ॥

नैकः सुप्याच्छन्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत । नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन चावृतः ॥ ५७ ॥

नैक इति ॥ उत्सन्नजनवासगेहे नैकः शयीत । वित्तविद्यादिभिरिधकं च सुप्तं न प्रबोधयेत् । रजस्वलया संभाषणं न कुर्यात् । यैज्ञं चाकृतवरणोऽनृ-त्विक न गच्छेत्। दर्शनायेच्छया गच्छेत्। 'दर्शनाय तु कामम्' (गी. स्ट. ९।५५ ) इति गौतमवचनात् ॥ ५७ ॥

अस्यगारे गवां गोष्टे ब्राह्मणानां च सनिधौ। स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिम्रद्धरेत ॥ ५८ ॥ अरुयगार इति ॥ अभिगृहे गवां निवासे ब्राह्मणानां गवां समीपे स्वाध्याय-मोजनकालयोश्च दक्षिणपाणि सबाहुं वासस उद्धरेद्वहिष्कुर्यात् ॥ ५८ ॥

> न वारयेद्वां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित । न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दश्येद्धधः ॥ ५९ ॥

न वारयेदिति ॥ गां जलं श्लीरं वा पिबन्तीं न निवारयेत्। दोहनार्थवार-णादन्यत्र निषेधः । नापि परकीयक्षीरादि पिबन्तीं तस्य कथयेत् । न चेन्द्रधनुराकारो दृष्टा निषिद्धदर्शनदोषज्ञः कस्यचिद्दरीयेत् ॥ ५९ ॥

नाधार्मिके वसेद्वामे न व्याधिबहुले भृशम्। नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

नाधार्मिक इति॥ अधार्मिक इत्यनेन यत्राधार्मिका वसन्ति न तत्रवासो युक्तः । यत्र वा निन्दितदुश्चिकित्सितव्याधिपीडिता बहवो जनासत्र भृशम-त्यर्थं वासो न युक्तः । पन्थानमेकः कदापि न गच्छेत् । पर्वते च दीर्घकार्ळं न वसेत्॥ ६०॥

न शुद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनाष्ट्रते ।

न पाषण्डिमणाऋान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

न शुद्धराज्य इति ॥ यत्र देशे शूदो राजा तत्र न बसेत् । अधार्मिक-जनेश्च बाह्यतः परिवृते प्रामादौ न वसेदित्यपुनरुक्तिः। पाषण्डिभिश्च वेदबा-द्यालिक धारिभिर्वशीकृते चाण्डालादिभिश्चान्यजैरुपद्वते न वसेत् ॥ ६१ ॥

पाठा०-1 नैकः शून्यगृहे खप्यात्र श्रेयांसं प्रबोधयेत्.

१ अवृतस्य यज्ञभोजनादौ प्रतिषेधप्रतिपादनार्थमियं मुक्तिरिति केचित्.

# न भुज्जीतोन्द्रतस्रेहं नातिसौहित्यमाचरेत् । नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

न भुञ्जीतेति ॥ उद्भृतस्रेहं पिण्याकादि न भुञ्जीत । अतिवृत्तिं वारद्वयेऽपि न कुर्यात । 'जठरं पूरयेदर्धमक्षेभांगं जलेन च । वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थे-मवशेषयेत् ॥' इत्यादिविष्णुपुराणवचनात् । सूर्योदयकाले सूर्यास्तसमये भोजनं न कुर्यात् । प्रातराक्षितोऽतिवृत्तः सायं न भुञ्जीत ॥ ६२ ॥

# न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिवेत् । नोत्सङ्गे भक्षयेद्धक्ष्याच जातु स्यात्कुत्हली ॥ ६३ ॥

न कुर्वितिति ॥ दृष्टादृष्टार्थश्चन्यं व्यापारं न कुर्यात् । अञ्जलिना च जर्छं न पिवेत् । जवींरुपरि विन्यस्य मोदकादीस भक्षयेत् । असित प्रयोजने किमे-तदिति जिज्ञासा कुत्हुलं तम्न कदाचित्कुर्यात् ॥ ६३ ॥

# नं नृत्येदथवा गायेन वादित्राणि वादयेत्। नास्फोटयेन च क्ष्वेडेन च रक्तो विरावयेत्॥ ६४॥

न नृत्येदिति ॥ अशास्त्रीयाणि नृत्यगीतवाद्यानि नाचरेत् । पाणिना बाहौ ध्वनिरूपमास्फोटनं न कुर्यात् । अन्यक्तदन्तशब्दात्मकं क्ष्वेदनं न कुर्यात् । न च सानुरागो रासभादिरवं कुर्यात् ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने । न भिन्नभाण्डे भुझीत न भावप्रतिदृषिते ॥ ६५ ॥

न पादाविति ॥ कांस्थपात्रे कदाचित्पादौ न प्रक्षालयेत् । 'ताम्ररजत-सुवर्णानां भिन्नमभिन्नं वेति न दोषः' इति पैठीनसिवचनादेतद्यतिरिक्तभिन्न-भाण्डे न भोजनं कुर्यात् । यत्र मनो विचिकित्सित तन्नावदुष्टं तत्र न भुज्जीत ॥ ६५ ॥

उपानहीं च वासश्च धृतमन्येर्न धारयेत् । उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

उपानहाविति ॥ उपानहस्रयज्ञोपवीतालंकारपुष्पमालाकमण्डल्लन् परोप-भुक्तान्न धारयेत् ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्वजेद्धर्येर्न् च क्षुमाधिपीडि्तैः।

न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैने वालिधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥ नाविनीतैरिति ॥ अश्वगजादिभिर्वाहनैरदमितैः श्वषा व्याधिमा च पीडिः तैर्भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैक्षित्रज्ञवालिधिभिश्च न यायात् ॥ ६७ ॥

#### विनीतैस्त वजेनित्यमाञ्चगैर्रुक्षणान्वितैः। वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

विनीतैस्त्वित । दमितैः शीव्रगामिभिः अभस्यवकलक्षणोपेतैः शोभन-वर्णेर्मनोज्ञाकृतिभिः प्रतोदेनात्यर्थमपीडयन्गच्छेत् ॥ ६८॥

> बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् । न छिन्द्यात्रखँठीमानि दन्तैनीत्पाटयेत्रखान् ॥ ६९ ॥

बालातप इति ॥ प्रथमोदितादिखतापो बालातपः, स च सहतेत्रयं बाव-दिति मेधातिथिः, कन्यार्कातप इत्यन्ये; प्रेतधूमो दह्यमानशवधूमः, भन्ना-सनं च; एतानि वर्जनीयानि । नखानि च रोमाणि च प्रवृद्धानि न छिन्धात् । दन्तैश्च नखान्नोत्पाटयेत् ॥ ६९ ॥

#### न मुल्लोष्टं च मृद्रीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् । न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

न मृह्योष्ट्रमिति ॥ 'नाकारणं मृह्योष्टं मृहीयात् , तृणानि च न छिन्द्यात्' इत्यापसम्बवचनानिष्प्रयोजनं मृह्लोष्टमर्दनं नखेश्च तृणच्छेदनं न कुर्यात्। नन 'न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्' (४।६३) इत्यनेनैवास्यापि प्रतिषेधसिद्धौ दोषभ्यस्त्वं प्रायश्चित्तगौरवं च दर्शयितं विशेषेण निषेधः। अत एवात्रानन्तरं लोष्टमदीति निनिद्ष्यति। दृष्टादृष्टफलशून्यं च कर्म न कुर्यात्। नज् 'न कुर्वात वृथाचेष्टाम' ( ४।६३) इस्यनेन पुनरुक्तिः । उच्यते,-देहन्यापारश्चेष्टा, सं 'वृथाचेष्टा'शब्देन निषिद्धः अनेन त निष्फलं मनोग्राह्यादिसंकल्पात्मकं कर्म मानसं निषिध्यते। यच आयत्यामागामिकाले कर्मासुखावहं यथाऽजीर्गे भोजनादि तद्पि न क्रयीत्॥ ७०॥

#### लोष्टमदीं तणच्छेदी नखखादी च यो नरः। स विनाशं व्रजत्याशु स्चकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥

लोष्टमदीति ॥ लोष्टमदीयता तृणच्छेता नखखादिता च यो मनुष्यस्तथा सूचकः खलो यः परस्य दोषानसतः सतो वा ख्यापयति बाह्याभ्यन्तरशौच-रहितः शीघ्रमेते देहधनादिना विनश्यन्ति ॥ ७३ ॥

## न विगैर्ह्य कथां कुर्योद्घहिमील्यं न धारयेत्। गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

न विगही कथामिति॥ न चाभिनिवेशेन कथां शास्त्रीयेष्वर्थेषु छौकिकेषु वा क्रयात्, केशकलापाद्वहिर्माल्यं न धारयेत्। गवां च पृष्ठेन यानं। सर्वेथेति भवेण्यादिब्यवधानेनाप्यधर्मावहम्। 'पृष्ठेन'इत्यभिधानादाकृष्टशकटादिना न स्रोषः॥ ७२॥

> अद्वारेण च नातीयाद्धामं वा वेदम वाऽऽवृतम् । रात्रो च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

अद्वारेण चेति ॥ प्राकाराद्यावृतं गृहं च द्वारच्यतिरिक्तप्रदेशेन प्राकारादि-रुद्धनं कृत्वा न विशेत् । रात्रौ च वृक्षमूळावस्थानं दूरतस्यजेत् ॥ ७३ ॥

> नांक्षेः ऋडित्कदाचित्त खयं नोपानहौ हरेत्। शयनस्थो न भ्रञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

नाक्ष्मेरिति ॥ ग्लहं विना कदाचिदपि परिहासेनापि नाक्षादिभिः कीडेत् । 'स्वयम्' इत्यभिधानादात्मोपानहौ पादव्यतिरिक्तेन हस्तादिना देशान्तरं न नयेत् । शरयाद्यवस्थितश्च न भुक्षीत । इसे च प्रभूतमृत्रं कृष्वा क्रमेण न सादेत् । आसने भोजनपात्रं निधाय न भुक्षीत ॥ ७४ ॥

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवा।

न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः कचिद्वजेत् ॥ ७५ ॥

सर्विमिति ॥ यत्किंचित्तिलसंमिश्रं कृसरमोदकादि तदस्तमितेऽकें नाद्यात् । उपस्थाच्छादनवासोरहितो नेह लोके सुप्यात् । उच्छिष्टस्तु नान्यतो गच्छेत् ॥ ७५ ॥

> आर्द्रपादस्तु भुज्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् । आर्द्रपादस्तु भुज्जानो दीर्घमायुखामुयात् ॥ ७६ ॥

आर्द्रपाद् इति ॥ जलाईपादो भोजनमाचरेत् । नाईपादः सुप्यात् । यसादाईपादो भुझानः शतायुर्भवति ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् ।

न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत्।। ७७।।

अच्छार्चिषयमिति ॥ तरुगुल्मलतागहनत्वेनाच्छार्गेवरमरण्यादिदेशं दुर्गं नाकामेत् । सर्पचौरादेरन्तर्हितस्य संभवात् । पुरीषं मूत्रं च न निरीक्षेत । बाहुभ्यां च नदीं न तरेत् ॥ ७७ ॥

> अधितिष्ठेन केशांस्तु न भसास्थिकपालिकाः। न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ ७८॥

अधितिष्ठेन्नेति ॥ दीर्धमायुर्जीवितुमिन्छुः केशादीसाधिरोहेत् । भग्नमृन्मय-भाजनशक्छानि कपालिकाः ॥ ७८ ॥

## न संवसेच पतितैर्न चाण्डाहैर्न पुल्कसैः । न मूर्खेर्नाविहेंसैश्र नान्सैर्नान्सावसायिभिः ॥ ७९ ॥

न संवसेदिति ॥ पतितादिभिर्शामान्तरवासिभिरिष सह न संवसेत् । एकतरुच्छायादौ न समीपे वसेत् । भतो 'नाधार्मिके वसेद्वामे' (४।६०) इसतो भेदः । निषादाच्छूदायां जातः पुरुकसः । वस्यति च (१०।१८) 'जातो मिषादाच्छूदायां जाता भवति पुरुकसः' इति । अविष्ठिष्ठा धनादिमदः गर्विताः । अन्त्या अन्त्यजा रजकादयः । अन्त्यावसायिनो निषादस्त्रियां चाण्डालाजाताः । वस्यति च (१०।३९) 'निषादस्त्री तु चाण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम्'॥ ७९॥

#### न श्र्द्राय मितं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् । न चास्योपदिशेद्धमं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥

न शूद्रायेति ॥ शूद्राय मितं दृष्टार्थोपदेशं न दृद्यात् । धर्मोपदेशस्य पृथ-क्विदेशात् । अदासश्द्रायोच्छिष्टं न दृद्यात् । दासगोचरतया 'उच्छिष्टमक्वं दृातव्यम्' (१०११२५) इति वश्यमाणत्वाददोषः । 'द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्' इति भोक्तिविधिद्गंतुरुच्छिष्टदाननिषेधेऽपि यथासंभवलब्ध-विषयः । हिविष्ट्रतमिति यस्पैकदेशो हुतः स हविःशेषो न दातव्यः। धर्मोप-देशो न शूद्रस्य कर्तव्यः । वतं चास्य प्रायश्चित्तरूपं साक्षान्नोपदिशेत्, किंतु बाह्यणं मध्ये कृत्वा तदुपदेशव्यवधानात् । यथाहाक्विराः-'तथा शूदं समा-साद्य सद् धर्मपुरःसरम् । अन्तरा बाह्यणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत्'। प्रायश्चित्तमिति सकल्धमें पदेशस्योपलक्षणार्थम् ॥ ८०॥

# यो ह्यस धर्ममाचष्टे यश्रैवादिशति त्रतम् । सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मञ्जति ॥ ८१ ॥

यो ह्यस्येति ॥ यसाद्योऽस्य श्र्द्रस्य धर्मं त्र्ते यश्च प्रायश्चित्तमुपदिशति स तेन श्र्द्रेणैव सहासंवृताख्यं तमो गहनं नरकं प्रविशति । पञ्चसु पूर्वी-केषु द्वयोदीषकथनं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ ८१ ॥

#### न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्ड्येदात्मनः शिरः । न स्पृशेचैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

न संहताभ्यामिति ॥ संश्विष्टाभ्यां पाणिभ्यां न कण्ड्रयेदात्मनः शिरः । उच्छिष्टः स्वशिरो न स्पृशेत् । शिरसा विनोन्मजनव्यतिरेकेण नित्यनैमित्तिक-स्नाने न कुर्यात् । दृष्टार्थे शिरोज्यतिरिक्तगात्रप्रक्षाळने न दोषः । स्नानशक्तस्य सायं निषेषः । अशक्तस्य तु 'अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशकौ तु कर्मिणाम्' इति जाबालिना विहितमेव ॥ ८२ ॥

# केशग्रहान्प्रहारांश्र शिरस्रेतान्विवर्जयेत् । शिरःस्नातश्र तैलेन नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥

केशग्रहानिति ॥ कोपेन केशग्रहग्रहारौ शिरासि वर्जयेत् । कोपनिमित्त-त्वाचात्मनः परस्य च प्रतिषेधः । अत एव सुरतसमये कामिनीकेशग्रहस्या-निषेधः । सशिरस्कस्नातस्य तैलेन न किंचिद्प्यङ्गं स्पृशेत् । अथवा तैलेनेति काकाक्षिवदुभयत्र संबध्यते । तैलेन शिरःस्नातः तैलेन पुनः किंचिद्प्यङ्गं न स्पृशेत् । अतो रात्रौ शिष्टानामतैलशिरःस्नातानां तैलेन पादाभ्यङ्गसमाचरण-मविरुद्धम् ॥ ८३ ॥

# न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रस्तितः । स्नाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

न राज्ञ इति ॥ 'राजन्य'शब्दः क्षत्रियवचनः । अक्षत्रियप्रसूतस्य राज्ञो धनं न प्रतिगृह्णीयात् । 'राजतो धनमन्विच्छेत्' (४।३३) इत्युक्तं, तस्यायं विशेष उक्तः । सूनाचक्रध्वजवतामिति । सूनावतां चक्रवतां ध्वजवतां च । सूना प्राणिवधस्थानं, तद्यस्यास्तीति सूनावान् पशुमारणपूर्वकमांसविक्रयजीवी; चक्रवान् बीजवधविक्रयजीवी तैलिकः; ध्वजवान् मद्यविक्रयजीवी शौण्डिकः; वेशः पण्यस्त्रिया भृतिः; तया यो जीवति स्त्री पुमान्वा स वेशवान्; पृतेषां च न प्रतिगृह्णीयात् ॥ ८४ ॥

## द्शस्तासमं चकं दशचकसमो ध्वजः । दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥

द्शस्नेति ॥ गोविन्दराजस्तु 'दशविश्यासमो नृपः' इति पठित ।
मेधातिथित्रभृतयः प्राञ्चो 'दशविश्यासमो नृपः' इति पठिनत । स्नादिशब्दैस्तद्वानुपलक्ष्यते । दशस्नावत्सु यावान्दोपस्तावानेकस्मिन् चक्रवित तैलिके,
यावान्दशसु तैलिकेषु दोषस्तावानेकध्वजवित शौण्डिके, यावान्दशसु ध्वजवत्सु दोषस्तावानेकत्र वेशवित, यावान्दशसु वेशवत्सु दोषस्तावानेकत्र
राजित । उत्तरोत्तरिनिन्दा चेयं पूर्वदातृसंभवे सृत्युत्तरवर्जनार्थमपेक्षया
योज्यते ॥ ८५ ॥

दशस्नासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः। तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः॥ ८६॥

द्शस्नासहस्राणीति ॥ स्नया चरतीति सौनिकः । एवं संकलनया युरसीनिको दशसहस्राणि सार्थे व्यापादयति तेन तुरुयो राजा मन्वादिभिः समृतः । तस्मात्तस्य प्रतिप्रहो नरकहेतुत्वाद्वयानकः क्षत्रियस्यापि च ॥ ८६ ॥

## यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति छुन्धस्थोच्छास्त्रवर्तिनः । स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥

यो राज्ञ इति ॥ यो राज्ञः कृपणस्य शास्त्रोक्षङ्घनेन प्रवर्तमानस्य प्रतिप्रहं करोति स क्रमेणेतान्वक्ष्यमाणेकविंशातिं नरकान्गच्छति ॥ ८७ ॥

पूर्वश्लोके सामान्यतो नरकानिमानेकविंशतिमित्युक्तम्, इदानीं तानेव नामतो निर्दिशति—तामिस्रमिति त्रिभिः—

तामिस्नमन्धतामिस्नं महारौरवरौरवै। ।
नरकं कालस्त्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥
संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं इञ्चलं प्रैतिमृर्तिकम् ॥ ८९ ॥
लोहशङ्कम्जीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

एतेषां नरकाणां स्वरूपं मार्कण्डेयपुराणादिषु विस्तरेणोक्तं तत्रैवावगन्त-व्यम् ॥ ८८-९० ॥

> एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः । न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्किणः ॥ ९१ ॥

एतद्विदन्त इति ॥ प्रतिप्रहो विविधनरकहेतुरिति जानन्तो ब्राह्मणा धर्म-शास्त्रपुराणादिविदो वेदाध्यायिनो जन्मान्तरे श्रेयःकामवन्तो न राज्ञः प्रति-गृह्णीयुः । विदुषो हि प्रतिप्रहे नातीव दोषः । यतो वक्ष्यति (४।१९१) 'तस्मा-द्विद्वान्विभीयात्' इति । तेषामपि निषिद्रो राजप्रतिप्रहः प्रचुरप्रस्ववाय-फलक इति दृशीयेतुं विद्वद्वहणं ब्रह्मवादिग्रहणं च ॥ ९१ ॥

> ब्राह्म मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थी चानुचिन्तयेत्। कायक्केशांश्र तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

ब्राह्म हित ॥ ब्राह्मो सुहूर्तो रान्नेः पश्चिमो यामः । ब्राह्मी भारती तत्य-बोधहेतुत्वात् । 'सुहूर्त'क्षब्दोऽत्र कालमात्रवचनः, तत्र बुध्येत । दक्षेणापि 'प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तो नयेत् । प्रहरद्वयं शयानो हि ब्रह्म-भूयाय कल्पते' इति ब्रवता तत्र प्रबोधोऽभ्यनुज्ञातः । गोविन्दराजस्तु 'रान्नेः पश्चिमे सुहूर्ते बुध्येत' इत्याह । धर्माथौं च परस्पराविरोधेनानुष्ठानार्थमव-धारयेत् । तथा धर्मार्थार्जनहेतुन्कायक्केशाबिरूपयेत् । यदि महान्कायक्केशो- ऽल्पो च धर्माथों वा तदा तं परिहरेत् । वेदस्य तत्त्वार्थं ब्रह्मकर्मात्मकं निश्चिनुयात् । तस्मिन्समये बुद्धिप्रकाशात् ॥ ९२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः । पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥

उत्थायेति ॥ तत उषःकाले शय्याया उत्थाय सति वेगे मूत्रपुरीषोत्सर्गं कृत्वात्र कृतवक्ष्यमाणशौचोऽनन्यमनाः पूर्वं संध्यां चिरं गायत्रीजपं कुर्वन् वर्तेतार्कदर्शनात् । अयं विधिः प्रातःसंध्यायामुक्तः । उद्याद्ध्वेमिप जपेदायु-रादिकाम इति विधानार्थोऽयमारम्भः । अपरामिष संध्यां स्वकाले प्रारम्य तारकोद्याद्ध्वेमिष जपन्नासीत ॥ ९३ ॥

भायुरादिकामाधिकारोऽयमिति दर्शयन्नाह-

ऋषयो दीर्घसंघ्यत्वादीर्घमायुरवाष्ट्रयः । प्रज्ञां यग्नश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

ऋषय इति ॥ 'संध्या'शब्दोऽत्र संध्यानुष्टेयजपादिपरः । यस्पादषयो दीर्घसंध्यानुष्टानाद्दीर्घमायुः जीवन्तः प्रज्ञां यशोऽमृतां च कीर्तिमध्ययनादि-संपन्नं यशश्च प्राप्नुयुः । तस्मादायुरादिकामश्चिरं संध्यामुपासीत ॥ ९४ ॥

> श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाडप्युपाकृत्य यथाविधि । युक्तरुखन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोडर्धपश्चमान् ॥ ९५ ॥

श्रावण्यामिति ॥ श्रावणस्य पौर्णमास्यां भाइपदस्य वा स्वगृद्धातु-सारेणोपाकर्मारुयं कर्म कृत्वा सार्धांश्चतुरो मासान्त्राह्मण उद्युक्तो वेदान-भीयीत ॥ ९५ ॥

> पुष्ये तु छन्दसां कुर्योद्घहिरुत्सर्जनं द्विजः । माघशुक्रस्य वा प्राप्ते पूर्वोक्षे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

पुष्ये त्विति ॥ ततः पक्षाधिकेषु चतुर्षु मासेषु यः पुष्यसत्त्र मामाहहि-र्गत्वा स्वगृद्धानुसारेणोत्सर्गाख्यं कर्म कुर्यात् । अथवा माघशुक्रस्य प्रथमे-उद्दिन पूर्वाह्वे कुर्यात् । माघशुक्ते च विधिः प्रौष्टपद्यां येनोपाकर्म न कृतं सद्विषयः ॥ ९६ ॥

> यथाशास्त्रं तु कृत्वैवम्रत्सर्गं छन्दसां वहिः । विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥

यथाशास्त्रं त्विति ॥ एवमुक्तशास्त्रानुसारेण मामाइहिरछन्दसामुत्स-र्मास्यं कर्म कृत्वा पश्चिणीं रात्रिं विरमेक्षाधीयीत । हे दिने पूर्वापरे पक्षा-विव यस्या मध्यवर्तिन्या रात्रेः सा पश्चिणी रात्रिः । अस्मिन्पसे त्र्सर्गाहो-रात्रे द्वितीयदिने चाह्नि नाध्येतस्यं; द्वितीयरात्रौ त्वध्येतस्यम् । अथवा तमे- वैकमुत्सर्गाहोरात्रमनध्यायं कुर्यात् । विद्यानैपुण्यकामं प्रत्ययमहोरात्रानध्या-यविधिः ॥ ९७ ॥

> अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्केषु नियतः पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

अत ऊर्ध्विमिति॥ उत्सर्गानध्ययनाद्ध्वं मन्ननाह्मणात्मकं वेदं शुक्कपक्षेषु संयतः पठेत् । सर्वाणि तु वेदाङ्गानि शिक्षान्याकरणादीनि ऋष्णपक्षेषु पठेत्॥ ९८॥

नाविस्पष्टमधीयीत न शुद्रजनसंनिधौ।

न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः खपेत्।। ९९।।

नाविस्पष्टमिति ॥ स्वरवर्णाद्यभिव्यक्तिश्चन्यं शूद्धसंनिधौ च नाधीयीत । तथा रात्रेः पश्चिमे यामे सुप्तोस्थितो वेदमधीत्य श्रान्तो न पुनः सुप्यात् ॥ ९९ ॥

> यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् । ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥

यथोदितेनेति ॥ यथोक्तविधिना नित्यं छन्दस्कृतं गायश्यादिछन्दोयुक्तं मञ्जमात्रं पठेत् । मञ्जाणामेव कर्मान्तरङ्गत्वात् । वनापदि सम्यक्करणादौ सति ब्रह्म ब्राह्मणं मञ्जजातं च यथोक्तविधिना युक्तः सन्द्विजः पठेत् ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।

अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥

इमानिति ॥ इमान्वक्ष्यमाणाननध्यायान्सर्वथा यथोक्तविधिनाधीयानः शिष्याध्यापनं च कुर्वाणो गुरुर्वर्जयेत् ॥ १०१ ॥

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांससमूहने ।

एतौ वर्षाखनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

कर्णश्रव इति ॥ रात्रो कर्णश्रवणयोग्यशब्दजनके वायो वाति । गोविन्द-राजस्तु 'कर्णाभ्यामेव श्रवणोपपत्तेरतिशयविवश्या कर्णश्रव इत्युक्तं, तेनाति-शब्दवति वायो वाति' इत्यभिद्दितवान् । दिवा च भूलिपटलोत्सारणसमर्थे वायो वहति एतौ वर्षाकालेऽनध्यायौ तात्कालिकावध्यापनविधिज्ञा सुनयः कथयन्ति ॥ १०२ ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संष्ठवे । आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरत्रवीत् ॥ १०३ ॥ विद्युद्धित ॥ विद्युद्धजितवर्षेषु इन्द्रनिर्देशाद्युगपद्धपस्थितेषु महवीनां चो- रकानां संप्रव इतस्ततः पाते सति । आकालिकमिति तु निमित्तकालादारभ्या-परेद्युर्यावस्य एव कालस्तावस्पर्यन्तमनध्यायमेतेषु मनुरवोचत् ॥ १०३ ॥

# एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताप्रिषु । तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

एतानिति ॥ एतान्विद्युदादीन्यदा होमार्थं प्रकटीकृतामिकालेषु संध्याक्षणेषु युगपदुत्पन्नाञ्जानीयात्तदानध्यायं वर्षासु कुर्यान्न सर्वदा । तथानृतौ प्रादुष्कृ-तामिकालेषु मेघदर्शनमात्रे सत्यनध्यायो न वर्षासु ॥ १०४ ॥

# निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने । एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृताविष ॥ १०५ ॥

निर्घात इति ॥ अन्तरिक्षभवोत्पातध्वनौ भूकम्पे सूर्यचन्द्रतारागणानां चोपसर्गे सत्यनध्यायानिमानाकालिकाञ्जानीयात्। आकालिकशब्दार्थो न्याकृत एव । ऋतावपि वर्षासु किल भूकम्पादयो न दोषावहा इत्यभिष्रायेणर्तावपी-त्युक्तम्; 'अपि'शब्दादन्यत्रापि ॥ २०५॥

# त्रादुष्कृतेष्वप्रिषु तु विद्युत्स्तनितनिःखने । सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा॥१०६॥

प्रादुष्कृतेष्विति ॥ होमार्थं प्रकाशितेष्वप्तिषु संध्यायां सदा विद्युद्गर्जित-शब्दावेव भवतो नतु वर्षं तदा सज्योतिरनध्यायः स्यात् नाकालिकः । तत्र यदि प्रातःसंध्यायां विद्युद्गर्जितशब्दौ तदा यावत्सूर्यज्योतिस्तावदनध्यायो दि-नमात्रमेव । यदि सायंसंध्यायां तौ स्यातां तदा यावत्रक्षत्रज्योतिस्तावदनध्यायो रात्रिमात्रमिति रात्रौ स्तनितविद्युद्वर्षेष्विति त्रयाणां पूर्वोक्तानां शेषे वर्षाख्ये त्रितये जाते यथा दिवानध्यायस्तथा रात्राविष । श्रहोरात्र एवेलर्थः ॥ १०६॥

# नित्यानध्याय एव स्वाद्वामेषु नगरेषु च । धर्मनैपुण्यकामानां पूर्तिगन्धे च सर्वशः ॥ १०७ ॥

नित्यानध्याय इति ॥ नैपुण्यविषयो धर्मातिशयार्थिनो ग्रामनगरयोः सर्व-द्वानध्यायः स्थात् । कुत्सितगन्धे च सर्वस्मिन्नपि गम्यमाने धर्मनेपुण्यकामं प्रस्यं विद्यानध्यायोपदेशो विद्यानेपुण्यकामस्य कदाचिद्ध्ययनमनुजानाति । मे शिष्याः केचिद्वृहीतवेदाध्ययनजनमाद्दष्टेच्छवस्ते धर्मनेपुण्यकामाः । केचित्प्र-थमाध्येतारो विद्यातिशयमात्रार्थिनस्ते विद्यानेपुण्यकामाः ॥ १०७ ॥

# अन्तर्गतरावे ग्रामे वृषलस्य च संनिधौ ।

अन्ध्यायी स्टामाने समवाये जनस च ॥ १०८॥ अन्तर्गतेति ॥ बन्तर्गतः शवो यस्तिन्मामे ज्ञायते तत्र । वृषकोऽधार्मिक- स्तस्य संनिधौ नतु ग्रूदः । तस्य 'न ग्रूद्रजनसंनिधौ' इति निषेधात् । रुखसाने रोदनध्वनौ । भावे रुकारः । कार्यान्तरार्थं बहुजनमेरुके सत्यनध्यायः॥ १०८॥

> उंदके मध्यरात्रे च विष्म्त्रस्य विसर्जने । उच्छिष्टः श्राद्धभ्रक्चैव मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥

उद्क इति ॥ उदकमध्ये मध्यरात्रे च मुहूर्तचतुष्ट्ये च निशायां च चतु-मुंहूर्तमिति गौतमस्मरणात् । गोविन्दराजस्तु रात्रिमध्यप्रहरद्वय इंत्युक्तवान् । तथा मूत्रपुरीषोत्सर्गकालेऽन्नभोजनादिना चोच्छिष्टो निमन्नणसमयादारभ्य श्राद्धभोजनाहोरात्रं यावन्मनसापि वेदं न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेको दिँष्टस्य केतनम् । ज्यहं न कीर्तयेद्वह्य राज्ञो राहोश्च स्तुके ॥ ११० ॥

प्रतिगृह्यति ॥ एक एवोद्दिश्यते यत्र श्राह्मे तदेकोद्दिष्टं नवश्राद्धं तत्केतनं निमन्नणं गृहीत्वा निमन्नणादारभ्य क्षत्रियस्य जनपदेश्वरस्य पुत्रजन्मादिस्तके राह्मेश्च सूतकं चन्द्रसूर्योपरागः तत्र त्रिरात्रं वेदं नाधीयीत ॥ ११० ॥

> यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति । विप्रस्य विदुषो देहे ताबद्वह्य न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥

याचित्ति ॥ यावदेकसानुदिष्टस्योच्छिष्टस्य सकुङ्कमादेर्गन्धो लेपश्च बाह्यणस्य शास्त्रविदो देहे तिष्ठति तावन्सहोरात्राण्यूर्ध्वेमपि वेदं नाधी-यीत ॥ १११ ॥

> शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसिक्थकाम् । नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सतकात्राद्यमेव च ॥ ११२ ॥

श्चान इति ॥ शब्यायां पतिताङ्ग आसनारूढपादः कृतावसिन्थको वा मांसं भुक्तवा जननमरणाशौचिनां चान्नं भुक्तवा नाधीयीत ॥ ११२ ॥

> नीहारे वाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः । अमावास्थाचतुर्देश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

नीहार इति ॥ नीहारे धूलिकायां बाणशब्दे शरध्वनौ । 'बाणो वीणा-तिशेषः' इत्यन्ये । प्रातःसायंसंध्ययोरमावास्याचतुर्दशीपौर्णमास्यष्टमीख् ना-धीयीत । अष्टकासूत्तरत्र निषेधाःपौर्णमास्यादिसाइचर्यादष्टकाशब्दोऽष्टमी-तिथिपरः ॥ ११३ ॥

पाठा०-1 उदये मध्य°. 2 °हिष्टानिकेतनम्. 3 °स्पष्टमीषु च.

विशेषदोषमाह-

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी । ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यो तसात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥

अमावास्येति ॥ यसादमावास्या गुरुं हन्ति, शिष्यं हन्ति चतुर्देशी, वेदं चाष्टमीपौर्णमास्यौ विस्मारयतः, तस्मात्ता अध्ययनाध्यापनयोः परित्य-जेत् ॥ ११४ ॥

> पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा । श्राखरोष्ट्रे च रुवति पङ्को च न पठेद्विजः ॥ ११५ ॥

पांसुवर्ष इति ॥ भूलीवर्षे दिशां दाहे शृगालकुक्कुरगर्दभोष्ट्रेषु च रुवत्सु पक्को चोपविश्य प्रकृतत्वाच्छृगालश्वलरादीनामेव ब्राह्मणो न पठेत् ॥ ११५॥

नाधीयीत क्ष्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६॥

नाधीयीतेति ॥ स्मशानसमीपे, ग्रामसमीपे, गोष्ठे च, मैथुनसमयधत-वासः परिधाय, श्राद्धीयं च सिद्धान्नादि प्रतिगृह्य नाधीयीत ॥ ११६ ॥

> प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत्। तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः॥११७

प्राणि वेति ॥ श्राद्धिकमन्नादि भुक्त्वा तावदनध्यायो भवतीत्युक्तम् । श्राणि वा गवाश्वादि, अप्राणि वा वस्त्रमाल्यादि, प्रतिग्रहकाले हस्तेन गृही-त्वाऽनध्यायो भवति । यसात्पाणिरेवास्यमस्रेति पाण्यास्रो हि ब्राह्मणः स्मृतः ॥ १९७ ॥

चीरेरुपद्वते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते । आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥ चोरैरिति ॥ चोरेर्हपद्वते मामे गृहादिदाहादिक्कते भये दिव्यान्तरिक्ष-

भौमेषु चाद्भतेषुत्पातेष्वाकालिकमनध्यायं जानीयात् ॥ ११८ ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्पृतम्। अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु॥ ११९॥

उपाकर्मणीति ॥ उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रमध्ययनक्षेपणम् । उत्सर्गे पक्षिण्यहोरात्रावनध्यायात्रक्तौ तत्रायं धर्मनैषुण्यकामं प्रति त्रिरात्रीपदेशः । तथाप्रहायण्या उद्धवं कृष्णपक्षाष्ट्रमीषु तिस्षु चतस्रषु चाहोरात्रमनध्यायः । दिवाकालमात्रसद्भावेऽपि 'पौर्णमास्यष्टकासु च' (४।११३) इत्यनेन याव-

दष्टम्येवानध्याय इतराष्टमीषूक इत्यपुनरुक्तिः । ऋत्वन्ताहोरात्रेषु चान-ध्यायः॥ ११९॥

> नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्। न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ १२०॥

नाधीयितिति ॥ तुरगतरुकरिनौकाखरोष्ट्रारूढः तथोषरदेशस्थः शकटा-दियानेन गच्छन्नाधीयीत ॥ १२० ॥

> न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे। न भक्तमात्रे नाजीणें न विमत्वा न शक्तके॥ १२१॥

न विवाद इति ॥ विवादे वाक्कलहे, कलहे दण्ड्यादण्ड्यादौ, सेनायाम-प्रवृत्तवृद्धायां, संगरे युद्धे, भोजनानन्तरं च यावदाईहस्तः। 'यावदाईपाणिः' इति वसिष्ठस्मरणात् । तथाजीणेंऽन्ने, वमनं च कृत्वाम्लोद्धारे च न पटेत्॥ १२१॥

> अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् । रुधिरे च सुते गात्राच्छस्नेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अतिथिमिति ॥ अध्ययनं करोमीति यावदितिथिरनुज्ञापितो न भवति, मारुते चात्यर्थं वाति, रुचिरे च गात्रात्सुते, रुधिरस्नावं विनापि क्रास्त्रेण क्षतमात्रेऽपि नाधीयीत ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन । वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३॥

सामध्वनाविति ॥ सामध्वनौ च श्र्यमाणे ऋग्यज्ञषोः कदाचिद्ध्ययनं न कुर्यात् । वेदं च समाप्य आरण्यकाख्यं च वेदैकदेशमधीत्य तदहोरात्रे वेदान्तरं नाधीयीत ॥ १२३ ॥

> ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः । सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तसात्तसाञ्चाद्यचिर्ध्वनिः ॥ १२४॥

ऋग्वेद इति ॥ सामगानश्चतौ ऋग्यज्ञषोरनध्याय उक्तस्तसायमनुवादः । ऋग्वेदो देव एव देवतास्रेति देवदैवत्यः । यज्ञवेदो मानुषो मानुषदेवताक- व्वात् । प्रायेण मानुषकर्मीपदेशाद्वा मानुषः । सामवेदः पितृदेवताकत्वा- त्यित्र्यः । पितृकर्म कृत्वा जलोपस्पर्शनं स्परन्ति तस्मात्तसाञ्चिरिव ध्वनिः न त्यञ्चिरेव । अतस्तस्मिन्श्रयमाणे ऋग्यज्ञषी नाधीयीत ॥ १२४ ॥

#### एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् । ऋमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥

एतद्विदन्त इति ॥ एतद्वेदत्रयस्य देवमजुष्यपितृदेवताकत्वं जानन्तः शास्त्रशस्त्रणीनिष्कर्षं सारोद्धतं प्रणवन्याहृतिसावित्र्यात्मकं प्रणवन्याहृतिसावित्रीः क्रमेण पूर्वमधीत्य पश्चाद्वेदाध्ययनं कुर्युः । द्वितीयाध्यायोक्तोऽप्ययम्थाः पुनरनध्यायप्रकरणेऽभिहितः । यथैते यथोक्तानध्याया एवं प्रणवन्याहितिसावित्रीष्वपठितास्वनध्याय इति दर्शयितुं शिष्यस्याध्यापनमेवं कर्तव्य-मिति स्नातकव्रतत्वावगमार्थं च ॥ १२५ ॥

#### पश्चमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः । अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

पशुमण्डूकेति॥ पशुर्गवादिः, मण्डूकविडालकुकुरसर्पनकुलमूषकैः शिष्यो-पाध्याययोर्मध्यागमनेऽनध्यायमहोरात्रं जानीयात्॥ १२६॥

संप्रति विद्यानेपुण्यकामं प्रति पूर्वोक्तानध्यायविकल्पार्थमाह-

# द्वावेव वर्जयेनित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।

स्वाध्यायभूमि चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥१२७॥

द्वावेवेति ॥ स्वाध्यायभूमिं चोच्छिष्टाद्यमेध्योपहतां आत्मानं च यथोक्त-शौचरहितमिति द्वावेवानध्यायौ नित्यं प्रयक्षतो वर्जयेन्न तु पूर्वोक्तान् । तेषामपि यत्र नित्यप्रहणमनुवादो वा नित्यत्वख्यापको वास्ति तानपि नित्यं वर्जयेत् । अन्यत्र विकहपः ॥ १२७ ॥

## अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भवेनित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८॥

अमावास्यामिति ॥ अमावास्यादिष्तृताविष स्नातको द्विजो न स्त्रियमुप-गच्छेत् । 'पर्ववर्ज वजेचैनाम्' (११४५) इत्यनेनैव निषेधसिद्धौ स्नातक-वत्रहोपप्रायश्चित्तार्थमिह पुनर्वर्जनम् ॥ १२८॥

#### न स्नानमाचरेद्धक्ता नातुरो न महानिशि । न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥

न स्नानिमित ॥ नित्यस्नानस्य भोजनानन्तरमप्रसक्तेश्वाण्डालादिस्पर्श-निमित्तकस्य 'मुहूर्तमपि शक्तिविषये नाप्रयतः स्यात्' हत्यापसम्बस्धरणासि-वेद्धमयोग्यत्वाधद्दस्त्रानिमिदं भोजनानन्तरं निषिध्यते । तथा रोगी नैमि-क्तिकमपि स्नानं न कुर्यात् किंतु यथासामर्थ्य 'क्षशिरस्कं भवेत्सानं स्नाना-शक्ति स्वभिणाम् । सार्वेण वाससा वा स्यान्मार्जनं देहिकं विदुः' इस्यादि- जाबाला हुक्तम तुसंधेयम् । तथा 'महानिशात्र विशेषा मध्यस्थं महरद्वयम् । तिसन्सानं न कुर्वात काम्यनैमित्तिकाहते' इति देवलवचनात्त्रत्र न खायात् । वहवासाश्च नित्यं न स्नायात् । वैमित्तिकचाण्डालादिस्परें सित तु सानं बहुवाससोऽप्यनिषिद्धम् । श्राहाद्याकान्तागाधरूपतया च विशेषेणाज्ञाते जलाशये च ॥ १२९॥

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा । नाकामेत्कामतच्छायां वञ्जुणो दीक्षितस्य च ॥ १३० ॥

देवतानामिति ॥ देवतानां पाषाणादिमयीनां, गुरोः पित्रादेः, नृषतेः, स्नातकस्याचार्यस्य च । गुरुत्वेऽप्याचार्यस्य प्राधान्यविवक्षया पृथक्किदेशः । वश्रणः कपिलस्य । यज्ञे दीक्षितस्यावसृथस्नानात्पूर्वमिच्छया छायां नाकामेत् । चश्रव्याचाण्डालादीनामपि । कामत इत्यभिधानादबुद्धिपूर्वके न दोषः ॥१३०॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भ्रुक्त्वा च सामिषम् । संध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

मध्यंदिन इति ॥ दिवारात्रे च संपूर्णे प्रहरहये समासं च श्राई सुक्त्वा श्रातःसायंसंध्ययोश्च चिरं चतुष्पथं नाधितिष्ठेत् ॥ १३१ ॥

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च।

श्लेष्मिनिष्ठचूतवान्तानि नाधितिष्ठेतु कामतः ॥ १३२ ॥ उद्वर्तनिमिति ॥ उद्वर्तनमभ्यङ्गमलापकर्षणिष्टकादि अपस्नानं स्नानोदकं मृत्रपुरीषे रुधिरं च श्लेष्माणं निष्ठयूतमश्लेष्मरूपमपि चर्वितपरित्यक्तरूप-ताम्बूलादि वान्तं भुक्त्वोद्गीर्णभक्तादि एतानि कामतो नाधितिष्ठेत् । अधिष्ठानं तदुपर्यवस्थानम् ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।

अधार्मिकं तस्करं च परस्थेव च योषितम् ॥ १३२ ॥ चैरिणमिति ॥ शत्रुं तन्मित्रणमधर्मशीलं चौरं परदारांश्च न सेवेत । चौरसाधार्मिकत्वेऽप्यसन्तगर्हितत्वात्पृथिङ्गर्देशः ॥ १३३ ॥

न हीदशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते। यादशं पुरुषस्थेह परदारोपसेवनम् ॥ १३४॥

न हीह्यामिति ॥ यसादीदशमनायुष्यमिह लोके पुरुषस्य न किंचिदस्ति यादशं परदारगमनं तसादेतन्न कर्तव्यम् ॥ १३४ ॥

श्रित्रयं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत वै भूष्णुः कुशानिष कदाचन ॥ १३५ ॥
क्षित्रियमिति ॥ वृद्धश्रें भूषातुः । भूष्णुर्विष्णुः चनमवादिना वर्षन१५ म० स्ट॰

शीलः क्षत्रियं सर्पं बहुश्चतं च ब्राह्मणं नावजानीयात् । कृशानपि तत्काले व्रतीकाराक्षमान् ॥ १३५ ॥

## एतत्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्। तस्मादेतत्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

एतत्र्यमिति ॥ एतत्रयमवमानितं सदवमन्तारं विनाशयति । क्षत्रिय-सपौ दष्टशक्त्या ब्राह्मणश्चाभिचारादिनाऽदृष्टेन । तस्मात्कस्याणबुद्धिरेतश्चयं सर्वेदा नावजानीयात् ॥ १३६ ॥

## नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्रुभाम् ॥ १३७॥

नात्मानिमिति ॥ प्रथमं धनार्थमुद्यमे कृते तत्र धनानामसंपत्तिभिः 'मन्द्-भाग्योऽहम्' इति नात्मानमवजानीयात् ; किंतु मरणपर्यन्तं श्रीसिद्यर्थमुद्यमं कुर्यात् । निवमां दुर्लभां बुद्येत् ॥ १३७ ॥

## सत्यं ब्र्यात्त्रियं ब्र्यात्म ब्र्यात्सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्र्यादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

सत्यं ब्र्यादिति ॥ यथा दृष्टश्चतं तत्त्वं ब्र्यात् , तथा प्रीतिसाधनं ब्र्यात् पुत्रस्ते जात इति । यथा दृष्टश्चतमप्यप्रियं पुत्रस्ते मृत इत्यादि न वदेत् । श्वियमपि मिथ्या न वदेत् । एष वेदमूळतया नित्यो धर्मः ॥ १३८ ॥

## भद्रं भद्रमिति त्र्याद्भद्रमित्येव वा वदेत् । शुष्कवैरं विवादं च न क्रयीत्केनचित्सह ॥ १३९ ॥

भद्गमिति ॥ प्रथमं 'भद्ग'पदमभद्गपद्गपरम् , द्वितीयं भद्गशब्दपर्यायपरम् , अभद्गं यत्तद्वद्गश्वद्गयायपरं प्रशस्तादिशब्देन प्रश्नूयात् । तथा चापस्तम्बः-'नाभद्गमभदं ब्र्यास्पुण्यं प्रशस्तामिति ब्र्याद्वद्गमित्येव' इति । भद्रपद्मेव वा तत्र योज्यम् । शुष्कं निष्प्रयोजनं वैरं विवादं न केनचित्सह कुर्यात् ॥१३९॥

#### नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते । नाज्ञातेन समं गच्छेनैको न वृष्ठैः सह ॥ १४०॥

नातिकल्यमिति ॥ उषःसमये प्रदोषे च दिवा संपूर्णप्रहरद्वये च अज्ञात-कुल्ड्यीलेन पुरुषेण शूद्धेश्च सह न गच्छेत् । 'नैकः प्रपर्धताध्वानम्' (४१३०) इत्युक्ते प्रतिषेधेऽपि पुनर्नैक इति प्रतिषेधः स्नातकवतलोपप्राय-श्चित्त्वारिवार्थः ॥ १४०॥ हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् । रूपद्रव्यविहीनांश्र जातिहीनांश्र नाक्षिपेत् ॥ १४१॥

. हीनाङ्गानिति ॥ हीनाङ्गाधिकाङ्गमूर्खेत्रद्धकुरूपार्थहीनहीनजातीन् काण-शब्दाह्वानादिना न निन्देत् ॥ १४१ ॥

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोत्राह्मणानलान् ।

न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि ॥१४२॥ न स्पृशेदिति ॥ कृतभोजनः कृतमृत्रपुरीषादिश्चाकृतशौचाचमनो ब्राह्मणो इस्तादिना गोबाह्मणाभीन स्पृशेत् । न चाशुचिः सन्नातुरो दिविस्थान्सर्थ-

चन्द्रप्रहादिज्योतिर्गणान् पश्येत् ॥ १४२ ॥

स्पृष्ट्वेतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् । गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३॥

स्पृष्ट्वैतानिति ॥ एतान्गवादीनश्चित्वः सन्स्पृष्ट्वा कृताचमनः पाणिना गृहीताभिरद्धिः प्राणांश्रक्षरादीनीन्द्रियाणि शिरःस्कन्धजानुपादाक्वाभि च स्पृशेत् । अप्रकरणे चेदं प्रायश्चित्ताभिधानं लाधवार्थम्, तत्र प्रकरणे गवादि-प्रहणमपि कर्तव्यं स्वात् ॥ १४३ ॥

अनातुरः खानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः । रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥ अनातुर इति ॥ अनातुरः सन्स्वानि खानीन्द्रियच्छिद्राणि रोमाणि च गोप्यान्युपस्थकक्षादिगतानि निर्निमित्तं न स्पृशेद ॥ १४४ ॥

> मङ्गलाचारयुक्तः स्थात्त्रयतात्माः जितेन्द्रियः । जपेच जुहुयाचैव नित्यमग्रिमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥

मङ्गलाचारयुक्तः स्यादिति ॥ अभिप्रेतार्थसिद्धिर्मङ्गलं तद्वेतुत्वेन गोरो-चनादिधारणमपि मङ्गलम् । गुरुसेवादिकमाचारस्त्रत्रोद्यकः स्यात् । बाद्याभ्यन्तरशौचोपेतो जितेन्द्रियश्च भवेत् । गायन्यादिजपं विहितहोमं च नित्यं कुर्यात् । अतन्द्रितोऽनलसः । अत्राचारादीनामुक्तानामपि विनिपातनिवृत्त्यर्थत्वात्पुनरभिधानम् ॥ १४५ ॥

अत आह—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् । जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥ मङ्गलाचारयुक्तानामिति ॥ मङ्गलाचाराभ्यां युक्तानां नित्यं ग्रुचीनां जपहोमरतानां दैवमानुषोपद्रवो न जायते ॥ १४६ ॥ वेदंमेव जपेनित्यं यथाकालमतिन्द्रतः । तं ह्यस्याहुः परं धर्मग्रुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७॥

वेदमेवेति ॥ निस्रकृत्यावसरे श्रेयोहेतुतया प्रणवगायन्यादिकं वेदमेवा-नलसो जपेत्; यसात्तं ब्राह्मणस्य श्रेष्टं धर्मं मन्वादयो वदन्ति । अन्यः पुन-स्रतोऽपकृष्टो धर्मो मुनिभिरुच्यते । उक्तस्यव वेदाभ्यासादेः पूर्वजातिस्मरण-द्वारेण मोक्षहेतुत्वं वदितुं पुनरभिधानम् ॥ १४७ ॥

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसेव च । अद्रोहेण च भूतानां जातिं सारति पौर्विकीम् ॥ १४८॥ वेदाभ्यासेनेति ॥ सततवेदाभ्यासशौचतपोऽहिंसाभिः पूर्वभवस्य जातिं समति ॥ १४८॥

ततः किमत भाइ—

पौर्विकीं संसरज्ञातिं ब्रह्मैवाभ्यस्यते पुनः । ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्रुते ॥ १४९ ॥

पौर्विकीमिति ॥ पूर्वजातिं सारन् । जातिमित्येकत्वमनाकाङ्क्षितत्वादि-विक्षितम् । बहुनि जन्मानि सारंस्तेषु च गर्भजन्मजरामरणदुःखान्यपि सारन् संसारे विरज्यन् बहीवाजसमभ्यस्यति श्रवणमननध्यानैः साक्षात्करोति, तेन चानन्तमविनाशि परमानन्दाविर्भावस्थणं मोक्षसुखं श्रामोति ॥ १४९ ॥

सावित्राञ्छान्तिहोमांश्र कुर्यात्पर्वसु नित्यशः ।

पितृंश्वेवाष्टकास्वचें कित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥

सावित्रानिति ॥ सावित्रीदेवताकान्होमानिष्टिनिवृत्त्यर्थे च शान्तिहोमान् पौर्णमासमावास्ययोः सर्वदा कुर्यात् । तथा आग्रहायण्या अर्ध्वं कृष्णाष्टमीषु तिस्यु चाष्टकास्येन कर्मणा श्राद्धेन च तदन्तिरितकृष्णनवमीषु चान्वष्टका-स्येन परलोकगतान्पिवृन्यजेत् ॥ १५० ॥

द्रादावसथान्मूत्रं द्रात्पादावसेचनम् । उच्छिष्टात्रनिषेकं च द्रादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

दूरादावसथादिति ॥ 'नैर्ऋलामिषुविक्षेपमतीलाभ्यधिकं भुवः' इति विष्णुपुराणवचनादेवंविधादिमगृहस्य दूरानमृत्रपुरीषपादमक्षालनसकलो-विष्णुपुराणवचनादेवंविधादिमगृहस्य दूरानमृत्रपुरीषपादमक्षालनसकलो-विष्णुषुत्रानि तिषिच्यत इति निषेकं रेतस्रोत्सजेत् ॥ १५१ ॥

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वीक्ष एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥
मैत्रमिति ॥ मित्रदेवताकत्वान्मैत्रः पायुस्तक्रवत्वान्मैत्रं प्रीषोत्सर्गम् ।
पाटा०—1 वेदमेवाभ्यसेकित्यं. 2 °भ्यसते.

तथा देहप्रसाधनं प्रातःस्नानदन्तधावनाञ्जनदेवार्चनादि पूर्वाह्क एव कुर्यात्। 'पूर्वाह्न'शब्देन रात्रिशेषदिनपूर्वभागाविह विवक्षितौ। पदार्थमात्रविधिपरस्वा-चास्य पाठकमोऽपि नादरणीयः। नहि स्नानानन्तरं दन्तधावनम्॥ १५२॥

दैवतान्यभिगच्छेत्त धार्मिकांश्व द्विजोत्तमान् । ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

दैवतानीति ॥ पाषाणादिमयानि धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणात्रक्षार्थं राजादिकं गुरुश्च पित्रादीनमावास्यादिपर्वसु दृष्टुमभिमुखो गच्छेत् ॥ १५३ ॥

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याचैवासनं स्वकम् । कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

अभिवाद्येदिति ॥ गृहागतान्गुरूनभिवादयेत् । तेषां च स्वीयमासन-सुपवेष्टुं च द्यात् । बद्धाञ्जलिश्च गुरुसमीप आसीत । गच्छतश्च पृष्ठदेशेऽनु-गच्छेत् । उक्तोऽप्ययमभिवादनाद्याचारः फलाभिधानाय पुनरुच्यते॥१५४॥

> श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्गिबद्धं खेषु कर्मसु । धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितामिति ॥ वेदस्मृतिभ्यां सम्यगुक्तं स्त्रेषु कर्मस्वध्ययनादि-ध्वक्रत्वेन संबद्धं धर्मस्य हेतुं साधूनामाचारमनलसः सन्नितान्तं सेवेतेति सामान्येनाचारानुष्ठानीपदेशः फलकथनाय ॥ १५५ ॥

आचाराह्मभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।

आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

आचारादिति ॥ भाचाराहेदोक्तमायुर्छमते, अभिमताश्च प्रजाः पुत्रपौत्र-दुहित्रात्मिकाः, प्रभूतं च धनं, अशुभफलसूचकं च देहस्थमलक्षणमाचारो निष्फलयति । भाचाराष्यधर्मणालक्षणसूचितारिष्टनाशात् ॥ १५६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।

दुःखभागी च सत्ततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७॥ दुराचारो हीति॥ यसादुराचारः पुरुषो लोके गर्हितः सात्सवदा दुःखा-न्वितो रोगवानल्पायुश्च भवति तसात्सदाचारयुक्तः स्वात्॥ १५७॥

> सर्वेळक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवानरः । श्रद्धानोऽनस्यश्र शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

सर्वेळक्षणहीनोऽपीति ॥ यः सदाचारवान्त्रद्धान्वतः परदोषानीम-भाता स ग्रुभस्चकळक्षणज्ञून्योऽपि सतायुभेति ॥ १५८॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्। यद्यदात्मवशं तु स्थात्तत्तत्तेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥

यद्यत्परेति ॥ यद्यकर्म पराधीनं परप्रार्थनादिसाध्यं तत्तद्यवतो वर्जयेत । यद्यत्स्वाधीनदेहन्यापारसाध्यं परमात्मग्रहादि तत्तद्यवतोऽनुतिष्ठेत् ॥ १५९॥ अत्र हेतुमाह-

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् । एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥ सर्वे परवरामिति ॥ सर्वे परप्रार्थनादिसाध्यं दुःखहेतुः । सर्वेमात्माधीनं सुबहेतुः । एतत्सुखदुःखयोः कारणं जानीयात् ॥ १६०॥

> यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्थात्परितोषोऽन्तरात्मनः । तत्प्रयतेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥

यत्कर्म क्वित इति ॥ यत्कर्म कुर्वतोऽस्यानुष्ठातुः पुरुषस्यान्तरात्मन-स्तुष्टिः स्यात्तत्प्रयत्नतोऽनुष्टेयम् । अतुष्टिकरं वर्जयेत् । एतचाविहितानिषिद्ध-गोचरं वैकल्पिकविषयं च ॥ १६१ ॥

> आचार्यं च प्रवक्तारं पित्रं मात्रं गुरुम्। न हिंस्याह्राह्मणान्गाश्च सर्वाश्चेव तपस्विनः ॥ १६२ ॥

आचार्य चेति ॥ भाचार्यमुपनयनपूर्वकवेदाध्यापकं, प्रवक्तारं वेदार्थव्या-ख्यातारं, गुरुं 'अरुपं वा बहु वा यस्य' (२।१४९) इत्युक्तम् । आचार्यादींस्तु न हिंसात् । प्रतिकृष्णचरणेऽत्र 'हिंसा'शब्दः । गोविन्दराजस्तु सामान्वेन हिंसानिवेधादाततायिनोऽप्येतास हिंसादिति व्याख्यातवान्; तद्युक्तम् । 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' (८।३५०) इत्यनेन विरोधात्॥ १६२॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्। द्वेषं देममं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥१६३॥ नास्तिक्यमिति ॥ नास्ति परलोक इति बुद्धि, वेदानां देवतानां च निन्दां, मात्सर्यं धर्मानुत्साहाभिमानकोपकौर्याणि त्यजेत् ॥ १६३ ॥

्परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रद्धो नैर्वं निपातयेत । े अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेतु तौ ॥ १६४ ॥

परस्य दण्डमिति ॥ परस्य इननार्थं कुद्धः सन्दण्डादि नोरिक्षपेत् । नच परगात्रे निपातयेत्पुत्रशिष्यभार्यादासादेरन्यत्र । कृतापराश्रानेतानतुशासनार्थं 'रजवा वेणुद्छेन वा' (८।२९९) हत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारेण ताडवेत् ॥१६॥॥

पाठा०-1 स्तंभं (=अहंकारवशादनमृत्वं ).

ब्राह्मणायावग्र्येव द्विजातिर्वधकाम्यया । शतं वर्षाण तामिसे नरके परिवर्तते ॥ १६५॥

ब्राह्मणायेति ॥ द्विजातिरपि ब्राह्मणस्य हननार्थं दण्डादिकमुद्यस्यैव नतुः निपास, वर्षशतं तामिस्नादिनरके परिश्रमति ॥ १६५ ॥

ताडियत्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम्।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते।। १६६॥

ताडियत्वा तृणेनापीति ॥ तृणेनापि क्रोधाहुि दूर्वकं ब्राह्मणं ताड-यित्वा एकविंशतिजन्मानि पापयोनिषु कुकुरादियोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

> अयुध्यमानस्थोत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः । दुःखं सुमहदामोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥ १६७॥

अयुध्यमानस्पेति ॥ अयुध्यमानस्य ब्राह्मणसाङ्गे शास्त्रानभिज्ञतया शोणितमुत्पाद्य परलोके महदुःखमामोति ॥ १६७ ॥

> शोणितं यावतः पांग्रन्संगृह्णाति महीतलात् । तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥ १६८॥

शोणितमिति ॥ खड्डादिहतबाह्यणाङ्गनिर्गतं रुधिरं भूमिपतितं यावतो धुलिद्यणुकान्पिण्डीकरोति तावरसंख्यानि वर्षाणि परलोके शोणितोत्पादकः प्रहर्ता अन्यैः श्वसृगालादिभिभेक्ष्यते ॥ १६८ ॥

न कदाचिद्विजे तसाद्विद्वानवगुरेदि । न ताडयेचुणेनापि न गात्रात्स्रावयेद्सृक् ॥ १६९ ॥

न कदाचिदिति ॥ तसादवगोरणादिदोषाभिज्ञो ब्राह्मणे दण्डाद्यु-द्यमननिपातरुधिरस्रवणानि नापद्यपि कुर्यादिति पूर्वोक्तित्रयात्रयस्योप-संहारः॥ १६९॥

> अधार्मिको नरो यो हि यस चाप्यनृतं धनम्। हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासी सुखमेधते ॥ १७० ॥

अधार्मिक इति ॥ अधर्मेण व्यवहरतीत्यधार्मिकः शास्त्रप्रतिषिद्धागम्या-गमनाचनुष्ठाता यो मानुषः, यस्य च साक्ष्ये व्यवहारनिर्णयादौ च मिथ्याभि-धानमेव धनोपायोऽसत्यमभिधायोत्कोचधनं गृह्धाति, यश्च परहिंसाभिरतो नासाविह लोके सुखयुक्तो वर्तते । तसादितन्न कर्तव्यमिति निन्द्या निषेधः कल्यते ॥ १७० ॥

पाठा०-1 हिंसारतिश्व.

#### न सीदन्तपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् । अधार्मिकाणां पापानामाश्च पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥

न सीदन्नपीति ॥ शास्त्रविहितमजुतिष्ठन्धनाद्यभावेनावसीदन्नपि कदाचि-न्नाधर्मे बुद्धिं कुर्यात् । यसादधर्मन्यवहारिणो यद्यप्यापाततो धनादिसंपद्धा-गिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तेषामधार्मिकाणामधर्मचौर्यादिन्यवहारिणां पापिनां तज्जनितदुरितशालिनां शीघं धनादिविपर्ययोऽपि दृश्यते । तं पश्यक्षाधमें धियं दद्यादिति शिष्यहिताय दृष्टमर्थं द्शितवान् ॥ १७३ ॥

> नाधर्मश्रिरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। र्घनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि क्रन्ति ॥ १७२ ॥

नाधर्म इति ॥ शास्त्रेणानियमितकालपरिपाकत्वाच्छुभाशुभकर्मणां नाध-मों इन्तिष्ठतः तत्काल एव फलति गौरिव । इह भूमिपक्षे साधर्म्यदृष्टान्तः । यथा भूमिरुप्तवीजमात्रा तदैव प्रचुरपचेलिमफलबीहिस्तबकसंवलिता न भवति किंतु नियमफलपाकसमयमासाद्य । पञ्जपक्षे वैधर्म्यदृष्टान्तः । यथा गौः पञ्ज-र्वाहदोहाभ्यां सद्यः फलति नैवमधर्मः किंतु क्रमेणावर्तमानः फलोन्मुखी-भवन्नधर्मकर्तुर्मूळानि छिनत्ति । मूळच्छेदेन सर्वनाशो लक्ष्यते । देहधनाद्यन्वितो नइयति ॥ १७२ ॥

# यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नमृषु ।

न त्वेव तु कृतो धर्मः कर्तुभैवति निष्फलः ॥ १७३ ॥

यदीति ॥ यदि स्वयं कर्तुर्देहधनादिनाशं फलं न जनयति तदा तत्पुत्रेषु, नो चेत्पीत्रेषु जनयति, नतु निष्फल एव भवति । नतु धन्यकृतस्य कर्मणः कथमन्यत्र फलजनकत्वम् ? उच्यते,-पुत्रादिनाशस्य पितुः द्वेशहेतुत्वाच्छा-स्त्रीयत्वाश्वास्यार्थस्य नाविश्वासः ॥ १७३ ॥

#### अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।

ततः सपताञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४॥

अधर्मेणेति ॥ अधर्मेण परदोहादिना तावदापाततो यामधनादिना वर्धते । ततो भद्राणि बहुभृत्यगवाश्वादीनि लभते । ततः शत्रून्खस्मादप-कृष्टाञ्जयति । पश्चात्कियता कालेनाधर्मपरिपाकवशादेहधनतनयादिसहितो किनक्यति ॥ १७४ ॥

## सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।

शिष्यांश्र शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहृदरसंयतः ॥ १७५ ॥ सत्यधर्मार्यवृत्तेष्विति ॥ सत्यधर्मसदाचारशीचेषु सर्पदा रति इत्यदि । शिष्यांश्रानुशासनीयानभार्यापुत्रदासच्छात्रान् 'रजवा बेणुद्रहेन वा' (८।२९९)

पाठा०-1 शनैरावर्लमानस्त.

इति प्रकारेण शासयेत् । उक्तानामप्यभिधानादादरार्थं वाग्वाहृदरसंयतश्च स्वात् । वाक्संयमः सत्यभाषिता । बाहुसंयमो बाहुबळेन कस्याप्यपीडनम् । उदरसंयमो यथालब्धाल्यभोजनम् ॥ १७५ ॥

> परित्यजेदर्थकामौ यौ स्थातां धर्मवर्जितौ । धर्म चाप्यसुखोदकं लोकविकुष्टमेव च ॥ १७६॥

परित्यजेदिति ॥ यावर्थकामौ धर्मविरोधिनौ भवेतां तौ परिहरेत् । यथा चौर्यादिनार्थोपपादनं, दीक्षादिने यजमानस्य पत्युपगमः, उद्दर्भ उत्तरकालः, तत्रामुखं यत्र धर्मे तं धर्ममपि परित्यजेत् । यथा पुत्रादिवर्गपोष्ययुक्तस्य सर्वस्वदानम् । लोकविकुष्टं यत्र लोकानां विकोद्यः, यथा कलौ मध्यमाष्टका-दिषु गोवधादिः ॥ १७६ ॥

> न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः। न स्याद्वाक्चपलश्रेव न परद्रोहकर्मधीः॥ १७७॥

न पाणिपादचपल इति॥ पाण्यादिचापलं स्रजेत् । अनुपयुक्तवस्तूपा-दानादि पाणिचापलम् । निष्पयोजनं अमणादि पादचापलम् । परक्षिप्रेक्षणादि नेत्रचापलम् । बहुगर्झवादिता वानचापलम् । अनुजः कुटिलो न स्यात् । पर-द्रोहो हिंसा तद्ये चेष्टां थियं च न कुर्यात् ॥ १७७ ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्ग तेन गच्छन्न रिहैयते ॥ १७८ ॥
येनेति ॥ बहुविधशास्त्रार्थसंमवे पितृपितामहाद्यनुष्ठित एव श्वास्त्रार्थोऽनुष्ठातच्यः । तेन गच्छन्न रिच्यते नाधमेण हिंस्यते ॥ १७८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वेद्यैज्ञीतिसंबन्धियान्धवैः ॥ १७९ ॥ मातापितृभ्यां जामीभिश्रीत्रा पुत्रेण मार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

ऋत्विगिति वचनद्वयम् ॥ ऋत्विगादिभिर्वाक्कहं न कुर्यात् । शान्त्यादि-कर्ता पुरोहितः । संश्रिता अनुजीविनः । ज्ञातयः पितृपक्षाः । संबन्धिनो जामा-तृशालकादयः। बान्धवा मातृपक्षाः। जामयो भगिनीस्रुषाद्याः ॥१७९-१८०॥

> एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते । एभिर्जितैश्र जयति सर्वाह्रोकानिमान्गृही ॥ १८१ ॥

्रतेरिति ॥ एतैर्ऋत्विगादिभिः सह विवादान्परिस्रज्याज्ञातपापैः प्रमुच्यते । तथैतैर्विवादैरुपेक्षितैरिमान्वक्ष्यमाणान्सर्वलोकान् गृहस्थो जयति ॥ १८१ ॥

पाठा०-1 लोकसंकुष्टमेव च. 2 रिष्यति.

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभः । अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥

आचार्य इति ॥ आचार्यो ब्रह्मलोकस्य प्रभुः । तेन सह विवादपरित्यागेन तरसंतुष्ट्या तु ब्रह्मलोकप्राप्तिगौंणं ब्रह्मलोकेशत्वम् । एवं प्राजापत्यलोकेशः प्राजापत्ये पिता च प्रभुः । अतिथिरिन्द्रलोकेशः । देवलोकस्य च ऋत्विजः । एवमुत्तरत्रापि तत्तल्लोकेशत्वं बोद्ध्यम् ॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य वान्यवाः । संवन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥ जामय इति ॥ अप्सरसां लोके जामयः प्रभवन्ति । वैश्वदेवलोके बान्धवाः । वरुणलोके संबन्धिनः । भूलोके मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

> आकाशेशास्तु विज्ञेया वालवृद्धकुशातुराः । भ्राता ज्येष्टः समः पित्रा भार्या पुत्रः खका तनुः ॥१८४॥

आकारोशास्त्वित ॥ कृशः कृशधनः, संश्रितो विवक्षितः । बालवृद्ध-संश्रितातुरा अन्तरिक्षे प्रभवन्ति । श्राता च ज्येष्टः पितृतुस्यः तसात्सोऽपि प्रजापतिलोकप्रभुः । भार्यापुत्रौ च स्वशरीरमेव, अतः कथमात्मनैव सह विवादः संभवति ॥ १८४ ॥

> छीया खो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् । तसादेतरिधिक्षिप्तः सैहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

छायेति ॥ स्वदासवर्गश्च नित्यानुगतत्वादात्मच्छायेव न विवादाईः । दुहिता च परं कृपापात्रम् । तसादेतैरधिक्षिप्तः सन् असंतापः सहेत नतु विवदेत् ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् । प्रतिग्रहेण द्यस्याशु त्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

प्रतिग्रहस्मर्थोऽपीति ॥ विद्यातपोवृत्तसंपन्नतया प्रतिग्रहेऽधिकार्थपि तन्न पुनःपुनः प्रवृत्तिं त्यजेत्। यस्मात्मतिग्रहेणास्य वेदाध्ययनादिनिमित्तप्रभावः श्रीप्रमेव विनश्यति। 'यात्रामात्रप्रसिद्धर्थम्' (४।३)इत्युक्तेऽपि सामान्येनार्जन-संकोचे विशेषेण प्रतिग्रहस्य ब्राह्मप्रभावप्रशमनफङ्क्ष्यकथनार्थं वचनम् १८६

न द्रव्याणामविज्ञाय विधि धर्म्य प्रतिग्रहे । प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्याद्वसीदन्निप क्षुधा ॥ १८७ ॥ न द्रव्याणामिति ॥ दृष्याणां प्रतिग्रहे धर्माय हितं विधानं ग्राह्यदेवता- प्रतिग्रहमञ्जादिकमज्ञात्वा क्षुधावसादं गच्छन्नपि प्राज्ञो न प्रतिगृद्धीयार्कि पुनरनापदि ॥ १८७ ॥

हिरण्यं भूमिमश्वं गामत्रं वासिस्तलान्घृतम्। प्रतिगृह्णत्रविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥

हिरण्यमिति ॥ स्वर्णादीन्श्रुतस्वाध्यायहीनः प्रतिगृह्णन्निसंयोगेन दारु-वद्गस्मीभूतो भवति पुनरुत्पत्तिं न लभते ॥ १८८॥

हिरण्यमायुरनं च भूगों शाप्योपतस्तनुम् ।

अश्वश्रुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥

हिरण्यमिति ॥ अविदुषः प्रतिप्रहीतुर्भूगौंश्च शरीरं ओषतो दहतः । 'उष दाहे' भौवादिकस्तस्तेदं रूपम् । भूगवोद्धित्वविवक्षया द्विवचनम् । एवं हिरण्यमन्नं चायुरोषतः । अश्वश्चश्चरित्यादिषु विभक्तिविपरिणामात् 'ओषति' इत्येकवचनान्तस्यानुषङ्गः ॥ १८९ ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिद्विजः। अम्भस्यश्मप्रवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९०॥

अतपास्त्विति ॥ यस्तपोविद्याश्चन्यः प्रतिप्रहेच्छुः ब्राह्मणो भवति स प्रतिप्रहाविनाभावाहु दिस्थेन तेन इति परामृष्टेनैव दान्नैवानईप्रतिप्रहादान-पापयुक्तेन सह नरके मज्जिति । यथा पाषाणमयेनोडुपेनाम्भस्तरंस्तेनैव सहा-म्भसि मन्नो भवति ॥ १९० ॥

तसाद्विद्वान्विभयाद्यसात्तसात्प्रतिप्रहात्। स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीद्ति ॥ १९१॥

तस्माद्विद्वानिति ॥ यस्माद्सावल्पद्रव्यप्रतिप्रहेणापि मूर्खः पङ्के गौरिव गरके निमग्नो भवति, तस्माद्यतःकुतिश्चत्सिवर्णादिव्यतिरिक्तसीसकाद्यसारप्रति-प्रहादपि त्रस्येत् ॥ १९१ ॥ प्रतिप्रहीत्वर्धमेमभिषायाधुना दातुराह—

> न वार्यपि प्रयच्छेतु बैडालव्रतिके द्विजे । न वक्रवृतिके विषे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

न वार्यपीति ॥ वायसादिभ्यो यद्दीयते तद्दिष वैडालव्यतिकेभ्यो धर्मज्ञो न द्वादित्यतिशयोत्तया द्वयान्तरदानं निषिध्यते नतु वारिदानमेव । 'पाष-ण्डिनो विकर्मस्थान्' (४।३०) इत्यनेन वैडालव्यतिकायातिथित्वेन सत्कृतार्थ-दानादि निषिद्म; इह तु धनदानं निषिध्यते । अत एव 'विधिनाप्यर्जितं धनं' (४।१९३) इति वक्ष्यति । नावेदविदीति वेदार्थानभिन्ने । एतच विद्वत्संभवे नावेदविदीति निषध्यते ॥ १९२ ॥

## त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् । दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥

त्रिष्वपीति ॥ एतेषु त्रिष्वपि वैडालव्यतिकादिषु न्यायार्जितमपि धनं दत्तं दः प्रतिग्रहीतुश्च परलोके नरकहेतुत्वादनर्थाय भवति ॥ १९३ ॥

यथा प्रवेनौप्लेन निमज्ञत्युदके तरन् ।

तथा निमञ्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

यथा प्रवेनेति ॥ यथा पाषाणमयेनोडुपादिना जले तरंस्तेनैव सहाधो छति एवं दानप्रतिप्रहशास्त्रानभिज्ञौ दातृप्राहकौ नरकं गच्छतः । 'अतपा-द्विधीयानः' (४।१९०) इति प्रतिग्रहीतृप्राधान्येन निन्दोक्ता, इह तु इमाधान्येनेत्यपुनरुक्तिः ॥ १९४॥

धर्मध्वजी सदा छुब्धश्छाबिको लोकदम्भकः।

बेडालविति शेयो हिंसः सर्वाभिसंधर्कः ॥ १९५॥ धर्मध्वजीति ॥ यो बहुजनसमक्षं धर्ममाचरति स्वतः परतश्च लोके गापयित तस्य धर्मो ध्वजं चिद्धमिवेति धर्मध्वजी । छुब्धः परधनाभिला- इः । छश्चना व्याजेन चरतीति छान्निकः । लोकदम्भको निसेपापहारादिना नवस्रकः । हिंसः परहिंसाशीलः । सर्वाभिसंघकः परगुणासहनतया सर्वा- एकः । विडालवितेन चरतीति वैडालवितकः । विडालो हि प्रायेण मृषिका- हिंसारुचितया ध्याननिष्ठ इव विनीतः सञ्चविष्ठते इत्युपचारात् 'विडान् व्रत'शब्दः ॥ १९५॥

अधोद्दष्टिर्नेष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः । भुठो मिथ्याविनीतश्च वकत्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

कियोदिष्टिरिति ॥ अघोदिष्टिनिजविनयख्यापनाय सततमध एव निरीक्षते। तेष्कृतिर्निष्ठरता, तथा चरतीति नेष्कृतिकः। स्वार्थसाधनतत्परः परार्थसण्ड-नेन, राठी वकः। मिथ्याविनीतः कपटविनयवान्। बकवतं चरतीति बकवत-बरः। बको हि प्रायेण मीनहननरुचितया मिथ्याविनीतः सन्नेवंशीलो भव-तीति ग्राणो 'बकवत'शब्दः॥ १९६॥

> ये वकत्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः। तै पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७॥

ये बक्जितिन इति ॥ ये वक्जितं विडालवतं चरन्ति ते बाह्मणासेन क्षित्वन्ना कर्मणान्धतामिस्ननाम्नि नरके पतन्ति ॥ १९७ ॥

—1 असाप्रे-'यस धर्मचजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छितः। प्रच्छन्नानि नि बैडालं नाम तद्रतम् ॥' इति श्लोकः क्वचिल्लभ्यते । न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्। व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्स्रीश्रुद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥

न धर्मस्येति ॥ पापं इत्वा प्रायश्चित्तरूपं प्राजपत्यादिवतं, पापमपनयति इति तन्नेदं प्रायश्चित्तं, किंतु 'धर्मार्थमहमनुतिष्टामि' इति खीशूद्रमूर्खादिजन-मोहनं कुर्वन्नानुतिष्ठेत् ॥ १९८॥

प्रेत्येह चेहशा विष्रा गई। ने ब्रह्मवादिभिः। छद्मना चरितं यच व्रतं रक्षांसि गच्छति॥ १९९॥ अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिम्रुपजीवति। स लिङ्गिनां हरत्येनस्तियेग्योनौ च जायते॥ २००॥

प्रेत्येहेति ॥ श्लोकद्वयं प्रथमं सुबोधम् । सब्रह्मचारी यो ब्राह्मणो ब्रह्म-चर्यादिलिङ्गं मेखलाजिनदण्डादिवेषोपलक्षितस्तृह्या भिक्षाश्रमणादिना जी-वित स ब्रह्मचार्यादीनां यत्पापं तदात्मन्याहरति । कुक्रुरादितिर्ययोनौ चो-त्पचते । तसादेतन्न कर्तन्यमिति निषेधः कल्प्यते ॥ १९९-२०० ॥

परकीयिनिपानेषु न स्तायाच कदाचन।

निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥

परकीयेति॥ निपानं जलाधारः। परकृतपुष्करिण्यादिषु न कदाचित्स्नायात् ; तत्र स्नात्वा पुष्करिण्यादिकर्तुर्यत्पापं तस्यांशेन वश्यमाणचतुर्थभागरूपेण संबध्यते । अकृत्रिमनद्याद्यसंभवे परकृतेऽपि पुष्करिण्यादौ भाक्पदानात्पञ्च पिण्डानुद्धत्य स्नातव्यम्। तदाह याज्ञवल्क्यः (आचार. ६।१५९) 'पञ्च पिण्डा-ननुद्धत्य न स्नायात्परवारिषु । उद्धत्य चतुरः पिण्डान्पारक्ये स्नानमाचरेत् ॥ स्नात्वा च तर्पयेदेवान्पितृंश्चैव विशेषतः'॥ २०१॥

> यानश्रय्यासनान्यस्य कूपोद्यानग्रहाणि च । अँदत्तान्युपयुज्जान एनसः स्यात्तरीयभाक् ॥ २०२ ॥

यानश्चायेति॥ अस्पेति प्रकृतः पुनः परामृश्यते । परस्य यानादीन्यदृत्ता-न्युपर्युक्षानस्तदीयपापचतुर्थभागभागी भवति । अदत्तानीति परस्यानुमत्य-भावश्च विवक्षितः । तेक सर्वाधीत्सृष्टमठकूपादानुपयोगार्थात्मस्नानादी न विरोधः॥ २०२॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेत्रित्यं गर्तप्रस्वणेषु च ॥ २०३॥ नदीष्विति ॥ नवादिषु सर्वदा स्नानमाचरेत् । देवखातेष्विति तडाग-

पाठा०—1 ब्रायाद्धि. 2 अदत्तान्युपभुजानः.

१६ म० स्पृ०

विशेषणम् । देवसंबन्धित्वेन प्रसिद्धेषु सरःसु गर्तेष्वष्टधनुःसहस्रेभ्यो न्यूनगतिषु । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—'धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते ।
न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ताः परिकीर्तिताः ॥' चतुईस्तप्रमाणं धनुः । प्रस्रवणेषु निर्क्षरेषु चानेनैव परकीयनिपानव्यावृत्तिसिद्धौ यत्पृथग्वचनं तदात्मीयोस्सप्टतडागादिषु स्नानाद्यनुत्तानार्थं, तद्पि नदाद्यसंभवे द्रष्टव्यम् ॥ २०३ ॥

# यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः। यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४॥

यमानिति ॥ नियमापेक्षया यमानुष्ठानगौरवज्ञापनार्थमिदं नतु नियमनिषेधार्थम् । द्वयोरेव शास्त्रार्थत्वात् । यमनियमविवेकश्च मुनिभिरेवं कृतः ।
तदाह याज्ञवल्क्यः (प्रायः ५।३१२-१३) 'ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिध्यांनं सत्यमकक्कता । अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ स्नानं मौनोपवासेव्यास्त्राध्यायोपस्थनियहाः । नियमो गुरुग्धश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता' ॥ यमनियमस्वरूपज्ञः समस्त्रस्नानादिनियमत्यागेनाप्यहिंसादिरूपं यममनुतिष्ठेत् ।
नियमाननुतिष्ठन्तपि यमानुष्ठानरिहतः पततीत्ययं यमस्तुत्यर्थं आरम्भ इति ॥
मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु हिंसादिप्रतिषेधार्थका यमाः, 'वेदमेव जपेन्नित्यम्'
(४।१४७) इत्यादयोऽनुष्ठेयरूपा नियमा इति च्याचक्षाते । 'अहिंसा सत्यचचनं ब्रह्मचर्यमक्कता । अस्तेयमिति पञ्चेते यमा वै परिकीर्तिताः ॥ अक्रोधो
गुरुग्धश्रूषा शौचमाहारलाववम् । अप्रमादश्च सततं पञ्चेते नियमाः स्मृताः'॥

#### नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।

स्त्रिया क्वीबेन च हुते भुद्धीत त्राह्मणः कचित् ॥ २०५ ॥ नाश्रोत्रियेति ॥ धनधीतवेदेनोपकान्ते यज्ञेऽश्लीषोमीयादृर्ध्वमिष मोजन-योग्यसमये ब्राह्मणो न भुज्ञीत । तथा बहूनां याजकेन ऋत्विजा स्त्रिया नपुंसकेन च यत्र यज्ञे हुयते तत्र कदाचित्र भुज्ञीत ॥ २०५ ॥

> अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्बत्यमी हविः । प्रतीपमेतदेवानां तसात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

अश्रीकमिति ॥ पूर्वोक्ता बहुयाजकादयो यत्र होमं कुर्वन्ति तत्कर्म शिष्टा-नामश्रीकमश्रीकं श्रीक्षम् । रेफस्य स्थाने लकारः । देवानां प्रतिकूलं तस्मा-देतद्वोमं न कारयेत् ॥ २०६॥

> मत्तकुद्वातुराणां च न भुज्जीत कदाचन । केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥

मत्तकुद्धातुराणामिति ॥ क्षीवकुद्धन्याधितानामकं तथा केशकीटसंसर्ग-बुष्टं पादेन चेन्छातः संस्पृष्टमकं न सुक्षीत ॥ २०७ ॥

पाठा०—1 अश्रील° (=अश्राघ्यं ).

## भ्रूणघावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युद्क्यया । पतित्रणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

भूणग्नेति ॥ भूणभेरयुपलक्षणाद्गोन्नेत्यादिपतितावेक्षितं रजस्वलया च स्पृष्टं पक्षिणा च काकादिना स्वादितं कुकुरेण च स्पृष्टमन्नं न भुक्षीत ॥ २०८ ॥

## गवा चान्नमुपाघातं घुष्टानं च विशेषतः । गणानं गणिकानं च विदुषा च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥

गवेति ॥ यद्तं गवावातं । घुष्टातं को भोक्तेत्युपोद्धृष्टातं सत्रादौ यद्दी-यते । विशेषत इति भूरिदोषतया प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । गणातं शतवाह्मण-सङ्घान्नम् । गणिका वेश्या तस्या अन्नम् । शास्त्रविदा च यद्दृष्टमिति निन्दितं तच न भुक्षीत ॥ २०९ ॥

#### स्तेनगायनयोश्रात्रं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥

स्तेनेति ॥ चौरगायनजीविनोस्तथा तक्षवृत्तिजीवनस्य वृद्धपजीविनश्चान्नं न सुजीत । तथा यसे दीक्षितस्य प्रागन्नीघोमीयात् । कदर्यस्य कृपणस्य । निगड-स्येति तृतीयार्थे षष्टी । निगडेन बद्धस्य । गोविन्दराजस्तु बद्धशब्दस्य बन्धनै-विनाप्ययोनिगडैनिंगडितस्य दत्तायोनिगडस्येति न्याख्यातवान् ॥ २१०॥

#### अभिश्वस्तस्य पण्डस्य पुंत्रत्या दाम्भिकस्य च । शुक्तं पर्युषितं चैव शृद्रस्रोच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥

अभिशास्तस्येति ॥ महापातिकत्वेन संजातलोकिविकोशस्य, नपुंसकस्य, पुंश्रत्या व्यभिचारिण्या अगणिकाया अपि, दाम्भिकस्य छग्नना धर्मचारिणो बैडालबितिकादेरत्नं न भुक्षीत । युक्तं यत्स्वभावतो मधुरं दध्यादिसंपर्कवशे-नोदकादिना चान्लादिभावं गतम्, पर्युषितं राज्यन्तरितम्, ग्रूड्स्यां न भुक्षीतेति संवन्धः। उच्छिष्टं च भुक्ताविश्वान्नमिवेशेषात्कस्यापि न भुक्षीत । गुरूच्छिष्टं च विहितत्वाद्वोज्यम् । गोविन्दराजस्तु ग्रुड्स्थोच्छिष्टं तद्भक्ताव-शिष्टं च स्थालीस्थमपि न भुक्षीतेत्याह ॥ २११ ॥

## चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः । उग्रानं स्रतिकानं च पर्याचान्तमनिर्देशम् ॥ २१२ ॥

चिकित्सकस्येति ॥ चिकित्साजीविनः, मृगयोर्मासविकयार्थं मृगादिपशु-हृन्तुः, कूरस्यानुजुपकृतेः, निषिद्धोच्छिष्टभोक्तुरत्नं न भुक्षीत । उम्रो दारुणकर्मा तस्यात्रम् । 'गोविन्दराजो मञ्जर्यामुम्रं राजानमुक्तवान् । मनुवृत्तौ च सूद्रायाँ क्षत्रियोत्पन्नमभ्यधात् ॥ भेदोक्तेर्याज्ञवक्कीये नोम्रो राजेति वावदत् । माश्चर्य- मिद्मेतस्य स्वकीयहृदि भूषणम् ॥' सूतिकाश्चं सूतिकामुद्दिश्य यिष्ठयते तद्शं तत्कुळजैरिप न भोक्तव्यम् । एकपिक्कस्थानन्यानवमन्य यत्राके भुज्यमाने केनचिदाचमनं क्रियते तत्पर्याचान्तम् । अनिर्देशं सूतिकाशं वस्यमाणस्वाश्च भुक्षीत ॥ २१२ ॥

## अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्र योषितः । द्विषदत्त्रं नगर्यत्रं पतितात्रमवश्चतम् ॥ २१३ ॥

अनर्चितमिति॥ अर्चार्हस्य यदवज्ञया दीयते, वृथामांसं देवतादिकमुद्दिश्य यज्ञ कृतं, अवीरायाः पतिपुत्ररहितायाः, शत्रुनगरपतितानां च, उपरि कृत-क्षुतं चान्नं न मुक्षीत ॥ २१३ ॥

#### पिशुनानृतिनोश्चान्नं केतुविक्रयिणस्तथा । ज्ञैॡषतुन्नवायान्नं कृतन्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

पिशुनेति ॥ पिशुनः परोक्षे परापवादभाषणपरः, अनुत्यतिशयेनानृतवादी कृटसाक्ष्यादिः, ऋतुविक्रयिकः 'मदीययागस्य फलं तव भवतु' इत्यभिधाय यो धनं गृह्णाति, शैत्रुषो नटः, तुबवायः सौचिकः, कृतम्रो यः कृतोपकारस्याप-कारे प्रवर्तते तस्यानं न भुक्षीत ॥ २१४ ॥

#### कर्मारस्य निषादस्य रैङ्गावतरकस्य च । सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविकयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

कर्मारस्येति ॥ कर्मारस्य लोहकारस्य, निषादस्य दशमाध्यायोक्तस्य, नट-गायनन्यतिरिक्तस्य रङ्गावतरणजीविनः, सुवर्णकारस्य, वेणोर्भेदनेन यो जीवति, 'बुरुड' इति विश्वरूपः । शस्त्रं लोहं तद्विक्रयिणश्चात्रं न भुश्चीत ॥ २१५॥

## श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च । रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

श्ववतामिति ॥ आखेटकाद्यर्थं ग्रुनः पोषकाणां, मद्यविक्रयिणां, वस्त्रधाव-कस्य, कुसुम्भादिना वस्त्ररागकृतः, निर्दयस्य, यस्य चोपपितर्गृहे जारश्च यस्या-ज्ञानतो गृहे स्थितस्तस्य गेहे नाद्यात् ॥ २१६ ॥

#### मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्नीजितानां च सर्वशः । अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

मृत्यन्तीति ॥ गृह इत्यनुषज्यते । गेहे ज्ञातं भार्याजारं ये सहन्ते तेषा-मंत्रं न भुक्षीत । तेन गृहाश्चिःसारिताया जारसहने नैष दोषः । तथा सर्वकर्मसु श्वीपरतञ्चाणां, अनिर्गताशौचं च सूतकाशं, अनुष्टिकरमेव च न भुक्षीत ॥ २१७ ॥

वाडा०-1 ऋतुविक्रयिणस्तथा. 2 रङ्गावतारकस्य च.

#### राजानं तेज आदत्ते शृद्रानं ब्रह्मवर्चसम् । आयुः सुवर्णकारानं यशश्रमीवकर्तिनः ॥ २१८ ॥

राजान्नमिति॥ राजान्नं तेजो नाशयति । इत एव दोषदर्शनात्तदन्नभक्षण-निषेधः कल्प्यते । एवमुत्तरत्रापि । पूर्वमनिषिद्धः दोषदर्शनादेव निषेध-कल्पनम् । 'नाद्याच्छूद्रस्य पकान्नम्' (४।२२३) इति निषेधिष्यति तदतिक्रम-णफलकथनमिदम् । शूद्रस्य पकान्नमध्ययनादिनिमित्तं तेजो नाशयति । सुवर्णकारस्यान्नमायुः । चर्मकारान्नं ख्यातिं नाशयति ॥ २१८॥

#### कारुकान्नं प्रजां हन्ति वलं निर्णेजकस्य च ।

गणानं गणिकानं च लोकेभ्यः परिकृत्ति ॥ २१९ ॥ कारुकान्नमिति ॥ कारुकस्य सूपकारादेरतं प्रजामपस्यं निहन्ति । चर्मकारादेः कारुकत्वेऽपि गोवलीवर्दन्यायेन पृथङ्किर्देशः । निर्णेजकस्यान्नं बलं हन्ति । गणगणिकयोरत्नं च कर्मान्तरार्जितेभ्यः स्वर्गादिलोकेभ्य आच्छिनत्ति ॥ २१९ ॥

#### पूर्यं चिकित्सकसार्त्रं पुंश्रल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।

विष्ठा वाधुषिकस्यानं शस्त्रविक्रियणो मलम् ॥ २२० ॥ प्यमिति ॥ चिकित्सकस्यान्नं पूर्यं पूयभक्षणसमदोषम् । एवं पुंश्रव्या अन्नमिन्द्रियं शुक्रम् । वार्श्वषिकस्यान्नं पुरीषम् । लोहविक्रियणोऽन्नं विष्ठाव्यति-रिक्तश्रेष्मादि । गोविन्द्राजस्तु चिकित्सकान्नभक्षणेन तथाविधायां जातौ जायते यत्र पूयभुग्भवतीत्याह ॥ २२० ॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्यात्राः क्रमशः परिकीर्तिताः । तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यनं मनीषिणः ॥ २२१ ॥

य एते Sन्य इति ॥ प्रतिपद्निर्दिष्टेभ्यो ये अन्ये क्रमेणाभोज्याका अस्पि-न्त्रकरणे पठितास्तेषां यदक्षं तत्त्वगस्थिरोमाणि, यास्तर्दायास्त्वचः कीकसस्य रोम्णां च भुक्तानां यो दोषः स एव तदक्तस्यापि भुक्तस्य बोद्धव्यः॥ २२९ ॥

# भुक्त्वातोऽन्यतमस्यात्रममत्या क्षपणं त्रयहम्।

मत्या अक्ताचरेत्कुच्छूं रेतोविण्मुत्रमेव च ॥ २२२ ॥

भुक्त्वेति ॥ एषां मध्येऽन्यतमसंबन्धान्नमज्ञानतो अक्त्वा ज्यहमुपवासः । ज्ञानतस्तु कृच्छ्म् । एवं रेतोविण्मूत्रभोजनेऽपि । एतचान्यतमस्रेति षष्ठीनिर्देशान्मत्तादिसंबन्धिनः परिप्रहदुष्टान्नस्रेव प्रायश्चित्तं न संसर्गदुष्टस्य केशकीटावपन्नादेः। नापि कालदुष्टस्य पर्युषितान्नादेः। नापि निमित्तदुष्टस्य बुष्टादेः।
एकप्रकरणोपदेशश्चेषां स्नातकत्वज्ञापनार्थम्।प्रायश्चित्तं चैतेष्वेकादशे वक्ष्यति।

१ अभोज्यं तु-कालदुष्टं, संसर्गदुष्टं, स्वभावदुष्टं, परिग्रहदुष्टं, चेति भेदेन चतुर्विथम्; तत्र कालदुष्टं पर्युषितशुक्तादिकम्; संसर्गदुष्टं मदिरादिकम्, स्वभावदुष्टं पर्वाण्डुलशुन-कृलक्षादिकम्; परिग्रहदुष्टं च प्रकृताभोज्यान्नादिकमिति केचिदादुः।

यदि तु सर्वेष्वेवं प्रायश्चित्तं स्यात्तदा भुक्त्वातोऽन्यतमस्यानं दुष्टमित्यभ्य-धास्यत् । नत्वन्यतमस्य तु भुक्त्वेति । 'तस्मादेकप्रकरणाद्यन्मेधातिथिरभ्यधात् । प्रायश्चित्तमिदं युक्तं क्रुक्तादौ तदसुन्दरम् ॥' अप्रकरणे च प्रायश्चित्तस्याभि-थानं लाघवार्थम् । तत्र कियमाणे मत्तादिग्रहणमपि कर्तेव्यं स्यात् ॥ २२२ ॥

# नाद्याच्छ्रस्य पक्तान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः । आददीताममेवासादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥

नाद्यादिति ॥ अविशेषेण शूद्धान्नं प्रतिषिद्धं तस्येदानीं विशिष्टविषयतो-च्यते । अश्राद्धिनः श्राद्धादिपञ्चयज्ञश्चन्यस्य शुद्रस्य शास्रविद्विजः पकान्नं न भुश्रीत, किंत्वन्नान्तराभावे सत्येकरात्रनिर्वाहोचितमाममेवान्नमसादृह्णीयान तु पकान्नम् ॥ २२३ ॥

> श्रोत्रियस कदर्यस वदान्यस च वार्धुषेः। मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥

श्रोत्रियस्येति ॥ एकोऽधीतवेदः क्रपणश्चं, परो दाता वृद्धिजीवी चः तयो-रुभयोरि गुणदोषवत्त्वं विचार्यं देवास्तुल्यमञ्जमनयोरिति निरूपितवन्तः। उभयोरिप गुणदोषसाम्यात् ॥ २२४ ॥

# तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृदं विषमं समम्। श्रद्धापूर्तं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥

तानिति ॥ तान्देवानागत्य ब्रह्मा प्रोवाच विषममन्नं मा समं कुरुत । विषमसमीकरणमनुचितम् । कः पुनरनयोर्विशेष इत्यपेक्षायां स एवावोचत् । दानशीलवार्धेषिकस्यापि श्रद्धयात्रं पवित्रं भवति । कृपणात्रं पुनरश्रद्धया इतं दूषितमधमम् । प्रागुभयप्रतिषेधेऽपि श्रद्धादत्तविद्वद्वार्श्वषिकान्नविशुद्धि-बोधनपरमिदम् ॥ २२५ ॥

भत पुवाह-

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं क्वर्यादतन्द्रितः। श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः खागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

अद्भयेति ॥ इष्टमन्तर्वेदि यज्ञादिकर्म, पूर्वं ततोऽन्यत्युक्करिणीकूपप्रपारा-मादि, तदेवमनलसः सक्तितं काम्यस्वर्गादिफलरहितं श्रद्धया कुर्यात्। यसात्ते इष्टापुर्ते न्यायार्जितधनेन श्रद्धया कृतेऽक्षये मोक्षफले भवतः॥ २२६॥

दानधर्म निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्। परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥ दानधर्ममिति ॥ दानाव्यं धर्ममैष्टिकं पौर्तिकमन्तर्नेदिकं बहिर्वेदिकं च सर्वदा विद्यातपोयुक्तं ब्राह्मणमासाद्य परितृष्टान्तःकरणयुक्तः यथाशक्ति कुर्यात् ॥ २२७ ॥

> यर्तिकचिद्पि दातव्यं याचितेनानस्र्यता । उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

यिंकचिदिति ॥ प्रार्थितेन परगुणामःसरेणात्रमपि यथाशक्ति दातन्यम् । यसाःसर्वदा दानशीलस्य कदाचित्तादशं पात्रमागमिष्यति तःसर्वसाग्नरक-हेतोमोचयिष्यति ॥ २२८ ॥

> वारिदस्तृप्तिमामोति सुखमक्षय्यमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्रक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥

चारिद इति ॥ जलदः श्वरिपपासाविगमात्त्रसिं, अन्नदोऽत्यन्तसुखं, तिलप्रद ईप्सितान्यपत्यादीनि, दीपदो विप्रवेरमादौ निदोंषं चश्चः प्रामोति ॥ २२९ ॥

भूमिदो भूमिमामोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।

गृहदोऽग्रयाणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

भूमिद् इति ॥ भूमिदो भूमेराधिपत्यं, सुवर्णदश्चिरजीवित्वं, गृहदः श्रेष्ठानि वेदमानि, रूप्यदः सकलजननयनमनोहरं रूपं लभते ॥ २३० ॥

> वासोदश्रन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अनडुद्दः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रधस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

वासोद् इति ॥ वखदश्चन्द्रसमानलोकान्प्रामोति चन्द्रलोके चन्द्रसम-विभूतिर्वसति, एवमेवाश्विलोकं घोटकदः, बलीवर्दस्य दाता प्रचुरां श्रियं स्त्रीगवीप्रदः सूर्यलोकं प्रामोति ॥ २३१ ॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः।

धान्यदः शाश्वतः सौष्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ २३२॥

यानदारयेति ॥ रथादियानस्य शय्यायाश्च दाता भार्यं, अभयप्रदः प्राणि-नामिहस्तकः प्रभुत्वं, धान्यदो त्रीहियवमाष्मुद्रादिसस्यानां दाता चिरस्थायि सुस्तित्वं, ब्रह्म वेदस्तत्प्रदो वेदस्याध्यापको ज्याख्याता च ब्रह्मणः सार्ष्टितां समानगतितां तत्तुख्यतौ प्रामोति ॥ २३२ ॥

> सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्यक्रगोमहीवासिस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥

सर्वेषामिति ॥ उदकान्नधेनुभूमिवस्नतिलसुवर्णघृतादीनां सर्वेषामेव यानि दानानि तेषां मध्यात् वेददानं विशिष्यते प्रकृष्टफलदं भवति ॥ २३३ ॥ येन येन तु भावेन यद्यहानं प्रयच्छति । तत्त्रतेनेव भावेन प्रामोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

येन येनेति ॥ अवधारणे तुशब्दः । येन येनेव भावेनाभिष्रायेण फला-भिसंधिकः स्वर्गो मे स्यादिति, मुमुक्षुमीक्षाभिष्रायेण निष्कामो यद्यदानं इदाति तेनेव भावेनोपलक्षितस्तत्तदानफलद्वारेण जन्मान्तरे पूजितः सन् प्रामोति ॥ २३४ ॥

> योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । ताबुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥

योऽचिंतमिति ॥ योऽर्चापूर्ववमेव दाता ददाति, यश्च प्रतिप्रहीताऽर्चापूर्व-कमेव दत्तं प्रतिगृह्णाति ताबुभौ स्वर्गं गच्छतोऽनचिंतदानप्रतिप्रहणे नरकम् । पुरुषार्थे तु प्रतिप्रहेऽनर्चितमेव मया प्रहीतव्यं नान्यथेति नियमात्फललाभो न विरुद्धः ॥ २३५ ॥

> न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् । नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

न विसायेतेति ॥ चान्द्रायणादितपसा कृतेन 'कथं ममेदं दुष्करमनुष्टित-म्'इति विसायं न कुर्यात्।यागं च कृत्वा नासत्यं वदेत् । कृतेऽपि पुरुषार्थ-तयानृतवदननिषेधे कत्वथोंऽयं पुनर्निषेधः। ब्राह्मणैः पीडितोऽपि न ताबिन्देत्। गवादिकं च दत्त्वा 'मयेदं दत्तम्' इति परस्य न कथयेत्॥ २३६॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरित तपः क्षरित विस्पयात् । आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥ यज्ञ इति ॥ अनृतेन हेतुना यज्ञः क्षरित । सस्येनैव स फलं साधयित । एवं तपसि दाने च योज्यम् । विश्वनिन्दया चायुः क्षीयते ॥ २३७ ॥

धर्म शनैः संचितुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः । परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

धर्मिमिति ॥ सर्वेप्राणिनां पीडां परिहरन् परलोकसहायार्थं यथाइक्ति शनैः-शनैर्धर्ममनुतिष्ठेत् । यथा पुत्तिकाः पिपीलिकाप्रमेदाः शनैःशनैर्महान्तं मृत्ति-काकूटं संचिन्वन्ति ॥ २३८ ॥

नामुत्र हि सहायार्थ पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ २३९॥
नामुत्रेति॥ यसात्परकोके सहायकार्यसिद्धार्थ न पितृमातृपदीज्ञातय-

सिष्ठन्ति किंतु धर्मे एवैकोऽद्वितीयभावेनोपकारार्थमवतिष्ठते । तसात्पुत्रादि-भ्योऽपि महोपकारकं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ २३९ ॥

> एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते । एकोऽनुभुङ्के सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

एक इति ॥ एक एव प्राण्युत्पद्यते न बान्धवैः सहितः। एक एव च स्रियते । सुकृतफलमपि स्वर्गादिकं, दुरितफलं च नरकादिकमेक एव अुक्के न मात्रा-दिभिः सह । तस्मान्मात्राद्यपेक्षयापि धर्मं न स्वजेत् ॥ २४० ॥

मृतं शरीरम्रत्सृज्य काष्टलोष्टसमं क्षितौ । विम्रुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

मृतमिति ॥ मृतं शरीरं मनःप्राणादित्यक्तं छोष्टवद्चेतनं भूमौ त्यक्ता परा-श्रुखा बान्धवा यान्ति न मृतं जीवमनुयान्ति, धर्मस्तु तमनुगच्छति ॥२४१॥

> तसाद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचितुयाच्छनैः । धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

तस्मादिति ॥ यसाद्धर्मेण सहायेन दुस्तरं तमो नरकादिदुःखं तरित तसा-द्धमं सहायभावेन सततं शनैरनुतिष्ठेत् ॥ २४२ ॥

> धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम् । परलोकं नयत्याशु भाखन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३ ॥

धर्मप्रधानमिति ॥ धर्मपरं पुरुषं दैवादुपजाते पापे प्राजापत्यादितपोरूपप्रायश्चित्तेन हतपापं दीसिमन्तं प्रकृतो धर्म एव शीघं ब्रह्म स्वर्गादिरूपं परलोकं नयति । 'लंब्रह्म' (छां उ. ४।१०।५) इत्याद्युपनिषत्सु खशब्दस्य ब्रह्मणि
प्रयोगः । खशरीरिणं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः । यद्यपि लिङ्गशरीराविच्छित्रो जीव
एव गच्छति तथापि ब्रह्मांशत्वाद्रह्मस्वरूपमुपपन्नं, धर्म एव चेत्परं लोकं नयति
ततो धर्ममनुतिष्ठेत् । 'नहि वेदाः स्वधीतास्तु शास्त्राणि विविधानि च । तत्र
गच्छन्ति यत्रास्य धर्म एकोऽनुगच्छति'॥ २४३॥

उत्तमेरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह ।

निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

उत्तमैरिति ॥ कुलमुक्षं नेतुमिच्छन् विद्याचारजन्मादिभिरूकृष्टैः सह सर्वदा कन्यादानादिसंबन्धानाचरेत् । अपकृष्टांस्तु संबन्धांस्यजेत् । उत्तम-विधानादेवाधमपरित्यागे सिद्धे यत्पुनः 'अधमांस्यजेत्' इत्यभिधानं तदुत्तमा-संभवे स्वतुल्याद्यनुज्ञानार्थम् ॥ २४४ ॥

# उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान् हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन श्रुद्रताम् ॥ २४५ ॥

उत्तमानिति ॥ उत्तमान्गच्छंसैः सह संबन्धं कुर्वन्ब्राह्मणः श्रेष्ठतां गच्छति । प्रत्यवायेन विपरीताचारेण हीनैः सह संबन्धे जातेरपकर्वतया श्रृद्धतुल्यतामेति ॥ २४५ ॥

> दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् । अहिंस्रो दुमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथात्रतः ॥ २४६ ॥

दढकारीति ॥ प्रारब्धसंपाद्यिता दृढकारी मृदुरिनष्टुरः । दमस्य पृथगु-पादानाद्दान्त इति शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुर्प्रहीतन्यः । कूराचारैः पुरुषैः संसर्गं परिहरन्, परहिंसानिवृत्तः, तथावत एव नियमदमेन्द्रियसंयमाख्येन च दानेन स्वर्गं प्रामोति ॥ २४६ ॥

> एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् । सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्यथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥

पधोदकमिति ॥ काष्ठजलफलम्लमधूनि असं चाभ्युद्यतमयाचितोपनी-तम्। अन्यत्र कुलटाषण्डपतितेभ्यस्तथा द्विषः' (याक्षः स्मः. आचारः ९१२१५) इति याज्ञवल्कयवचनात् कुलटादिवर्जं सर्वतः शूद्रादिभ्योऽपि प्रतिगृह्णी-यात् । 'आममेवाददीतास्मात्' (४१२२३) इत्युक्तत्वादामान्नमेव शूद्रात्प्रति-प्राह्मम् । अभयं चात्मत्राणात्मकं प्रीतिहेतुत्वादक्षिणातुल्यं चण्डालादिभ्योऽपि स्वीकुर्यात् ॥ २४७॥

> आहताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् । मेने प्रजापतिप्रीह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

आहृताभ्युद्यतामिति ॥ भाहतां संप्रदानदेशमानीताम् । भभ्युद्यतामा-भिमुख्येन स्थापिताम् । भप्रचोदितां प्रतिप्रहीत्रा स्वयमन्यमुखेन वा पूर्वमया-वितां दात्रा च 'तुभ्यमिदं ददानि' इति पूर्वमकथितां हिरण्यादिभिक्षां नतुः सिद्धान्नरूपाम् । 'अन्नमभ्युद्यतं च' (४।२४७) इत्युक्तत्वाद् पापकारिणोऽपि पतितादिवर्जं प्राह्ममिति विरिज्ञिरमन्यत ॥ २४८ ॥

> नाश्चन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पश्चं च । न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥

नाश्चन्तीति ॥ तेनोपकल्पितं श्रादेषु कन्यं पञ्चदश वर्षाणि पितरो न भुअते । नच यशेषु तेन दत्तं पुरोडाशादि हन्यमप्तिर्वहति देवान्प्रापयति यसां भिक्षां न स्वीकरोति ॥ २४९ ॥

णाठा०—1 °जुत्तमानेव गच्छन्हीनांस्तु वर्जयन्.

श्रय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्द्धि । धाना मत्स्थान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥ २५० ॥

दारयामिति ॥ गन्धान्गन्धवन्ति कर्प्रार्दानि, धानाः अष्ट्यवतण्डुलान्, पयः क्षीरं, पूर्वमाहरणोपायनिवन्धेन गवादीनामप्रत्याख्यानमुक्तं, श्रय्या-दीनि त्वयाचिताहतान्यपि दात्रा स्वगृहस्थितान्ययाचितोपकस्पितानि न प्रत्याचक्षीत ॥ २५० ॥

> गुरून्भृत्यांश्रोजिहीर्षत्रिचिष्यन्देवतातिथीन् । सर्वतः प्रतिगृत्तीयात्र तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥

गुरूनिति ॥ मातापित्रादीनगुरूनमृत्यांश्च भार्यादीन् क्षुधावसन्नानुद्धर्तु-मिच्छन् पतितादिवर्जं सर्वतः शूट्रादेरसाधभ्यश्च प्रतिगृह्णीयात्; नतु तेन धनेन स्वयं वर्तेत ॥ २५९ ॥

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।

आत्मनो वृत्तिमन्त्रिच्छन्गृङ्खीयात्साधुतः सदा ॥ २५२॥ गुरुष्विति ॥ मातापित्रादिषु मृतेषु तैर्वा जीवद्विरपि स्वयोगावस्थितैर्विना गृहान्तरे वसन्नात्मनो वृत्तिमन्त्रिच्छन् सर्वदा साधुभ्यो गृङ्खीयादेव ॥२५२॥

आर्थिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।

ू एते ऋद्रेषु भोज्याचा यश्चात्मानं निवेद्येत् ॥ २५३ ॥

आर्धिक इति ॥ आर्धिकः कार्षिकः । संबन्धिशब्दाश्चिते । यो यस्य कृषिं करोति स तस्य भोज्यान्नः । एवं स्वकुलस मित्रं, यो यस्य गोपालः, यो यस्य दासः, यो यस्य नापितः कर्म करोति, यो यस्मिन्नात्मानं निवेदयति 'दुर्गतिरहं त्वदीयसेवां कुर्वन्निति च त्वत्समीपे वसामि 'इति यः ग्रूद्रस्तस्य भोज्यान्नः २५३

यथात्मनिवेदनं शूद्रेग कर्तव्यं तदाह-

यादृशोऽस्य भवेदातमा यादृशं च चिकीर्षितम् । यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

याद्या इति ॥ अस्य ग्रुद्धस कुलशीलादिभिर्यादश आत्मा स्वरूपं यचास्य कर्म कर्तुरीप्सितं, यथा चानेन सेवा कर्तव्या तेन प्रकारेणात्मानं कथयेत् ॥ २५४ ॥ •

योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्स भाषते ।

स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥

योऽन्यश्चेति ॥ य इति सामान्यनिर्देशात्प्रकृतश्द्भादन्योऽपि यः कश्चित् कुलादिभिरन्यथाभूतमात्मानमन्यथा साधुषु कथयति स लोकेऽतिशयेन पापकारी चौरः यसादात्मापहारकः। स्तेनो द्रव्यान्तरमपहरति, अयं तु सर्वप्रधानमात्मानमेवापहरेत्॥ २५५॥

#### वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मला वाग्विनिःसृताः । तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकुन्नरः ॥ २५६ ॥

वाच्यर्था इति ॥ सर्वेऽर्थाः शब्देषु नियता वाच्यत्वेन नियताः वाङ्म्छाश्च शब्दास्तेषां प्रतिपत्तौ शब्देभ्य एव प्रतीयन्ते प्रतीतिद्वारेण शब्दमूलत्वं शब्देभ्य एवावगम्य चानुष्टीयन्त इति वाग्विनिर्गता इत्युच्यन्ते। अत एव 'वेदशब्देभ्य एवादौं' (१।२१) इति ब्रह्मणोऽपि सृष्टिर्वेदशब्दमूलैवोक्ता । अतो यसां वाचं स्तेनयेत्स्वार्थव्यभिचारिणीं वाचयति स नरः सर्वार्थस्तेयकृद्भवति ॥ २५६ ॥

#### महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि ।

पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थ्यमाश्रितः ॥ २५७ ॥ महर्षीति ॥ गृहस्थस्यैव संन्यासप्रकारोऽयमुच्यते । महर्षीणां स्वाध्यायेन, पितृणां पुत्रोत्पाद्नेन, देवतानां यज्ञैर्यथाशास्त्रमानृण्यं गत्वा योग्यपुत्रे सर्वे कुटुम्बचिन्ताभारमारोप्य माध्यस्थ्यमाश्रितः पुत्रद्वारधनादौ त्यक्रममत्वो ब्रह्मबुद्ध्या सर्वत्र समद्रशनो गृह एव वसेत् ॥ २५७ ॥

#### एकाकी चिन्तयेनित्यं विविक्ते हितमात्मनः। एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ २५८ ॥

एकाकीति ॥ काम्यकर्मणां धनार्जनस्य च कृतसंन्यासः षष्टाध्याये वक्ष्यमाणः पुत्रोपकल्पितवृत्तिरेकाकी निर्जनदेशे आत्महितं जीवस्य ब्रह्मभावं वेदान्तोक्तं सर्वदा ध्यायेत् । यसात्तद्धायन्त्रह्मसाक्षात्कारेण परं श्रेयो मोक्षलक्षणं प्राप्तोति ॥ २५८ ॥

#### एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती । स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः ग्रुभः ॥ २५९ ॥

एषेति ॥ अयमध्यायार्थोपसंहारः । एषा ऋतादिवृक्तिर्गृहस्थस्य ब्राह्मण-स्योक्ता । शाश्वती नित्या । भापदि त्वनित्या वक्ष्यते । स्नातकवतविधिश्च सत्त्व-गुणस्य वृद्धिकरणे प्रशस्त उक्तः ॥ २५९ ॥

#### अनेन विशे दृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्। व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ अनेनेति ॥ सर्वस्योक्तस्य फलकथनमिदम् । अनेन शास्त्रोक्ताचारेण वेदविद्राह्मणो वर्तमानो नित्यकर्मानुष्ठानाःश्वीणपापः सन् ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण ब्रह्मैव लोकसासिँ होनो महिमानं सर्वे तिकर्षं प्राप्तोति ॥ २६०॥

्र इति श्रीद्रह्र्कभद्रकृतायां मन्वर्यमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ चतुर्योऽध्यायः ॥ ४ ॥

#### पश्चमोऽध्यायः ५

# श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् । इद्मूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

श्रुत्वेतानिति ॥ ऋषयः स्नातकस्यैतान्यथोदितधर्माञ्छुत्वा महात्मानं पर-मार्थपरं भृगुमिदं वचनमञ्जवन् । यद्यपि प्रथमाध्याये दशप्रजापतिमध्ये 'भृगुं नारदमेव च' (११३५) इति भृगुसृष्टिरिप मनुत एवोक्ता तथापि कल्पभेदेनाग्नि-प्रभवत्वमुच्यते । तथा च श्रुतिः—'तस्य यद्देतसः प्रथमं देदीप्यते तदसावा-दिस्योऽभवद्यद्वितीयमासीद्भृगुः' इति। अत एव अष्टादेतस उत्पन्नत्वादृगुः॥१॥

> एवं यथोक्तं विप्राणां खधर्ममनुतिष्ठताम् । कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ! ॥ २ ॥

एवमिति ॥ एवं यथोक्तं स्वधर्मं कुर्वतां ब्राह्मणानां श्रुतिशास्त्रज्ञानां वेदोदितायुषः पूर्वे कथं मृत्युः प्रभवति ? श्रायुरत्पत्वहेतोरधर्माचरणस्या-भावात् । सक्छसंशयोच्छेदनसमर्थत्वात् प्रभो इति संवोधनम् ॥ २ ॥

> स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः । श्रृयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥

स तानिति ॥ स मनोः पुत्रो भृगुर्धमस्त्रभावो येन दोषेणाल्पकाले विप्रान्हन्तुमिच्छति मृत्युः स दोषः श्रूयतामित्येवं तान्महर्षीञ्जगाद ॥ ३॥

> अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् । आलस्यादन्नदोषाच मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

अनभ्यासेनेति ॥ वेदानामनभ्यासात्, स्वीयाचारपरिसागात् सामध्यें सत्सवद्यकर्तन्यकरणानुत्साहरूक्षणादारुसात् अदनीयदोषाच मृत्युर्विप्रान् इन्तुमिच्छति । एतेषामधर्मोत्पादनद्वारेणायुःक्षयहेतुत्वात् ॥ ४ ॥

वेदानभ्यासादेरुकत्वादनुक्तमन्नदोषमाह—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डं कवकानि च । अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ५ ॥

लशुनमिति ॥ लशुनगृञ्जनपलाण्ड्वाख्यानि त्रीणि स्थूलकन्द्रशाकानि, कवकं छत्राकं, समेध्यप्रभवाणि विष्ठादिजातानि तन्दुलीयादीनि । द्विजा-तीनामिति याज्ञवल्क्यवचनादेतानि द्विजातीनामभक्ष्याणि । द्विजातिप्रहणं श्रद्भपर्युदासार्थम् ॥ ५ ॥

**पाठा॰—**1 भ्रष्टाद्रेतसः प्रथममुद्दीप्यत तदसानादिस्रो°.

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्त्रेश्वनप्रभवांस्तथा । शेलुं गव्यं च पेयूपं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

लोहितानिति ॥ लोहितवर्णान्वृक्षनिर्यासान्वृक्षान्निर्गतरसान् किटनतां यातान्वश्चनं छेदनं तत्प्रभवानलोहितानि । तथा च तैत्तिरीयश्चतिः-'अयो खल्ल य एव लोहितो यो वा बश्चनान्निर्यंषति तस्य नार्यं काममन्यस्य' इति । शेलुं बहुवारकफलं, गोभवं वेयूषं नवप्रस्ताया गोः श्चीरमिप्तसंयोगा-त्किटनं भवत्येतान्यलतस्यजेत् । 'अनिर्देशाया गोः श्चीरम्' (५१८) इत्यनेनेव पेयूषस्यापि निषेधसिद्धाविधकदोषत्वात् प्रायश्चित्तगौरवज्ञापनार्थं पृथक्किर्देशः । अत एव यलत इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेव च । अनुपाकृतमांसानि देवानानि हवींपि च ॥ ७ ॥

वृथाक्रसरेति॥ देवताद्यनुदेशेनात्मार्थं यत्पच्यते तद्वथा। कृसरिक्तलेन सह सिद्ध ओदनः। तथा च छन्दोगपरिशिष्टम्— 'तिलतण्डुलसंपकः कृसरः सोऽभिधीयते'। संयावो घृतक्षीरगुडगोध्मचूर्णसिद्धस्तकरिकेति प्रसिद्धः। क्षीरतण्डुलमिश्रः पायसः। अपूपः पिष्टकः। एतान्वृथापकान् विवर्जयेत्। पशु-यागादौ मम्बद्धलेन पशोः स्पर्शनमुपाकरणं तद्वहितः पशुरनुपाकृतसस्य मांसानि। देवान्नानि नैवेद्यार्थमन्नानि प्राङ्किवेदनात्, हवींपि च पुरोडाशादीनि होमात्प्राग्वर्जयेत्। 'अनुपाकृतमांसानि' इत्येतद्विशेषनिषेधदर्शनात् 'अनर्चितं वृथामांसम्' (४।२१३) इति सामान्यनिषेधो गोबलीवर्दन्यायेनानुपाकृत-मांसेतरश्राद्धाद्यनुदेश्यमांसमक्षणे पर्यवस्यति॥ ७॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमाष्ट्रमैकश्चर्फं तथा । आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

अनिर्द्शाया इति ॥ प्रस्ताया अनिर्दशाया गोर्हुग्धम् । गोरिति पेयक्षीर-पञ्चपळक्षणार्थम्। तेन अजामहिष्योरिष दशाहमध्ये प्रतिषेधः। तथा च यमः— 'अनिर्दशाहं गोक्षीरमाजं माहिषमेव च'। तथोष्ट्रभवं, अश्वावेकखुरसंबन्धि, मेषभवं, संधिनी या ऋतुमती वृषमिच्छती तस्याः श्वीरम् । तथा च हारीतः— 'संधिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिबेदतुमत्तद्भवति'। विवत्साया मृत-वत्सायाः असन्निहितवत्सायाश्च क्षीरं वर्जयेत्। धेन्वधिकरणन्यायेन वत्सप्रहणा-देव गवि लब्धायां पुनगोंग्रहणं गोरेव न त्वजामहिष्योरिति ज्ञापनार्थम् ॥८॥

> आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना । स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वश्चक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥

आर्ण्यानामिति॥ 'मृग'शब्दोऽत्र महिषपर्युदासात्पश्चमात्रपरः। माहिषं

पाठा०-1 वृश्चनप्रभवांस्तथा. 2 पीयूषं.

१ 'सप्तरात्रप्रसत्तायाः क्षीरं पेयूषमुच्यते' इति हारावस्यामुक्तम् ; 'पीसूष'पाठेऽपि स स्वार्थो हेयः । २ सायपातः प्रदुग्धा यथाकथमप्यन्यस्मिन्दुद्दाते, प्रातरप्राप्तदोहा वा सायं दुद्दाते स्वस्यदुग्धत्वादेकदैव सा 'सन्धिनी' इति केन्निदाहुः ।

श्रीरं वर्जियत्वा सर्वेषामारण्यप्रभवपञ्चनां हस्त्यादीनां श्लीरं खीक्षीरं च सर्वाणि शुक्तानि वर्जनीयानि । स्वभावतो मधुररसानि यानि कालवशेनोदकादिना चाम्लीभवन्ति तानि 'शुक्त'शब्दवाच्यानि । 'शुक्तं पर्युषितं चैव' (४।२११) इति चतुर्थे कृतेऽपि शुक्तप्रतिषेधे दध्यादिप्रतिप्रसवार्थं पुनरिहोच्यते ॥ ९ ॥

दिधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दिधसंभवम् । यानि चैवाभिष्यन्ते पुष्पमृतफलैः शुभैः ॥ १० ॥

द्धि अक्ष्यं चेति ॥ शुक्तेषु मध्ये द्धि भक्ष्यं द्धिसंभवं च सर्वं तकादि । यानि तु पुष्पमूलफलैरदकेन संधीयन्ते तानि भक्षणीयानि । शुभैरिति विशेषणीपादानान्मोहादिविकारकारिभिः कृतसंधानस्य प्रतिषेधः । तथा च बृहस्पतिः 'कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैः शुक्तान्न वर्जयेत् । अविकारि भवेन्नस्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत्'॥ १०॥

कर्व्यादाञ्छकुनान्सर्वास्तथा ग्रामनिवासिनः । अनिर्दिष्टांश्रेकशफांष्टिद्दिभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

क्रव्यादानिति ॥ आमं मांसं ये भक्षयन्ति ते क्रव्यादास्तान्सर्वान्गृध्राद्दीन्यक्षिणो वर्जयेत् । तथा यामनिवासिनश्च पक्षिणः पारावतादीन् । तथा श्वती केचिदेकशफा भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः । तथा च 'औष्ट्रं वाडवमालमेत तस्य च मांसमश्रीयात्' इति । केचिश्वानिर्दिष्टा रासभादयस्तेषां मांसं वर्जयेत् । येऽपि यज्ञाङ्गत्वेन विहितासेषामपि यज्ञ एव मांसभक्षणं न सर्वदा । टिट्टि- भाख्यं च पक्षिणं वर्जयेत् ॥ ११ ॥

कलविङ्के छवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुकुटम् । सारसं रैंजुदालं च दात्यृहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

कलविङ्कामिति ॥ कलविङ्कं चटकं तस्य ग्रामारण्योभयवासित्वादेव निषेधः । इत्यारण्यसाप्यभक्ष्यत्वार्थं जाति (?) शब्देन निषेधः । प्रवाख्यं पक्षिणम् । तथा हंसचकवाकग्रामकुकुटसारसरजुदालदात्यृह्युकसारिकाख्यान्पक्षिणो वर्जयेत् । वक्ष्यमाणजालपादनिषेधेनैव हंसचकवाकयोरि निषेधिसद्धौ पृथ-क्रियोऽन्येषामापदि जालपादानां विकल्पार्थः । स च व्यवस्थितो विश्वेयः । आपदि भक्ष्या न त्वनापदि । इच्छाविकल्पस्य रागत एव प्राप्तेः । ग्रामकुकुटे तु प्रामग्रहणमारण्यकुकुटाचनुज्ञानार्थं न त्वेतद्यतिरिक्तग्रामवासिविकल्पा-र्थम् । आपदर्थे गतप्रयोजनं भवति । वाक्यान्तरगतिवशेषावधारणपरत्वसान्याय्यत्वात् ॥ १२ ॥

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् । निमञ्जतश्च मत्स्यादान्सौनं बल्ल्रमेव च ॥ १३ ॥ प्रतुदानिति ॥ प्रतुष चक्क्वा ये भक्षयन्ति तान्दार्वाघाटादीन्, जालपा-

पाठा०-1 कन्यादः शकुनीन्, 2 रज्जुवालं, 3 शौनं,

दानिति जालाकारपादाञ्चरारिप्रभृतीन्, कोयध्याख्यं पक्षिणम्, नखविष्किराञ्चलेविकीर्यं ये भक्षयन्ति तानभ्यनुज्ञातारण्यकुकुटादिव्यतिरिक्ताञ्च्येना-दीन्। तथा निमज्य ये मत्स्यान्खादन्ति तानमद्वप्रभृतीन्, सुना मारणस्थानं तत्र स्थितं यन्मासं भक्ष्यमपि, वक्ष्यं ग्रुष्कमांसं एतानि वर्जयेत् ॥ १३ ॥

#### वकं चैव बलाकां च काकोलं खद्धरीटकम् । मत्स्यादान्विद्धराहांश्व मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

वकं चैवेति ॥ वकवलाकाद्रोणकाकखञ्जनान्, तथा मत्स्यादान्पिक्ष-व्यतिरिक्तानपि नकादीन्विद्वराहांश्व। विडिति विशेषणमारण्यसूकराभ्यनुज्ञाना-र्थम्। मत्स्यांश्च सर्वान्वजेयेत् ॥ १४ ॥

मत्स्यभक्षणनिन्दामाह-

यो यस मांसमश्चाति स तन्मांसाद उच्यते । मत्स्यादः सर्वमांसादस्तसान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

यो यस्येति ॥ यो यदीयं मांसं खादति स तन्मांसाद एव परं व्यप-दिश्यते । यथा मार्जारो मूषकादः । मत्स्यादः पुनः सर्वमांसमक्षकत्वेन व्यपदेष्टं योग्यस्तस्मानमत्स्यात्र खादेत् ॥ १५ ॥

इ्दानीं भक्ष्यमत्स्यानाह-

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ ह्व्यकव्ययोः । राजीवान्सिहतुण्डांश्र सञ्चलकांश्रेव सर्वशः ॥ १६ ॥

पाठीनरोहिताविति ॥ पाठीनरोहितौ मत्स्यभेदौ भक्षणीयौ। 'हब्यकव्य-योनियुक्तौ'इति समस्तवक्ष्यमाणभक्षणनिषिद्धोपलक्षणार्थम् । तेन प्राणात्यया-दावदोषः । तथा राजीवाख्यान्सिहतुण्डांश्च सशक्कांश्च सर्वान्वक्ष्यमाणलक्ष-णोपेतानद्यात् । मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु-'पाठीनरोहितौ दैवपैत्रादिकर्मणि नियुक्तोववादनीयौ न त्वन्यदा। राजीविसिंहतुण्डसशक्कमत्स्यास्तु हब्यकव्या-भ्यामन्यत्रापि भक्षणीयाः' इत्याचक्षतुः; न तन्मनोहरम् । पाठीनरोहितौ श्राद्धे नियुक्तौ श्राद्धभोक्रैव भक्षणीयौ नतु श्राद्धकर्त्रापि । राजीवादयो हब्य-कव्याभ्यामन्यत्रापि भक्ष्या इत्यस्याप्रमाणत्वात् । मुन्यन्तरेश्च रोहितपाठीन-राजीवादीनां तुल्यत्वेनाभिधानात् । तथा च शङ्कः (१७१५)-'राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशक्काश्च तथेव च । पाठीनरोहितौ चापि भक्ष्या मस्स्रेषु कीर्तिताः'।याज्ञवल्क्यः (आचार.७१९७७)-'भक्ष्याः पञ्चनखाः श्वाविद्रोधाकच्छ-पशल्यकाः । शशश्च मत्स्येष्वपि तु सिंहतुण्डकरोहिताः । तथा पाठीनराजीव-सशक्काश्च द्विजातिभिः' । हारीतः-'सशक्कान्मत्स्याक्यायोपपन्नान्मक्षयेत्' । एवं च 'भोक्रैवाद्यौ न कर्त्रापि श्राद्धे पाठीनरोहितौ । राजीवाद्यास्तथा नेति व्याख्या न मुनिसंमता'॥ १६॥

पाठा॰—1 राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्चेत्र सर्वशः. 2 प्रचलितशंखस्म-तिपुस्तके तु—'देतचेव नं भक्षयेत्। राजीवान्सिंहतुंडाश्च शकुलांश्च तथैव' च। पाठी-नरोहितौ भक्ष्यौ मत्स्येषु परिकीर्तितौ' इति पाठ उपलभ्यते।

#### न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् । भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पश्चनखांस्तथा ।। १७ ॥

न भक्षयेदिति ॥ ये एकाकिनः प्रायेण चरन्ति सर्पाद्यस्तानेकचरान्, तथा ये अभियुक्तैरिप नामजातिभेदेनावधार्य विभागतश्च सृगपक्षिणो न ज्ञायन्ते तान् । 'भक्ष्येप्विप समुद्दिष्टान्' इति सामान्यविशेषनिषेधाभावेन भक्ष्यपक्षनिक्षिप्तान्भक्ष्यत्वेन समुद्दिष्टांश्च, तथा सर्वान्पञ्चनखान्वानरादीज्ञ भक्षयेत्॥ १७॥

अत्र प्रतिप्रसवमाह-

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड़कूर्मशशांस्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्वैकतोदतः ॥ १८ ॥ 🗸

श्वाविधमिति ॥ श्वाविधं सेधाख्यं प्राणिभेदं, शल्यकं तःसदृशं स्थूल-स्रोमानं, तथा गोधागण्डककच्छपशशान् पञ्चनसेषु भक्ष्यान् मन्वाद्यः । आहुः । तथोष्ट्रवर्जितानेकदन्तपङ्क्तयुपेतान् ॥ १८॥

> छत्राकं विद्वराहं च लग्जुनं ग्रामजुकुटम् । पलाण्डं गुञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेहिजः ॥ १९॥

छत्राकमिति ॥ कवकत्रामस्करलञ्जनादीनामन्यतमं बुद्धिपूर्वकं गुरुप्राय-श्चित्तोपदेशादभ्यासतो भक्षयित्वा द्विजातिः पति । ततश्च पतितप्रायश्चित्तं कुर्यात् । 'गर्हितानाद्ययोजनिषः सुरापानसमानि षद' (११।५६) इति ॥१९॥

> अमत्यैतानि षड जग्न्या कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषुपवसेदहः ॥ २० ॥

अमत्येति ॥ एतानि छत्राकादीनि षइ बुद्धिपूर्वकमेव मक्षयित्वाऽभिषेय-मक्षणस्य निमित्तत्वेन साहित्यस्याविवक्षितत्वात् । एकादशाध्यायवद्ध्यमाण-स्वरूपं सप्ताहसाध्यं सान्तपनं यतिचान्द्रायणं वा चरेत् । एतद्यतिरिक्तेषु-छोहितवृक्षनिर्यासादिषु प्रत्येकं मक्षणादहोरात्रोपवासं कुर्यात् । छत्राकादीनां च प्रायक्षित्तापक्षों वर्जनादरार्थः। 'शेषेषूपवसेदहः' इति लाघवार्थम् । तत्र हि क्रियमाणे होहितनिर्यासग्रहणमपि कर्तव्यं स्थात् ॥ २०॥

> संवत्सरस्वैकमपि चरेत्कुच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

संवत्सरस्येति॥ 'द्विजोत्तम'पदं द्विजातिपरम्। त्रयाणां प्रकृतत्वात्, 'एत-दुक्तं द्विजातीनाम्' (५।२६) इत्युपसंहाराच। द्विजातिः संवत्सरमध्ये एकमपि कृच्छ्रं प्रथमाञ्चानात्वाजापत्याख्यमज्ञातभक्षणदोषोपश्चमनार्थमनुतिष्टेत् । ज्ञातस्य पुनरभक्ष्यभक्षणदोषस्य विशेषतो यत्र यद्विद्वितं तदेव प्रायक्षितं

कुर्यात् । यत्तु-'त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्गिर्ति-णिकं यच वाचा प्रशस्पते' ( मनु. ५।१२७ ) इति, तद्रव्यशुद्धिप्रकरणपठित-प्रायश्चित्तन्यतिरिक्तद्रन्यशुद्धिविशेषेऽवतिष्ठते ॥ २**१** ॥

इदानीं भक्षणप्रसङ्गेन यागाद्यर्थं हिंसामप्यनुजानाति-

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः । भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरतपुरा ॥ २२ ॥

यञ्जार्थिमिति ॥ ब्राह्मणादिभिर्यागार्थं प्रशस्ताः शास्त्रविहिता सृगपक्षिणो बध्याः । भृत्यानां चावश्यभरणीयानां वृद्धमातापित्रादीनां संवर्धनार्थम् । यस्मादगस्यो मुनिः पूर्वं तथा कृतवान् । प्रकृतिरूपोऽयमनुवादः ॥ २२ ॥

> बभृवुर्हि पुरोडाञा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् । पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥

बभूबुरिति । यस्मात्पुरातनेष्वप्यृषिकर्तृकयज्ञेषु च भक्ष्याणां सृगपक्षिणां मांसेन षुरोडाशा अभवंक्तस्माद्यज्ञार्थमधुनातनैरपि मृगपक्षिणो वध्याः ॥२३॥ इदानीं पर्युषितप्रतिप्रसवार्थमाह-

यत्किचित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगहितम् । तत्पर्युषितम्प्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥

यात्किचिदिति ॥ यात्किचित्खरविशदमभ्यवहार्यं मोदकादि, भोज्यं पाय-सादि, अगर्हितसुपघातान्तररहितं तत्पर्युपितं राज्यन्तरितमपि घृततैलदध्यादि-संयुक्तं कृत्वा भक्षणीयम् । नतु प्रागेव यत्स्नेहसंयुक्तं तत्पर्युषितं भक्षणीयमिति व्याख्येयम् । तथा च सति हविःशेषस्य स्नेहसंयोगावश्यंभावात् 'यत्किंचित्से-इसंयुक्तं' इत्यनेनैव भक्षणे सिद्धे 'इबिःशेषं च यद्भवेत्' इत्यनर्थकं स्यात् । स्मृत्य-न्तरेऽपि भक्षणकाल एवाभिघारणमुपदिश्यते। तथा च यमः—'मसूरमाष-संयुक्तं तथा पर्युषितं च यत्। तत्तु प्रक्षालितं कृत्वा अश्रीत हाभिघारितम्'। हिनःशेषं तु चरुपुरोहाशादि पर्युषितमपि भोजनकाले स्नेहसंयोगशून्यमेव मक्षणीयम् , पृथगुपदेशात् ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्रोहाक्तं द्विजातिभिः। यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चेव विक्रिया ॥ २५ ॥

चिरस्थितमिति ॥ अनेकरात्र्यन्तरिता अपि यवगोधूमदुग्धविकाराः स्नेह-संयोगरहिता अपि द्विजातिभिर्भक्षणीयाः॥ २५॥

> एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः । मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधि भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

एतदुक्तमिति ॥ एतद्विजावीनां मध्यामध्यमुक्तम्, अत अर्ध्वं मांसस्य भक्षणे वर्जने च विधानं निःशेषं वक्ष्यामि ॥ २६ ॥

**<sup>ं</sup>बाठा०—1** पुराणेष्यपि यहेषु.

#### त्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया। यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये।। २७।।

प्रोक्षितमिति॥ 'प्रोक्षितं मक्षयेत्' इति परिसंख्या वा स्यान्नियमविधिवां । तत्र परिसंख्यात्वे प्रोक्षितादन्यन्न भक्षणीयमिति वाक्यार्थः स्यात् । स च 'अनुपाकृतमांसानि' (५१७) इत्यनेनैव निषेधात्प्राप्तः, तस्मान्मञ्जकृतप्रोक्षणाख्य-संस्कारयुक्तयञ्जहुतपञ्चमांसभक्षणमिदं यञ्जाङ्गं विधीयते। अत एव 'असंस्कृतान्पञ्चन्येः' (५१३६) इत्यस्यानुवादं वश्यति । ब्राह्मणानां च यदा कामना भवति तदावश्यं मांसं भोक्तव्यमिति तदापि नियमत एकवारं भक्षयेत् 'सकृद्राह्मणकाम्यया' इति यमवचनात् । तथा श्राद्धे मधुपकें च 'नामांसो मधुपकेंः' (११२४) इति यृद्यवचनान्त्रियुक्तेन नियमान्मांसं भक्षणीयमिति । अत एव 'नियुक्तस्तु यथान्यायम्' (५१३५) इत्यतिक्रमदोषं वश्यति । प्राणास्रये चाहारान्तराभावनिमित्तके व्याधिहेतुके वा नियमतो मांसं भक्षयेत् ॥ २७ ॥

प्राणात्यये मांसभक्षणानुवादमाह-

# प्राणस्थान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् । स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

प्राणस्यान्त्रमिति ॥ प्राणितीति प्राणो जीवः शरीरान्तर्गतो भोक्ता तस्याद-नीयं सर्वमिदं ब्रह्मा कल्पितवान् । किं तदाह—जंगमं पश्चादि, स्थावरं ब्रीहि-यवादि सर्वं तस्य भोजनम् । तस्मात्प्राणधारणार्थं जीवो मांसं भक्षयेत् ॥२८॥ 'प्राणस्यार्थं(श्व ?)मिदं सर्वम्' (५।२८) इस्येवं प्रपञ्चयति—

# चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।

अहस्ताश्र सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

चराणामिति ॥ जङ्गमानां हरिणादीनामजङ्गमास्तृणादयः, दंष्ट्रिणां न्याद्या-वीनां अदंष्ट्रिणो हरिणादयः, सहस्तानां मनुष्यादीनां अहस्ता मत्स्यादयः, श्रूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्यादयोऽदनीयाः। एतादश्यां विश्वातुरेव सष्टी२९

# नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यानप्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।

घात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्र प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३०॥

नात्ति ॥ अक्षयिता अक्षणार्हान्त्राणिनः प्रसद्मिष अक्षयन्न दोषं आमोति । यसाद्विधात्रैव अक्षणार्हा अक्षयितारश्च निर्मिता इति त्रिभिः स्टोकैः प्राणात्यये मांसमक्षणस्तुतिरियम् ॥ ३० ॥

अथ प्रोक्षितमक्षणनियमार्थवादमाइ-

यज्ञाय जिम्धिमांसस्येत्येष देवो विधिः स्मृतः । अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥ स्रक्षायेति ॥ यज्ञसंपत्त्यर्थं तद्क्षभूतमांसस्य जिम्बिमीक्षणमेतदेवमनुष्ठानं उक्तव्यतिरिक्तप्रकारेण पुनरात्मार्थमेव पशुं व्यापाद्य तन्मांसमक्षणेषु प्रवृत्ती राक्षसोचितमनुष्टानमित्युत्तरार्थं वृथामांसमक्षणनिवृत्त्यनुवादः ॥ ३१ ॥

> क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपक्रतमेव वा । देवान्पिदंथाचियत्वा सादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

क्रीत्वेति ॥ कीत्वा आत्मना चोत्पाद्य अन्येन वा केनाप्यानीय दत्तं मांसं देवपितृभ्यो दत्त्वा शेषं भक्षयत्र पापं प्रामोति । अतः प्रोक्षितादिचतुष्टय-भक्षणवत्रेदं नियतं भक्षणं 'न दुष्यति'(५१३०) इत्यभिधानात् 'वर्षे वर्षेऽश्वमेधन' (५१५३) इत्यादिवक्ष्यमाणमांसवर्जनविधिरप्येतद्विषय एवाविरोधात् ॥ ३२ ॥

> नाद्याद्विधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः । जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेतेस्तरद्यतेऽवद्याः ॥ ३३ ॥

नाद्यादिति ॥ मांसभक्षणानुष्ठानदोषज्ञो द्विजातिरनापदि तत्तद्देवाद्यर्चन-विधानं विना न मांसं भक्षयेत् । यस्माद्विधानेन यो मासं खादति स मृतः सन् यन्मांसं भक्षितं तैः प्राणिभिः परलोके स्वरक्षणाक्षमः खाद्यत इति सर्वश्लोकानुवादः ॥ ३३ ॥

> न तादशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः । यादशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

न ताद्यामिति ॥ मृगवधजीविनो व्याधादेर्धननिमित्तं मृगाणां हन्तुर्ने तथाविधं पापं भवति, यादशमदेवपितृशेषभूतमांसानि खादतः परलोके भवतीति पूर्वानुवाद एव ॥ ३४ ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्।। ३५॥

नियुक्तस्त्वित ॥ श्राद्धे मधुपर्के च यथाशास्त्रं नियुक्तः सन् यो मनुष्यो मांसं न खादति स मृतः सन्नेकविंशतिजन्मानि पशुर्भवित । 'यथाविधि नियुक्तस्तु' (५।२७) इत्येतन्नियमातिकमफलविधानमिदम् ॥ ३५॥

असंस्कृतान्पश्चनमञ्जेनीद्याद्विष्ठः कदाचन् ।

मत्रेस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥ संस्कृतानिति ॥ वेदविहितमत्रवत्योक्षणादिसंस्कारश्चन्यान्पश्चन्

असंस्कृतानिति ॥ वेद्विहितमञ्चवत्रोक्षणदिसंस्कारशून्यान्पशून् विप्रादिः कदाचिन्नाभीयात्। शाश्वतं प्रवाहानादितया नित्यं पशुयानादिविधि-मास्यितो मन्नसंस्कृतानेवाशीयादिति । 'प्रोक्षितं मक्षयेन्मांसम्' (५।२७) इत्येतस्यानुवादार्थमेतत् ॥ ३६॥

कुर्याद्वृतपश्चं सङ्गे कुर्यात्पष्टपश्चं तथा।

न त्वेव तु वृथा हन्तुं पश्चिमच्छेत्कदाचन ॥ ३७॥ कुर्यादिति ॥ सङ्ग वासक्ती पश्चभक्षणानुरागेण वृतमयी पिष्टमयी वा पशुप्रतिकृतिं कृत्वा खादेश पुनर्देवताद्यदेशं विनैव पशुन्कदाचिदपि हन्तुमिच्छेत् ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।

वृथापग्रुप्तः प्रामोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

यावन्तीति ॥ देवताद्युदेशमन्तरेणात्मार्थं यः पश्नन्हन्ति स वृथापश्चमो मृतः सन् यावत्संख्यानि पश्चरोमाणि तावत्संख्याभूतं जन्मनि जन्मनि मारणं प्रामोति । तस्मादृथा पश्चं न हन्यात् । तावत्कृत्व इति वत्वन्तािकयाभ्या-वृत्तिगणने कृत्वसुच् प्रत्ययः । इह हशब्द आगमप्रसिद्धिसूचनार्थः ॥ ३८॥

यज्ञार्थ परावः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभवा ।

यज्ञस्य भृत्यै सर्वस्य तसाद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥

यज्ञार्थं पराव इति ॥ यज्ञलिखर्थं प्रजापितना आत्मनैवादरेण परावः सृष्टाः । यज्ञश्राम्नौ प्रास्ताहुतिन्यायात् सर्वस्यास्य जगतो विवृद्धार्थः । तस्माद्यज्ञे वधोऽवध एवः वधजन्यदोषाभावात् ॥ ३९ ॥

किंच,—

ओषध्यः पश्चवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पश्चिणस्तथा ।

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्तवन्त्युंच्छ्तीः पुनः ॥ ४० ॥

ओषध्य इति ॥ ओषध्यो बीहियवाद्याः, पश्चवश्चागाद्याः, वृक्षा यूपाः द्यर्थाः, तिर्यञ्चः कूर्मादयः, पक्षिणः किषक्षलाद्याः, यज्ञार्थे विनाशं गताः पुनर्जात्युत्कर्षे प्राप्तुवन्ति ॥ ४० ॥

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।

अत्रैव पश्चवो हिंस्या नान्यत्रेत्यत्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

मधुपर्के चेति ॥ 'नामांसो मधुपर्कः' (गृह्यस् ११२४) इति विधानानमधुपर्के च यहे च ज्योतिष्टोमादौ, पित्र्ये दैवे च कर्मणि श्राद्धादौ पश्चो हिंसनीया नान्यत्रेति मनुरभिहितवान् ॥ ४९ ॥

एष्वर्थेषु पश्चित्तंहसन्वेदतत्त्वार्थविद्विजः।

आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

एष्वर्थेष्विति ॥ एषु मधुपर्कादिषु पदार्थेषु पद्मन्दिसन्नात्मानं पद्मं चोत्तमां गति स्वर्गाद्यपमोगयोग्यविलक्षणदेहदशादिसंबन्धं मापयति । 'वेदतत्त्वार्थ-वित्' इति विद्वद्विकारबोधनार्थम् ॥ नन्वन्याधिकारित्वे कर्मणि कथमनिध-कृतस्य पश्चादेरत्तमगतिप्राप्तिः फल्पम् १ उच्यते,-शास्त्रमाणकत्वात् । अस्या-र्थस्य पित्रधिकारिकायां जातेष्टावनिधिकारिणोऽपि पुत्रस्य फल्प्याप्तिवदिहापि

पाठा०—1 °न्त्युत्सृतीः.

१ 'असी प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'(३।७६) इति श्लोको तसरगीमनुस्त्येद्वागयः।

पश्चादिगतफलसंभवाद्यजमान एव कारुणिकतया पशुगतफलविशिष्टमेव फलं कामयिष्यति । अत एव 'आत्मानं च पशुं चैव' इत्यभिधानात् यजमान-व्यापारादेव पशुगतफलसिद्धिरुक्ता ॥ ४२ ॥

> गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्रिजः । नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

गृहे गुरावरण्ये वेति ॥ गृहाश्रमे, ब्रह्मचर्याश्रमे, वानप्रस्थाश्रमे च प्रश-स्तात्मा द्विजो निवसन्नापद्यपि नाशास्त्रीयां हिंसां समाचरेत् ॥ ४३ ॥

कथं तर्हि तुल्ये हिंसात्वे वैदिकी दैश्लादिपग्रुहिंसा नाधर्मायेखतः आह—

या वेदविहिता हिंसा नियताऽसिश्वराचरे । अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धमीं हि निर्वभी ॥ ४४ ॥

या वेद्विहितेति ॥ या श्रुतिविहिता कमैविशेषदेशकालादिनियताऽसि-अगित स्थावरजङ्गमात्मिन, अहिंसामेव तां जानीयात् , हिंसाजन्याधमैविर-हात् । दैक्षपशुहननमधर्मः, प्राणिहननत्वात् ब्राह्मणहननविद्याद्यनुमानमुप-जीग्य शास्त्रवाधादेव न प्रवर्तते । दृष्टान्तीकृतब्राह्मणहननस्याप्यधर्मत्वे शास्त्र-मेवोपजीग्यम् । वेदाद्धमों हि निर्वभौ यस्माद्नन्यप्रमाणको धर्मो वेदादेव निःशेषेण प्रकाशतां गतः ॥ ४४ ॥

> योऽहिंसकानि भृतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । स जीवंश्र मृतश्रेव न कचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

योऽहिंसकानीति ॥ योऽनुपघातकान्प्राणिनः हरिणादीनात्मसुखेच्छयाः मारयति स इहलोके परलोके च न सुखेन वर्धते ॥ ४५ ॥

> यो बन्धनवधक्केशान्त्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्चते ॥ ४६ ॥

यो बन्धनेति ॥ यो बन्धनमारणहेशादीन्त्राणिनां कर्तुं नेच्छति स सर्व-हितप्राप्तीच्छुरनन्तसुखं प्रामोति ॥ ४६ ॥

अन्यच,—

यद्धायति यत्कुरुते धृतिं बझाति यंत्र च । तद्वामोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ४७॥

यद्भवायतीति ॥ यश्विन्तयति धर्मादिकमिदं मेऽस्त्वित, यश्व श्रेयः-साधनं कर्म करोति, यत्र च परमार्थेष्यानादौ धति बझाति, तत्सर्वमक्केशेन कमते। य उपघातनिमित्तं दंशमशकाद्यपि न म्यापादयति ॥ ४७॥

<sup>.</sup> पाडा०—1 रति ( =आसक्तिमभिलाषं वा),

मांसभक्षणप्रसङ्गेन हिंसागुणदोषावभिषाय पुनः प्रकृतमांसाभक्षणमाह—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते कचित्। न च प्राणिवधः खर्ग्यत्तसान्मांसं विवर्जयेत्॥ ४८॥

नाकृत्वेति ॥ प्राणिहिंसान्यतिरेकेण न कचिन्मांसमुत्पद्यते । प्राणिवधश्च न स्वर्गनिमित्तं नरकहेत्तरेव यसात्तसादविधिना मांसं न मक्षयेदिति ॥ ४८ ॥

> सम्रत्पत्तिं च मांसस्य वधवनधौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भञ्जणात् ॥ ४९ ॥

समुत्पत्ति चेति ॥ ग्रुक्रशोणितपरिणामात्मिकां समुत्पत्तिं घृणाकरीं विज्ञाय प्राणिनां वधवनधौ च क्राकर्मरूपौ निरूप्य विहितमांसमञ्ज्ञणाद्पि निवर्तेत किमताविहितमांसभक्षणादित्यविधिना मांसभक्षणनिन्दानुवादः॥ ४९॥

> न भक्षयति यो मांसं विधि हित्वा पिशाचवत्। स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

न भक्षयतीति ॥ उक्तविधिन्यतिरेकेण यो न मांसं भक्षयति । पिद्याच-बदिति । यथा पिशाची भक्षयति तथा नेति व्यतिरेके दृष्टान्तः । स छोकस्य श्रियो भवति, रोगैश्च न बाध्यते । तस्मादवैधमांसभक्षणाद्याधयो भवन्तीति दर्शितम् ॥ ५० ॥

> अनुमन्ता विशसिता निहन्ता ऋयविऋयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

अनुमन्तेति ॥ यद्नुमतिन्यतिरेकेण हननं कर्तुं न शक्यते सोऽनुमन्ता. विशासिता अङ्गानि यः कर्तर्यादिना पृथक्पृथक् करोति, क्रयविक्रयी मांसस्य केता विकेता च, संस्कर्ता पाचकः, उपहर्ता परिवेषकः, खादको भक्षयिता । गोविन्दराजस्तु 'यः कीत्वा विकीणाति स क्रयविकयी' इत्येकमेवाहः तद्य-क्तम् । 'हननेन तथा हन्ता धनेन ऋषिकस्तथा । विऋषी तु धनादानात्संस्कर्ता तस्प्रवर्तनात्' इति यमवचनेन पृथक्किर्देशात् । घातकत्ववचनं चेद्म-श्रास्त्रीयपश्चवधेऽनुमत्यादयोऽपि न कर्तव्या इत्येवंपरम् । विधिनिषेध-परत्वाच्छास्रस्य । खादकादीनां पृथक्प्रायश्चित्तदर्शनात् ॥ ५१ ॥

> खमांसं परमांसेन यो वर्धयितमिच्छति। अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

स्वमांसमिति॥ स्वशरीरमांसं परमांसेन देवपित्राद्यर्थनं विना यो वृद्धिं नेत-मिच्छति तस्माद्परो नापुण्यकर्तास्तीत्वविधिमांसभक्षणनिन्दानुवादः ॥ ५२ ॥ इदानीमनियमिताप्रतिषिद्धमांसभक्षणस्य निवृत्तिर्धर्मायेत्येतद्र्शयितुमाह-

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।

मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥ वर्षे वर्ष इति ॥ यो वर्षशतं यावत्प्रतिवर्षमधमेधेन यजेत यश्च यावज्ञीवं

मांसं न खादति तयोः प्रण्यस्य फलं स्वर्गादि तुल्यम् ॥ ५३ ॥

फलमूलाशनैर्मेध्येर्प्रन्यनानां च भोजनैः। न तत्फलमवामोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

फलमूलाञानैरिति ॥ पवित्रफलमूलमक्षणैर्वानप्रस्थमोज्यानां च नीवा-राधन्नानां भोजनैर्न तत्फलमवामोति यच्छास्नानियमिताप्रतिषिद्धमांसवर्जना-छभते ॥ ५४ ॥

> मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाइयहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

मां स भक्षयितेति ॥ इह लोके 'यस मांसमहमशामि परलोके मां स भक्षयिष्यति' इत्येतत् 'मांस'शब्दस्य निरुक्तं पण्डिताः प्रवद्नित इति 'मांस'शब्दस्य निर्वचनमवैधमांसभक्षणपापफलबाधनार्थम् ॥ ५५ ॥

> न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भृतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

न मांसभक्षण इति ॥ ब्राह्मणादीनां वर्णानां यथाधिकारमविहिताप्रति-विद्धभक्षणादौ न कश्चिद्दोषः। यसात्प्राणिनां भक्षणपानमैथुनादौ प्रवृत्तिः स्वाभाविकोऽयं धर्मः । वर्जनं पुनर्महोफलम् । अविहिताप्रतिषिद्धमद्यमैथन-निवृत्तेर्महाफलकथनार्थोऽयमुक्तस्वैव मांसवर्जनमहाफलकथनस्यानुवादः॥५६॥

> प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च । चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

प्रेतरमुद्धिमिति ॥ ब्राह्मणादीनां चतुर्णामिष वर्णानां प्रेतेष्विप पित्रादीनां शुद्धिं ब्राह्मणादिक्रमेण या यस्येति, द्रव्यादीनां च तैजसादीनां शुद्धि-मिधास्यामि ॥ ५७॥

तत्र शुद्धेरशुद्धिसापेक्षत्वात्तत्रिरूपणार्थमाह-

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते । अञ्चद्धा बान्धवाः सर्वे स्रतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

ुदन्तजात इति 🎚 दन्तजाते । जातदन्त इत्यर्थः । 'वाहिताझ्यादिख्' (आर शह १७) इस्पनेम 'जात'शब्दस्य परनिपातः । अनुजाते जातदुन्ता- नन्तरे । कृतचूडाकरणे चकारात्कृतोपनयने च संस्थिते सृते सित बान्धवाः सिपण्डाः समानोदकाश्चागुद्धा भवन्ति । प्रसवे च तथैवागुद्धा भवन्तित्यु-च्यते । वयोविभागेनोदेशमात्रमिदं वक्ष्यमाणाशौचकालभेदादिसुस्वावबोध-नार्थम् ॥ ५८ ॥

# दशाहं शावमाशौचं सिपण्डेषु विधीयते । अर्वाक् संचयनादस्थ्रां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥ ५९ ॥

द्शाहमिति॥ सप्तपुरुषपर्यन्तं सपिण्डतां वक्ष्यति। सपिण्डेषु शवनिमित्तमाशौचं दशाहोरात्रं ब्राह्मणस्योपदिश्यते। 'शुच्चेद्विप्रो दशाहेन' (५१८२) इति
वक्ष्यमाणत्वात्। 'अर्वाक्संचयनादस्थ्राम्' इति चतुरहोपलक्षणम्। 'चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यात्' इति विष्णुवचनाश्यहमेकाहं वा। 'अहः'शब्दोऽहोरात्रपरः। अयं चाप्तिवेदादिगुणापेक्षो व्यवस्थितविकल्पः। यदाह
दक्षः (स्ट. ६१६)—'एकाहाच्छुच्चते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः। हीने हीनं भवेचेव श्यहश्चतुरहस्तथा'। श्रोताग्निमतो मन्नश्चाह्मणात्मककृत्स्वशासा-ध्यायिन एकाहाशौचम्। तत्र श्रोताग्निमतो मन्नशाह्मणात्मककृत्स्वशासा-ध्यायिन एकाहाशौचम्। तत्र श्रोताग्निवेदाध्ययनगुणयोरेकगुणरिहतो हीनस्तस्य श्यहः, उभयगुणरिहतस्तु हीनतरः, केवलसार्वाग्निमांसस्य चतुरहः, सकलगुणरिहतस्य दशाहः। तदाह पराशरः (प. स्ट. ११५)— 'निर्गुणो दशिभिद्निनः' इति॥ ५९॥

#### सपिण्डलक्षणमाह---

# सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते । समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

सिपण्डता त्विति ॥ यं पुरुषं प्रतियोगिनं कृत्वा निरूप्यते तस्य पितामहप्रभृतीन्षदपुरुषानितक्रम्य सप्तमे पुरुषे प्राप्ते सिपण्डत्वं निवर्तते । पृवं
पुत्रपौत्रादिष्वप्यवगन्तव्यम् । पिण्डसंबिन्धनिबन्धना चेयं सिपण्डता ।
तथा हि-पित-पितामह-प्रपितामहेभ्यस्थिभ्यः पिण्डदानं, प्रपितामहस्य पित्रादयस्यः पिण्डलेपभुजश्च, तत्पूर्षस्य तु सप्तमस्य पिण्डसंबन्धो नास्तीत्यसपिण्डता। यस्य चेते षद् पुरुषाः सिपण्डाः सोऽपि तेषां सिपण्डः, पिण्डदातुत्वेन तत्पिण्डसंबन्धात् । अतः साप्तपौरुषीयं सिपण्डता । तदुक्तं मत्स्यपुराणे'लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः । पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं
साप्तपौरुषम्' । सगोत्रत्वे चेयं सिपण्डता । अत एव शङ्ख-लिखितौ-'सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी' । तेन मातामहादीनामेकपिण्डसंबन्धेऽपि न सिपण्डता । समानोदक्त्वं युनरस्यकुलेऽमुकनामाऽभूदिति जन्मनामोभयापरिज्ञाने निवर्तते ॥ ६० ॥

# यथेदं शावमाशीचं सपिण्डेषु विधीयते । जननेऽप्येवमेव सान्तिपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

यथेद्मिति ॥ यथेदं दशाहादिकं शवनिमित्तमाशौचं कर्मानर्हत्वस्थ्रणं सिपण्डेषु 'दशाहं शावमाशौचम्' (५।५९) ह्रस्यनेन विधीयते । प्रसर्वेऽपि सम्यक्शुद्धिमिच्छतां सिपण्डानां ताहशमेवाशौचं भवेत् ॥ ६१॥

**अ**निर्देशेन तुल्यतायां प्राप्तायां विशेषमाह—

# सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्त स्रतकम् । स्रतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता श्रुचिः ॥ ६२ ॥

सर्वेषामिति ॥ मरणिनिमत्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं सर्वेषामेव सपिण्डानां समानम् । जननिनित्तं तु मातापित्रोरेव भवति । तत्राप्ययं विशेषः—जननिमित्तमस्पृश्यत्वं मातुरेव दशरात्रम् । पिता तु स्नानात्स्पृश्यो भवति । अयमेव संबन्धः संवर्तेन व्यक्तीकृतः—'जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधी-यते । माता शुखेदशाहेन स्नानातु स्पर्शनं पितुः' ॥ ६२ ॥

# निरस्य तु पुमाञ्छक्षपुपस्पृत्रयैव शुद्ध्यति । वैजिकादभिसंवन्धादनुरुन्ध्याद्यं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥

निरस्य त्विति ॥ 'स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्' (५।१४४) इति मैथुने स्नानं विधास्यति, तेन मैथुनं विनापि कामतो रेतःस्वलने स्नात्वा पुमान्शुद्धो भवति । अकामतस्तु स्वप्नादौ रेतःपाते 'मूत्रवद्देतस उत्सर्गः' इस्रापस्यन्तोकः स्नानं विनापि गृहस्थस शुद्धिः । ब्रह्मचारिणस्त्वकामतोऽपि 'स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी' (२।१८१) इस्रनेन स्नानादिना शुद्धिरुक्ता । बैजिके तु संबन्धे परपूर्वभार्यायामपत्योत्पत्तौ व्यहमाशौचं भवति । तथा च विष्णुः— 'परपूर्वभार्यासु त्रिरात्रम्' । रेतःपातिनामाशौचमप्रकृतमपि जननप्रकरणे प्रसङ्गानदनुगुणवयोक्तम् । यत्र रेतःपातमात्रेण स्नानं तत्रापत्योत्पत्तौ त्रिरात्रमु सुचितम् ॥ ६३ ॥

# अह्या चैकेन राज्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः। शवस्पृशो विशुध्यन्ति ज्यहादुदकदायिनः॥ ६४॥

अहा चैकेनेति ॥ एकेनाह्वा एकया च राष्ट्रोत्यहोरात्रेण त्रिरात्रेखिनिरिति नवाहोरात्रेमिलित्वा दशाहेनेति वैदग्ध्येनोक्तम् । ननु दशाहेनेति वक्तब्ये किम-थोंऽयं वाग्विस्तरः, उच्यते,-'ब्रंहीयसीं छिष्ठिष्ठां वा गिरं निर्मान्ति वाग्मिनः।

पाठा०—1 एकपष्टि-दिषष्टितमश्लोकौ क्राचित्र पत्थेते, क्राचित्तु 'जनमेऽप्येय-मेव स्थान्मातापित्रोस्तु स्तकम् । स्तकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुनिः' इति पाठसात्थळे च पत्थते ।

न चावश्यत्वमेतेषां लघूत्त्यैव नियम्यते।' वृत्तस्वाघ्यायगुणयोगेन ये सिपण्डा एकाहाचल्पाशोचयोग्यासे यदि स्नेहादिना शवस्प्रशो भवन्ति तदा दशाहे-नैव ग्रुच्चन्ति । उदकदायिनः पुनः समानोदकाख्यहेण । गोविन्दराजस्तु धनप्रहणपूर्वकशवनिर्दारकसंवन्धित्राह्मणविषयमिदं दशाहाशोचमाह ॥ ६४ ॥

> गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेघं समाचरन् । प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुष्यति ॥ ६५ ॥

गुरोरिति ॥ गुरोराचार्यादेरसिपण्डस्य सृतस्य शिष्योऽन्स्येष्टिं कृत्वा वेत-निर्हारकेर्गुरुसिपण्डेस्तुल्यो दशरात्रेण शुद्धो भवति ॥ ६५ ॥

> रात्रिभिर्मासतुरुयाभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्रला ॥ ६६ ॥

रात्रिभिरिति॥ अत्र रात्रिभिरिति विधेयगामिनो बहुत्वस्य विवक्षितत्वात् तृतीयमासात्प्रशृति गर्भसावे गर्भमासतुल्याहोरात्रैर्विशेषाभिधानाचातुर्वण्यंस्वी विश्वस्यति । एतच षण्मासपर्यन्तम् । यथोक्तमादिपुराणे—'षण्मासाम्यन्तरं यावद्गर्भसावो भवेद्यदि । तदा माससमैस्तासां दिवसेः ग्रुद्धिरिष्यते ॥ अत उर्ध्व तु जात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते'। मेधातिथि-गोविन्दराजादयस्त्वादिपुराणे वचनादर्शनात्ससमासादर्वागर्भसावे मासतुल्याहोरात्रैः स्त्रीणां विश्वदिरिस्यतिदिशन्ति । प्रथमद्वितीयमासीयगर्भसावे स्त्रीणां त्रिरात्रम् । यथाह हारीतः—'गर्भसावे स्त्रीणां त्रिरात्रम् । प्रथादिसपिण्डानां त्वत्र सद्यःशौचम्'। यथाह सुमन्तः—'गर्भमासतुल्या दिवसा गर्भसंस्ववणे सद्यःशौच वा भवति'। गर्भमासतुल्या इति स्त्रीविषयं सद्यःशौचं वेति पित्रादिसपिण्डविषयमिति व्यवस्थितविकल्पः। रजस्त्रला च स्त्रीरजसि निवृत्ते स्रति पञ्चमे दिने स्नानेनादद्यार्थकल्पनयोग्या भवति। स्पर्श-योग्या तु त्रिरात्रव्यपगमे चतुर्थेऽहिते कृतस्नानेनैव ग्रुद्धा भवति॥ ६६॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता । निर्वृत्तंचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

नृणामिति ॥ अकृतचूडानां बालानां मरणे सपिण्डानामहोरात्रेण शुद्धि-भैवति । कृतचूडानां तु मरणे श्रागुपनयनाश्चिरात्रेण शुद्धिः ॥ ६७ ॥

> ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निद्ध्युर्वान्धवा बहिः । अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादते ॥ ६८ ॥

उनद्विवार्षिकमिति ॥ असंपूर्णद्विवर्षे बालं सृतमकृतचूढं मालादिमि-रकंकृत्य प्रामाद्वहिः कृत्वा विशुद्धायां भूमो कालान्तरे शीर्णदेहत्याशक्यमस्य-

पाठा०—1 प्रेताहारै:. 2 निर्वृत्तमुंडकानां तु. 3 प्रागुपनयनकालात्.

संचयनवर्जं बान्धवाः प्रक्षिपेयुः। विश्वरूपस्तु-'यस्यां भूमावन्यस्यास्थिसंचयनं न कृतं तस्यां निदध्युः' इति ब्याचष्टे ॥ ६८ ॥

#### नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकिक्रया । अरण्ये काष्टवत्त्यक्त्वा श्वेपेत त्र्यहमेव चै ॥ ६९ ॥

नास्येति ॥ अस्योनद्विवार्षिकस्याग्निसंस्कारो न कर्तव्यः । नाप्युदकिष्ठया कर्तव्या । उदकदानिषेघोऽयं श्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यनिवृत्त्यर्थः । किं त्वरण्ये काष्टवत्परित्यज्य । काष्टवदिति शोकाभावोऽभिहितः । यथारण्ये काष्टं परित्यज्य शोको न भवति, एवं त्यक्तवा त्र्यहं क्षपेश्यहाशोचं कुर्यात् । अयं चाकृतचृदस्य त्र्यहाशोचविधिः पूर्वोक्तेकाहाशोचविकल्पपरः । स च व्यवस्थितो वृत्तस्याध्यायादियुक्तस्यकाहः, तद्रहितस्य त्र्यहः। यद्यपि मनुना परित्यागमात्रं विहितं तथापि 'ऊनद्विवैषे निखनेत्' (याश स्मृ आशोच १।१) इति याज्ञवल्कयवचना-द्विग्रद्धसूमो निखायेव त्यक्तव्यः ॥ ६९ ॥

#### नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया । जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥

नात्रिवर्षस्येति ॥ अप्राप्ततृतीयवर्षस्य पित्रादिसपिण्डैरुद्कित्रया न कर्त-च्येति पूर्वत्रनिषिद्धाप्युत्तरार्थमन् चते । जातदन्तस्य बोदकदानं कर्तन्यं । नाम-करणे वा कृते उदकित्रयासाहचर्यादिन्नसंस्कारोऽप्यनुज्ञामात्रं, प्रेतिपिण्डश्रा-द्धादिकं च यद्यप्यकरणसंभवे करणं क्षेत्रावहं तथापि करणाकरणयोराञ्चाना-जातदन्तकृतनान्नोः करणे प्रेतोपकारो भवति, अकरणे प्रत्यवायाभाव इत्य-वगम्यते ॥ ७० ॥

# सत्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् । जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

सब्रह्मचारिणीति ॥ सहाध्यायिनि मृते एकरात्रमाशौचं कर्तव्यम् । समा-नोदकानां पुनः पुत्रजनने सति त्रिरात्रेण झुद्धिर्भवति । 'त्र्यहादुद्कदायिनः' (५।६४) इति मरणविषयमुक्तम् ॥ ७३ ॥

#### स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति वान्धवाः । यथोक्तनेव कल्पेन ग्रुध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥

स्त्रीणामिति ॥ खीणामकृतविवाहानां वाग्दत्तानां मरणे बान्धवा मर्त्रादय-दयहेण गुड्यन्ति। वाग्दानं विना भर्तृपक्षे संवन्धाभावादश्रुतमिषवाग्दानान्तप-र्यन्तं बोद्धन्यम्। सनाभयः पितृपक्षाः वाग्दत्तानां विवाहादर्वाद्धारणे 'यथोक्तेनैव कल्पेन'इत्येतच्छ्रोकपूर्वाधोक्तेन त्रिरात्रेणेव ग्रुध्यन्तीत्यर्थः। तदुक्तमादिपुराणे-

पाठा०—1 क्षपेयुः. 2 तु. 3 °द्विवार्षिकं.

१ तस्यायमाशयः --यथा जनो वनादौ नाष्ठं त्यनता तद्विषये शुदासीनो भवति तथैवो-नदिवार्षिकमकृतचूढं प्रेतं खातभूमौ 'परेयिवांसं' (क. सं. ७।६।१४) इत्यादि यमस्क-मनुस्यस्न्परिस्केदः ततस स प्रेतस्यौध्वदेहिकादिषूदासीन पव वर्तेत इति ।

'आजन्मनस्तु चूडान्तं यत्र कन्या विषद्यते । सद्यःशौचं भवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नि-त्यशः ॥ ततो वाग्दानपर्यन्तं यावदेकाहमेव हि । अतः परं प्रवृद्धानां त्रिरात्र-मिति निश्चयः ॥ वाग्दाने तु कृते तत्र ह्रेयं चोभयतक्ष्यहम् । पितुर्वरस्य च ततो दत्तानां भर्तुरेव हि ॥ स्वजात्युक्तमशौचं स्थान्मृतके स्त्तकेऽपि च ।' मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु यथोक्तेनैव कल्पेनेति 'नृणामकृतचृडानाम्'इत्येतदुक्तेन विधिना शुद्धान्तीति व्याचक्षाते। अत्र च व्याख्याने पुत्रवत्कन्यायामपि चूडाकरणादूर्ध्वं मरणे व्यहाशौचं स्थात् । तचादिपुराणाद्यनेकवचनविरुद्धम् ॥ ७२ ॥

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमञ्जेयुश्च ते ज्यहम् ।

मांसाशनं च नाश्रीयुः शयीरंश्र पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥ अक्षारेति ॥ क्षारलवणं कृत्रिमलवणं तद्रहितमन्नमश्रीयुः । त्रिरात्रं नद्यादौ स्नानमाचरेयुः । मांसं च न भक्षयेयुः । भूमौ चैकाकिनः शयनं कुर्युः॥ ७३ ॥

सिन्धावेष वे कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।

असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः ॥ ७४ ॥

सन्निधाविति ॥ मृतस्य सन्निधावेकस्थानावस्थानादृहःपरिज्ञाने शीवा-शौचस्य विधिरयमुक्तः । देशान्तरावस्थानादृज्ञाने सत्ययं वक्ष्यमाणो विधिः संबन्धिबान्धवैज्ञीतन्यः।संबन्धिनः सपिण्डाः।समानोदृका बान्धवाः॥७४॥

> विगतं तु विदेशस्यं शृणयाद्यो ह्यनिर्दशम् । यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाछिचिभवेत् ॥ ७५ ॥

विगतं त्विति ॥ विगतं मृतं विदेशस्थं विप्रकृष्टदेशस्थमनिर्देशमनिर्गतदृशा-हाद्यशौचकालं यः श्रणोति सयदविशिष्टं दशरात्राद्याशौचस्य तावत्कालमविशुद्धो भवति । विगतमित्युपलक्षणम् । जनने ऽप्येतद्वगन्तव्यम् ; तथा च बृहस्पतिः— 'अन्यदेशमृतं ज्ञातिं श्रुत्वा वा पुत्रजन्म च । अनिर्गते दृशाहे तु शेषाहो-मिर्विशुद्यति' ॥ ७५ ॥

> अतिकान्ते दशाहे च त्रिरात्रमश्चिमेवेत् । संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वेवापो विशुध्यति ॥ ७६ ॥

अतिकान्त इति ॥ 'नाशीचं प्रसवस्यास्ति न्यतीतेषु दिनेष्वपि' इति देवलवचनान्मरणविषयं वचनमिदम् । सपिण्डमरणे दशाहाशौचेऽति-क्रान्ते त्रिरात्रमशुद्धो भवति, संवत्सरे पुनरतीते स्नात्वेत्र विशुध्यति। एतसा-विशेषेणाभिधानासातुर्वण्यविषयम् ॥ ७६ ॥

निर्देशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च । सवासा जलमाप्नुत्य ग्रुद्धो भवति मानवः ॥ ७७॥ निर्देशमिति ॥ दशाहाशीचस्यपगमे कर्मानर्हत्वलक्षणस्य ज्यहाशीचस्यो

१ शवनिमित्तकमाशौचं शावाशौचमुच्यते; जननाशौचं च सूतक्सिति तयोभेंदः ।

कत्वा तदङ्गास्पर्शविषयम् । निर्गतदशाहसपिण्डमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च श्रुत्वा सचैलं स्नात्वा स्पृश्यो भवति ॥ ७७ ॥

#### बाले देशान्तरस्थे च पृथिनिपण्डे च संस्थिते । सवासा जलमाप्लत्य सद्य एव विशुध्यति ॥ ७८ ॥

बाल इति ॥ वालेऽजातदन्ते मृते । जातदन्ते 'नृणामकृतचूडानां' (५।६७) इत्येकाहोरात्राभिधानादेशान्तरस्थे च सपिण्डे मृत इत्येकाहाशोचिविषयम् । पूर्वश्लोके दशाहाशोचिनस्यहविधानात्पृथक्पिण्डे समानोदके त्रिरात्रमुक्तम् । तत्र त्रिरात्रस्यप्गमे सर्वेष्वेषु सर्चेलं स्नात्वा सद्योविश्वद्धो भवति ॥ ७८ ॥

# अन्तर्दशाहे स्थातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी । तावत्स्यादशुचिर्विष्ठो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥

अन्तर्दशाह इति ॥ दशाहादिमध्ये यदि पुनर्मरणे मरणं जनने जननं स्यात्, 'पुनः'शब्दात्सजातीयावगमात्तदा तावत्कालमेव विप्रादिरशुद्धः स्यात्। यावत्पूर्वजातदशाहाद्यशौचं नापगतं स्यात्तावत्पूर्वाशौचव्यपगमेनैव द्विती-येऽपि मृतके सृतके च शुद्धिरित्यर्थः ॥ ७९ ॥

# त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।

तस्य पुत्रे च पत्थां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

त्रिरात्रमिति ॥ क्षाचार्ये सृते सति शिष्यस्य त्रिरात्रमाशौर्च वदन्ति । तत्पुत्रपत्थोश्च सृतयोरहोरात्रमित्येषा शास्त्रमर्यादा ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।

मातुले पश्चिणीं रात्रिं शिष्यर्तिग्बान्धवेषु च ॥ ८१ ॥ श्रोत्रिय इति ॥ वेदशास्त्राध्यायिन्युपसंपन्ने मैत्रादिना तत्समीपवर्तिन । तद्गृहवासिनीत्यर्थः । तस्मिन्सते त्रिरात्रेण शुद्धो भवति । मातुल्लेविक्शिष्या-दिषु पक्षिणीरात्रिं व्याप्याशौचम् । द्वे अहनी पूर्वोत्तरे पक्षाविव यस्याः सा पक्षिणी ॥ ८१ ॥

त्रेते राजनि सज्योतिर्यस साद्विषये स्थितः । अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

प्रेते राजनीति ॥ यस देशे बाह्यणादिः स्थितंस्तसित्राजनि कृताभिषेके सित्रिये मृते सज्योतिराशौचं स्यात् । सह ज्योतिषा वर्तत इति सज्योतिः । यदि दिवा मृतस्तदा यावत्सूर्यज्योतिस्तावदाशौचं, यदि रात्रौ मृतस्तदा यावताः रकाज्योतिस्तावदाशौचम् । श्रोत्रिये त्रिरात्रमुक्तम् । श्रशेत्रिये पुनस्तद्दृहे मृते कृत्सं दिनमात्रमाशौचं, नतु रात्राविष । रात्रौ मृते रात्रावेवेस्ववगन्तव्यम् । साङ्गवेदाध्यायिनि 'स्वस्पं वा बहु वा यस्य' (२।१४९) इत्येतिक्विदिष्टे गुराक्ष्यक्रमात्रमेव ॥ ८२ ॥

शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः । वैभ्यः पश्चदशाहेन सूद्रो मासेन शुध्यति ॥ ८३ ॥

शुध्येदिति ॥ उपनीतसपिण्डमरणे संपूर्णकालीनजनने च वृत्तस्वाध्यायां-दिरहितब्राह्मणो दशाहेन शुद्धो भवति, क्षत्रियो द्वादशाहेन, वैश्यः पञ्चदशा-हेन । शुद्रो मासेन । तस्य चोपनयनस्थाने विवाहः ॥ ८३ ॥

> न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेनामिषु कियाः । न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यग्रुचिभेवेत् ।। ८४ ।।

न वर्धयेदिति ॥ यस्य तु वृत्तस्वाध्यायाद्यपेक्षया पूर्वम् 'अर्वावसंचयना-दुस्थ्राम्' (५१५९) इलाद्याशीचसंकोच उक्तः स निष्कर्मा सुलमासिष्ये इति बुद्धा नाशौचदिनानि दृशाहादिरूपतया वर्धयेत्संकुचिताशौचदिनेष्वपि। अग्नि-ब्विति बहुवचनाच्छ्रौताप्तिष्वप्तिहोत्रहोमान्न विघातयेत् । स्वयं कुर्यादशकौ वा पुत्रादीन्कारयेत् । अत्रैव हेतुमाह-यस्मात्तकर्माम्निहोत्ररूपं कुर्वाणः पुत्रादिः सपिण्डो नाशुचिभवति । तदाह पारस्करः—'नित्यानि विनिवर्तन्ते वैतान-वर्जम्'। वैतानं श्रोतो होमः गाईपलकुण्डस्थानग्नीनाहवनीयादिकुण्डेषु वितत्य क्रियते इति । तथा च शङ्ख-लिखितौ-'अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शना-च्छुचिः'। जाबालोऽप्याह—'जन्महानौ वितानस्य कर्मछोपो न विद्यते। शालाम्नो केवलो होमः कार्य एवान्यगोत्रजैः'। छन्दोगपरिशिष्टमपि—'मृतके कर्मणां त्यागः संध्यादीनां विधीयते । होमः श्रीते तु कर्तव्यः गुष्कानेनापि वा फलैः'। तसादेकाहत्यहाद्याशौचसंकोचे संध्यादीनामेव परित्यानी नतु श्रीतहोमस्य । एकाहृत्यहाद्यपगमे तु संध्यापञ्चमहायज्ञादिसर्वमेवानुष्टेयस् । अतो यन्मेघातिथि-गोविन्दराजाभ्यामन्यथाप्यभ्यघायि 'एकाहृत्यहाद्यशौच-संकोचोऽयं होमस्वाध्यायमात्रविषयः । संध्योपासनादिकं तु तेनापि दशाइ-मेव न कर्तव्यम्' इति, तन्निष्प्रमाणकम्। यतु गौतमेन (गौ.स्ट.१४।९) 'राज्ञां च कर्मविरोधाद्वाह्मणस्य स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम्' याज्ञवल्क्येन च (प्राय-१।२/८) 'ऋत्विजां दीक्षितानां च' इत्यादिना सद्यःशौचमुक्तं तत्सर्वेषामेव दशाहाय-शौचिनामपि तत्तत्कमीविषयम्। यानि त्भयत्र दशाहानि 'कुल्खानं न अुशीत' इलादीनि दशाहं तत्तत्कर्मनिषेधकानि वचनानि, तानि दशाहाशीच-विषयाणीति न कश्चिद्विरोघः। तसाद्धोमस्वाध्यायमात्रार्थे सगुणे अशोच-काघवं न संध्योपासनार्थमितीदं निष्प्रमाणम् ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुद्क्यां च पतितं स्तिकां तथा । शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ ८५ ॥ दिवेति ॥ चाण्डालं, रजस्बलां, ब्रह्महादिकं, प्रस्तां दश्राहाभ्यन्तरे, चाण्डालोदक्यादिभिः सवैंः संबन्धयन्ति । गोविन्दराजस्तु याज्ञवल्क्यवच-नाच्छवस्पृष्टिनमेव तत्स्पृष्टिनमाह, नोदक्यादिस्पृष्टिनम् । तत्राचमनविधा-नात् । तदाह याज्ञवल्क्यः (प्रायः आशोचः १।३०)—'उदक्याग्रुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टेस्तैरुपस्पृशेत्' । उदक्याग्रुचिभिः स्पृष्टः स्नानं कुर्यात् । उदक्याशोचिभिः स्पृष्टैः स्पृष्टस्तूपस्पृशेदाचामेत् ॥ ८५॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।

सौरान्मञ्चान्यथोत्साहं पावमानीश्व शक्तितः ॥ ८६ ॥

आचम्येति ॥ श्राद्धदेवपूजादिसंचिकीर्षुः स्नानाचमनादिना प्रयतः सन्प्र-कृतचाण्डाळाद्यग्रुचिद्शेने सति 'उदुसं जातवेदसम्' (ऋ.सं. १।४।७) इत्यादि-सूर्थदेवतमन्नान् यथासामर्थ्यं पावमानीश्च शक्त्या जपेत् ॥ ८६ ॥

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्तेहं स्नात्वा विश्रो विश्वध्यति ।

आचम्यैव तु निःस्रोहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ ८७॥

नारमिति ॥ मानुषास्थि स्नेहसंयुक्तं स्पृष्ट्वा ब्राह्मणादिः स्नानेन विशुध्यति । स्नेहशून्यं पुनः स्पृष्ट्वा अाचम्य गोस्पर्शार्कावेक्षणयोरन्यतरःकृत्वा विशुद्धो भवति ॥ ८७ ॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादा व्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥ ८८ ॥

आदिष्टीति ॥ वतादेशनमादिष्टं तदस्यास्तीति ब्रह्मचारी, स प्रेतोदकमा व्रतसमापनाञ्च कुर्यात् । उदकमिति प्रकपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यो-पलक्षणम् । समाप्ते पुनर्बह्मचर्ये प्रेतोदकं कृत्वा त्रिरात्रमशौचं कृत्वा विश्वद्धो भवति । एतच मातापित्राचार्यव्यतिरिक्तविषयम् ; तदाह वसिष्टः—'ब्रह्मचारिणः शवकर्मणा वतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापित्रोगुरोर्वा' । शवकर्मणिति [शवनिमित्तकेन निर्हरणदहनोदकदानपूर्वकपिण्डषोडशश्राद्धादि-कर्मणा। वक्ष्यति च 'ब्राचार्यं समुपाध्यायम्' (५।९१) इति ॥ ८८ ॥

ृष्ट्यासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् । आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥ ८९ ॥

वृथेति॥ 'जात'शब्दः प्रत्येकमिसंबध्यते। वृथाजातानां बाहुल्येन त्यक्क-स्वधर्माणां संकरजातानां द्वीनवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीष्ट्रपन्नानां वेदबाह्यरक्तपटादिप्रव-ज्यासु वर्तमानामशास्त्रीयविषोद्धन्धनादिना कामतश्च कृतजीवितत्यागिना-सुदकादिक्रया न कर्तव्या॥ ८९॥

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः । गर्भभर्तृद्धहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥ विकास सित्र ॥ वेदबाह्यरकपटमौआदिवतचर्या पाषण्डं तदस्रतिष्ठन्तीनी खच्छन्द्रमेकानेकपुरुषगामिनीनां गर्भपातनभर्तृवधकारिणीनां द्विजातिस्त्रीणां सुरापीनामुदकक्रियौध्वदेहिकं निवतेत इति पूर्वेण संवन्धः ॥ ९० ॥

#### आचार्यं खग्रुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् । निर्हत्य तु त्रती प्रेतान त्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

आचार्यमिति ॥ वाचार्य उपनयनपूर्वकं संपूर्णशाखाध्यापयिता, उपाध्यायो वेदैकदेशस्याक्षस्य वाध्यापकः, वेदस्य वेदानां चैकदेशस्यापि व्याख्याता गुरुः । निर्हरणपूर्वकत्वाद्मेतकृत्यस्य निर्ह्लोति दाहदशाहपिण्डषोडशश्राद्धादि-सकल्प्रेतकृत्यस्य प्रदर्शनार्थमाचार्यादीन्पञ्च मृताबिर्हत्यब्रह्मचारी न लुसबतो भवति । एवं चान्याबिर्हत्य व्रतलोपो भवतीति गम्यते । 'वाचार्यं सम्' ह्त्यभिधानात् 'गुरोर्गुरी सिबिहिते गुरुवद्वित्तमाचरेत्' (२।२०५ ) इति न्यायाबाचार्याचार्यमपि । स्वमिति सर्वत्र संबध्यते । तेनोपाध्यायोपाध्याय-मपि निर्हत्य व्रतलोप एव ॥ ९१ ॥

# दक्षिणेन मृतं शुद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् । पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

द्क्षिणोनेति ॥ अमाङ्गलिकत्वादत्यन्तापकृष्टशूद्रक्रमेणाभिधानम् । शूद्रं मृतं दक्षिणपुरद्वारेण निर्हेरेत् द्विजातीन्पुनर्यथायोगं चथायुक्तयापकृष्टवैश्यक्षत्रिय-विप्रक्रमेणैव पश्चिमोत्तरपूर्वद्वारेण निर्हेरेत् ॥ ९२ ॥

# न राज्ञामघदोषोऽस्ति त्रतिनां न च सत्रिणाम् । ऐन्द्रं स्थानम्रुपासीना त्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥

न राज्ञामिति ॥ राज्ञामभिषिक्तक्षत्रियाणां सपिण्डमरणादावशौचदोषो नास्ति । यतो राजान ऐन्द्रं स्थानं राज्याभिषेकाख्यमाधिपत्यकारणं प्राप्ताः । वतिनो ब्रह्मचारिणश्चान्द्रायणादिवतकारिणश्च, सत्रिणां गवामयनादियागप्रवृ-ताः । यतो ब्रह्मभूतास्ते ब्रह्मेव निष्पापाः । अशौचाभावश्चायं कर्मविशेषे । तदाह विष्णुः—'अशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे' । राजकर्मणि व्यवहारदर्शनशान्तिहोमादिकर्मणि ॥ ९३ ॥

# राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥

राझ इति ॥ महात्मन इदं स्थानं माहात्मिकं राज्यपदास्यं सर्वाधिपत्य-लक्षणं महात्मेव प्राचीनपुण्यराज्यमासादयति तस्मिन्वतमानस्य सद्यःशोच-मुपदिश्यते । नतु राज्यप्रच्युतस्य क्षत्रियजातेरि । सत्र जातिरविवक्षितेत्यनेन क्षोकेन दर्शितम् । यतो न्यायनिरूपणेन दुर्भिक्षेऽस्नदानेनोपसर्गेषु शान्तिहो-मादिना प्रजारक्षार्थं राज्यासनेष्ववस्थानमशौचाभावे चकारणम्। तश्राक्षत्रिया- णामपि तत्कार्यकारिणां विप्रवैश्यश्चद्वाणामविशिष्टम् । अत एव सोमकार्यकारिणि फलचमसे सोमधर्माः । अत एव वीहिधर्मान्विततया श्चतमप्यवघातादि तत्कार्यकारित्वस्य विवक्षितत्वात्प्रकृतौ यवे विकृतौ च नीवारादिषु संबध्यत इति कर्ममीमांसायां तत्तद्धिकरणेषु निरणायि ॥ ९४ ॥

डिंभाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च । गोत्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥

डिंभाहवेति ॥ डिंभाहवो नृपरिहतयुद्धं तत्र हतानां, विद्युता वक्रेण, पार्थिवेन वधार्हेऽपराधे हते, गोत्राह्मणरक्षणार्थं विनापि युद्धं जलाग्निन्यात्रा-दिभिईतानां, यस पुरोहितादेः स्वकार्याविद्यातार्थं नृपतिरशौचाभावभिन्छति तस्मापि सद्यःशौचम् ॥ ९५ ॥

> सोमान्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥

सोमेति ॥ चन्द्राभिसूर्यवायुशकयमानां वित्तस्यापां च पत्थोः कुवैरवरुण-योरेवमष्टानां कोकपाकानां संबन्धि देहं राजा धारयति ॥ ९६ ॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नासाशौचं विधीयते ।

शौचाशौचं हि मर्स्थानां हैं।केशप्रभवाष्ययम् ॥ ९७ ॥

लोकेशित ॥ यतो लोकेशांशाकान्तो नृपतिरतो नात्याशौचमुपदिश्यते । यसान्मनुष्याणां यच्छोचमशौचं वा तल्लोकेशेन्यः प्रभवति विनश्यति च । अप्ययो विनाशः । एतेनान्यदीयशौचाशौचोत्पादनविनाशशक्तस्य लोकेश्वर-रूपस्य नृपतेः कुतः स्वकीयाशौचमिति पूर्वोक्ताशौचाभावस्तुतिः ॥ ९७ ॥

उद्यतेराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचिमति स्थितिः ॥ ९८ ॥

उद्यतैरिति॥ उद्यतैः शक्षैः खङ्गादिभिनैतु लगुडपाषाणादिभिरपराख्युख-त्वादिक्षत्रियधर्मयुक्तसंग्रामे इतस्य तत्क्षणादेव ज्योतिष्टोमादियज्ञः संतिष्ठते समाप्तिमेति। तत्पुण्येन युज्यत इत्यर्थः । तथाशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्ति-मेति। इयं शास्त्रे मर्यादा ॥ ९८ ॥

विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्टा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।

वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टि श्रूद्रः कृतिकियः ॥ ९९ ॥ विप्र इति ॥ अशौचान्ते कृतश्राद्धादिकृत्यो नासणोऽपः स्पृद्धेति चलस्प-श्रीमात्रं दक्षिणदस्तेन कृत्वा श्रुद्धो भवति नद्ध 'संवत्सरे व्यतीते त स्पृष्टेरिक-विश्वस्थति' इतिवत् । स्नात्वा वादनादिस्पर्शसाद्द्यस्य स्वस्तुद्वस्य स सकृदुवार-

<sup>ें</sup> **बाहार —1** डिबाहबहतानां. 2 लोकेम्मः प्रभवाप्ययौ.

तसार्थमेदसान्याय्यत्वात्क्षत्रियो इस्त्यादिवाहनं सङ्घाद्यसं च, वैश्यो बलीव-दादिमतोदं लोहमोतामं योक्त्रं वा, झुड़ो यष्टिं वंशदण्डिकास् ॥ ९९ ॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः । असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतश्चद्धिं निवोधत ॥ १०० ॥

एतदिति ॥ भो द्विजश्रेष्ठाः! एतच्छीचं सपिण्डेषु प्रेतेषु युप्माकसुक्तम् । इदानीमसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं श्रणुत ॥ १०० ॥

असिपण्डं द्विजं प्रेतं वित्रो निर्हत्य बन्धुवत् ।

विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥

असपिण्डमिति ॥ असपिण्डं ब्राह्मणं मृतं ब्राह्मणो बन्धुवत्स्नेहानुबन्धेन न त्वदृष्टबुच्चेत्यर्थादुक्तम् । मातुश्चासान्सन्निकृष्टान्सहोदरआतृभगिन्यादीन्वा-न्धवान्निर्हत्य त्रिरात्रेण शुद्धो भवति ॥ १०१ ॥

> यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति । अनदन्नन्नमह्वैव न चेत्तिसिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

यद्यसमिति ॥ निर्हारको यदि तेषां मृतस्य सपिण्डानामाशौनिनामस्रम-श्राति तदा तद्दशाहेनैव शुध्यति न त्रिरात्रेण । अथ तेषामसं नाशाति, गृहे च तेषां न वसति, निर्हरति च तदाहोरात्रेणैव शुध्यति । एवं च तद्वृहवासे सति तद्वाभोजिनो निर्हारकस्य पूर्वोक्तं त्रिरात्रम् ॥ १०२ ॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च।

स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वामि घृतं प्राज्य विशुध्यति ॥ १०३॥

अनुगम्येति ॥ ज्ञातिमज्ञातिं वा मृतमिच्छातोऽनुगम्य सचैलस्नानं च कृत्वा ततोऽग्निं च स्पृष्ट्वा पश्चाद्यृतप्राशनं कृत्वा अनुगमननिमित्ताशौचाद्विशुध्यति ॥

> न विप्रं खेषु तिष्ठत्सु मृतं श्र्द्रेण नाययेत् । अस्वर्ग्यो ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदृषिता ॥ १०४॥

न विप्रमिति ॥ श्राह्मणादिं मृतं समानजातीयेषु स्थितेषु न शृदेण पुत्रादि-तिर्हारयेत् । यसात्सा शरीराहुतिः शृद्धस्पर्शदुष्टा सती मृतस्य स्वर्गाय हिता न भवति । मृतं स्वर्गं न प्राप्यतीत्यर्थः । 'स्वेषु तिष्ठत्सु'दृस्यभिधानाद्राह्मणामावे श्रात्रयेण तद्भावे वैश्येन तद्भावे शृद्धेणापि निर्हारयेदित्युक्तं यथापूर्वं श्रेष्ठत्वा-द्स्वर्यदोषश्च श्राह्मणादिसद्भावे शृद्धेण निर्हरणे सति बोद्धव्यः । गोविन्द्राजस्तु दोषनिर्देशात्स्वेषु तिष्ठत्स्वत्यविवक्षितमित्याहः तद्युक्तम् । संभवदर्थपदृद्धयो-ह्यारणवैयर्थ्यप्रसङ्गादुपक्तमावगतेश्च वेदोदितन्यायेनानुबोध्यत्वाद्धणमृतश्चात्रुन्यनु गोधेन प्रधानभूताया जातेरुपेक्षायां गुणकोपेनामुस्यसेत्यपि न्यायेन बाध्येत ।

पाठा०—1 सचैलं.

तस्मात् 'स्वेषु तिष्टस्सु' इति पदद्वितयं न विवक्षितम् । 'इमां गोविन्दराजस्य राजाज्ञां नादियामहे' ॥ १०४ ॥

# ज्ञानं तपोऽप्रिराहारो मृन्मनो वार्धुपाञ्जनम् । वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥१०५॥

श्चानिति॥ ज्ञानादीनि शुद्धेः साधनानि भवन्ति । तत्र ब्रह्मज्ञानं बुद्धिस्पान्तःकरणशुद्धेः साधनम्, यथा वक्ष्यति (५।१०९) 'बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति' ।
तपो यथा—(५।१०७) 'तपसा वेदविसमाः' । अप्तिर्यथा (५।१२२) 'पुनः पाकेन
मृन्मयम्'। ब्राह्मरो यथा—(११।१०६) 'हविष्येण यवान्वा' इति । मृद्धारिणी
यथा—(५।१३४) 'मृद्धार्यादेयमर्थवत' इति मनो यथा—(३।१४६) 'मनःपूतं
समाचरेत' इति । संकरपविकरपात्मकं मनः, निश्चयात्मिका बुद्धिरिति मनोबुद्धोभेदः । उपाञ्चनमुपल्लेपनं यथा—(५।१२२) 'मार्जनोपाञ्जनैर्वेद्दम' । कर्म
यथा—(११।७४) 'यजेत वाऽश्वमेधेन' इत्यादि । कर्को यथा—(५।८७) 'गामालभ्याकंमीक्ष्य वा' । कालो यथा—(५।८३) 'शुध्येद्विप्रो दशाहेन' । वायोऽस्तु
शुद्धिहेतुत्वं मनुनानुक्तमपि 'पन्थानश्च विश्वध्यन्ति सोमसूर्याशुमारुतैः' इति
विष्णवादावुक्तं श्राह्मम् ॥ १०५॥

# सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्पृतम् । योऽर्थे श्रचिहिं स श्रचिर्न मृद्वारिश्चचिः श्रुचिः॥ १०६ ॥

सर्वेषामेवेति ॥ सर्वेषां मृद्वारिनिमित्तदेहशौचमनःशौचादीनां मध्यादर्थ-शौचमन्यायेन परधनहरणपरिहारेण यद्धनेहा तत्परं प्रकृष्टं मन्वादिभिः स्मृतम् । यसाद्योऽर्थे शुद्धः स शुद्धो भवति । यः पुनर्भृद्वारिश्चिष्वरर्थे चाशुद्धः सोऽशुद्ध एव ॥ १०६ ॥

# क्षान्त्या ग्रुघ्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः । प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥

श्नान्त्येति ॥ परेणापकारे कृते तस्मिन्प्रस्थपकारबुखानुत्पत्तिरूपया पण्डिताः शुध्यन्ति । यथा च वक्ष्यति (११।२४५)— 'महायज्ञित्रयाक्षमा । नाश-यन्त्याश्च पापानि' इति । अकार्यकारिणो दानेन । यथा वक्ष्यति (११।७६)— 'सर्वस्यं वेद्विदुषे ब्राह्मणाय' इति । अप्रख्यातपापा जप्येन । यथा वक्ष्यति— 'जपंस्तुपवसेद्दिनम्' इति । वेद्वित्तमाः वेदार्थचान्द्रायणादि तपोविदः 'तपसा' (११।१०१) इस्येकादशाष्याये वक्ष्यमाणेन ॥ १०७॥

मृत्तोयैः ग्रुध्यते शोध्यं नदी वेगेन ग्रुध्यति । रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥ १०८ ॥ मृत्तीयैरिति ॥ मकाश्रपद्दतं शोधनीयं मृजकैः शोध्यते । नदीप्रवादम श्लेष्माचशुनिदृषितो वेगेन शुध्यति । स्त्री च परपुरुषमेशुनसंकल्पादिदृषित-मानसा प्रतिमासार्तवेन तस्मात्पापाच्छुंद्धा भवति । ब्राह्मणस्य संन्यासेन षष्टा-ध्यायाभिधेयेन पापाच्छुध्यति ॥ १०८ ॥

> अद्भिर्गात्राणि ग्रुध्यन्ति मनः सत्येन ग्रुध्यति । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिज्ञीनेन ग्रुध्यति ॥ १०९ ॥

अद्भिरिति ॥ स्वेदाद्युपहतान्यङ्गानि जलेन क्षालितानि ग्रुध्यन्ति । मनश्च निषिद्धचिन्तादिना दूषितं सत्याभिधानेन ग्रुध्यति । भूतात्मा सूक्ष्मादिलिङ्ग-शरीरावच्छिन्नो जीवात्मा ब्रह्मविद्यया पापक्षयहेतुतया तपसा च शुद्धो भवति । ग्रुद्धः परमात्मरूपेणावतिष्ठते । बुद्धिश्च विपर्ययज्ञानोपहता यथार्थविषयज्ञानेन ग्रुध्यति ॥ १०९ ॥

एप शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः । नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः ग्रणुत निर्णयम्।। ११० ।। एष इति ॥ अयं शरीरसंबन्धिनः श्रीचस्य युष्माकं निश्रय उक्तः । इदानीं नानाप्रकारद्वव्याणां येन यच्छुध्यति तस्य निर्णयं ग्रणुत ॥ ११० ॥

> तैजसानां मणीनां च सर्वस्थाश्ममयस्य च । अस्पनाऽद्भिर्मृदा चैव ग्रुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११॥

तैजसेति ॥ तैजसानां सुवर्णादीनां मरकतादिमणीनां पाषांणमयस्य च सर्वस्य भसाना जलेन मृत्तिकया च मन्वादिभिः शुद्धिरुक्ता । निर्लेपस्य जले-नैवान्तरं शुद्धेर्वक्ष्यमाणस्वादिद्मुच्छिष्टचृतादिलिप्तिविषयम् । तत्र मृद्धसानो-र्शन्यक्षयैककार्यस्वाद्विकल्पः । आपस्त्भयत्र समुचीयन्ते ॥ १११ ॥

> निर्छेपं काश्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुध्यति । अङ्ममञ्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

निर्लेपमिति ॥ उच्छिष्टादिलेपरहितं सौवर्णभाण्डं, जलभवं च शङ्कमुक्तादि, पाषाणमयं च राजतमनुपस्कृतं रेखादिगुणान्तराधानरहितं तथानिधमला-संभवाजलेनेव भस्मादिगृहितेन शुध्यति ॥ ११२ ॥

अपामग्रेश्व संयोगाद्धेमं रौप्यं च निर्वभौ ।

तसात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

अपामग्नेरिति ॥ 'अभिवें वरुणानीरकामयत' इत्यादि वेदे श्रूयते । तथा 'अभेः सुवर्णमिन्द्रियं, वरुणानीनां रजतम्' इत्यादिश्चतिष्वश्यापःसंयोगात् सुवर्णं रजतं चोद्धतं, यस्मादतस्तयोः स्वेन कारणेनैव जलेनात्यन्तोपघाते-नाभिना निर्णेकः शुद्धिहेतुर्गुणवत्तरः प्रशस्ततरः ॥ ११३ ॥

१९ म० स्मृ०

# ताम्रायःकांखरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च । शौचं यथाई कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

ताम्राय इति ॥ अयो छोहं, रीतिः पित्तलं तद्भवं पात्रं रैत्यं, त्रपु रङ्गं, एषां भस्माम्लोदकैः शोधनं कर्तन्यम् ॥ यथाईं यस्य यद्ईति । 'भम्भसा हेमरौप्यायःकांस्यं ग्रुध्यति भसाना । अम्लैसाम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृन्मयम्' इति बृहस्पत्यादिवचनाद्विशेषोऽत्र बोद्धव्यः ॥ ११४ ॥

# द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्पृतम्। प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥

द्रवाणां चेति ॥ द्रवाणां घृततैलानां काककीटाद्यपहतानां बौधायनादि-वचनात्रस्तिमात्रप्रमाणानां प्रादेशप्रमाणकुशपत्रद्वयाभ्यासुत्पवनेन शुद्धिः। संहतानां च शच्यादीनामुच्छिष्टाद्युपघाते प्रोक्षणं, दारवाणां चात्यन्तोपघाते तक्षणेन ॥ ३१५ ॥

# मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि । चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥

मार्जनमिति ॥ चमसानां प्रहाणां चान्येषां यज्ञपात्राणां पूर्वं पाणिना मार्जनं कार्यम्, पश्चात् प्रक्षालनेन यज्ञे कर्तव्ये खुद्धिर्भवति ॥ ११६ ॥

> चरूणां सुक्सुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा। स्पयग्रुपंशकटानां च ग्रुसलोल्खलस्य च ॥ ११७॥

चरूणामिति ॥ स्नेहाकानां चरुसुमादीनामुष्णजलेन शुद्धिः । स्नेहाद्य-युक्तानां तु जलमात्रेणैव शुद्धिर्यज्ञार्थम् ॥ ११७ ॥

> अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहुनां धान्यवाससाम् । प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥

अद्भिस्त्वित ॥ बहुनां धान्यानां वस्त्राणां च चाण्डालाद्युपघाते जलेन ओक्षणाच्छुद्धिः । बहुत्वं च पुरुषभारद्दार्याधिकत्वमिति व्याचक्षते । तदस्पानां तु प्रक्षालनाच्छुद्धिर्मन्वादिभिरुपदिश्यते ॥ ११८॥

चैलवचर्मणां शुद्धिवैंदलानां तथैव च।

शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥ ् चैलवदिति ॥ स्पृरुपपशुचर्मणां वंशादिद्छनिर्मितानां च वस्रवच्छुद्धि-र्भवति । शाकमूळफळानां च धान्यवच्छुद्धिः ॥ ११९ ॥

# कौशेयाविकयोरूपैः इतपानामरिष्टकैः । श्रीफलैरंञ्जपट्टानां क्षोमाणां गौरसर्पपैः ॥ १२० ॥

कौशेयेति ॥ कृमिकोशोद्भवस्य वस्त्रस्य, मेषादिलोमप्रभवस्य कम्बलादेः, ऊषैः क्षारमृत्तिकाभिः, कृतपानां नेपालकम्बलानामिरष्टकैररिष्टचूणैः, अंग्रुप्टानां पट्टशाटकानां बिल्वफलैः, श्रौमाणां दुकूलानां क्षुमावल्कलभवानां वस्त्राणां तु पिष्टश्चेतसर्षपप्रक्षालनाच्छुद्धिः ॥ १२० ॥

क्षोमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य-च । शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

श्रीमचिद्ति ॥ शङ्कस्य पशुश्रङ्गाणां स्पृत्रयपश्वस्थिभवस्य गजादिदन्तस्य च क्षौमवित्पष्टश्वेतसर्षपकल्केन गोमृत्रजलयोरन्यतरयुक्तेन शास्त्रविदा श्रद्धिः कर्तन्या ॥ १२१ ॥

> प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति । मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

प्रोक्षणात्त्रणकाष्ठं चेति ॥ तृणकाष्ठपळाळं च चाण्डाळादिस्पर्शदूषितं प्रोक्षणेन शुध्यति। तृणपळाळसाहचर्यादिद्मिन्धनादिकाष्ठविषयम्। 'दारवाणां च तक्षणम्' (५।११५) इति निर्मितदारुमयगृहपात्रविषयम्। गृहसुद्क्यानिवासादिद्षितं मार्जनगोमयाशुपळेपनेन । सृन्मयभाण्डसुच्छिष्टादिस्पर्शदूषितं पुनःपाकेन शुध्यति ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषेर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥

मद्यैरिति ॥ मद्यादिभिस्तु संस्पृष्टं मृन्मयपात्रं पुनःपाकेनापि न शुध्यति । ष्ठीवनं श्रेष्मा, पूर्वं शोणितविकारः ॥ १२३ ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।

गवां च परिवासेन भूमिः ग्रुध्यति पश्चभिः ॥ १२४ ॥

संमार्जनेति । अवकस्शोधनेन गोमयाद्युपलेपनेन गोमूत्रोदकादिसेकेन स्नात्वा कतिपयमृद्पनयनेन गवामहोरात्रनिवासेन पञ्चभिरेकेकशो भूमिः ग्रुध्यति । एषां चोच्छिष्टमूत्रपुरीषचण्डालनिवासाद्युपघातगौरवलाघवाभ्यां समुचयविकल्पाववगन्तन्यौ ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवाघातमवधृतमवक्षुतम् । दृषितं केशकीटैश्र मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥ पक्षिजग्धमिति ॥ भक्ष्यपक्षिभिनंतु काकगृधादिभिः कश्चिन्नागो यस

भिक्षतः, गवा यस्याञ्चाणं कृतं, पदा चावधृतम्, उपरि कृतक्षुतं, केशकीट-दूषितं, 'जम्भ'शब्द् छिङ्कादसम्भएपं मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः । तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

याचिद्ति ॥ विष्ठादिलिसाङ्ग्याद्यावत्तत्संबिन्धनी गन्धलेपौ तिष्ठतस्ताव-इत्यमुद्ध्य मृद्वारि प्रक्षिप्य प्रहीतन्यम्। यत्र च वसामजादौ मृदा ग्रुद्धिसत्त्र मृत्सहितं जलप्रहणं कर्तम्यम् । यत्र कर्णमलादौ जलेनैव ग्रुद्धिसत्र जलमात्र-मिस्यवगन्तन्यम् ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्भिनिणिक्तं यच वाचा प्रश्नस्यते ॥ १२७॥

त्रीणि देवा इति ॥ केनापि प्रकारेणादृष्टोपघातहेतुसंसर्गमदृष्टम् । संजातोपघातशङ्कायां जलेन प्रक्षालितम् । तदाह हारीतः—'यद्यन्मी-मांस्यं स्यात्तत्तद्भिः स्पर्शाच्छुदं भवति' । उपघातशङ्कायामेव 'पवित्रं भवतु' इति ब्राह्मणवाचा यत्प्रशस्यते तानि त्रीणि पवित्राणि देवा ब्राह्मणानां कल्पितवन्तः ॥ १२७ ॥

आपः शुद्धा भूमिगता वैद्युष्ण्यं यासु गोर्भवेत् । अन्याप्ताश्रेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

आपः शुद्धा इति ॥ यत्परिमाणास्त्रप्सु गोः पिपासाविच्छेदो भवति ता भाषो गन्धवर्णरसशालिन्यः सत्यः यद्यमेध्यलिप्ता न भवन्ति तदा विशुद्ध-भूमिगता विशुद्धाः स्युः । भूमिगता इति विशुद्धभूमिसंबन्धप्रदर्शनाय न स्वन्तरिक्षगतानां निवृत्त्यर्थम् ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पंण्ये यच प्रसारितम् ।

ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

नित्यं शुद्ध इति ॥ कारोर्मालाकारादेदेवद्याद्याणाद्यथेऽपि माल्यादिअथने द्रव्यप्रयोजनाद्यपेक्षया शुद्धिविद्रोषाकरणेऽपि स्वभावादेव हस्तः सर्वदा शुद्धः । तथा जननमरणयोरपि स्वन्यापारे शुद्धः । 'न त्वाद्योचं कारूणां कारूकर्मणि' इति वचनात् । तथा यद्विकेतव्यं पण्यवीधिकायां प्रसारितं 'नापणनीयमञ्जनभीयात्' इति शङ्कवचनात्सिद्धाञ्चव्यतिरिक्तं तदनेककेतृकरस्पर्शेऽपि शुद्ध-मेव । तथा च ब्रह्मचार्यादिगतभैक्ष्यमनाचान्तस्त्रीदत्तमपि रथ्याविक्रमणेऽपि सर्वदा शुद्धमिति शास्त्रमर्यादा ॥ १२९ ॥

नित्यमास्यं ग्रुचि स्त्रीणां ग्रँकुनिः फलपातने । प्रस्तवे च ग्रुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे ग्रुचिः ॥ १३० ॥ नित्यमास्यमिति ॥ सर्वदा क्षीणां मुखं ग्रुचि, तथा काकादिपक्षिणां चब्रूप-

<sup>्</sup>रपादा०—1 पण्यं, 2 शकुनैः.

घातपतितं फलं शुनि, वत्समुलं च दोहसमये क्षीरप्रक्षरणे शुनि, श्वा च यदा सृगादीन्हन्तुं गृह्णाति तदा तत्र न्यापारे श्रुचिः स्थात् ॥ १३० ॥

> श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरत्रवीत् । ऋव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्वण्डालादैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥

श्वभिरिति ॥ कुक्कुरैईतस्य सृगादेर्यन्मांसं तच्छुचि सुनिरवोचत्। तच्छ्राद्धा-द्यतिथिभोजनादावेव द्रष्टव्यम् । अन्यैश्वाममांसादिभिव्याप्रक्रयेनादिभिश्व व्याधादिभिश्व सृगवधजीविभिर्हतस्य ॥ १३१ ॥

> ऊर्घ्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः । यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाचैव मलाश्युताः ॥ १३२ ॥

ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ यानि नाभेरूपरीन्द्रियच्छिद्राणि तानि सर्वाणि पवि-त्राणि भवन्ति । अतस्तेषां स्पर्शने नाशोचम् । यानि नाभेरधस्तान्यश्चनीनि भवन्ति अधिदछदेषु च । बहुवचनं व्यक्तिबहुत्वापेक्षया । वक्ष्यमाणाश्च वसादयो देहमला देहान्निःसता अशुद्धा भवन्ति ॥ १३२ ॥

मक्षिका विष्ठुषञ्छाया गौरश्वः सर्यरञ्मयः । रजो भूर्वायुरिप्रश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥

मिश्रकेति॥ मिश्रका अमेध्यस्पर्शिन्योऽपि, विशुषो सुस्रतिःसता अल्पा जलकणाः, छाया पतितादेहीनस्पर्शस्यापि, गवादीनि चाम्निपर्यन्तानि चण्डा-लादिस्प्रष्टानि स्पर्शे शुचीनि जानीयात्॥ १३३॥

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्धचर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् । दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्त्रपि ॥ १३४ ॥

विण्मूत्रेति ॥ विण्मूत्रमुत्स्रज्यते येन स च विण्मूत्रोत्सर्गः पाय्वादिसस्य शुष्ययं मृद्वारि प्रहीतव्यमर्थवत्प्रयोजनवत् यावता गन्धलेपक्षयो भवति । तथा शारीराणां वसादिमलानां संबन्धिषु द्वादशस्यि गन्धलेपक्षयार्थं मृद्वारि प्राह्म । तत्र स्मृत्यन्तरात्पूर्वपद्वे मृज्जलप्रहणम् । उत्तरपद्वे जलमात्र-प्रहणम् । तदाह बौधायनः—'भाददीत मृदोऽपश्च षद्मु पूर्वेषु शुद्धये । उत्तरेषु च षदस्वद्भिः केवलाभिर्विश्चध्यति ॥' तत्रश्च 'द्वादशस्यि'हति मानवं मृद्वारिग्रहणवचनं व्यवस्थया मृद्वारिणोर्ग्रहणे सति न विरुध्यते । गोविन्द्राजस्तु मनु-बौधायनवचनसंदर्शनादुत्तरपद्वेऽपि विकल्पमाहः स च व्यवस्थितो दैवपित्राद्यदृष्ठभीप्रवृत्ते उत्तरेष्विष मृद्मादद्याञ्चान्यद्या ॥ १३४ ॥

वसाशुक्रमसृङ्माञा मूत्रविङ्घाणकर्णविद् । श्लेष्माश्च दृषिका खेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ १३५॥ वसेति ॥ वसा कायम्नेहः, श्लुकं रेतः, असक् रक्तं, मजा किरोमध्ये पिण्डितस्नेहः, दूषिका श्रक्षिमलः, स्वेदः श्रमादिना देहनिःस्तं जलम्। वसादयो द्वादश नराणां देहिका मला भवन्ति ॥ १३५ ॥

# एका लिक्ने गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश । उभयोः सप्त दातच्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥

एका लिङ्ग इति ॥ मूत्रपुरिषोत्सर्गे सित शुद्धिमभीप्सता 'मृद्दार्यादेयमर्थ-वत्' (५१११४) इत्युक्तत्वाजलसिहता मृदेका लिङ्गे दातन्या, गुदे तिस्रो मृदः, तथैकस्मिन्करे वामे। 'शौचिवद्क्षिणं इस्तं नाधःशौचे नियोजयेत्। तथैव वाम-इस्तेन नाभेरूध्वं न शोधयेत् ॥' इति देवलवचनात्तस्यवाधःशोचसाधनत्वात्त-त्रेव दश मृदो दातन्याः। तत उभयोः करयोः सप्त दातन्याः। यदा तूक्त-शौचेनापि गन्धलेपक्षयो न भवति तदा 'यावदपेस्रमेध्याकात्' इति वचनाद-धिकसंख्यापि मृद्दातन्या। एतद्विषयाण्येव मुनीनामधिकमृत्संख्यावचनानि। मृत्परिमाणमाह दक्षः (द.स्ट.५१८)—'लिङ्गेडपि मृत्समाख्याता त्रिपवीं पूर्यते यया। द्वितीया च तृतीया च तद्धार्धा प्रकीर्तिता ॥' इति । यदा त्क-संख्याया अल्पेनापि गन्धलेपक्षयो भवति तदा संख्यावाक्यारम्भसामर्थ्या-त्संख्या प्रयितन्यव ॥ १३६॥

> एतच्छीचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

एतच्छोचिमिति॥ 'एका लिङ्गे' (५।१३६) इत्यादि यच्छोचमुक्तं तद्गृहस्थाना-मेव; ब्रह्मचारिणां द्विगुणं, वानप्रस्थानां त्रिगुणं, यतीनां पुनश्रतुर्गुणम्॥१३७॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् । वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्चंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

कृत्विति ॥ मूत्रपुरीषं कृत्वा कृतयथोक्तशौचिश्वराचान्तः इन्द्रियच्छिद्राणि शीर्षण्यानि च स्पृशेत् वेदाध्ययनं चिकीषैन्, असं वासन् । यतु द्वितीयाध्याये (२१७०) 'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो', 'निवेद्य गुरवेऽश्रीयादाचम्य' (२१५१) इत्युभयमुक्तं तद्वताङ्गत्वार्थम्, इदं तु पुरुषार्थशौचायेत्यपुनरुक्तिः ॥ १३८॥ 'आचान्त' (५।१३८) इति यदुक्तं तत्र विशेषमाह—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमुज्यात्ततो मुखम् ।

शारीरं शौचिमिच्छन्हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३९ ॥ त्रिराचामेदिति ॥ देहस्य शुद्धिमिच्छन्प्रथमं वारत्रयमपो भक्षगेत् । ततो द्विशुंखं परिमृज्यात् । स्त्री शूद्धश्रेकवारमाचमनार्थमुद्दकं अक्षगेत् ॥ १३९ ॥

ग्रुद्राणां मासिकं कार्य वपनं न्यायवर्तिनाम् । वैश्यवच्छीचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च मोजनम् ॥ १४०॥ अञ्चल्यामिति ॥ ग्रुद्राणां कार्यमिति 'कृत्यानां कर्तरि वा' (पा.राहा७१) इति कर्तरि पष्टी । यथाशास्त्रव्यवहारिभिद्धिंजशुश्रूपकैः शुद्धैर्मासि मासि मुण्डनं कार्यं, वैश्यवच मृतस्तकादो शौचकल्पोऽनुष्ठातव्यः; द्विजोच्छिष्टं च भोज-नम् । भुज्यत इति भोजनं कार्यमिति ॥ १४० ॥

'निष्ठी ब्योक्त्वानृतानि च' (५।१४५) इति निष्ठीवतामाचमनविधानाद्धि-दुषामि मुखान्निःसरणं निष्ठीवनमेवेति प्रसक्तौ शुर्खार्थमपवादमाह—

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विष्ठुषोऽङ्गे पैतन्ति याः । न इमश्रुणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरिषष्ठितम् ॥ १४१ ॥

नोच्छिष्ट्रमिति ॥ मुखभवा विप्रुषो या अङ्गे निपतन्ति ता उच्छिष्टं न कुर्वन्ति । तथा इमश्रुलोमानि मुखप्रविष्टानि नोच्छिष्टतां जनयन्ति । दन्तावकाशस्थितं चान्नावयवादि नोच्छिष्टं कुरुते।अत्र गौतमीये (गौ.स्मृ.१।५) विशेष:-'दन्ताश्चिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्नाभिमर्षणात्प्राक् च्युते'रिति । एके

'च्युतेष्वाहारवद्विद्यान्निगिरक्षेव तच्छुचिः'॥ १४१ ॥

स्पृश्चन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान् । भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥

स्पृदान्तीति ॥ अन्येषामाचमनार्थं जलं दृदतां ये बिन्दवः पादौ स्पृशन्ति न जङ्घादि विद्युद्धभूमिष्ठोदकेस्तुल्यास्तेन नाचमनाहों भवति । तदा तत्र च्यवनावस्थैरकृताचमनः सुध्यति, दृज्यं च सुध्यति ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन । अनिधायैव तद्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

उच्छिष्टेनेति ॥ 'इन्यहस्त'पदेन शरीरसंबन्धमात्रं द्रन्यस्य विवक्षितम् । आमणिबन्धात्पाणि प्रक्षाल्येति इन्यहस्तस्याचमनासंभवात्स्कन्धादिस्थित-द्रन्यो यद्यच्छिष्टेन संस्पृष्टो भवति तदा द्रन्यमनवस्थाप्येव कृताचमनः श्रुध्यति, द्रन्यं च शुद्धं भवति ॥ १४३ ॥

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् । आचामेदेव ग्रुक्त्वानं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४॥

वान्त इति ॥ कृतवमनः संजातिवरेकः स्नात्वा घृतप्राशनं कुर्यात् । 'दश विरेकान्विरिकः' इति गोविन्दराजः । यदि अक्तवा अनन्तरमेव वमित तदा आचमनमेव कुर्यात्र स्नानघृतप्राशने । मैथुनं च कृत्वा स्नायात् । इदं त्वृतु-मतीविषयम् ॥ १४४ ॥

सुःत्वा क्षुत्वा च सुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च । पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥१४५॥ सुःवेति ॥ निद्राञ्जदोजनश्चेष्णनिरसनमृषावादजलपानादि कृत्वाध्ययनं

पाठा०-1 न यन्ति याः.

विकीर्षुः शुचिरप्याचामेत् । यत्तु 'भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यक्' (२।५३) इति, तथा 'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः' (२।७०) इति द्वितीयाध्यायोक्तं तद्वताङ्गत्वेन।इह तु भुक्त्वाचमनविधानं पुरुषार्थम्, अध्ययनाङ्गतयाचमन-विधानं गृहस्थादीनामपीति ॥ १४५॥

एष शौचिविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च । उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मात्रिबोधत ॥ १४६ ॥

एप शौचिविधिरिति ॥ एप वर्णानां जननमरणादौ दशरात्रादिरशौच-विधिः समग्रो द्रव्याणां तैजसादीनां चेलादीनां च जलादिना गुद्धिविधि-र्युष्माकमुक्तः । इदानीं भीणामनुष्टेयं धर्मे श्रणुत ॥ १४६ ॥

बालया वा युवत्या वा दृद्धया वापि योषिता ।

न स्वातच्येण कर्तव्यं किंचित्कार्य गृहेष्विप ॥ १४७॥ बालया वेति ॥ बाल्ये यौवने वार्धके च वर्तमानया किंचित्सूक्ष्ममिष कार्यं भर्त्राद्यनतुमतं न स्वातच्येण कर्तव्यमिति ॥ १४७॥

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।

पुत्राणां भर्तिर प्रेते न भजेत्स्नी स्वतन्त्रताम् ॥ १४८॥ वाल्ये पितुरिति ॥ किंतु बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् , यौवने भर्तुः, भर्तिर मृते पुत्राणाम् ; तदभावे 'तत्सिपण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियः । पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्विया मतः ॥' इति नारदवचनात् ज्ञातिराजा-दीनामायत्ता स्यात्, कदाचित्र स्वतन्त्रा भवेत् ॥ १४८॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेदिरहमात्मनः । एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

पित्रा भन्नेति ॥ पित्रा पत्था पुत्रैर्वा नात्मनो विरहं कुर्यात् । यसादेषां वियोगेन स्त्री बन्धकीभावं गता पतिपितृकुछे निन्दिते करोति ॥ १४९ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहेकार्ये च दक्षया । सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

सद् प्रहृष्ट्येति ॥ सर्वदा भर्तरि विरुद्धेऽपि प्रसन्नवदनया गृहकर्मणि चतुरया सुशोधितकुण्डलकटाहादिगृहभाण्डया व्यये चाबहुप्रदया स्त्रिया भवितव्यम् ॥ १५० ॥

यसै द्द्यात्पिता त्वेनां आता वाऽनुमते पितुः । तं ग्रुश्रूपेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्क्षयेत् ॥ १५१ ॥ यसै द्द्यादिति ॥ यसै पिता एनां द्यास्पितुरनुमस्या आता वा तं

<sup>•</sup> पाठा०—1 गृहकार्येषु.

जीवन्तं परिचरेन्मृतं च नातिकामेत् ; न्यभिचारेण तदीयश्राद्धतर्पणादिविरहि-तया पारकौकिककृत्यखण्डनेन च ॥ १५१ ॥

> मङ्गलार्थं खस्त्ययनं यज्ञश्वासां प्रजापतेः । प्रयुज्यते विवेहिषु प्रदानं खाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

मङ्गलार्थिमिति ॥ यदासां स्वस्त्ययनशान्यनुमञ्जवचनादिरूपं, यश्चासां प्रजापतियागः प्रजापत्युदेशेनाज्यहोमात्मको विवाहेषु क्रियते तन्मक्रलार्थम-भीष्टसंपत्त्यर्थं कर्म । यत्पुनः प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः स्वाम्य-जनकम् । ततश्च वाग्दानादारभ्य स्वी भर्तृपरतन्त्रा । तस्मात्तं श्रयतेति पूर्वोक्त-शेषः । यत्तु श्रष्टमे वक्ष्यते 'तेषां निष्ठा तु विशेषा विद्वद्भिः सप्तमे पदे' (८।२२७) इति तद्भार्यात्वसंस्कारार्थमित्यविरोधः ॥ १५२ ॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः।

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥

अनृताविति ॥ यतः मन्नसंस्कारो विवाहसास्कर्ता भर्ता 'ऋतावुपेयात्सर्वन्न वा प्रतिषिद्धवर्जम्' (गौ. स्ट. ५।१) इति गौतमवचनादतुकाले अन्यदा च नित्यमिष्ट लोके च सुखस्य दाता तदाराधनेन च स्वर्गादिप्राप्तेः परलोकेऽपि सुखस्य दातेति ॥ १५३ ॥

तसात्,-

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः । उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

विश्वील इति ॥ सदाचारग्र्स्यः चयन्तरानुरक्तो वा विद्यादिगुणहीनो वा तथापि साध्व्या खिया देववरपतिराराधनीयः ॥ १५४ ॥

यसाच,---

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नीप्युपोषणम् । पति शुश्रुषते येन तेन खर्गे महीयते ॥ १५५ ॥

नास्ति स्त्रीणामिति॥ यथा भर्तुः कस्याश्चित्पक्या रजोयोगादिका अनुप-स्थिताविष पढयन्तरेण यज्ञनिष्पत्तिः, तथा न स्त्रीणां भर्जा विना यज्ञ-सिद्धिः। नापि भर्तुरज्ञमतिमन्तरेण व्रतोपवासौ फिंतु भर्तृपरिचर्ययेव स्त्री स्वर्गलोके पूज्यते॥ १५५॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा । पति लोकमभीप्सन्ती नाचरेतिकचिदप्रियम् ॥ १५६ ॥ पाणिग्राहस्थेति ॥ पत्था सह धर्माचरणेन योऽजितः सर्गादिकोकः विम-

पाठा०-1 विवाहे तु. 2 नाप्युपोषितं.

च्छन्ती साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा भर्तुर्न किंचिद्प्रियमर्जयेत् । मृत-स्याप्रियं व्यभिचारेण विहितश्राद्धसण्डनेन च ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेदेहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।

न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यो प्रेते परस्य तु ।। १५७ ॥ कामं त्विति ॥ वृश्तसंभवेऽपि पुष्पमूलफलैः पवित्रैश्च देहं क्षपयेदल्पाहारेण क्षीणं कुर्यात् । न च भर्तेरि मृते व्यभिचारधिया परपुरुषस्य नामाष्युचारयेत् ॥

एवं च सति,—

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।

यो धर्म एकपत्तीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ।। १५८ ॥ आसीतेति ॥ क्षमायुक्ता नियमवती एकभर्तृकाणां यो धर्मः प्रकृष्टतम-स्तिमच्छन्ती मधुमांसमैथुनवर्जनात्मक ब्रह्मचर्यशालिनी मरणपर्यन्तं तिष्ठेत् । अपुत्रापि पुत्रार्थं न परपुरुषं सेवेत ॥ १५८ ॥

यसात्,--

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।

दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंत्रतिम् ॥ १५९ ॥

अनेकानीति ॥ बाल्यत एव ब्रह्मचारिणामकृतदाराणां सनकवालिखल्या-दीनां ब्राह्मणानां बहूनि सहस्राणि कुलवृद्धर्थं संततिमनुत्पाद्यापि स्वर्गं गतानि ॥ १५९ ॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।

स्वर्ग गच्छत्यपुत्रापि यथा ते बहाचारिणः ॥ १६०॥

मृते भर्तरीति ॥ साध्वाचारा स्त्री मृते भर्तर्थकृतपुरुषान्तरमैथुना पुत्ररहि-तापि स्तर्गे गच्छति । यथा ते सनकवालखिल्यादयः पुत्रश्चन्याः स्वर्गे गताः १६०

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ।

सेह निन्दामवामोति परलोकाच हीयते ॥ १६१ ॥

अपत्यलोभादिति ॥ 'पुत्रो मे जायतां तेन स्वर्ग प्राप्यामि' इति लोभेन या स्वी भर्तारमतिकम्य वर्तते । न्यभिचरतीत्यर्थः । सेह लोके गर्हा प्रामोति । परलोकं च स्वर्ग तेन पुत्रेण न लभते ॥ १६१ ॥

अत्रैव हेतुमाह-

नान्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह नै चाप्यन्यपरिग्रहे !

न द्वितीयश्च साध्वीनां कचिद्धतींपदिश्यते ॥ १६२ ॥ नान्योत्पन्नेति ॥ यसाद्वर्ण्यतिरिक्तेन पुरुषेणोत्पन्ना सा प्रजा तस्याः साम्रीया न भवति । न चान्यपत्यासुत्पादितोत्पादकस्य प्रजा भवति । एत-

पाठा०-1 पतिलोकाच. 2 न चान्यस्य परिगृहे.

चानियोगोत्पादिताविषयम् । बहुभर्तृकेयमिति लोकप्रसिद्धेः द्वितीयोऽपि भर्तेव । तस्मादन्योत्पादितत्वमसिद्धमित्याशङ्काह—नेति । लोके गर्हामसि-द्धाविष साध्वाचाराणां न कचिच्छास्त्रे द्वितीयोपभर्तोपदिश्यते । एवं च सित पुनर्भूत्वमिष प्रतिषिद्धम् ॥ १६२ ॥

> पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते । निन्धैव सा भवेछोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥

पतिमिति ॥ अपकृष्टं क्षत्रियादिकं स्वकीयं पतिं त्यक्त्वोत्कृष्टं ब्राह्मणादिकं या आश्रयति सा लोके गईणीयैव भवति । परोऽन्यः पूर्वे भर्ताऽस्या अभू-दिति च लोकेरुच्यते ॥ १६३ ॥

व्यभिचारफलमाह—

व्यंभिचारातु मर्तुः स्त्री लोके प्राप्तोति निन्द्यताम् । ग्रुगालयोनिं प्राप्तोति पापरोगैश्र पीड्यते ॥ १६४ ॥

व्यभिचारादिति ॥ परपुरुषोपभोगेन स्त्री इह लोके गईणीयतां लभते, मृता च श्रगाली भवति, कुष्ठादिरोगैश्र पीड्यते ॥ १६४ ॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।

सा मर्तृलोकमामोति सद्भिः साध्वीति चीच्यते ॥ १६५॥

पतिमिति ॥ मनोवाग्देहसंयतेति विशेषणोपादानाद्या मनोवाग्देहेरेव भर्तारं न व्यभिचरति सा भर्तृमात्रनिष्टमनोवाग्देहव्यापारत्वाद्वर्त्रा सहार्जि-ताँ छोकान्प्रामोति । इह च शिष्टैः साध्वीत्युच्यते । वाद्यनसाभ्यामपि पतिं न व्यभिचरेदिति विधानार्थो दैहिकव्यभिचारनिवृत्तेरुकाया अप्यनुवादः १६५

अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।

इहाप्रयां कीर्तिमामोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥ अनेनेति ॥ अनेन स्वीधर्मप्रकारेणोक्तेनाचारेण पतिशुश्रूषाभर्त्रन्यभिचारा-दिना मनोवाकायसंयता स्त्री इह लोके च प्रकृष्टां कीर्ति परत्र पत्या सहा-जितं च स्वर्गादिलोकं प्राप्नोतीति प्रकरणार्थोपसंहारः ॥ १६६ ॥

> एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् । दाहयेद्गिहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मिक्त ॥ १६७॥

एवंवृत्तामिति ॥ द्विजातिः समानवर्णां यथोकाचारयुकां पूर्वमृतां श्रौत-सार्ताप्तिभियंज्ञपात्रेश्च दाहधर्मजो दाहयेत् ॥ १६७ ॥

भार्याये पूर्वमारिण्ये दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि । पुनर्दारिकयां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥ भार्येति ॥ पूर्वमृताया अन्लकर्मणि दाहनिमित्तमक्षीनसमर्प्य गृहस्थाश्रम-

पाठा०-1 हित्वावकृष्टं. 2 व्यभिचारे तु.

मिच्छञ्जरपञ्च पुत्रोऽनुत्पञ्च पुत्रो वा पुनर्विवाहं कुर्यात् । स्मार्तामीन्श्रोताभीन्वा साद्ध्यात् ॥ १६८ ॥

> अनेन विधिना नित्यं पश्चयज्ञात्र हापयेत् । द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां पश्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अनेनेति ॥ अनेन तृतीयाध्यायाद्युक्तविधिना प्रत्यहं पञ्चयज्ञास त्यजेत् । द्वितीयमायुर्भागं कृतदारपरिग्रहोऽनेनैव यथोक्तविधिना गृहस्थविहितान्धर्मा-ननुतिष्ठेत् । गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानां प्रकृष्टधर्मज्ञापनार्थं पृथङ्किर्देशः १६९

इति श्रीकुहूकभद्रकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ पत्रमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

#### षष्ठोऽध्यायः ६

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः। वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

एवमिति ॥ भाश्रमसमुखयपक्षाश्रितो द्विजातिः कृतसमावर्तन उक्तप्रका-रेण यथाशास्त्रं गृहाश्रममनुष्टाय नियतः कृतनिश्चयो यथाविधानं वक्ष्यमाण-धर्मेण यथाई विशेषेण जितेन्द्रियः । परिपक्षकषाय इत्यर्थः । वानप्रस्थाश्रम-मनुतिष्ठेत् ॥ १ ॥

> गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्येव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

गृहस्थास्त्वित ॥ गृहस्थो यदात्मदैहस्य त्वक्शैथिल्यं केशधावल्यं पुत्रस्य पुत्रं च पश्यति तथाविधवयोवस्थया विगतविषयरागतया वनमाश्रयेत् ॥२॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वे चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्यो निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

संत्यज्येत्यादि ॥ याम्यं बीहियवादिकं भक्ष्यं सर्वं च गवाश्वशस्यादिपरि-च्छदं परित्यज्य विद्यमानभार्यश्च वनवासमिनिच्छन्तीं भार्या पुत्रेषु समर्प्यं इच्छन्त्या च सहैव वनं गच्छेत् ॥ ३ ॥

> अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् । ग्रामादरण्यं <sup>1</sup>निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रमिति ॥ श्रोताग्निमावसथ्याग्निमझ्युपकरणं च सुक्सुवादि गृहीत्वा प्रामादरण्यं निःसत्य गत्वा संयतेन्द्रियः सन्निवसेस् ॥ ४ ॥

पाठा०-1 निष्कम्य.

मुन्यन्नेविंविधेमें ध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञानिर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

मुन्यन्नेरिति ॥ सुन्यन्नेर्नीवारादिभिर्नानाप्रकारैः पवित्रैः शाकमूलफ्लैर्वा-डरण्योद्भवैः । एतानेवेति गृहस्थस्य पूर्वोक्तान्महायज्ञान्यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् ५

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्त्रगे तथा। जटाश्र विभृयान्नित्यं रमश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

वसीतेति ॥ मृगादिचर्म वृक्षवल्कलं वा माच्छाद्येत् । हारीतेन तु 'वल्क-रुशाणचर्मचीरकुश्मुञ्जफलकवासाः' इति विद्धता वल्कलादिकमप्यनुज्ञा-तम् । सायंत्रातः स्नायात् । जटाइमश्चलोमनखानि नित्यं धारयेत् ॥ ६॥

यंद्भक्ष्यं सात्ततो द्याद्वित भिक्षां च शक्तितः। अम्मूलफलभिक्षाभिर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

यद्भक्ष्यमिति ॥ यद्धश्लीत ततो यथाशक्ति बार्ले भिक्षां च दद्यात् । बल्डि-मिति त वैश्वदेवनित्यश्राद्धयोरुपलक्षणम् । 'एतानेके महायज्ञान्' (४।२२) इति विहित्वात् भाश्रमागताञ्जलफलमूलभिक्षादानेन पूजयेत् ॥ ७ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्वाद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८॥

स्वाध्याये इति ॥ वेदाभ्यासे नित्ययुक्तः स्यात् । शीतातपादिद्व-द्वसहिष्णुः सर्वोपकारकः संयतमनाः सततं दाता प्रतिप्रहनिवृत्तः सर्वभूतेषु कृपावान् भवेत् ॥ ८॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि । द्र्मस्कन्द्यन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

वैतानिकामिति ॥ गाईपत्यकुण्डस्थानामग्नीनामाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्ड-योविंहारो वितानं तत्र भवं वैतानिकमिशहोत्रं यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् । दर्श पौर्णमासं च पर्वेति श्रोतसार्वदर्शपौर्णमासौ योगतः स्वकाले अस्कन्द्यसपरि-त्यजन्, भार्यानिक्षेपपक्षे च रजस्वलायामिव भार्यायामेतेषामनुष्टानस्वितम्। विशेषाश्चवणात्॥ ९॥

> क्रंक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्। तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

ऋझेति ॥ ऋझेष्टिर्नक्षत्रेष्टिः, आग्रयणं नवसस्येष्टिः, ऋसेष्ट्याग्रयणं चेति समाहारद्वन्द्वः । तथा चातुर्मास्यतुरायणदाक्षायणानि श्रीतकर्माणि क्रमेण कुर्यात् । अत्र केचित्-सर्वमेतच्छ्रौतं दर्शपौर्णमासादि कर्म वानप्रस्थस्य स्तुत्यर्थ-मुच्यते, नःवस्यानुष्ठेयं ग्राम्यत्रीद्यादिसाध्यस्वादेषां च । नच स्मृतिः श्रौताङ्ग-

2 °दाश्रमागतम्. 3 दर्शेष्ट्यात्रयणं, **पाठा**0—1 यद्गक्षः.

बाधने शक्तेत्याहुः; तदसत् । 'वासन्तशारदैः' (६।११) इत्युत्तरस्त्रोके सुन्य-क्वैनीवारादिभिर्वानप्रस्वविषयतया स्पष्टस्य चरुपुरोदाशादिविधेर्वाधनस्या-न्याय्यत्वात् । गोविन्दुराजस्तु ब्रीझादिभिरेव कथंचिद्रण्यजातेरेतान्निर्वर्ते यिष्यत इत्याह ॥ १०॥

वासन्तशारदैभेंध्येर्धन्यन्नः खयमाहतैः ।

पुरोडाशांश्ररूंश्रेव विधिवनिर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

वासन्तेत्यादि ॥ वसन्तोद्भवैः शरदुद्भवैर्मध्येर्यागाङ्गभृतैर्भुन्यश्चेर्नीवारा-दिभिः स्वयमानीतैः पुरोडाशांश्चरून्यथाशास्त्रं तत्तवागादिसिद्धये संपादयेत्॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।

शेषमात्मनि युद्धीत लवणं च खयं कृतम् ॥ १२ ॥

देवताभ्य इत्यादि॥ तद्वनोद्भवनीवारादिकसाधितमतिशयेन यागाई इतिरेवताभ्य उपकल्प्य शेषाञ्चमुपभुश्जीत । आत्मना च कृतं लवणमूषर-खवणाष्ट्रपभुश्जीत ॥ १२ ॥

खलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।

मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्रेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥

स्थळजेति ॥ स्थलजलोद्भवशाकान्यरण्ययज्ञियवृक्षोद्भवानि पुष्पमूलफला-नीक्कुचादिफलोद्भवांश्च स्नेहानचात् ॥ १३ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।

भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

वर्जयेदिखादि ॥ माक्षिकं, मांसं, भौमानीति प्रसिद्धिदर्शनार्थम् ; भौमादीनि, कवकानि छत्राकान्, भूस्तृणं माछवदेशे प्रसिद्धं शाकं, शिप्रुकं वाहीकेषु
प्रसिद्धं शाकं, श्रेष्मातकफलानि वर्जयेत्।गोविन्दराजस्तु भौमानि कवकानीत्यन्यव्यवच्छेदकं विशेषणमिच्छन्भौमानां कवकानां निषेधः,वार्क्षाणां तु भक्षणमाहः, तद्युक्तम्। मनुनेव पञ्चमे द्विजातेरेव कवकमात्रनिषेधाद्वनस्थगोचरतया
नियमातिशयस्योचितत्वात्। यमस्तु—'भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्ति
ये। ब्रह्मशांस्तान्विजानीयाद्वह्मवादिषु गार्हितान्॥' इति विशेषेण वृक्षजस्यापि
निषेधमाह। मेधातिथिस्तु भौमानीति स्वतन्त्रं पदं वदन् गोजिह्विका नाम कश्चित्यदार्थों वनेचराणां प्रसिद्धस्तद्विषयं निषेधमाह। तद्षि बहुष्विभधानकोषादिव्यप्रसिद्धं न श्रद्धीमहि। कवकानां द्विजातिविशेषे पाञ्चमिकं निषेधे सत्यिष
पुनर्निषेघो भूस्तृणादीनां निषेधेऽपि च समप्रायश्चित्तविधानार्थः॥ १४॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि ग्रन्यनं पूर्वसंचितम् ।

जीणीनि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५॥ ं त्यजेदिति ॥ संवत्सरनिचयपक्षे पूर्वसंचितनीवाराधक्षं जीर्णीनि चवासांसि शाकमूलफलानि चाक्षिने मासि खजेत्॥ १५॥

# न फालकृष्टमश्रीयादुत्सृष्टमपि केनचित्। न ग्रामजातान्यातोंऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६॥

न फालेति ॥ अरण्येऽपि फालकृष्टप्रदेशे जातं स्वामिनोपेक्षितमपि ब्रीद्यपि नाद्यात् । तथा प्रामजातान्यफालकृष्टभूभागेऽपि लतावृक्षमूलफलानि क्षुत्पीडि-तोऽपि न भक्षयेत् ॥ १६॥

#### अग्निपकाशनो वा स्थात्कालपक्रभुगेव वा । अञ्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलुखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥

अञ्जीति ॥ अग्निपकं वन्यमन्नं, कालपकं वा फलादि । यहा नोळ्खलमुस-लाभ्यां किंतु पाषाणेन चूर्णीकृत्यापकमेवाद्यात् । दन्ता एवोळ्खलस्थानानि यस्य तथाविधो वा भवेत् ॥ १७ ॥

#### सद्यःप्रक्षालको वा स्थान्माससंचयिकोऽपि वा । षण्मासनिचयो वा स्थात्समानिचय एव वा ॥ १८॥

सद्य इत्यादि ॥ एकाहमात्रजीवनोचितं मासवृत्त्युपचितं वा षण्माससंवत्स-रिनर्वाहसमर्थं वा नीवारादिकं संचितुयात् । यथापूर्वं नियमातिशयः । मास-वृत्तियोग्यसंचयो माससंचयः, सोऽस्यास्तीति 'अत इनिठनौ' (पा०५१२११५) इति ठन्प्रत्ययेन 'माससंचयिक' इति रूपम् ॥ १८ ॥

# नक्तं चात्रं समश्रीयादिवा वाहत्य शक्तितः।

चतुर्थकालिको वा स्थात्साद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

नक्तमित्यादि ॥ यथासामर्थ्यमन्नमाहत्य प्रदोषे भुक्षीत । महन्येव वा चतुर्थकालाशनो वा स्यात् । 'सायंप्रावमेनुष्याणामशनं देवितिर्मतम्' इति विहितं तत्रैकस्मिन्नहन्युपोष्यापरेद्युः सायं भुक्षीत । अष्टमकालिको वा भवेत् । त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थस्याह्यो रात्रौ भुक्षीत ॥ १९ ॥

# चान्द्रायणविधानैवी शुक्ककृष्णे च वर्तयेत्।

पक्षान्तयोबीप्यश्रीयाद्यवागूं कथितां सकृत् ॥ २०॥

चान्द्रायणेति॥ गुरुकुण्णयोः 'एकैकं हासयेत्पण्डं गुरुकुणे च वर्धयेत्' (११।२१६) इत्यादिनेकादशाध्याये च वक्ष्यमाणेश्वान्द्रायणेवी वर्तयेत्। पश्चान्तौ पौर्णमास्यमावास्ये तत्र श्रुतां यवाग् वाप्यश्रीयात्। सक्कदिति सायं प्रातवी॥ २०॥

# पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेतसदा।

कालपकेः खयंशीर्णेर्वेखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

पुष्पमूलेत्यादि ॥पुष्पमूलफलैरेन ना कालपकैः नाग्निपकैः स्वयंपतितै-जीवेत् । वैसानसो नानप्रस्थः तद्धमेप्रतिपादकशास्त्रदर्शने स्थितः । तेनैतदुक्त-मन्यद्पि वैसानसशास्त्रोक्तं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ २१ ॥

पाठा॰—1 पुष्पाणि च फलानि च.

#### भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् । स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषुपयन्नपः ॥ २२ ॥

भूमावित्यादि ॥ केवलायां भूमौ लुटन् गतागतानि कुर्यात् । स्थानासना-दावुपविशेत् । उत्तिष्ठेत्पर्यटेदिल्यर्थः । कावश्यकं स्नानभोजनादिकालं विहाय चायं नियमः । एवमुत्तरत्रापि । पादाम्राभ्यां वा दिनं तिष्ठेत्कंचित्कालं स्थित एव स्थात् । कंचिभोपविष्ट एव न त्वन्तरा पर्यटेत् । सवनेषु सायंत्रातर्मध्या-द्वेषु स्नायात् । यत्तु 'सायं स्नायात्प्रगे तथा' (६।६) इत्युक्तं तेन सहास्य नियमातिशयापेक्षो विकल्पः ॥ २२ ॥

## ग्रीष्मे पश्चतपास्तु स्याद्वर्षास्त्रश्रावकाशिकः । आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥

ग्रीष्म इत्यादि ॥ आत्मतपोविवृद्धर्थं ग्रीष्मे चतुर्दिगवस्थितैरग्निभिरूर्ध्वं वादित्यतेजसात्मानं तापयेत् । वर्षास्वश्रावकाशमाश्रयेत् । यत्र देशे देवो वर्षति तत्र छत्राद्यावरणरहितस्तिष्टेदित्यर्थः । हेमन्ते चार्दवासा भवेत् । ऋतुत्रयसंवत्सरावलम्बेनायं सांवत्सरिक एव नियमः ॥ २३ ॥

# उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत् । तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेदेहमात्मनः ॥ २४ ॥

उपेति ॥ विहितमपि त्रिषवणं स्नानं देवर्षिपितृतर्पणविधानार्थमन् छते । प्रातमेध्यंदिनं सायं सवनेषु त्रिष्वपि देवर्षिपितृतर्पणं कुर्वन् । अन्यद्पि पक्ष-मासोपवासादिकं तीव्रवतं तपोऽनुतिष्ठन् । यथोक्तं यमेन-'पक्षोपवासिनः' केचित्केचिन्मासोपवासिनः' इति । स्वशरीरं शोषयेत् ॥ २४ ॥

# अग्रीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि । अनि्रम्तिकेतः स्थान्ग्रुनिर्मूलफलाञ्चनः ॥ २५ ॥

अञ्जीनित्यादि ॥ श्रौतानमीन्वैलानसशास्त्रविधानेन भस्मपानादिना आत्मिन समारोप्य लौकिकामिगृहसून्यः । यथा वस्यति (६।२६) 'बृक्षमूल-निकेतनः' इति । मुनिमौनव्रतचारी फलमूलाशन एव स्यात् । नीवाराद्यपि नाश्ची-यात् । एतच्चोध्वं षणमासेभ्योऽप्युपरि 'अनिमरिनेकेतनः' इति वसिष्ठवचना-त्र्षणमासोपर्यनिमत्वमनिकेतत्वं च ॥ २५ ॥

# अप्रयतः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः। शरणेष्वममञ्जेव वृक्षमूलनिकेतनः॥ २६॥

अप्रयत्न इति ॥ सुखप्रयोजनेषु स्वादुफल्मक्षणशीतातपपरिहारादिषु प्रयत्नग्रन्योऽभ्रीसंभोगी भूशायी च निवासस्थानेषु ममस्वरहितो दृक्षमूलवासी स्यात्॥ २६॥

# तापसेष्वेव विशेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्। गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥

तापसेष्विति ॥ फलमूलासंभवे च वानप्रस्थेम्यो ब्राह्मणेम्यः प्राणमात्र-धारणोचितं भैक्षमाहरेत् । तदभावे चान्येभ्यो वनवासिभ्यो गृहस्थेभ्यो द्विजेभ्यः ॥ २७ ॥

> ग्रामादाहृत्य वाश्वीयादृष्टी ग्रासान्वने वसन् । प्रतिगृह्य पुटेनेव पाणिना शकलेन वा ॥ २८॥

त्रामेति ॥ तस्याप्यसंभवे प्रामादानीय प्रामस्यावस्याष्टी प्रासान्पर्णवारा-चादिखण्डेन पाणिनैव वा गृहीत्वा वानप्रस्थो सुझीत ॥ २८ ॥

> एताश्चान्यांश्च सेवेत दीक्षा वित्रो वने वसन् । विविधाश्चीपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्चतीः ॥ २९ ॥

एता श्रेति ॥ वानप्रस्थ एता दीक्षा एतान्नियमानन्यांश्च वानप्रस्थशास्त्रो-कानभ्यसेत् । औपनिषदीश्च श्वतीरुपनिषत्पिठतब्रह्मप्रतिपादकवान्यानि विवि-धान्यस्यात्मनो ब्रह्मसिद्धये प्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यसेत् ॥ २९ ॥

> ऋषिभिर्न्नाद्वणैश्वेव गृहस्थैरेव सेविताः । विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च. शुद्धये ॥ ३० ॥

ऋषिभिरिति ॥ यसादेता ऋषिभिर्श्रह्मद्द्शिभिः परित्राजकैर्गृहस्थैश्च वान-श्रस्थैर्त्रह्माद्वैतज्ञानधर्मयोर्विवृद्धर्थमुपनिषच्छुतयः सेविताससादेताः सेवेतेति पूर्वस्यानुवादः ॥ ३० ॥

अपराजितां वास्थाय व्रजेदिशम्जिह्मगः।

आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥

अपरेति ॥ अचिकिस्सितव्याध्याद्युद्धवेऽपराजितामैशानीं दिशमाश्रित्या-कुटिलगतिर्युक्तो योगनिष्ठो जलानिलाशन आ शरीरिनिपाताद्गच्छेत्। महाप्रस्था-नाल्यं शास्त्रे विहितं चेदं मरणं, तेन 'न पुरायुषः स्वःकामी प्रयात' इति श्रुत्यापि न विरोधः। यतः 'स्वःकामी'शब्दप्रयोगादवैधं मरणमनया निषिष्यते, न शास्त्रीयम् ॥ ३१ ॥

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम्। वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

आसामित्यादि ॥ एषां पूर्वोकानुष्टानानामन्यतमेनानुष्टानेन शरीरं स्वक्त्वापगतदुःखभयो ब्रह्मेव छोकस्तत्र पूजां छमते । मोक्षमामोतीत्वर्थः । केवछकर्मणो वानप्रस्थस्य कथं मोक्ष इति चेक्ष । 'विविधाश्चीपनिषदीरात्म-संग्रुद्धये श्रुतीः' (६१९९) इत्यनेनास्याप्यात्मज्ञानसंभवात् ॥ ३२ ॥ यस्य तु मरणाभावस्तस्याह-

वनेषु च विह्रस्त्रेवं तृतीयं भागमायुषः । चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परित्रजेत् ॥ ३३ ॥

चनेष्वित्यादि ॥ भनियतपरिमाणःवादायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात्त्ती-यमायुषो भागमिति रागक्षयावधि वानप्रस्थकालोपलक्षणार्थम् । भत एव श्रांस-लिखितौ-'वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः पारिवाज्यम्' इत्याच-ख्यतुः । एवं वनेषु विह्तत्येवं विधिवदुश्चरतपोनुष्ठानप्रकारेण वानप्रस्थाश्चमं विषयरागोपशमनाय कंचित्कालमनुष्ठाय 'चतुर्थमायुषो भागम्' (४।१) इति शेषायुःकाले सर्वथा विषयसङ्गांस्यक्त्वा परिवाजकाश्चममनुतिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

> आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः । भिक्षावलिपरिश्रान्तः प्रवजनप्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

आश्रमादिति ॥ पूर्वपूर्वाश्रमादुत्तरोत्तराश्रमं गत्वा ब्रह्मचर्याद्गृहस्थाश्रमं ततो वानप्रस्थाश्रममनुष्ठायेत्यथः । यथाशक्ति गताश्रमहुतहोमो जितेन्द्रियो भिक्षाबिद्यानिरसेवया श्रान्तः परिवज्याश्रममनुतिष्ठन्परलोके मोक्षलाभाइह्मभूतर्थातश्रयं प्रामोति ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो त्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

ऋणानीत्यादि ॥ आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उत्तरश्लोकाभिधेयानि त्रीण्यृणानि संशोध्य मोक्षे मोक्षान्तरक्षे परिव्रज्याश्रमे मनो नियोजयेत् । तान्यृणानि त्वसंशोध्य मोक्षं चतुर्याश्रममनुतिष्ठक्षरकं वर्जाते ॥ ३५ ॥

तान्येवर्णानि दर्शयति-

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।

इष्ट्रा च शक्तितो यहाँर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥ अधीत्येति ॥ 'जायमानो वै बाह्मणिक्षिभिक्तंणैर्क्रणवा जायते यहेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः' इति श्रूयते । अतो यथाशास्यं वेदानधीत्य पर्वगमनवर्जनादिधर्मेण च पुत्रानुत्पाद्य यथासामर्थ्यं ज्योति-ष्टोमादियज्ञांश्चानुष्ठाय मोक्षान्तरक्षे चतुर्थाश्रमे मनो नियोजयेत्॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतीन् । अनिष्टा चैव यज्ञैश्व मोक्षमिच्छन्त्रजत्यधः ॥ ३७ ॥ अनधीत्येति ॥ वेदाध्ययनमञ्जला प्रत्रमनुत्पाच यज्ञात्राननुष्टाय मोक्ष-मिण्डमर्ग्न मजति ॥ ३७ ॥

<sup>ी</sup> प्रकास्

# प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् । 🗀 😅 आत्मन्यग्नीन्समारोप्य त्राह्मणः प्रवजेद्वहात् ॥ ३८॥

प्राजापत्यामिति ॥ यजुर्वेदीयोपाख्यानग्रन्थोक्तां सर्वस्वदक्षिणां प्रजापति-देवताकामिष्टिं कृत्वा तदुक्तविधिनैव 'आत्मन्यझीन्समारोप्य गृहात्' इत्यभि-भानाहानप्रस्थाश्रममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेत् । एतेन मनुना चातुरा अम्यस्य समुचयोऽपि दार्शेतः । श्रुतिसिद्धाश्चेकद्वित्रचतुराश्रमाणां समुचयाः विकल्पिताः । तथा जाबालश्चतिः (जा. उ. ४)—'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहीं भवेहही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । इतैरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजे-इहाद्वा वनाद्वा' इति ॥ ३८ ॥

> यो दत्त्वा सर्वभृतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् । तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

य इत्यादि ॥ यः सर्वेभ्यो भूतारब्धेभ्यः स्थावरजङ्गमेभ्योऽभयं दस्वा गृहा-श्रमात्प्रवजित तस्य ब्रह्मप्रतिपादकोपनिषन्निष्टस्य सूर्याद्यालोकरहिता हिरण्य-गर्भादेलोकास्तत्तेजसैव प्रकाशा भवन्ति । तानामोतीत्वर्थः ॥ ३९ ॥

> यसाद्ष्विप भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् । तस्य देहाद्रिमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्रन ॥ ४० ॥

यसादित्यदि ॥ यसाद्विजात्सूक्ष्ममि भयं भूतानां न भवति तस्य देहाद्विमुक्तस्य वर्तमानदेहनाशे कसादिप भयं न भवति ॥ ४०॥

> अगाराद्भिनिष्कान्तः पवित्रोपचितो मुनिः । समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

अगारादिति ॥ गृहान्निर्गतः पवित्रेद्ण्डकमण्डल्वादिभिर्युक्तो सुनिर्मौनी समुपोढेषु कामेषु केनचित्सम्यक्समीपं प्रापितेषु स्वाह्वबादिषु विगतस्पृहः परिव्रजेत् । मेधातिथिस्तु-'पवित्रैर्मञ्जपैरथवा पावनैः कृच्छ्रेर्युक्तः' इति ह्याचष्टे ॥ ४१ ॥

> एक एव चरेत्रित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् । सिद्धिमेकस्य संपद्मयत्र जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

एक इत्यादि ॥ एकस्य सर्वसङ्गविरहिणो मोक्षावासिर्भवतीति जानन्नेक एव सर्वदापि मोक्षार्थं चरेत्। 'एक एव' इस्तनेन पूर्वपरिचितपुत्रादिसाग उच्यते। असहायवानित्युत्तरस्यापि एकाकी यदि चरति स किंचिन्न त्यजति, न कस्यापि स्यागेन दुःखमनुभवति, नापि केनापि त्यज्यते, न कोऽप्यनेन त्यागदुःखमनु माव्यते । ततश्च सर्वत्र निर्ममत्वः सुखेन मुक्तिमामोति ॥ ४२ ॥

# अनिप्रिरिनकेतः स्याद्धाममन्तार्थमाश्रयेत् । उपेक्षकोर्द्रसंकुसुको सनिर्भावसमाहितः॥ ४३ ॥

अनिमिरित्यादि ॥ अनिमिलोंकिकामिसंयोगरहितः 'शास्त्रीयामिसमारोण्य' इति पूर्वमुक्तत्वात् ॥ अनिकेतो गृहजून्यः, उपेक्षकः शरीरस्य व्याध्याद्युत्पादे वस्प्रतीकाररहितः, असंकुसुकः स्थिरमितः, 'असांचयिक' इत्यन्ये पटन्ति । मुनिर्वस्य मननात्, मौनस्य पूर्वोक्तत्वात् । भावेन ब्रह्मणि समाहित-स्तदेकतानमनाः अरण्ये च दिवारात्रौ वसन्भिक्षार्थमेव मामं प्रविशेत् ॥४३॥

कपालं वृक्षमूलानि क्रचेलमसहायता ।

समता चैव सर्वसिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

कपालमिलादि ॥ मृन्मयकपैरादिभिक्षापात्रं, वासार्थं वृक्षमूलानि, स्थूल-जीर्णवस्तं, कौपीनकन्था, सर्वत्र ब्रह्मबुद्धा शत्रुमित्राभावः, एतन्मुक्तिसाधन-त्वान्मुक्तस्य लिङ्गम् ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् । कालमेव प्रतीक्षेत <sup>°</sup>निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥

नेत्यादि ॥ भरणं जीवनं च द्वयमपि न कामयेश्कितु स्वकर्माधीनं मरणकाल-मेव प्रतीक्षेत । निर्दिश्यत इति निर्देशो श्वतिस्तत्परिशोधनकालमिव श्वतकः ४५

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिवेत् ।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

दृष्टिपूतमित्यादि॥ केशास्थ्यादिपरिहारार्थं दृष्टिशोधितभूमौ पादौ क्षिपेत्। जलेषु क्षुद्रजन्त्वादिवारणार्थं वस्त्रशोधितं जलं पिवेत्। सत्यपित्रशं वाचं वदेत्। तत्तश्च मौनेन सह सत्यस्य विकल्पः। प्रतिषिद्धसंकल्पश्चन्यमनाः सर्वेदा पवित्रात्मा स्यात्॥ ४६॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन । न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

अतिचादानित्यादि ॥ अतिक्रमवादान् परोक्तान्सहेत । न कंचित्परिभवेत् । नेमं देहमस्थिरं व्याध्यायतनमाक्षित्य तद्यं केनचित्सह वैरं कुर्यात् ॥ ४७ ॥

कुष्यन्तं न प्रतिकुष्येदाकुष्टः कुञ्चलं वदेत् ।

सप्तद्वारावकीणों च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

कुध्यन्तमित्यादि ॥ संजातकोधाय कसौचित्प्रतिकोधं न कुर्यात्। निन्दि-तथान्येन वाचं भद्रां वदेत् नतु निन्देत्। सप्तद्वारावकीणांभिति। च्छुरादीकि पञ्च बहिर्द्विनिद्वयाणि मनो हुद्धितित्यन्तःकरणद्वयं चेदान्तदर्धन एतैर्गृहीतेषु स्तेषु वाचा प्रवृत्तेरेतानि सस द्वाराणीत्युच्यन्ते, एतरवकीर्णा निक्षिमां तद्वहीन्तांथिवयां वाचं न वदेत्तितु ब्रह्ममात्रविषयां वदेत्। ननु मनसैव ब्रह्मोपान्स्ते, ब्रह्मविषयवागुचारणमपि मनोन्यापारस्तत्कथं ससद्वारावकीर्णत्वविभेषेऽिष ब्रह्मविषयां वदेदित्यन्यविषयां न वदेदिति लभ्यते? उच्यते, अत एवानृतानिति विशेषयति सा, अनृतमसस्यं विनाशीति यावत्, तद्विषया वागप्यनृतोच्यते, तेन विनाशिकार्यविषयां वाचं नोचारयेत्। अविनाशिब्रह्मविषयां तु प्रणवोपनिषदादिस्पां वदेत्। गोविन्दराजस्तु धर्मोऽर्थः कामो धर्मार्थावर्थन्कामो धर्मार्थकामा इत्यतानि सप्त वाग्विषयतया वाक्पवृत्तेद्वरिराणि, तेष्ववन्कीर्णा विक्षिप्तां सर्वस्य भेदस्यासन्त्वात्तद्विषयामसत्यस्पां वाचं न वदेत्। अन्ये तु सप्त भुवनान्येव वाग्विषयत्वात्सप्त द्वाराणि तेषां भेदाद्विनाशित्वाचासत्यत्वात्तद्विषयां वाद्वस्यां वाचमसत्यां न वदेत्वेवलं ब्रह्मविषयां वदेत्॥ ४८॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः । आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥

अध्यात्मेति ॥ भारमानं ब्रह्माधिकृत्य रतिर्थस्य सोऽध्यात्मरतिः सर्वदा ब्रह्मध्यानपरः, भासीन इति स्वस्तिकादियोगासननिष्ठः, निरपेक्षो दण्डकमण्डल्वादिष्वपि विशेषापेक्षाश्चन्यः,निरामिषः भामिषं विषयास्तद्भिलाषरहितः, आत्मना देहेनैव सहायेन मोक्षसुखार्थोह संसारे विचरेत् ॥ ४९ ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।

नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥ नेलादि ॥ भूकम्पाद्युत्पातचक्षुःस्पन्दादिनिमित्तफलकथनेन, 'बद्याश्विनी, इस्तरेखादेरीदशं फलम्' इति नक्षत्राङ्गविद्यया, 'ईदशो नीतिमार्गः, इत्थं वर्तितन्यम्' इत्यनुशासनेन शास्त्रार्थकथनेन च कदाचित्र भिक्षां लब्सुमिच्छेत् ॥

न ताप्सैर्नाद्यणेर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः । आकीण भिक्षकैर्वाऽन्यैरगारम्रपसंत्रजेत् ॥ ५१ ॥

न तापसिरित्यादि ॥ वानप्रस्थैरन्यैर्वा ब्राह्मणैर्भक्षणशीलैः, पक्षिमिः, कुक्-रैर्वा न्यासं गृहं भिक्षार्थं न प्रविशेत् ॥ ५१ ॥

> क्षप्तकेशनखक्मश्रः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

क्रुप्तेत्यादि ॥ क्रुप्तकेशनखरमश्चः भिक्षापात्रवान् दण्डी कुसुम्मः कमण्डलु-सायुक्तः सर्वप्राणिनोऽपीडयन्सर्वदा परिश्रमेत् ॥ ५२ ॥

अतेजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्त्रणानि च । तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाञ्चरे ॥ ५३॥ अतेजसानीति ॥ सौवर्णादिवर्जितानि निस्छिदाणि भिक्षोभिकापात्राणि भवेयुः । तथा यमः—'सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांसायसेषु च । गृह्णिनभक्षां न धर्मोऽस्ति गृहीस्वा नरकं त्रजेत् ॥' तेषां च यतिपात्राणां जल्लेनेव तु शुद्धिः यशे चमसानामिव ॥ ५३ ॥

कान्येव दर्शयति-

अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा।

एतानि यतिपात्राणि मनुः खायंश्वनोऽत्रवीत् ॥ ५४ ॥

अलाबुमित्यादि ॥ अलाबुदारमृत्तिकावंशादिखण्डनिर्मितानि यतीनां भिक्षापात्राणि खायंभुवो मनुरवदत् । वैदलं तरुत्विङ्गिर्मितमिति गोविन्द-राजः ॥ ५४ ॥

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसंजेत विस्तरे । भैक्षप्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥

एककालमिति ॥ एकवारं प्राणधारणार्थं भैक्षं चरेत् । तत्रापि प्रचुरभिक्षा-प्रसङ्गं न कुर्यात् । यतो बहुतरभिक्षाभक्षणप्रसक्तो यतिः प्रधानधातुवृद्ध्या ख्यादिविषयेष्वपि प्रसज्जते ॥ ५५ ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे मुक्तवज्जने ।

वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्वरेत् ॥ ५६ ॥

विधूम इत्यादि ॥ विगतपाकधूमे, निवृत्तावहननमुसले, निर्वाणपाकाङ्गारे, गृहस्थपर्यन्तभुक्तवज्ञने, उच्छिष्टशरावेषु त्यकेषु, सर्वदा यतिर्भिक्षां चरेत् । एतच दिनशेषमुहूर्तत्रयरूपसायाह्नोपलक्षणम् । तथाह याज्ञवल्क्यः (प्राय-४।३।५९)—'अप्रमत्तश्चरेद्रौक्षं सायाह्ने नै।भिसंधितः' ॥ ५६॥

अलाभे न विषादी स्यार्ह्धांभे चैव न हर्षयेत्। प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥ ५७॥

अलाभ इत्यादि ॥ भिक्षादेरलाभे न विषीदेत् । लाभे च हर्षं न कुर्यात् । प्राणस्थितिमात्रोपचिताञ्चभोजनपरः स्थात् । दण्डकमण्डलुमात्रास्विष 'इदम-शोभनं स्रजामि, हदं रुचिरं गृह्णामि' इत्यादिप्रसङ्गं न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।

अभिपूजितलाभैश्र यतिर्धुक्तोऽपि वश्यते ॥ ५८ ॥

अभीत्यादि ॥ पूजापूर्वकिभिक्षालाभं सर्वकालं निन्देत् । न स्वीकुर्यादि-त्यर्थः । यसात्पूजापूर्वकलाभस्वीकारे दातृगोचरस्रेहममत्वादिभिरासम्मुक्ति-रपि यतिर्जनमबन्धां स्रभते ॥ ५८ ॥

पाठा॰—1 मैसे प्रसत्तो. 2 °नाभिलक्षितः, °ऽनभिलक्षितः. 3 °हाभश्वनं न हर्षयेतः

१ मात्रा नामोपकरणद्रव्यम्.

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च । हियमाणानि विषयेरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

अरुपेत्यादि ॥ आहारलाघवेन निर्जनदेशस्थानादिना च रूपादिविषयैरा-कृष्यमाणानीन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

इन्द्रियाणामित्यादि ॥ यसात् इन्द्रियाणां निप्रहेण रागद्वेषाभावेन च प्राणिहिंसाविरतेन च मोक्षयोग्यो भवति ॥ ६० ॥

इदानीमिन्द्रियनियमोपायविषयवैराग्याय संसारतत्त्वचिन्तनसुपदिशति-

अवेक्षेत् गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।

निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्ष्ये ॥ ६१ ॥ ...

अवेक्षेतेत्यादि ॥ विहिताकरणिनिद्ताचरणरूपकर्मदोषजन्यां मनुष्याणां पश्चादिदेहमाप्तिं नरकेषु पतनं यमलोके नरकस्थस्य निशितनिर्धिकाच्छेदनादि-भवास्तीववेदनाः श्चितिपुराणादिषुक्ताश्चिन्तयेत् ॥ ६१ ॥

> विष्रयोगं ष्रियेश्वेव संयोगं च तथाऽष्रियैः । जस्या चामिभवनं व्याधिमिश्रोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

विप्रयोगमित्यादि ॥ इष्टपुत्रादिवियोगं, अनिष्टहिंसकादियोगं, जराभि-भवनं, व्याध्यादिभिश्च पीडनं कर्मदोषसमुद्भवमनुचिन्तयेत् ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चासात्पुनर्गभे च संभवम्।

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्रास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

देहादित्यादि ॥ यसाहेहादस्य जीवात्मन उत्क्रमणं तथा च मर्मभिद्धिमेहा-रोगपतितस्य श्रेष्मादिदोपनिरुद्धकण्ठस्य महतीं वेदनां गर्भे चोत्पत्तिदुःखबहुलां श्रश्यालादिनिकृष्टजातियोनिकोटिसहस्रगमनानि स्वक्मेबन्धान्यनुचिन्तयेत् ॥

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् । धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

अधर्मेत्यादि ॥ शरीरवतां जीवात्मनामधर्महेतुई दुःखसंबन्धं धर्महेतुको-ऽथों ब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्प्रभवं मोक्षरुक्षणमक्षयं ब्रह्मसुखसंयोगं चिन्तयेत्॥६४॥

स्रक्षमतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः। देहेषु च सम्रत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

स्क्ष्मतामित्यादि ॥ योगेन विषयान्तरचित्तवृत्तिनिरोधेन परमात्मनः स्थूल-पाठा०—1 चैवोपपत्ति°. शरीराद्यपेक्षया सर्वान्तर्यामित्वेन सूक्ष्मतां निरवयवतां तस्यागादुःकृष्टापकृष्टेषु देवपश्चादिशरीरेषु जीवानां श्रुभाश्चभफलभोगार्थमुत्पत्तिमधिष्ठानमनुचिन्त-येत् ॥ ६५ ॥

> दृषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

दृषित इति ॥ यस्मिन्कसिश्चिदाश्रमे स्थितस्तदाश्रमिनिरुद्धाचारदृषितो-ऽप्याश्रमिलिङ्गरहितोऽपि सर्वभूतेषु ब्रह्मबुद्धा समदृष्टिः सन् धर्ममनुतिष्ठेत् । नहि दण्डादिलिङ्गधारणमात्रं धर्मकारणं किंतु विहितानुष्ठानं, एतस धर्म-प्राधान्यबोधनायोक्तं नतु लिङ्गपरिस्यागार्थम् ॥ ६६ ॥

मत्र दशन्तमाह-

फलं कतकबृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

फलमिति ॥ यद्यपि कतकवृक्षस्य फलं कलुषजलस्वच्छताजनकं तथापि तक्षामोचारणवशास प्रसीदिति किंतु फलप्रसेपेण, एवं न लिङ्गधारणमात्रं धर्मकारणं किंतु विहितानुष्टानम् ॥ ६७ ॥

> संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा । शरीरस्थात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

संरक्षणार्थमित्यादि ॥ शरीरत्यापि पीडायां सूक्ष्मपिपीलिकादिपाणरक्षार्थं रात्रौ दिवसे वा सदा भूमिं निरीक्ष्य पर्यटेत् । पूर्वं केशादिपरिहारार्थं 'दृष्टिपूर्तं न्यसेत्पादम्' (६।४६) इत्युक्तं, इदं तु हिंसापरिहारार्थमित्यपुनरुक्तिः ॥ ६८॥

अत्र प्रायश्चित्तमाह--

अह्वा राज्या च याञ्जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः । तेषां स्नात्वा विशुष्द्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥ ६९ ॥

अह्ना राज्येति ॥ यतिर्यानङ्गानतो दिवसे रात्रौ वा प्राणिनो हन्ति तद्धनन-जनितपापनाशार्थं स्नात्वा षद प्राणायामान्कुर्यात् । प्राणयामश्च-'सच्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते' इति वसिष्ठोत्त्यात्र द्रष्टन्यः ॥ ६९ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः । व्याहृतिप्रणवेर्धुक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

प्राणायामा इति ॥ बाह्मणस्येति निर्देशाङ्गाह्मणजातेरयमुपदेशो न यतेरेव। त्रयोऽपि प्राणायामाः सप्तभिन्याहितिभिर्दशभिः प्रणवैर्युक्ताः, विधिवदिखनेन

पाठा०—1 भूषितोऽपि (=पुष्पाद्यलंकरणैः).

सावित्या शिरसा च युक्ताः, पूरककुम्भकरेचकविधिना कृता ब्राह्मणस्य श्रेष्ठं तपो ज्ञातन्यम् । पूरकादिस्वरूपं स्मृत्यन्तरेषु ज्ञेयम् । तथा योगियाभ्र-वल्नयः—'नासिकोत्कृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते । कुम्भको निश्रकः श्वासो मुच्यमानस्तु रेचकः'। त्रयोऽपीति 'अपि'शब्देन त्रयोऽवश्यं कर्तेच्याः, अधिककरणे त्वधिकपापक्षयः ॥ ७० ॥

# द्द्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां द्द्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥

द्ह्यन्त इति ॥ धात्नां स्वर्णरजतादीनां यथा मूषायामग्निना ध्मायमानानां मलद्रन्याणि द्ह्यन्ते, एवं मनसो रागादयश्रञ्जरादेश्च विषयप्रवणत्वाद्यो दोषाः प्राणायामेन विषयानभिध्यानाद्द्यन्ते ॥ ७१ ॥

# प्राणायामैर्दहेहोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

प्राणायामेरित्यादि ॥ एवं सति अनन्तरोक्तप्रकारेण प्राणायामे रागादिदोषान् दृहेत् । अपेक्षितदेशे परब्रह्मादौ यन्मनसो धारणं सा धारणा, तया पापं नाश-येत् । प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियाकर्षणैर्विषयसंपर्कान्वारयेत् । ब्रह्मध्या-नेनेति । सोऽहमस्मिति सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपेणानिश्वरान्गुणान् ईश्वरस्य परमात्मनो ये गुणा न भवन्ति कोधलोभासूयादयः तान्निवारयेत् ॥ ७२ ॥

#### उचावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मिभः । ध्यानयोगेन संपद्येद्वतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥

उच्चायचेष्वत्यादि ॥ अस्य जीवस्योत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्चादिषु जन्मप्राप्तिम-कृतात्मिः शास्त्रेरसंस्कृतान्तःकरणैर्दुर्ज्ञेयां ध्यानाभ्यासेन सम्यक् सकारणकं जानीयात् । ततश्चाविद्याकाम्यनिषिद्धकर्मनिर्मितेयं गतिरिति ज्ञात्वा ब्रह्मज्ञान-निष्ठो भवेदिति तात्पर्यार्थः ॥ ७३ ॥

# सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिनं निवध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

सम्यग्द् श्रीनेति ॥ तत्रश्च तत्त्वतो ब्रह्मसाक्षात्कारवान् कर्मभिनं निबध्यते कर्माणि तस्य पुनर्जन्मने न प्रभवन्ति, पूर्वार्जितपापपुण्यस्य ब्रह्मज्ञानेन नाशात् । तथा च श्रुतिः (छां उ.५।२४।३)—'तद्यथेषीकात् लमग्नौ प्रोतं प्रदूथेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूथन्त उभौ ब्रह्मैवैष भवति' इति श्रुत्या, तथा 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दष्टे परावरे' (मुं.उ.२।२।८) इत्यविशेषश्चत्या पुण्यसंबन्धो-ऽपि बोध्यते, उत्तरकाले च दैवात्पापे कर्मणि प्रकृतेऽपि न पापसंश्लेषः । तथा च श्रुतिः-'पथा पुष्करपलाश अपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न

श्चित्यते' इति । देहारम्भकपापपुण्यसंबन्धः परं नदयति । अधमेव चार्थो अद्यमिमांसायां (म. स्. ४।१।१३) 'तद्धिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्चेषविनादौ तश्चवदेशात्' इति स्त्रेण बादरायणेन निरणायि । महासाक्षात्कारश्चन्यस्तु जन्ममरणप्रवन्धं स्वते ॥ ७४॥

# अहिंसयेन्द्रियासङ्गेर्वेदिकेश्वेच कर्मभिः। तपस्रश्ररणेश्रोग्रैः साधयन्तीहं तत्पदम् ॥ ७५ ॥

अहिं संग्रिति ॥ निषिद्ध हिंसावर्जनेनेनिद्ध याणां च विषयसक्ष परिद्वारेण वैदिकेनित्यः कर्मभिः, काम्यकर्मणां बन्धहेतुत्वात् । उक्तं च (२।२)—'कामात्मता न प्रशस्ता' इति । तपसश्च यथासंभवसुपवासकृष्ट्यानद्वायणादेरसुष्ठानैरिह छोके तत्पदं ब्रह्मात्यन्तिकळयळक्षणं प्रामुवन्ति । पूर्वश्चोकेन ब्रह्मदर्भनस्य मोक्षहेतुत्वसुक्तम्, अनेन तत्सहकारितया कर्मणोऽभिहितम् ॥ ७५॥

इदानीं मोक्षान्तरङ्गोपायसंसारवैराग्याय देहस्बरूपमाह श्लोकद्वयेन-

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसकोणितलेपनम् । चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥ जराकोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

अस्थीत्यादि ॥ जरेत्यादि च ॥ अस्थीन्येव स्थूणा इव यस्य तं अस्थिस्थूणं, स्नायुरज्जुभिरावद्धं, मांसरुधिराद्युपलिसं, चर्माच्छादितं, मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णमत एव दुर्गनिध । जरोपतापाभ्यामाकान्तं, विविधव्याधीनामाश्रयं, आतुरं क्षुत्पि-पासाशीतोष्णादिकातरं, प्रायेण रजोगुणयुक्तं, विनश्वरस्वभावं च, आधासो गृहं पृथिव्यादिभूतानि तेषामावासं, देहमेव जीवस्य गृहत्वेन निरूपितं स्पेजेत्। यथा पुनर्देहसंबन्धो न भवेत्तथा कुर्यात् । गृहसाम्यमेवोक्तमस्थीत्यादिना ॥७६-७७॥

#### नदीक्लं यथा वृक्षो वृक्षं वा शक्तनिर्यथा। तथा त्यजिनमं देहं कुच्छाद्गाहादिमुच्यते॥ ७८॥

नदीकूलिमिति ॥ ब्रह्मोपासकस्य देहत्यागसमये मोक्षः, आरब्धदेहस्य कर्म-णो भोगेनेव नाशात्। तत्र देहत्यकुहैं विध्यमाह-यः कर्माधीनं देहपातमवेक्षते स नदीकूलं यथा वृक्षस्त्यजति स्वपातमजानकेव नदीरयेण पात्यते, तथा देहं स्वजन् यश्च ज्ञानकर्मप्रकर्षाज्ञीव्मादिवत्स्वाधीनमृत्युः स यथा पक्षी वृक्षं स्वच्छ्या सजति तथा देहिमिमं सजन् संसारकष्टाद्वाहादिव जलचरप्राणिभेदा-दिमुच्यते ॥ ७८॥

प्रियेषु स्तेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् । विस्चर्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥ वियेष्वित्वादि॥ वक्वविदात्मीयेषु प्रियेषु हितकारिषु सुकृतं भिर्योष्वहित-

कारिषु दुष्कृतं निश्चिष्य ध्यानयोगेन नित्यं ब्रह्मास्येति ब्रह्मणि स्त्रियते। तथा च श्रुति:-'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः प्रम-कृत्याम्' इति । अपरा श्रुतिः-'तत् सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञासयः सुकृतसुपयन्सप्रिया दुष्कृतम्' इस्वेवमादीन्येव वाक्यान्युदाह्स सुकृतदुष्कृत-योद्दानिमात्रश्रवणेऽप्युपायनं प्रतिपत्तव्यमिति ब्रह्ममीमांसायां 'हानौ द्रपायन-शब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगायनवचदुक्तम्' ( ब. स्. ३।३।२६ ) इत्यादि-सूत्रैर्बादरायणेन निरणायि। ननु परकीयसुकृतदुष्कृतयोः कथं परत्र संकान्तिः ? उच्यते,-धर्माधर्मव्यवस्थायां शास्त्रमेव प्रमाणं, संकामोऽपि तयोः शास्त्रप्रमा-णक एव । बतः शास्त्रात्संक्रमणयोग्यावेतौ सिद्यतः । अतः सास्त्रेण बाधास प्रतिपक्षातुमानोदयः, शुचि नरिशरःकपार्छः प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्घादिवदितिवत् । मेघातिथि-गोविन्दराजौ तु स्वेषु प्रियेषु केनचित्कृतेषु ध्यानाभ्यासेनात्मीयमेव सुकृतं तत्र कारणत्वेनारोप्य, एवमित्रयेष्वपि केनचित्कृतेष्वात्मीयमेव प्राग्ज-न्मार्जितं दुष्कृतं कारणत्वेन प्रकल्प्योद्धत्य तत्संपाद्यितारौ पुरुषौ रागद्वेषाख्यौ त्यक्ता नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मस्वभावमुपगच्छतीति व्याचक्षाते; तन्न । विस्-ज्येति क्रियायां सुकृतं दुष्कृतमिति कर्मद्वयत्यागेन तत्संपाद्यितारावित्यश्चत-कर्माध्याहारात्, कर्मद्वये च श्रुतिक्रयात्यागेन कारणत्वेन प्रकल्प्येत्याद्यश्रुता-कियाध्याहारात् । किंच 'व्यासव्याख्यातवेदार्थमेवमस्या मनुस्सृतेः । मन्ये न कृदिपतं गर्वादर्वाचीनैर्विचक्षणैः'॥ ७९॥

## यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः। तदा सुखमवाभोति प्रेत्य चेह च स्माध्वतम् ॥ ८०॥

यदेति ॥ यदा परमार्थतो निषमदोषभावनया सर्वनिषयेषु निर्मालाषो भवति तदेह लोके संतोषजन्यसुखं परलोके च मोक्षसुखमविनाशि प्राम्मोति ॥ ४० ॥

# अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः । सर्वद्रम्द्रविनिर्धक्तो त्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥

अनेनेति ॥ पुत्रकलत्रक्षेत्रादिषु ममत्वरूपान्त्रमेण सङ्गान्सर्वास्यनत्वा द्वन्द्वैर्मानापमानादिभिनिर्मुकोऽनेन यथोकेन ज्ञानकर्मानुष्टानेम ब्रह्मण्येत्रास-न्तिकं लयमामोति॥ ८१॥

> ध्यानिके सर्वमेवैतद्यदेतद्भिशब्दितम्। न सन्ध्यात्मवित्कश्चित्कियाफलमुपाश्चवे ॥ ८२ ॥

ध्यानिकमिति ॥ यदेवदिव्यवन्तसंत्रिधानात्पूर्वश्चेकोदितं पराकृश्यते । कदेवदुकं पुत्रादिममध्यवागो मानापमानादिदानिर्वत्यप्येवावस्थानं स्वीतेते तकानिकमारमनः परमारमधेन ध्याने सति भवति । यदाव्यानं परमारमित जानाति तदा सर्वसत्त्वान्न विशिष्यते तस्य न क्रुत्रचिन्ममत्वं मानापमानादिकं वा भवति, तथाविधज्ञानाद्वह्यात्मत्वं च जायते । ध्यानिकविशेषाच्येयविशेष- लाभे परमात्मध्यानार्थमाह—न ह्यनध्यात्मविदिति ॥ यस्मादात्मानं जीव- मिषक्य यदुक्तं तस्य परमात्मत्वं तद्यो न जानाति न ध्यायति स प्रकृतध्यान- क्रियाफलं ममत्वत्यागमानापमानादिहानिं मोक्षं च न प्रामोति ॥ ८२ ॥

# अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।

आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥

अधियक्कमिति ॥ पूर्व ब्रह्मध्यानस्वरूपमुपासनमुक्तम्, इदानीं तदक्कतयाः वेदजपं विधन्ते । तथा च श्रुतिः (इ.ज.४।४।२२)-'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति' इति विद्याङ्कतया वेदजपमुपदिशति—अधियङ्कमिति ॥ यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं ब्रह्म वेदं तथा देवतामधिकृत्य प्रवृत्तं तथा जीवमधिकृत्य, तथा वेदान्तेपूक्तं (तै.ज.२।१।१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिब्रह्मप्रतिपादकं सर्वदा जपेत् ॥ ८३ ॥

## इदं शरणमज्ञानामिद्मेव विजानताम्।

इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

इद्मिति ॥ इदं चेदाख्यं ब्रह्म तद्र्थानभिज्ञानामपि शरणं गतिः । पाठमा-त्रेणापि पापक्षयहेतुत्वात् । सुतरां तज्ञानतां तद्र्थाभिज्ञानां स्वर्गमपवर्गं चेच्छतामिद्मेव शरणं, तदुपायोपदेशकत्वेन तत्प्राप्तिहेतुत्वात् ॥ ८४ ॥

# अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः । स विध्येह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

अनेनेति ॥ भनेन यथाक्रमोक्तानुष्ठानेन यः प्रवज्याश्रममाश्रयति स इहलोके पापं विस्तृज्य परं ब्रह्म प्रामोति ब्रह्मसाक्षात्कारेणोपाधिशरीरनाशा-इह्मण्येक्यं गच्छति ॥ ८५ ॥

#### एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् । वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निवोधत ॥ ८६ ॥

एष धर्म इति ॥ एष यतीनां यतात्ममां चतुर्णामेव कुटीचरबहूदकहंसपरमहंसानां साधारणो धर्मो वो युष्माकमुक्तः । इदानीं यतिविशेषाणां कुटीचराख्यानां वेदिविहितादिकर्मयोगिनामसाधारणं वश्यमाणं 'पुत्रेश्वर्ये सुखं वसेत्' (६१९५) इति कर्मसंबन्धं श्रणुत । भारते चतुर्धा भिक्षव उक्तः—'चतुर्धा भिक्षवस्तु स्युः कुटीचरबहूदकौ । हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चास्स उक्तमः' इति । कुटीचरस्यायं पुत्रभिक्षाचरणस्पासाधारणकर्मोपदेशः । गोबिन्दराजस्यु मुहस्थविशेषमेव वेदोदिताशिहोत्रादिकर्मत्यागिनं ज्ञानमात्रसंपादितवैदिककर्माणं वेदसंन्यासिकमाहः तन्न । यतो गृहस्थस्याहिताशेरन्त्रेष्टी विनियोगः

चतुर्थाश्रमाश्रयणे चात्मिन समारोपः शास्त्रेणोच्यते,तदुभयाभावे सत्येवमेवा-भीनां त्यागः त्यात् । गोविन्दराजो गृहस्थं वेदसंन्यासिकं ब्रुवन् 'एवमेवा-हिताभीनां त्यागमर्थादुपेतवान् । वेदसंन्यासिकं मेधातिथिः शाह निराश्रमम् । तन्मते चातुराश्रम्यनियमोक्तिः कथं मनोः'॥ ८६॥

इदानीं वेदसंन्यासिकस्य प्रतिज्ञाते कर्मयोगेऽनन्तरं वक्तुमुचितमपि वेद-संन्यासिकः पञ्चमाश्रमी निराश्रमी वा चत्वार एवाश्रमा नियता इति दर्श-यितुमुक्तानाश्रमाननुवदित—

त्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।

एते गृहस्थप्रभवाश्रत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मचारीति ॥ ब्रह्मचर्यादयो य एते पृथगाश्रमा उक्ता एते चत्वार एव गृहस्थजन्या भवन्ति ॥ ८७ ॥

> सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः । यथोक्तकारिणं विष्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

सर्वेऽपीत्यादि ॥ एते सर्वे चत्वारोऽप्याश्रमाः शास्त्रानतिक्रमेणानु-ष्टिताः । 'अपि'शब्दात्रयो द्वावेकोऽपि यथोक्तानुष्ठातारं विश्रं मोक्षलक्षणां गतिं प्रापयन्ति ॥ ८८ ॥

प्रकृतवेदसंन्यासिकस्य गृहे पुत्रैश्वर्ये सुखे वासं वक्ष्यति, तदर्थं गृहस्थो-रक्षमाह—

#### सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।

गृहस्य उच्यते श्रेष्टः स त्रीनेतान्विभर्ति हि ॥ ८९ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषामेतेषां ब्रह्मचार्यादीनां मध्ये गृहस्थस्य श्रूयमाणत्वेन प्रायशोऽग्निहोत्रादिविधानाङ्गृहस्थो मन्वादिभिः श्रेष्ठ उच्यते । तथा यस्माद्रह्म-चारिवानप्रस्थयतीनसौ भिक्षादानेन पोषयति तेनाप्यसौ श्रेष्ठः । यथोकम् ( ३१७८ )—'यसात्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्' इति ॥ ८९ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥ यथेलादि॥यथा सर्वे नदीनदा गङ्गाक्षोणाद्याः समुद्रेऽवस्थिति लभन्ते एवं गृहस्थादपरे सर्वाश्रमिणस्तद्धीनजीवनत्वाहृहस्थस्मीपेऽवस्थिति लभन्ते ॥

चतुर्भिरिप चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्धिजैः।

द्शलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥ चतुर्भिरित्यादि ॥ एतैर्बेह्मचार्यादिभिराश्रमिभिश्चतुर्भिरपि द्विजातिभि-वैद्यमाणो दशविधस्त्ररूपो धर्मः प्रयत्नतः सततमजुद्देयः ॥ ९१ ॥

पाठा०-1 वेदश्रुतिविधानतः.

तमेव स्वरूपतः संख्यादिभिश्च दर्शयति-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

श्रृतिरित्यादि ॥ संतोषो धतिः, परेणापकारे कृते तस्य प्रत्यपकारानाचरणं क्षमा, विकारहेतुविषयसिक्षधानेऽप्यिविक्षीयत्वं मनसो दमः, 'मनसो दमनं दम' इति सनन्दनवचनात् । श्रीतातपादिद्वन्द्वसिहण्णुता दम इति गोविन्द्रशाजः । अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयं तद्विज्ञमस्तेयम्, यथाशास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचं, विषयेभ्यश्रक्षुरादिवारणमिन्द्रियनिग्रहः, शास्त्रादितत्त्वज्ञानं श्रीः, आत्मज्ञानं विद्या, यथार्थाभिधानं सत्यं, क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्ति-रक्षोधः, एतद्दशविधं धर्मस्वरूपम् ॥ ९२ ॥

द्श रुक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते । अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

द्श लक्षणानीति ॥ ये विष्रा एतानि दशविधधर्मस्वरूपाणि पठन्ति पठित्वा चात्मज्ञानसाचिक्येनानुतिष्ठन्ति ते ब्रह्मज्ञानसमुत्कर्षात्परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्तुवन्ति ॥ ९३ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः । वैदान्तं विधिवच्छुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ९४ ॥

द्रालक्षणकमिति ॥ उक्तं दशलक्षणकं धर्मं संयतमनाः सन्ननुतिष्ठन् उपनिषदाद्यर्थं गृहस्थावस्थायां यथोक्ताध्ययनधर्मान् गुरुमुखादवगम्य परि-शोधितदेवायृणत्रयः संन्यासमनुतिष्ठेत् ॥ ९४ ॥

> संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् । नियतो वेदमम्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥

संन्यस्येति ॥ सर्वाणि गृहस्थानुष्ठेयामिहोत्रादिकर्माणि परित्यज्य अज्ञात-जन्तुवधादिकर्मजनितपापानि च प्राणायामादिना नाशयश्चियतेन्द्रिय उप-निषदो प्रनथतौऽर्थतश्चाभ्यस्य पुत्रैश्चर्य इति पुत्रगृहे पुत्रोपकल्पितभोजनाच्छा-दुनत्वेन वृत्तिचिन्तारहितः सुखं वसेत् । अयमेवासाधारणो धर्मः कुटीचर-स्रोतः । इदमेव वक्तं 'वेदसंन्यासिकानां तु' (६।८६) इति पूर्वमुक्तम् ॥५५॥

एवं सँन्यस कुर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।

संन्यासेनापहर्त्येनः प्रामीति परमा गतिम् ॥ ९६ ॥ प्रविति ॥ प्रवसुक्तप्रकारेण वर्तमामोऽप्रिहोत्राहिगृहस्यकर्माणि परि-स्वास्मासास्कारस्यस्यस्यस्याचेप्रधानः स्वर्गादावि बन्धहेतुत्वा बिःस्पृहः प्रवच्या पापति विभाइय व्यवसाक्षात्कारेण चरमा गति मोक्षस्वर्णा प्रामीति ॥ ९६ ॥

# एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः । पुण्योऽक्षयफलः प्रत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्टोऽध्यायः ॥ ६ ॥

एष इति ॥ ऋषीन्संबोध्योच्यते । एष युष्माकं ब्राह्मणस्य संबन्धी क्रिया-कलापो धर्मस्रस्यैव ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थादिभेदेन चतुर्विधः परत्राक्षयफल उक्तः । इदानीं राजसंबन्धिनं धर्म श्रुणुत । अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चातुराश्र-क्योपदेशाद्वाह्मणः प्रवजेदिति पूर्वमिधानाद्वाह्मणस्यैव प्रवज्याधिकारः ॥९७॥

इति श्रीकुळूकभट्टकतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ षष्टोऽध्यायः ॥ ६ ॥

#### सप्तमोऽध्यायः ७

#### राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेत्रृपः । संभवश्र यथा तस्य सिद्धिश्र परमा यथा ॥ १ ॥

राजधर्मानिति ॥ 'धर्म'शब्दोऽत्र दृष्टादृष्टार्थानुष्ठेयपरः, षाद्रुण्यादेरपि वक्ष्यमाणत्वात् । 'राज'शब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिवचनः, किंत्वमिषिक्तजन-पद्पुरपालयितृपुरुषवचनः । अत एवाह 'यथावृत्तो भवेतृपः' इति । यथा-बदाचारो नृपतिभवेत्तथा तस्यानुष्ठेयानि कथयिष्यामि । यथा येन प्रकारेण वा 'राजानमस्जरप्रसुः' ( ७।३ ) इत्यादिना तस्योत्पत्तिः, यथा च दृष्टादृष्ट-फलसंपत्तिः तद्पि वक्ष्यामि ॥ १ ॥

# ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि । सर्वस्थास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

ब्राह्मित्यादि ॥ ब्रह्म वेद्सत्याद्यर्थतयोपनयनसंस्कारसं यथाशासं प्राप्तु-वता क्षत्रियेणास सर्वेस स्विवयावस्थितस्य शास्त्रानुसारेण नियमतो रक्षणं कर्तव्यम् । एतेन क्षत्रिय एव नान्धी राज्याधिकारीति द्रशितम् । अत एव ब्राह्मार्थतस्य क्षत्रियस्य जीवनार्थ, तथा क्षत्रियस्य तु रक्षणं स्वकर्मसु श्रेष्ठं च ब्रह्मति, ब्राह्मणस्य द्यापदि 'बीवेत्क्षत्रियधर्मण' ( १०१८१ ) इत्विमधास्यति, वैश्यस्यापि क्षत्रियधर्म, श्रूदस्य च क्षत्रियवैश्यकर्मणी जीवनार्थमापदि जनाद नारदः—'न कथंचन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षक्रम् । वृषकः कर्म च ब्राह्म पत्तनीये हि ते तयोः ॥ उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥ रक्षणं वेदधर्मार्थं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्' । इति, 'सर्वतो धर्मपद्मागो राज्ञो मवति रक्षतः' (८१३०४) इति च वक्ष्य-माणत्वाद्वक्षितुर्वकिषद्मागग्रहणादृष्टार्थमपि 'योऽरक्षन्यितमाद्ते' (८१३०७) इति नरकपातं वक्ष्यति ॥ २ ॥

#### अराजके हि लोकेऽसिन्सर्वतो विद्वते भयात् । रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्त्रभुः ॥ ३ ॥

अराजक इति ॥ यसादराजके जगति वलवद्मयात्सर्वतः प्रचिति सर्व-स्यास चराचरस्य रक्षाये राजानं सृष्टवांस्तस्मात्तेन रक्षणं कार्यम् ॥ ३ ॥

कथं सृष्टवानित्याह—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्र वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्रेव मात्रा निर्हत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

इन्द्रेति ॥ इन्द्रवातयमसूर्याप्तिवरुणचन्द्रकुवैराणां मात्रा अंशान्सारभूता-नाकृष्य राजानमस्जत् ॥ ४ ॥

यसादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः । तसादिभभवत्येष सर्वभृतानि तेजसा ॥ ५ ॥

यसादिति ॥ यसादिन्द्रादीनां देवश्रेष्ठानामंशेभ्यो नृपतिः सृष्टस्तसादेष सर्वप्राणिनो वीर्येणातिशेते ॥ ५ ॥

तपत्यादित्यवचैष चक्षूंषि च मनांसि च।

न चैनं भ्रवि शकोति कश्चिद्प्यभिवीश्चितुम् ॥ ६ ॥

तपतीत्यादि ॥ अयं चराजा स्वतेजसा सूर्य इव पश्यतां चक्षूंषि मनांसि च संतापयति, न चैनं राजानं पृथिव्यां कश्चिद्प्याभिमुख्येन द्रष्टुं क्षमते ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्ट् । स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७॥

स इत्यादि ॥ एवं चाध्यादीनां पूर्वोक्तांशभवत्वात्तत्कमेकारित्वाच प्रताप उक्तः, 'तेनस्वी' (९११०) इत्यादिना नवमाष्याये वक्ष्यमाणत्वात् । स राजा शक्त्यतिशयेनाध्यादिरूपो भवति ॥ ७ ॥

> बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः । महती देवता होषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

बास्त इत्यादि ॥ ततश्च मनुष्य इति बुद्धा बालोऽपि राजा नावमन्तष्यः । यस्मान्महतीयं काचिदेवता मानुषरूपेणावतिष्ठते । एतेन देवतावज्ञायान् मधर्मादयोऽदृष्टदोषा उक्ताः ॥ ८ ॥

संप्रति इष्टदोषमाह-

एकमेव दहत्यग्रिनीरं दुरुपसर्पिणम् ।

कुलं दहति राजान्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥ एकमिखादि ॥ योऽमेरतिसमीपमनवहितः सञ्चपसर्पति चं दुरुपसर्पिणमेक

पाठा०-1 स चेन्द्रः खप्रभावतः.

मैवाग्निदंहति, न तत्पुत्रादिकम् । कुद्धो राजाग्निः पुत्रदारभात्रादिरूपं कुलमैव गवाश्वादिपञ्चस्रवर्णादिधनसंचयसहितं सापराधं निहन्ति ॥ ९ ॥

> कार्य सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः। कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥

कार्यमिलादि ॥ स राजा अयोजनापेक्षया स्वशक्ति देशकाली चावेक्ष्य कार्यसिद्धार्थं तत्त्वतो विश्वरूपं बहूनि रूपाणि करोति । जातिविवक्षया बहू-ष्वेकवचनम्। अशक्तिदशायां क्षमते, शक्ति प्राप्योनमूलयति, एवमेकस्मिन्नपि देशे काले च प्रयोजनानुरोधेन शत्रुर्वा मित्रं वा उदासीनो वा भवति, अतौ 'राजवल्लभोऽहम्' इति बुद्ध्या नावज्ञेयः ॥ १०॥

> यस प्रसादे पद्मा श्रीविंजयश्च पराक्रमे । मृत्युश्च वसित क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ११ ॥

यत्येत्यादि ॥ 'पद्मा'शब्दः श्रीपर्यायोऽपि महत्त्वविवश्चयात्र प्रयुक्तः। यस्य प्रसादान्महती श्रीभैवलतः श्रीकामेन सेन्यः। यस शत्रवः सन्ति तानपि संतोषितो हन्ति । तेन च शत्रुवधकामेनाप्याराधनीयः । यस्मै कुध्यति तस्य मृत्यं करोति, तसाजीवनार्थिना न कोधनीयः । यसात्सर्वेषां सूर्याग्निसोमा-दीनां तेजो बिभर्ति ॥ ११ ॥

> तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंश्यम् । तस्य ह्याञ्च विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

तमिलादि ॥ तं राजानमज्ञतया यो द्वेष्टि तस्याप्रीतिमुत्पादयति स निश्चितं राजकोधान्नर्यति । यसात्तस्य विनाशाय शीघं राजा मनो नियक्के॥

तसाद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्थेन्नराधिपः । अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥

तसादित्यादि ॥ यतः सर्वतेजोमयो नृपतिस्तसादपेक्षितेषु यमिष्टं शासा-नुष्टेयं शास्त्राविरुद्धं तिश्चित्य न्यवस्थापयति, अनपेक्षितेषु चानिष्टं नियमं नातिकामेत्॥ १३॥

> तेखार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्। ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

तस्यार्थ इति ॥ तस्य राज्ञः प्रयोजनसिद्धये सर्वप्राणिनां रक्षितारं धर्म-स्त्ररूपं पुत्रं ब्रह्मणो यक्त्रेवलं तेजस्तेन निर्मितं न पात्रभौतिकं देहं ब्रह्मा पूर्व सृष्टवान् ॥ १४ ॥

पाठा०—1 तद्दर्थ.

अध्यायः 👁

# तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च। भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मात्र चलन्ति च॥ १५॥

तस्येत्यादि ॥ तस्य दण्डस्य भयेन चराचराः सर्वे प्राणिनो भोगं कर्तुं समर्था भवन्ति, अन्यथा बलवता दुर्बलस्य धनदारादिग्रहणे तस्यापि तद्दपेद्दय बलिनेति कस्यापि भोगो न सिद्धयेत्, बृक्षादीनां स्थावरादीनां छेदने भोगासिद्धिः, तथा सतामपि नित्यनैमित्तिकस्वधर्मानुष्टानमकरणे याम्ययातनाभयादेव १५

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः। यथाईतः संप्रणयेत्ररेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

तमिलादि ॥ तं दण्डं देशकालौ दण्ड्यस्य च शक्तिं विद्यादिकं यसिन्नपराधे यो दण्डोऽईतीलादिकं श्लासानुसारेण क्तवतो निरूप्यापराधिषुप्रवर्तयेत् १६

> स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः । चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥

स इत्यादि ॥ स एव दण्डो वस्तुतो राजा तसिन् सित राजशक्तियोगात् , स एव पुरुषस्ततोऽन्ये स्त्रिय इव तिह्वियत्वात् , स एव नेता तेन कार्याणि नीयन्ते प्राप्यन्ते, स एव शासिता शासनमाज्ञा तद्दातृत्वात् , स एव चतुर्णी-मण्याश्रमाणां यो धर्मस्तस्य संपादने प्रतिभूरिव प्रतिभूभुनिभिः स्मृतः ॥ १७ ॥

> दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

दण्डः शास्तीति ॥ यसादण्डः सर्वाः प्रजा आज्ञां करोति वसावसाध्यकं शासितेति श्रेयम् । यसात्स एव प्रजा रक्षति ततो युक्तमुक्तं राजेति । निद्रार्णेष्वपि रक्षितृषु दण्ड एव जागतिं, तद्वयेनैव चौरादीनामप्रवृत्तेः । दण्डमेव धर्महेतुत्वाद्धर्मं जानन्ति । कारणे कार्योपचारः । ऐहिकपारित्रकदण्डभयादेव धर्मानुष्ठानात् ॥ १८॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रज्जयति प्रजाः । असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥

समीक्ष्येत्यादि ॥ सदण्डः शास्त्रतः सम्यङ्गिरूप्यापराधानुरूपेण देहधना-दिषु एतः सर्वाः प्रजाः सानुरागाः करोति । अविचार्यं तु क्षोभादिना प्रयुक्तः सर्वाणि बाह्यार्थपुत्रादीनि नाश्चयति । सर्वत इति द्वितीयार्थे तसिः ॥ ३९ ॥

वि न प्रणयेद्राजा दण्हं दण्ड्येष्वतन्द्रितः । राते मत्स्यानिवापक्ष्यनदुर्वलान्बलवत्तराः ॥ २०॥ यदीत्यादि ॥ यदि राजाऽनकसो भूत्वा दण्डमणयनं सङ्कर्णानदा माहे क्रत्वा मत्सानिव बलवन्तो दुर्बेलानपश्यन्। लङन्तस पचिधातो स्पामिदम्। बलिनोऽल्पबलानां हिंसामकरिष्यन्नित्यर्थः। 'शूले मत्सानिवापश्यन्' इस्येष मेधातिथि-गोविन्दराजलिखितः पाठः। 'जले मत्सानिवाहिंस्युः' इति च पाठा-नतरम्। अत्र बलवन्तो दुर्बेलान्हिस्युरिति मत्स्यन्याय एव सादित्युक्तम्॥२०॥

> अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्वविस्तथा । स्वाम्यं च न स्यात्कसिंश्वित्प्रवर्तेताथरोत्तरम् ॥ २१ ॥

अद्यादिति ॥ यदि राजा दण्डं नाचरिष्यत्तदा यज्ञेषु सर्वथा हितरनहैं। काकः पुरोडाशमसादिष्यत् । तथा कुक्करः पायसादि हितरलेक्ष्यत् । न कस्यचित्कुत्रचित्स्वाम्यमभविष्यत् । ततो बलिना तद्रहणाद्राह्यणादिवर्णानां च मध्ये यदवरं श्रुदादि तदेवोत्तरं प्रधानं प्रावर्तिष्यत ॥ २१ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि श्रुचिर्नरः। दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते॥ २२॥

सर्व इति ॥ सर्वोऽयं लोको दण्डेनैव नियमितः सन्मार्गेऽवतिष्ठते । स्वभाव-विश्वदो हि मानुषः कष्टेन लभ्यते । तथा सर्वमिदं जगदण्डस्यैव भयादाव-रथकभोजनादिरूपेऽपि भोगे समर्थं भवति ॥ २२ ॥

उक्तमपि दण्डस्य भोगसंपादकत्वं दार्ख्यार्थं पुनरुच्यते-

देवदानवगर्न्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।

्रतेऽपि भोगाय करपन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥

देविति ॥ इन्द्राप्तिसूर्यवाय्वादयो देवास्तथा दानवगन्धर्वराक्षसपक्षिसपि अपि 'जगदीश्वरपरमार्थभयपीडिता एव वर्षदानाद्यपकाराय प्रवर्तन्ते।' तथा च श्रुतिः (काठ. उ. २।६।३)—'भयादस्याप्तिस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिनदश्च वासुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इति ॥ २३॥

दुष्येयुः सर्ववर्णीश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।

सर्वेलोकप्रकोपश्च भवेदण्डस्य विश्रमात् ॥ २४ ॥

दुष्येयुरिति ॥ दण्डस्यानाचरणादनुचितेन वा प्रवर्तनात्सर्वे बाह्मणादिवर्णा इतरेतरस्रीगमनेन संकीर्येरन्, सर्वशास्त्रीयनियमाश्चतुर्वर्गफला उत्सीदेयुः, चौर्यसाहसादिना च परस्यापकारात्सर्वलोकसंक्षोभश्च जायेत ॥ २४ ॥

यत्र इयामो लोहिताक्षो दण्डश्ररति पापहा ।

प्रजास्तत्र न मुद्यन्ति नेता चेत्साघु पश्यति ॥ २५ ॥ यत्रेति ॥ यत्र देशे शास्त्रमाणावगतः श्यामवर्णः लोहितनयनोऽधिष्ठातु-देवताको दण्डो विचरति तत्र प्रजा व्याकुला न भवन्ति । दण्डप्रणेता यदि विषयानुरूपं सम्यग्जानाति ॥ २५ ॥ तस्याद्धः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् । समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

तस्येत्यादि ॥ तस्य दण्डस्य प्रवर्तयितारमभिषेकादिगुणयुक्तं नृपतिमिषतथ-वादिनं समीक्ष्यकारिणं तत्त्वातत्त्वविचारोचितं प्रज्ञाशालिनं धर्मार्थेकामानां ज्ञातारं मन्वादयोऽप्याहुः ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।

कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

तमिति ॥ तं दण्डं राजा सम्यक्प्रवर्तयन्धमार्थकामैर्वृद्धिं गच्छति । यः पुनर्विषयाभिलाषी विषमः कोपनः क्षुद्रश्छलान्वेषी नृपः स प्रकृतेनैव दण्डे-नामात्यादिना कोपादधर्माद्वा विनाश्यते ॥ २७ ॥

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्घरश्राकृतात्मभिः।

धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सवान्धवम् ॥ २८॥

द्णड इति ॥ यतो दण्डः प्रकृष्टतेजःस्वरूपः स्वशास्त्रेरसंस्कृतासमिन-दुं:सेन ध्रियतेऽतो राजधर्मरहितं नृपमेव पुत्रबन्धुसहितं नाशयति ॥ २८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् । अन्तरिक्षगतांश्चेव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

तत इति ॥ दोषाद्यनपेक्षया यो दण्डः कियते स<sup>े</sup> बन्धुनृपनाशानन्तरं धन्वादिदुर्गराष्ट्रं देशं पृथिवीलोकं जङ्गमस्थावरसहितं 'हविःप्रदानजीवना देवाः' इति श्रुत्या हविःप्रदानाभावेऽन्तरिक्षगतानृषीन्देवांश्च पीडयेदिति ॥२९॥

सोऽसहायेन मूढेन छुन्धेनाकृतबुद्धिना ।

न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

स इत्यादि ॥ स दण्डो मित्रिसेनापतिपुरोहितादिसहायरहितेन मूर्खेण लोभवता शास्त्रासंस्कृतबुद्धिपरेण नृपतिना शास्त्रतो न प्रणेतुं शक्यते ॥३०॥

शुचिना सत्यसंघेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।

प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

शुचिनेति ॥ अर्थादिशोचयुक्तेन सत्यप्रतिश्चेन यथाशास्त्रव्यवहारिणा शोभनसहायेन तत्त्वश्चेन कर्तुं शक्यत इति पूर्वोक्तरोषप्रतिपक्षे गुणा अनेन श्लोकेनोक्ताः ॥ ३१ ॥

खराष्ट्रे न्यायवृत्तः साङ्ग्रशदण्डश्र शत्रुषु ।

सुहृत्स्वजिक्षः सिग्धेषु ब्राह्मणेषु श्रमान्वितः ॥ ३२ ॥ स्वराष्ट्र इति ॥ आत्मदेशे यथाशास्त्रव्यवहारी स्वात् । शत्रविषयेषु तीक्ष्ण-

दण्डो भवेत् । निसर्गस्नेहविषयेषु मित्रेष्वकुटिलः स्वास्न कार्यमित्रेषु । ब्राह्मणेषु च कृताल्पापराधेषु च क्षमावान्भवेत् ॥ ३२ ॥

> एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः । विसीर्यते यशो लोके तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥

एचमित्यादि ॥ शिलोञ्छेनेति श्लीणकोशत्वं विवक्षितम् । श्लीणकोशस्यापि नृपतेरुकाचारवतो जले तैलबिन्दुरिव कीर्तिलीके विस्तारमेति ॥ ३३ ॥

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः।

संक्षिप्यते यशो लोके घृतविनदुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

अत इति ॥ उक्ताचाराद्विपरीताचारवतो नृपतेरजितेन्द्रियस जले वृत-विन्दुरिव कीर्तिः लोके संकोचयित ॥ ३४ ॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।

वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

स्वे स्वे इत्यादि ॥ क्रमेण स्वधमीनुष्ठातृणां ब्राह्मणादिवर्णानां ब्रह्मचार्याद्या-श्रमाणां च विश्वसृजा राजा रक्षिता सृष्टः । तस्मानेषां रक्षणमकुर्वतो राज्ञः प्रत्य-वायः । स्वधमेविरहिणां त्वरक्षणेऽपि न प्रत्यवाय इत्यस्य तात्पर्यार्थः ॥ ३५ ॥

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः।

तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वेशः ॥ ३६ ॥

तेनेत्यादि ॥ वश्यमाणावताराथोंऽयं श्लोकः । तेन राज्ञा प्रजारक्षणं कुर्वता सामात्येन यदाकर्वव्यं तत्तत्त्वमञ्जं युष्माकमभिधात्यामि ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्धेपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।

त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणानिति॥ प्रत्यहं प्रातरुत्थाय ब्राह्मणानुग्यज्ञःसामाख्यविद्यात्रयप्रन्था-र्थाभिज्ञान्विदुष इति नीतिशास्त्राभिज्ञान्सेवेत तदाज्ञां कुर्यात्॥ ३७॥

> वृद्धांश्र नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः श्रुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

वृद्धानित्यादि ॥ तांश्च ब्राह्मणान्वयस्तपत्यादिवृद्धानर्थतो प्रनथतश्च वेद-ज्ञान्बहिरन्तश्चार्थदानादिना शुचीक्षित्यं सेवेत । यसादृद्धसेवी सततं हिंसे राक्षसेरपि पूज्यते तैरपि तस्य हितं क्रियते । सुतरां मनुष्येः ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।

विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कहिंचित् ॥ ३९ ॥ तेभ्य इत्यादि ॥ सहजप्रज्ञया अर्थशास्त्रादिज्ञानेन च विनीतोऽप्यतिशयार्थं तेभ्यो विनयमभ्यसेत् । यसाद्विनीतात्मा राजा न कदाविश्वस्यति ॥ ३९ ॥ २२ म० स्पृ०

#### बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सेपरिच्छदाः । वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

बह्व इत्यादि ॥ करितुरगकोशादिपरिच्छद्युक्ता अपि राजानो विनयरहिता नष्टाः । बह्वश्र वनस्था निष्परिच्छदा अपि विनयेन राज्यं प्राप्तुवन् ॥ ४० ॥

उभयत्रेव श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह-

वेनो विनष्टोऽविनयात्रहुपश्चैव पार्थिवः ।

सुदाः पैजवनश्रेव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥

वेन इत्यादि ॥ वेनो नहुषश्च राजा पिजवनस्य च पुत्रः सुदानामा सुमुखो निमिश्चाविनयादनस्यन् ॥ ४१ ॥

> पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च । कुवेरश्च घनिश्वयं त्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

पृथुरिति ॥ पृथुमेनुश्च विनयाद्वाज्यं प्रापतः । कुवेरश्च विनयाद्धनाधिपत्यं छेमे । गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान् । राज्यलाभावसरे ब्राह्मण्यप्राप्तिरप्रस्तुतापि विनयोत्कर्षार्थमुक्ता ईदशोऽयं शास्त्रानुष्टानिषिद्धवर्जनरूपो विनयो यदनेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभं ब्राह्मण्यं लेभे ॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्र लोकतः ॥ ४३ ॥

त्रैविद्येभ्य इति ॥ त्रिवेदीरूपविद्याविद्यस्त्रिवेदीमर्थतो प्रन्थतश्चाभ्यसेत् । श्रव्याव्यवद्यायामेव वेदप्रहणात्समावृत्तस्य च राज्याधिकारात् । श्रभ्यासार्थोऽ उयमुपदेशः । दण्डनीतिं चार्थशास्त्ररूपामर्थयोगक्षेमोपदेशिनीं पारम्पर्यागतः त्वेन नित्यां तद्विद्योऽधिगच्छेत् । तथा श्रान्वीक्षिकीं तर्कविद्यां मृतप्रवृत्तिः प्रयुत्तयुपयोगिनीं श्रक्षविद्यां चाभ्युद्यव्यसनयोईर्षविषाद्पशमनदेतुं शिक्षेत । श्रव्याणिज्यपञ्चपालनादिवार्ता तद्वारैम्भान्धनोपायार्थास्तद्भिज्ञकर्षकादिभ्यः शिक्षेत ॥ १३ ॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेदिवानिशम् । जितेन्द्रियो हि शक्रोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥

इन्द्रियाणामित्यादि ॥ चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां विषयासक्तिवारणे सर्वकाळं यत्नं कुर्यात् । यसाज्जितेन्द्रियः प्रजा नियन्तुं शक्नोति नतु विषयोपभोगच्यमः । अक्षाचारिधर्मेषु सर्वपुरुषोपादेयतयाभिहितोऽपीन्द्रियजयो राजधर्मेषु सुख्यत्व-क्षानार्थमनन्तरवक्ष्यमाणन्यसननिवृत्तिहेतुत्वाच पुनरुक्तः ॥ ४४ ॥

द्श कामसम्रत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च । व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥ द्शेत्यादि ॥ दश कामसंभवानि अष्टौ क्रोजजानि वस्त्रमाणस्यसनानि

<sup>1</sup> सपरित्रहाः (=पुत्रदारहस्त्यश्वादिराजसंपद्युताः).

र रावनानन्दस्त-धनोपायार्थान् पराशरादिरसृतिस्यो वा शिक्षेतेत्याह.

यसतस्यजेत् । दुरन्तानि दुःस्नानसानान्यादौ सुस्रयन्ति अन्ते दुःस्नानि कुर्वन्ति । यद्वा दुर्कभोऽन्तो येषां तानि दुरन्तानि । नहि व्यसनिनस्ततो निवर्तयितुं शक्यन्ते ॥ ४५ ॥

वर्जनप्रयोजनमाइ---

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः । वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

कामजेष्विति ॥ यसात्कामजनितेषु व्यसनेषु प्रसक्तो राजा धर्मार्थास्यां हीयते । कोधजेषु प्रसक्तः प्रकृतिकोपादेदनाशं प्रामोति ॥ ४६ ॥

तानि व्यसनानि नामतो दशैयति-

मृगयाऽक्षो दिवास्त्रप्तः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥ ४७॥

मृगयेलादि ॥ भाखेटकाख्यो मृगवधो मृगया, अक्षो धूतकीदा, सकछ-कार्यविधातिनी दिवानिद्रा, परदोषकथनं, स्नीसंभोगः, मद्यपानजनितो मदः, तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणि, वृथाश्रमणम्, एष दशपरिमाणो दशकः सुखेच्छाप्रभवो गणः ॥ ४७ ॥

> पैश्चन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यास्यार्थद्षणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥

पैशुन्यमिति ॥ पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणं, साहसं साधोर्बन्धनादि-निप्रहः, दोहरुष्ठश्चवधः; ई॰व्यांऽन्यगुणासहिष्णुता, परगुणेषु दोषाविष्करण-मसूया, अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देयानामदानं च, वानपारुष्यमाक्रोशादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि, एषोऽष्टपरिमाणो न्यसनगणः क्रोधाद्ववति ॥ ४८॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।

तं यनेन जयेछोमं तजावेतावुमौ गणौ ॥ ४९ ॥

द्वयोरिति ॥ एतयोईयोरिप कामकोधजन्यसनसङ्घयोः कारणं स्मृतिकारा जानन्ति, तं यत्नतो छोभं त्यजेत् । यसादितद्गणद्वयं छोभाजायते । कविद्धन-छोभतः, कवित्यकारान्तर्छोभन प्रवृत्तेः ॥ ४९ ॥

> पानमक्षाः स्त्रियश्रैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याचतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

पानमिति ॥ मद्यपानं, अक्षैः कीडा, स्त्रीसंभीगः, मृगया चेति कम-पठितमेतचतुष्कं कामजब्यसनमध्ये बहुदोषत्वादितशयेन दुःखहेतुं जानी-यात् ॥ ५० ॥

१ असद्दोषादिष्करणं पैशुन्यमिति व्याचष्टे सर्वज्ञनारायणः.

# दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदृषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतित्रिकं सदा ॥ ५१ ॥

दण्डस्येत्यादि ॥ दण्डपातनं, वाक्पारुष्यं, अर्थदूषणं चेति क्रोधजेऽपि व्यसनगणे दोषबद्धल्लावादितशयितदुःखसाधनं मन्येत ॥ ५१ ॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः । पूर्व पूर्व गुरुतरं विद्याद्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

सप्तकस्येति ॥ अस्य पानादेः कामकोधसंभवस्य सप्तपिरमाणस्य व्यसन-वर्गस्य सर्वसिक्वेव राजमण्डले प्रावेणावस्थितस्य पूर्वपूर्वव्यसनमुत्तरोत्तरा-त्कष्टतरं प्रशस्तारमा राजा जानीयात्। तथा हि-धूतात्मानं कष्टतरं, मद्य-पानेन मत्तस्य संज्ञाप्रणाशाद्ययेष्टचेष्टया देहधनादिविरोध इत्यादयो दोषाः। धूते तु पाक्षिकी धनावासिरप्यस्ति, खीव्यसनाद् धूतं दुष्टम्, धूते हि वैरोज्ञवा-दयो नीतिशास्त्रोक्ता दोषाः। मूत्रपुरीषवेगधारणाच व्याध्युत्पत्तिः। खीव्यसने पुनरपत्योत्पत्त्यादिगुणयोगोऽप्यस्ति। मृगयास्त्रीव्यसनयोः स्त्रीव्यसने दुष्टम्। तत्रादर्शनकार्याणां कालातिपातेन धर्मलोपादयो दोषाः, मृगयायां तु व्यायामेनारोग्यादिगुणयोगोऽप्यस्तियेवं कामजचतुष्कस्य पूर्वं पूर्वं गुरुद्दोषं, कोधजेष्वपि त्रिषु वानपार्व्यादण्डपार्व्यं दुष्टम्। अङ्गच्छेदादेरशक्यसमाधानत्त्वात्, वाष्पार्व्यं तु कोपानलो दानमानपानीयसेकैः शक्यः शमयि-तुम्। अर्थद्षणाद्वाक्पार्व्यं दोषवन्मर्भपीडाकरं, वाक्पद्वारस्य दुश्चिकित्स्य-त्वात्। तदुक्तं—'न संरोहयति वाक्नृतम्'। अर्थद्षणं तु प्रचुरतरार्थदाना-च्छक्यसमाधानं, एवं कोधजिन्नस्य पूर्वं पुर्वं दुष्टतरं यक्षतस्त्यजेत्॥ ॥ १ ॥

# व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टग्रुच्यते ।

व्यसन्यधोऽधो त्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥

व्यसनस्येति ॥ यद्यपि मृत्युन्यसने द्वे भपीह कोके संज्ञाप्रणाशादिदुःख-हेतुतया शास्त्रानुष्ठानिवरोधितया च तुन्ये, तथापि व्यसनं कष्टतरं परत्रापि नरकपातहेतुत्वात् । तदाह-व्यसन्यधोऽधो अजतीति । बहुत्ररका-न्गच्छतित्यर्थः । भव्यसनी तु मृतः शास्त्रानुष्ठानप्रतिपक्षव्यसनाभावात्स्वर्गं गच्छति । एतेनातिप्रसक्तिव्यंसनेषु निषिध्यते नतु तस्य सेवनमपि ॥ ५३ ॥

> मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँछब्धलक्षान्कुलोद्भवान् । सचिवान्सप्त चाष्टौ वी प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥

मौलानिति ॥ मौलान्यितृपितामहक्रमेण सेवकान्, तेषामपि ब्रोहादिना व्यमिचारात् दशदद्वार्थशास्त्रान्तिकान्तान्, लब्बलक्षां क्षकादप्रस्थुतहारीर- शल्यादीनायुधविद इत्यर्थः । विशुद्धकुरुभवान्देवतास्पर्शादिनियतानमात्यान् सप्ताष्टौ वा मन्नादौ कुर्वीत ॥ ५४ ॥

यसात्,--

अपि यत्सुकरं कर्म तद्प्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किं नु राज्यं महोद्यम् ॥ ५५ ॥
अपीत्यादि ॥ सुस्तेनापि यत्क्रियते कर्म तद्प्येकेन दुष्करं भवति । विशेषतो
यन्महाफर्लं तत्कथमसहायेन क्रियते ॥ ५५ ॥

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् । स्थानं सम्रद्यं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

तैरिलादि ॥ सिवैः सह सामान्यं मञ्जेष्वगोपनीयं संधिविग्रहादि । तिञ्चरूपयेत् । तथा तिष्ठलनेनेति स्थानं दण्डकोशपुरराष्ट्रात्मकं चतुर्विधं विन्तयेत् ।
दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो हस्लश्वरथपदातयस्तेषां पोषणं रक्षणादि तिच्चन्त्यम् ।
कोशोऽर्थानेचयस्त्रस्यायव्ययादि, पुरस्य रक्षणादि, राष्ट्रं देशस्त्रद्वासिमजुष्यपश्चादिधारणक्षमत्वादि चिन्तयेत् । तथा समुद्यन्त्युत्पचन्तेऽस्मादर्था इति
समुद्यो धान्यहिरण्याद्युत्पत्तिस्थानं तिक्वस्पयेत् । तथा गुप्तं रक्षामारमगतां
राष्ट्रगतां च स्वपरीक्षितमन्नाद्यमद्यात् । 'परीक्षिताः स्वियश्चैनं' ( ७१२१९ )
इत्यादिनात्मरक्षणं, 'राष्ट्रस्य संग्रहे निल्यम्' (७११३) इत्यादिना राष्ट्रक्षां च
वक्ष्यति । ल्य्यस्य च धनस्य प्रशमनानि सत्त्यात्रे प्रतिपादनादीनि चिन्तयेत् ।
तथा च वक्ष्यति (७१०१) 'जित्वा संपूजयेदेवान्' इत्यादि ॥ ५६ ॥

# तेषां स्वं स्वमभित्रायग्रुपलम्य पृथक् पृथक् । समस्तानां च कार्येषु विद्ध्याद्वितमात्मनः ॥ ५७ ॥

तेषामिति ॥ तेषां सचिवानां रहसि निष्यतिपक्षतया हृदयगतभावज्ञान-संभवात्प्रत्येकमभिन्नायं समस्तानामि युगपदभिन्नायं बुध्वा कार्ये यदात्मनो हितं तत्कुर्यात् ॥ ५७ ॥

> सर्वेषां तु विशिष्टेन त्राक्षणेन विपश्चिता । मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाडुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

सर्वेषामिति ॥ एषामेव सर्वेषां सन्विवानां मध्यादुन्यतमेन धार्मिकवा-दिना विशिष्टेन विदुषा , श्राह्मणेन सह संधिविप्रहादिवश्यमाणगुणपदकोपेतं प्रकृष्टं मन्नं निमन्नयेत् ॥ ५८ ॥

नित्यं तसिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निश्चिपत् । तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ५९ ॥ नित्यमिति ॥ सर्वदा तसिन्बाद्यणे संजातविश्वासो भूत्वा यानि इर्याः-चानि सर्वकार्याणि समर्पयेत् । तेन सह निश्चित्य सर्वं कर्मारभेत् ॥ ५९ ॥

## अन्यानि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् । सम्यगर्थसमाहर्द्वनमात्यान्सुपरीक्षितान् ।। ६० ॥

अन्यानित्यादि ॥ अन्यानप्यर्थदानादिना शुचीन्, प्रज्ञाशालिनः, सम्य-वधनार्जनशीलान्धर्मादिना परीक्षितान्कर्मसचिवान्कुर्यात् ॥ ६० ॥

> निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः। तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वात विचक्षणान् ॥ ६१ ॥

निर्वर्तेतेति ॥ अस्य राज्ञो यत्संख्याकैर्मनुष्यैः कर्मजातं संपद्यते तत्संख्या-कान्मनुष्यानाळस्यज्ञून्यान् , क्रियासु सोत्साहान् , तत्कर्मज्ञांस्तत्र कुर्यात् ॥६१॥

### तेषामर्थे नियुञ्जीत श्र्रान्दक्षान्कुलोद्गतान् । श्रुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

तेषामिति ॥ तेषां सिवानां मध्ये विकानतांश्चतुरान् कुलाङ्कक्षिनियमि-तान् श्रुचीनर्थनिःस्पृहान् धनोत्पत्तिस्थाने नियुक्षीत । अस्वैवोदाहरणम्-आकरकर्मान्त इति । आकरेषु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु, कर्मान्तेषु च इक्षु-धान्यादिसंप्रहस्थानेषु, अन्तर्निवेदाने भोजनद्ययनगृहान्तःपुरादौ भोरूषियु-भीत । श्चरा हि तत्र राजानं प्रायेणैकाकिनं कीवृतं वा कदाचिच्छत्रूपजाप-दूषिता हन्युरिष ॥ ६२ ॥

> दृतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥

दूतिमिति ॥ दूतं च दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञं, इक्षितज्ञमभिप्रायस्चकं वचन-स्वरादि, आकारो देहधर्मादिमुखप्रसाद्वैवर्ण्यादिरूपः प्रीत्यप्रीतिस्चकः, चेष्टा करास्क्रालनादिक्षिया कोपादिस्चिका तदीयतत्त्वज्ञं, अर्थदानस्नीन्यसनाद्य-भावात्मकं शौचयुक्तं चतुरं कुसीनं कुर्यात् ॥ ६३ ॥

यसात्,--

अनुरक्तः ग्रुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् । वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी द्तो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

अनुरक्त इति ॥ जनेषु अनुरागवान् तेन प्रतिराजादेरि अहेषविषयः, अर्थकीशीचशुक्तसेन धनकीवानादिनाऽभेषः, दक्षश्चतुरसेन कार्यकाळं नासि-कामति । स्मृतिमान् तेन संदेशं न विस्मरति, देशकाळ्यः तेन देशकाळी आसा मन्यदिष संदिष्टं देशकाळीचितमन्यथा कथयति, सुक्त्यः तेनादेय-वचनः, विगतजयः तेनाप्रियसंदेशस्मापि वक्ता, वाग्मी तेन संस्कृतासुक्तिक्षमः, एवंविधो दूतो राज्ञः प्रशस्मो भवति ॥ ६४ ॥

## अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनियकी किया। नृपतौ कोशराष्ट्रे च दृते संधिविपर्ययौ॥ ६५॥

अमात्य इति ॥ अमात्ये सेनापतौ हस्त्यश्वरथपादाताद्यात्मको दृण्ड आयत्तः, तदिच्छया तस्य कार्येषु प्रवृत्तेः । विनययोगाद्वैनियको । यो विनयः स दृण्ड आयत्तः । नृपतावर्थसंचयस्थानदेशावायत्तौ राज्ञा पराधीनौ न कर्तव्यौ । स्वयमेव चिन्तनीयं धनं प्रामश्च । दूते संधिविग्रहावायत्तौ, तदिच्छया तत्प्रवृत्तेः ॥ ६५ ॥

## द्त एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्। दृतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः॥ ६६॥

दूत एवेति ॥ यसादृत एव हि भिन्नानां संधिसंपादने क्षमः । संहतानां च भेदने । तथा परदेशे दूतसत्कर्म करोति येन संहता भिद्यन्ते । तसाद् 'दूते संधिविपर्थयौ' (७१६५) संधिविप्रहावायत्ताविति यदुक्तं तस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ दृतस्य कार्यान्तरमाह—

# स विद्यादस्य कृत्येषु निग्हेङ्गितचेष्टितैः।

आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥ स विद्यादिति ॥ स दूतोऽस्य प्रतिराजस्य कर्तव्ये आकारेङ्गितचेष्टां जानीयात् । निगृहा अनुचराः प्रतिपक्षनृपस्यैव परिजनास्तस्मिन्युक्तास्त्रसिक्ष्मिविषे तेषामिङ्गितचेष्टितैः । भृत्येषु च क्षुव्यञ्जव्यापमानितेषु प्रतिराजस्य कर्तुमीप्सितं जानीयात् ॥ ६७ ॥

# बुद्धा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।

तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

बुद्धा चेति ॥ उक्तलक्षणद्तद्वारेण प्रतिपक्षराजस्य कर्तुमिष्टं सर्वे तस्त्रतो ज्ञात्वा तथा प्रयत्नं कुर्यात् यथात्मनः पीडा न भवति ॥ ६८ ॥

# जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम्।

रम्यमानतसामन्तं खाजीन्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥

जाङ्गलमिति ॥ 'अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः । स होयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः' । प्रचुरधार्मिकजनं रोगोपसर्गाद्यैरना-कुलं फलपुष्पतरुलतादिमनोहरं प्रणतसमीपवासन्याटविकादिजनं सुलभ-कृषिवाणिज्याद्याजीवनमाश्रित्यावासं कुर्यात् ॥ ६९ ॥

# धेनुर्दुर्गे महीदुर्गमब्दुर्गे वार्श्वमेव वा ।

नृदुर्ग गिरिदुर्ग वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥ धन्वदुर्गमिति ॥ धनुर्दुर्ग मरुवेष्टितं चनुर्दिशं पञ्चयोजनमनुद्दं, महीदुर्ग पाषाणेन इष्टकेन वा विस्ताराह्नेगुण्योच्छायेण द्वादशहस्तादुच्छितेन युद्धार्थ-मुपरिश्रमणयोग्येन सावरणगवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण वेष्टितं, जलदुर्गमगाधो-दकेन सर्वतः परिवृतं, वार्क्षदुर्गं बहिः सर्वतो योजनमात्रं व्याप्य तिष्ठन्महा-वृक्षकण्यकिगुल्मलताद्याचितं, नृदुर्गं चतुर्दिगवस्थायि हस्त्यश्वरथयुक्तबहु-पादातरक्षितं, गिरिदुर्गं पर्वतपृष्ठमतिदुरारोहं संकोचैकमार्गोपेतं अन्तर्नदीप्रस्व-वणाद्यदक्युक्तं, बहुसस्योत्पन्नस्नेत्रवृक्षान्वितम्; एतेषु दुर्गेषु मध्यादन्यतमं हुर्गमाश्रित्य पुरं विरचयेत्॥ ७०॥

## सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् । एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

सर्वेणिति ॥ यसादेषां दुर्गाणां मध्यात् दुर्गगुणबहुत्वेन गिरिदुर्गमितिरि-च्यते तसात्सर्वप्रयत्नेन तदाश्रयेत् । गिरिदुर्गे शत्रुदुरारोहत्वं महत्प्रदेशादल्प-प्रयत्नप्रेरितशिलादिना बहुविपक्षसैन्यव्यापादनमित्यादयो बहवो गुणाः॥७१॥

> त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः । त्रीण्युत्तराणि क्रमश्चः ध्रवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥

त्रीणीति ॥ एषां दुर्गाणां मध्यास्त्रथमोक्ताति श्रीणि दुर्गाणि सृगादय साभ्रिताः । तत्र धनुर्दुर्गं सृगैराश्रितं, महीदुर्गं गर्ताश्रितेंस्र्षिकादिभिः, सञ्दुर्गं जळचरैर्नेकादिभिः, इतराणि त्रीणि वृक्षदुर्गादीनि वानरादय साश्रिता-सत्तत्र वृक्षदुर्गं वानरेराश्रितं, नृदुर्गं मानुषैः, गिरिदुर्गं देवैः ॥ ७२ ॥

> यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः । तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥

यश्चेत्यादि ॥ यथैतान्दुर्गवासिनो मृगादीन्ब्याधादयः शत्रवो न हिंसन्ति एवं दुर्गाश्रितं राजानं न शत्रवः ॥ ७३ ॥

> एकः शतं योधयति प्राकारस्यो धतुर्धरः । श्रतं दशसहस्राणि तसाहुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

एक इति॥ यसादेको धानुष्कः प्राकारस्यः शत्रुणां शतं योधयति । प्राका-रस्यं धानुष्कशतं च शत्रुणां दशसहस्राणि । तसादुर्गे कर्तुसुपदिश्यते ॥७४॥

> तत्सादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनः। ब्राह्मणैः शिल्पिभर्यन्त्रेर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५॥

तदिसावि ॥ तहुर्गे सङ्गाचायुष्यस्वर्णादिषमधान्यकरितुरगादिबाहनत्राह्य-णभक्ष्यादिशिष्टिपमध्रवासोदकसमृदं कुर्यात् ॥ ७५ ॥

## तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्वृहमात्मनः । गुप्तं सर्वर्तुकं ग्रुञ्जं जलबृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

तस्येखादि । तस्य दुर्गस्य मध्ये पर्यातं पृथकपृथक् स्नीगृहदेवागारायुधा-गाराप्तिशालादियुक्तं परिसाप्ताकाराचैर्गुतं सर्वर्तुकफलपुष्पादियोगेन सर्वर्तुकं सुधाधविलतं वाप्यादिजलयुक्तं वृक्षान्वितमात्मनो गृहं कारयेत् ॥ ७६ ॥

> तद्ध्यास्रोद्धहेन्द्रार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् । कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥

तदित्यादि ॥ तद्वहमाश्रित्य समानवर्णा ग्रुभस्चकलक्षणोपेतां महाकुल-प्रस्तां मनोहारिणीं सुरूपां गुणवतीं भार्यासुद्रहेत् ॥ ७७ ॥

> पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः । तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वेतानिकानि च ॥ ७८ ॥

पुरोहितमिति ॥ पुरोहितं चाप्याथवँणविधिना कुर्वीत, ऋत्विजश्च कर्माण कर्तुं वृणुयात् । ते चास्य राज्ञो गृह्योक्तानि त्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः ॥७८॥

> यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः । धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्गोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥

यजेतेति ॥ राजा नानाप्रकारान्बहुदक्षिणानश्वमेधादियज्ञान् कुर्यात् । बाह्मणेभ्यश्र बीगृहशय्यादीन्भोगान्सुवर्णवस्रादीनि धनानि द्यात् ॥ ७९ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्र राष्ट्रादाहारयेद्धलिम् । स्याचाम्रायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥

सांवत्सरिकमिति ॥ राजासक्तैरमास्वैवेषेप्राद्धं धान्यादिभागमानाययेत्, लोके च करादिग्रहणे शास्त्रनिष्ठः स्थात्, स्वदेशवासिषु नरेषु पितृवत्स्रेहादिना वर्तेत ॥ ८० ॥

> अध्यक्षान्विविधान्कुर्योत्तत्र तत्र विपश्चितः । तेऽस्य सर्वाण्य्वेक्षेरत्रृणां कार्याणि क्विताम् ॥ ८१ ॥

अध्यक्षानिति ॥ तत्र तत्र हस्त्यश्वरथपदाताद्यर्थादिस्थानेष्वध्यक्षानवेक्षितृत्विविधानपृथकपृथक् विपश्चितः कर्मेकुशलान्कुर्यात् । तेऽस्य राज्ञसेषु हस्त्यश्वादिस्थानेषु मनुष्याणां कुर्वतां सर्वाणि कार्याणि सम्यक्कार्यार्थमवेक्षेरन्॥८१॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् । नृपाणामक्षयो द्वेष निधित्राद्वीऽभिधीयते ॥ ८२ ॥ आवृत्तानामिति ॥ गुरुकुलाक्षिवृत्तानामधीतवेदानां त्राह्मणानां गार्दस्थ्या-

र्थिनां नियमतो धनधान्येन पूजां कुर्यात् । यस्माचोऽयं बाह्यो बाह्यणेषु स्थापि-तधनधान्यादिनिधिरिव निधिः अक्षयो ब्रह्मफल्टवादविनाशी राज्ञां शास्त्रेणोप-दिश्यते ॥ ८२ ॥

अत एव,---

#### न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति । तसाद्राज्ञा निधातच्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥

न तमिति ॥ तं बाह्मणस्थापितनिधिं न चौरा नापि शत्रवी हरनित, अन्यनिधिवद्भम्यादिस्थापितः कालवशाञ्च नश्यति । स्थानभ्रान्या वाऽ-दर्शनसुपैति । तसाद्योऽयमक्षयोऽनन्तफलो निधिरिव निधिर्धनौदः स राज्ञा बाह्यणेषु निधातन्यः । तेभ्यो देय इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

## न स्कन्दते न व्येथते न विनश्यति कहिंचित् । वरिष्ठमित्रहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥

नेलादि ॥ अभौ यद्धविर्द्धयते तत्कदाचित्स्कन्दते स्रवल्यधः पतित, कदाचि-व्यथते अव्यति, कदाचिद्दाहादिना नश्यति, ब्राह्मणस्य मुखे यद्धुतं 'पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः' इति ब्राह्मणहस्तदत्त्तिमत्यर्थः । तस्य नोक्ता दोषाः । तस्मा-द्भिहोत्रादिभ्यः श्रेष्ठं ब्राह्मणाय दानमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

#### सममनाहाणे दानं द्विगुणं त्राह्मणञ्जूवे। प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥

सममित्यादि ॥ ब्राह्मणेतरक्षत्रादिनिषये यहानं तत्समफलं । यस्य देयद्रव्यस्य यत्फर्छ श्रुतं ततो नाधिकं न च न्यूनं भवति । यो ब्राह्मणः क्रियारहित आ-त्मानं बाह्यणं ब्रवीति स बाह्यणञ्चाः । तद्विषयदानं पूर्वपिक्षया द्विगुणफलम् । एवं प्राधीते प्रकानताध्ययने ब्राह्मणे लक्ष्मणं फलम् । समस्तशाखाध्यायिन्य-नन्तफलम् । 'सहस्रगुणमाचार्ये' इति वा तृतीयपादस्य पाठः ॥ ८५ ॥

## पात्रस्य हि विशेषेण अहधानतयैव च । अर्ल्प वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्रुते ।। ८६ ॥

पात्रस्येति ॥ विद्यातपोवृत्तियुक्ततया पात्रस्य तारतम्यमपेक्ष्य शास्त्रे तथेति मखयरूपायाः श्रद्धायास्तारतम्यपात्रमासाद्य दानस्याल्पं महद्वा फर्ल परलोके कभ्यते ॥ ८६ ॥

<sup>2</sup> आचार्ये. 3 अस्याग्रे-देशकालविधानेन द्रव्यं पाठा०-- 1 च्यवने. श्रद्धासमन्वितम् । पात्रे प्रदीयते यतु तद्धमस्य प्रसाधनम्,

र माह्मणम्बः जातिमात्रोपजीबीत्मर्थः, अभवा 'गर्माधानाविसंस्कारियुंक्तः स नियम-करी । नाष्यापयति नाधीते स हैयो जासाणमुदः पविश्वी वा ।

## समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्त्रजाः । न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुसरन् ॥ ८७ ॥

समोत्तमाधमेरिति ॥ समबलेनाधिकबलेन हीनबलेन च राज्ञा युद्धार्थमा-हूतो राजा प्रजारक्षणं कुर्वन्युद्धान्न निवर्तेत । क्षत्रियेण युद्धार्थमाहूतेनावस्यं योद्धन्यमिति क्षात्रं धर्म सरन् ॥ ८७ ॥

यसात्,--

# संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।

गुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥ संब्रामेष्विति ॥ युद्धेष्वपराञ्चुखत्वं प्रजानां च रक्षणं ब्राह्मणपरिचर्या एतदाज्ञामतिज्ञयितं स्वर्गादिश्रेयःस्थानम् ॥ ८८ ॥

अत एव,---

## आह्वेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।

युष्यमानाः परं शक्तया खर्ग यान्त्यपराञ्ज्याः ॥ ८९॥ आह्वेष्वित ॥ राजानो मिथः स्पर्धमाना युद्धेष्वन्योन्यं हन्तुमिन्छन्तः प्रकृष्टया शक्तया संमुखीभूय युष्यमानाः स्वर्गं गच्छन्ति । यद्यपि युद्धस्य शत्रुजयधनलाभादिरूपं दृष्टमेव फलं न स्वर्गस्तथापि युद्धाश्रितापरास्त्रुलक्वितयमस्य स्वर्गः फलमिति न दोषः ॥ ८९॥

## न कूटैरायुधेईन्यायुध्यमानो रणे रिपून् । न कर्णिभिर्नापि दिग्धेर्नायिज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥

नेत्यादि ॥ कूटान्यायुधानि बहिःकाष्टादिमयान्यन्तर्गुप्तनिशितशस्त्राण्येतैः समरे युध्यमानः शत्रुत्र हन्यात् । नापि कर्ण्याकारफलकैर्बाणैः । नापि वि-षात्तैः । नाष्यमिदीसफलकैः ॥ ९० ॥

> न च हन्यात्स्थलारूढं न क्वीवं न कृताञ्चलिम्। न मुक्तकेशं नासीनं न तवासीति वादिनम्।। ९१।।

न चेति ॥ स्वयं रथस्थो रथं त्यन्ता स्थैलारूढं न हन्यात् । तथा नपुंसकं बद्धाञ्जलिं, मुक्तकेशं, उपुविष्टं, त्वदीयोऽहमिलेवंवादिनं न हन्यात् ॥ ९३ ॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।

नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

न सुप्तमिति ॥ सुप्तं, सुक्तसन्नाहं विवस्तं धनायुधं, अयुध्यमानं, प्रेक्षकं धन्येन सह युध्यमानं च न हन्यात् ॥ ९२ ॥

१ केचिन्तु-स्थलारूढं नाम युद्धभूमि भीत्या परित्यच्य यदन्यैरगम्यं स्थलं तुङ्ग-प्रदेशादिकं तत्र समास्थितमित्याद्धः

## नायुधच्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् । न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुसरन् ॥ ९३ ॥

नेत्यादि ॥ भग्नखड्डाचायुघं, पुत्रशोकादिनातं, बहुप्रहाराकुलं, भीतं, युद्ध-पराख्युवं, शिष्टक्षत्रियाणां धर्म सारन्न हन्यात् ॥ ९३ ॥

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः । भर्तुर्यहुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

यस्तिति॥ यस्तु योधो भीतः पराञ्च्याः सन् युद्धे शश्चभिर्द्दन्यते स पोषण-कर्तुः प्रभोर्यहुष्कृतं तत्सर्वं प्राप्तोति । शास्त्रप्रमाणके च सुकृतदुष्कृते यथाशास्त्रं संक्रमयोग्ये एव सिध्यतः। अत एवोपजीन्यशास्त्रण बाधनान्न प्रतिपक्षानुमानो-द्योऽपि । एतम् षष्ठे 'प्रियेषु स्त्रेषु सुकृतम्' (६।७९ ) इत्यन्नाबिष्कृतम-स्माभिः। 'पराञ्च्यत्वहत्तस्य स्थात्पापमेतद्विवक्षितम्। न त्वत्र प्रभुपापं स्थादिति गोविन्दराजकः ॥ मेधातिथिस्त्वर्थवादमात्रमेतन्निरूपयन् । मन्ये नैतद्भ्यं युक्तं व्यक्तमन्वर्थवर्जनात्'। 'अन्यदीयपुण्यपापेऽन्यत्र संक्रमेते' इति शास्त्रप्रमा-ण्याद्वेदान्तस्त्रकृता बादरायणेन निर्णातोऽयमर्थं इति यथोक्तमेव रमणीयम् ॥

## यचास्य सुकृतं किंचिदसुत्रार्थसुपार्जितम् । भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥

यञ्चेत्यादि ॥ पराशुखहतस्य यिकंचित्सुकृतं परलोकार्थमर्जितमनेनास्ति तत्सर्वे प्रभुर्लभते ॥ ९५ ॥

राज्ञः स्वामिनः सर्वधनग्रहणे प्राप्ते तदपवादार्थमाह—

रथाश्वं हित्तनं छत्रं धनं धान्यं पञ्जनिस्तयः।

सर्वद्रच्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

रथाश्र्विमत्यादि ॥ रथाश्रहस्तिल्यवस्तादि, धनधान्यगवादि, दास्यादि स्नियः, सर्वाणि द्रव्याणि गुढलवणादीनि, कुप्यं च सुवर्णरजतम्यतिरिक्तं ताम्रादि धनं, यः पृथग्जित्वा सततं गृहमानयति तस्यैव तद्भवति । सुवर्णरजतभूमि-दलायनपकृष्टधनं तु राज्ञ एव समर्पणीयम्, एतदर्थमेवात्र परिगणनीयम् ९६ अत एवाह—

# राज्ञश्च दद्यरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।

राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथंग्जितम् ॥ ९७ ॥

राज्ञ इस्यादि ॥ उद्धारं योद्धारो राज्ञे दृष्ठः । उद्भियत इत्युद्धारः । जित-धनादुःकृष्टधनं सुवर्णरजतकृष्यादि राज्ञे समर्पणीयं । करितुरगादिवाइनमपि राज्ञे देयम् । 'वाहनं च राज्ञ उद्धारं घ' इति गौतमवधनात् । उद्धारदाने च श्रुतिः-'इन्द्रो वे वृत्रं इत्या' इत्युपक्रम्य 'स महान्भूत्वा देवता अववी-हुद्धारं समुद्धरत' इति । राज्ञा घापृथग्जितं सह जितं सर्वयोधेभ्यो यथापीरुषं संविभाजनीयम् ॥ ९७ ॥ एषोऽतुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः । असाद्धर्मात्र च्यवेत क्षत्रियो ज्ञत्रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

एष इत्यादि ॥ भविगाईत एषोऽनादिसर्गप्रवाहसंभवतया नित्यो योध-भर्म उक्तः । युद्धे शत्रून्हिसन् क्षत्रिय एतं धर्मं न त्यजेत् । युद्धाधिकारित्वात् 'क्षत्रिय'प्रहणम् । भन्योऽपि तत्स्थानपतितो न त्यजेत् ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्रयत्नतः।

रक्षितं वर्धयेचैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ९९ ॥

अलब्धमिति ॥ भजितं भूमिहिरण्यादि जेतुमिच्छेत् । जितं प्रयत्नतो रक्षेत् । रक्षितं च वाणिज्यादिना वर्धयेत् । वृद्धं च पात्रेभ्यो दृद्यात् ॥ ९९ ॥

एतचतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।

अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादत्तन्द्रतः ॥ १०० ॥

प्तदिति ॥ एतचतुःप्रकारं पुरुषार्थो यः स्वर्गादिसत्त्रयोजनं यसादेवंरूपं जानीयात् ; अतोऽनलसः सन् सर्वदानुष्टानं कुर्यात् ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेदण्डेन लब्धं रक्षेद्वेक्षया।

रक्षितं वर्धयेद्वुद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥

अलब्धिमिति ॥ भलब्धं यद्धस्यश्वरथपादात्मकेन दण्डेन जेतुमिच्छेत्। जितं च प्रत्यवेक्षणेन रक्षेत्। रक्षितं च वृद्धयुपायेन स्थलजलपथवाणिज्यादिना वर्धयेत्। वृद्धं शास्त्रीयविभागेन पात्रेभ्यो द्धात्॥ १०१॥

नित्यमुद्यतदण्डः सान्नित्यं विवृतपौरुषः।

नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥

नित्यमिति ॥ नित्यं हस्त्यश्वादियुद्धादिशिक्षाभ्यासो दण्डो यस्य स तथा स्यात् । नित्यं च प्रकाशीकृतमञ्चविद्यादिना पौरुषं यस्य स तथा स्यात् । नित्यं संवृतं संवरणीयं मञ्जाचारचेष्टादिकं यस्य स तथा स्यात् । नित्यं च सत्रोर्व्यस-नादिरूपच्छिद्वानुसंधानं तत्परः स्यात् ॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्रमुद्दिजते जगत् ।

तसात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाध्येत् ॥ १०३ ॥

नित्यमिति ॥ यसाञ्चित्योद्यतदण्डस्य जगदुद्विजेदिति वसात्सर्वपाणिनो दण्डेनैवात्मसात्क्रयीत् ॥ १०३ ॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ।

बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं खेसंदृतः । १०४॥ अमाययेति॥ मायया छन्नतया अमात्यादिषु न वर्तेतः। तथा सित सर्वेना-

पाठा०—1 मुसंवृतः

२३ म० स्मृ०

मविश्वसनीयः स्वात् । धर्मरक्षार्थं यथातत्त्वेनैव न्यवहरेत् । यतकृतात्मपक्ष-रक्षश्च राष्ट्रकृतां प्रकृतिभेदरूपां मायां चारहारेण जानीयात् ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परो विद्यादिद्याच्छिद्रं परस्य तु । गृहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्रिवरमात्मनः ॥ १०५ ॥

नेत्यादि ॥ तथा यत्नं कुर्याद्यथास्य प्रकृतिभेदादि छिद्रं शत्रुर्न जानाति । शत्रोस्तु प्रकृतिभेदादिकं चारैर्जानीयात् । कूर्मोयथा मुखचरणादीन्यङ्गान्यात्म-देहे गोपायत्येवं राजाऽङ्गान्यमात्यादीनि दानसंमानादिनात्मसात्कुर्यात् । दैवाच प्रकृतिभेदादिरूपे छिद्रे जाते यत्नतः प्रतीकारं कुर्यात् ॥ १०५ ॥

वकविचन्तयेदर्थान्सिहवच पराक्रमेत् । वृकवचावछम्पेत शशवच विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

वकविति ॥ यथा बको जले मीनमितचञ्चलखभावमि मैत्स्यप्रहणार्थ-मेकतानान्तःकरणश्चिन्तयत्वेवं रहिस सुविहितरक्षस्यापि विपक्षस्य देशप्रहणादी-नर्थाश्चिन्तयेत् । यथा च सिंहः प्रबलमितस्थूलमिप दैन्तावलं हन्तुमाक्षमत्वेव-मल्पवलो बलवतोपक्षान्तः संश्रयाद्युपायान्तरासंभवे सर्वशक्तया शश्चं हन्तु-माक्रमेत् । यथा च वृकः पालकृतरक्षणमिप पशुं दैवात्पालानवधानमासाद्य ज्यापादयत्वेवं दुर्गाद्यवस्थितमि रिपुं कथंचित्पमादमासाद्य ज्यापादयेत् । यथा शशः वधोद्धुरविविधव्याधमध्यगतोऽपि कुटिलगितरुद्धुत्य पलायते, एवं स्वयमवलो बलवदरिपरिवृतोऽपि कथंचिदिरव्यामोहमाधाय गुणवत्पार्थिवा-नतरं संश्रयितुसुपसर्पेत् ॥ १०६॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः । तानानयेद्वश्चं सर्वान्सामादिभिरुपऋमैः ॥ १०७ ॥

एचमित्यादि ॥ एवमुक्तप्रकारेण विजयप्रवृत्तस्य नृपतेर्ये विजयविरोधिनो भवेयुक्तान्सर्वान्सामदानभेददण्डैरुपायैर्वशमानयेत् ॥ १०७ ॥

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमेस्निभिः । दण्डेनैव प्रसद्धेतां च्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८॥

यदीत्यादि ॥ ते च विजयविरोधिनो यद्याचैस्त्रिभिरुपायैर्ने निवर्तन्ते तदा-बलाइरोपमर्दादिना युद्धेन शनकैर्लघुगुरुद्ण्डकमेण दण्डेन वशीकुर्यात् ॥१०८

सामादीनाम्रुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।

सामदण्डौ प्रश्नंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिष्टद्वये ॥ १०९ ॥ सामादीनामिति ॥ चतुर्णामिष सामादीनासुपायानां मध्यास्सामदण्डानेव

पाठा०—1 स. 2 मत्स्यमहणादेकतानांतः . 3 दन्ती बलं.

१ यतो श्वमात्यादयो विकियमाणाः स्वगुद्धं प्रकटयेयुः, परगुद्धं च गोपयेयुः, अतस्तेषामात्मसात्करणं सर्वथावस्यकानिति भावः.

राष्ट्रवृद्धर्थे पण्डिताः प्रशंसन्ति । साम्नि प्रयासधनन्ययसैन्यक्षयादिदोषा-भावादण्डे तु तत्सदावेऽपि कार्यसिद्धातिशयात्॥ १०९॥

> यथोद्धरित निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति । तथा रक्षेत्रुपो राष्ट्रं हन्याच परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

यश्रेत्यादि॥ यथा क्षेत्रे धान्यतृणादिकयोः सहोत्पन्नयोरिष धान्यानि छवन-कर्ता रक्षति तृणादिकं चोद्धरति, एवं नृपती राष्ट्रे दुष्टान्हन्यान्नत्वदुष्टांस्तदीयस-हजान्त्रातृनिष, निर्दातृदष्टान्तादवसीयते । शिष्टसहितं च राष्ट्रं रक्षेत् ॥११०॥

> मोहाद्राजा खराष्ट्रं यः केर्षयत्यनवेक्षया । सोऽचिराद्धश्यते राज्याञ्जीविताच सवान्धवः ॥ १११॥

मोहादित्यादि ॥ यो राजाऽनवेक्षया दुष्टशिष्टाज्ञानेन सर्वानेव स्वराष्ट्रीय-जनान् शास्त्रीयधनप्रहणमारणादिकष्टेन पीडयति स शीघ्रमेव जनपदवैराख्य-प्रकृतिकोपाधमें राजा राज्याजीविताच पुत्रादिसहितो अञ्चते ॥ १११ ॥

श्ररीरकर्षणात्प्राणाः श्रीयन्ते प्राणिनां यथा । तथा राज्ञामपि प्राणाः श्रीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥ श्रीरकर्षणिति ॥ यथा प्राणस्तामाहारिनरोधादिना शरीरशोषणात्प्राणाः

श्रीयन्ते, एवं राज्ञामपि राष्ट्रपीडनात्प्रकृतिकोपादिना प्राणा विनश्यन्ति । तस्मात्स्वशरीरवदाज्ञा राष्ट्रं रक्षणीयमित्युक्तम् ॥ १९२ ॥

राष्ट्रस संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् । सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥

राष्ट्रस्थेलादि ॥ राष्ट्रस्य रक्षणे च वक्ष्यमाणिममुपायमनुतिष्ठेत् । यसा-त्संरक्षितराष्ट्रो राजाऽनायासेन वर्षते ॥ ११३ ॥

> द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानांश्यमध्ये गुल्ममधिष्ठितम् । तथा ग्रामञ्जतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

द्वयोरिति ॥ द्वयोर्जामयोर्मध्ये त्रयाणां वा आमाणां पञ्चानां वा आम शतानां गुल्मं रक्षितृपुरुषसमूहं सत्यप्रधानपुरुषाधिष्टितं राष्ट्रस्य संग्रहं रक्षास्थानं कुर्यात् । अस्य काघवगौरवापेक्षश्चोक्तविकल्पः ॥ ११४ ॥

ग्रामसाधिपति कुर्याद्दशग्रामपति तथा । विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥ ग्रामस्येति ॥ एक्यामदश्यामाद्यधिपतीन्कुर्यात् ॥ ११५ ॥

पाठा०—1 कर्शयत्यनवेक्षया.

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः खयम् । शंसेद्धामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ११६ ॥ विंशतीशस्तु तत्सर्वे शतेशाय निवेदयेत् । शंसेद्धामशतेशस्तु सहस्रपतये खयम् ॥ ११७ ॥

श्राम इति ॥ विंशतीश इति ॥ श्रामाधिपतिश्रौरादिरादिदोषान्यामे संजातानात्मना प्रतिकर्तुमक्षमोऽनुत्कृष्टतया स्वयं दश्रग्रामाधिपतये कथयेत्। एवं देशश्रामाधिपतयो विंशतिश्रामस्वाम्यादिभ्यः कथयेयुः । तथा च सित सम्यक् चौरादिकण्टकोद्धारो भवति ॥ ११६-११७ ॥

एकप्रामाधिकृतस्य वृत्तिमाह-

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।

अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्रुयात् ॥ ११८ ॥

यानीति ॥ यान्यन्नपानेन्धनादीनि ग्रामवासिभिः प्रत्यहं राज्ञे देयानि न त्वब्दकरं 'धान्यानामष्टमो भागः' (७११३०) इत्यादिकम्, तानि ग्रामाधि-पतिर्नृत्यर्थं गृद्धीयात् ॥ ११८॥

दशी कुलं तु भुज्जीत विंशी पश्चकुलानि च । ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः परम् ॥ ११९ ॥

द्शी कुलमिति ॥ 'श्रष्टागवं धर्महलं षद्भवं जीवितार्थिनाम् । चतुर्गवं गृह-स्थानां त्रिगवं ब्रह्मघातिनाम्' इति हारीतस्परणात् । षद्भवं मध्यमं हलमिति तथाविधहलद्वयेन यावती भूमिर्वाद्यते तत्कुलमिति वदति तह्रामामाधिपति-वृत्त्यर्थं मुञ्जीत । एवं विंशत्यधिपतिः पञ्च कुलानि, श्रताधिपतिर्मध्यमं मामं, सहस्राधिपतिर्मध्यमं पुरम् ॥ ११९॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथकार्याणि चैव हि । राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२०॥

तेषामित्यादि ॥ तेषां प्रामनिवासिप्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तौ यानि प्राम-भवानि कार्याणि, कृताकृतानि च पृथकार्याणि, तान्यन्यो राज्ञो हितकृत्त-ब्रियुक्तोऽनलसः कुर्वीत ॥ १२० ॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तंकम् । उचैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१॥

नगर इति ॥ प्रतिनगरमेकैकमुक्षैःस्थानं कुळादिना महान्तं प्रधानरूपं घोररूपं हस्त्रश्चादिसामप्या भयजनकनक्षत्रादिमध्ये भागवादिप्रहमिव तेजस्विनं कार्यद्रष्टारं नगराधिपतिं कुर्यात् ॥ १२१ ॥

पाडा०-1 दशप्रामपतयो.

# स तानजुपरिकामेत्सर्वानेव सदा खयम् । तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तचरैः ॥ १२२ ॥

स इत्यादि ॥ स नगराधिकृतस्तान्सर्वान्य्रामाधिपत्यादीनसित प्रयोजने सर्वेदा स्वयं सबलेनानुगच्छेत् । तेषां च नगराधिकृतपर्यन्तानां सर्वेषामेव यदाष्ट्रे सचेष्टितं तत्तद्विषयनियुक्तैश्चरैः सम्यक्ष्यजाः परिणयेदवगच्छेत् ॥१२२॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः । भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३॥

्राज्ञो हीत्यादि ॥ यस्माचे राज्ञो रक्षाधिकृतास्ते बाहुल्येन परस्वप्रहणशीला वज्रकाश्च भवन्ति, तस्मात्तेभ्य इमाः स्वात्मीयाः प्रजा राजा रहेत् ॥ १२३ ॥

> ये कार्यिकेम्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः । तेषां सर्वस्त्रमादाय राजा कुर्योत्प्रवासनम् ॥ १२४॥

य इत्यादि ॥ ये रक्षाधिकृताः कार्याधिभ्य एव वाक्छलादिकसुद्भाव्य लोभादशास्त्रीयधनप्रहणं पापबुद्धयः कुर्वन्ति तेषां सर्वस्वं राजा गृहीत्वा देशान्तिःसारणं कुर्यात् ॥ १२४ ॥

> रीजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च । प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानकर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥

राजेलादि ॥ राजोपयुक्तकर्मनियुक्तानां स्त्रीणां दाखादीनां कर्मकरजनस चोत्कृष्टमध्यमापकृष्टस्थानयोग्यानुरूपेण प्रसदं कर्मानुरूपेण वृत्तिं कुर्यात् १२५

तामेव दर्शयति—

पणो देयोऽवक्रष्टस्य पडुत्कृष्टस्य वेतनम् । षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६॥

पण इति ॥ अवकृष्टस गृहादिसंमार्जकोदकवाहादेः कर्मकरस्य वश्यमाणरुक्षणः पणो मृतिरूपः प्रत्यहं दातन्यः । षाणमासिकश्राच्छादो वस्त्रयुगं दातहयम् । 'अष्टमुष्टिर्भवेत्कुञ्जः कुन्नयोऽष्टो तु पुष्करुम् । पुष्करुगि तु
चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढको मवेह्रोणः' इति गणनया
धान्यद्रोणश्च प्रतिमासं देयः । उत्कृष्टस्य तु मृतिरूपाश्च षद पणा देयाः ।
अनयेव करुपनया षाणमासिकानि षद वस्त्रयुगानि देयानि । प्रतिमासं
षाणमास्या द्रोणा देयाः । अनयेवातिदिशा मध्यमस्य पणत्रयं मृतिरूपं दातहयम् । षाणमासिकं च वस्त्रयुगत्रयं मासिकं च धान्यं द्रोणत्रयं देयम् १२६

पाठा०—1 राजकर्मसु. 2 अष्टमुष्टिर्भवेतिकचितिकचिद्देशै च.

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥

ऋयविऋयमित्यादि ॥ कियता मूल्येन क्रीतमिदं वस्तं, लवणादिद्रव्यं विक्रीयमाणं चात्र कियहभ्यते, कियदूरादानीतं, किमस्य वणिजो भक्तव्ययेन शाकसूपादिना परिव्ययेण लक्षं, किमस्यारण्यादौ चौरादिभ्यो रक्षारूपेण क्षेमप्रतिविधानेन गतं, कोऽस्येदानीं लाभयोग इत्येतद्वेक्ष्य वणिजः करान्दापयेत्॥ १२७॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् । तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

यथेति ॥ यथा राजाऽवेक्षणादिकर्मणः फलेन, यथा च वार्षिकवणिगादयः कृषिवाणिज्यादिकर्मणां फलेन संबध्यन्ते तथा निरूप्य राजा सर्वेदा राष्टे करान्युद्धीयात् ॥ १२८ ॥

भन्न दृष्टान्तमाह-

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषद्रपदाः । तथाल्पाल्पो ग्रहीतच्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।। १२९ ॥

यथेत्यादि ॥ यथा जलौकोवत्सभ्रमराः स्तोकस्तोकानि रक्तक्षीरमधून्यद-न्त्येवं राज्ञा मूलधनमनुच्छिन्दताऽल्पोल्पो राष्ट्रादाब्दिकः करो प्राद्धः ॥१२९॥

तमाइ—

र्पश्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पश्चहिरण्ययोः । धान्यानामष्टमो भागः षष्टो द्वादश एव वा ॥ १३० ॥

पञ्चादाद्भाग इत्यादि ॥ मूलाद्धिकयोः पञ्चाहरण्ययोः पञ्चादाद्भागो राज्ञा प्रहीतन्यः। एवं धान्यानां षष्ठोऽष्टमो द्वाद्दशो वा भागो राज्ञा प्राद्यः। भूम्युत्कर्षापकर्षापेक्षया कर्षणादिक्केशलाधवगौरवापेक्षश्रायं बह्रस्पप्रहण-विकस्पः॥ १३०॥

आद्दीताथ पद्भागं द्धमांसमधुसार्पपाम् । गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥ पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।

मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्यात्रममयस्य च ॥ १३२ ॥ आद्दीतेस्वादि ॥ पत्रशाकिस्वादि ॥ क्ष्रीतस्यात्रममयस्य च ॥ १३२ ॥ सम्बद्धानामक्रममयान्यानां वद्यो भागो स्वाद्धातस्यः ॥ १६१-१६२ ॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् । न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥ १३३ ॥

म्रियमाण इति ॥ क्षीणधनोऽपि राजा श्रोत्रियबाह्यणात्करं न गृह्णीयात् । नच तदीयदेशे वसन्श्रोत्रियो बुसुक्षयावसादं गच्छेत् ॥ १३३ ॥

> यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीद्ति क्षुधा । तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीद्ति ॥ १३४ ॥

यस्येत्यादि ॥ यस्य राज्ञो देशे श्रोत्रियः क्षुधावसन्नो भवति तस्य राष्ट्रमिष दुर्भिक्षादिभिः क्षुधा शीघ्रमवसादं गच्छति ॥ १३४ ॥

यत एवमतः,---

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् । संरक्षेत्सर्वतश्चेनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥

श्रुतेति ॥ शास्त्रज्ञानानुष्ठाने ज्ञात्वा अस्य तद्नुरूपां धर्माद्नपेतां जीवि-कामुपकल्पयेत् । चौरादिभ्यश्चेनमौरसं पुत्रमिव पिता रक्षेत् ॥ १३५ ॥ यसात्,—

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् । तेनायुर्वधेते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

संरक्ष्यमाण इत्यादि ॥ स च श्रोत्रियो राज्ञा सम्यग्रक्ष्यमाणो यं धर्म प्रत्यहं करोति तेन राज्ञ आयुर्धनराष्ट्राणि वर्धन्ते ॥ १३६ ॥

यत्किचिद्पि वर्षस्य दापयेत्क्रसंज्ञितम्।

व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७॥

यदिति ॥ राजा स्वदेशे शाकपणीदिस्वल्पमूल्यवस्तुक्रयविक्रयादिना जीवन्तं निक्रष्टजनं स्वल्पमपि कराख्यं वर्षेण दापयेत् ॥ १३७ ॥

कारुकाञ्छिल्पिनश्रैव शुद्रांश्रात्मोपजीविनः।

एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

कारुकानिति ॥ कारुकान्सूपकारादीन् शिल्पिभ्य ईषदुत्कृष्टान्, शिल्पि-नश्च लोहकारादीन्, शूद्राश्च देहक्केशोपजीविनो भारिकादीन् मासि मास्येकं दिनं कर्म कारयेत् ॥ १३४ ॥

नोच्छिन्दादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया । उच्छिन्दन्द्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९॥ नोच्छिन्दादिति ॥ प्रजासेदात्करग्रुकादेरप्रदृणमात्मनो मूलच्छेदः, अतिलोभेन प्रचुरकरादिग्रहणं परेषां मूलोच्छेदः, एतदुभयं न कुर्यात् । यस्मात् आत्मनो मूलमुच्छिय कोशक्षयादात्मानं पीडयेत् । पूर्वार्धात्परेषां चेत्यपि संबध्यते । परेषां मूलमुच्छिय तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

> तीक्ष्णश्रेव मृदुश्र स्थात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः। तीक्ष्णश्रेव मृदुश्रेव राजा भवति संमतः॥ १४०॥

तीक्ष्ण इति ॥ कार्यविशेषमवगस्य क्वचित्कार्ये तीक्ष्णः क्वचिन्मृदुश्च भवेन्न त्वेकरूपमालम्बेत । यसादुक्तरूपो राजा सर्वेषामभिमतो अवति ॥ १४० ॥

अमात्यग्रुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।

स्थापयेदासने तिसिन्खिनः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥ अमात्येति ॥ स्वयं कार्यदर्शने खिन्नः श्रेष्ठामात्यं धर्मविदं प्राज्ञं जितेन्द्रियं कुटीनं तिसन्कार्यदर्शनस्थाने नियुक्षीत ॥ १४१ ॥

> एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः । युक्तश्रेवाप्रमत्तश्र परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥

एवमित्यादि ॥ एवमुक्तप्रकारेण सर्वभाष्मनः कार्यजातं संपाच युक्तः प्रमादरहित काष्मीयाः प्रजा रसेत् ॥ १४२ ॥

> विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्धियन्ते दस्युभिः प्रजाः । संपञ्चतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥

विक्रोशन्त्य इति ॥ यस्य राज्ञोऽमात्यादिसहितस्य पश्यत एव राष्ट्रादा-क्रोशन्त्यः प्रजास्तस्करादिभिरिप हियन्ते स मृत एव न तु जीवति । जीवन-कार्याभावाजीवनमपि तस्य मरणमेवेत्यर्थः ॥ १४३ ॥

तसात् 'अप्रमत्तः प्रजा रक्षेत्' (७१४२) इति पूर्वोक्तरोषं तदेव इडपति—

> क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् । निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

क्षत्रियस्येति ॥ धर्मान्तरेभ्यः श्रेष्ठं क्षत्रियस्य प्रज़ारक्षणमेव प्रकृष्टो धर्मः । यसाचयोक्तळक्षणफलकरादिभोक्ता राजा धर्मेण संबध्यते ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।

हुताप्रिजीक्षणांश्राच्ये प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥ १४५ ॥ उत्थायेति ॥ स भूगे रात्रेः पश्चिमयाम उत्थाय कृतमूत्रपुरीकोत्सर्गादि-कौचोऽनन्यमनाः कृताप्तिहोत्रावसध्यहोमो माक्षणान्यज्ञयित्वा वास्तुकक्षणा-युपेतां समाममात्यादिवर्शनगृहं प्रविशेत् ॥ १४५ ॥ तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्दा विसर्जयेत् । विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥ तत्रेति ॥ तस्यां सभायां स्थितो दर्शनार्थमागताः प्रजाः सर्वाः संभाषण-दर्शनादिभिः प्रतिनन्दा प्रस्थापयेत् । ताश्च प्रस्थाप्य मन्त्रिभिः सह संधिविद्य-हादि चिन्तयेत् ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः । अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥

गिरिपृष्ठमिति ॥ पर्वतपृष्ठमारुद्ध निर्जनवनगृहस्थितोऽरण्यदेशे वा विविक्ते मन्नभेदकारिभिरनुपलक्षितः । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशका-लविभागः, विनिपातन्नतीकारः, कार्यसिद्धिरित्येवं पञ्चाङ्गं मन्नं चिन्तयेत् १४७

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः । स कृत्स्नां पृथिवीं भुक्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥ १४८॥ यस्येति ॥ यस राज्ञो मन्निम्यः पृथगन्ये जना मिलित्वाऽस्य मन्त्रं न

जानन्ति स क्षीणकोशोऽपि सर्वा पृथिवीं भुनक्ति ॥ १४८ ॥

जडमूकान्धवधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान् ।

स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मञ्जकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥ जडमूकान्धबधिरानिति ॥ बुद्धिवान्चञ्चःश्रोत्रविकलान्, तिर्वग्योनि-भवांश्च ग्रुकसारिकादीन्, अतिवृद्धश्चीम्लेच्छरोग्यङ्गदीनांश्च मञ्जसमयेऽपसार-येत् ॥ १४९ ॥

यसात्,-

भिन्दन्त्यवमता मन्नं तैर्यग्योनास्तथैव च । स्नियश्वैव विशेषेण तसात्तत्राहतो भवेत ॥ १५० ॥

भिन्दन्तीत्यादि ॥ एते जडादयोऽपि प्राचीनदुष्कृतवरोन प्राप्तजडादिभावा अधार्मिकतयेवावमानिता मञ्जभेदं कुर्वन्ति । तथा ग्रुकादयोऽतिवृद्धाश्च स्त्रियश्च विशेषणास्थिरबुद्धितया मञ्जभिन्दन्ति । तस्मात्तदपसारणे यत्नवानस्यात् ॥ १५०॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्कमः । चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥

मध्यंदिन इति ॥ दिनमध्ये रात्रिमध्ये वा विगतचित्तखेदः शरीरक्रेश-रहितश्च मित्रिभिः सह एकाकी वा धर्मार्थकामान्नुष्ठातुं चिन्तयेत् ॥ १५१॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपाजनम् ।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२॥
परस्परेति ॥ तेषां च धर्मार्थकामानां प्रायिकविरोधवतां विरोधपरिहारेणार्जनोपायं चिन्तयेत् । दुहित्वणां च दानं स्वकार्यसिख्यर्थं निरूपयेत् । कुमाक्षणां च पुत्राणां विनयाधाननीतिशिक्षार्थं रक्षणं चिन्तयेत् ॥ १५२॥

दूतसंत्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च । अन्तःपुरत्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥

दूतेति ॥ दूतानां संगुप्तार्थलेखहारित्वादिना परराष्ट्रप्रस्थापनं चिन्तयेत् । तथा प्रारुधकार्यशेषं समापयितुं चिन्तयेत् । स्त्रीणां चातिविषमचेष्टितत्वात् । तथा हि—'शस्त्रेण वेणीविनिगृहितेन विदूर्थं वै महिषी जघान । विषप्रदिग्धेन च नृपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम् ॥' इत्याद्यवगम्यात्मरक्षार्थं चान्तः-पुरस्त्रीणां चेष्टितं सस्त्रीदास्यादिना निरूपयेत् । चाराणां च प्रतिराजादिषु नियुक्तानां चारान्तरैश्लेष्टितमवधारयेत् ॥ १५३ ॥

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पश्चवर्गं च तत्त्वतः। अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४॥

क्रत्स्मिति॥ अष्टविधं केर्म समग्रं चिन्तयेत् । तचोशनसोक्तम्-'भाराने च विसर्गे च तथा श्रेषनिषेधयोः । पञ्चमे चार्थवचने न्यवहारस्य चेक्षणे। दण्डग्रुद्धोः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः। अष्टकर्मा दिवं याति राजा शकाभिपुजितः ॥' तत्रादानं करादीनां, विसगों भृत्यादिभ्यो धनदानं, प्रैषो-ऽमात्यादीनां दृष्टादृष्टानुष्ठानेषु, निषेधो दृष्टादृष्ट्विरुद्धित्रयासु, अर्थवचनं कार्य-संदेहे राजाज्ञ्यैव तत्र नियमात्, व्यवहारस्येक्षणं प्रजानामृणादिविप्रतिपत्तौ, दृण्डः पराजितानां शास्त्रोक्तधनप्रहणम् , शुद्धिः पापे कर्मणि जाते तत्र प्राय-श्चित्तसंपादनम् । मेघातिथिस्त-'अकृतारम्भकृतानुष्टानमनुष्टितविशेषणं कर्म-फलसंप्रहस्तथा सामदानदण्डभेदा एतदष्टविधं कर्म । अथवा वणिक्पथः. उदकसेतुबन्धनं, दुर्गकरणम् , कृतस्य संस्कारनिर्णयः, इस्तिबन्धनं, खनिखननं, ञून्यनिवेशनं, दारुवनच्छेदनं च'इत्याह । तथा कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदे-हिकतापसन्यञ्जनात्मकं पञ्चविधं चारवर्गं पञ्चवर्गशब्दवाच्यं तत्त्वतश्चिन्तयेत्। तत्र परमर्मेज्ञः प्रगल्भच्छात्रः कपटन्यवहारित्वात्कापटिकस्तं वृत्त्यर्थिनमर्थ-मानाभ्यामुपगृद्धा रहिस राजा ब्रूयात्-'यस्य दुर्वृत्तं पश्यास तत्तदानीमेव मिय वक्तन्यम्' इति प्रवज्यारूढपतित उदास्थितः तं लोकेषु विदितदोषं प्रज्ञाशौच-युक्तं वृत्त्यार्थेनं कृत्वा रहिस राजा पूर्ववद्र्यात् । बहूरपत्तिकमठे स्थापयेत्प्रचु-रसस्योत्पत्तिकं भूम्यन्तरं च तद्वत्त्यर्थमुपकल्पयेत्। स चान्येषामपि प्रवजितानां राजा चारकर्मकारिणां यासाच्छादनादिकं दृद्यात् । कर्षकः श्लीणवृत्तिः प्रज्ञा-शौचयुक्तो गृहपतिन्यञ्जनस्तमपि पूर्ववदुक्त्वा स्वभूमौ कृषिकर्म कारयेत्। वाणिजकः क्षीणवृत्तिः वैदेहिकन्यञ्जनस्तं पूर्ववदुक्त्वा धनमानाभ्यामात्मीकृत्य वाणिज्यं कारयेत् । सुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसम्यक्षनः सोऽपि कचि-दाश्रमे वसन्बहुमुण्डजटिलान्तरे कपटशिक्यगणवृतो गुप्तराजीपकस्पितवृत्ति-

पाठा०—1 युक्तस्तेनाष्ट्रगणिको.

<sup>्</sup>र कामन्यकेन त्यक्षिपं कामीक्तम् 'कृषिर्वणिक्षणो दुर्ग सेद्वः कुळारवन्यनम् । कन्याकरवनायाने सैन्यानां च निवेशनम्॥ अक्षवर्गमिमं साधुः साम्यक्रिक्तो विकिन्तपेद'। इति .

स्तापसं कुर्यात् । मासद्विमासान्तरितं प्रकाशं बदरादिमुष्टिमश्रीयात् , रहसि च राजोपकिल्पतमाहारं कल्पयेत् । शिष्याश्रास्यातीतानागतज्ञानादिकं स्थापयेयुः । ते च बहुलोकवेष्टनमासाद्य सर्वेषां विश्वसनीयत्वात्सर्वकार्यमकार्यं च पृच्छिन्ति, अन्यस्य कुक्रियादिकं कथयन्त्येवंरूपं पञ्चवर्गं यथाविचन्तयेत् । एवं पञ्चवर्गं प्रकल्प्य तेनैव पञ्चवर्गद्वारेण प्रतिराजस्थात्मीयानां चामात्यादीनां चानुरागिवरागो ज्ञात्वा तद्वुरूपं विन्तयेत् । वक्ष्यमाणस्य राजमण्डलस्य प्रचारं 'कः संध्यर्थों को वा विग्रहाथों'इत्यादिकं चिन्तयेत् । तं च ज्ञात्वा तद्वुगुणं चिन्तयेत् ॥ १५४॥

## मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्र चेष्टितम् । उदासीनप्रचारं च शत्रोश्रेव प्रयत्नतः ॥ १५५॥

मध्यमस्येति ॥ अरिविजिगीषोयों भूम्यनन्तरः संहतयोरनुप्रहसमथों निप्रहे चासंहतयोः समर्थः स मध्यमस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत् । तथा प्रज्ञो-त्साहगुणप्रकृतिसमर्थो विजिगीषुस्तस्य चेष्टितं चिन्तयेत् । तथा विजिगीषु-मध्यमानां संहतानामनुप्रहे समर्थो निप्रहे चासंहतानां समर्थे उदासीनस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत् । शत्रोश्च त्रिविधस्यापि सहजस्याकृत्रिमस्य भूम्यनन्तरस्य च पूर्वापेक्षया प्रयत्नतः प्रचारं चिन्तयेत् ॥ १५५॥

## एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः । अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वाद्शैव तु ताः स्मृताः॥१५६॥

एता इत्यादि ॥ एता मध्यमाद्याश्रतसः प्रकृतयः संस्रेपेण मण्डलस्य मूलं अपरासामिधास्मानप्रकृतीनाममालादीनां मूलमित्युच्यते । अन्याश्राष्टी समाल्याताः। तद्यथा-अग्रतोऽरिभूमीनां मित्रं, अरिमित्रं, मित्रमित्रं अरिमि-त्रमित्रं चेत्यं चतसः, प्रकृतयो भवन्ति । पश्चाच पार्ष्णिग्राहः, आकन्दः, पार्ष्णिग्राहासारः, आकन्दासार इति चतसः एवमष्टौ प्रकृतयो भवन्ति । पृथाका पार्ष्णिग्राहासारः, आकन्दासार इति चतसः एवमष्टौ प्रकृतयो भवन्ति । पृथाकाभिश्च मध्यमारिविजिगीषूदासीनशत्रुरूपाभिः मूलप्रकृतिभिः सह द्वाद-श्रीताः प्रकृतयः स्मृताः ॥ १५६॥

## अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पश्च चापराः । प्रत्येकं कथिता होताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

अमात्येति ॥ श्वासां मूलप्रकृतीनां चतसृणामष्टानां शाखाप्रकृतीनामुका-नामेकैकस्याः प्रकृतेरमात्यदेशदुर्गकोशदुर्गदण्डाख्याः पञ्च द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति । एताश्च पञ्च द्वादशानां प्रत्येकं भवन्त्यो द्वादशगुणजाताः षष्टिरेव द्वव्यप्रकृतयो भवन्ति । तथा मूलप्रकृतिभिश्चवस्यिः शाखाप्रकृतिभिश्चा-ष्टाभिः सह संक्षेपतो द्विसप्ततिप्रकृतयो मुनिभिः कथिताः ॥ १५७॥

## अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च । अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

अनन्तरमिति ॥ विजिगीषोर्नृपस्यानन्तरितं चतुर्दिशमप्यरिप्रकृतिं विजानियात् । तथा तस्सेविनमप्यरिमेव विद्यात् । अरेरनन्तरं विजिगीषोर्नृपस्यैकान्तरं मित्रप्रकृतिं विद्यात् । तयोश्चारिमित्रयोः परं विजिगीषोरुदासीनप्रकृतिं विद्यात् । कासामेव प्रकृतीनामप्रपश्चाद्वावभेदेन व्यपदेशभेदः । तत्राप्रवर्तिने नोऽरिव्यपदेश एव । पश्चाद्वर्तिनस्वरिव्वेऽपि पार्ष्णिप्राहृव्यपदेशः ॥ १५८॥

### तान्सर्वानभिसंद्ध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः । व्यस्तैश्रेव समस्तेश्र पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

तानिति ॥ तान्सर्वाश्रृपतीन् सामदानभेददण्डेरुपायैर्यथासंभवं व्यसैः समसैर्वशीकुर्यात् । अथवा पौरुषेण दण्डेनैव केवलेन नयेन साग्नैव वा केवलेनात्मवशान्कुर्यात् । तथा चोक्तम् (७११०९) 'सामदण्डौ प्रशंसन्ति निसं राष्ट्राभिवृद्धये'॥ १५९॥

## संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च । द्वैधीमावं संश्रयं च षड्जणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

संधिमिति ॥ तत्रोभयानुप्रहार्थं हस्त्यश्वरथहिरण्यादिनिबन्धनेनावाभ्या-मन्योन्यस्योपकर्तव्यमिति नियमबन्धः संधिः, वैरं विप्रहाचरणाद्याधिक्येन, यानं शत्रुं प्रति गमनम्, उपेक्षणं आसनं, स्वार्थसिद्धये बलस्य द्विधाकरणं द्वैधीभावः, शत्रुपीडितस्य प्रबलतरराजान्तराश्रयणं संश्रयः, एतान्गुणानुप-कारकान्सर्वदा चिन्तयेत् । यद्वणाश्रयणे सत्यात्मन उपचयः परस्यापचयसं गुणमाश्रयेत् ॥ १६० ॥

## आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च । कार्य वीक्ष्य प्रयुक्तीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

आसनमिति ॥ संध्यादिगुणानां नैरपेक्ष्येणानुष्टानमनन्तरमुकं तदुचितानुष्टानार्थोऽयमारम्भः । आत्मसमृद्धिपरहान्यादिकं कार्यं वीक्ष्य संधायासनं
विगृश्य वा यानं द्वैधीभावसंश्रये च केनचित्संधिं केनचिद्विग्रहमित्यादिकमनुतिष्ठेत् ॥ १६१ ॥

संधि तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च । उमे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

स्वंधि त्विति ॥ संध्यादीम्पडेव गुणान्द्रिप्रकाराञ्चानीवादित्यविव-शार्थम् ॥ १६२ ॥

# समानयानकर्मा च विपरीतस्तयैव च । तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्झेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥

समानेति ॥ तात्कालिकफललाभार्थमुत्तरकालीनफललाभार्थं वा यत्र राजान्तरेण सहान्यं प्रति यानादि कर्मे क्रियते स समानयानकर्मा संधिः। यः पुनः 'त्वमत्र याहि, अहमत्र यास्यामि' इति सांप्रतिकोत्तरकालीनफलार्थि-त्रयैव क्रियते सोऽसमानयानकर्मेसेवं द्विप्रकारः संधिक्षतिन्यः॥ १६३॥

> खयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा । मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्पृतः ॥ १६४ ॥

खयमित्यादि ॥ शञ्जयरूपप्रयोजनार्थं शत्रोव्यंसनादिकमाकल्य्य वस्य-माणमार्गशीर्षादिकालादन्यदा यथोक्तकाल एव वा स्वयंकृत इत्येको विम्नहः । अपकृतमपकारः, मित्रस्थापकारे राजान्तरेण कृते मित्ररक्षणार्थमपरो विम्रह इत्येवं द्विविधो विम्रहः । गोविन्दराजेन तु 'मित्रेण चैवापकृते' इति पठितं व्याख्यातं च । यः परस्य शत्रुः स विजिगीपोर्मित्रं तेनापकारे क्रियमाणे व्यसनिति शत्राविति । 'तस्माल्लिखतपाठार्थों वृद्धेगोंविन्दराजतः । मेधातिथि-प्रमृतिभिर्लिखतौ स्वीकृतौ मया' ॥ १६४ ॥

> एकाकिनश्रात्ययिके कार्ये प्राप्ते यहच्छया । संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

एकाकिन इत्यादि ॥ मात्ययिकं कार्यं शत्रोन्यंसनादिकं तसिम्नकसाजाते शक्तरेकाकिनो यानम्, अशकस्य मित्रसहितसेत्येवं यानं द्विविधममि-भीयते ॥ १६५ ॥

> श्रीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा । मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

क्षीणस्येति ॥ प्राग्जन्मार्जितेन दुष्कृतेन ऐहिकेन वा पूर्वकृतेन क्रमशः श्रीणहस्त्यश्वकोशादिकस्य समृद्धसापि वा मित्रानुरोधेन तत्कार्यरक्षार्थमित्येवं रिद्वविधमासनं मुनिभिः स्मृतम् ॥ १६६ ॥

बलस स्वामिनश्रेव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये । द्विविषं कीर्त्थते द्वैषं पाडुण्यगुणवेदिभिः १६७ ॥

बलस्येति ॥ साध्यस्तप्रयोजनसिद्धार्थं बलस्य हस्त्यश्वादेः सेनाधिपत्याधि-ष्टितस्य एकत्र शत्रुनृपोपद्गववारणार्थमवस्थानमन्यत्र दुर्गदेशे राज्ञः कतिनिद्ध-लाधिष्टितस्यावस्थानमेवं संध्यादिगुणपद्भोपकारज्ञैः द्विविधं द्वैधं कीर्स्यते १६७

१ अयमेवाशयः कामन्दकेनोकः-'बलिनोद्धिंषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन् । द्वैधी-मावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितः' इति.

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस शत्रुभिः।

साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥ अर्थेति ॥ शत्रुभिः पीट्यमानस्य शत्रुपीडानिवृत्त्यास्यप्रयोजनसिद्धार्थम् ,

अधात ॥ शतुमा पाउपमान्य राष्ट्र सम्बद्ध । अधात ॥ शतुमायं महाबकं मस्तामपि वा तत्काले पीडायां भाविशत्रुपीडनशङ्कया अमुकमयं महाबकं नृपतिमाश्रित इति सर्वत्र व्यपदेशोत्पादनार्थं बैलवन्तमुपाश्रयणम्, एवं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।

तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधि समाश्रयेत् ॥ १६९॥ यदेत्यादि ॥ यदा युद्धोत्तरकाले निश्चितमात्मन शाधिक्यं जानीयात्तदात्वे तत्कालेऽस्पधनाद्युपक्षयः तदा त्वस्पमक्षीकृत्यापि संधिमाश्रयेत् ॥ १६९॥

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्त प्रकृतीर्भृत्रम् ।

अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्नीत विग्रहम् ॥ १७० ॥ यदेति ॥ यदामात्मादिकाः सर्वाः प्रकृतीर्दानसंमानाधैरतीव तुष्टा मन्येत स्नात्मानं च हस्त्यश्वकोक्षादिक्षित्रयेणोपचितं तदा विग्रहमाश्रयेत् ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन हुएं पुष्टं बलं सकम्।

परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥ यदेखादि ॥ यदात्मीयममात्यादिसैन्यं हर्षयुक्तं धनादिना पुष्टं तत्त्वतो

जानीयात्, शत्रोश्चामात्यादिवर्लं विपरीतं तदा तं रुक्षीकृत्य यायात्॥१७१॥ यदा तु स्थात्परिश्लीणो वाहनेन बलेन च ।

तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥

यदेत्यादि ॥ यदा पुनर्वाहनेन हस्त्यश्वादिना बलेन चामात्यादिविपत्त्या-दिपरिक्षीणो भवेत्तदा सामोपदाप्रदानादिना शत्रून्प्रसान्त्वयन् प्रयक्षेनासन-माश्रयेत् ॥ १७२ ॥

मन्येतारि यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।

तदा द्विधा वलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३॥ मन्येतेति ॥ यदा राजा सर्वप्रकारेण बलीयांसमशक्यसंधानं च शतुं बुध्येत्तदा कतिचिद्दलसहितः स्वयं दुर्गमाश्रयेत् । बलैकदेशेन च शतुविरोध-माचरेत् । एवं द्विधा बलं कृत्वा मित्रसंग्रहादिकं स्वकार्यं साधयेत् ॥१७३॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।

तदा तु संश्रयेत्थिपं धार्मिकं बलिनं नृषम् ॥ १७४ ॥ यदेति ॥ यदा तु सैन्यानाममालादिप्रकृतिदोषादिनातिस्रयेन मास्रो

पाठा०—1 व्यपदेशश्व. 2 बलवदुपाश्रयममेवं. 3 प्रकृष्य.

भवति बलं द्वैधं विधाय दुर्गाश्रयणेनापि नात्मरक्षाक्षमस्तदा शीव्रमेव धार्मिकं बलवन्तं च राजाबमाश्रबेत् ॥ १७४ ॥

कीदशं तं बळवन्त्रामित्याह-

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिवलस च । उपसेवेत तं नित्यं सर्वयतैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥

निग्रहमिति ॥ यासां दोषेणासौ गमनीयतमो जातसासां शकृतीनां, यसाच शत्रुवलादस्य भयमुत्पन्नं तयोईयोरपि यः संश्रितो निग्रहश्चमस्तं नृपं सर्वयतैर्गुरुमिव नित्यं सेवेत ॥ १७५॥

> यदि तत्रापि संपद्येदोषं संश्रयकारितम् । सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

यदीति ॥ अगतिका हि गतिः संश्रयो नाम । तत्रापि यदि संश्रयकृतं दोषं पश्येतदा निःसंशयो भूत्वा शोभनमेव युद्धं तस्मिन्काले समाचरेत । दुर्बलेनापि बलवतो जयदर्शनानिहतस्य च स्वर्गप्राप्तेः ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यात्रीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।

यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७॥ स्वोंपायैरिति ॥ सर्वेः सामादिभिरुपायैर्निति राजा तथा यतेत, मथास्य मित्रोदासीनशत्रवोऽभ्यधिका न भवन्ति । आधिक्ये हि तेषामसौ आह्यो भवति । धनलोभेन मित्रसापि शात्रवापतेः ॥ १७७॥

आयितं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् । अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८॥

आयितिमिति ॥ सर्वेषां कार्याणामल्पानां बहुनामप्यायतिमुत्तरकालं गुणं दोषं विचारयेत् । वर्तमानकालं च शीव्रसंपादनायर्थं विचारयेत् । अतीतानां च सर्वकार्याणां गुणदोषौ किमेषां कृतं विघटितं किं वावशिष्टमित्येवं यथाव-द्विचारयेत् ॥ १७८ ॥

यसात्,—

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्रयः। अतीते कार्यशेषज्ञः अत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥

आयत्यामिति ॥ यः कार्याणामागामिकगुणदोषज्ञः स गुणवत्कार्यमा-रभते दोषवत्परित्यजति । यश्च वर्तमानकाले क्षिप्रमेवावधार्ये कार्ये करोति स्रतीते कार्ये यः कार्यशेषज्ञः स तत्कार्यसमासौ तत्फलं लभते । यसादेवं-विधकालत्रयसावधानत्वाच कदाचिच्छत्रभिरभिभूयते ॥ १७९ ॥

<sup>.</sup> पाटा०—1 °मागामिफलगुण°

किं बहुना,---

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः । तथा सर्व संविद्ध्यादेष सामासिको नयः ॥ १८० ॥

यथेत्यादि ॥ यथैनं राजानं मित्रादय उक्ता न बाधेरंस्तथा सर्वसंविधानं कुर्यात् । इत्येष सांक्षेपिको नयो नीतिः ॥ १८० ॥

> यदा तु यानमातिष्ठेदिरराष्ट्रं प्रति प्रश्चः । तदानेन विधानेन यायादिरपुरं श्चनैः ॥ १८१ ॥

यदेति ॥ यदा पुनः शक्तः सन् शत्रुराष्ट्रं प्रति यात्रामारभेत्तदाऽनेन वक्ष्य-माणप्रकारेण शत्रुदेशमत्वरमाणी गच्छेत् ॥ १८१ ॥

> मार्गशिर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः । फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथावलम् ॥ १८२ ॥

मार्गशीर्ष इति ॥ यश्चतुरङ्गबलोपेतो राजा करिरथागमनविलम्बेन विलन्धितप्रयाणस्तथा हैमन्तिकसस्यबहुलं च परराष्ट्रं जिगमिषुः समुपगमनाय क्षोभने मार्गशीर्षे मासि यात्रां कुर्यात् । यः पुनरश्वबलप्रायो नृपतिः श्रीप्रगतिर्वा सर्वसस्यबहुलं परराष्ट्रं वियासुः स फाल्गुने चैत्रे वा मासि स्वबलयोम्ब्यकालानतिक्रमेण यायात् । अत एव मन्वर्थव्यापारपरं संझेपेण याज्ञवल्क्य-वचनम् (आचारः १३।३४८) 'यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा वजेत्' ॥१८२॥

अन्येष्विप तु कालेषु यदा पश्येद्धवं जयम् । तदा यायाद्विगृह्येव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३॥

अन्येष्टिति ॥ उक्तकालन्यतिरिक्तेषु यदात्मनो निश्चितं जयमवंगच्छेत्तद्राः स्वंबल्योग्यकाले श्रीष्मादावपि हस्त्यश्चादिवलं शायो विगृह्यैव यात्रां कुर्यात् । अत्रोश्चामात्यादिशकृतिगोचरदण्डपारुष्यादिन्यसने जातेऽरिपक्षभूतायां तत्य-कृतावप्युक्तकालादन्यत्रापि यायात् ॥ १८३ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि । उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥ १८४ ॥ संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं खकम् । सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥

कृत्वेत्यादि ॥ संद्रोध्येति ॥ मूळे स्वीयदुर्गराष्ट्ररूपे पार्ष्णियाहसंविधानं प्रधानपुरुषाधिष्ठितरक्षार्थं सैन्यैकदेशस्थापनरूपं प्रतिविधानं कृत्वा यात्रोपयोषि च वाहनायुधवर्मयात्राविधानं यथाशास्त्रं कृत्वा परमण्डलगतस्य च येनास्यान्वस्थानं भवति तदुपगृद्ध तदीयान्मृत्यपश्चानात्मसात्कृत्वा चारांश्च कापटिकान

दीन्शत्रुदेशवार्वाज्ञापनार्थं प्रस्थाप्य सम्यक्तया जाङ्गळान्पाटविकविषयभेदेन त्रिविधं पन्थानं मार्गं शोधिततरुगुल्मादिच्छेद्रनिश्लोज्ञतादिसमीकरणादिना संशोध्य तथा हस्त्यश्वरथपदातिसेनाकर्मकरात्मकं षड्विधं बळं यथोपयोगमाहारौषधसत्कारादिना संशोध्य सांपरायिकं संपरायः संग्रामस्तदुपचितविधिना शत्रुदेशमत्वरया गच्छेत् ॥ १८४-१८५ ॥

## शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्तत्रो भवेत् । गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

शतुरेविनीति ॥ यन्मित्रं गृढं कृत्वा शतुं सेवते, यश्च भृत्यादिः पूर्वं विरागादृतः पश्चादागतस्तयोः सावधानो भवेत् । यस्मात्तावतिशयेन दुर्नि-अहो रिपुः॥ १८६॥

#### दण्डन्यूहेन तन्मार्गं यायातु शकटेन वा । वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥

दण्डेति ॥ दण्डाकृतिन्यृहरचनादिः दण्डन्यृहः । एवं शकटादिन्यृहा मिषि । तत्रामे बलाध्यक्षो मध्ये राजा पश्चात्सेनापितः पार्श्वयोईस्तिनस्तत्समीपे घोटकास्ततः पदातय इत्येवं कृतरचनो दीर्घः सर्वतः समिवन्यासो दण्डन्यूह-स्तेन तद्यातन्यं मार्गं सर्वतो भये सित यायात् । सूच्याकारामः पश्चात्पृशुरुः शकटन्यूहस्तेन पृष्ठतो भये सित गच्छेत् । सूक्ष्ममुखपश्चाद्वागः पृश्चमध्यो चराहन्यूहः । एष एव पृश्चतरमध्यो गरुडन्यूहस्ताम्यां पार्श्वयोभिये सित मजेत् । वराहिवपर्ययेण मकरन्यूहस्तेनामे पश्चाभायत्र भये सित गच्छेत् । पिपीलिकापिक्किरिवामपश्चाद्वावेन संहतस्त्यत्या यत्र यत्र सैनिकावस्थानं स श्वीममवीरपुरुषमुखः सूचीन्यूहस्तेनाम्यो भये सित यायात् ॥ १८७ ॥

## यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्वलम् । पद्मन चैव व्युहेन निविशेत सदा खयम् ॥ १८८ ॥

यत इत्यादि ॥ यस्या दिशः शत्रुभयमाशङ्केत तस्यामेव बलं विस्तारवेत् । समिवस्तृतपरिमण्डलो मध्योपविष्टजिगीषुः पद्मन्यृहस्तेन पुराश्चिर्गत्य सर्वदा कपटनिवेशनं कुर्यात् ॥ १८८ ॥

## सेनापतिबलाध्यक्षा सर्वदिक्षु निवेशयेत् । यतश्र भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेदिशम् ॥ १८९॥

सेनापतीति ॥ इस्त्यश्वरथपदात्यात्मकस्याङ्गदशकस्यैकः पतिः कार्यः । स च पत्तिक उच्यते । पत्तिकदशकस्यैकः पतिः सेनापतिरुच्यते । तद्दशकस्यैकः सेनानायकः, स एव च बलाध्यक्षः । सेनापतिबलाध्यक्षौ समस्तासु दिश्च संघर्षयुद्धार्थं नियोजयेत् । यसाश्च दिशो यदा भयमाद्यद्वेत् तदा नामभे दिशं कुर्यात् ॥ १८९ ॥ गुल्मांश्र स्थापगेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंततः । स्थाने युद्धे च कुश्चलानभीरूनविकारिणः ॥ १९० ॥

गुल्मानित्यादि ॥ गुल्मान्सैन्यैकदेशानाप्तपुरुषाधिष्ठितान् स्थानापसरण-युद्धार्थं कृतभेरीपटहशङ्कादिसंकेतान् अवस्थानयुद्धयोः प्रवीणान्निर्भयानव्य-भिचारिणः सेनापतिवलाध्यक्षान्दूरतः सर्वेदिश्च पारक्यप्रवेशवारणाय शत्रु-चेष्टापरिज्ञानाय च नियोजयेत् ॥ १९० ॥

संहतान्योधयेद्र्पान्कामं विस्तारयेद्रह्न्।

सूच्या वज्रण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥ संहतानित ॥ अल्पान्योधान्संहतान्कृत्वा बहुन्पुनर्यथेष्टं विस्तारयेत् । सूच्या पूर्वोक्तया वैज्ञास्येन स्यूहेन त्रिधा व्यवस्थितबलेन रचयित्वा योधा-न्योधयेत् ॥ १९१ ॥

सन्दनार्थः समे युष्येदनूपे नौद्विपैस्तथा । इक्षगुल्माइते चापैरसिचर्मायुषेः स्वले ॥ १९२ ॥

स्यन्दनाश्वेरित्यादि ॥ समभूमाने रथाश्वेन युध्वेत । तत्र तेन युद्धसाम-र्थ्यात्तदानुगतोद्के नौकाहस्तिमिः । तरुगुल्मावृते धन्विभिर्गर्तकण्टकपाषा-णादिरहितस्यले खद्गफलककुन्तावैरायुधेर्युध्येत ॥ १९२ ॥

> र्कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पश्चालाञ्च्युरसेनजान् । दीर्घाल्रघृंश्चेव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥

कुरुक्षेत्रानिति ॥ कुरुक्षेत्रभवान् , मत्यान्विराटदेशनिवासिनः , पञ्चाला-न्कान्यकुव्जाहिच्छत्रोद्धवान् , श्रूरसेनजान्माथुरान् प्रायेण पृथुशरीरशौर्या-हंकारयोगात्सेनाग्रे योजयेत् । तथान्यदेशोद्धवानिप दीर्घलघुदेहान्मनुष्या-न्युद्धाभिमानिनः सेनाग्र एव योजयेत् ॥ १९३ ॥

प्रहर्षयेद्वलं व्यूद्ध तांश्व सैम्यक्परीक्षयेत् । चेष्टाश्चेव विजानीयाद्रीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥

प्रहर्षयेदिखादि ॥ वलं रचिष्वा जये धर्मलाभः अभिमुखहृतस्य स्वर्ग-शाप्तिः पलायने तु प्रभुदुरितप्रहणं नरकगमनं चेत्याद्यर्थवादेर्युद्धार्थं प्रोत्साह-येत् । तांश्च योधान्केनाभिप्रायेण हृष्यन्ति कुप्यन्ति वेति परीक्षयेत् । तथा योधानामरिभिः सह युध्यमानानामपि सोपध्यनुपधिचेष्टा बुध्येत ॥ १९४ ॥

उपरुष्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् । दृषयेचास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥

उपेत्यादि ॥ दुर्गाश्रयमदुर्गाश्रयं वा रिपुमयुध्यमानमप्यावेष्ट्यासीत

पाठा०—1 कौस्क्षेत्रांश्व. 2 मुशं परीक्ष्येत्.

१ वज्रव्यूहरत्—'त्रिषा व्यवस्थितवको वज्र इत्यमिधीयते' इत्यादिनोक्तः; एतच्छूनेनेत-इकं अवति—अत्यवलक्षेद्रत्यान्स्वीयान्योषानेकीकृत्य ल्यूका च सन्नीव्यूहेनात्ववक्रो सोधवेद्रः, वहुवळत्तु वज्रव्यूहेन योषयेदिति भावः.

भस्य च देशसुत्साद्येत् । तथा घासान्नोद्केन्धनानि सर्वदाऽस्यापद्रव्यसंमि-श्रणादिना दूषयेत् ॥ १९५ ॥

> भिन्द्याचैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा । समवस्कन्दयेचैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

भिन्द्यादिलादि ॥ शत्रोरुपजीन्यानि तडागादीनि नाशयेत्, तथा दुर्ग-प्राकारादीन्भिन्द्यात्, तत्परिलाश्च भेदेन पूरणादिना निरुद्काः कुर्यात् । एवं च शत्रूनशङ्कितमेव सम्यगवस्कन्द्येत्तथा शक्तिं गृह्णीयात् । रात्रौ च ढक्का-काहिलकादिशब्देन वित्रासयेत् ॥ १९६ ॥

तदानीं च---

उपजप्यानुपजपेहुध्येतैव च तत्कृतम् । युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७॥

उपेत्यादि ॥ उपजापार्हान् रिपुवंश्यान् राज्यार्थिनः क्षुव्धानमात्यादींश्च भेदयेत् । उपजपेनात्मीयकृतां च तेषां चेष्टां जानीयात् । अभग्रहदशादिना अभफलयुक्ते दैवेऽवगते निर्भयो जयेष्सुर्युष्येत ॥ १९७ ॥

> साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीच युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

साम्नेत्यादि ॥ पीत्यादरदर्शनहितकथनाद्यात्मकेन साम्ना हस्त्यश्वरथहिरण्या-दीनां च दानेन तत्प्रकृतीनां तदनुयायिनां च राज्यार्थिनां भेदेन । एतैः समसैर्व्यसैर्वा यथासामर्थ्यमरीक्षेतुं यत्नं कुर्यान्न पुनः कदाचिद्युद्धेन ॥१९८॥

> अनित्यो विजयो यसादृश्यते युध्यमानयोः । पराजयश्च संग्रामे तसाद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥

अनित्य इति ॥ यसाद्युध्यमानयोर्बहुलबलत्वाद्यस्पबलत्वाद्यनपेक्षसेवा-नियमेन जयपराजयौ दृश्येते, तसात्सत्युपायान्तरे युद्धं परिहरेत् ॥ १९९ ॥

> त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे । तथा युच्येत संपन्नो विजयेत रिक्न्यका ॥ २०० ॥

त्रयाणामित्यादि ॥ पूर्वोक्तानां त्रयाणामपि सामादीनामुपायानामसाधकत्वे सित जयपराजयसंदेहेऽपि तथा प्रयत्नवानसम्यग्युष्वेत, यथा शत्रुज्ञमेत । यतो जयेऽर्थलामोऽभिमुखमरणे च स्वर्गप्राप्तिः । निःसंदिग्वे तु पराजवे युद्धादपसरणं साधीयः । यथा वश्यित 'आत्मानं सततं रक्षेत्' (७।२१३) इति नेधातिथि-गोविन्दराजौ ॥ २०० ॥

### जित्वा संपूजयेद्देवान्त्राह्मणांश्रेव धार्मिकान् । प्रदेवात्परिहारांश्र रूयापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥

जित्वेति ॥ परराष्ट्रं जित्वा तत्र ये देवास्तान्धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान्भूमिसुवर्णादिदानसंमानादिभिः पूजयेत् । जितद्रव्यैकदेशदानादिनैव चेदं पूजनम् ।
तदाह याज्ञवल्क्यः (या.स्मृ.आचार.१३।३२३)—'नातः परतरो धर्मो नृपाणां
यद्रणार्जितम् । विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चामयं सदा ॥' तथा देवब्राह्मणार्थं मयतदत्तमिति तदेशवासिनां परिहारान्द्द्यात् । तथा स्वामिमक्त्या
यरसाकमपन्नतं तेषां मया क्षान्तमिदानीं निर्भयाः सन्तः सुस्नं स्वव्यापारमनुतिष्ठन्त्वित्यभयानि स्थापयेत् ॥ २०१॥

## सर्वेषां तु विदित्वेषां समासेन चिकीर्षितम् । स्थापयेत्तत्र तद्वंदयं कुर्याच समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

सर्वेषामिति ॥ एषां शत्रुनृपामात्यानां सर्वेषामेव संक्षेपतोऽभिप्रायं ज्ञात्वा विस्मन्ताष्ट्रे बलनिहतराजवंश्यमेव राज्येऽभिषेचयेत् । 'इदं कार्ये त्वया, इदं न' इति तस्य तदमात्यानां च नियमं कुर्यात् ॥ २०२ ॥

## प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् । रत्नैश्र पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥

प्रमाणानीति ॥ तेषां च परकीयानां धर्मादनपेतानाचारान्देशधर्मतया भास्रेणाम्युपेतान्त्रमाणीकुर्यात् । एनं चाभिषिक्तममात्यादिभिः सह रत्नादि-दानेन पूजयेत् ॥ २०३ ॥

यसात्,-

### आदानमित्रयकरं दानं च प्रियकारकम् । अभीप्सितानामधीनां काले युक्तं प्रशस्तते ॥ २०४॥

आदानमिति ॥ यद्यप्यभिलिषतानां द्रव्याणां प्रहणमित्रयकरं दानं च प्रियकारकमित्युरसर्गस्तथापि समयविशेषे दानमादानं च प्रशस्तते । तस्मास-स्मिन्काल एवं पूजयेत् ॥ २०४ ॥

## सर्वं कमेंदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।

तयोर्देवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥ सर्वमिलादि ॥ यक्तिवित्संपाद्यं तत्थाग्जन्मार्जितसुकृतदुष्कृतस्ये कर्मिल दैवशब्दामिन्नेये, तथेहलोकार्जितमानुषशब्दवाच्ये न्यापारे नायसं, तयोर्मच्ये दैवं विन्तियतुमशक्यम् । मानुषे तु पर्यालोचनमस्ति । नतो मानुष-द्वारेणैव कार्यसिद्धवे यतितव्यम् ॥ २०५ ॥

सह वापि त्रजेश्चक्तः संधि कृत्वा प्रयत्नतः ।

मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपत्र्यंस्त्रिविधं फलम् ।। २०६ ॥

सहेत्वादि ॥ एवसुपक्रमणीये न शत्रुणा युद्धं कार्यम् । यदि वा स एव

मित्रं तेन च दत्तं हिरण्यं भूम्येकदेशो वार्षितं एतत्रयं यात्राफळम् । तेन
सह संधि कृत्वा यक्षवान्त्रजेत् ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले । मित्रादश्वाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्रुयात् ॥ २०७ ॥

पार्षणग्राहमित्यादि ॥ विजिगीषोर्रारं प्रति निर्यातस्य यः पृष्ठवर्ती नृपति-देशाक्रमणाद्याचरति स पार्षणग्राहस्तस्य तथा कुर्वतो यो नियामकस्तस्यान-न्तरो नृपतिः स आक्रन्दस्तावपेक्ष्य यातच्यम् । मित्रीभृतादमित्राद्वा यात्राफ्छं गृह्वीयात् । तावनपेक्ष्य गृह्वन्कदाचित्तत्कृतेन दोषेण गृह्यते ॥ २०७ ॥

> हिरण्यभूमिसंत्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते । यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कुञ्चमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८॥

हिरण्यभूमीति ॥ सुवर्णभूमिलाभेन तथा राजा न वृद्धिमेति यथेदानीं कृत्रमप्यागामिकाले वृद्धियुतं स्थिरं मित्रं लब्ध्वा वर्धते ॥ २०८॥

> धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च । अतुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रश्नस्यते ॥ २०९ ॥

धर्मञ्जमिति ॥ धर्मञ्जं, कृतोपकारस्य सार्चं, सानुरागमनुरक्तं, स्विरकार्या-रम्भं, प्रीतिमत्प्रकृतिकं यत् , तिम्मित्रमतिशयेन शस्यते ॥ २०९ ॥

> प्राज्ञं कुलीनं भूरं च दक्षं दातारमेव च । कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुरीरं बुधाः ॥ २१० ॥

प्राञ्चमित्यादि ॥ विद्वांसं, महाकुलं, विकान्तं, चतुरं, दातारं, उपकार-सर्तारं, सुखदुःखयोरेकरूपं शत्रुं दुरुच्छेदं पण्डिता वदन्ति । तेनैवंविधश्रश्रुणा सह संधातन्यम् ॥ २१० ॥

> आर्यता पुरुपज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता । स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥

आर्यतेसादि ॥ साधुत्वं, पुरुषविशेषज्ञता, विकान्तत्वं, कृपालुत्वं, सर्वदा च स्थोललक्ष्यं बहुपदत्वम् । अत एव 'स्युवंदान्यस्थृललक्ष्यदानशौण्डा बहु-प्रदे' इत्याभिधानिकाः । स्थोललक्ष्यमर्थेऽस्क्ष्मदर्शित्वमिति तु मेधातिथि-गोवि-न्दराजयोः पदार्थकथनमनागमम्, एतदुदासीनगुणसामम्यं, तसादेवंविधमु-दासीनमाश्रिस्योक्तलक्षणेनाप्यरिणा सह योद्यस्य ॥ २११ ॥ क्षेम्यां सस्पप्रदां नित्यं पश्चवृद्धिकरीमपि । परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

क्षेम्यामिति ॥ अनामयादिकल्याणक्षमामपि, नदीमातृकतया सर्वेदा सर्व-सस्यपदामपि, प्रचुरतृणादियोगात्पशुवृद्धिकरीमपि सूमिमात्मरक्षार्थमविछ-म्बमानी राजा निजरक्षाप्रकारान्तराभावात्परित्यजेत् ॥ २१२ ॥

यसात्सर्वविषयोऽयं धर्मः सर्यते-

आपदर्थ धनं रक्षेद्दारात्रक्षेद्धनैरपि । आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

आपदर्शमित्यादि ॥ आपन्निवारणार्थं धनं रक्षणीयम् । धनपरित्यागेनापि दारान्स्क्षेत् । बात्मानं पुनः सर्वदा दारधनपरित्यागेनापि रक्षेत् । 'सर्वत' एवात्मानं गोपायीत' इति श्रुत्या शास्त्रीयमरणन्यतिरेकेणात्मस्क्षेत्यप-देशात्॥ २१३॥

सह सर्वाः सम्रत्पनाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् । संयुक्तांश्र वियुक्तांश्र सर्वोपायान्सुजेहुधः ॥ २१४ ॥

सहेत्यादि ॥ कोशक्षयप्रकृतिकोपमित्रन्यसनादिकाः सर्वा आपदो युग-पदतिशयेनोत्पन्ना ज्ञात्वा न मोहसुपेयात् । अपि तु व्यस्तान्समस्तान्वा सामादीनुपायान्शास्त्रज्ञः संप्रयुक्षीत ॥ २१४॥

उपेतारम्रपेयं च सर्वोपायांश्र कृत्स्रज्ञः।

एतत्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥

उपेतारमिति ॥ उपेतारमात्मानं, उपेयं प्राप्तव्यं, उपायाः सामादयः सर्वे. ते च परिपूर्णा एतञ्चयमवलम्ब्य यथासामर्थ्यं प्रयोजनसिद्धये यत्नं कुर्यात् २१५

एवं सर्वेमिदं राजा सह संमन्त्य मन्त्रिभिः।

व्यायम्याष्ट्रत्य मध्याह्वे भोक्तमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥ एवमिति ॥ एवसुक्तप्रकारेण सर्वराजवृत्तं मित्रिभिः सह विचार्यं अनन्तर-मायुधाभ्यासादिना व्यायामं कृत्वा मध्याह्वे स्नानादिकं माध्याह्विकं कृत्यं निर्वाद्य भोकुमन्तः पुरं विशेत् ॥ २१६॥

> तत्रात्मभृतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः। सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्नेर्विषापहैः ॥ २१७ ॥

तत्रिति ॥ तत्रान्तः पुर भात्मतुल्यैभीजनकाळवेदिभिरभेचैः सूपकारादिभिः कृतं सुष्टु च परीक्षितं चकोरादिदर्शनेन । सैविषमन्नं दृष्ट्वा चकोराक्षिणी रक्ते स्वतः । विषापहेर्भन्नैर्जपितमन्नमद्यात् ॥ २३७ ॥

र में घातिथिस्तु-वैवर्ण्यञ्चालास्तीक्षिते च तसिन्वयसां विपत्तिः, 'दर्शनेन क्रियते वृत्र बोिकेट:, न्छायति जीवजीवकः, चकोरस्याक्षिणी विनस्यतो विषं प्रदर्शाणि, मकति मुक्तसानमहः स्वेद बत्सादिः मचेश्व विषापहैः परिजयेदयापादिकासुः बत्याहः

विषेत्ररगदेश्वास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् । विषन्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

विषद्भेरिति ॥ विषनाशिभिरौषधैः सर्वाणि भोज्यद्रव्याणि योजयेत् । विषद्दरणानि च रवानि यवनान्सर्वदा धारयेत् ॥ २१८ ॥

> परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकघृपनैः । वेषाभरणसंग्रद्धाः र्रंपृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥

परीक्षिता इति ॥ स्त्रियश्च गृहचारद्वारेण कृतपरीक्षा गुप्तायुधप्रहणविष-लिप्तामरणधारणशङ्कया निरूपितवेषाभरणा अनन्यमनसः चामरस्नानपाना-सुदकभूपनेरेनं राजानं परिचरेयुः ॥ २१९ ॥

> एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने । स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ २२० ॥

एचिमिति ॥ एवंविधपरीक्षादिप्रयतं वाहनशय्यासनाशनस्नानानुलेपनेषु सर्वेषु चार्लकरणार्थेषु कुर्यात् ॥ २२० ॥

मुक्तवान्विहरेचैव स्त्रीभिरन्तः पुरे सह ।

विद्दस्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

भुक्तवानिति ॥ कृतभोजनश्च तत्रैवान्तःपुरे भार्याभिः सह कीडेत्। कालानितक्रमेण च सप्तमे दिवसस्य भागे तत्र विह्त्याष्टमे भागे पुनः कार्याणि विन्तयेत्॥ २२१॥

अलंकृतश्च संपञ्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।

वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥ अलंकृत इति ॥ कृतालंकारः सन्नायुधजीविनं, वाहनानि हस्त्यश्वादीनि, सर्वाणि च शस्त्राणि सङ्गादीनि, अलंकाररचनादीनि च पश्येत् ॥ २२२ ॥

संध्यां चोपास शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥ गत्वा कक्षान्त्रं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्धोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

संध्यामिति ॥ गत्वेति ॥ ततः संध्योपासनं कृत्वा तसात्प्रदेशात्कक्षान्तरं विविक्तप्रकोष्ठावकाशमन्यद्रत्वा गृहाभ्यन्तरे धतशस्त्रो रहस्याभिषासिनां चराणां स्वव्यापारं श्रणुयात् । ततस्तं चरं संप्रेष्य परिचारिकास्त्रीवृतः पुन-भौकुमन्तः पुरं विशेत् ॥ २२३–२२४ ॥

पाठा०—1 विषद्मेहदकैश्वास्य. 2 संस्पृत्रेयुः समाहिताः.

तत्र भ्रुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः । संविशेत्त यथाकालमुत्तिष्टेच गतक्कमः ॥ २२५ ॥

तत्रेत्यादि ॥ तत्रान्तः पुरे वादित्रशब्दैः श्रुतिसुखैः प्रहर्षितः पुनः किंचि-द्भुक्त्वा नातितृप्तः कालानतिक्रमेण गतार्धप्रहरायां रात्रौ स्वप्यात् । ततो रात्रेः पश्चिमयामे च विश्रान्तः सन्नुत्तिष्ठेत् ॥ २२५ ॥

> एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः । अखस्थः सर्वमेतन्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां सप्तमोऽघ्यायः ॥ ७ ॥

एतिदिति ॥ एतद्यथोक्तप्रकारअजारअणादिकं नीरोगो राजा स्वयमतु
तिष्ठेत् । अस्वस्यः पुनः सर्वमेतद्योग्यश्रेष्टामात्येषु समर्पयेत् ॥ २२६ ॥

इति श्रीकुळूकमष्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावत्यां मनुवृत्तौ सप्तमोऽघ्यायः ॥ ७ ॥

#### अष्टमोऽध्यायः ८

व्यवहारान्दिदक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । मञ्जेक्षमित्रिमेश्रेव विनीतः प्रविशेत्समाम् ॥ १ ॥

व्यवहारानिति ॥ प्वंविचविपक्षमहीक्षिद्धः प्रजानां रक्षणाद्वासवृत्तिसासामेवेतरेतरविवादजपीडापरिहारार्थं, ऋणादानाच्छादशविवादे विरुद्धार्थाधिप्रत्यार्थवाक्यजनितसंदेहहारी विचार एव व्यवहारः। तदाह कात्यायनः—
'वि नानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते। नानासंदेहहरणाद्यवहार इति
स्मृतः ॥' तान्व्यवहारान्द्रष्टुमिच्छन् पृथिवीपतिर्धस्यमाणळक्षणळक्षितैव्यापळविरसात्येश्च सप्तमाध्यायोक्तपञ्चाङ्गमञ्जः सह विनीतो वाक्पाणिपादचापळविरहाद्नुद्धतः। अविनीते हि नृपे वादिप्रतिवादिनां प्रतिमाक्षयादसस्यगिभधाने तत्त्वनिर्णयो न स्यात्। ताहशो वक्ष्यमाणां सभां प्रविशेत्।
स्यवहारदर्शनं चेदं प्रजानामितरेतरपीडायां तत्त्वनिर्णयेन रक्षणार्थं वस्यमाणदष्टार्थकरणफळेनेव फळवत्॥ ॥ ॥

तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् । विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि क्रार्यिणाम् ॥ २ ॥ तत्रेत्यादि ॥ तत्यां च सभायां कार्यगौरवापेक्षायामुपविष्टो, लघुनि कार्ये उत्थितोऽपि वा। 'पाणि'शब्दो वाहुपरः। दक्षिणवाहुमुद्यस्यानुद्धतवेषाळंकारः पूर्वत्रक्षोक हन्द्रियानौद्धत्यमुक्तं वाहशः कार्याणि विचारयेत् ॥ २ ॥

प्रत्यहं देशहष्टेश्व शास्त्रहष्टेश्व हेतुभिः । अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथकपृथक् ॥ ३ ॥ प्रत्यहमित्यादि ॥ तानि च ऋणादानादीनि कार्याण्यष्टादशसु व्यवहार मार्गेषु विषयेषु पठितानि देशजातिकुल्व्यवहारावगतैः शास्त्रावगतैः साक्षि-दिव्यादिभिर्देतुमिः पृथक्पृथक् प्रत्यहं विचारयेत् ॥ ३ ॥ वान्येवाष्टादश गणयति—

तेषामाद्यमृणादानं निश्चेषोऽस्वामिविकयः ।
संभूय च सम्रत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
वेतनस्यैन चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैन स्वीसंग्रहणमेन च ॥ ६ ॥
स्वीपुंधमी विभागृश्च द्युतमाह्वय एन च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥

तेषामिति ॥ वेतनस्यैव चेति ॥ सीमेति ॥ स्त्रीपुमिति । तेषामष्टादशानां मध्ये बादाविह ऋणादानं विचार्यते । तस्य स्वरूपमुक्तं नारदेन—'ऋणं देय-मदेवं च येन यत्र यथा च यत्। दानप्रहणधर्माश्च तहणादानमुच्यते'। ततश्च स्वधनसान्यसिन्नपंणरूपो निक्षेपः । अस्वामिना च कृतो विकयः । संभूय विष्णादीनां कियानुष्ठानम् । दत्तस्य धनस्यापात्रज्ञच्चा क्रोधादिना वा प्रहण्णम् । कर्मकरस्य भृतेरदानम् । कृतव्यवस्थातिकमः । क्यविक्रये च कृते पश्चात्तापाद्विप्रतिपत्तिः । स्वामिपञ्चपाल्योविवादः । प्रामादिसीमाविप्रतिपत्तिः । वानपारुष्यमाक्षोश्चनादि । दण्डपारुष्यं ताडनादि । स्वयं विद्ववेन धनप्रहणम् । साहसं प्रसद्य धनहरणादि । स्वियाश्च परपुरुषसंपर्कः । स्वीसिहितस्य पुंसो धर्मे व्यवस्था । पैतृकादिधनस्य च विभागः । अक्षादिकीडा पणव्यवस्थापनपूर्वकम् । पिक्षमेषादिप्राणियोधनम् । इस्वेवमष्टादशं पदानि । एतानि व्यवहारप्रवृत्तेः स्थानानि । समाह्वयस्य प्राणिद्यत्ररूपत्वेन द्युतावान्तरः विशेषत्वादृष्टादशसंख्योपपत्तिः ॥ ४-७ ॥

## एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् । धर्मं द्याश्वतमाश्चित्य क्वयीत्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८॥

एचित्रसादि ॥ एष्ट्रणादानादिषु व्यवहारस्थानेषु बाहुल्येन विवादं कुर्वतां मनुष्याणामनादिपारम्पर्यागतत्वेन निसं धर्ममवलम्ब्य कार्यनिर्णयं कुर्यात्। 'भूयिष्ट'शब्देनान्यान्यपि विवादपदानि सन्तीति स्चयति। तानि च 'प्रकीर्णक'शब्देन नारदाशुक्तानि। सत एव नारदः—'न दृष्टं यच पूर्वेषु सर्वे तत्स्यात्प्रकीर्णकम्' इति॥ ८॥

१ नारदस्तु-'एषामेव प्रभेदोऽन्यः शतमष्टोत्तरं शतम् । क्रियाभेदान्मनुष्याणां शत-शाखो निगद्यते' इति चावान्तरविवक्षयाष्ट्रोत्तरशतं भवतीत्साख्यातवान् ।

# यदा खयं न क्रयोत्त नृपतिः कार्यदर्शनम् । तदा नियुक्त्यादिद्वांसं त्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥

यदेत्यादि ॥ यदा कार्यान्तराकुलतया रोगादिना वा राजा स्वयं कार्य-दर्शनं न कुर्यात्तदा तद्दर्शनार्थं कार्यदर्शनाभिज्ञं ब्राह्मणं नियुक्षीत ॥ ९ ॥

सोऽस्य कार्याणि संपञ्चेत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।

सभामेव प्रविक्याप्रयामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥

सोऽस्येति ॥ स बाह्यणोऽस्य राज्ञो द्रष्टव्यानि कार्याणि त्रिभिर्बाह्यणैः सभायां साधुभिर्धार्भिकैः कार्यदर्शनाभिज्ञैर्वृतस्ताभेव सभां प्रविद्योपविद्य स्थितो वा नतु चंक्रम्यमाणसस्य वित्तव्याक्षेपसंभवत्वात्तादृशक्रणादानादीनि कार्याणि पश्येत् ॥ १० ॥

## यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।

राज्ञश्राधिकतो विद्वान्त्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥

यसिनिति ॥ यसिनस्थाने ऋग्यज्ञःसामवेदिनस्रयोऽपि ब्राह्मणा अव-तिष्ठन्ते, राज्ञाधिकृतश्च विद्वान्त्राह्मण एव प्रकृतत्वाद्वतिष्ठते, तां सभां चतु-र्मुखसभामिव मन्यन्ते ॥ ११ ॥

## घर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।

श्चरं चास्य न कुन्तिन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ १२॥ धर्म इति ॥ भाः प्रकाशस्त्रया सह वर्तेत इति विद्वत्संहितरेवात्र 'सभा'- शब्देनाभिमता। यत्र देशे सभां विद्वत्संहितरूपां धर्मः सत्याभिधानजन्योऽनृ-ताभिधानजन्येनाधर्मेण पीडित आगच्छति अधिप्रत्यधिनोर्मध्ये एकस्य सत्याभिधानाद्परस्य मृषावादात्ते च सभासदोऽस्य धर्मस्य पीडाकरत्वाच्छत्यमि- वाधर्मे नोद्धरन्ति तदा त एव तेनाधर्मेशल्येन विद्धा भवन्ति ॥ १२ ॥

यतः एवमतः,—

संभां वा न प्रवेष्टच्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अञ्जवन्विञ्जवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥

सभामिति ॥ सभामवगम्य व्यवहारार्थं तत्त्रवेशो न कर्तव्यः । पृष्ट-श्रेत्तदा सत्यमेव वक्तव्यम् । अन्यथा त्ष्णीमनतिष्ठमानो मृषा वा वद्ञु-भयथापि सद्यः पापी भवति । मेधातिथिना तु 'सभा वा न प्रवेष्टव्या' इति ऋज्वेव पठितैम् ॥ १३ ॥

पाठा०-1 सभा वा न प्रवेष्ट्रव्या.

१ व्याख्यातं च—'व्यवहारदर्शनाधिकारो न प्रतिपादनीयः, प्रतिपन्नश्चेत्समंजसं वक्त-व्यम् । अनेन लनधिकृतस्यापि यद्दच्छ्या सन्निहितस्य मिथ्यापद्यत्सु सभ्येषु विदुषस्तूर्णी-मावं नेच्छन्ति' इति ।

## यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च । हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

यत्रेत्यादि ॥ यत्यां सभायामधिंप्रत्यथिंभ्यामधर्मेण धर्मो न दृश्यते । यत्र च साक्षिभिः सत्यमनृतेन नाश्यते, सभासदां प्रेक्षमाणानां ताननादत्य ते प्रतीकारक्षमा न भवन्तीत्यथेः । 'षष्ठी चानादरे' (पा. २।३।३८) इत्यनेन षष्ठी । तत्र त एव सभासदत्तेन पापेन हता भवन्ति ॥ १४ ॥

## धर्म एव हतो हन्ति धर्मी रक्षति रिक्षतः। तसाद्धमीं न हन्तव्यो मा नो धर्मी हतो वधीत्॥ १५॥

धर्म इत्यादि ॥ यसाद्धमे एवातिकान्त इष्टानिष्टाभ्यां सह नाशयितः नार्थिप्रत्यथ्वीदिः । स एव नातिकान्तस्ताभ्यां सह रक्षति । तसाद्धमीं नाति-क्रमणीयः । माऽस्मान् त्वत्सिहितानितकान्तो धर्मो वधीदिति सभ्यानामुत्पथ-प्रवृत्तस्य प्राङ्किवाकस्य संबोधनिमदम् । अथवा नो निषेधेऽज्ययम् । नो हतोः धर्मो मा वधीत् न हन्त्येवेत्यभिप्रायः ॥ ५५ ॥

## ष्ट्रभो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् । बुषलं तं विदुर्देवास्तसाद्धमं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

बुष इत्यादि ॥ कामान्वर्षतीति वृषः, 'वृष'शब्देन धर्म एवाभिधीयत इति । 'श्रलं'शब्दो वारणार्थः । यसाद्धर्मस्य यो वारणं करोति तं देवा वृष्ठं जानन्ति न जातिवृष्ठम् । तसाद्धर्मं नोच्छिद्यादिति धर्मेव्यतिक्रमखण्डनार्थः 'वृष्ठ'शब्दार्थनिर्वचनम् ॥ १६ ॥

## एक एव सुहृद्धमीं निधनेऽप्यनुयाति यः । श्ररीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥

एक इत्यादि ॥ धर्म एवैको मित्रं यो मरणेऽप्यभीष्टफलदानार्थमनुगच्छति यसादन्यत्सर्वे भार्यापुत्रादि शरीरेणैव सहादर्शनं गच्छति । तसात्पुत्रादि-स्निहापेक्षयापि धर्मो न हातव्यः ॥ १७ ॥

## पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

पाद् इत्यादि ॥ दुर्ज्यवहारदर्शनादधर्मसंबन्धी चतुर्थभागोऽथिंनमधर्म-कर्तारं प्रत्यर्थिनं वा गच्छति । परश्चतुर्थभागः साक्षिणमसत्यवादिनम् । अन्य-पादः सभासदः सर्वानधर्मप्रवृत्त्यनिवारकान्ज्यामोति । पादश्च राजानं व्रजति । सर्वेषां पापसंबन्धो भवतीत्यत्र विवक्षितम् ॥ १८ ॥ राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः । एनो गच्छति कर्तारं निन्दाहीं यत्र निन्धते ॥ १९ ॥

राजेत्यादि ॥ यस्यां पुनः सभायामसत्यवादी निन्दाहोंऽथीं प्रत्यथीं वा सम्यक् न्यायदर्शनेन निन्धते तत्र राजा निष्पापो भवति । सभासदश्च पापेन न संबध्यन्ते । अर्थ्यादिकमेव कर्तारं पापसुपैति ॥ १९॥

> जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्वाह्मणबुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेने तु श्रुद्रः कथंचन ॥ २०॥

जातिमात्रेति ॥ ब्राह्मणजातिमात्रं यस विद्यते नतु ब्राह्मणकर्मानुष्ठानं विणगादिवत्साक्ष्यादिद्वारेण स्फुटन्यायान्यायनिरूपणक्षमो ब्राह्मणजातिरिप वा यस्य
संदिग्वाऽऽत्मानं ब्राह्मणं ब्रवीति स वरम् । उक्तयोग्यब्राह्मणाभावे च क्रवित्कार्यदर्शने नृपतेर्भमेप्रवक्ता भवेत्र तु धार्मिकोऽपि व्यवहारकोऽपि शृद्धः ।
ब्राह्मणो धर्मप्रवक्तिति विधानादेव शृद्धनिवृत्तिः सिद्धा पुनर्ने तु शृद्ध इति शृद्धनिषेधो योग्यब्राह्मणाभावे क्षत्रियवैश्ययोरभ्यनुज्ञानार्थः। अत एव कात्यायनः—
'यत्र विप्रो न विद्वान्त्यात्क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रशं शृद्धं
यस्नेन वर्जयेत्' ॥ २०॥

यसात्,—

यस्य शुद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥

यस्येत्यादि ॥ यस्य राज्ञो धर्मविवेचनं शृद्धः कुरुते तस्य पश्यत एव पङ्के गौरिव तद्दाष्ट्रमवसन्नं भवति ॥ २१ ॥

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाकान्तमद्विजम् ।

विनश्यत्याशु तत्कृत्सं दुर्भिक्षच्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥ यदिलादि ॥ यदाष्ट्रं शूद्रबहुलं बहुलपरलोकाभाववाद्याकान्तं द्विजशून्यं तत्सवं दुर्भिक्षरोगपीक्तिं तच्छीत्रं विनश्यति । 'अग्नी प्रास्ताहुतिः सभ्यक्' (३।७६) इत्यस्याभावेन वृष्टिविरहात्, उपजातदुर्भिक्षरोगाद्यपसर्गशान्त्यर्थ-कर्माभावाच ॥ २२ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः सूमाहितः।

प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यद्श्निमारभेत् ॥ २३ ॥ धर्मासन्ति ॥ धर्मदर्शनार्थमासन उपविश्य आच्छादितदेहोऽनन्य-मना लोकपालेभ्यः प्रणामं कृत्वा कार्यदर्शनमनुतिष्ठेत् ॥ २३ ॥

पाठा०-1 संदिग्धार्थानां.

१ ऋद्राधिकारमयं नास्तिकादिभिन्धं समाकान्तं राष्ट्रमधर्भेबाहुल्यात्सद्यः सीदतीत्याशयः.

# अर्थानथीवुभी बुद्धा धर्माधर्मी च केवली ।

वर्णक्रमेण सर्वाणि पत्र्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥

अर्थेति ॥ प्रजारक्षणोच्छेदाद्यात्मकावैहिकावर्थानथीं बुद्धा परछोकार्थ धर्माधर्मों केवलावनुरुध्य यथा विरोधो न भवति तथा कार्यार्थिनां कार्याणि परयेत् । बहुवर्णमेलके तु बाह्मणादिकमेण परयेत् ॥ २४ ॥

वाह्यैर्विभावयेछिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्। स्वरवणिङ्गिताकारैश्रक्षमा चेष्टितेन च॥ २५॥

बाह्यैरिति ॥ बाह्यैः खरादिलिङ्गैरित्यभिधानादेवावधारितव्यापारैः अर्थि-प्रत्यर्थिनामन्तर्गतमभिप्रायं निरूपयेत् । खरो गद्भदादिः, वर्णः खाभाविक-वर्णादन्यादशो मुखकालिमादिः, इङ्गितमधोनिरीक्षणादि, आकारो देहभव-खेदरोमाञ्चादिः, चेष्टा हस्तास्फालनादिः ॥ २५ ॥

यस्मात् ,—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च । नेत्रवक्रविकारैश्र गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

आकारेरिति ॥ आकारादिभिः पूर्वोक्तैः गत्या स्खलत्पादादिकया अन्त-र्गतमनोबुद्धिरूपेण परिणतमवधार्यते ॥ २६ ॥

> बालदायादिकं रिक्थं ताबद्राजानुपालयेत्। याबत्स स्थात्समावृत्तो यावचातीतशैशवः॥ २७॥

वालदायेति ॥ अनाथवालसामिकं धनं पितृन्यादिभिरन्यायेन गृह्ममाणं तावद्राजा रक्षेत् । यावदसी 'षद्त्रिंशदृ व्दादिकं ब्रह्मचर्यम्' इस्याष्ट्रकेन प्रकारेण गुरुकुलात्समावृत्तो न भवति तादशस्यावश्यकवाल्यविगमात् । यस्त्वशंत्त्यादिना वाल एव समावर्तते सोऽपि यावदतीतबाल्यो भवति तावत्तस्य धनं रक्षेत् । वाल्यं च षोडशवर्षपर्यन्तम् । 'बाल बाषोडशाद्वर्षात्' इति नारदवचनात् ॥ २७ ॥

वशाऽपुत्रासु चैवं स्थाद्रक्षणं निष्कुलासु च । पतित्रतासु च स्त्रीषु विधवास्त्रातुरासु च ॥ २८ ॥

वहोत्यादि ॥ वशासु वन्ध्यासु कृतदारान्तरपरिश्रद्दः स्वामी निर्वाहार्थोप-कित्पतधनोपायासु निरपेक्षः । अपुत्रासु च स्त्रीषु, प्रोषितमर्तृकासु, निष्कु-लासु सिपण्डरितासु, साध्वीषु च स्त्रीषु, विधवासु, रोगिणीषु च यद्धनं तस्यापि बालधनस्वेव राज्ञा रक्षणं कर्तव्यम् । अत्र चानेकशब्दोपादाने गोबलीवर्दन्यायेन पुनरुक्तिपरिहारः ॥ २८॥

पाठा०-1 यावद्वाऽतीतशैशवः.

१ अञातुरासु कुष्ठादिपीडितासु स्त्रीषु स्त्रीधनं रक्षणीयमिति वक्तन्ये वद्यादिशब्दोपादानमुक्त-न्यायेन स्त्रीष्वित्यादिना विरोधिकक्षणायाः कुळटाया धनरक्षणसंमावनानिषेधार्थमिति भावः-

#### जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः खबान्धवाः । ताञ्छिष्याचौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥

जीवन्तीनामिति ॥ वयमत्रानन्तराधिकारिणो रक्ष्याम इदं धनमित्यादि-व्याजेन ये बान्धवास्तासां जीवन्तीनां तद्धनं गृह्णन्ति तान्वक्ष्यमाणचौरदण्डेन धार्मिको राजा दण्डयेत् ॥ २९ ॥

> प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ २० ॥

प्रनष्टिति ॥ अज्ञातस्वामिकं धनं राजा कस्य किं प्रनष्टमित्येवं पटहादिना उद्योष्य राजद्वारादौ रक्षितं वर्षत्रयं स्थापयेत् । वर्षत्रयमध्ये यदि धनस्वा-न्यागच्छति तदा स एव गृह्वीयात् । तदूष्यं तु नृपतिर्विनियुक्षीत ॥ ३० ॥

> ममेदमिति यो त्र्यात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि । संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद्रव्यमहिति ॥ ३१ ॥

ममेद्मिलादि ॥ 'मदीयं धनम्' इति यो वदति स 'किंरूपं, किंसंख्याकं, कुत्र प्रनष्टं तद्धनम् ?'इलादिविधानेन प्रष्टन्यः। ततो यदि रूपसंख्यादीन्सला-नवदित तदा स तत्र धनस्वामी तद्धनं प्रहीतुमहैति ॥ ३१॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः । वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमहीत ॥ ३२ ॥

अवेद्यान इत्यादि ॥ नष्टद्रव्यस्य देशकालावस्मिन्देशेऽस्मिनकाले नष्ट-मिति, तथा वर्णे शुक्कादि, भाकारं कटकमुकुटादि, परिमाणं च यथावद्जा-नबष्टद्रव्यसमदण्डमहेति ॥ ३२ ॥

देशकालादिसंवादे पुनः,—

आददीताथ पड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः । दश्चमं द्वादशं वापि सतां धर्ममृतुसरन् ॥ ३३ ॥

आद्दीतिति ॥ यदेतदाज्ञा प्रनष्टद्रव्यं प्राप्तं तसात् षड्भागं दशमं द्वामं द्वामं दार्शं वा रक्षादिनिमित्तं पूर्वेषां साधूनामयं धर्म इति जाननराजा गृद्धी-यात् । धनस्वामिनो निर्गुणसगुणस्वापेक्षश्रायं षङ्गागादिप्रहणविकल्पः । अव-विष्टं स्वामिने समर्पयेत् ॥ ३३ ॥

प्रनष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरिधष्ठितम् । यांस्तत्र चौरान्गृद्धीयात्तान्राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

प्रनष्टिति ॥ यहच्यं कस्यापि प्रनष्टं सत् राजपुरुषैः प्राप्तं रक्षायुक्ते रक्षितं कृत्वा स्थाप्यम् । तीर्मिश्र द्रन्ये यांश्रीसान्युद्धीयात्तान्द्दस्तिना धातयेत् । गोविन्दराजस्तु 'शतादभ्यधिके वधः' इति दर्शनादत्रापि शतसुवर्णस्य मौल्या-धिकद्रव्यहरणे वधमाह । तन्न । तन्न 'संधि छित्ता तु यद्योर्थ' (९।२७६) इति यत्स्वाम्येऽपि प्रनष्टराजरक्षितद्रव्यहरणेनैव विशेषेण वधविधानात् 'शतादभ्यधिके वधः' इत्यस्य विशेषोपदिष्टवधेतरविषयत्वात् ॥ ३४ ॥

> ममायमिति यो ब्र्यानिधि सत्येन मानवः । तस्याददीत पड्मागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥

ममायमिति ॥ यो मानुषः स्वयं निधि लब्ध्वा, अन्येन वा निधौ प्राप्ते ममायं निधिरिति वदति सत्येन प्रमाणेन च स्वसंबन्धं बोधयति तस्य पुरुषस्य निर्णुणत्वसगुणत्वापेक्षया ततो निधानात् पेड्भागं द्वादशभागं वा राजा गृह्णीयात् । अवशिष्टं तस्यापंयेत् ॥ ३५ ॥

अनुतं तु वदन्दण्ड्यः खवित्तस्यांश्रमष्टमम् ।

तस्वेव वा निधानस्य संख्ययाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६ ॥ अनुतमिति ॥ अस्वीयं स्वीयमिति ब्रवन्स्वधनस्याष्टमं भागं दृण्ड्यः।यद्वा तस्येव निधरत्यन्ताल्पभागं गणयित्वा येनावसादं न गच्छति न विषयश्च रूभते तद्दण्ड्यः । अल्पीयसीमितीयसुन्नन्तनिर्देशात्पूर्वस्मादन्योऽयं दृण्डः । निकल्पश्च निर्गुणसगुणापेक्षः ॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् । अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥

विद्वानित्यादि ॥ विद्वान्पुनर्शाक्षणः पूर्वसुपनिहितं निधि दृष्ट्वा सर्वे गृह्वी-यात् । न षङ्मागं दृष्टात् । यसात्सर्वस्य धनजातस्य स प्रभुः । अत एवोक्तस् (११९००) 'सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदम्' इति । तसात्परनिहितविषयमेतद्वचनम् । तथा च नारदः—'परेण निहितं छ्रुध्वा राजा द्यपहरेक्विधिम् । राजगामी निधिः सर्वः सर्वेषां ब्राह्मणादते ॥' याज्ञवल्क्योऽप्याह—( या.स्मृ.आ. २।३४ ) 'राजा छ्रुध्वा निधिं दृष्टाद्विजेभ्योऽर्धे द्विजः पुनः । विद्वानशेषमाद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥' अतो यन्मेधातिथि गोविन्दराजाभ्यां 'ममायमिति यो ब्रूयात्' (८।३५) इत्युक्तं, राजदेयार्थनिरासार्थे पित्रादिनिहितविषयत्वमेवास्य वचनस्य व्याख्यातं तदनार्षम् । नारदाद्मिन्याख्यावपरितं स्वकल्पितं न मेधातिथि-गोविन्दराजन्याख्यानमादिये ॥ ३७ ॥

> यं तु पश्येतिधं राजा पुराणं निहितं क्षितौ । तसाद्विजेभ्यो दत्त्वार्धमधं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

यं त्विति ॥ यं पुनरस्वामिकं पुरातनं भूम्यन्तर्गतं निधिं राजा लभते तसाद्राह्मणेभ्योऽर्धं दुत्त्वाऽर्धमात्मीयधनागारे च प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

पाठा -1 संधि कृत्वा तु यचौर्य.

१ केचित्त्वत्र-राजा क्षत्रियादीनां षष्टमागं बाह्मणस्य च द्वादशं मागमाददीतेत्साहुः.

#### निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ । अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरिधपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥

निधीनामिति ॥ निधीनां पुरातनानामस्वकीयानां विद्वद्वाह्मणेतरलब्धानां सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानां चार्धहरो राजा । यसादसौ रक्षति भूमेश्र प्रभः ३९

# दातन्यं सर्ववर्णभ्यो राज्ञा चौरेहतं धनम् ।

राजा तदुपयुज्जानश्रौरस्यामोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

दातव्यमिति ॥ यद्धनं चौरैलोंकानामपहतं तदाज्ञा चौरेभ्य आहत्य धन-स्वामिभ्यो देयम् । तद्धनं राजा स्वयमुपयुक्षानश्चीरस्य पापं प्रामोति ॥ ४० ॥

#### जातिजानपदान्यर्माञ्श्रेणीधर्माश्च धर्मवित् । समीक्ष्य कुरुधर्माश्च स्वधर्म प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥

जातीति ॥ धर्मान्त्राद्मणदिजातिनियतान्याजनादीन् जानपदांश्च नियत-देशन्यवस्थितानाम्नायाविरुद्धान्, देशजातिकुलधर्माश्च 'काम्नायैरप्रतिषिद्धाः प्रमाणम्' (गौ.स्ट. १११७) इति गौतमस्मरणात् । श्रेणीधर्माश्च वणिगादिधर्मान्यतिनियतकुलन्यवस्थितान्त्रात्वा तद्विरुद्धान्राजा न्यवहारेषु तत्तद्धर्मान्यवस्थापयेत ॥ ४१ ॥

यसात्,—

### खानि कर्माणि कुर्वाणा दृरे सन्तोऽपि मानवाः।

प्रिया भवन्ति लोकसा खे से कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥

स्वानीत्यादि ॥ जातिदेशकुलधर्मादीन्यात्मीयकर्माण्यनुतिष्ठन्तः, स्वे स्वे च नित्यनैमित्तिकादौ कर्मणि वर्तमानाः, दूरेऽपि सन्तः सांनिध्यनिबन्धन-स्वेहामावेऽपि लोकस्य प्रिया मवन्ति ॥ ४२ ॥

हामार्वेऽपि लोकस्य प्रिया भवन्ति ॥ ४२ ॥ श्रासङ्गिकमिदमभिघाय पुनः प्रकृतमाह—

नोत्पादयेत्ख्यं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः । न च प्रापितमन्येन ग्रेसेताथं कथंचन ॥ ४३ ॥

नोत्पाद्येदिति ॥ राजा राजनियुक्तो वा धनलोभादिना कार्यमृणादि-विवादं नोत्पाद्येत् । तदाह कालायनः—'न राजा तु विश्वत्वेन धनलोभेन वा पुनः । स्वयं कर्माणि कुर्वीत नराणामविवादिनाम् ॥' न चार्थिना प्रत्यर्थिना वाऽऽवेदितं विवादं धनादिलोभेनोपेक्षेत ॥ ४३ ॥ '

> यथा नयत्यसृक्पातैर्भृगस्य मृगयुः पद्म् । नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पद्म् ॥ ४४ ॥

यथेति ॥ यथा मृगस्य शस्त्रहतस्य रुधिरपातैन्याधः पदं स्थानं प्रामोति तथानुमानेन दृष्टप्रमाणेन वा धर्मस्य तत्त्वं निश्चित्रयात् ॥ ४४ ॥

#### सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ सीक्षिणः । देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥

सत्यमिलादि ॥ व्यवहारदर्शनप्रवृत्तो राजा छलमपहाय सत्यं पश्येत्तथार्थं च । अर्शमादित्वान्मत्वधीयोऽच् । अर्थवन्तं गोहिरण्यादिधनविषयस्यं व्यव-हारं पश्येत्, न त्वहमनेनाक्षिनिकोचनेनोपहासित इत्यादिस्वल्पापराधम् आ-त्मानं च तत्त्वनिणये स्वर्गादिफलभागिनं, साक्षिणः सत्यवादिनः, देशं कालं च देशकालोचितं स्वरूपं व्यवहारस्वरूपं गुरुल्युतादिकं पश्येत् ॥ ४५ ॥

### सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्व द्विजातिभिः । तदेशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

सद्भिरित्यादि ॥ विद्विद्विर्धर्मप्रधानैद्विजातिभिर्यद्वृश्यमानशास्त्रमनुष्टितं तद्देशकुळजात्यविरुद्धमादाय व्यवहारनिर्णयं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

एतत्सकल्यवहारसाधारणं परिभाषात्मकमुक्तम्, संप्रति ऋणादान-मधिकृत्याह—

### अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।

दापयेद्धनिकसार्थमधमणीद्विभावितम् ॥ ४७ ॥

अध्मणीर्थेति ॥ अध्मणीर्थेसिद्धर्थे प्रयुक्तधनसिद्धार्थे धनस्वामिना राजा बोधितो वश्यमाणलेख्यादिप्रमाणप्रतिपादितं धनमुत्तमणस्याधमणै प्रदापवेत । अधमणीदुत्तमणीय दापयेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

कथं दापयेदिलाइ--

यैर्येरुपायैरर्थं खं प्राप्तुयादुत्तमणिंकः ।

तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेद्धमणिकम् ॥ ४८ ॥

येर्येरिति ॥ येर्वक्ष्यमाणैङ्गायैः संप्रयुक्तमर्थमुत्तमणी लभते तैस्तैरुपायै-र्वशीकृत्व तमर्थं दापयेत् ॥ ४८ ॥

तानुपायानाह-

#### धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साध्येदर्थं पश्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

धूर्मेणेत्यादि ॥ धर्मादिना प्रयुक्तमर्थं साध्येत् । तत्र धर्मानाह बृह-स्पर्तिः—'सुह्रत्संबन्धिसंदिष्टैः साम्ना चानुगमेन च । प्रायेण वा ऋणी दाप्यो धर्म एष उदाहृतः ॥' देये धनेऽधर्मणस्याविप्रतिपत्तौ व्यवहारेण । तथा च वक्ष्यति (८१५१)—'अर्थेऽपव्ययमानं तु' इति । मेधातिथिस्तु-निःस्तो यः स व्यवहारेण दापयितव्यः । अन्यत्कर्मोपकरणं धनं दत्त्वा कृषिवाणिज्यादिना व्यवहार्यितव्यः । तदुरपन्नं धनं तस्मानु गृह्णीयादित्याह । छलादीनि

पाठा०-1 साक्षिणम्. 2 अन्यत्र कर्णोदकवद्धनं दत्त्वा.

त्रीण्याह बृहस्पतिः—'छन्नना याचितं चार्थमानीय ऋणिकाईली । अन्याह-तादि वाहत्य दाप्यते तत्र सोपिधः ॥ दारपुत्रपग्रन्हत्वा कृत्वा द्वारोपवेश-नम् । यात्रार्थी दाप्यतेऽर्थं स्वं तदाचरितमुच्यते ॥ बध्वा स्वगृहमानीय ताड-नाचैरुपक्रमैः । ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकीर्तितः' ॥ ४९ ॥

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमणींऽधमणिकात् ।

रीति न राज्ञा निषेद्धब्यः ॥ ५० ॥

न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्तर्कं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥ य इत्यादि ॥ य उत्तमर्णः संप्रतिपन्नमर्थमधमर्णात्स्वयं बलादिना साध-गति स स्वीयं धनं सम्यक्साधयन्नसास्वनिवेद्य किमिति बलादिकं कृतवान-

> अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् । दापयेद्वनिकसार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥

अर्थ इति ॥ नाहमसौ धारयामीति धनविषयेऽपह्मवानमधमणै करणेन रेख्यसाक्षिदिच्यादिना प्रतिपादितमर्थमुत्तमर्णस्य राजा प्रदापयेत् । दण्डलेशं उ 'अपह्मवे तद्विगुणम्' (८।१३९) इति वक्ष्यमाणदशमभागदण्डाक्यूनमपि एण्डं पुरुषशक्तया दापयेत् ॥ ५१॥

अपहृवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।

अभियोक्ता दिशेहेश्यं करणं वान्यदुहिशेत् ॥ ५२ ॥

अपेति ॥ उत्तमणेस्य धनं देहीति सभायां प्राड्विवाकेनोक्तस्याधमणेस्य नास्मै धारयामीत्यपलापे सति अभियोक्ताऽर्थी देश्यं धनप्रयोगदेशवर्तिसा-क्षिणं निर्दिशेत् । प्रायेण साक्षिभिरेव स्त्रीमूर्खादिसाधारणनिर्णयात्प्राक्साक्ष्यु-गन्यासः । अन्यद्वा करणं पत्रादि कथयेत् ॥ ५२ ॥

अँदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापहृते च यः ।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतात्रावद्युघ्यते ॥ ५३ ॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥
असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापिं निष्पतेत् ॥ ५५॥।
ब्रहीत्युक्तश्च न ब्र्यादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात्तसादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥
अदेश्यमिति ॥ अपदिश्येति ॥ असंभाष्य इति ॥ ब्रहीत्यादि ॥ अदेश्वं

पाठा॰—1 ऋणिकाद्धनी. 2 यहणी दाप्यते हार्थ. 3 कारणेन. 4 अभियुक्ती दिशेहेर्स. 5 कारणे वान्य°; कारणे वा समुद्दिशेत्. 6 अदेशं. 7 अपदिश्यापदेशं च.

यत्र देशेऽधमणंस्य ऋणप्रहणकाले सर्वदावस्थानं न संमवतीति निर्दिश्य चादेशादिकं नैतन्मया निर्दिष्टमित्यपनयित, यश्च पूर्वोक्तानर्थान्स्वार्थान्स्वोक्तान्विक्दान्वावगच्छति। यश्च मम हस्तात्सुवर्णस्य पलमनेन गृहीतिमिति निर्दिश्य मत्युत्रहस्तादृहीतिमित्येवमादिना यः पुनरपसरित । यश्च सम्यवप्रतिज्ञातमर्थं कस्मात्त्वया रात्रावसाश्चिकं दत्तमित्येवमादि प्राङ्घवाकेन पृष्टः सन्न समाधत्ते । यश्च संभाषणानईनिर्जनादिदेशे साक्षिभिः सहान्योन्यं संभाषते । यश्च भाषार्थस्थितिकरणाय नितरामुच्यमानं प्राङ्घवाकेन प्रश्नं नेच्छेत् । यश्च निष्पितेत् उक्तांश्च व्यवहारान्युराऽनाख्याय यथा स्थानात्स्थानान्तरं गच्छेत् । यश्च बृहीत्युक्तो न किन्दिद्वतिति । उक्तं साध्यं न प्रमाणेन प्रतिपादयित । पूर्वं साधनं, अपरं साध्यं, तद्यो न जानाति । असाधनमेव साधनत्वेन निर्दिशति । असाध्यमेव मानेन 'शशश्चकृत्वतं धनुर्ज्ञियम्' हत्यादि साध्यत्वेन निर्दिशति स तस्मात्साध्यादर्थाद्वीयते ॥ ५३-५६ ॥

सीक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेत्र यः । धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तैमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

साक्षिण इति ॥ साक्षिणो मम विद्यन्त इत्युक्तवा तान्निर्दिशेत्युक्तो यो न निर्दिशति तं पूर्वोक्तेरेभिः कारणैर्धर्मस्थः प्राड्विवाकः पराजितं कथयत् । 'ज्ञा-तारः सन्ति मेत्युक्त्वा' इति वा पाठः । अत्र छान्दसमिकारस्य पूर्व-रूपत्वम् ॥ ५७ ॥

> अभियोक्ता न चेद्र्याँ इंध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः । न चेत्रिपक्षात्प्रत्र्याद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

अभियोक्ति ॥ योऽथीं सन् राजस्थाने निवेद्य भाषायां न ब्र्यात्तदा विष-यगौरवापेक्षया बध्यो छद्यनि विषये दण्ड्यश्च धर्मतः स्यात् । प्रत्यर्थी पुनर्यदि पक्षत्रयमध्ये न ब्र्यात्तदा धर्मत एव पराजितः स्यान्न तु छछेन ॥ ५८॥

यो यावित्रह्ववीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् । तौ नृपेण ह्यभर्मज्ञौ दाप्यौ तद्दिगुणं दमम् ॥ ५९ ॥

य इति ॥ यः प्रत्यर्था यत्परिमाणधनमपनयति, भर्थी वा यत्परिमाणधने मिथ्या वदित तावधार्मिकावपद्धतमिथ्योक्तधनाद्विगुणं दण्डरूपं दापनीयौ । अधर्मज्ञाविति वचनाज्ज्ञानपूर्वापद्धवमिथ्योक्तिविषयमिदम् । प्रमादादिनाप- लापमिथ्यानियोगापद्धवे द्विगुणमिति शतदशमभागं वक्ष्यति ॥ ५९ ॥

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा । ज्यवरैः साक्षिभिभीव्यो नृपत्राह्मणसंनिधौ ॥ ६० ॥

पृष्ट इति ॥ धनार्थिनोत्तमर्णेन राजपुरुषापकर्षे कृताह्वानः प्राङ्घिवाकेन

पाठा॰—1 ज्ञातारः सन्ति. 2 तमिति. 3 °द्धन्थ्यो.

पृष्टः सन्यदा न धारयामीत्यपह्नवानो भवति तदा नृपत्यधिकृतबाह्मणसमक्षं ज्यवरैः साक्षिमिस्रयोऽवरा न्यूना येषां तैर्रार्थेना भावनीयः ॥ ६० ॥

यांदशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः। तादशान्संप्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतं च तैः॥ ६१॥

यादशा इति ॥ धनिभिरुत्तमर्णादिभिः ऋणादानादिन्यवद्दारेषु यथाविधाः साक्षिणः कर्तन्यास्तथाविधान्वदिष्यामि । यथा च तैरपि सत्यं वक्तन्यं तमपि अकारं वक्ष्यामि ॥ ६१ ॥

> गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविद्शूद्रयोनयः । अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२ ॥

गृहिण इति ॥ कृतदारपरिमहाः पुत्रवन्तस्तद्देशजाः क्षत्रियग्रुद्भवैदय-जातीया अर्थिनिर्दिष्टाः सन्तः साक्षित्वयोग्या भवन्ति । ते हि कृतपरिक-रपुत्रभयात्तद्देशवासिना विरोधाच नान्यथा वदन्ति नतु ये केचिद्दणादानादि-व्यवहारेषु साक्षिणः स्युः । आपदि तु वाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणादिषूक्त-व्यतिरिक्ताः साक्षिणो भवन्ति ॥ ६२ ॥

> आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः । सर्वधर्मविदोऽछब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

आप्ता इत्यादि ॥ 'क्षत्रविदश्र्द्रयोनयः' (८।६२) इत्युक्तत्वात्ततो ब्राह्मण-परिब्रहार्थं सर्वेषु वर्णेष्वित्यभिधानम्। सर्ववर्णेषु मध्ये ये यथार्थावगतवादिनः सर्वधर्मज्ञा लोभरहितात्ते साक्षिणः कर्तव्याः। उक्तविपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।

न दृष्ताः । ६४ ॥ नार्थसंबन्धिन इत्यादि ॥ ऋणावर्थसंबन्धिनोऽधमणीवाः, आसा मित्राणि, सहायास्तरपरिचारकाः, शत्रवः, स्थानान्तरावगतकौटसाक्ष्याः, रोगपीडिताः, सहापातकादिदृषिताः साक्षिणो न कर्तव्याः। लोभरागद्वेषस्मृतिभ्रंशादीनाम-न्यथाभिधानहेत्नां संभवात् ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ।

न श्रोतियो न लिङ्गस्यो न सङ्गम्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥ न साक्षीति ॥ प्रभुत्वात्साक्षिधमेण प्रष्टुमयोग्यत्वात्त राजा साक्षी कार्यः । कारुः सूपकारादिः, कुत्रीाख्वो नटादिः, तयोः स्वक्रमञ्यप्रत्वात्मायेण धनलो-भवत्वासासिक्षत्वम्। श्रोत्रियोऽप्यध्ययनाग्निहोत्रादिकर्मञ्यप्रत्या न साक्षी। लिङ्गस्यो बहाचारी, सङ्गविनिर्गतः परिवाजकस्तयोरि स्वकर्मञ्यप्रत्वाद्वहानिइत्वासासिक्षत्वम् । श्रोत्रियप्रहणाद्य्ययनाग्निहोत्रादिक्यप्रतरवाह्मणस्यानिविद्या ॥ ६५ ॥

#### नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न निकर्मकृत् । न बृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥

नाध्यधीन इति ॥ अध्यधीनोऽत्यन्तपरतन्नो गर्भदासो न वक्तव्यो विहिन्तकर्मत्यागान्नोकविनाहितः । दस्युः क्रूकर्मा, 'नै कुद्धो नापि तस्करः'(८१६७) इति वस्यमाणत्वात् । विकर्मकृत्रिषिद्धकर्मकारी, एतेषां रागद्वेषादिसंभवात् । न ब्रह्सः, प्रायेण स्मृतिभ्रंशसंभवात् । न ब्राह्मोऽप्राप्तस्यवहारत्वात् । नैकः, विनाश्यापासमञ्ज्ञया तस्य व्यवरैरिति विधानात् । अर्थप्रतिषेधसिद्धो कस्यांचिद्वस्थायां द्वयोरभ्यज्ञज्ञानार्थं निषेधवचनम् । अन्त्यश्राण्टालादिः, धर्मानिध-ज्ञातत्वात् । विकलेन्द्रिय उपलब्धिवैकन्यान्न साक्षी कार्यः ॥ ६६ ॥

#### नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।

न श्रमातों न कामातों न कुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७॥ नार्त इति ॥ आतों बन्धविनाशादिना, मत्तो मद्यादिना, उन्मत्त उत्क्षेप-भूतावेशादिना, श्रुधापिपासादिना पीडितः, श्रमातों वर्ष्मगमनादिना खिन्नः, कामातेः, उत्पन्नक्षोधः, चौरश्चः, न साक्षी कार्य इति सर्वत्र संबध्यते । तत्रा-तादिक्वेद्धिवैकल्यात् । चौरस्त्वधार्मिकत्वात् ॥ ६७ ॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्धिजानां सद्दशा द्विजाः ।

भूद्राश्र सन्तः ग्रद्धाणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥

स्त्रीणामित्वादि ॥ स्त्रीणामन्योन्यव्यवहारे ऋणादानादौ स्त्रियः साक्षिण्यो भवन्ति । द्विजानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां सहशाः सजातीयाः साक्षिणः स्युः । एवं ग्रुद्धाः साधवः ग्रुद्धाणां, चाण्डालादीनां चाण्डालादयः साक्षिणो भवेयुः । एतच सजातीयसाक्ष्यभिधानम् । उक्तलक्षणसजातीयसाक्ष्यसंभवे विजातीया स्त्रिपे साक्षिणो भवन्ति । अत एव याज्ञवल्क्यः (आचारः २।६९)—'यथाजाति यथावणे सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः' ॥ ६८ ॥

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् । अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥

अनुभावीति ॥ गृहाभ्यन्तरेऽरण्यादौ वा चौरादिकृतोपद्भवे देहोपघाते वाऽऽतताच्यादिकृते यः कश्चिदुपलभ्यते स वादिनोरेव साक्षी भवति, नतुः ऋणादानादिवदुक्तलक्षणोपेतुः ॥ ६९ ॥

तदेवोदाहरणात्स्पष्टयति-

स्नियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।

शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

स्त्रियापीति ॥ अन्तर्वेश्मादावुक्तसाक्ष्यभावे सति स्त्रीवालवृद्धशिष्यबन्धु-दासकर्मकरा अपि साक्षिणः स्युः ॥ ७० ॥

१ अत्र 'न चौरो नापि तस्करः' इति पाठश्चिन्त्यः.

२६ म० स्मृ०

नन्वस्थिरब्रिक्वादिना स्त्रीबालादीनां कथमत्रापि साक्षित्वमित्यत्राह— बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा । जानीयादस्थिरां वाचम्रुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१॥

बालवृद्धेति ॥ बालवृद्धव्याधितानामुपष्ठतमनसां च मत्तोन्मत्तादीनां साक्ष्येऽनृतं वदतामस्थिरा वाग्भवति । अतस्तामनुमानेन जानीयात् । यथोक्तम् (८१२५)-'बाह्मैविंभावयेक्षिक्षैः' इति ॥ ७१ ॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च । वाग्दण्डयोश्र पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

साहसे दिवति ॥ गृहदाहादिषु सीहसे त्वाचार्यस्थी संग्रहणे वाग्दण्डपारुष्ये च गृहिण इत्युक्तसाक्षिपरीक्षा न कार्या । 'स्थियाप्यसंभवे कार्यम्' (८।७०) इत्यस्यैवायमुदाहरणप्रपञ्चः ॥ ७२ ॥

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्धेघे नराधिपः । समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्धेघे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥

बहुत्विमित्यादि ॥ साक्षिणां परस्परिवरुद्धानां बहुभिर्यदुक्तं तदेव निर्णया-र्थत्वेन राजा गृह्णीयात् । समेषु तु विरुद्धार्थाभिषायिषु गुणवतः प्रमाणी-कुर्यात् । गुणवतामेव विप्रतिपत्तौ द्विजोत्तमान् द्विजेषु य उत्तमाः। क्रियावन्त इत्यर्थः। सत एव बृहस्पतिः-'गुणिद्वैचे क्रियायुक्तः' इति ॥ ७३ ॥

गोविन्दराजस्तु गुणवतां विप्रतिपत्तौ द्विजोत्तमान्त्राह्मणान्प्रमाणीकुर्यादि-त्याह—

> समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाचैव सिघ्यति । तत्र सत्यं ब्रवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

समक्षेति ॥ चक्षुर्याद्ये साक्षाहर्शनात्, श्रोत्रमाद्ये श्रवणात्साक्ष्यं सिध्यति । तत्र साक्षी सत्यं वदन्धर्मार्थाभ्यां न मुच्यते । सत्यवचनेन धर्मोपपत्तेद्रण्डा-भावेऽर्थहान्यभावात् ॥ ७४ ॥

साक्षी दृष्टश्चतादन्यद्वित्रुवन्नार्यसंसदि । अवाङ्रकमभ्येति प्रेत्य खर्गाच हीयते ॥ ७५ ॥

साक्षीत्यादि ॥ साक्षी दृष्टश्चतादन्यादशं साधुसभायां वदन्नधोसुखो नरकं राच्छति । परलोके च कर्मान्तरजन्यस्वर्गरूपफलादानेन पापेन हीयते ॥ ७५ ॥

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत रूणुयाद्वापि किंचन । दृष्टस्तत्रापि तद्भ्याद्यथादृष्टं यथाश्चतम् ॥ ७६ ॥ यत्रेखादि ॥ त्वमस्मिन्विषये साक्षी भवेलेवमञ्जतोऽपि बर्त्किविदणा-

१ सही नाम बलम् , तदाशित्य-बल्स्य बल्बतां वाश्रयेण बदशस्त्रकरणं गृहदाहादि स्साहसमुच्यते; केचित्त्वस्य 'मनुष्यमारणं चौर्य परदाराभिमर्शनम् । पारुष्यमुम्यं चेति सहिसं स्याचतिष्यम् इति चातिष्यमशन्ति ।

दानादि पर्यति, वाक्पारुष्यादिकं वा श्र्णोति तत्रापि साक्षी स पृष्टः सन्यथो-पलन्धं कथयेत् । अयं त्वकृतसाक्षी सामान्येन मनुनोक्तः । अस्य 'प्रामश्र प्राद्विवाकश्च राजा च' इत्यादिना नारदादिभिः षाद्विध्यमुक्तम् ॥ ७६ ॥

> एकोऽलुब्धस्तु साक्षी साद्वह्वाः ग्रुच्योऽपि न स्नियः । स्नीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोपैश्रान्येऽपि ये वृताः ॥ ७७ ॥

एक इत्यादि ॥ एकोऽलुब्ध इत्यत्राकारम्रश्चेषो द्रष्टन्यः । एकोऽपि साक्षी कोमादिरहितः स्वात् । अत एव व्यासः—'श्चिनिक्षय्त्र धर्मज्ञः साक्षी यत्रातुः भूतवाक् । प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साइसेषु विशेषतः ॥' मेधातिथि-गोविन्दरा-जाभ्यां 'एको लुब्धस्त्वसाक्षी स्वात्' इति पठितं व्याख्यातं च । लोभात्मक एकः साक्षी न भवति । एवं चालुब्धो गुणवान्कस्यांचिदवस्थायामेकोऽपि भवतीति । ख्रियः पुनरात्मशौचादियुक्ता बह्न्योऽप्यस्थिरलुद्धित्वादणादानाधैः पर्यालोचितव्यवहारे साक्षिण्यो न भवन्ति । अपर्यालोचिते तु स्रोयवाग्दण्ड-पारुष्यादौ 'ख्रियाप्यसंभवे कार्यं' (८१७०) इति साक्षित्वमुक्तम् । अन्येऽपि ये स्रोयादिदोषैक्यांसास्रोऽपि पर्यालोचितव्यवहारे साक्षिणो न स्युः ॥ ७७ ॥

स्वभावेनैव यद्र्युस्तद्वाह्यं व्यावहारिकम् । अतो यदन्यद्विन्युर्धर्मार्थं तद्पार्थकम् ॥ ७८ ॥

स्वभावेनेति ॥ यत्साक्षिणो भयादिन्यतिरेकेण स्वभावाद्यद्भुयुस्तद्यवहार-निर्णयार्थं आह्मम् । यत्पुनः स्वाभाविकाद्न्यत्कृतोऽपि कारणाद्वद्नित तद्धर्म-विषये निष्प्रयोजनं तत्र प्राह्मम् ॥ ७८ ॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसंनिघौ ।
प्राद्विवाकोऽनुयुद्धीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥
सभान्तरित्यादे ॥ सभामध्यं साक्षिणः सप्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसमक्षं राजाविकृतो बाह्यणः प्रियोर्क्ति रचयन्वक्ष्यमाणप्रकारेण पृच्छेत् ॥ ७९ ॥

यहयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽसिश्रेष्टितं मिथः। तद्भृत सर्वं सत्येन युष्माकं हात्र साक्षिता॥ ८०॥

यद्भयोरिति॥ यद्भयोरिश्रिंशत्यर्थिनोरनयोः परस्परमस्मिन्कार्थे चेष्टितं जानीथ तत्सर्वे सत्येन कथयत । यतो युष्माकमत्र साक्षित्वम् ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकाँनामोति पुष्कलान् । इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा त्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥ सत्यमिति ॥ साक्षी साक्ष्ये कर्मणि सत्यं वदन्सबुत्कृष्टान्त्रह्मलोकादीन् प्रामोति पुष्कलान् , इह कोकेषु चात्युत्कृष्टां क्यातिं लभते । यसादेषा सत्यात्मिका वाक् चतुर्मुखेन पूजिता ॥ ८१ ॥

> साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्वध्यते वारुणैर्भृशम् । विवशः शतमा जातीस्तसात्साक्ष्यं वदेदतम् ॥ ८२ ॥

साक्ष्य इत्यादि ॥ यसात्साक्षी मृषा वाचं कथयन्वरुणसंबन्धिभिः पाशैः सर्परजुभिर्जलोदरेण परतन्नीकृतः शतं जन्मानि यावदृत्यर्थं पीड्यते । तसा-त्साक्ष्ये सत्यं ब्रूयात् ॥ ८२ ॥

> सत्येन प्यते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते । तसात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥

सत्येनेत्यादि ॥ यसात्सत्येन पूर्वार्जितादिष पापात्साक्षी मुन्यते धर्मश्रास्य सत्याभिधानेन वृद्धिमेति तसात्सर्ववर्णविषये साक्षिभिः सत्यं वक्तव्यम् ८३

> आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः । माऽवमंस्याः खमात्मानं नृणां साक्षिणग्रुत्तमम् ॥ ८४॥

आत्मैवेति ॥ यसाच्छुमाग्रुभकर्मप्रतिष्ठा भारमैवात्मनः शरणं तसादेवं स्वमात्मानं नराणां मध्यमादुत्तमं साक्षिणं सृषाभिधानेन नावज्ञासीः ॥८४॥

> मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः । तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति खस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥

मन्यन्त इति ॥ पापकारिण एवं मन्यन्तेऽस्मानधर्मप्रवृत्तास कश्चित्पश्य-तीति । तान्युनर्वक्ष्यमनणा देवाः पश्यन्ति । स्वस्थान्तरपूरुषः पश्यति ॥८५॥

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः । रात्रिः संध्ये च धर्मश्र वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

द्यौरित्यादि ॥ घुलोकपृथिवीजलहृद्यस्थजीवचन्द्रादित्याद्वियमवायुरात्रि-संध्याद्वयधर्माः सर्वशरीरिणां ग्रुभाग्रुभकर्मज्ञाः । दिवादीनां चाधिष्ठातृदेव-तास्ति सा च शरीरिण्येकत्रावस्थापिता तत्सर्वं जानातीत्यागमशामाण्याद्वेदा-नतदर्शनं तदङ्गीकृत्येदमुक्तम् ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसांनिच्ये साक्ष्यं पृच्छेद्दं द्विजान् । उद्शुखान्त्राश्चुखान्ना पूर्वाहे ने श्रुचिः श्चचीन् ॥ ८७॥ देवब्राह्मणेति॥ प्रतिमा देवता, ब्राह्मणसंनिधाने श्चचीन्द्वजातिप्रस्तीन्त्रा-श्चखानुदञ्ज्ञखान्ना स्वयं प्रयतः प्राद्विवाकः पूर्वाहे काले याथातथ्यं साक्ष्यं प्रस्थेत् ॥ ८७॥

### त्र्हीति त्राक्षणं पृच्छेत्सत्यं त्र्हीति पार्थिवम् । गोवीजकाञ्चनैर्वैदयं स्ट्रं सर्वेस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

ब्रहीत्यादि ॥ 'ब्र्हि' इत्येवं शब्दमुचार्य ब्राह्मणं पृच्छेत् । 'सत्यं ब्र्हि' इति पार्थिवं क्षत्रियं पृच्छेत् । 'गोबीजसुवर्णापहारे यत्पापं तद्भवतोऽनृतामिधाने स्थात्' इत्येवं वैश्यम् । शूद्धं पुनः 'सर्वेवंश्यमाणपापैः संबध्यसे यदि सृषा वदसि' इति पृच्छेत् ॥ ८८ ॥

### त्रह्माते ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः । मित्रद्वहः कृतन्नस्य ते ते स्युर्बुवतो मृषा ॥ ८९ ॥

ब्रह्मघ्न इति ॥ ब्राह्मणहन्तुः स्त्रीघातिनो बालघातिनश्च ये नरकादिलोका ऋषिभिः स्मृताः, ये च मित्रद्रोहादिकारिणः, ये चोपकर्तुरपकारिणस्ते ते तव मिथ्या वदतो भवेयुः ॥ ८९ ॥

#### जन्मप्रभृति यत्किचित्युण्यं भद्र ! त्वया कृतम् । तत्ते सर्वे श्रुनो गच्छेद्यदि त्र्यास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

जन्मप्रभृतीत्यादि ॥ हे शुभाचार ! यत्त्वया जन्मत आरम्य किंचित्सुकृतं कृतं तत्सर्वं त्वदीयं कुकुरादिकं संकामति यदि त्वमसत्यं व्रवीषि ॥ ९० ॥

#### एकोऽहमसीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे । नित्यं स्थितसे हुचेषः पुण्यपिक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥

एकोऽहमित्यादि ॥ हे भद्र ! एक एवाहमस्मि जीवात्मक इति यदारमानं मन्यसे मैवं मंस्थाः । यसादेवं पापानां पुण्यानां च द्रष्टा मननान्मुनिः सर्व-इस्तव हृद्ये परमात्मा नित्यमवस्थितः । तथा च श्रुतिः (क.सं.२।२।१७)-'द्वा सुपर्णा सयुजा सस्ताया समावं वृद्धं परिषस्वजाते । तथोरन्यः पिष्पर्लं स्वाद्व-च्यनस्थान्यो समावान्द्राति'॥ ९१॥

### यमो वैवस्ततो देवी यस्तवैष इदि स्थितः । तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरूनगमः ॥ ९२ ॥

यम इति ॥ सर्वसंयमराद्यमः परमात्मा, वैवस्तत इति दण्डधारित्वात्, देवनादेवः, यस्तवैष हदि तिष्ठति तेन सह यथार्थकथने यदि तवाविवादः यदा त्वन्मनोगतमसावन्यज्ञानाति, त्वं चान्यथा कथयसि तदान्त्वयांमिणा सह विप्रतिपत्तिः स्यात् । एवं चात्र सत्यामिधानेनैव निष्पापः कृतकृत्योऽसि । पापनिर्हरणार्थं मा गङ्गां मा च कुरुक्षेत्रं यासीः । मनुक्तमेवात्र गङ्गाकुरुक्षेत्रयोः साम्यं मत्त्यपुराणे व्यासेन स्फुटीकृतम्—'कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्रतत्रावगा-हिता' इति । मेधातिथि गोविन्दराजौ तु विवस्ततः पुत्रो यो यमो दक्षिणदि-

क्यांतर्छोकतः कर्णगोचरीभूतत्वात्तव हृदये परिस्फुरति तेन सह यदि तवाधर्म-कारित्वाद्विवादो नास्ति तदा मा गङ्गां मा कुरुक्षेत्रं यासीरिति व्याचक्षाते॥९२॥

> नम्रो मुण्डः कैपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः। अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साध्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥

नग्न इति ॥ यः साक्ष्यमसत्यं वदेत्स नग्नः कृतमुण्डनपरिभावोऽन्धः कर्ष-रेणोपलक्षितः भिक्षार्थी शत्रुकुरुं गच्छेत् ॥ ९३ ॥

> अवाक् शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् । यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

अवागिति ॥ यो धर्मनिश्चयनिमित्तं पृष्टः सञ्चसत्यं ब्रूयात्स पापवानधोसुस्रो महान्धकारे यो नरकसं गच्छति ॥ ९८ ॥

> अन्धो मत्स्यानिवाश्चाति स नरः कण्टकैः सह । यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥

अन्ध इति ॥ यः सभां प्राप्तोऽर्थस्य तत्त्वार्थस्य वैकल्यमयथार्थाभिप्रायम-प्रत्यक्षमनुपलब्धमुत्कोचादिमुखलेशेन कथयति स नरोऽन्ध इव सकण्टका-नमत्स्यान्मक्षयति मुखबुद्धा प्रवृत्तो दुःखमेव महस्रमते ॥ ९५ ॥

यस विद्वान्हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते । तसान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

यस्येति ॥ यस्य वदतः सर्वज्ञोऽन्तर्यामी किमयं सत्यं वदत्युतानृतमिति न शङ्केत किंतु सत्यमेवायं वदतीति निर्विशङ्कः संपद्यते । तस्मादन्यं प्रशस्त्रतरं पुरुषं देवा न जानन्ति ॥ ९६ ॥

> यावतो बान्धवान्यस्मिन्हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् । तावतः संख्यया तस्मिञ्छुणु सौम्यानुपूर्वज्ञः ॥ ९७ ॥

यावत इति ॥ यस्मिन्पश्वादिनिमित्ते साक्ष्येऽनृतं वदन् यत्संख्याकान्पि-त्रादिबान्धवात्तरके योजयति तत्संख्याकान्त्रमेण परिगणनया मयोच्यमानान् साधो! ग्रृणु। अथवा यावतो बान्धवान्यस्मिन्हन्ति यावतां बान्धवानां हनन-फलं प्राप्तोति तावत्संख्याकाञ्छृणु। पक्षद्वयेऽप्यन्तृतिनिन्दार्थमिदम्॥ ९७॥

> पञ्च पश्चनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते । अतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

पञ्चीति ॥ पञ्चविषयेऽनृते पञ्च बान्धवासरके योजयति पञ्चानां बान्धवानां

**<sup>्</sup>राठा०—1** कपाली. 2 नातिशङ्कते.

हननफळं प्राप्तोति । एवं दशः गोविषये, शतमश्वविषये, सहसं पुरुषविषये । संख्यागौरवं चेदं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ ९८ ॥

> हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् । सर्वे भूम्यनृते हन्ति मा सा भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥

हन्तीति ॥ हिरण्यार्थेऽनृतं वद्भातानजातांश्च पुत्रप्रसृतीन्नरके योजयित एषां हननफर्छ प्राप्तोति । भूमिविषये चानृतं वदन्सर्वप्राणिनां हननफर्छ प्राप्तोति । तसाद्धमिविषयेऽनृतं मा वदीरिति विशिष्याभिधानम् ॥ ९९ ॥

वैदूर्यादिप्वनृतं वदतो भूमिवद्दोषमाह—

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने । अङ्गेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥

अप्सिति ॥ तडागकूपब्राह्मोदकविषयेऽनृते स्त्रीणां च मैथुनास्योपभोग-विषये अज्ञेषु च रत्नेषु च मुक्तादिषु पाषाणमयेषु वैदूर्यादिप्वनृते सूमिवहोष-माहुः ॥ १०० ॥

> एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे । यथाश्चतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद् ॥ १०१ ॥

एतानिति ॥ एतानसत्यभाषणदोषानधिगम्य दृष्टश्चतानतिक्रमेण सर्वमे-वाक्षसा तत्त्वतो बूहि ॥ १०१ ॥

> गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुक्कशीलवान् । प्रेष्यान्वार्धेषिकांश्रेव विप्राञ्झद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

गोरञ्जकानित्यादि ॥ गोरञ्जणजीविनः, वाणिज्यजीविनः, स्पकारादिकार-कर्मजीविनः, दासकर्मजीविनः, नटकर्मनृत्यगीतादिजीविनः, प्रतिषिद्धजीविनो बाह्यणान्त्रकृतसाक्ष्यदर्शने शुद्धवरप्रच्छेत् ॥ १०२ ॥

> तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः । न स्वर्गाच्यवते लोकादैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥ १०३॥

तद्धद्श्चिति ॥ तदेतत्साक्ष्यमन्यथापि जानन्मनुष्यो धर्मेण द्यादिना व्यवहारेष्वन्यथा वदन्स्वर्गेलोकाच अंश्यति । यसाद्यदेतिचिमित्तविशेषेणा-सत्याभिधानं तां देवसंबन्धिनीं वाचं मन्वादयो वदन्ति ॥ १०३ ॥

क पुनस्तदसत्यं वक्तन्यमित्यत भाह—

शृद्रविद्धत्रविप्राणां यत्रतींक्ती भवेद्धधः । तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥ शृद्धेति ॥ यस्मिन्व्यवहारे सत्यभिधाने सति शृद्धवैद्यक्षत्रियबाह्यणानां वधः संपद्यते तत्रासत्यं वक्तव्यम् । यसात् यस्मिन्विषयेऽनृतं यत्तत्प्राणरक्ष-णेन सत्याद्विशिष्यते । एतच प्रमादस्खिलताधमीविषयत्वे न त्वत्यन्ता-धार्मिकसंधिकारस्तेनादिविषये । तथा गौतमः—'नानृतवदने दोषो यजीवनं चेत्तद्धीनं नतु पापीयसो जीवनम्' इति । न च 'न जातु ब्राह्मणं हन्या-त्सविपापेष्विप स्थितम्' (८।३८०) इति मनुनैव वक्ष्यमाणत्वास ब्राह्मण-वधप्रसक्तिरिति वाच्यम् । उक्तदण्डत्वाद्वाद्यः कथंचित्संभवात् । अत्र वचने शुद्रादिकमेणाभिधानं वधस्यामङ्गल्यात् ॥ १०४॥

### वाग्दैवत्यैश्र चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्रतीम् । अनृतस्यनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥ १०५ ॥

वाग्दैवत्यैरिति ॥ ते साक्षिणोऽनृताभिधायिनो वाग्दैवताकैश्रक्भिः सर-स्वतीं यजेरन् । तत्यानृताभिधानजनितपापस बकुष्टां ग्रुद्धिं कुर्वाणाः । साक्षि-बहुत्वापेक्षं चेदम् । न त्वेकस्यैव साक्षिणः कपिक्षकन्यायेन चरुत्रयम् । यद्यपि वाग्दैवताके चरौ 'वाक्'शब्दैनैव देवतात्वं न सरस्वतीशब्देन 'विधि-शब्दस्य मन्नत्वे भावः स्वात्' इति न्यायात्तथापि 'वाग्वै सरस्वती' इति श्रुते-र्वाक्सरस्वत्योरेकार्थत्वात्सरस्वतीमित्युपसंदारः । अत्र प्रकरणे चेदं प्रायश्चित्ता-भिधानं लाववार्थम् । तत्र कियमाणे श्रुद्धविद्शत्रियबाह्मणवधविषयानृतवा-दिन इत्यपि वक्तव्यं स्वात् ॥ १०५ ॥

### क्रूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्वृतमग्रौ यथाविधि । उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाव्दैवतेन वा ॥ १०६ ॥

क्रूष्माण्डेरिति ॥ क्रूष्माण्डमञ्चा यजुर्वेदिका 'बहेवा देवहेडनम्' (यः सं २०१४) इत्येवमादयस्त्रेर्मञ्चदेववाये घृतमग्नौ जुहुयात्। यथाविधि परिस्तरणादि स्वात्मधर्मेण स्वगृद्धोक्तेन । 'उदुक्तमं वरुण पाश्चम्' (ऋ. सं. १।२।१५) इत्येतया वरुणदेवताकया 'आपो हि ष्ठाः' (ऋ. सं. ७।६।५) इति तृचेन वाग्देवताकेन जुहुयात् घृतमग्नाविति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ १०६॥

### त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः । तदृणं प्रामुयात्सर्वे दशवन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥

त्रिपक्षादिति ॥ अन्याधितः साक्षी ऋणादानादिन्यवहारे त्रिपक्षपर्यन्तं यदि साक्ष्यं न वदेत्तदा तद्विवादास्पदं सर्वमृणमुत्तमर्णस्य द्यात्, तस्य च सर्वस्यर्णस्य दशमं भागं राज्ञो दण्डं द्यात् ॥ १०७॥

यस दृश्वेत सप्ताहादुक्तवानयस्य साक्षिणः । रोगोऽप्रिर्ज्ञातिमरणमृणं द्राप्यो दुमं च सः ॥ १०८ ॥ कस्त्रेति ॥ वस साक्षिण उक्तसाक्ष्यस्य सप्ताहमध्ये व्याध्यप्रिदाहसंतिहित- पुत्रादिज्ञातिमरणानामन्यतमं भवति दैवसूनितमिथ्यामिदोषत्वादणसुत्त-मर्णस्य दण्डं च राज्ञा दाप्यः ॥ ३०८ ॥

> असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः । अविन्दंस्तन्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥

असाक्षिकेष्विति ॥ अविद्यमानसाक्षिकेषु व्यवहारेषु परस्परं विवदमान-योक्तस्वतरञ्जादिन्यतिरेकेण सत्यमलभमानः प्राष्ट्रिवाको वक्ष्यमाणेन शप-थेन सत्यसुद्ययेत् ॥ १०९ ॥

> महर्षिभिश्व देवेश्व कार्यार्थ श्रपथाः कृताः । वसिष्ठश्वापि शपथं शेपे पैजवने नृषे ॥ ११० ॥

महर्षिभिश्चेति ॥ सप्तर्षिभिदेंबैश्चेन्द्रादिभिः संदिग्धकार्यनिर्णयार्थं शपथाः कृताः । वसिष्ठोऽप्यनेन पुत्रशतं भक्षितमिति विश्वामित्रेणाकुष्टः स्वपरिश्चस्ये पिजवनापत्ये सुदासि राजनि शपथं चकार । अनेकार्थत्वाद्धात्नां शपिरपि करोत्यर्थः ॥ ११० ॥

न दृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः । दृथा हि शपथं कुर्वन्त्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

न नृथेति ॥ स्वल्पेऽपि कार्ये न नृथा शपथं पण्डितः कुर्यात् । नृथा शपथं कुर्वन्परलोक इहलोके नरकप्राह्याऽकीर्तिप्राह्या च नाशं प्रामोति ॥ १११ ॥

वृथाशपथप्रतिप्रसवार्थमाह—

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने । ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥

कामिनीष्विति ॥ बहुभार्यस्य 'नान्यामहं कामये त्वमेव मद्येयसी' इत्येवंविशिष्टः सुरतलाभार्यं कामिनीविषये, विवाहविषये च 'मयाऽन्या न वोढब्या' इत्यादौ, गवार्थं वासासुपहारे च, अग्नौ होमार्थमिन्धनासुपहारे, ब्राह्मणरक्षार्थमङ्गीकृतधनादौ वृथा श्रप्ये पापं न मवति ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुष्टैः । गोवीजकाश्चनैर्वेदयं सूद्रं सर्वेस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

सत्येनेति ॥ त्राह्मणं सत्यसन्दोचारणेन शापयेत् । क्षत्रियं वाहनायुधं मम निष्फलं स्यादित्येवम् । वैश्यं गोबीजकाञ्चनानि च मम निष्फलानि स्युरित्ये-वम् । शुद्धं च सर्वाणि मे पातकानि स्युरित्येवं शापयेत् ॥ ११३ ॥ कार्यगौरवलाघवापेक्षया---

# अप्रिं वाहारयेद्नमप्सु चैनं निमृज्येत् ।

पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

अग्निमिति ॥ अग्निसिन्नभं पञ्चाशत्पिकमष्टाञ्जलमयापिण्डं हस्तद्वय-विन्यस्तसाश्वत्थपत्रं शृदादिकं सप्त पदानि पितामहाद्युक्तविधानादाहारयेत् । जलोकादिरहितजले चैनं निमज्जयेत् । अशेषेतिकर्तन्यता स्मृत्यन्तरे श्रेया। पुत्राणां दाराणां च पृथक् शिरस्थेनं स्पर्शयेत् ॥ ११४॥

यमिद्धो न दहत्यिशरापो नोन्मञ्जयन्ति च।

न चार्तिमृच्छिति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥ यमिति ॥ यं प्रदीसोऽमिनं दहति, आपश्च यं नोध्वं नयन्ति, न चार्तिमेव महतीं प्रामोति स शपथे विश्वदो होयः ॥ ११५ ॥

अत्र प्रकृतमर्थवादमाह-

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ।

नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पन्नः ॥ ११६ ॥

वत्सस्येति ॥ यसात्पूर्वकाछे वत्सनाम्न ऋषेर्न त्वं ब्राह्मणः शूद्रापत्योसी-त्येवं कनीयसा वैमात्रेयेणाभिकुष्टस्य नैतदेवमिति स यथार्थमप्तिं प्रविष्टस्याग्निः सर्वस्य जगतः शुभाशुभकर्तव्ये चारभूतः सत्येन हेतुना रोमैकमपि विह्नर्न दग्धवान् ॥ ११६ ॥

यसिन्यसिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७॥

यसिन्निति ॥ यसिन्यसिन्न्यवहारे साक्षिभिरनृतमुक्तमिति निश्चितं भवेत्तत्कार्यमसमासं प्राड्विवाकः पुनरिप निवर्तयेत् । यदिप च दण्डसमासि-पर्यन्ततां नीतं तदिप पुनः परीक्षेत ॥ ११७ ॥

वश्यमाणविशेषार्थं लोभादीन्पृथङ्किदिंशति—

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्कोधात्तथैव च।

अज्ञानाद्वालभावाच साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥

लोभादिति ॥ लोभेन, विपरीतज्ञानेन, भर्येन, स्नेहेन, कामेन, क्रोधेन, अज्ञानेन, अनवधानेन साध्यमसत्त्रमुच्यते ॥ ११८॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥ ११९ ॥

एषामिति ॥ एषां लोसादीनां मध्यादन्यतमसिश्विमित्ते सति यो मिथ्या साह्यं कथयेत्तस्य दण्डविशेषान् ऋमशो वदिष्यामि ॥ ११९ ॥

### लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद्वी मध्यमी दण्डी मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

लोभादिति ॥ लोभेन मिथ्याभिधाने सति वश्यमाणपणानां सहस्रं दण्ट्यः, मोहेन प्रथमं साहसं वश्यमाणम्, भयेन च वश्यमाणौ मध्यमसाहसौ, मैत्रात्प्रथमसाहसं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

### कामाइशगुणं पूर्वं कोधातु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद्वे शते पूर्णे वालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥

कामादिति ॥ स्त्रीसंभोगरूपकामानुरोधेन मिथ्या वदन्प्रथमसाहसं दश-गुणं दण्ड्यः । क्रोधेन तु परं मध्यमसाहसं त्रिगुणं वक्ष्यमाणं, अज्ञानत्वाह्ने शते, बाल्डिस्यादनवधानात्पणशतमेव दण्ड्य इति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ १२१ ॥

#### एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीपिभिः। धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥

एतानिति ॥ सत्यरूपधर्मस्यापरिकोपार्थमसत्यरूपाधर्मस्य च वारणार्थमे-तान्कौटसाक्ष्यविषये पूर्वेर्मुनिभिरुक्तान्दण्डान्मन्वादय आहुः । एतच सङ्घ-त्कौटसाक्ष्ये ॥ १२२ ॥

मूयोभूयः कौटसाक्ष्यकरणेषु तु-

## कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः । प्रवासयेदण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥

कोटसाक्ष्यमिति ॥ अत्रियादीं छीन्वर्णान्कोटसाक्ष्यात्पूर्वोक्तेन दण्डयित्वा धार्मिको राजा स्वराष्ट्राद्विवासयेत् । त्राह्मणं तु धनदण्डव्यतिरेकेण स्वराष्ट्रा-चिःसारयेत् । 'न जातु ब्राह्मणं इन्यात्सर्वयापेष्ववस्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्सममधनमञ्जतम् '॥' (८१३८०) इति धनसहितनिर्वासनस्याभिधास्य-मानत्वात् । गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणं पुनः पूर्वदण्डेन दण्डयित्वा नम्रं कुर्यादिति व्याचष्टे । मेधातिथिस्तु ब्राह्मणस्य विवासस्त्वं वासोऽपहरणं गृहभङ्को वेत्या-चष्टे ॥ १२३ ॥

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंश्वनोऽत्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो त्राह्मणो त्रजेत् ॥ १२४ ॥
दशेति ॥ हैरण्यगर्भो मनुदंश दण्डस्थानान्युक्तवान् यानि क्षत्रियादिवर्णत्रयविषये भवन्ति । त्राह्मणः पुनर्महत्यपराधेऽक्षवश्वरीरो देशाज्ञिःसार्यते ॥ १२४ ॥

[ अध्यायः ८

उपस्यमुद्रं जिह्वा हस्तौ पादौ च पश्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णों च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥

उपस्थामिति ॥ लिङ्कादीन्येतानि दश दण्डस्थानानि, श्रतसत्तदङ्गेनापराधे सति अपराधलाधवगौरवापेक्षया तत्तदङ्गताडनवेदनादि कर्तव्यम् । अल्पाप-राधे यथाश्चतं धनदण्डः । देहदण्डो मारणं महापातकादौ ॥ १२५ ॥

> अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः । सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेतु ॥ १२६ ॥

अनुबन्धमिति ॥ पुनःपुनिरच्छातोऽपराधकरणमपेक्ष्य मामारण्यादिचाप-राधिस्थानं राज्यादिकं वाऽपराधस्यापेक्ष्य सारं चापराधकारिणो धनशरीरादि-सामर्थ्यमपरार्धं च गुरुलघुमावेन चालोक्य दण्डनीयेषु दण्डं कुर्यात् । एत-सामिहितामिधास्यमानदण्डशेषभूतम् ॥ १२६ ॥

> अधर्मदण्डनं लोके यशोनं कीर्तिनाशनम् । अखर्ग्यं च परत्रापि तसात्तत्परिवृज्येत् ॥ १२७ ॥

अधर्मेति ॥ जीवतः ख्यातिर्यशः, मृतस्य स्यातिः कीर्तिः, यसादनुबन्धा-चनपेक्ष्य दण्डनमिह लोके यशोनाशनं मृतस्य च कीर्तिनाशनं परलोके च धर्मान्तराजितस्वर्गप्रतिबन्धकं तस्मात्तर्यारत्यजेत् ॥ १२७ ॥

अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्रेवाप्यदण्डयन् ।

अयशो महदामोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८ ॥

अद्गड्यानिति ॥ राजा दण्डानर्हान्धनलोभादिना दण्डयन्, दण्डाहाँ-श्चानुरोधादिनोत्स्जन् महतीमख्याति प्रामोति नरकं च वजति ॥ १२८ ॥

्वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विग्दण्डं तदनन्तरम् ।

तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥

वाग्द्रण्डमिति॥ 'न साधु कृतवानिस मैवं भूषः काषीः' हत्येवं वाङ्किर्भन्तिं अथमापराधे गुणवतः कुर्यात्। तथापि यदि नोपशाम्यति तदा 'धिग् जालम मा जीवहानिस्ते पापस्य भूयात्' इत्येवमादि तस्य कार्यम्। तदापि यद्यसन्मा-र्गान्न निवर्तते तदा धनदण्डमस्य तृतीयं कुर्यात्। एवमपि चेन्नावतिष्ठते तदातः परं वधदण्डं ताडनाद्यङ्गच्छेदरूपं तस्य कुर्यान्न मारणम्॥ १२९॥

वधेनापि यदा त्वेताश्रिग्रहीतुं न श्रक्कयात् । तदेषु सर्वमप्येतत्प्रयुङ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

यतो वक्ष्यति-

चधेनाषि यदा त्वेतानिति ॥ न्यस्तेनाङ्गच्छेदेनापि दण्ड्यान्वशे कर्तुं न सक्तुयानदा एतेषु सर्व वाग्दण्डादिचतुष्टयं कुर्यात् ॥ १३० ॥ लोकसंव्यवहारार्थे याः संज्ञाः प्रथिता श्ववि । ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥

लोकेति ॥ ताम्ररूप्यसुवर्णानां याः पणादिसंज्ञाः क्रयविक्रयादिलोकन्यव-हारार्थे पृथिन्यां प्रसिद्धास्ता दण्डाद्युपयोगार्थं साकल्येन कथयिष्यामि १३१

जालान्तरगते भानौ यत्स्क्ष्मं दृश्यते रजः।

प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

जालान्तरेति ॥ गवाक्षविवरप्रविष्टसूर्यरिमषु यत्सूक्ष्मं रजो दृश्यते तहु-इयसानपरिमाणानां प्रथमं त्रसरेणुं वदन्ति ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षेका परिमाणतः ।

ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥

त्रसरेणव इति ॥ अष्टौ त्रसरेणवो लिक्षेका परिमाणेन हेया । तास्तिह्यो लिक्षा राजसर्षपो हेयः; ते राजसर्षपास्त्रयो गौरसर्षपो हेयः ॥ १३३ ॥

सर्षपाः पद् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।

पेश्चकृष्णलको मापस्ते सुवर्णस्तु पोडश ।। १३४ ।।

सर्षपा इति ॥ गौरसर्षपाः षट् मध्यो न स्थूलो नापि सूक्ष्मो यदो भवति । त्रिभिर्यवैः कृष्णलं रक्षिकेति प्रसिद्धम् । पञ्चभिः कृष्णलैर्माषः । षोडश माषाः सुवर्षः स्वात् । पुंजिङ्गश्चायं परिमाणवचनः ॥ १३४ ॥

पर्लं सुवर्णाश्रत्वारः पलानि घरणं दञ्च ।

द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रूप्यमाषकः ॥ १३५ ॥ पलमिति ॥ चत्वारः सुवर्णाः पलं स्वात् । दश पलानि धरणम् । कृष्ण-लद्वयं समं कृत्वा तुलया धतं रूप्यमाषको बोद्धव्यः ॥ १३५ ॥

ते पोडश साद्धरणं पुराणश्रेव राजतः।

कार्षापणस्तु विज्ञेयस्तान्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

ते षोडशेति ॥ ते षोडश रूप्यमाषका रौप्यधरणं पुराणश्च राजतो रजत-संबन्धी स्थात् । कार्षिकस्ताम्रमयः कार्षापणः पण इति विज्ञेयः । कार्षिकश्च शास्त्रीयपळचतुर्थभागो बोद्धन्यः । अत एव 'पछं कर्षचतुष्टयम्' इत्यामि-घानिकाः ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः।

चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७॥

धरणानीति ॥ दश रूप्यधरणानि रौष्यशतमानी ज्ञातन्यः । चतुर्भिः सुवर्णेर्निष्कः प्रमाणेन बोद्धन्यः ॥ १३७ ॥

पाठा०—1 पश्चकृष्णिलको. 2 रौप्यमाषकः.

पणानां द्वे शते सार्थे प्रथमः साहसः स्मृतः ।

पणानामिति ॥ पञ्चाकद्धिके द्वे पणशते प्रथमसाहसो मन्वादिभिःस्मृतः ।

पणाञ्चशतानि मध्यमः साहसो ज्ञेयः । पणसहस्रं तुत्तमसाहसो ज्ञेयः ॥ १३८॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पश्चकं शतमहिति।

अपह्ववे तिहराुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥

ऋण इति ॥ 'मयोत्तमर्णेख धनं देयम्' इति सभायामधमर्णेनोके सखधमर्णः पणशतात्पञ्च पणा इत्येवं दण्डमहेति । यदा तु सभायामपि न किंचिदस्य धारयामीत्येवमपळपति तदा पणशतादशपणा इत्येवं दण्डमहेति । इत्येवं मनुस्मृतौ दण्डप्रकारः ॥ १३९ ॥

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम्। अशीतिभागं गृद्धीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४०॥

वसिष्ठेति॥ वसिष्ठेनोक्तां वृद्धिं धर्म्यत्वाद्धनवृद्धिकरीं वृद्धिजीवी गृह्धीयात्। तामेव दर्शयति-शते प्रयुक्तेऽशीतिभागं प्रतिमासं वृद्धिं गृह्धीयात्॥ १४०॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममृजुसरन्।

द्विकं शतं हि गृहानो न भवत्यर्थिकिल्विषी ॥ १४१ ॥

द्विकमिति ॥ साध्नामयं धर्म इति मन्यमानः पणशते प्रयुक्ते पणद्वयं वा प्रतिमासं गृद्धीयात् । यस्मात् द्विकं शतं हि गृद्धानो वृद्धिधनम्रहणे किल्विषी न भवति ॥ १४१ ॥

> द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पश्चकं च शतं समम्। मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वणीनामनुपूर्वशः॥ १४२॥

द्विकमिति ॥ त्राह्मणादिवर्णानां क्रमेण द्विकं त्रिकं चतुष्कं पञ्चकं शतं समितो नाधिकं मासस्य संबन्धिनीं वृद्धिं गृह्धीयात् । नन्वशीतिभागो लघु-द्विकशतप्रहणं गुरु, कथमिमौ ब्राह्मणस्य लघुगुरुकस्पौ विकस्पेताम् । अत्र मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु पूर्ववृद्धा निर्वाहासंभवे द्विकशतपरिप्रह इति व्याचक्षाते । इदं तु वदामः—सबन्धेकेष्वशीतिभागप्रहणम् । बन्धकरिते तु द्विकशतवृद्धिपरिप्रहः । तदाह याज्ञवरुक्यः (यात्सृ.व्य.श् १९०)—'अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके । वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुःपञ्चकमन्यथा' ॥ 'वेदान्तोद्गीतमहसो मुनेर्ब्याख्यानमाद्विये। तद्विरुद्धं स्ववुद्धा च निबद्धमधुना-तनैः'॥ १४२॥

१ अधिक्रियत इत्याधिः; ऋणप्रदानार्थमधमणीदुत्तमणेन विश्वासार्थं गृहीतो यो बन्धः स आधिरित्युच्यते। स च द्विविधः—कृतकालोऽकृतकालक्षः; तत्र 'प्रतावित काले गते धनं दत्त्वाइयं मोक्यते, न चेत्तवैव भवति'इति कृत आधिराद्यः; अपरस्तु 'यावद्धनं ते ददामि तावद्यमाविः' इति। स पुनृश्चैकृक्षो गोप्य-मोग्यमेदभिन्नो द्विविधः।

#### न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं दृद्धिमाप्रुयाद् । न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥

नेति ॥ भूमिगोधनादौ भोगार्थं बन्धके दत्ते धनप्रयोगभवामनन्तरोक्तां वृद्धिमुत्तमणों न लभते । कालसंरोधाचिरकालावस्थानाद्विगुणीभूतमूलधन-प्रवेशोऽपि न निसर्गोऽन्यसौ दानं, न वाऽन्यतो विकयः ॥ मेधातिथि-गोविन्द्र-राजौ तु आधेश्चिरकालावस्थानेऽपि न निसर्गो नान्यत्र बन्धके नार्पणमिति व्याचक्षाते । अत्र तु सर्वदेशीयशिष्टाचारविरोधः बन्धकीकृतभूम्यादेरन्यत्रा-धीकरणसमाचारात् ॥ १४३ ॥

### न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुज्ञानो दृद्धिमुत्सृजेत् । मूल्येन तोषयेचैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ १४४ ॥

न भोक्तव्य इति ॥ गोप्याधिविषयं वचनमिदम् । वस्रालंकारादिर्गोप्या-धिर्वलान्न भोक्तव्यः । भुक्षानो वृद्धिमुत्स्जेत्याक्ष्वल्येनात्रैनं तोषयेत् । यद्वा भोगेनासारतामाधौ नीते सारावस्थाधिमूल्यदानेन स्वामिनं तोषयेत् , अन्यथा बन्धकचौरः स्यात् ॥ १४४ ॥

#### आधिश्रोपनिधिश्रोभौ न कालात्ययमर्हतः । अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

आधिश्चेति ॥ माधिर्बन्धकः, उपनिधीयत इत्युपनिधिः प्रीत्मा भोगार्थ-मार्पितं द्रन्यम् । नारदस्मृतिलक्षितौ च निक्षेपोपनिधी तावेवात्र 'उपनिधि'-शब्देन गृद्धेते । एतावाध्युपनिधी चिरकालावस्थितावपि न कालात्ययमईतः । यदैव स्तामिना प्रार्थितौ तदैव तस्यावहायौं समर्पणीयावित्यर्थः ॥ १४५ ॥

#### संप्रीत्या भ्रुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन । घेतुरुष्ट्रो वहत्रश्चो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

संप्रीत्येति ॥ 'यर्किचिद्दश वर्षाणि' (८।१४७) इत्यनन्तरं भोगेन स्वत्व-हानि वक्ष्यति, तद्यवादार्थमिदम् । दृश्यमाना गौरुष्ट्रोऽश्वश्च वहन्दमनार्थं च प्रयुक्तो बलीवर्दादिः एते प्रीत्याऽन्येन तु भुज्यमानाः कदाचिद्पि स्वामिनो न नश्यन्ति । प्रदर्शनार्थमिद्ं, प्रीत्योपभुज्यमानं न नश्यतीति विवक्षितम् । सामान्योपकमं चेदं विशेषाभिधानमिति नपुंसकलिङ्गता ॥ १४६ ॥

### यत्किचिद्शवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी । भुज्यमानं परैस्तूर्णीं न स तस्रब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

यितंकिचिदिति ॥ यिकंचिद्धनजातं समक्षमेव श्रीत्यादिग्यतिरेकेण परैर्दश-वर्षाणि अज्यमानं स्वामी श्रेक्षते, मा अङ्क्ष्वेत्यादिश्रतिषेधोक्तिं न रचयति, नासौ तञ्जब्धुं योग्यो भवति । तस्य तत्र स्वाम्यं निवर्वत इति भावः ॥१४७॥

#### अजडश्रेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते । भगं तद्यवहारेण भोक्ता तेद्धनमहीति ॥ १४८ ॥

अज्ञह इति ॥ जडो बुद्धिविकलः । न्यूनषोडशवर्षः पोगण्डः । तथा च नाग्दः—'वाल आषोडशादर्षात्पोगण्डश्चापि शब्दितः'। स धनस्वामी यदि जडः पोगण्डश्च न भवति तदीयदर्शनविषये च तद्धनं भुज्यते तदा स्वामिनो ब्यवहारेण नष्टं ततो भोक्तरेव तद्धनं भवति॥ १४८॥

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः ।

राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणञ्यति ॥ १४९ ॥

आधिरिति ॥ बन्धः, ग्रामादिमर्यादा, बालधनं, निक्षेपः 'वासनस्थम-नाख्याय समुद्धं यन्निधीयते' इति नारदोक्त उपनिधिलक्षणः, दास्यादिख्यियः. राजश्रीत्रियधनानि. उक्तेन दशवर्षभोगेन न स्वामिनो नज्यन्ति न भोक्तः स्वेत्वं भजन्ते ॥ १४९ ॥

यः खामिनाऽननुज्ञातमाधि भुद्धेऽविचक्षणः।

तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

यः स्वामिनेति ॥ यो बच्चा दत्तं बन्धं स्वाम्यनुज्ञान्यतिरेकेण मुर्खी निह्नवेन भुक्के तेन तस्य भोगस्य संग्रुचार्थमध्विद्धिमीक्तव्या। बलभोगेन त भोक्तन्ये बलादिधसञ्जाने सति सर्ववृद्धिलाग एवोक्तः ॥ १५० ॥

### क्रसीदवृद्धिर्द्वेगुण्यं नात्येति सकृदाहुता ।

धान्ये सदे ठवे वाद्ये नातिकामति पश्चताम् ॥ १५१ ॥

कुसीदेति ॥ वृच्चा धनप्रयोगः कुसीदं, तत्र या वृद्धिः सकुद्गृहीता सा द्वेगुण्यं नातिकामति मूलवृद्धिद्विगुणैव भवति । प्रतिदिनप्रतिमासादिप्राद्विति तात्पर्यम् । धान्ये पुनर्वृद्धादिप्रयुक्ते, सदे वृक्षफले, ल्यत इति लव कर्णा लोम तिसान्, वाहनीये च बलीवर्दादो प्रयुक्ते चिरेणापि कालेन मूलधान्या-दिना सह पञ्चगुणतां नातिकामेदिति ॥ १५१ ॥

#### कृतानुसाराद्धिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति । क्रसीदपथमाहस्तं पश्चकं शतमहेति ॥ १५२ ॥

कृतानुसारादिति ॥ कृता या वृद्धिर्द्धिकं त्रिकमिति शास्त्रेण वर्णकमेणोक्ता तस्याः शास्त्रानुसाराद्धिका व्यतिरिक्ता कृता । अतोऽन्या वृद्धिरकृतेत्यर्थः । किंतु कृतापि वृद्धिर्वर्णक्रमेण द्विकत्रिकशतादिरूपैर्या मासे प्राह्या । तथा च विष्णुः—'वृद्धि दद्यरकृता अपि वत्सरातिक्रमे यथाभिहिता वर्णक्रमेण' द्विकत्रिकादिनेत्यर्थः । किं त्वकृतवृद्धावपि विशेषान्तरमाह-कुत्सितात्प्रसर-

#### पाठा॰—1 तद्रव्यमहीते. 2 सक्तदाहिता.

१ नन्दनस्त-'आध्युपनिध्योः स्वामिना प्राप्तव्यकालात् प्राचीनमोगविषयोऽयमपनादःः अन्यया-''आधिश्रोपनिधिश्रोमौ न कालात्ययमहैतः'' (८।१४५) इत्यनेन विरोधप्रसंगः स्वात' इत्याह

त्ययं पन्था इति कुसीद्पथः । अयमधमणीं यच्छूद्रविषयोक्तं पञ्चकं शतं दिजातेरिप गृह्णातीत्येवं कुत्सितः पन्थाः । पूर्वोक्ताद्धम्यं वृद्धिकराद्पकृष्ट इत्येवं मन्वाद्य आहुः । इयं चाकृता वृद्धिरुद्धारविषये याचनादूर्ध्वं बोद्धच्या । तदाह कात्यायनः—'प्रीतिदत्तं न वर्धेत यावन प्रतियाचितम् । याच्यमानं न दत्तं चेद्वध्वेते पञ्चकं शतम्' ॥ १५२ ॥

# नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्।

चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३॥ नातीति॥ ममैकस्मिन्मासि मासद्वये मासत्रये वा गते तस्य वृद्धिं विगण्ययेकदा दातव्येत्येवंविधनियमपूर्वकवृद्धिप्रहणमुत्तमणः संवत्सरपर्यन्तं कुर्यात्। नातिकान्ते संवत्सरे नियमस्य वृद्धिं गृह्धीयात्। नच शास्त्रादृष्ट्यामुक्ताधर्यं-दिकत्रिकशताद्यधिकां गृह्धीयात्। अधमेत्ववोधनाथों निषेधः। चक्रवृद्धादु-चतुष्ट्यीं चाशास्त्रीयां न गृह्धीयात्। तासां स्वरूपमाह वृहस्पतिः—'कायिका कायसंयुक्ता मासप्राह्या च कालिका। वृद्धेवृद्धिश्रक्रवृद्धिः कारिता ऋणिना कृता'। तत्र चक्रवृद्धिः स्वरूपेणेव गिर्हेता। कालवृद्धिस्त द्विगुणाधिकप्रहणेन कायिका चातिवाहदोहादिना कारिता। ऋणिकेन याऽनापत्काल एवोत्तमर्ण-पीडया कृता। चतस्त्रोऽपि वृद्धीरशास्त्रीया न गृह्धीयात्। तथा च वृहस्पतिः—'भागो यद्विगुणादूर्थ्यं चक्रवृद्धिश्च गृह्यते। पूर्णे च सोद्यं पश्चाद्वार्थुल्यं तद्वि-गिहितम्'। कात्यायनः—'ऋणिकेन कृता वृद्धिरिधका संप्रकित्यता। आप्रकालकृता नित्यं दातव्या कारिता तथा। सन्यथा कारिता वृद्धिनं दातव्या कर्यचन'॥ १५३॥

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः कियाम् । स दत्त्वा निर्जितां दृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥

ऋणं दातुमिति ॥ योऽधमणीं धनदानासामध्यीत्युनर्छेख्यादिकियां कर्तु-मिच्छेत्स निर्जितामुत्तमणीः स्वेत्वतयात्मसात्कृतां वृद्धिं दत्त्वा करणं लेख्यं पुनः कुर्यात् ॥ १५४ ॥

> अद्र्ययित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् । यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

अद्र्शियत्वेति ॥ यदि दैवगत्मा वृद्धिहरण्यमपि समये दातुं न शक्कोति तदा तहृहीत्वेव तत्रैव पुनः क्रियमाणे छेल्यादौ वृद्धिहरण्यादिशेषमारोप-येत्। यत्प्रमाणं चक्रवृद्धिघनं तदानीं संभवति तदातुमईति ॥ १५५॥

चऋर्द्धि समारूढो देशकालव्यवस्थितः।

अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाभ्रयात् ॥ १५६॥ चक्रबृद्धिमिति ॥ 'चक्रबृद्धि'शब्देनात्र चक्रबच्छकटादिमाररूपा वृद्धिर-

<sup>्</sup>रपाठा०-1 सत्यतया.

भिमता। चक्रवृद्धिमाश्रित उत्तमणों देशकालव्यवस्थितो यदि वाराणसीपर्यन्तं लवणादि शकटेन वहामि तदा ममेदं यद्धनं दातव्यमिति वेतनरूपदेशव्यवस्थितिः। यदि मासं यावद्वहामि तदा मासं यद्धनं दातव्यमिति कालव्यवस्थितिः। एवमभ्युपगतदेशकालनियमस्थो देशकालो देवादप्रयन्शकटादिना वहन् लाभरूपफलं सकलं न प्रामोति॥ १५६॥

अपि तु,—

#### समुद्रयानकुश्चला देशकालार्थदर्शिनः।

स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७॥ समुद्रेति ॥ स्थलपथजलपथयाने निपुणा इयदेशपर्यन्तमियत्कालपर्यन्त-मूझमाने सित एतावाँ ह्याभो प्रहीतुं युक्त इत्येवं देशलाभधनज्ञा वणिगादयो यां वृद्धिं तथाविषये चावस्थापयन्ति सैव तत्र व्यवस्था तत्राधिगमं धनप्राप्तिं प्रति त्रमाणम् ॥ १५७॥

### यो यस प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः । अदर्शयन्स तं तस्य यतेत स्वधनादणम् ॥ १५८ ॥

यो यस्येति ॥ यो मनुष्यो यस्य दर्शनाय प्रतिभूस्तिष्ठेत् धनदानकाले ममाय-मधमणों दर्शनीय इति स तं तस्मिन्काल उत्तमणस्यादर्शयंस्तद्धनं दातुं यतेत ॥

#### प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्। दण्डञ्जल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमहति ॥ १५९॥

प्रातिभाव्यमिति ॥ प्रतिभूत्वेन यद्यं धनं तत्प्रातिभीव्यं, वृथादानं परि-हासिनिमित्तं दण्डादिभ्यो देयत्वेन पित्राङ्गीकृतं, धृतिनिमित्तं सुरानिमित्तं च, दण्डं यद्देयं दण्डं, शुल्कं घष्टादिदेयं तद्वशेषं च पितृसंबन्धिनं पितरि सृते पुत्रो दातुं नार्हति ॥ १५९ ॥

#### दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्थात्पूर्वचोदितः । दानप्रतिभ्रवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

द्रीनेति ॥ सुरानिमित्तं च यहेयं दण्डं प्रातिभाष्यं न पुत्रो दातुमईतीति योऽयं प्र्वोपदेशः स दर्शनप्रतिसुवः पितुर्देयो होयः । दानप्रतिसुवि तु पितरि सृते पुत्रं ऋणं दापयेत् ॥ १६० ॥

#### अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् । पश्चात्प्रतिभ्रवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥

अद्ातरीति ॥ भदातिर दानप्रतिभुवोऽन्यस्मिन्दर्शनप्रतिभुवि प्रत्यप्रति-भुवि वा विज्ञातप्रातिभान्यकारणमूखशोधनोचितधनप्रदृणं यस्य तस्मिनमृते दातोत्तमणः पश्चात्केन हेतुना धनं प्राप्तुमिच्छेत् ॥ १६१ ॥

#### पाठा०-1 प्रयच्छेत्स्वधनादणम्.

श्रतिभाष्यं नाम विश्वासार्थं पुरुषान्तरेण सह समयः; तच त्रिविथम्—'दर्शने
 अस्ये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते । आचौ त विषये दाप्यावितरस्य स्ता अपि' इत्युक्तम्

प्रतिभुवो सतत्वात्तत्वुत्रस्य चादानप्रतिभूत्वेनादातृत्वादित्वाशङ्काह— निरादिष्ट्यनश्रेतु प्रतिभूः स्याद्लंघनः ।

स्वधनादेव तदद्यानिरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥

निरादिष्टेति ॥ असौ द्र्शनप्रतिभूः प्रत्ययप्रतिभूवां यदि निरादिष्टधनोऽधम-णेन निस्ष्टधनो यावता धनेनासौ प्रतिभूत्तच्छोधनपर्याप्तधनत्तदारमधनादेव तद्दनं निरादिष्टोऽत्र निरादिष्टधनपुत्रो लक्षणयोच्यते । ऋणसुत्तमणीय द्या-दिति शास्तसंप्रदायः ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तार्वाध्यधीनैर्वालेन स्थविरेण वा । असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥ १६३ ॥

मत्तोनमत्ति॥ मद्यादिना मत्तः, उन्मत्तः, व्याध्यादिपीडितोऽपहतो-ऽस्वतन्त्रवालवृद्धैरस्वतन्नत्वेन पितृश्चातृनियुक्तादिव्यतिरेकेण कृत ऋणादान-व्यवहारो न सिध्यति॥ १६३॥

सत्या न भाषा भवृति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।

विश्वेद्भाष्यते धर्मानियताद्यावहारिकात् ॥ १६४ ॥ र्थं सत्येति॥ 'इदं मयानुष्टेयम्'इत्येवमादिका भाषा लेख्यादिना स्थिरीकृतापि यदि शास्त्रीयधर्मात्पारंपर्यात्सद्यवहाराच बहिर्भाण्यते सा सत्या न भवति वद्यों नानुष्टेयः॥ १६४॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिप्रहम्।

यत्र वाप्युपिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥

योगाधमनेति ॥ 'योग'शब्द्रछलवाची । छलेन ये बन्धकविक्रयदानप्रति-ग्रहाः क्रियन्ते न तस्वतोऽन्यत्रापि निक्षेपादौ यत्र छग्न जानीयात् । वस्तुतो निक्षेपादि न कृतं तस्ववं निवर्तते ॥ १६५ ॥

प्रहीता यदि नष्टः स्थान्केटुम्बार्थे कृतो व्ययः ।

दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तेरपि स्वतः ॥ १६६ ॥

ग्रहीतिति ॥ ऋणमहीता यदि मृतः स्यात्तेन पूर्वविभक्ताविभक्तसर्वेश्रातृ-कुटुम्बसंवर्धनार्थं तदणन्ययः कृतस्तदा तदणं विभक्तेरविभक्तेश्च स्वधनादात-न्यम् ॥ १६६ ॥

> कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् । खदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायात्र विचालयेत् ॥ १६७ ॥

कुदुम्बार्थ इति ॥ तद्देशस्ये देशान्तरस्ये वा स्वामिनि स्वामिसंबन्धिकुदुम्ब-व्ययनिमित्तं दासोऽपि यदणादानादि कुर्यात्स्वामी तत्त्रथाप्यनुमन्येत ॥ १६७॥

#### वलाइत्तं वलाद्धक्तं वलाद्यचापि लेखितम् । सर्वान्वलकृतानर्थानकृतान्मनुरत्रवीत् ॥ १६८ ॥

वलाइ त्तमित्यादि ॥ बलाइत्तमप्रतिप्राह्यादि, बलाद्धक्तं भूम्यादि, बला-छेखितं चऋवृद्धिपत्रादि । प्रदर्शनं चैतत् । सर्वान्बलकृतान्व्यवहारान्निवर्तनी-यान्मनुराह ॥ १६८ ॥

> त्रयः परार्थे क्विक्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् । चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥ १६९ ॥

त्रयः परार्थ इति ॥ साक्षिणः प्रतिभूः कुलं च धर्मार्थन्यवहारद्रष्टारस्रय एते परार्थं क्रेशमनुभवन्ति तस्माइलेन साक्ष्यं प्रातिभाग्यं न्यवहारेक्षणं च नाङ्गी-कारियतन्याः । चत्वारः पुनः ब्राह्मणोत्तमवर्णवणिप्राजानः परार्थं दानफलो-पादानऋणद्रन्यापंणविकयन्यवहारेक्षणरूपं कुर्वाणा धनोपचयं प्राप्नुवन्ति । तस्माद्विप्रो दातारं, आह्योऽधमणं, वणिक् केतारं, राजा न्यवहतरं बलेन न प्रवर्तयेत् । पूर्वश्लोकाभिहितबलनिषेधस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ १६९ ॥

अनादेयं नाददीत परिश्वीणोऽपि पार्थिवः । न चादेयं समृद्धोऽपि सक्ष्ममप्यर्थम्रत्सृजेत् ॥ १७०॥

अनादेयमिति ॥ क्षीणघनोऽपि राजा नाग्राह्यमर्थं गृह्वीयात् । समृद्धोऽपि स्वल्पमपि प्राह्मं धनं न त्यजेत् ॥ १७०॥

यसात्,-

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् । दौर्वर्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१॥ अनादेयस्येति ॥ अप्राद्यप्रहणाच्छास्त्रीयप्राद्यपरित्यागाच राज्ञः पौरै-रसामर्थ्यं ख्याप्यते । ततश्च स प्रेत्याधर्मेण नरकादिभोगादिहाकीर्त्या विनश्यति ॥ १७१॥

> खादानाद्वर्णसंसैर्गादबलानां च रक्षणात् । वर्लं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च-वर्धते ॥ १७२॥

स्वादानादिति॥ न्याय्यधनप्रहणाद्वर्णानां सजातीयैः शास्त्रीयपरिणयनादि-संबन्धात् । यद्वा वर्णसंसर्गाद्वर्णसंकरादित्यप्रापि रक्षणादिति योजनीयम् । प्रजानां दुर्बेळानां बळवच्चोऽपि रक्षणात्सामर्थ्यमुपजायते नृपस्य । तत्रश्चा-साविहळोकपरळोकयोश्च वर्धते ॥ १७२ ॥ यत एवम्,---

तसाद्यम इव खामी खयं हित्वा प्रियाप्रिये । वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितकोघो जितेन्द्रियः ॥ १७३॥

तसाद्यम इति ॥ तसाद्यम इव राजा वशीकृतकोधो जितेन्द्रियः स्वकी-वेऽपि प्रियाप्रिये परित्यज्य यमस्य चेष्टया सर्वेत्र साम्यरूपया वर्तेत ॥ १७३ ॥

> यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः । अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

यस्त्वधर्मेणेति ॥ यः पुनर्नृपतिलोंभादिन्यवहारादधर्मेण न्यवहारदर्श-नादीनि कार्याणि कुरुते तं दुष्टचित्तं प्रकृतिपौरविरागात्क्षिप्रमेव शत्रवो निगृ-ह्यन्ति ॥ १७४ ॥

> कामकोधौ तु संयम्य योऽर्थान्धर्मेण पश्यति । प्रजास्तमनुवर्तन्ते सम्रद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥

कामकोधाविति ॥ यो राजा रागद्वेषो विहाय धर्मेण कार्याण निरूप-यति तं राजानं प्रजा भजन्ते समुद्रमिव नद्यः । नद्यो यथा समुद्रान्न निव-तैन्ते तेनैवैकतां यान्ति प्रजा अपि तस्मानृपादनिवर्तिन्यस्तदेकताना भव-न्तीति साम्यम् ॥ १७५॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे। स राज्ञा तचतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ १७६॥

यः साधयन्तमिति ॥ योऽधमणों राजवल्लभोऽहमिति गर्वादुत्तमणै स्वेच्लया धनं साधयन्तं नृषे निवेदयेत् स राज्ञा ऋणचतुर्थभागं दण्ड्यः, तस्य तद्दनं दापनीयम् ॥ १७६॥

कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः । समोऽत्रकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७७ ॥

कर्मणापीति ॥ समानजातिरपकृष्टजातिश्वाधमणों धनाभावे सति स्वजा-त्यनुरूपकर्मकरणेनापि समं द्भुर्यात् । निवृत्तोत्तमणीधमणेन्यपदेशतया धनि-कसममात्मानं कुर्यात् । समजातिरत्र बाह्मणेतरः कर्मणा क्षत्रविद्शुद्धान्समा-नजातीयान् 'द्दीनांस्तु दापयेत्' इति कात्यायनेन विशेषितत्वात् । श्रेयान्युन-रुत्कृष्टजातिनं कर्म कारयितन्यः किंतु शनैःशनैर्यथासंभवं तद्धनं द्द्यात् ॥१७७॥

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् । साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥

साक्ष्यादिप्रमाणेन निर्णीतार्थानि कार्याणि विप्रतिपत्तिखण्डनेन राजा समी-कुर्यात् ॥ १७८ ॥

> कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि । महापक्षे धनिन्यार्थे निक्षेपं निक्षिपेद्धुधः ॥ १७९ ॥

कुळज इति ॥ सत्कुलप्रस्ते, सदाचारवति, धर्मवेदिनि, सत्याभिधायिनि, बहुपुत्रादिपरिजने, ऋजुप्रकृतौ मनुष्ये व्यभिचाराभावाब्निसेपं स्थापयेत् १७९

> यो यथा निश्चिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः । स तथैव ग्रहीतच्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥

यो यश्चेति ॥ यो मनुष्यो येन प्रकारेण मुद्रारहितं समुद्रं वा ससाक्षि-कमसाक्षिकं वा यमर्थं सुवर्णादि यस्य हस्ते निक्षिपेत्सोऽर्थस्तेन निक्षेप्त्रा तथैव प्राह्यः । यस्माचेन प्रकारेण समर्पणं तेनैव प्रकारेण प्रहणं न्याष्यम् । समुद्र-स्थापितसुवर्णादेनिक्षेप्ता स्वयमेव मुद्रां भिन्वा यदा वदति 'ममेदं तुलयित्वा समर्पय' इत्यभिधानं दण्डाचर्थम् ॥ १८० ॥

> यो निश्चेषं याच्यमानो निश्चेष्ठुर्न प्रयच्छति । स याच्यः प्राड्विवाकेन तिश्चेष्ठुरसंनिधौ ॥ १८१ ॥

यो निक्षेपिमिति ॥ यः पुरुषो देहि मे निक्षिप्तं हिरण्यादि द्रव्यमित्येवं निक्षेप्त्रा प्रार्थ्यमानस्तस्य यदा न समर्पयित तदा निक्षेप्त्रा ज्ञापिते प्रािद्ववा-केन तस्य निक्षेपुरसंनिधौ याचनीयः ॥ १८१ ॥

किं कृत्वा किं याचनीय इत्याह-

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिवीयोरूपसमन्वितः । अपदेशेश्व संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

साक्ष्येति ॥ प्रथमनिक्षेपे साक्ष्यभावे स्वकीयसभ्येश्वारपुरुषैरतिकान्त-बाल्यैः सौम्यादिभिर्नृपोपद्रवादिन्याजाभिधायिभिर्हिरण्यानि तत्त्वेन तत्र निक्षेपयित्वा तैरेव चारपुरुषैः स निक्षेपधारी प्राड्विवाकेन चारपुरुषनिश्चिस-सुवर्णं याच्यः ॥ १८२ ॥

> स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् । न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥

स यदीति ॥ स निक्षेपधारी यथान्यसं समुदं वा यथाकृतं कटकमुकुटा-धाकारेण रचितं यदि तथैव प्रतिपद्येत 'सत्यमस्ति गृह्यताम्'इति तदा परेण पूर्वनिक्षेप्ता प्राड्विचाकवेदिना यज्ञिक्षिप्तमित्यभियुज्यते तत्र न किंचिदस्तीति कातन्यम् ॥ १८३॥

#### · तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि । उभौ निगृद्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४॥

तेषामिति ॥ तेषां चारपुरुषाणां यिक्त क्षिप्तं हिरण्य यथान्यस्तं यदि तक्ष दृद्याचदा द्वावपि निक्षेपौ ज्ञापकचारसंबिन्धनौ संपीट्य दापनीयः स्यादित्यंवं-रूपा धर्मस्य धारणा निश्चयः । 'यो निक्षेपम्' (८११८१) इत्यादिश्लोकचतु-ष्टयस्य चेदश एव पाठकमो मेधातिथि-मोजदेवादिभिनिश्चितः । गोविन्दराजेन तु 'साह्यभावे प्रणिधिमिः' (८११८२) इति श्लोकोऽन्त एव पठितः, तत्र च नार्थसंगितः न वा बृद्धाञ्चायदरः ॥ १८४॥

#### निक्षेपोपनिधी निर्सं न देयौ प्रत्यनन्तरे । नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥

निश्चेपेति ॥ निश्चिप्यत इति निश्चेपः, मुद्राङ्कितमगणितं वा यश्चिधीयते स उपनिधिः । त्राह्मणपरित्राजकवदुपदेशभेदः । तौ निश्चेपोपनिधी निश्चेसर्थुपनि-धातरि जीवति प्रत्यनन्तरे तदीयपुत्रादौ तदनन्तरे तद्धनाधिकारिणि कदाचित्र निश्चेपधारिणा देयौ । यतस्तस्य पुत्रादेरपि पितुरसमर्पणविनाशे तौ निश्चेपो-पनिधी नश्यतः । पुत्रादेः पितुश्च पुनरविनाशे समर्पणे च कदाचिद्विनाशिनौ स्यातां । तस्मादनर्थसंदेहान्न देयौ ॥ १८५ ॥

#### खयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।

न स राज्ञा नियोक्तव्या न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥ १८६॥ स्वयमेवेति ॥ निक्षेप्तुर्भ्वत्य निक्षेपधारी तद्धनाधिकारिण पुत्रादौ तदन-भ्यार्थितः स्वयमेव यः समर्पयति स राज्ञा निक्षेप्तुः पुत्रादिभिर्वान्यदिष स्विष्ठितमस्तीति नाक्षेप्तव्यः ॥ १८६ ॥

यदि कथंचिद्धान्तिः स्वात्तदा,---

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं ग्रीतिपूर्वकम् । विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥

अच्छलेनेवेति ॥ तत्रस्थे धनान्तरसद्भावलक्षणवाक्छलादिपरिहारेणैव जीतिपूर्वकं निश्चिनुयाञ्चतु झिबित दिन्यादिदानेन । तस्य निश्चेपधारिणः शील-मवेक्ष्य धार्मिकोऽयमिति ज्ञात्वा सामप्रयोगेण निश्चिनुयात् ॥ १८७ ॥

निश्चेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने । समुद्रे नामुयार्तिकचिद्यदि तसान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥ निश्चेपेष्विति ॥ सर्वेषु निश्चेपेष्वपिकयमाणेष्वेव 'साह्यभावे' (८।१८२) इत्यादिपूर्वोक्तविधिर्निर्णयसिद्धौ स्थात् । मुद्रितादौ पुनस्तस्य निस्नेपधारी यदि प्रतिमुद्रादिना न किमप्यपहरेत्तदा तस्मिन्नपि तेन किं दूषणं प्राप्नुयात् १८८

चौरैहतं जलेनो ढमग्निना दग्धमेव वा ।

न द्याद्यदि तसात्स न संहरति किंचन ॥ १८९ ॥ चौरैरिति ॥ चौरैर्भुषितं, उदकेन देशान्तरं प्रापितं, अग्निना वा दुग्धं निक्षेपं निक्षेपधारी न द्यात् । यदि स्वयं तसान्न किंचिद्प्यपहरति ॥१८९॥

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ।

सर्वेरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्वैव वैदिकै: ॥ १९० ॥

निक्षेपस्येति ॥ निक्षेपस्यापह्नोतारमनिक्षिप्य याचितारं सर्वैः सामादिभि-रुपायैनैदिकैश्च शपथैरग्निहरणादिभिर्नृपो निरूपयेत् ॥ १९०॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिश्चिप्य याचते।

तावुभी चौरवच्छास्यो दाप्यो वा तत्समं दमम् ॥ १९१॥ यो निश्लेपमिति ॥ निश्लिष्ठधनं यो न समर्पयति, यश्चानिश्लिसं प्रार्थयति तौ हो सुवर्णसुकादौ महति विषये चौरवदण्ड्यो । स्वल्पविषये ताम्रादौ तत्समं दण्डनीयो ॥ १९१॥

> निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम् । तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

निक्षेपस्येति ॥ निक्षेपापहारिणं निक्षिससमधनं दण्डयेत् । समशिष्टत्वाद-निक्षिप्य याचितारमपि। न च पुनरुक्तिः । महत्यपराधे बाह्यणेतरस्य चौरवदिति पूर्वश्चोकेन शारीरदण्डस्यापि प्राप्तौ तिब्रवृत्त्यर्थमिदम्, दापयेदिति धनदण्ड-नियमात् । नचानेन पूर्वश्चोकवैयर्थ्यम् । अस्य प्रथमापराधविषयत्वात्पूर्वोके चाभ्यासे चौरोक्तमहासाहसादिधनदण्डावरोधकत्वात् । उपनिधिर्भुद्भादिचि-ह्वितं निहितधनं तस्यापहर्तारं कथितविशेषणं राजा दण्डयेत् ॥ १९२ ॥

उपघाभिश्र यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः।

ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधेर्वधैः ॥ १९३ ॥

उपधाभिरिति ॥ 'राजा त्वयि रुष्टस्तसाहवां रक्षामि, मम धनं देहि' धनधान्यादिलोभोपकरणं वानृतमिधाय छद्मभिर्यः परद्रव्यं गृह्णाति स छद्म-धनसहकारिसहितो बहुजनसमक्षं करचरणिशरदछेदादिभिर्नानाप्रकारैर्वधोपायै राज्ञा हन्तव्यः ॥ १९३ ॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसंनिधौ । तावानेव स विज्ञेयो विज्ञुवन्दण्डमहित ॥ १९४॥ निक्षेप इति ॥ यः सुवर्णादिर्यावत्परिमितो येन साक्षिसमक्षं निक्षेपः कृत- स्तत्र परिमाणादिविप्रतिपत्तौ साक्षिवचनात्तावानेच विज्ञातन्यः। विप्रतिपत्तिं कुर्वेत्रप्येतदुक्तानुसारेण दण्डं दाप्यः॥ १९४॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ।

मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥

मिथो दाय इति ॥ रहासे येन निक्षेपोऽपितो निक्षेपधारिणा च रहस्येव गृहीतः स निक्षेपो रहस्येव प्रत्यंणीयः । न प्रत्यंणे साक्ष्यपेक्षा । यसात् 'येनैव प्रकारेण दानं तेनैव प्रकारेण प्रत्यंणं दातन्यम्' इति श्रवणान्निक्षेपधारि-णोऽयं नियमविधिः । 'यो यथा निक्षिपेद्धस्ते' (८११८०) इति तु निक्षेप्तुर्निय-मार्थ, 'श्रहीतन्य' (८११८०) इति श्रवणात् । अतो न पौनरुत्त्यम् ॥ १९५॥

निश्चिप्तस्य धनसैवं श्रीत्योपनिहितस्य च।

राजा विनिर्णयं कुर्योदक्षिण्वन्न्यासघारिणम् ॥ १९६ ॥ निक्षिप्तस्येति ॥ राज्ञा निक्षिप्तस्य धनसामुद्रस्य मुद्रादियुतस्य नोपनिधि-रूपस्य तथा प्रीत्या कतिचित्कालं भोगार्थमर्पितस्यानेनोक्तप्रकारेण न्यस्तधन-धारिणमपीडयन्निर्णयं कुर्यात् ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।

न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७॥

विकीणीत इति ॥ बखामी यः खामिना चाननुमतः परकीयं इन्धं विकीणीते वस्तुतश्रीरमचौरमात्मानं मन्यमानं तं साक्षित्वं न कारयेत् । न कुत्रचिद्पि प्रमाणीकुर्यादित्ययः ॥ १९७ ॥

अवहायों भवेचैव सान्वयः षट्शतं दमम्।

निरन्त्रयोऽनपसरः प्राप्तः स्याचौरिक िल्वपम् ॥ १९८ ॥ अवहार्य इति ॥ एष परस्विकयी यदि स्वामिनी आत्रादिरूपत्वेन सान्त्रयः संबन्धी भवति तदा पर पणशतान्यवहार्यो दण्डनीयः । यदि पुनः स्वामिनः संबन्धी न भवति, अनपसरश्च स्वात् , अपसरत्यनेनास्यात्सकाशाद्धन-मित्यपसरः प्रतिग्रहक्रयादिः स यस्य स्वामिसंबन्धिपुत्रादेः सकाशाक्षास्ति तदा चौरसंबन्धि पापं प्रामोति । तद्वहण्डनीय इत्यर्थः ॥ १९८ ॥

अखामिना कृतो यस्तु दायो विकय एव वा।

अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥ अस्वामिनेति ॥ अस्वामिना पत्कृतं यहत्तं विक्रीतं वा तदकृतमेव बोद्ध-च्यम् । व्यवहारे यथा मर्यादा कृता तथा कृतं न भवतीत्वर्थः ॥ ३९९ ॥

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्रचित्। आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः॥३०८॥ संभोग इति ॥ यस्मिन्वस्तुनि संभोगो विश्यते क्याविकास्त्रा

२८ म० स्मृ०

नास्ति तत्र प्रथमपुरुषगोचर आगम एव प्रमाणं न संभोग इति शास्त्र-मर्यादी ॥ २०० ॥

## विकयाद्यो धनं किंचिद्वह्वीयात्कुल्संनिधौ।

ऋयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥ विक्रयादिति ॥ विक्रीयतेऽस्मिन्निति विक्रयदेशो विक्रयः, ततो यक्त्रेयधनं किंचिद्यवहर्तृसमूहसमक्षं कीयतेऽनेनेति कयो मूल्यं तेन यसादृद्धीयात् । अतो न्यायत एवास्वामिविकेतृसकाकात्क्रयणाद्विशुद्धं धनं लभते ॥ २०१ ॥

### अथ मूलमनाहाये प्रकाशक्रयशोधितः।

अद्ण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥ अथिति ॥ अथ मूलमस्वामी विकेता मरणाहेशान्तरादिगमनादिना वा हर्नु शक्यते प्रकाशक्रयणे चासौ निश्चितस्वदा दण्डान्द एव केता राज्ञा मुच्यते । क्षत्र च नष्टधनस्वामी च यदस्वामिना विकीतं द्रव्यं तत्केतुईस्ताह्यस्यते । अत्र च विषयोऽर्धमूल्यं केतुर्दस्वा स्वधनं स्वामिना प्राह्यम् । तदाह बृहस्पतिः— 'वणिग्वीथीपरिगतं विज्ञातं राजपूरुषेः । अविज्ञाताश्रयात्कीतं विकेता यत्र वा मृतः ॥ स्वामी दस्वार्धमूल्यं तु प्रगृह्णीयात्स्वकं धनम् । अर्थं द्वयोरपहतं तत्र स्थामवहारतः' ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विकयमहीति । न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

नान्यदिति ॥ कुङ्कुमादि द्रव्ये कुसुम्भोदिना मिश्रीकृत्य न विकेतव्यम् । नचासारं सारमित्यभिधाय । नच तुलादिना न्यूनम् । न परोक्षावस्थितम् । न रागादिना स्थगितरूपम् । अत्रास्तामिविकयसादृश्यादस्वामिविकये दण्ड प्व स्यात् ॥ २०३ ॥

> अन्यां चेद्दर्भयित्वान्या वोद्धः कन्या प्रदीयते । उभे त एकशुल्केन वहेदित्यत्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

अन्यामिति ॥ ग्रुक्कदेयां ग्रुक्कन्यवस्थाकाले निरवद्यां दर्शयित्वा यदि सावद्या वराय दीयते तदा द्वे अपि कन्ये तेनैवैकेन ग्रुक्केनासौ वरः परिण-येदिति मनुराह । ग्रुक्कप्रहणपूर्वककन्याया दानस्य विक्रयरूपत्वादर्थकय-विक्रयसाधर्म्येणास्यात्राभिधानम् ॥ २०४॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमेथुना ।
पूर्व दोषानभिरूयाप्य प्रदाता दण्डमहिति ॥ २०५ ॥
नोन्मत्ताया इति ॥ उन्मत्तायास्था कुष्ठवसा या चानुभूतमेथुना तस्था

१ 'आधि: सीमा' (८।१४९) इत्यादिनोक्ता अष्टी भोगमात्रेण भोक्तुर्न स्वत्वं भजनत इत्युक्तं, तत्रायं शास्त्रनिर्णय इत्याशयः; तथा चोक्तम्-'आगमोऽत्यिधको भुक्तेविना क्रिक्तमण्यतादः। व्यागमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो' इति.

बाह्यादिविवाहात्पूर्वमुनमादादीन्दोषान्वरस्य कथयित्वा दण्डाहीं न भवति । तेनाकथने दण्ड्य इति गम्यते । 'यस्तु दोषवर्ती कन्यां' (८।२२४) इति वस्यति ॥ २०५॥

भय संभूयसमुत्थानमाह-

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् । तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽश्चः सहकर्तृभिः ॥ २०६ ॥

ऋत्विगिति ॥ यहे कृतवरण ऋत्विक् यदि किंचित्कर्मे कृत्वा व्याध्या-दिना कर्मे त्यजति तदा तत्येतरिविग्भिः पर्यालोच्य कृतानुसारेण दक्षिणांशो देयः ॥ २०६ ॥

> दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् । कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥

दक्षिणास्त्रिति ॥ माध्यन्दिनसदनादौ दक्षिणाकाले दक्षिणासु दत्तासु व्याध्यादिना कर्म परित्यजन तु शाख्यात्स कृत्स्त्रमेव दक्षिणाभागं लभेत । कर्मशेषं प्रकृतमन्येन कारयेत् ॥ २०७ ॥

> यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः । स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

यसिन्निति ॥ यसिन्कर्मण्याधानादौ अङ्गमङ्गं प्रति या दक्षिणा यत्संबन्धेक श्रुताः स्युः स एव ता भाददीत न तत्तद्भागमात्रं सर्वे विभज्य गृद्धीरश्चिति संशयः ॥ २०८ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह-

रथं हरेत चाष्वर्धुर्बह्याधाने च वाजिनम् । होता वापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः ऋये ॥ २०९ ॥

रथमिति ॥ केषांचिच्छाखिनामाधानेऽध्वर्यवे रयो देयत्वेनासायते, ब्रह्मणे वेगवानश्वः, होत्रे चाश्वः, उद्गात्रे सोमकयवद्दनशकटम्, अतो न्यवस्थास्नान-सामर्थ्याद्या दक्षिणा यत्संबन्धत्वेन श्रूयते स एव तामाददीत ॥ २०९ ॥

संप्रतिपत्तिविधाने दक्षिणाविभागमाह-

सर्वेषामर्धिनो मुरूयास्तदर्धनार्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्रतुर्थाशाश्र पादिनः ॥ २१० ॥

सर्वेषामिति ॥ 'तं शतेन दीक्षयित' इति श्र्यते । तत्र सर्वेषां षोडशानामृ-त्विजां मध्ये ये मुख्या ऋत्विजो होत्रध्वश्चेब्रह्मोद्वातारः समप्रदक्षिणायासेऽध-हरा श्रष्टचत्वारिंशद्गोभाजो भवन्ति । अत एव कात्यायनेन 'यद्वादशाद्येभ्यः' इति प्रत्येकं द्वादशगोदानं विहितम् । यद्यपि शतस्यार्थं पञ्चाशक्वति तथापीहः न्यूनार्धग्रहणेनापि इमेऽर्धिन उच्यन्ते सामीप्यात् । अपरे मैत्रावरुणप्रतिप्रस्थान्तृत्राह्मणार्चग्रहोत्राह्मणार्धग्रहणेनार्धिन उच्यन्ते । कृतीयिनोऽच्छावाङ्नेष्ट्रप्रीध्रप्रतिहर्तारस्ते मुख्यर्त्विग्गृहीतस्य तृतीयमंशं लभन्ते । पादिनस्तु प्रावस्तुदुन्नेतृपोतृसुन्नह्मण्या एते मुख्यर्त्विग्गृहीतस्य चतुर्थमंशं लभन्ते । एतच 'षद षद द्वितीयेभ्यश्चतस्यः चतस्त्रश्च तृतीयेभ्यस्तिस्रस्रम्यः तुर्थभ्यः' इति सूत्रयता कात्यायनेम स्फुटीकृतम् ॥ २१०॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः । अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

संभूयेति ॥ मिलित्वा गृहनिर्माणादीनि स्वकर्माणि लोके स्थपतिस्त्रधार्या-दिभिश्र मनुष्यैः कुर्वेद्विरनेन यज्ञदक्षिणाविध्याश्रयणेन विज्ञानव्यापाराच्ये-क्षया भागकस्पना कार्या ॥ २११ ॥

इदानीं दत्तानपकर्माह-

धर्मार्थं येन दत्तं स्थात्कसमैचिद्याचते धनम्।

पश्चाच न तथा तत्सान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥ धर्मार्थमिति ॥ येन यागादिकर्मार्थं कसौविद्याचमानाय धनं दत्तं प्रतिश्चतं वा, पश्चाच तद्धनमसौ यागार्थं न विनियुक्तीत तदा तद्दतमपि धनं ब्राह्मं, प्रतिश्चतं च न देयम् । यदाह गौतमः (गौ. स्ट. ५१२)-'प्रतिश्चत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात'॥ २१२॥

यदि संसाधयेत्ततु दर्पाङ्घोभेन वा पुनः ।

राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्थात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥ यदीति ॥ यदि तद्यमस्ते गृहीत्वा लोभादहंकाराद्वा न स्वजित, प्रतिश्चतं वा धनं बलेन गृह्णाति तदा तस्य चौर्यपापस्य संग्रुचर्थं राज्ञा स्वर्णं दण्डं दापनीयो भवति ॥ २१३ ॥

दत्तसौषोदिता धम्या यथावदनपिक्तया । अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपिक्रयाम् ॥ २१४ ॥ दत्तस्येति ॥ एतदत्तसाप्रतिपादनं धर्मादन्पेतं तदुक्तम् । अतोऽनन्तरं अतेरसमर्पणादिकं वक्ष्यामि ॥ २१४ ॥

भृतो नार्तो न कुर्याचो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।

ं स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टो न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५॥
भृत इति ॥ यो भृतिपरिकीतो न्याध्यपीडितो यथानिक्षितं कर्माहंकारात्र
कुर्वास्य कर्मानुक्षेण सुवर्णादिकृष्णलान्यष्टो दण्डनीयः । वेतनं चास्य न

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्ययामापितमादितः । स दीर्घसापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥

आर्त इत्यादि ॥ यदा व्याध्यादिपीडया क्मी न करोति स्वस्थः सन् ग्राह-म्मापितं ताहक्क्मी कुर्याद्वेतनं च चिरकालादपि लभेतैव ॥ २१६ ॥

> यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् । न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥

यथोक्तमिति ॥ यत्कर्म यथाभाषितं पीडितोऽन्येन न कारयेत् , सुस्यो वा न कुर्याञ्चापि कारयेत्तस्य किंचिच्छेषस्यापि कृतस्य कर्मणो वेतनं न देयम् ॥२१७॥

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः।

अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि धर्म समयमेदिनाम् ॥ २१८ ॥ एष धर्म इति ॥ एषा व्यवस्था वेतनादानास्यकर्मणो निःशेषणोक्ता । श्वतोऽनन्तरं संविद्यातिक्रमकारिणां दण्डादिव्यवस्थां वदिष्यामि ॥ २१८ ॥

> यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेत्ररो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

य इति॥ 'ग्राम-देश'शब्दाभ्यां तद्वासिनो छक्ष्यन्ते। सङ्घो वणिगादिसमूहः। इदमसाभिः कर्तव्यं परिहार्यमिलेवंरूपं संकेतं सत्यादिश्वपथेन कृत्वा तन्मध्ये यो नरो लोभादिना निष्कामेत्तं राजा राष्ट्राश्चिवांसयेत्॥ २१९॥

निगृद्य दापयेचैनं समयव्यभिचारिणम् । चतुःसुवर्णान्यण्निष्कां इछतमानं च राजतम् ॥ २२० ॥

निमृह्यति ॥ अथ चैनं संविद्यतिक्रमकारिणं निवोध्य चतुरः सुवर्णान्यण्नि-क्वान्मत्येकं चतुःसुवर्णपरिमितान् राजतं च शतमानं विशलधिकरक्तिकः-भ्रातत्रयपरिमाणं त्रयमेतद्विषयलाघवगौरवापेक्षया समन्वितं व्यस्तं वा राजा दण्डं दापयेत् ॥ २२० ॥

> एतदण्डविधि कुर्योद्धार्मिकः पृथिवीपितः। ग्रामजातिसमृहेषुं समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥

एतदिति ॥ त्रामेषु ब्राह्मणजातिसमूहेषु संविद्यतिकमकारिणामेतहण्डविश्चि धर्मप्रधानो राजानुतिष्ठेत् ॥ २२१ ॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यसेहानुशयो भवेत् । सोऽन्तर्दशाहात्तद्रव्यं दद्याचैवाददीत वा ॥ २२२ ॥ क्रीत्वेति ॥ क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्रव्यं विनश्वरस्यं स्थिरार्धं भूमिताक्र- पट्टादि यस्य लोके पश्चात्तापो जायते 'न साधु मया कीतम्' इति स कीतं इताहमध्ये प्रस्पपेयेत् । विकीतं वा गृह्णीयात् ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानो ददचैव राज्ञा देण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥

परेणिति ॥ दशाहादूर्ध्वं कीतं न त्यजेत् । नापि विकीतं विकयिको बलेन द्वापयेत् । विकीतं बलेन गृह्णन्परित्यजनराज्ञा षदशतानि पणान् दुख्यः २२३

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।

तस्य कुर्याञ्चपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥ २२४ ॥

यस्त्विति ॥ 'नोन्मत्ताया' (८।२०५) इति सामान्येनोक्तं, दण्डविशेषा-भिधानार्थमिदम् । उन्मादादिदोषानकथियत्वा दोषवतीं कन्यां वराय यः प्रयच्छति तस्य राजा स्वयमादरेण षण्णवतिं पणान्दण्डं कुर्यात् । अनुशय-प्रसङ्गेनैतत्कन्यागतमुच्यते ॥ २२४ ॥

> अकन्येति तु यः कन्यां त्र्याद्वेषेण मानवः। स शतं प्रामुयादण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५॥

अकन्येति ॥ 'नेयं कन्या, क्षतयोनिरियम्' इति यो मनुष्यो द्वेषेण ब्र्या-त्तस्या उक्तदोषमविभावयन्यणशतं राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २२५ ॥

युक्तश्रास्याऽकन्येतिवादिनो दण्डः, यस्मात्-

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।

नाकन्यासु क्रचित्रुणां छुप्तभंकिया हि ताः ॥ २२६॥ पाणीति॥ 'अर्थमणं चु देवं कन्या अग्निमयक्षत' (अश्व.गु.स.११७) इत्येव-माद्यो वैवाहिका मनुष्याणां मन्नाः 'कन्या'शब्दश्रवणात्कन्यास्वेव व्यवस्थिताः नाकैन्याविषये। क्रचिच्छाक्षे धर्मविवाहिति दुर्ये व्यवस्थिताः असमवेतार्थत्वात् । अत एवाह-ताः अतयोनयो वैवाहिकमन्नेः संस्क्रियमाणा अपि यसाद्यगतधर्मविवाहादिशालिन्यो भवन्ति । नासौ धर्म्यो विवाह इत्यर्थः । नतु अतयोनेवैवाहिकमन्नहोमादिनिषेधकमिदम् । 'या गर्भिणी संस्क्रियते' (९११७३), तथा 'वोद्धः कन्यासमुद्धवम्' (९११७२) इति अतयोनेरिप मनुनैव विवाहसंस्कारस्य वश्यमाणत्वात्। देवलेन तु-'गरन्धवेषु विवाहेषु पुनवैवाहिको विधिः । कर्तव्यश्च न्निमर्थणेः समयेनाग्निसाक्षिकः' इति गान्धवेषु विवाहेषु इत्यविषये सुधर्मत्वं मनुनोक्तम् । अतः सामान्यविशेषन्यायादितर्विषयोऽयं अतयोनि-विवाहस्याधर्मस्वोपदेशः ॥ २२६॥

पाठा०—1 दण्ड्या.

<sup>• ं</sup> १ सर्वेशनारायणस्तु-'नाकन्यासु' इत्यकन्याशन्देन क्वीवस्याप्यत्रान्तर्भावमास्यातवान्.

## पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।

तेषां निष्ठा तु निज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥ पाणिग्रहणिका इति ॥ वैवाहिका मन्ना नियतं निश्चितं मार्यात्वे निमित्तम् , मन्नेर्यथाशास्त्रयुक्तिर्भार्यात्वेन निष्पत्तेः । तेषां तु मन्नाणां 'सस्ता सप्तपदी भव' ( आव. यू. ११७ ) इति मन्नेण कल्पनया सप्तमे पदे दत्ते भार्यात्वनिष्पत्तेः बास्त्रवैनिष्पत्तिर्विन्नेया, एवं च सप्तपदीदानात्माग्भार्यात्वानिष्पत्तेः सत्मनुशये जद्यान्नोर्ध्यम् ॥ २२७ ॥

यसिन्यसिन्कृते कार्ये यसेहानुशयो भवेत्। तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवेशयेत्।। २२८॥

यसिन्निति ॥ न केवलं क्रय एव, अन्यन्नापि यसिन्यसिन्संबन्धित्वे-नादौ कार्ये यस्य पश्चात्तापो जायते तमनेन दशाहविधिना धर्मादनपेते मार्गे नृपः स्थापयेत् ॥ २२८ ॥

> पञ्जषु स्वामिनां चैन पालानां च व्यतिक्रमे । विवादं संप्रवक्ष्यामि यथानद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥

पशुष्त्रिति ॥ गवादिपशुविषये स्वामिनां पालानां व्यतिक्रमे जाते विवादं सम्यग्धमर्यं यथा तथा व्यवस्थया वक्ष्यामि ॥ २२९ ॥

> दिना नक्तव्यता पाले रात्रौ स्नामिनि तद्वहे । योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो नक्तव्यतामियात् ॥ २३०॥

दिवेति ॥ दिवा पशूनां पालहस्तन्यस्तानां योगक्षेमविषये पालस्य गर्हणी-यता । रात्रौ पुनः पालप्रस्वर्षितानां स्वामिगृहस्थितानां स्वामिनो दोषः । मन्यथा तु यदि रात्राविष पालहस्तगता भवन्ति तत्र दोष उत्पन्ने पाल एव गर्हणीयतां प्रामोति ॥ २३० ॥

गोपः श्वीरभृतो यस्तु स दुह्याद्द्यतो वराम् । गोस्वाम्यजुमते भृत्यः सा स्वात्पालेऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥ गोप इति ॥ यो गोपालाख्यो भृत्यः क्षीरेण न मक्तादिना स्वसाम्यजुज्ञया धार्षितो गोम्यः श्रेष्ठामेकां ग्रां भृत्यर्थं दुद्यात्सा मक्तादिरहिते गोपाले सृतिः स्यात् । एवं चैकगवीक्षीरदानेन दृश गाः पालयेदित्युक्तम् ॥ २३१ ॥

> नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे सृतम् । हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

नष्टमिति ॥ नष्टं दृष्टिपथातीतं, क्रुमिमिनांशितं, श्वभिः खादितं, हतं विव-रादिपातसृतम् । प्रदर्शनं चैतत् । पालसंबन्धिरक्षकाल्यपुरुषव्यापाररहितं सृतं, पलायितं गवादि, पश्चपाल एव तु स्वामिने दृषात् ॥ २३२ ॥ विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमहिति ।

यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसित ॥ २३३॥ विद्युष्येति॥ चौरैः पुनः पटहादि विद्युष्य हतं पालो दातुं नाईति । विद्युष्येति चौराणां बहुत्वं प्रबल्दवकथनपरम् । संनिहिते देशे हरणकालानन्तरः मेवात्मीयस्वामिनः कथयति ॥ २३३॥

कर्णों चर्म च वालांश्व वस्ति स्नायुं च रोचनाम् । पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

कर्णाविति ॥ स्वयं मृतेषु पशुषु कर्णचर्मलाङ्गूलप्रवालान्नाभेरघोभागस्नायु-रोचनाः स्वामिनां दद्यात्। अन्यानि च चिह्नानि सृङ्गसुरादीनि दर्शयेत् ॥२३४॥

अजाविके तु संरुद्धे दृकैः पाले त्वनायति ।

यां प्रसद्य वृको हन्यात्पाले तित्किल्विषं भवेत् ॥ २३५ ॥ अजाविक इति ॥ अजाश्चाविकाश्चाज्ञविकम्; 'गवाश्वप्रश्वतीनि च' (पाः २।४।११) इति द्वनद्वैकवद्भावः । तिसम्बजाविक वृकैः परिवृते सित पालेऽना-गच्छति यामजामेडकां च वने वृको हन्यात्स पालस्य दोषः स्यात् ॥२३५॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।

यामुत्प्रुत्य वृको हन्यात्र पालस्तत्र किल्बिषी ।। २३६ ॥ तासामिति ॥ तासामजाविकानां पालेन नियमितानां संघीभूय वनेचर-न्तीनां यताद्यदि कश्चित्कृतश्चिदुत्ख्वसालक्षितो यां कांचिद्धन्यात्र पालस्तत्र दोषभाक् ॥ २३६ ॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्थात्समन्ततः ।

शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥

धनुःशतमिति ॥ चतुर्हस्तो धनुः । शम्या यष्टिस्तस्याः पातः प्रक्षेपो प्रामन् समीपे सर्वासु दिश्च चत्वारि इस्तशतानि, त्रीन्त्रा यष्टिप्रक्षेपान्यावत्पश्चप्रचा-रार्थं सस्यवपनादिसंरोधपरिहारः कार्यः । नगरसमीपे पुनरयं त्रिगुणः कर्तन्यः ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पश्चवो यदि ।

न तत्र प्रणयेदण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

तत्रापरिवृतमिति ॥ तस्मिन्परिहारस्थाने यदि केनचिददत्तावृतिकं धान्य-मुप्यते तचेत्पश्चो भक्षेयुक्तत्र पशुपालानां नृपो दण्डं न कुर्यात् ॥ २३८ ॥

वृति तत्र प्रकृषीत यामुष्ट्री न विलोकयेत्।

छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्रम्करमुखानुगम् ॥ २३९ ॥ बुतिमिति ॥ तत्र परिदारस्थाने सेत्रे बृद्धिं कम्टकादिमयीं तथाविधा-

पाठा०-1 स्तेष्वज्ञानिः स्तेष्वद्वांथः

सुच्छितां कुर्यात् । यामपरपार्श्वे उष्ट्रो न विलोक्येत् , तस्यां च यार्किचिच्छिद्रं श्रमुकरसुखप्रवेशयोग्यं तस्तर्वमावृणुयात् ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।

सपालः शतदण्डाहीं विपालान्वारयेत्पश्चन् ॥ २४० ॥

पश्चीति ॥ वर्त्मसमीपश्चामसमीपवर्तिनि वा परिहारस्थे क्षेत्रे दत्तवृतौ सपालः पश्चः पालानिवारितो द्वारादिना कथंचित्प्रविद्यो यदा मक्षयित वदा पणशतं दण्ड्यः । पशोश्च दण्डासंभवात्पाल एव दण्ड्यः । विपालान्पुनर्भक्षण-प्रवृत्तान्क्षेत्ररक्षको निवारयेत् ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।

सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्थेति धारणा ॥ २४१ ॥

क्षेत्रेष्टिति ॥ वर्समामान्तन्यतिरिक्तेषु पश्चर्भक्षयन्सपादं पणं दण्डम-हैति । अत्रापि पाल एव दण्डाः । सर्वत्र क्षेत्रे पश्चरक्षितं फलं स्वामिने पालेन स्वामिना वा यथापराघं दातन्यमिति निश्चयः ॥ २४१ ॥

अनिर्दशाहां गां सतां वृषान्देवपश्रंस्तथा।

सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरत्रवीत् ॥ २४२ ॥ अनिर्देशाहामिति ॥ प्रसूतां गामनिर्गतदशाहां तथा च चक्रश्रुलाङ्कितोत्सष्टवृषान्हरिहरादिप्रतिमासंबन्धिपश्रुन्पालसहितान्पालरिहतान्वा सस्यमञ्चणप्रवृत्तान्मनुरदण्ड्यानाह । उत्सष्टवृषाणामि गर्मार्थं गोकुळे पालैर्घारणात्सपालरवसंभवः ॥ २४२ ॥

क्षेत्रिकस्यात्यये दण्ड्यो भागादशगुणो भवेत् । ततोऽर्धदण्डो भ्रत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य त ॥ २४३ ॥

श्लेत्रिकस्येति ॥ क्षेत्रकर्षकस्यात्मपद्यसस्यभक्षणेऽयथाकाळं वपनादौ वाप-राधे सति यावतो राजभागस्य तेन हानिः कृता ततो दशगुणदण्डः स्यात् । क्षेत्रिकाविदिते भृत्यानामुक्तापराधे क्षेत्रिकस्येव दशगुणार्धदण्डः । क्षेत्रसस्य-प्रसङ्गाचेदमुक्तम् ॥ २४३ ॥

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।

स्वामिनां च पश्नां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥ २४४॥ एतदिति ॥ स्वामिनां पालानां चारक्षणादपराधे पश्चनां च सस्यभक्षणरूपे व्यतिक्रमे धर्मप्रधानो भूपतिरेतत्पूर्वीकं कर्तव्यमनुतिष्ठेत् ॥ २४४॥

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः । ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥ सीमामिति ॥ द्वयोर्थामयोर्भर्याद्वां गति विश्वतिपत्तावुत्पन्नायां ज्येष्ठे मासि त्रीध्मरवितापसंशुष्कतृणत्वात्त्रकटीभूतेषु सीमालिङ्गेषु राजा सीमां निश्चि-नुयात् ॥ २४५ ॥

सीमावृक्षांश्व कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थिकंश्वकान् । शास्मलीनसालतालांश्व क्षीरिणश्चेत पादपान् ॥ २४६॥ सीमावृक्षानिति ॥ न्यग्रोधादीन्वृक्षान् क्षीरिण उद्गुम्बरादींश्चिरस्थायि-न्वात्सीमालिङ्गभूतान्कुर्वीत ॥ २४६॥

गुल्मान्वेण्ंश्र विविधाञ्छमीव्छीस्थलानि च ।

शरान्कुञ्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥ गुल्मानिति ॥ गुल्मान्प्रकाण्डरिहतान्वेणूंश्च प्रचुरकण्टकःवाल्पकण्टकःवा-दिमेदेन नानाप्रकारान्सीमावृक्षान् वङ्घीर्छताः स्थानानि कृत्रिमोन्नतभूभागान् शरान् कुबकगुल्मांश्च प्रचुराल्पभोगत्वेनादसर्थे पृथक्किर्दिष्टान्सीमालिङ्गभूता-न्कुर्यात् । एवं कृते सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥

> तडागान्युद्पानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च । सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥

तडागानीति ॥ तैडागकूपदीर्घिकाजलनिर्गममार्गदेवगृहाणि सीमारूपेषु त्रामद्वयसंधिस्थानेषु कर्तन्यानि । एतेषु सीमानिर्णयाय विल्याप्य कृतेषूद-काद्यर्थिजना अपि श्रुतिपरंपरया चिरकालेऽपि साक्षिणो भवन्ति ॥ २४८ ॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।

सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपययम्॥ २४९ ॥ उपच्छन्नानीत्यदि ॥ सीमानिर्णये सर्वदासिङ्कोके मनुष्याणां विश्रममज्ञानं द्युतिहत्त्व्यतिरिक्तानि गृहानि वक्ष्यमाणानि सीमाचिह्नानि कारयेत्॥२४९॥

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्मस कपालिकाः। करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वाछकास्तथा।। २५०।। यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्ध्मिनं मक्षयेत्। तानि संधिष्ठ सीमायामप्रकाशानि कारयेत्।। २५१।।

अइमन इति ॥ यानीति ॥ प्रसरास्थिगोबालतुषभस्मकपेटिकाशुष्कगोम-यपकेष्टकाङ्गारपाषाणकपेरसिकता अन्यान्यप्येवंप्रकाराणि कालाञ्जनकार्पासा-स्थिप्रभृतीनि यानि चिरकालेनापि भूमिरात्मसान्न करोति तानि ग्रामयोः संधिषु सीमायां 'प्रक्षिप्य कुम्मेष्वेतानि सीमान्तेषु निधापयेत्' इति बृहस्प-तिवचनात्स्थूलपाषाणव्यतिरिक्तानि कुम्भेषु कृत्वा प्रच्छन्नानि भूमौ निस्नाय धारयेत् ॥ २५०-२५१॥

१ देशलीचि तडागः, शामलीचि वापी, क्षेत्रलीचि क्याः, गृहलीचि प्रस्रवणं कुर्योदिति चात्र विश्वेषो राघवानन्देनोक्तः.

#### एतैर्छिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः। पूर्वभ्रक्या च सततग्रदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

एतैरिति॥ विवदमानयोर्धामयोः प्रागुक्तैरेतैरुक्तिह्व राजा सीमामुद्धयेत्। वसतोः पुनरविच्छित्रया भुक्तया सीमानिर्णयो नतु त्रिपुरुषादिकतया। तस्य 'आधिः सीमा' (८।१४९) इति पर्युदस्तत्वात्। प्रामद्वयसंधिस्थनद्यादि-प्रवाहेण च पारावारमामयोः सीमां निश्चिनुयात्॥ २५२॥

### यदि संशय एव स्थालिङ्कानामपि दर्शने । साक्षित्रत्यय एव स्थात्सीमावादेविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

यदीति ॥ यदि प्रच्छन्नप्रकाशिक्षदर्शनेऽपि प्रच्छन्नाङ्गारतुषादिकुम्भा अमी स्थानान्तरं नीत्वा निस्नाताः, नायं सीमातरुन्यंत्रोधः स नष्ट इत्यादि समस्त एव यदि संदेहः स्थात्तदा साक्षिप्रमाण एव सीमाविवादनिश्वयो भवेत् ॥२५३॥

#### ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः।

प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चेव विवादिनोः ॥ २५४ ॥ ग्रामीयकेति ॥ प्रामिकजनसमुद्दानां प्रामद्रयस्थनियुक्तयोर्वादिप्रतिवादि-नोश्च समक्षं सीमाविषये सीमालिङ्गसंदेहे लिङ्गानि साक्षिणः प्रष्टन्याः ॥२५४॥

#### ते पृष्टास्तु यथा ब्र्युः समस्ताः सीम्नि निश्रयम् । निबन्नीयात्त्रथा सीमां सर्वास्तांश्चेव नामतः ॥ २५५ ॥

ते इति ॥ ते प्रष्टाः साक्षिणः समस्ता न द्वैघेन सीमाविषयेण येन प्रकारेण निश्चयं ब्र्युस्तेन प्रकारेणाविसारणार्थं पत्रे सीमां लिखेत् । तांश्च सर्वानेव साक्षिणो नामविभागतो लिखेत् ॥ २५५ ॥

#### शिरोभिस्ते गृहीत्वोवीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।

सुकृतैः शापिताः स्त्रैः स्त्रैनयेयुस्ते समझसम् ॥ २५६॥

शिरोभिरिति ॥ ते साक्षिण इति सामान्यश्रवणेऽपि 'रक्तस्रग्वाससः सीमां नयेयुः' (या. स्म. व्य. २११५२) इति याज्ञवल्ययचनादृष्ठप्रयमालाधारिणोः स्रोहितवाससो मस्तके मृङ्घोष्टानि गृहीत्वा यदस्माकं सुकृतं तन्निष्फलं स्मादिखेव-मात्मीयैः सुकृतैः शापिताः सन्तस्तां सीमां यथाशक्ति निणयेयुः ॥ २५६ ॥

## यथोक्तन नयन्त्रले पूयन्ते सत्यसाक्षिणः।

विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्धिञ्चतं दमम् ।। २५७ ॥ यथोक्तेनेति ॥ ते सत्त्रप्रधानाः साक्षिणः शास्त्रोक्तेन विधानेन निर्णयस्या निष्पापा भवन्ति । अतथ्येन तु निश्चिन्वन्तः प्रत्येकं पणक्षतद्वयं दण्डं दाप्या भवेयुः ॥ २५७ ॥

पाठा०—1 °विनिश्चयः. 2 मामेयक°.

१ वास्तुपुरुषसदृगलंकारशालिन इति भावः.

अध्यायः द

### साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः। सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसंनिधौ ॥ २५८॥

साक्ष्यभाव इति ॥ प्रामद्वयसंबन्धिसीमाविवादसाक्ष्यभावे चतुर्दिशं समन्तभवाः सामन्तास्तद्वासिनश्रव्वारो प्रामवासिनः साक्षिधर्मेण राजसमक्षं सीमानिर्णयं कुर्युः ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् । इमानप्यनुयुज्जीत पुरुषान्वनमोचरान् ॥ २५९ ॥

सामन्तानामिति ॥ साक्षिधमेण राजसमक्षमनुभवेन निर्णयमकुर्वतां ग्रामवासिनां ग्रामनिर्माणकालादारभ्य मौलानां पुरुषक्रमेण तद्रामस्थानां सीमासाक्षिणाममाव इमान्वक्ष्यमाणान्संनिहितवनचारिणः पृच्छेत् ॥ २५९ ॥

> व्याधांक्ञाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् । व्यालग्राहानुव्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ २६० ॥

द्याधानिति ॥ छुड्धकान्, पश्चिवधजीविनः, गोपालान्, मत्यजीविनः, मूलोत्पाटनजीविनः, सर्पप्राहिणः, शिलोन्छनृत्तीन्, धन्यांश्च फलपुष्पेन्धनाद्यर्थं वैनन्यवहारिणः पृच्छेत् । एते हि स्वप्रयोजनार्थं तेन यामेण सर्वदा वनं गच्छेयुस्तद्वामसीमाभिज्ञाः संभवन्ति ॥ २६० ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्र्युः सीमासंधिषु लक्षणम् । तत्त्रथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

ते पृष्टा इति ॥ ते व्याधादयः पृष्टाः सीमारूपेषु मामसंधिषु येन प्रकारेण चिह्नं बूयुस्तत्तेनेव प्रकारेण द्वयोर्जामयोः सीमां व्यवस्थापयेत् ॥ २६१ ॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।

सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

क्षेत्रेति ॥ एकग्रामेऽपि क्षेत्रकूपतडागोद्यानगृहाणां सीमासेतुविवादे समस्तदेशवासिसाक्षिप्रमाणक एव मर्यादाचिह्ननिश्चयो विज्ञेयो न व्याधादि-ग्रमाणकः ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्रेन्प्रषा ब्रुयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।

सर्वे पृथकपृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥ सामन्ता इति ॥ सीमाचिह्ननिमित्तं विवदमानानां मनुष्याणां यदि सामन्ता देशवासिनो मिथ्या बृयुस्तदा ते सर्वे प्रत्येकं राज्ञा मध्यमसाहसं इण्डनीयाः । एवं चासामन्तरूपाणां पूर्वोक्तद्विशतो दमो हेयः ॥ २६३ ॥

१ राघवानन्द्रस्तु-'अन्यान्वनचारिणः फलाबर्थमिति केचित्' इत्यादिना तत्र विषये स्वारुचिमभिख्याय—'वस्तुतस्तु वनमत्र जलम्, सीनाविष तडागादिजलचारिणः शबू-क्रक्लपुष्पाचर्यं गच्छेयुः' इत्याहः

## गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।

श्रतानि पश्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्विश्रतो दमः ॥ २६४ ॥

गृहमिति ॥ गृहतदागोद्यानक्षेत्राणामन्यतमं मारणबन्धनादिभयकथन-पूर्वमाकम्य हरणे पञ्च पणशतानि दण्डनीयः स्यात् । स्वत्वश्रान्त्या हरतो द्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

## सीमायामविषद्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।

प्रदिशेज्यमिमेतेषाग्रुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

सीमायामिति ॥ लिङ्गसाक्ष्याद्यभावे सीमायां परिच्छेतुमशक्यायां राजैव धर्मज्ञः पक्षपातरहितो ग्रामद्रयमध्यवर्तिनी विवादविषयां भूमि येषामेव ग्रामवासिनामुपकारातिशयो भवति यद्यतिरेकेण च महाननिर्वाहस्तेषामेव द्यादिति शास्त्रव्यवस्था ॥ २६५ ॥

#### एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये।

अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥ एष इति ॥ एष सीमानिश्चये धर्मो निःशेषेणोक्तः । अत ऊर्ध्वं वाक्पारुष्यं वक्ष्यामि । दण्डपारुष्याद्वाक्पारुष्यप्रवृत्तेः पूर्वमिनधानम् अनुक्रमश्चर्यां नु 'पारुष्ये दण्डवाचिके' (८१६) इति 'दण्ड'शब्दस्यादपस्वरत्वारपूर्व-निर्देशः ॥ २६६ ॥

#### शतं त्राह्मणमाकुश्य क्षत्रियो दण्डमहिति । वैश्योऽप्यर्घशतं द्वे वा शृद्धस्त वधमहिति ॥ २६७ ॥

शतमिति ॥ द्विजस्य चौरेत्याक्षेपरूपं परुषसुक्त्वा क्षत्रियः पणशतं दण्ड-मईति । एवं सार्धशतं द्वे वा शते लाघवगौरवापेक्षया वैश्यः । श्रूद्रोऽप्येवं ब्राह्मणाक्रोशे ताडनादिरूपं वधमईति ॥ २६७ ॥

## पश्चाशद्वाह्यणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।

वैदये स्यादर्घपश्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

पञ्चादादिति ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियस्योक्तरूपाक्षेपे कृते पञ्चाक्षत्पणान्दण्ड्यः । वैदये ग्रुद्धे च यथोक्ताकोदो कृते पञ्चविंशतिर्द्धादश पणाः क्रमेण ब्राह्मणस्य दण्डः स्यात् ॥ २६८ ॥ •

### समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे । वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

समिति ॥ द्विजातीनां समानजातिविषये यथोक्ताकोशे कृते द्वादशपणो दृण्डः । अवचनीयेषु पुनराक्रोशवादेषु मातृभगिन्याद्यश्लीलरूपेषु तदेवेति नपुंसकनिर्देशात् 'शतं ब्राह्मणमाकुश्य' (८।२६७) इत्यादि यदुकं तदेव द्विगुणं दृण्डरूपं भवेत् ॥ २६९॥

२९ म० स्मृ०

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् । जिह्वायाः प्राप्तयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥ एकेति ॥ ग्रुद्धो द्विजातीन्पातकाभियोगिन्या वाचाऽऽकुश्य जिद्धाच्छेदं क्रभेत । यसादसौ पादास्यानिकृष्टाङ्गाज्ञातः ॥ २७० ॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।

निश्लेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्य दशाङ्कुलः ॥ २७१ ॥
- नामेति ॥ अभिद्रोह आक्रोशः । ब्राह्मणादीनां 'रे त्वं यज्ञदत्त ब्राह्मणापसद' इत्याक्रोशेन नामजात्यादिग्रहणं कुर्वतो लोहकीलोऽग्निना प्रदीप्तो
दशाङ्कलो सुखे सेप्तन्यः ॥ २७१ ॥

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस क्वर्वतः । तप्तमासेचयेत्रैलं वक्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

धर्मेति ॥ कथंचिद्धमेलेशमवगम्यायं ते धर्मोऽनुष्टेय हति ब्राह्मणस्याहंका-राहुपदिशतोऽस्य श्रूदस्य मुखे कर्णयोश्च ज्वलत्तेलं राजा प्रक्षेपयेत् ॥ २७२ ॥

> श्रुतं देशं च जाति च कर्म शारीरमेव च । वितथेन बुवन्दर्भाद्दाप्यः स्थाद्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥

श्रुतमिति ॥ समानजातिविषयमिदं दण्डलाघवात्र तु सूद्रस्य द्विजात्या-स्नेपविषयम् । न त्वयैतच्छुतं, न भवान् तद्देशजातः, न तवेयं जातिः, न तव शरीरसंस्कारमुपनयनादिकमें कृतमित्यहंकारेण मिथ्या ब्रुवन्द्विशतं दण्डं दाण्यः स्यात् । वितथेनेति तृतीयाविधाने 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा. १४६६) इति तृतीया ॥ २७३ ॥

> काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् । तथ्येनापि ज्ञुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

काणिमिति ॥ एकाक्षिविकलं पाद्विकलमन्यमि वा तथाविधं हस्ताद्यक्ष-विकलं सत्येनापि काणादिशब्देन ब्रुवन्नसन्ताल्पं तदा कार्षापणं दण्डं दाप्यः ॥ २७४ ॥

> मातरं पितरं जायां आतरं तनयं गुरुम् । आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्वरोः ॥ २७५ ॥

मातरमिति ॥ 'आक्षारितः क्षारितोऽभिश्वसः' इत्याभिधानिकाः। मात्रादी-न्पातकादिनाऽभिश्वपन्, गुरोश्च पन्थानमत्यजन्दण्ख्यः। भार्यादीनां गुरुलघुपा-पाभिश्वापेन दण्डसाम्यं समाधेयम्। मेधातिथिस्तु आक्षारणं भेदनमित्युक्त्वा मातृपुत्रपित्रादीनां परस्परभेदनकर्तुरयं दण्डविधिरिति न्याख्यातवान्॥२७५॥

#### त्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता । त्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

ब्राह्मणेति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां परस्परं पतनीयाकोशे कृते दण्डशास्त्रज्ञेन राज्ञा दण्डः कार्यः । दण्डमेव विशेषेणाह—ब्राह्मण इति । ब्राह्मणे क्षत्रियाकोशिनि प्रथमसाहसः कार्यः । ब्राह्मणाकोशिनि पुनः क्षत्रिये मध्यमसाहसः ॥ २७६ ॥

#### विद्रग्रुद्रयोरेवमेव खजातिं प्रति तत्त्वतः । छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्रयः ॥ २७७ ॥

विहिति ॥ वैश्यशूद्रयोरन्योन्यजातिं प्रति पतनीयाक्रोशे ब्राह्मणक्षत्रियवद्वै-श्ये शूद्राकोशिति प्रथमसाहसः, शूद्रे वैश्याकोशिति मध्यमसाहस इत्येवंरूपं दण्डस्य प्रणयनं जिह्नाच्छेदरहितं यथावत्कर्तन्यमिति शास्त्रनिश्चयः । एवं च 'एकजातिर्द्विजातींस्तु' (८१२७०) इति प्रागुक्तजिह्नाच्छेदो वैश्ये निवारितः ब्राह्मणक्षत्रियाक्रोशिवषय एवावतिष्ठते ॥ २७७ ॥

> एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८ ॥

एष इति ॥ एषोऽनन्तरोक्तो वाक्पारुष्यस्य यथावद्दण्डविधिरुक्तः, अनन्तरं ताडनादेर्दण्डपारुष्यस्य निर्णयं वक्ष्यामि ॥ २७८ ॥

## येन केनचिदङ्गेन हिंस्याचेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुज्ञासनम् ॥ २७९ ॥

येनेति ॥ अन्त्यजः श्रूदो येन केनचित्करचरणादिनाङ्गेन साक्षाइण्डादि-नाऽब्यवहितेन द्विजाति प्रहरेत्तदेवाङ्गमस्य छेत्तव्यमित्ययं मनोरुपदेशः । मनु-प्रहणमादरार्थम् ॥ २७९ ॥

अस्यैवोत्तरत्र प्रपञ्चः---

पाणिम्रुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमहिति । पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमहिति ॥ २८०॥

पाणिमिति ॥ प्रहर्तुं पाणि दण्डं वोद्यम्य पाणिच्छेदं लभते । पादेन कोपात्प्रहरणे पादच्छेदं प्रामोति ॥ २८० ॥

> सहासनमभित्रेप्सुरुत्कृष्टस्थापकृष्टजः । कट्यां कृताङ्को निर्वास्थः स्फिचं वाऽस्थावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

सहेति ॥ ब्राह्मणेन सहासनोपविष्टः शूद्रः कट्यां तसलोहकृतचिह्नो निर्वा-सनीयः, स्फिनं वाऽस्य यथा न म्रियते तथा छेदयेत् ॥ २८१ ॥

### अवनिष्ठीवतो दर्पाद्वावोष्ठौ छेदयेद्युपः । अवमूत्रयतो मेढ्मवशर्धयतो गुद्म् ॥ २८२ ॥

अविति ॥ दर्पेण श्रेष्मणा ब्राह्मणानपमानयतः शूद्रस्य राजा द्वावोष्ठौ छेद-येत् । मूत्रप्रक्षेपेणापमानयतो मेद्रम् । शर्धनं कुल्सितो गुदशब्दस्तेनावमान-यतो दर्पात्र प्रमादाद्धदं छेदयेत् ॥ २८२ ॥

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् । पादयोदीढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥

केशेष्विति ॥ दर्पादित्यनुवर्तते । अहंकारेण केशेषु बाह्यणं गृह्धतः शूड्स्य पीडास्य जाता न जाता वेत्यविचारयन् हस्तौ छेदयेत् । पादयोः इमश्रुणि च मीवायां वृषणे च हिंसार्थं गृह्धतो हस्तद्वयच्छेदमेव कुर्यात् ॥ २८३ ॥

> त्वरमेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः । मांसमेत्ता तु पण्निष्कान् प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥२८४॥

त्वग्मेदक इति ॥ चर्ममात्रभेदकृत्समानजातिने शूद्रो बाह्यणस्य दण्ड-लाघवं पणशतं दण्डनीयः । तथा रक्तोत्पादकोऽपि पणशतमेव दण्ड्यः। मांसमेदी षण्निष्कान्दाप्यः। अस्थिभेदकस्तु देशान्निर्वास्यः॥ २८४॥

## वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथा यथा।

तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥२८५॥

वनस्पतीनामिति ॥ वृक्षासुद्धितः सर्वेषां येन येन प्रकारेण उपभोगः फल-पुष्पपत्रादिना उत्तममध्यमाधमरूपो भवति तथा तथा हिंसायामप्युत्तमसाह-सादिर्दृण्डो विधेय इति निश्चयः । तथा च विष्णुः—'फलोपभोगद्धमच्छेदी त्त्तमं साहसं, पुष्पोपभोगद्धमच्छेदी मध्यमं, वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्षापण-शतं, नृणच्छेदोकं कार्षापणं च पण एव मनुनाष्युक्तो वेदितच्यः' ॥ २८५ ॥

## मनुष्याणां पश्नां च दुःखाय प्रहते सति ।

यथा यथा महदुः खं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥ २८६ ॥

मनुष्याणामिति ॥ मनुष्याणां पञ्चनां पीडोत्पादनार्थं प्रहारे कृते सित यथा यथा पीडाधिक्यं तथा तथा दण्डमप्यधिकं कुर्यात्। एवं च मर्मस्थानादौ त्वाभेदनादिषु कृतेषु 'त्वाभेदकः शतं दण्ड्यः' (८।२८४) इत्युक्तादण्यधिको दण्डो दुःखिनशेषापेक्षया कर्तन्यः॥ २८६॥

अङ्गावपीडनायां च त्रेणशोणितयोस्तथा।

समुत्थानच्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥ अङ्गेति ॥ अङ्गानां करचरणादीनां वणशोणितयोश्र पीडनायां सत्यां समुःथानन्ययं यावता कालेन पूर्वावस्थामाप्तिः समुःथानसंबन्धो भवति ताव-रकालेन पथ्योषधादिना यावान्न्ययो भवति तमसौ दापनीयः । अथ तं न्ययं पीडोत्पादको न दातुमिन्छति, तदा यः समुत्थानन्ययो यश्च दण्डस्तमेनं दण्ड-रवेन राज्ञा दाप्यः ॥ २८७ ॥

> द्रव्याणि हिंसाद्यो यस ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेतुष्टिं राज्ञे दद्याच तत्समम् ॥ २८८ ॥

द्रव्येति ॥ द्रव्याण्यनुक्तविशेषदण्डानि कटकानि ताम्रघटादीनि यो यस् ज्ञानादज्ञानाद्वा नाशयेत्स तस्य द्रव्यान्तरादिना तुष्टिमुत्पादयेत् , राज्ञश्च विनाशितद्रव्यसमं दण्डं दद्यात् ॥ २८८ ॥

> चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्टलोष्टमयेषु च । मूल्यात्पश्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥

चर्मेति ॥ चर्मणि चर्मघटितवरत्रादौ चर्मकाष्टमृत्तिकानिर्मितेषु च भाण्डेषु पुल्पमूलफलेषु परस्य नाशितेषु मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डो राज्ञो देयः । स्वामिनश्च तृष्टिरुत्पादनीयैव ॥ २८९ ॥

> यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च । दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

यानस्येति ॥ यानस्य रथादेर्यातुः सारध्यादेर्यानस्वामिनश्च यस्य तद्यानं तेषां छिन्ननास्यादीनि दश निमित्तानि दण्डमितिकस्य वर्तन्ते । एषु निमित्तेषु सन्सु प्राणिमारणे द्रव्यनाशे च प्रकृते यानस्वामिनां दण्डो न भवतीति मन्वादय आहुः । एतद्यतिरिक्तनिमित्ते च पुनर्दण्डोऽनुष्ठीयते ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिग्रुखागते।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥
छेदने चैव यत्राणां योक्ररक्र्योस्तथैव च ॥
आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरत्रवीत्॥ २९२ ॥

छिन्नेति ॥ छेद्न इति ॥ नासायां भवं नास्यम् । शरीरावयवत्वाद्यत् । सा चेह बलीवर्दनासासंबिन्धनी रज्जुः । छिन्ननास्यरज्जौ बलीवद्विदेते, भन्न-युगाल्ये काष्ठे, रथादौ भूमिवैषम्यादिना तिरश्चीनं वा गते, तथा चकान्तः-प्रविष्टाक्षकाष्ठभङ्गे, यज्ञाणां चर्मबन्धनानां छेदने, योक्रस्य पश्चमीवारज्जोः, रश्मेः प्रहरणस्य च छेदने, अपसरापसरेत्युचैःशब्दे सारध्यादिना कृते च यानेन प्राणिहिंसाद्रव्यविनाशयोः कृतयोः सारध्यादेर्दण्डो नास्तीति मनु-राह ॥ २९१-२९२॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु । तत्र खामी भवेदण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥ यत्रेति ॥ यत्र सारथेरकौशलाद्यानमन्यथा वजति तत्र हिंसायामशिक्षित-सारथ्यनियोगस्वामी द्विशतं दण्डं दाप्यः स्वात् ॥ २०३ ॥

प्राजकश्रद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमहिति ।

युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥२९४॥ प्राजक इति ॥ यदि सारथिः कुशलः स्यात्तदा सारथिरेवोक्तद्विशतं दमं वक्ष्यमाणं च 'मनुष्यमारणे' (८।२९६) इत्यादिकं दण्डमईति न स्वामी। भक्कशले तु तिसान्सारथिस्वामिन्यतिरिक्ता भन्येऽपि यानारूढा भक्कशल-सारथिकयानारोहणात्सर्वे प्रत्येकं शतं शतं दण्ड्याः ॥ २९४ ॥

स चेतु पथि संरुद्धः पशुभिनी रथेन वा । त्रमापयेत्त्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥

स चेदिति ॥ स चेत्राजकः संमुखागतैः प्रचुरगवादिभी रथान्तरेण वा संरुद्धः खरथगमनानवधानात्प्रत्यक्सर्पणाक्षमः संकटेऽपि खरथतुरगान्त्रेर-यन्, तुरगै रथेन वा रथावयवैर्वा प्राणिनो न्यापादयति तन्नाविचारितो दंग्डः कर्तन्य एव ॥ २९५॥

सक्रद्वपराधे कीदश इत्याह-

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्विषं भवेत् ।

प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

मनुष्येति ॥ तत्र मनुष्यमारणे प्राजकस्यानवधानाचानेन कृतं शीव्रमेव चौरदण्डोत्तमसाहसं भवेत्रतु मारणरूपः। 'प्राणमृत्सु महत्स्वर्भम्' इति श्रव-णात् । गोगजादिषु महत्सु प्राणिषु मारितेषु उत्तमसाहसस्यार्थं पञ्चरातपणो दण्डो भवेत्॥ २९६॥

क्षुद्रकाणां पञ्चनां तु हिंसायां द्विश्वतो दमः। पञ्चाशत्तु भवेदण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥

क्षुद्रेति ॥ क्षुद्रकाणां पश्चनां जातितो विशेषापदिष्टेतरेषां वनचरादीनां वयसा च किशोरादीनां मारणे द्विशतो दण्डः स्यात् ! शुभेषु मृगेषु रुरुप्रतादिषु पक्षिषु च ग्रुकहंससारसादिषु पश्चिषु हतेषु पञ्चाशदण्डो भवेत् ॥ २९७ ॥

गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्वात्पेश्चमापिकः । मायिकस्तु भवेदण्डः श्रम्भकरनिपातने ॥ २९८ ॥ गर्दभेति ॥ गर्दभच्छागैडकादीनां पुनर्मारणे पञ्चरूप्यमापकपरिमाणो दण्डः स्यात् । न चात्र हैरण्यमाष्यहणं, उत्तरोत्तरस्रघुदण्डाभिधानात् । श्वसूकरमारणे तु पुना रौष्यमाषपरिमाणो दण्डः स्यात् ॥ २९८ ॥

> भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो आता च सोदरः । प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू र्ज्वा वेणुद्छेन वा ॥ २९९ ॥

भार्येति ॥ भार्यापुत्रादयः कृतापराधा रज्वा वाऽतिलघुवेणुश्रालाकया दाड्या भवेयुः । शिक्षार्थं ताडनविधानादत्र दण्डापवादः ॥ २९९ ॥

> पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन । अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याचौरिकल्विषम् ॥ ३००॥

पृष्ठत इति ॥ रज्वादिभिरपि देहस्य पृष्ठदेशे ताडनीयाः नतु शिरसि । उक्तन्यतिरेकेण प्रहरणे वाग्दण्डधनदण्डरूपं चौरदण्डं प्राप्तयात् ॥ ३०० ॥

> एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः । स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधि दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥

एष इति ॥ एष दण्डपारुष्यनिर्णयो निःशेषेणोक्तः । अत् ऊर्ध्वं चौरदण्ड-विनिर्णये विधानं वक्ष्यामि ॥ ३०९ ॥

> परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः । स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

परममिति ॥ चौराणां नियमने राजा परममुत्कृष्टं यत्नं कुर्यात् । यसा-चौरनिप्रहाद्राज्ञः ख्यातिर्निरुपद्रवतया राष्ट्रं च वृद्धिमेति ॥ ३०२ ॥

> अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः । सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥

अभयस्पेति ॥ हिरवधारणे । चौराणां नियमनेन यो नृपतिः साधूना-मभयं ददाति स एव पूज्यः पूर्वेषां श्चाच्यो भवति । सत्रं गवामयनादिकतु-विशेषः । यद्यसात्सन्नमिव सत्रं तद्भयदानाचौरनियहरूपाभयदक्षिणं सर्वदेव तस्य वृद्धिमेति । अन्यद्धि नियतकालीनं नियतदक्षिणं च, एतत्सर्वकालीनम-भयदक्षिणं चेति वाक्यम् । श्यतिरेकालंकारः ॥ ३०३ ॥

> सर्वतो धर्मषद्भागो राज्ञो भवति रक्षतः । अधर्माद्पि षद्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥

सर्वत इति ॥ प्रजा रक्षतो राज्ञः सर्वस्य मृतिदातुर्वणिगादेर्भृत्यदातुश्च श्रोत्रियादेः सकाशाद्धमेषद्भागो भवति । अरक्षतश्राधर्माद्पि छोकेन कृतात्षद्भागः स्यात् । तसाद्यक्षतः स्तेननिप्रहेण राजा रक्षणं कुर्यात् । नच भृतिकीतत्वाद्राज्ञो धर्मषड्भागो न युक्त इति वाच्यम् । भृत्या धर्मषड्भागेन च परिकीतस्य शास्त्रीयत्वात् ॥ ३०४ ॥

यद्धीते यद्यजते यद्दाति यद्र्चति ।

तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५॥

यदिति ॥ यः कश्चिजपयागदानदेवतार्चादीनि करोति तस्य राजा पालनेन षड्भागं प्राप्नोति ॥ ३०५ ॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्र घातयन् । यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

रश्निति ॥ भूतानि सर्वाणि स्थावरजङ्गमादीनि यथाशास्त्रं दण्डप्रणयन-रूपेण धर्मेण रक्षन् ,वध्यांश्च स्तेनादींस्ताडयन् , प्रत्यहं रुक्षगोदक्षिणेर्यज्ञैर्यजते। तज्जन्य पुण्यं प्रामोतीति भावः ॥ ३०६॥

> योऽरक्षन्वलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः । प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७॥

योऽरक्षिति॥ यो राजा रक्षामकुर्वेन् बर्ल धान्यादेः पद्भागं प्राम-वासिभ्यः प्रतिमासं वा भाद्रपौषनियमेन, प्राद्यं शुल्कं स्थलजलपथादिना वणिज्याकारितेभ्यो नियतस्थानेषु द्रव्यानुसारेण प्राद्यं दानमिति प्रसिद्धं प्रति-भागं फलकुसुमशाकतृणाद्युपायनं प्रतिदिनप्राद्यं दण्डं व्यवहारादौ गृह्णाति स सृतः सन्सद्य एव नरकं याति ॥ ३०७॥

> र्अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् । तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

अरिश्ततारमिति॥यो राजा न रक्षति, अथ च धान्यादिषद्भागं बलिरूपं गृह्णाति, तं सर्वलोकानां सकलपापहारिणं मन्वादय आहुः॥ ३०८॥

अंनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विष्रछम्पकम् । अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

अन्पेक्षितेति ॥ लक्कितशास्त्रमर्थादं परलोकाभावशालिनमनुचितदण्डा-दिना धनप्राहिणं रक्षणरहितं करबल्यादेभीक्षितारं राजानं नरकगामिनं जानीयात् ॥ ३०९ ॥

> अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैनिंगृह्णीयात्प्रयत्नतः । निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१०॥

अधार्मिकमिति॥ अधार्मिकं चौरादिकमपराधापेक्षया त्रिभिरुपायैः प्रयतेन

नियमयेत् । तानाह--कारागारप्रवेशनेन, निगडादिबन्धनेन, करचरणच्छेद-नादिनानाप्रकारहिंसनेन ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च।

द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥

निग्रहेणेति ॥ पापशालिनां निग्रहेण, साधूनां संग्रहेण, द्विजातय इव महायज्ञादिभिः सर्वकालं नृपतयः पवित्रीभवन्ति । तसादधाः मैकान्निगृह्णी-यात् साधृश्रानुगृह्णीयात् ॥ ३११ ॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् । बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

श्चन्तव्यमिति ॥ कार्यवतामर्थिप्रत्यथिनां दुःखेनाक्षेपोक्तिं रचयतां तथा बालवृद्धव्याधितानामाक्षिपतां वक्ष्यमाणमारमीयमुपकारमिच्छता प्रभुणा श्चमणीयम् ॥ ३१२ ॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तेस्तेन स्वर्गे महीयते । यस्त्वैश्वर्यान क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

यः श्चिप्त इति । दुःखितैराक्षिप्तः सहते यः स तेन स्वर्गछोके पूजां छमते । प्रभुत्वदर्पान्न सहते यः स तेन नरकं गच्छति ॥ ३१३ ॥

> राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता । आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥ ३१४॥ स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।

शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा 🛚 ३१५ ॥

राजेति ॥ स्कन्धेनेति ॥ यद्यपि 'सुवर्णस्तेयकृद्दिमः' (१११९०) इत्यादिना मायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यति तथापि सुवर्णस्तेयं प्रति राजदण्डरूपतामस्य दण्ड-प्रकरणे दर्शयितुं पाठः । ब्राह्मणसुवर्णस्य चौरेण मुक्तकेशेन वेगाद्रच्छता 'मया ब्राह्मणसुवर्णमपहृतम्'इति ख्यापयता मुसलाख्यमायुधं खादिरमयं वा दण्ड-सुभयतस्तीक्षणां शार्के लोहमयं वा दण्डं स्कन्धे मृहीत्वा राजसमीपं गच्छेत् । ततो 'ब्राह्मणसुवर्णहार्यहम्, ब्रतोऽनेन मुसलादिनामां ब्यापाद्य' इत्येवं राजे वक्तब्यम् ॥ ३१४-३१५ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विम्रच्यते । अशासित्वातु तं राजा स्तेनस्यामोति किल्विषम् ॥३१६॥

शासनादिति ॥ सकृन्मुसलादिप्रहारेण प्राणपरित्याजनान्मृतककल्पस्य जीवतोऽपि परित्यागाद्वा स चौरसस्मात्पापात्प्रमुच्यते। अत एव याज्ञवल्क्यः (या. स्ट.प्रा. ५१२४८)—'मृतकल्पः प्रहारातों जीवश्वपि विशुध्यति' इति । तं पुनस्तेनं करुणादिभिरहत्वा स्तेनस्य यत्पापं तद्वाजा प्रामोति ॥ ३१६ ॥ अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।

गुरौ ज्ञिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषुम् ॥३१७॥

अन्नाद् इति ॥ ब्रह्महा यस्तत्संबन्धि योऽन्नमत्ति तस्मिन्नसौ स्वपापं संकाम्यति । श्रूणहाऽन्नभोक्तः पापं भवतीत्येतदत्र विविश्चितं, नतु ब्रह्मन्नः पापं नदयति । तथा भार्या व्यभिचारिणी जारपितं क्षममाणे भर्तेरि पापं संश्चेष्यति । शिष्यश्च संध्याभिकार्याद्यकरणजन्यं पापं गुरौ सहमाने न्यस्यति । याज्यश्च विधिमतिकामन् याजके क्षममाणे पापं निक्षिपति । स्तेनश्च राजन्यु-पिक्षमाणे पापं समर्पयति । तसादाज्ञा स्तेनो निम्नहीतन्यः ॥ ३१७ ॥

राजिभः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥

राजिति ॥ सुवर्णस्तेयादीनि पापानि कृत्वा पश्चाद्राजभिविहितदण्डा मनुष्याः सन्तः प्रतिबन्धकदुरिताभावात्पूर्वाजितपुण्यवदोन साधवः सुकृत-कारिण इव स्वर्गं गच्छन्ति । एवं प्रायश्चित्तवदण्डस्यापि पापक्षयहेतुत्व- सुक्तम् ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुं घटं क्र्पाद्धरेद्धिंद्याच यः प्रपाम् ।

स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

यस्त्वित ॥ कूपसमीपे रज्ज्ञ्चटयोर्जलोद्धरणाय धतयो रज्जं घटं वा हरेत् । यो वा पानीयदानगृहं विदारयेत्स सौवर्णं माषं दण्डं प्रामुयात् । 'यन्निर्दिष्टं तु सौवर्णं माषं तत्र प्रकल्पयेत्' इति कालायनवचनात् । तच रज्वादि तिसानकूपे समर्पयेत् ॥ ३१९ ॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यंधिकं वधः ।

्रशेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥

धान्यमिति ॥ द्विपलशतं द्रोणः, विंशतिद्रोणश्च कुम्भः, दशसंख्येभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकं धान्यं हरतो वधः।स च हर्तृस्वामिगुणवत्तापेक्षया ताडनाङ्ग-च्छेदमारणात्मको ज्ञेयः। शेषे पुनरेकस्मादारभ्य दशकुम्भपर्यन्तहरणे निह्नुतैकादशगुणं दण्डं दाप्यः। स्वामिनश्चापहृतं दाप्यः॥ ३२०॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः । सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥

तथिति ॥ यथा धान्येन वध उक्तस्तथा तुलापरिच्छेगानां सुवर्णरजतादी-नामुत्कृष्टानां च वाससां पटादीनां पलशताधिकेऽपहते वधः कर्तन्य एव । विषयसमीकरणं चात्र देशकालापहर्तृद्व्यस्वामिजातिगुणापेक्षया परिहरणी-यम् । एवमुत्तरत्रापि श्रेयम् ॥ ३२१ ॥ पश्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते । शेषे त्वेकादशगुणं मूल्यादण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

पञ्चारात इति ॥ पूर्वोक्तानां पञ्चाशदूर्ध्वं शतं यावद्पहारे कृते हस्त-च्छेदनं मन्वादिभिरभिहितम् । शेषेप्वेकपलादारभ्य पञ्चाशत्पलपर्यन्तापहारे अपहतधनादेकादशगुणं दण्डं दाप्यः ॥ ३२२ ॥

> पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः । मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमहिति ॥ ३२३ ॥

पुरुषाणामिति ॥ महाकुळजातानां मनुष्याणां विशेषेण स्त्रीणां महाकुळ-प्रसूतानां श्रेष्टानां च रतानां वज्रवैदूर्यादीनामपहारे वधमहीति ॥ ३२३ ॥

महापश्चनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।

कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४॥

महापर्मामिति ॥ महतां पश्चनां हस्त्यश्वादिगोमहिष्यादीनां तथा खड्गादीनां राख्याणां कल्याणघतादेश्चौषधस्य च दुर्भिक्षादिरूपं कालं कार्यं प्रयोजनं च सदसद्विनियोगरूपं निरूप्य राजा ताडनाङ्गच्छेदवधरूपं दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

गोषु त्राह्मणसंस्थासु ईरिकायाश्च भेदने । पञ्चनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्घपादिकः ॥ ३२५ ॥

गोष्टित ॥ ब्राह्मणसंबन्धिनीनां गवामपहारे वन्ध्यायाश्च गोर्वाहनार्थं नासाच्छेदने पञ्चनां चाजैडकानां दण्डभूयस्त्वाद्यागाद्यर्थानां हरणेऽनन्तरमेव छिन्नार्थपादिकः कार्यः ॥ ३२५ ॥

स्त्रकार्पासिकण्वानां गोमयस्य गुडस्य च ।
दभः श्वीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥
वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च ।
मन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥
मत्स्यानां पश्चिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।
मांसस्य मधुनश्चैव यचान्यत्पश्चसंभवम् ॥ ३२८ ॥
अन्येषां चैवमादीनामद्यानामोदनस्य च ।
पक्कान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्विगुणो दमः ॥ ३२९ ॥
स्त्रेलादि ॥ जर्णादिस्त्रस्य कार्णासिकस्य च, किण्वस्य सुराबीजद्रव्यस्य च,

पाठा॰—1 खरिका° ( =बलीवदीं गोरयक्षेत्रादी यया वाहाते सा ).

सूक्ष्मवेणुखण्डिनिर्मितजलाहरणभाण्डादीनां, यद्प्यन्यत्पश्चसंभवं च मृगचर्म-खद्गश्टङ्गादि, अन्येवामप्येवविधानामसारप्रायाणां मनःशिलादीनां, मद्यानां द्वादशानां, पक्काबानामोदनन्यतिरिक्कानामप्यपूपमोदकादीनां च कार्पासादि-श्रव्दार्थानां प्रसिद्धानां चापहारे कृते मूल्याद्विगुणो दण्डः कार्यः॥३२६-३२९॥

## पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवह्णीनगेषु च । अन्येष्वपरिपृतेषु दण्डः स्यात्पश्चकृष्णलः ॥ ३३०॥

— पुष्पेष्विति ॥ पुष्पेषु, हरिते क्षेत्रस्थे धान्ये, गुल्मलतावृक्षेष्वपरिवृतेषु अनपावृतवृक्षेषु, वक्ष्यमाणश्चोके धान्यादिषु निर्देशात्परिवपनसंभवाच धान्येषु, अन्येषु समर्थपुरुषभारहार्येषु हतेषु देशकालाद्यपेक्षया सुवर्णस्य रोप्यस्य वा पञ्चकृष्णलमाषपरिमाणो दृण्डः स्थात् ॥ ३३० ॥

## परिपूतेषु धान्येषु शाकमुलफलेषु च । निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥

परीति ॥ निष्पुलाकीकृतेषु, वृक्षेषु, धान्येषु, शाकादिषु चापहृतेषु, धन्येषा द्रव्यस्वामिनां संबन्धः, येन सह कश्चिद्पि संबन्धो नास्त्येकग्राम-वासादिस्तत्र शतं दण्ड्यः । सान्वये तु पञ्चाशत्पणो देयः । खल्ख्येषु च धान्येष्वयं दण्डस्तत्र हि परिपूर्यते । गृहेष्वेकादशगुणो दण्डः प्रागुक्तः ॥३३१॥

## स्थात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

स्यादिति ॥ यद्धान्यापहारादिकं कर्म द्रन्यस्वामिसमक्षं बलावृतं तत्साहसं स्यात्, सहो बलं तद्भवं साहसम् । अत इह स्तेयदण्डो न कार्यः । एतद्र्यः स्तेयप्रकरणेऽस्य पाठः । यत्पुनः स्वामिपरोक्षापहृतं तत्स्तेयं भवेत् । यश्च हृत्वाऽपहृते तद्पि स्तेयमेव ॥ ३३२ ॥

## यस्त्वेतान्युपहृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः । तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाप्तिं चोरयेद्वहात् ॥ ३३३ ॥

यस्त्वेतानीति ॥ यः पुनरेवानि सूत्रादिइन्याण्युपभोगार्थं कृतसंस्कारण्ये मनुष्यश्चोरयेत्, यश्च त्रेताप्तिं गृह्याप्तिं वाऽप्तिगृहाचोरयेत्तं राजा प्रथमं साहसं दण्डयेत् । अभिस्वामिनश्चाधानोपक्षयो दातन्यः। गोविन्दराजस्तु लौकिका-भ्रिमपि चोरयतो दण्ड इत्याहः, तद्युक्तम् । अल्पापराधे गुरुदण्डस्यान्याय्य-त्वातं ॥ ३३३ ॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।

तत्तदेव हरेत्तस प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३८ ॥

येनेति ॥ येन येनाङ्गेन इस्तपादादिना येन प्रकारेण संधिच्छेदादिना चौरो मनुष्येषु विरुद्धं धनापहारादिकं चेष्टते तस्य तदेवाङ्गं प्रसङ्गतिवारणाय राजा छेदयेत्। तत्र धनस्वाम्युत्कर्षापेक्षयाऽयमङ्गच्छेदः॥ ३३४॥

पिताचार्यः सहन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।

नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः खधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥

पितेति ॥ पित्राचार्यमित्रश्रातृमातृपत्नीपुत्रपुरोहितानां मध्यात्स्वधमें यो नाऽवतिष्ठते स राज्ञोऽदण्डनीयो नास्ति, अपि तु दण्डनीय एव ॥ ३३५ ॥

कार्षापणं भवेदण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।

तत्र राजा भवेदण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥

कार्षापणमिति ॥ यत्रापराधे राजन्यतिरिक्तो जनः कार्षापणं दण्डनीयो मवेत्तस्मिन्नपराधे राजा पणसहस्तं दण्डनीय इति निश्चयः । स्वार्थेदण्डं त्वप्सु अवेशयेद्राह्मणेभ्यो वा द्यात् । 'ईशो दण्डस्य वरुणः' (९।२४५) इति वस्यमाणत्वात् ॥ ३३६ ॥

अष्टापाद्यं तु ग्रुद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम् । षोडग्नैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंग्नत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि ग्रतं भवेत् । द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तदोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

अष्टापाद्यमिति ॥ ब्राह्मणस्येति ॥ तद्दोषगुणविद्धि स इति सर्वत्र संव-ध्यते । यस्मिन्सेये यो दण्ड उक्तः स स्तेयगुणदोषज्ञस्य शूद्रसाष्ट्रभिरापाद्यते गुण्यत इत्यष्टगुणः कर्तेच्यः, षोडशगुणो गुणदोषज्ञस्य वैश्यस्य, द्वार्त्रिशद्धण-स्त्रथाविधक्षत्रियस्य, चतुःषष्टिगुणो गुणदोषविदुषो ब्राह्मणस्य, शतगुणो वाष्टा-विश्वत्यधिकशतगुणो वा गुणातिशयापेक्षया ब्राह्मणस्येव ॥ ३३७-३३८ ॥

वानस्पत्यं मुलफलं दार्वस्यर्थं तथैव च।

तृणं च गोम्यो प्रासार्थमस्तेयं मनुरत्रवीत् ॥ ३३९ ॥

वानस्पत्यमिति ॥ 'वीरुद्धनस्पतीनां पुष्पाणि स्ववदाददीत, फलानि चाप-रिवृतानां' इति गौतमवचनादपरिवृतवानस्पत्यादीनां मूलफलं, होमीयास्यर्थे च दारु, गोप्रासार्थं च तृणं परकीयमस्तेयं मनुराह । तसान्न दृण्डो नाप्यधर्मः ॥ ३३९ ॥

३० म० स्मृ०

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् । याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

य इति ॥ अदत्तादायिनश्चौरस्य हस्ताद्यो ब्राह्मणो याजनाध्यापनप्रति-प्रहैरपि परकीयधनं ज्ञात्वा लब्धुमिच्छेत्स चौरवचौरतुल्यो ज्ञेयः, अतः स इव दण्ड्यः ॥ ३४० ॥

> द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविश्च द्वे च मूलके । आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमईति ॥ ३४१ ॥

द्विज इति ॥ द्विजातिः पथिकः क्षीणपाथेयो द्वाविश्चदण्डौ द्वे वा मूलके परकीयक्षेत्रादृह्वन् दण्डदानयोग्यो न भवति ॥ ३४१ ॥

असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः ।

दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्थाचौरिकल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

असंदितानामिति ॥ अबद्धानामश्वादीनां परकीयानां यो दर्पेण बन्ध-यिता, बद्धानां मन्दुरादौ मोचयिता, यो दासाश्वरथापद्वारी स चौरदण्डं प्राप्तुयात् । स च गुरुङच्चपराधानुसारेण मारणाङ्गच्छेदनधनाद्यपद्वाररूपो बोद्धन्यः ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।

यशोऽस्मिन्प्रामुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥ अनेनेति ॥ अनेनोक्तविधानेन राजा चौरनियमनं कुर्वाण इह लोके स्थातिं परलोके चोत्कृष्टसुखं प्रामुयात् ॥ ३४३ ॥

इदानी साहसमाह—

ऐन्द्रं स्थानमभिष्रेप्सुर्यश्रश्राक्षयमव्ययम् ।

नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

ऐन्द्रमिति ॥ सर्वाधिपत्यलक्षणं पदं ख्यातिं चाविनाशिनीमनुपक्षयां चातिशयेन प्राप्तुमिच्छत्राजा बलेन गृहदाहधनग्रहणकारिणं मनुष्यं क्षणमपि नोपेक्षेत ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तस्कराचैव दण्डेनैव च हिंसतः । साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

ं नागिति ॥ वानपारुष्यकृताचोराच दण्डपारुष्यकारिणश्च मनुष्यात्साहस-कृन्मनुष्योऽतिशयेन पापकारी बोद्धन्यः ॥ ३४५ ॥

#### साहसे वर्तमानं तु यो मर्पयति पार्थिवः । स विनाशं त्रजत्याग्च विद्वेषं चाधिगच्छति ।। ३४६ ॥ स इति ॥ यो साहा साहने प्रवर्तेषातं अपने स पारकारावेशाया

साहस इति ॥ यो राजा साहसे प्रवर्तमानं क्षमते स पापकृतामुपेक्षणाद-धर्मेबुच्या विनश्यति । अपिकयमाणराष्ट्रतया जनविद्वेषं च गच्छति ॥३१६॥

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् । सम्रत्मुजेत्साहसिकान्सर्वभृतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

न मित्रेति ॥ मित्रवाक्येन बहुधनप्रीत्या वा सर्वभूतभयजनकान्साहितः कान् राजा न खजेत् ॥ ३४७ ॥

> शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विष्ठवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥ आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे । स्त्रीविग्राभ्यपपत्तौ च झन्धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥

शस्त्रमिति ॥ आत्मनश्चेति ॥ ब्राह्मणादिभिस्त्रिभिर्वणैः खङ्गाद्यायुधं प्रही-तन्यम् । यसिन्काले वर्णानामाश्रमिणां च साहसकारादिभिर्धमः कर्तुं न दीयते । तथा त्रैवर्णिकानामराजकेषु राष्ट्रेषु परचकागमनादिकालजनिते स्त्रीसङ्गरादौ प्राप्ते तथात्मरक्षार्थं दक्षिणाधनगवाद्यपहारिनिमित्ते च संप्रामे स्त्रीबाह्मणरक्षार्थं च धर्मयुद्धेनानन्यगतिकतया परान् हिंसन्न दोषभाग्मवति । परमारणेऽप्यत्र साहसदण्डो न कार्यः ॥ ३४८-३४९ ॥

#### गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

गुरुं वेति ॥ गुरुवालवृद्धबहुश्रुतब्राह्मणानामन्यतमं वधोद्यतमागच्छन्तं विद्यावृत्तादिभिरुत्कृष्टं पलायनादिभिरिप स्वनिस्तरणाशकौ निर्विचारं इन्यात् । अत प्वोशनाः—'गृहीतशस्त्रमाततायिनं इत्वा न दोषः'। कात्यायनश्च सृगुशब्दोह्नेखेन मन्त्रक्षोकमेव व्यक्तं व्याख्यातवान्—'शार्वतायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मतः। वधस्तत्र तु नैव स्वात्पापं हीने वधो भृगुः॥' मैधानियिन्तराजौ तु 'स्वीविप्राभ्युपपत्तौ च झन्धमेण न दुष्यति' इति पूर्वस्थायमनुवादः। गुर्वादिकमपि इन्यात्किमुतान्यमपीति व्याचक्षाते ॥३५०॥

नाततायिवधे दोक्षो हन्तुभैवति कश्चन । प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥ नेति ॥ जनसमक्षं रहसि वा वधोद्यतस्य मारणे हन्तुर्न कश्चिदण्यधर्मदण्डः

१ आततायिनश्चोक्ताः स्मृत्यन्तरे—'अग्निदो गरदश्चैन राखपाणिर्धनापदः । क्षेत्रदारापहर्ता च पडेते आततायिनः', 'उचतासिविषाग्निभ्यां शापोचतकरस्तथा। आथर्वणेन इन्ता च पिशुनश्चापि राजिन । भार्यो(रिक्थापदारी ?)तिक्रमकारी च छिद्रान्वेषणतत्परः । स्वमाद्यान्विजानीयास्त्रवीनेवाततायिनः' इत्यादिना ।

प्रायश्चित्ताख्यो दोषो भवति । यसाद्धन्तृगतो मन्युः क्रोधाभिमानिनी देवत-हन्यमानगतं क्रोधं विवर्धयति । साहसे चापराधगौरवापेक्षया मारणाङ्ग-च्छेदनधनप्रहणादयो दण्डाः कार्याः ॥ ३५१ ॥

इदानीं स्त्रीसंग्रहणमाह—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्ताचॄन्महीपतिः । उद्वेजनकरैर्दण्डैश्रिह्वयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

 परदारेति ॥ परदारसंभोगाय प्रवृत्तान्मनुष्यगणानुद्वेजनकरैर्दण्डैर्नासौष्ठ-कर्तनादिभिरङ्कयित्वा देशान्तिःसारयेत् ॥ ३५२ ॥

> तत्सम्रत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः । येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

तिति ॥ यसात्परदाराभिगमनात्संभूतो वर्णस्य संकरः संपद्यते । येन वर्णसंकरेण विद्युद्धपत्नीकयजमानाभावात् 'क्षय्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमु-पतिष्ठति' (३।७६) । अस्याभावे सति वृद्ध्यात्यजगन्मूळविनाशोऽधर्मो जगन्नाशाय संपद्यते ॥ ३५३ ॥

> परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयत्रहः । पूर्वमाक्षारितो दोषेः प्राष्ट्रयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

परस्येति ॥ तत्स्रीप्रार्थनादिदोषैः पूर्वमुत्पन्नाभिरपवादप्रार्थनाभिन्नापा-दिभिः पुरुषः उचितकारणन्यतिरेकेण परमार्थया संमाषणं कुर्वेन्प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयात् ॥ ३५४ ॥

> यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमिभाषेत कारणात् । न दोषं प्राप्तयात्किंचित्र हि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५५ ॥

यस्त्विति ॥ यः पुनः पूर्वं तत्स्त्रीप्रार्थनाभिशापरहितः केनित्कारणेन जनसमक्षमभिभाषणं कुर्यात्र स पुनर्दण्ड्यत्वादिदोषं प्राप्तुयात् । तस्यात्र कश्चित्तस्यापराघोऽस्ति ॥ ३५५ ॥

> परिस्तयं योडभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये ननेऽपि वा । नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाम्रुयात् ॥ ३५६ ॥

परेति ॥ तीर्थाचरण्यवनादिकनिर्जनदेशोपलक्षणमात्रम् । यः पुरुषः पर-श्चियमुद्कावतरणमार्गेऽरण्ये आमाहहिर्गुल्मलताकीर्णे निर्जने देशे वने बहु-हससैतते नदीनां संगमे पूर्वमनाक्षारितोऽपि कारणादपि संमापेत स संग्रहणं सहस्रपणदण्डं वस्यमाणं आमुयात् । सम्यग्गृहाते ज्ञायते येन परस्वीसंभोगा-भिकाद इति संग्रहणम् ॥ ३५६ ॥

## उंपचारिकया केलिः स्पर्शे भूषणवाससाम् । सह खद्वासनं चैत्र सर्वे संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

उपचारेति ॥ सग्गन्थानुलेपनप्रेषणाद्युपचारकरणं केलिः परिहासालिङ्ग-नादिः अलंकारवस्राणां स्पर्शनम्, एकसङ्घासनमित्येतत्सर्वे संग्रहणं मन्वा-दिभिः स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

## स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया । परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

स्त्रियमिति ॥ यः स्प्रष्टुमनुचिते सनजवनादिदेशे स्त्रियं स्ट्रशेत्तया वा वृषणादिके स्ट्रष्टः क्षमते, तदान्योन्याङ्गीकरणे सर्वं संप्रहणं मन्वादिभिः स्ट्रतम् ॥ ३५८ ॥

### अत्राक्षणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति । चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥ ३५९ ॥

अब्राह्मण इति ॥ अब्राह्मणोऽत्र श्चद्धः, दण्डभूयस्त्वात् । ब्राह्मण्यामनि-च्छन्त्यामुत्तमे संब्रहणे प्राणान्तं दण्डं प्राप्तोति । चतुर्णामपि ब्राह्मणादीनां वर्णानां धनपुत्रादीनामतिशयेन दारा सर्वदा रक्षणीयाः । तेन प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थ-सुत्कृष्टसंब्रहणादिष सर्ववर्णेभीयां रक्षणीया ॥ ३५९ ॥

## भिश्चका बन्दिनश्चेव दीक्षिताः कारवस्तथा । संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

भिक्षुका इति ॥ भिक्षाजीविनः, स्तुतिपाठकाः, यज्ञार्थं कृतदीक्षकाः, स्पकारादयः भिक्षादिस्वकार्यार्थं गृहिस्वीभिः सह संभाषणमनिवारिताः कुर्युः। एवं चैषां संग्रहणाभावः ॥ ३६०॥

## न संभाषां परस्त्रीभिः त्रतिषिद्धः समाचरेत् । निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमईति ॥ ३६१ ॥

न संभाषामिति ॥ स्वामिना निषिद्धः स्वीभिः संभाषणं न कुर्यात् । प्रति-षिद्धः संभाषणमाचरत्राज्ञः षोड्यसमाषात्मकसुवर्णदानयोग्यो भवति ॥३६१॥

## नैष चारणदारेषु विधिनीत्मोपजीविषु ।

सज्जयन्ति हि ते नारीनिंगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥ नैष इति ॥ 'परिश्चयं योऽभिवदेत्' (८१३५६) इत्यादिसंभाषणनिषेध-विधिनेटगायनादिदारेषु नास्ति । तथा 'भार्या पुत्रः सका ततुः' (४११८)

पाडा०-1 उपकार°.

इत्युक्तत्वाद्वार्थेवात्माऽनयोपजीवन्ति धनलाभाय तस्या जारं क्षमन्ते ये, तेषु नटादिन्यतिरिक्तेष्वपि ये दारास्तेष्वप्येवं निषेधविधिर्नास्ति । यसाचारणा भात्मोपजीविनश्च परपुरुषानानीय तैः स्वभार्या संश्लेषयन्ते । स्वयमागतांश्च परपुरुषान्प्रचल्या मूत्वा स्वाज्ञानं विभावयन्तो ज्यवहारयन्ति ॥ ३६२ ॥

### किंचिदेव तु दाप्यः स्थात्संभाषां ताभिराचरन् । प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहःप्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

् किंचिदिति ॥ निर्जनदेशे चारणात्मोपजीविभिः स्त्रीभिः संभाषणं कुर्वेन् स्वल्पदण्डलेशं राज्ञा दाप्यः तासामपि परदारत्वात् । तथा दासीभिरव-रुद्धाभिबौंद्धाभिकृद्वचारिणीभिः संभाषां कुर्वन्किचिद्ण्डमात्रं दाप्यः स्वात् ॥

## योऽकामां द्षयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति । सकामां द्षयंस्तुल्यो न वधं प्राष्ठ्रयान्नरः ॥ ३६४ ॥

योऽकामामिति ॥ यस्तुल्यजातिरनिच्छन्तीं कन्यां गच्छति स तत्क्षणा-देव ब्राह्मणेतरो लिङ्गच्छेदनादिकं वधमईति । इच्छन्तीं पुनर्गच्छन्वधाहीं मनुष्यो न भवति ॥ ३६४ ॥

कन्यां भजन्तीम्रत्कृष्टं न किंचिदिप दापयेत् । जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्वृहे ॥ ३६५ ॥ कन्यामिति ॥ कन्यां संभोगार्थमुक्तृष्टजातिपुरुषं सेवमानां खल्पमि दण्डं न दापयेत् । हीनजातिं पुनः सेवमानां यज्ञातस्थापयेत । यथा वा निवृत्त-

कामा स्थात ॥ ३६५ ॥ उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमहिति ।

शुल्कं द्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥

उत्तमामिति ॥ हीनजातिरुक्षष्टामिच्छन्तीमनिच्छन्तीं वा गच्छत्यपेक्षया-क्रच्छेदनमारणात्मकं वधमहैति । समानजातीयां पुनरिच्छन्तीं गच्छन्यदि पिता मन्यते तदा पितुः शुक्कानुरूपमर्थं वा द्यान्न च दण्ड्यः । सा च कन्या तेनैव वोढच्या ॥ ३६६ ॥

अभिषद्य तु यः कन्यां कुर्यादेषेणं मानवः । तस्याशु कर्त्ये अङ्कुल्या दण्डं चार्हति षद्शतम् ॥ ३६७॥

अभिषहोति ॥ यो मनुष्यः प्रसद्य बलात्कारेण समानजातीयां गमन-वर्जमहंकारेणाङ्गुलिप्रक्षेपमात्रेणैव नारायेत्तस्य शीधमेवाङ्गुलिद्वयच्छेदः कर्त-च्यः । षद्रपणशतानि चायं दण्ड्यः ॥ ३६७ ॥

पाठा०-1 कली अङ्गल्यः.

## सकामां दृषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्रुयात् । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिष्टचये ॥ ३६८ ॥

सकामामिति ॥ समानजातिरिच्छन्तीं कन्यामङ्कल्छिप्रक्षेपमात्रेण नाशय-बाङ्गलिच्छेदमामोति । किंत्वतिप्रसक्तिनेवारणाय द्विशतं दण्डं दाष्यः॥३६८॥

कन्येव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याहिशतो दमः।

शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्रेवाश्रयाद्य ॥ ३६९ ॥

कन्यैवेति ॥ या कन्यैव परामङ्गुलिप्रक्षेपेण नाशयेत्तस्याः द्विशतो दण्ड? स्यात् । कन्याग्रुल्कं च द्विगुणं कन्यापितुर्देशाच्छिकाप्रहारांश्च दश प्राप्तु-स्यात् ॥ ३६९ ॥

> या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमईति । अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥

या त्विति ॥ या पुनः कन्यामङ्ग्रिष्ठिप्रक्षेपेण स्त्री नाशयेत्सा तत्क्षणादेव शिरोसुण्डनम् , अनुबन्धापेक्षयाङ्गुल्योरेव छेदनं, गर्दभेन च राजमार्गे वहनः मर्दति ॥ ३७० ॥

भतीरं लङ्कयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणद्पिता।

तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥

भर्तारमिति॥ या स्त्री प्रबलघनिकपित्रादिबान्धवद्र्पेण सौन्दर्यादिगुणद्र्पेण च पति पुरुषान्तरोपगमनाङ्कङ्कयेत्तां राजा बहुजनाकीणे देशे श्वभिर्भक्षयेत्॥

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।

अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

पुमांसमिति ॥ अनन्तरोक्तं जारं पापकारिणं पुरुषमयोमयशयने प्रज्व-किते राजा दाहयेत् । तत्र शयने वध्यघातिनः काष्टानि निक्षिपेयुर्यावत्पाप-कारी दग्धः स्यात् ॥ ३७२ ॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः।

त्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥

संवत्सरेति ॥ परस्रीगमनैन दुष्टस पुंसोऽद्ण्डितस्य च संवत्सरातिक्रमेणाभिशस्तस्य पूर्वदृण्डाद्विगुणो दमः कार्यः । तथा बात्सजायागमने यो दृण्डः
परिकल्पितः चण्डाल्या सह निर्देशाचाण्डालीगमनरूपः, तथा चाण्डालीगमने यो दृण्डः 'सहस्रं त्वन्यजिख्यम्' (८।३८५) इति । संवत्सरे त्वतीते
यदि तामेव बात्यजायां तामेव चाण्डालीं पुनर्गच्छति तदा द्विगुणः कर्तव्यः ।
प्रतत्पूर्वस्यैवोदाहरणद्वयं बात्यजायागमनेऽपि चाण्डालीगमनदण्डप्रदर्शनार्थम्,

१ या ह्यतिकान्तविवाहसमया प्रवृत्तरजाश्च सा वात्येत्युक्ताऽत्र.

सर्वस्थेव तु पूर्वाभिशस्तदृण्डितस्य संवत्सरातिक्रमे पुनस्तामेव गच्छतः पूर्वा-द्विगुणो दण्डो बोद्धच्यः ॥ ३७३ ॥

### श्रूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् । अंगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

शुद्ध इति ॥ भर्त्रादिभी रक्षितामरक्षितां वा द्विजातिस्त्रियं यदि सूद्धो गच्छेतदाऽरक्षितां रक्षारिहतां गच्छेलिङ्गसर्वस्वाभ्यां वियोजनीयः । अत्राङ्ग- विशेषाश्रवणेऽप्यार्यस्यभिगमने लिङ्गोद्धारः। 'सर्वस्वहरणं गुप्तां चेद्वघोऽधिकः' (गौ. स्तृ. १२।२-१) इति गौतमवचनालिङ्गच्छेदः। रक्षितां तु गच्छञ्छरीरधन- हीनः कर्तव्यः ॥ ३७४॥

वैश्यः सर्वखदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः ।

सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चाईति ॥ ३७५ ॥ वैदय इति ॥ वैदयस्य गुप्तवाह्यणीनमने संवत्सरबन्धादनन्तरं सर्वस्वप्रहण-

रूपो दण्डः कार्यः । क्षत्रियागमने तु 'वैश्यश्चेत्क्षत्रियाम्' (८।१८२) इति वक्ष्यति । क्षत्रियो गुप्तबाह्मणीगमने सहस्रं दण्डनीयः । खरमूत्रेण चास्य सुण्डनं कर्तन्यम् ॥ ३७५ ॥

ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गुच्छेतां वैदयपार्थिवौ ।

वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

व्राह्मणीिमिति ॥ अरक्षितां तु ब्राह्मणीं यदि वैश्यक्षत्रियौ गच्छतस्तदा वैश्यं पञ्चशतदण्डयुक्तं कुर्यात् । क्षत्रियं पुनः सहस्नदण्डोपेतम् । वैश्ये चायं पञ्चशतदण्डः शूद्राञ्जमादिना निर्गुणजातिमान्नोपजीविब्राह्मणीगमनविषयः । तदितरब्राह्मणीगमने वैश्यस्यापि सहस्नं दण्ड एव ॥ ३७६ ॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह।

विष्ठुतौ शूद्रवहण्ड्यौ दग्धच्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥ उभाविति ॥ तावेवोभाविष क्षत्रियवैश्यौ बाह्यण्या रक्षितया सह कृत-मैथुनौ शूद्रवत्सर्वेण हीयेते इति दण्ड्यौ । यद्वा कटेनावेष्ट्य दग्धन्यौ । तत्र 'वैश्वं लोहितद्भैंः क्षत्रियं शरपत्रैर्वावेष्ट्य' इति वसिष्ठोक्तो विशेषो प्राह्यः । पूर्वं 'सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यः' (८।३७५), 'वैश्वः सर्वस्वम्' (८।३७५) इत्यु-कृत्वाद्यं प्राणान्तिकदण्डो गुणवद्वाह्यणीगमनविषयो बोद्धन्यः ॥ ३७७ ॥

सहस्रं त्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां वित्रां वलाद्रजन् । श्रातानि पश्च दण्ड्यः स्वादिच्छन्त्या सह संगतः ॥ ३७८॥ स्वद्यक्रिति ॥ एक्षितां वित्रां त्राह्मणो बलेनोपगच्छन्सहस्रं दण्ड्यः स्वास् ।

पाठा०—1 अनुसामकी

मोण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो त्राह्मणस्य विधीयते । इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥ मोण्ड्यमिति ॥ त्राह्मणस्य वधदण्डस्थाने शिरोमुण्डनं दण्डः शास्त्रेणोप-दिश्यते । क्षत्रियादीनां पुनरुक्तेन घातेन दण्डो भवति ॥ ३७९ ॥

> न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

न जात्वित्यादि ॥ त्राह्मणं सर्वपापकारिणमपि कदाचित्र हन्यादिप तु सर्वस्वयुक्तमक्षतशरीरं राष्ट्राश्विवीसयेत् ॥ ३८० ॥

न त्राह्मणवधाद्भ्यानधर्मो विद्यते भ्रवि । तसादस्य वर्धं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

नेति ॥ ब्राह्मणवधान्महानपृथिन्यामधर्मो नास्ति । तस्माद्राजा सर्वेपाप-कारिणो ब्राह्मणस्य मनसापि वधं न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

> वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् । यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां ताबुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२ ॥

वैश्यश्चेदिति ॥ रक्षितां क्षत्रियां यदि वैश्यो गच्छेत्क्षत्रियो वा यदि रक्षितां वैश्यां तदा तयोर्काह्मण्यामगुप्तायां गमने यो दण्डावुक्तों (८१३७६) 'वैश्यं पञ्चरातं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहिन्नणम्' इति द्वावेव दण्डो वैश्यक्षत्रिययोभेवतः । अयं च वैश्यस्य रक्षितक्षत्रियागमने पञ्चरातक्ष्पो दण्डो लघुत्वाद्धणबद्धैश्यस्य निगुणजातिमात्रोपजीविक्षत्रियायाः श्र्हाञ्रान्त्यादिगमनविषयो बोद्धन्यः । क्षत्रियस्य रक्षितवैश्यायां ज्ञानतो युक्तः सहस्तं दण्डः ॥ ३८२ ॥

सहस्रं त्राक्षणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् । ग्रद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेदमः ॥३८३ ॥

सहस्रामित्यादि ॥ क्षत्रियावैश्ये रक्षिते ब्राह्मणो बजन्सहस्रं दृण्डं दाप-नीयः। शूदायां रक्षितायां क्षत्रियवैश्ययोर्गमने सहस्रमेव दृण्डः स्थात् ३८३

> क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः । मूत्रेण मौण्ड्यमृंच्छेतु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

श्रत्रियायामिति ॥ अरक्षितक्षत्रियागमने वैश्यस्य पञ्चशतानि दण्डः स्यात् । क्षत्रियस्य त्वरक्षितागमने गर्दभम् त्रेण मुण्डनं पञ्चशतरूपं वा दण्ड-मागुयात् ॥ ३८४ ॥

<sup>्</sup>**पाठा**ं—1 प्राणान्तकं. 2 भिच्छेत्तु.

अगुप्ते श्वित्रयावैश्ये शूद्रां वा त्राह्मणो त्रजन् । शतानि पश्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजिस्त्रयम् ॥३८५॥ अगुप्ते इति ॥ अरक्षितां क्षत्रियां वैश्यां शूद्रां वा त्राह्मणो गच्छन्पञ्च-शतानि दण्ड्यः स्यात् । अन्ते भवोऽन्त्यजः, यसाद्धमो नास्ति चाण्डालादि-स्तस्य स्त्रियं गच्छन्सहस्रं दण्ड्यः ॥ ३८५॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
- न साहसिकदण्डमो स राजा शकलोकभाक् ॥ ३८६ ॥
यस्येति ॥ यस्य राज्ञो राष्ट्रे चौरः, परदारगामी, परुषवादी, गृहदाहादिसाहसकारी, दण्डपारुष्यकर्ता च नास्ति स राजा शकपुरं याति ॥ ३८६ ॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पश्चानां विषये खके।

साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥

एतेषामिति ॥ एतेषां स्तेनादीनां पञ्चानां स्वराष्ट्रे नियहः समानजातीयेषु
राजसु मध्ये राजा साम्राज्यकृदिह लोके च यशस्करो भवति ॥ ३८७ ॥

ऋत्विजं यस्यजेद्याज्यो याज्यं चर्तिवस्यजेद्यदि ।

शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८॥ ऋत्विजमिति॥ यो याज्यः ऋत्विजं कर्मानुष्टानसमर्थमतिपातकादिदोष-रहितमृत्विग्वा याज्यमदुष्टं त्यजति तयोः शतं शतं दण्डः कार्यं इति दण्ड-प्रसङ्गादिदमुक्तम् ॥ ३८८॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमहिति । त्यजन्नपतितानेतात्राज्ञा दण्ड्यः श्रतानि षट् ॥ ३८९ ॥ न मातेति ॥ मातृपितृभार्यापुत्रास्त्यागमपोषणश्चश्रूषणाद्यकरणात्मकं नार्हन्ति । तस्मादेतान्पातकादिरहितान्परित्यजन्नेकैकपरित्याने राज्ञा षट्ट श्रतानि दण्ड्यः ॥ ३८९ ॥

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।

न वित्र्याञ्चरो धर्म चिकीर्षन्हितमात्मनः ॥ ३९०॥ आश्चमेष्विति ॥ द्विजातीनां गार्हस्थ्याद्याश्रमविषये कार्येऽयं शास्त्रार्थे। नायं शास्त्रार्थे इति परस्परं जातविवादानां राजा स्वीयहितं चिकीर्धरयं

शास्त्रार्थं इति सदद्यान्विशेषेण न ब्यात् ॥ ३९० ॥

यथाईमेतानभ्यच्ये ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । सांत्वेन प्रश्नमय्यादौ स्वधर्मे प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥ यथाईमिति ॥ यो यादशीं प्जामईति तं तथा प्जयित्वा अन्येर्बाह्मणैः सह विकास प्रीस्ता अपगतकोपं कृत्वा तत एषां यः स्वधर्मस्तं बोधयेत् ॥ ३९१ ॥

## त्रीतिवेश्यानुवेश्यो च कल्याणे विश्वतिद्विजे । अहीवभोजयन्वित्रो दण्डमहीति माषकम् ॥ ३९२ ॥

प्रातिवेश्येति ॥ निरन्तरगृहवासी प्रातिवेश्यः, तदन्तरगृहवास्यनुवेश्यः, यसिम्ब्रित्सवे विंशतिरन्ये ब्राह्मणा भोज्यन्ते तत्र प्रातिवेश्यानुवेश्यौ 'प्राति-वेश्यबाह्मणातिक्रमकारी च' इति विष्णुवचनाद्वाह्मणौ भोजनाह्विभोजय-न्त्राह्मण उत्तरत्र हैरण्याद्विप्रहणादिह रोष्यमाषं दृण्डमहेति ॥ ३९२ ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।

तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥

श्रोत्रिय इति ॥ विद्याचारवांस्तथाविधमेव गुणवन्तं विभवकार्येषु विवा-हादिषु प्रकृतत्वात्पातिवेदयानुवेदयावभोजयन् तदश्चं भोजिताद्विगुणमञ्चं दाप्यो हिरण्यमाषकं च राज्ञा ॥ ३९३ ॥

> अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्वविरश्च यः । श्रोत्रियेषूपकुर्वश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥ ३९४ ॥

अन्ध इति ॥ अन्धो बिधरः । पङ्जः संपूर्णसप्ततिवर्षः । सप्तत्येति 'प्रकृत्या-दिभ्य उपसंख्यानम्' (बा०१४६६) इति तृतीया । श्रोत्रियेषु धनधान्यशुश्रृ-षादिनोपकारकाः केनचिद्पि क्षीणकोद्दोनापि राज्ञा त्वनुप्राद्धाः करं न दाप-नीयाः ॥ ३९४ ॥

> श्रोत्रियं व्याधितातीं च बालदृद्धाविकंचनम् । महाकुलीनमार्थं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥

श्रोत्रियमिति ॥ विद्याचारवन्तं ब्राह्मणं रोगिणं पुत्रवियोगादिदुःखितं वालवृद्धदरिद्रमहाकुलप्रसूतोदारचरितान् राजा दानमानहितकरणेः संपूज-येत्सदा ॥ ३९५ ॥

शाल्मलीफलके श्रक्ष्णे नेनिज्यानेजकः शनैः।

न च वासांसि वासोभिर्निहरेन च वासयेत् ॥ ३९६ ॥ शाल्मलीति ॥ शाल्मल्यादिवृक्षसंबन्धिफलकेऽपरुषे रजकः शनैः शनैर्वा-सांसि प्रक्षालयेन परकीयैर्वस्नैरन्यवस्त्राणि नयेन्न चान्यवासांस्यन्यपरिधानार्थं द्यात् । यद्येवं कुर्यात्तदासौ दुण्ड्यः स्यात् ॥ ३९६ ॥

तन्तुवायो दश्चपलं दद्यादेकपलाधिकम्।

अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वाद्शकं दमम् ॥ ३९७ ॥ तन्तुवाय इति ॥ तन्तुवायो वस्निर्माणार्थं दश पलानि सूत्रं गृहीत्वा पिष्टभक्ष्याद्यनुप्रवेशादेकादशपळं वस्नं दद्यात् । यदि ततो न्यूनं द्यात्तदा द्वादश पणान् राज्ञा दाप्यः, स्वामिनश्च तुष्टिः कर्तव्येव ॥ ३९७ ॥

पाठा०-1 प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च.

ग्रुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः । कुर्युर्घ यथापल्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥

शुक्तेति ॥ स्थलजलपथन्यवहारतो राजग्राह्यो भागः शुक्तम् । तस्याव-स्थानेषु ये कुशलास्तथा सर्वपण्यानां सारासारज्ञासे पण्येषु यमर्वे मूल्य-मनुरूपं कुर्युस्ततो लाभधनाद्विंशतिभागं राजा गृह्णीयात् ॥ ३९८ ॥

> राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च । तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥

\* राझ इति ॥ राज्ञः संबन्धितया यानि विकेयद्रव्याणि प्रख्यातानि राजो-पयोगीनि इस्त्यश्वादीनि च तद्देशोद्भवानि च प्रतिषिद्धानि च । यथा 'दुर्भिक्षे धान्यं देशान्तरं न नेयम्' इति तानि लोभादेशान्तरं नयतो वणिजः सर्वहरणं राजा कुर्यात् ॥ ३९९ ॥

शुल्कस्थानं परिहरनकाले ऋयविकयी।

मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥४००॥

शुक्तस्थानमिति ॥ यः शुक्तमोषणायोत्पथेन गच्छति । अकाले राज्यादौ वा ऋयविक्रयं करोति । शुक्कखण्डनार्थं विक्रेयद्रव्यसाल्पां संख्यां वक्ति । स राजदेयमप्रकिपतमष्टगुणं दण्डरूपतया दाप्यः ॥ ४०० ॥

आगम् निर्ममं स्थानं तथा वृद्धिक्ष्यावुभौ ।

विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्ऋयविऋयौ ॥ ४०१ ॥

आगममिति ॥ कियतो दूरादागतमिति देशान्तरीयद्रव्यस्थागमनं, किय-दूरं नीयत इति स्वदेशोद्भवस्य निर्गमं, कियत्कालस्थितं कियन्मूल्यं लभत इति स्थितं, तथा कियती दृद्धिरित्यत्र कर्मकाराणां भक्ताच्छादनादिना किया-नपक्षय दृत्येवं विचार्यं, तथा वणिजां केतृणां यथा पीडा न भवति तथा सर्व-पण्यानां क्रयविक्रयो कारयेत् ॥ ४०९ ॥

पश्चरात्रे पश्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

पञ्चरात्र इति ॥ श्रागमिर्गमोपाययोगादेः पण्यानामनियतत्वादस्थिरा-र्घादीनां पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे गते स्थिरप्रायार्घाणां पक्षे पक्षे गते वणिजामर्घविदां प्रसन्धं नृपतिराप्तपुरुषैर्व्यवस्थां कुर्यात् ॥ ४०२ ॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सलक्षितम् । षट्स षद्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

तुलेति ॥ तुलामानं सुवर्णादीनां परिच्छेदार्थं यिकयते प्रतिमानं प्रस्थद्दी-णादि तत्सर्वं स्वनिरूपितं यथा स्वात् । षदसु षदसु मासेषु गतेषु पुनस्तत्सर्वं सम्यपुरुवेर्नृपतिः परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

पाठा०-1 तुला मानं (प्रस्थो द्रोण इत्यादि).

## पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्घपणं तरे ।

पादं पशुश्च योपिच पादार्घ रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४॥ पणिमिति ॥ 'भाण्डपूर्णानि यानानि' (८१४०५) इति वस्त्रिति । तेन रिक्तकटादि यानं तरविषये पणं दाप्यम् । एवं पुरुषभारोऽर्धपणं तरपण्यं दाप्यः । पशुश्च गवादिः पणचतुर्धभागं, भाररहितो मनुष्यः पणाष्ट-भागं दापनीयः ॥ ४०४॥

## भाण्डपूर्णीने यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।

रिक्तभाण्डानि यत्किचित्पुमांसञ्जापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥ भाण्डेति ॥ पण्यद्रव्यपूर्णानि शकटादीनि द्व्यगतोत्क्षपिक्षया तरं दा-प्यानि । द्रव्यरहितानि च गोणीकम्बलादीनि यत्किचित्स्वरूपं तार्यं दाप्यानि । अपरिच्छदा दरिद्राः उक्तपदार्थदानापेक्षया यत्किचिद्दापनीयाः ॥ ४०५ ॥

# दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो मनेत्।

नदीतीरेषु तदिद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥ दीर्घेति ॥ पूर्व पारावारे तरणार्थमुक्तम् । इदानीं नदीमार्गे दूराव्यक्ति

गन्तच्ये प्रबलवेगस्थिरोदकनद्यादिदेशश्रीष्मवर्षादिकालापेक्षया तरमूच्यं कल्पनीयम् । एतच नदीतीरे बोद्धन्यम् । समुद्रे तु वाताधीनपोतगमनत्वा-रखायत्तरवाभावे तरपण्यविशेषज्ञापकं नदीवद्वियोजनादिकं नास्ति । तत-सात्रोचितमेव तरपण्यं श्राह्मम् ॥ ४०६॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रत्रजितो मुनिः ।

त्राह्मणा लिङ्गिनश्रेव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥

गर्भिणीति ॥ संजातगर्भा स्त्री मासद्वयादृध्वं, तथा प्रवित्रतो भिक्षः, मुनिर्वानप्रस्थः, ब्राह्मणाश्च, लिक्किनो ब्रह्मचारिणः, तरमूल्यं तरे न दाण्याः ॥

यनावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराघतः।

तदाशैरेव दातव्यं समागम्य खर्तोऽज्ञतः ॥ ४०८ ॥

यन्नावीति ॥ नौकारूढानां यत्किनिन्नाविकापराधेन नष्टं दृब्यं तमाविकै-रेन मिलित्ना यथामागं वृातन्यम् ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो च्यवहारस्य निर्णयः।

दाशापराभतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥

एष इति ॥ नाविकापराघाद्यदुके नष्टं तमाविकेरेव दातव्यम् । पूर्वोक्त-मनूदितं 'दैविके नास्ति निम्रहः' इति विघातुं नौयाविनामेष व्यवहारस्य निर्णय उक्तः । दैवोपजातवातादिना नौभक्षेन धनादिनाहो नाविकानां न दण्डः ॥ ४०९ ॥

#### वाणिज्यं कारयेद्वैद्यं कुसीदं कृषिमेव च ।

पञ्चनां रक्षणं चैव दासं ग्रद्धं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

चाणिज्यमिति ॥ वाणिज्यं कुसीदकृषिपशुरक्षणानि वैश्यं कारयेत् । शूद्धं च राजा द्विजातीनां दास्यं कारयेत् । अकुर्वाणौ वैश्यशूद्दौ राज्ञो दण्ड्यावि-स्रोवमर्थोऽयमिहोपदेशः ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैत्र वैदयं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्दितौ ।

विभृयादानृशंखेन खानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥

् श्रित्रयमिति ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियवैदयो मृत्यभावेन पीडितौ करणया स्वानि कर्माणि रक्षणकृष्यादीनि कारयन् प्रासाच्छादनादिना पोषयेत् । एवं धन-वान्बाह्मणसाबुपगताविश्रम् राज्ञा दण्डनीय इति प्रकरणसामर्थ्याद्गम्यते ॥

दासं तु कारयँ छोभाद्राह्मणः संस्कृतान्द्रिजान्।

अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः श्रतानि षद् ॥४१२॥

दास्यं त्विति ॥ प्रभवतो भावः प्राभवत्यं । ब्राह्मणः कृतोपनयनान्द्विजा-तीननिच्छतः प्रभुत्वेन लोभाद्दास्यकर्म पाद्यावनादि कारयन् षद श्रतानि दण्ड्यः ॥ ४९२ ॥

ग्रद्रं तु कारयेदास्यं ऋीतमऋीतमेव वा ।

्दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ त्राह्मणस्य स्वयंभ्रवा ॥ ४१३ ॥

शूद्रं त्विति ॥ शूद्रं पुनर्भकादिभृतमभृतं वा दास्यं कारयेत् । यसादसौ ब्राह्मणस्य दास्यायेव प्रजापतिना सृष्टः ॥ ४१३ ॥

> न स्नामिना निसृष्टोऽपि श्रुद्रो दास्याद्विमुच्यते । निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तसात्तद्योहति ॥ ४१४ ॥

न स्वामिनेति ॥ यसादसौ ध्वजाहृतत्वादिना दासत्वं गतः स तेन सक्तस्वदास्याभावेऽपि शूद्धो ब्राह्मणस्य दास्यान्न विमुच्यते । तस्याद्दास्य सहजम् । कः शूद्धत्वजातिमिव दास्यमपनयति । अदृष्टार्थमण्यवद्यं शूद्धेण ब्राह्मणादिद्विजशुश्रूषा कर्तव्येत्येवंपरमेतत् । अन्यथा वक्ष्यमाणदास्यकरणपरि-गणनमनथकं स्वात् ॥ ४१४ ॥

ध्वजाहतो भक्तदासो गृहजः ऋतिद्त्रिमौ ।

√पैत्रिको दण्डॅदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥

ध्वजेति ॥ संग्रामे स्वामिसकाशाजितः, भक्तलोमाभ्युपगतदास्यो भक्त-दासः, तथा दासीपुत्रः, मुल्येन क्रीतः, अन्येन दत्तः, पित्रादिकमागतः, दण्डादिधनशुद्धार्थं स्वीकृतदास्यभावः, इत्येतानि सप्त ध्वजाहृतत्वादीनि दास-त्वकारणानि ॥ ४१५ ॥

भ १ व्यवस्तो नाम युद्धे स्वामिपराजयादिना दासत्वं प्रापित इत्याशयः। 'ध्वज'शब्दोऽत्र युद्धोषञ्चकः

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाघनाः स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥

भार्येति ॥ पुत्रभार्यादासाख्योऽमी निर्धना एव मन्वादिभिः स्मृताः । यसाद्यद्धनं तेऽर्जयन्ति यस्य ते भार्यादयसस्य तद्धनं भवति । एतच भार्याद्वीनां पारतज्ञ्यप्रदर्शनार्थपरम् । अध्यक्ष्यादेः षड्विधस्य स्त्रीधनस्य वश्यमाण-त्वात् , धनसाध्यदृष्टार्थकर्मोपदेशार्थं च भार्यादीनां पत्यधिकरणे पत्यर्थेऽपि यागाधिकारस्योक्तत्वात् , स्त्रीपुंसयोर्मध्ये एकधने चानुमितद्वारेण स्त्रिया अपि कर्तृत्वात् ॥ ४१६ ॥

विस्नब्धं त्राह्मणः शुद्राद्रव्योपादानमाचरेत् । नहि तस्यास्ति किंचित्स्वं भर्तदार्यथनो हि सः ॥ ४१७॥

विस्तव्धमिति॥ निर्विचिकिःसमेव प्रकृताहासश्च्रहाद्धनप्रहणं कुर्याद्वाह्यणः। यतस्तस्य किंचिद्पि स्वं नास्ति । यसाद्वर्तृप्राह्यघनोऽसौ । एवं चापित् बळा-दपि दासाद्वाह्यणो धनं गृह्वच राज्ञा दण्डनीय हस्येवमर्थमेतदुच्यते॥ ४१७॥

वैश्यश्रुद्रौ प्रयत्नेन स्नानि कर्माणि कारयेत् । तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥४१८॥

वैर्येति ॥ वैर्यं कृष्यादीनि, ग्रूइं च द्विजातिशुश्र्वादीनि कर्माणि यन्नतो राजा कारयेत्। यसान्तो सकर्मभ्यश्र्युतावशास्त्रीयोपार्जितधनप्रहणमदादिना जगदाकुळीकुर्याताम् ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च । 🦪

आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९॥ अहन्यहनीति॥ प्रत्यहं तद्धकृतद्वारेण प्रारव्धदृष्टादृष्टार्थकर्मणां निष्पत्तिं नृपतिर्निरूपयेत् । तथा इस्त्यधादीनि किमद्य प्रविष्टं कि निः स्तमिति, सुवर्ण-रत्नोत्पत्तिस्थानानि, माण्डागारं चावेक्षेत । व्यवहारदर्शनासकोऽपि राजा धर्मात्र परित्यजेदिति द्शीयतुमुक्तस्थापि पुनर्वचनम् ॥ ४१९॥

एवं सर्वानिमात्राजा व्यवहारान्समापयन् । व्यपोद्य किल्विषं सर्वे प्रामोति परमां गतिम् ॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेणैतान्सर्वानृणादानादीन्न्यवहारांस्त्रत्वतो निर्ण-येनान्तं नयन्पापं सर्वमपहाय स्वर्गादिप्राप्तिरूपामुकुष्टां गतिं लमते ॥४२०॥

इति श्रीकुळूकभट्कृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तावष्टमोऽच्यायः ॥ ८ ॥

#### नवमोऽध्यायः ९

पुरुषस्य स्त्रियाश्रेव धम्में वर्त्मनि तिष्ठतोः । संयोगे विष्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

पुरुषस्पेति ॥ पुरुषस्य पत्याश्च धर्माय हि ते अन्योन्यान्यभिचारिलक्षणे वर्त्मिन वर्तमानयोः संयुक्तवियुक्तयोश्च धर्मान्पारम्पर्यागतत्वेन नित्यान्व- क्ष्यामि । दम्पत्योः परस्परधर्मन्यतिक्रमे सत्यन्यतरज्ञाने दण्डेनापि स्वधर्म- ज्यवस्थापनं राज्ञा कर्तन्यमिति न्यवहारमध्येऽस्योपदेशः ॥ १ ॥

अखतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषेः स्त्रैिद्वानिश्चम् । विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥

अस्ततन्त्रा इति ॥ स्वीयैभैत्रांदिभिः सदा स्वियः स्वाधीनाः कार्याः । अनिषिद्धेष्वपि रूपरसादिविषयेषु प्रसक्ता अपि शास्मवज्ञाः कार्याः ॥ २ ॥

> पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने । रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातच्यमहिति ॥ ३ ॥

पितिति ॥ पिता विवाहात्पूर्वं स्त्रियं रसेत् । पश्चान्नर्ता । तद्माचे पुत्राः । तसान्न स्त्री क्यांचिद्प्यवस्थायां स्वातक्यं भजेत्। 'भर्ता रक्षति यौवने' इत्यादि प्रायिकम् । अभर्तृपुत्रायाः संनिहितायाः पित्रादिभिरपि रक्षणात् ॥ ३ ॥

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्रानुपयन्पतिः । मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

काल इति ॥ प्रदानकाले पिता तामददन् गृह्यों भवति । 'प्रदानं प्रागृतोः' (गौ. स्म.१८।३) इति गौतमवचनाद्दतोः प्राक्पदानकालः । पतिश्च ऋतुकाले प्रतीमगच्छन्गर्देणीयो भवति । पत्यौ मृते मातरमरक्षन्पुत्रो निन्दः स्यात् ॥॥॥

द्धक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः। द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥ ५॥

सुक्ष्मेभ्य इति ॥ खल्पेभ्योऽपि दुःसङ्गेभ्यो दौःशील्यसंपादकेभ्यो विशे-पेण खियो रक्षणीयाः किं पुनर्महच्यः । यसादुपेक्षितरक्षणाद्वयोः पितृभर्तृ-गणयोः संतापं दापयेयुः ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् । यतन्ते रश्चितुं भायां भर्तारो दुर्वला अपि ॥ ६ ॥

इमिनिति ॥ सर्वेषां बाह्यणदिवर्णानां भायरिक्षणलक्षणं धर्मे वहेबमोणश्लोक-रीत्या सर्वधर्मेश्य उत्कृष्टं जानन्तोऽन्धपक्रवादयोऽपि भार्यो रक्षितुं यतेरन् ॥६॥

पाठा०-1 धर्मे.

#### स्हो० १-११] मन्वर्थमुक्तावलीसंवलिता ।

#### स्तां प्रदृति चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। खं च धर्मे प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥ ७ ॥

स्वामिति ॥ यसाद्वार्या रक्षतो रक्षणमसंकीर्णविशुद्धापत्योत्पादनेन स्वसं-त्रतिं तथा शिष्टसमाचारं पितृपितामहाद्यन्वयमात्मानं विश्रद्धसंतानिमित्तौ-ध्वेदेहिकलाभेन स्वधर्मं च विश्चद्धभार्यस्याधानादावप्यधिकाराद्रश्चति । तस्मात्स्त्रयो रक्षितुं यतेतेति पूर्वस्य विशेषः॥ ७॥

### पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भृत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

पतिरिति ॥ पतिः ग्रुकरूपेण भार्या संप्रविश्य गर्भमापाद्य तस्यां भार्यायां पुत्ररूपेण जायते । तथा च श्रुतिः-'भात्मा वै पुत्रनामासि' (आ.गृ.सू. १११५) इति । जायायास्तदेव जायात्वं यतोऽस्यां पतिः पुनर्जायते । तथा च बहुच-ब्राह्मणम्-'पतिर्जायां प्रविश्वति गर्भो भूत्वेद्द मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ तजाया जाया भवति यदस्यां जायते प्रनः ततश्चासौ रक्षणीयेत्वेतदर्यं नामनिर्वचनम् ॥ ८॥

## यादृशं भजते हि स्त्री सुतं स्त्ते तथाविधम् । तसात्प्रजाविद्यद्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

याद्यामिति ॥ यसाचाद्यं पुरुषं कालेण बिहितं प्रतिषिद्धं वा स्त्री भजते तादशशास्त्रोक्तपुरुषसेवनेनोत्कृष्टं निषिद्धपुरुषसेवनेन च निकृष्टं पुत्रं जनयति। तसादपत्यविशुचर्य पत्नी यसतो रक्षेत् ॥ ९ ॥

क्यं रक्षणीयेत्वत भाह-

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । एतेरुपाययोगेस्त शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

नेति ॥ कश्चिद्दलात्संरोधादिनापि खियो रक्षितं न शकः, तत्रापि व्यक्ति-चारदर्शनात् । किंत्वेतैर्वस्यमाणै रक्षणोपायप्रयोगेत्वा रक्षयितं सक्याः ॥१०॥

वानुपायानाह-

अर्थस संब्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्। शौचे अमेऽनपत्त्यां च पारिणाद्यस्य वेक्षणे ॥ ११ ॥

अर्थस्येति ॥ धनस्य संमहणे वितियोगे च द्रव्यश्ररीत्युद्धी मर्जीवयुत्रकाः दिकेऽससाधने पारिकाद्यस्य गृहोक्करणस्य शय्यासनकुण्डळकटाहादेरवेक्षणे पूनां वियोजयेत् । वेक्षणे अवस्य अतिकोपः ॥ ११ ॥

**पाठाव** परिणहास्य (एहबैचहेतोः).

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः।

आत्मानमात्मना यास्तु रथ्वेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

अरिहाता इति ॥ आप्ताश्च ते आज्ञाकारिणश्च तैः पुरुषेगृहे रुद्धा अप्यर-श्विता भवन्ति याः दुःशीलतया नात्मानं रक्षन्ति । यास्तु धर्मज्ञतया आत्मा-नमात्मना रक्षन्ति ता एव सुरक्षिता भवन्ति । अतो धर्माधर्मफल्ख्यर्गनरक-प्राप्त्याद्यपदेशेनासां संयमः कार्य इति सुख्यरक्षणोपायकथनपरमिदम् ॥१२॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् । स्त्रमोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदृषणानि षट् ॥ १३ ॥

पानमिति ॥ मचपानं, असत्पुरुषसंसर्गः, भर्त्रा सह विरहः, इतस्ततश्च अमणं, श्रकालस्वापः, परगृहनिवासः, इत्येतानि षद्व श्विया व्यभिचाराख्य-दोषजनकानि । तस्मादेतेभ्य एता रक्षणीयाः ॥ १३ ॥

> नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः । सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुज्जते ॥ १४ ॥

नेता इति ॥ नैताः कमनीयरूपं विचारयन्ति । न चासां यौवनादिके वय-स्यादरो भवति । किंतु सुरूपं कुरूपं वा पुमानिस्येतावतैव तसुपशुक्षते ॥१४॥

> पौंश्रल्याचलचित्ताच नैस्नेद्याच स्वभावतः । रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विक्रवते ॥ १५ ॥

पाँश्चल्यादिति ॥ पुंसो दर्शने संभोगाद्यभिलाषशीलत्वात्, वित्तस्थैर्या-भावात्, स्वभावतः स्नेहरहितत्वाच एता यक्षेनापि लोके रक्षिताः सत्यो च्यभिचाराश्रयणेन भर्तृषु विक्रियां गच्छन्ति ॥ १५ ॥

> एवं खभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजम् । परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

एवमिति ॥ एवं श्लोकद्वयोक्तमासां स्वभावं हिरण्यगर्भेस्रष्टिकालजनितं ज्ञात्वा रक्षणार्थं प्रकृष्टं यसं पुरुषः कुर्यात् ॥ १६ ॥

शय्यासनमलंकारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।

द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मंतुरकल्पयत् । १७ ॥ इाय्येति ॥ शयनोपवेशनार्छकरणशीलत्वं कामकोधानार्जवपरहिंसाकुत्सि-वाचारवानि सर्गादौ मतुः खीभ्यः कित्यववान् । तसाद्यवतो रक्षणीयाः १७

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मञ्जेरिति धर्मे व्यवस्थितिः।

निरिन्द्रिया ह्यमञ्जाश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८॥ नास्तीति ॥ जातकर्मादिकिया स्त्रीणां मन्नेर्नास्त्रीस्थेषा शासमर्यादा स्यव-

स्थिता । ततश्च मञ्जवत्संस्कारगणाभावान्न निष्पापान्तःकरणाः । इन्द्रियं प्रमाणं, धर्मप्रमाणश्चतिस्सृतिरहितत्वाच धर्मज्ञाः । अमञ्चाः पापापनोदन-मन्रजपरहितत्वाजातेऽपि पापे तन्निर्णेजनाक्षमाः । अनृतवद्शुभाः स्त्रिय द्वति शास्त्रमर्यादा । तसाद्यवतो रक्षणीया इत्यत्र तात्पर्यस् ॥ १८ ॥

तथा च श्रुतयो बह्वचो निगीता निगमेष्वपि। खालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥

तथा चेति ॥ व्यभिचारशीलत्वं स्त्रीणां स्त्रभाव इत्युक्तम्, तत्र श्रुति । प्रमाणतयोपन्यस्पति । तथा बह्वयः श्रुतयो बहूनि श्रुतिवाक्यानि 'न चैतद्विद्भौ ब्राह्मणाः स्मो अव्राह्मणा वा' इत्येवमादीनि निगमेषु स्वालक्षण्यं व्यभिचार-शीलत्वं तत्परिज्ञानार्थं पठितानि । तासां श्रुतीनां मध्ये या निष्कृतिरूपा **ब्य**भिचारप्रायश्चित्तभूतास्ताः श्चतीः श्रणुत । एकस्याः श्चतेर्वक्ष्यमाणत्वाच्छुति श्र्णुतेत्यर्थः । 'सुपां सुपो भवन्ति' ( पा. ७।१।३९ ) इति द्वितीयैकवचने बहुः वचनम्॥ १९॥

> यन्मे माता प्रछुछुभे विचरन्त्यपतिव्रता । तन्मे रेतः पिता वंक्तामित्यसैतिनदर्शनम् ॥ २०॥

यदिति ॥ कश्चित्पुत्रो मातुर्मानसन्यभिचारमवगम्य वृते । मनोवाकायः कर्मीभः पतिब्यतिरिक्तं पुरुषं या न कामयते सा पतिवता ततोऽन्या अपति-नता। मम माता अपतिनता असती परगृहान्गच्छन्ती यत्प्रलुलुमे परपुरुषं प्रति संजातलोभाऽभूत्ततपुरुषसंकल्पदुष्टं मातृरजोरूपं रेतो मम पिता शोधय विवयस स्त्रिया व्यभिचारशीलत्वसैवदितिकरणान्तं मन्नपादत्रयं ज्ञापकम्। अयं च मञ्जश्रातुर्मास्यादिषु विनियुक्तः॥ २०॥

संप्रति मानसन्यभिचारप्रायश्चित्तरूपतामस्य मञ्चसाह-

ध्यायत्यनिष्टं यकिंचित्पाणिग्राहस्य चेतसा । तस्येष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

ध्यायतीति ॥ भर्तुरिपयं यत्किंचित्पुरुषान्तरगमनं स्त्री मनसा चिन्तयति तस्य मानसस्य व्यभिचारस्यैष प्रकृतो मन्नः सम्यक् शोधनो मन्वादिभिः रुच्यते । मातेति श्रवणात्पुत्रस्येवायं प्रायश्चित्तरूपो मन्नो न मातुः ॥ २१ ॥

यादग्गुणेन भर्ता स्त्री संयुज्येत यथाविधि । ताद्रग्गुणा सा भवति सम्रद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥

याहरगुणेनेति ॥ यथारूपेण भर्त्रा साधुनाऽसाधुना वा स्त्री विवाहविधिना संयुज्यते सा भर्तृसदशगुणा भवति । यथा समुद्रेण संयुज्यमाना नदी स्वाद्दकापि क्षारजला जायते। मर्तुरात्मसंमानाल्यक्षीरक्षणोपायान्तरोप-देशार्थमिदम्॥ २२॥

१ व्यतिरेक्ट्रधन्तेनेदमुक्तं भवति-सुशीला हि वधूर्दुःशीलाय वराय न देया, निंच दुःशीलापि वषुः सुशीलाय वराय देयेति भावः।

अत्रोत्कर्षदृष्टान्तमाह-

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा । शारङ्गी मन्द्गालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥

अक्षमालेति ॥ अक्षमालाख्या निकृष्टयोनिजा वसिष्ठेन परिणीता, तथा चटका मन्द्रपालाख्येन ऋषिणा संगता पूज्यतां गता ॥ २३ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽसिन्नपकृष्ट्रप्रसूत्यः ।

उत्कर्ष योषितः प्राप्ताः स्त्रैः स्त्रैर्भर्तुगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥

एता इति ॥ यद्यपि द्वे प्रकृते तथापि प्रदर्शनार्थत्वमनयोमेत्वा 'एताः' इति बहुवचनं कृतम्। एताश्रान्याश्च सत्यवत्यादयो निकृष्टप्रसूतयः स्वभर्तृगुणैः प्रकृष्टेरसिँहोके उत्कृष्टतां प्राप्ताः ॥ २४ ॥

> एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा । प्रेत्येह च सुखोदकीन्त्रजाधर्मान्त्रियोधत ॥ २५ ॥

एषेति॥ एष लोकाचारो जायापतिविषयः सदा श्रुभ उक्तः । इदानीमिह लोके परलोके चोत्तरकालशुभसुखहेत्न् 'किं क्षेत्रिणोऽपत्यसुत बीजिनः' इत्यादीन्त्रजाधर्मान्श्रणुत ॥ २५॥

> प्रजनार्थं महाभागाः पूजाहों गृहदीप्तयः । स्वियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

प्रजनार्थमिति ॥ यद्यप्यासां रक्षणार्थं दोषा उक्तास्तथापि शक्यमतीकार-स्वादिह दोषाभावः । एताः स्त्रियो महोपकारा गर्भोत्पादनार्थं बहुक्द्रबाण-भाजनभूता वस्त्रारंकारस्दिदानेन समानार्हाः स्वगृहे शोभाकारिण्यः स्त्रियः श्रियश्च गेष्टेषु तुल्यक्पाः; नानयोविंशेषो विद्यते । यथा निःश्रीकं गृहं न राजस्थं निःस्तिकमिति ॥ २६ ॥

अपि च,--

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।

प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यश्चं स्त्री निवन्धनम् ॥ २७ ॥ उत्पादनमिति ॥ अपसस्य जननं जातस्य परिपालनं प्रतिद्विनं चातिथिसिक्षभोजनादेलेंकिन्यवद्वारस्य प्रस्यक्षं भाषेव निदानम् ॥ २७ ॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रुषा रतिरुत्तमा ।
द्वाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनथ ह ॥ २८॥
अपत्यमिति ॥ अपत्योत्पादनसुकमप्येतदभ्यहितस्वज्ञापनार्यं दुनरिक्षा-

पाठा०—1 प्रत्यक्षं. 2 प्रत्यहं.

नम् । धर्मकार्याण्यप्रिहोत्रादीति, परिचर्या, उत्कृष्टा रतिः, पिरुणामात्मनद्या-पत्यजननादिना स्वर्गे इत्येतत्सर्वं भार्याधीनम् ॥ २८ ॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।

सा भर्तृलोकानामोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥

पतिमिति ॥ या स्त्री मनोवाग्देहसंयता सतीति विशेषणोपादानसामर्थ्या-नमनोवाग्देहैरेव न व्यभिचरति सा भर्त्रा सहार्जितान्सर्गादिलोकान्य्रामोति। इह लोके च विशिष्टैः साध्वीत्युच्यते ॥ २९ ॥

> व्यभिचारातु भर्तुः स्त्री लोके प्रामोति निन्द्यताम्। सृगालयोनिं चामोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

ट्यिमचारादिति ॥ पुरुषान्तरसंपर्कात्स्त्री लोके निन्दातां, जन्मान्तरे च सृगालजातिं प्राप्तोति । पापरोगादिभिश्च पीट्यते । पञ्चमाध्याये स्नीधर्मे उक्त-मप्येतच्छ्रोकद्वयं सद्पलसंपत्त्यर्थत्वेन महाप्रयोजनतया पुनः पठितम् ॥३०॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्र महर्षिभिः।

विश्वजन्यमिमं पुण्यम्रुपन्यासं निवोधत ॥ ३१ ॥

पुत्रमिति ॥ पुत्रमधिकृत्य शिष्टैर्मन्वादिभिः पूर्वमुत्पन्नैश्च महर्षिभिरमि-हितमिमं वस्यमाणं सर्वजनहितं विचारं श्रणुत ॥ ३१ ॥

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैषं तु भर्तरि । आहुरुत्पाद्कं केचिद्परे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

भर्तुरिति ॥ भर्तुः पुत्रो भवतीति मुनयो मन्यन्ते । भर्तिरि द्विप्रकारा श्रुतिर्वर्तते । केचिदुत्पादकमवोढारमपि भर्तारं तेन पुत्रेण पुत्रिणमाहुः । सन्ये तु वोढारं भर्तारमनुत्पादकमप्यन्यजनितेन पुत्रेण पुत्रिणमाहुः ॥ ३२ ॥

> क्षेत्रभृता स्पृता नारी वीजभृतः स्पृतः प्रमान् । क्षेत्रवीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

क्षेत्रभूतेति ॥ त्रीहाष्टुत्पत्तिस्थानं क्षेत्रं तत्तुल्या स्री मुनिभिः स्मृता । पुरुषश्च त्रीह्यादिबीजतुल्यः स्मृतः । यद्यपि रेतो बीजं तथापि तद्धिकरणत्वा- त्युरुषो बीजमिति व्यपदिशते । क्षेत्रबीजसमायोगात्सवैभाणिनामुत्पत्तिः । एवं चोभयोः कारणत्वस्थाविश्विष्टत्वाष्टुका विभित्पत्तिः-किं चत्संबन्धि क्षेत्रं तस्यापत्मम्, उत्त यदीयं बीजं तस्य ? इति ॥ ३३ ॥

विश्विष्टं कुत्रचिद्वीजं सीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् । उभयं तु समं यत्र सा प्रस्तिः प्रशस्ते ॥ ३४ ॥ विशिष्टमिति ॥ कविदीजं प्रधानं 'जाता ये व्यक्तियुक्तावानं' इति स्वापे- नोत्पन्नो बीजिनो बुध इव सोमस्य । तथा न्यासर्घ्यंश्वकादयो बीजिनामेव मताः । कचित्क्षेत्रस्य प्राधान्यं यथा 'यस्तल्पजः प्रमीतस्य' (९।१६७) इति वक्ष्यति । अत एव विचित्रवीर्यक्षेत्रे क्षत्रियायां ब्राह्मणोत्पादिता अपि एतराष्ट्रा-दयः क्षत्रियाः क्षेत्रिण एव पुत्रा बभू बुः । यत्र पुनर्बीजयोन्योः साम्यं तत्र वोदैव जनयिता तद्पत्यं प्रशस्तं भवति तत्र बीजप्राधान्यापेक्षं तावदाहः ॥ ३४॥

> बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते । सर्वभृतप्रसृतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥

ै बीजस्येति ॥ बीजश्लेत्रयोदींजं प्रधानमभिधीयते । यसात्सर्वेषां भूता-रब्धानामुत्पत्तिर्वीजगतवर्णस्वरूपादिचिह्नैरुपळक्षिता दश्यते ॥ ३५ ॥

> यादशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते । ताद्योहति तत्तसिन्बीजं स्नैर्व्यिक्ततं गुणैः ॥ ३६ ॥

यादृशामिति ॥ यजातीयं बीजं बीह्यादि श्रीष्मादिकाले वर्षादिना संस्कृते क्षेत्रे उप्यते तजातीयमेव तद्दीजमात्मीयैर्वर्णादिभिरुपलक्षितं तस्मिन्क्षेत्रे जायते ॥ ३६ ॥

एवमन्वयमकारेण बीजमाधान्यं प्रदर्श्यं व्यतिरेकमुखेन दर्शयितुमाह— इयं भूमिहिँ भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते । न च योनिगुणान्कांश्विद्धीजं पुष्यति पृष्टिषु ॥ ३७ ॥

इयमिति ॥ हिरवधारणे । इयमेव भूमिभूतारब्धानां तरुगुल्मलतादीनां नित्या योनिः कारणं क्षेत्रात्मकं सर्वलोकैरुच्यते। नच भूम्याख्ययोनिधर्मान्कांश्चि-द्पि मृत्स्वरूपत्वादीन्त्रीजं स्वविकारेष्वङ्करकाण्डाद्यवस्थासु भजते । भजत्यर्थ-त्वात्पुष्यतेः सकर्मता । तसाद्योनिगुणानुवर्तनाभावात्र क्षेत्रप्राधान्यम् ॥३७॥

अपि च,---

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः । नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

भूमाविति ॥ भूमावेकस्मिन्नपि केदारे कर्षकैर्वपनकालोप्तानि नीहिमुद्धादीनि नानारूपाण्येव बीजस्वभावाज्ञायन्ते नतु भूमेरेकुत्वादेकरूपाणि भवन्ति॥३८॥

तथा हि,-

त्रीहयः शालयो मुद्दास्तिला मापास्तथा यवाः । यथाबीजं प्ररोहन्ति लग्धनानीक्षवस्तथा ॥ ३९॥।

वित्तिय इति ॥ वीहयः पष्टिकाः, शालयः कलमाखाः, तथा सुद्रादयो कुलसावान्तिकमेण नानारूपा जायन्ते ॥ ३९ ॥ स्रो०३५-४५] मन्वर्थमक्तावलीसंवलिता ।

एवं च सति,—

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते । उप्यते यद्धि यद्वीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

अन्यदिति ॥ बीहिरुप्तो मुद्रादिर्जायत इत्येवन्न संभवति । यसाद्यदेव बीजमुप्यते तत्तदेव जायते। एवं बीजगुणानुवर्तनात्झेत्रधर्माननुवृत्तेश्च बीह्यादौ मनुष्येष्वपि बीजप्राधान्यम् ॥ ४० ॥

संप्रति क्षेत्रप्राधान्यमाइ-

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।

आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥

तदिति ॥ तदीजं सहजप्रज्ञावता पित्रादिभिरनुशिष्टेन ज्ञानं वेदः, एवं विज्ञानमपि तदङ्गादिशास्त्राणि, तद्वेदिनायुरिच्छता न कदाचित्परजायायां वपनीयम् ॥ ४१ ॥

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः । यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

अत्रेति॥ अतीतकालज्ञा अस्मिन्नर्थे वायुप्रोक्ता गाथारछन्दोविरोषयुक्तानि वाक्यानि कथयन्ति । यथा परपुरुषेण परपहयां वीजं न वप्तव्यमिति ॥ ४२॥

> नक्यतीषुर्यथाविद्धः खे विद्धमनुविध्यतः। तथा नक्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

नश्यतीति ॥ यथाऽन्येन विद्धं मृगं कृष्णसारं तसिश्चेव छिद्धे पश्चादन्यस्य विध्यत आविद्धः क्षिप्तः शरो निष्फलो भवति पूर्वहन्नेव हतत्वात्तस्यैव तन्सृग-लाभात्, एवं परपत्थामुप्तं बीजं शीश्रमेव निष्फ्रलं भवति । गर्भग्रहणाः नन्तरं झेत्रिणः सद्यःफळळाभात् ॥ ४३ ॥

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्या पूर्वविदो विदुः।

स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः श्र्ल्यवतो सृगम् ॥ ४४ ॥ पृथोरिति ॥ इमामपि पृथ्वीं पृथुना पूर्वं परिगृहीतत्वादनेकराजसंबन्धेऽपि पृथोर्मार्यामिखतीतज्ञा जानन्ति । तसात्स्याणुं छिन्दति स्थाणुच्छेदः । कर्म-ण्यण् । येन स्थाणुमुत्पाव्य क्षेत्रं कृतं तस्यैव तत्क्षेत्रं वदन्ति । तथा शरादि श्रुवं येन पूर्व मृगे क्षिप्तं तस्यैव तं मृगमाहुः। एवं च पूर्वपरिग्रहीतुः स्वामि-त्वाद्रोढरेवापत्यं भवति न जनयितुः ॥ ४४ ॥

एतावानेव पुरुषो यजायात्मा प्रजेति ह । विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥ एतावानिति ॥ नैकः पुरुषो भवति अपि तु मार्यो खदेहमपत्यानीत्वेत- त्परिमाण एव पुरुषः । तथा च वाजसनेयब्राह्मणम्-'क्षर्थो ह वा एष कात्मनस्तसाद्यजायां न चिन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति, अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तहिं सर्वो भवति तथा चैतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृता' इति । एवं च तस्यामुत्पदितं भर्तुरेवापत्यं भवतीति । यतश्च दंपत्योरैक्यमतः ॥ ४५ ॥

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विग्रुच्यते ।

एवं धर्म विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ४६ ॥

• नेति ॥ निष्क्रयो विक्रयः, विसर्गस्यागः, न ताभ्यां स्नी भर्तुर्भार्यात्वादपैतिः, एवं पूर्व प्रजापतिना स्मृतं नित्यं धर्म मन्यामहे । एवं च क्यादिनापि
परस्थियमात्मसास्कृत्वा तदुस्पादितापत्यं झेत्रिण एव भवति न बीजिनः ४६

सक्रदंशो निपतति सक्रत्कन्या प्रदीयते ।

संक्रदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७ ॥

सकृदिखादि॥ पित्रादिधनविभागो आहणां धर्मतः कृतः सकृदेव भवति न पुनरन्यथा क्रियत इति। तथा कन्या पित्रादिना सकृदेकसै दत्ता न पुनरन्यसे दीयते। एवं चान्येन पूर्वमन्यसे दत्तायां पश्चात्पित्रादिभिः प्राप्ताया-सपि जनितमपसं न बीजिनो भवतीत्येतदर्थमस्योपन्यासः। तथा कन्यातो-ऽन्यसिश्वपि गवादिद्रव्ये सकृदेव ददानीत्याह, न पुनस्तदन्यसे दीयत इति त्रीण्येतानि साधूनां सकृद्धवन्ति। यद्यपि कन्यादानस्य सकृत्करणं प्रकृतोप-युक्तं तथापि प्रसङ्गादंशदानयोरि सकृत्ताभिधानम् 'सकृदाह ददानि' इत्यन्तेन कन्यादानस्यापि सकृत्करणसिद्धौ प्रकृतोपयोगित्वादेव पृथगमिधानम्॥

यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ।

नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्त्रि ॥ ४८ ॥

यश्चेति ॥ यथा गवादिषु परकीयेष्वात्मवृषभादिकं नियुज्य वत्सोत्पादको न तद्भागी तथा परकीयभार्यास्वपि नोत्पादकः प्रजाभागी भवति ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणी बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः।

ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं कचित् ॥ ४९ ॥ य इति ॥ क्षेत्रस्वामिनो ये न भवन्ति । अथ बीजस्वामिनः सन्तः परक्षेत्रे बीजं वपन्ति ते तत्र क्षेत्रजातस्य धान्यादेः फलं कचिदपि देशे न लभन्त इति प्रकृतस्य दृष्टान्तः ॥ ४९ ॥

यद्न्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् । गोमिनामेत्र ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षसम् ॥ ५०॥ यद्न्येति ॥ यद्न्यदीयगवीषु वृषभो वत्सकातमपि जनवेत्स्रवे वे वत्साः स्रीगवीस्वामिनो भवन्त्येव न वृषभस्वामिनः । वृषभस्य यच्छुकसेचनं तद्वृष-भस्वामिनो निष्फलमेव भवति । 'यथा गोऽश्वोष्ट्र-' (९१४८) इस्वनेनोत्पादकस्य प्रजाभागित्वं न भवतीत्येतत्परत्वेन दृष्टान्त उक्तः, अयं तु क्षेत्रस्वामिनः प्रजा-भागित्वं भवतीत्येतत्परत्वेन, अतो न पुनरुक्तिः ॥ ५० ॥

> तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः । क्वर्वन्ति क्षेत्रिणामथं न बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥

तथैवेति ॥ यथा गवादिगर्भेषु तथैवापत्यरहिताः सन्तः परकीयभार्यायां ये बीजं वपन्ति ते क्षेत्रस्वामिनामेवापत्यलक्षणमर्थे कुर्वन्ति । वीजसेका त्वप-त्याख्यं फळं न लभते ॥ ५३ ॥

> फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां वीजिनां तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामधों वीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

फलमिति॥ 'यदस्यामुत्पत्स्यतेऽपत्यं तदावयोरुभयोरेव' एवं यत्र नियमो न कृतस्तत्र तिःसंदिग्धमेव क्षेत्रिणोऽपत्यम् । उक्तरीत्या बीजात्क्षेत्रं बलवर् ॥५२॥

> क्रियाम्युपगमात्त्वेतृद्वीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह भागिनौ दृष्टो वीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥

क्रियेति ॥ 'यद्त्रापलं भविष्यति तदावयोरेव' इति नियम्यैतत्सेत्रं स्वामिना वीजवपनार्थ यद्दीजिनो दीयते तस्यापत्यस्य छोके बीजिसेत्रिणी द्वावपि भागिनौ दृष्टो ॥ ५३ ॥

> ओघवाताहृतं बीजं यस क्षेत्रे प्ररोहति । क्षेत्रिकस्थैव तद्वीजं नै वप्ता रुमते फरुम् ॥ ५४ ॥

ओघेति ॥ यहीजं जलवेगवाताभ्यामन्यदीयसेत्रादानीतं यस सेत्रे जायते तत्सेत्रस्वामिन एव तहीजं भवति, नतु येन बीजमुसं स तत्फरुं लभते । एवं च स्वभायां अमेणापरभायांगमने 'ममायं पुत्रो भविता' इस्ववगमेऽपि क्षेत्रिण एवापस्मिस्ननेन दृशितम् ॥ ५४ ॥

> एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च । विद्यमिद्विगणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥

एष इति ॥ एषैव व्यवस्था गवाश्वादीनां संतर्ति प्रति ज्ञातव्या । यत्झेत्र-स्वान्येव गवाश्वादेः संततिस्वामी नतु चृषमादिस्वामी । नियमे तु कृते सत्येतयोरेव संततिस्वाम्यम् ॥ ५५ ॥

> एतद्रः सारफल्गुत्वं वीजयोन्योः प्रकीर्तितम् । अतःपरं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

एतिद्ति ॥ एतद्दीजयोन्योः प्राधान्याप्राधान्यं युष्माकमुक्तम् । अतोऽन-न्तरं स्त्रीणां संतानासावे यत्कर्तेच्यं तद्वस्यामि ॥ ५६ ॥

पाठा०-1 °र्बलीयसी. 2 न नीजी,

भ्रातुर्ज्येष्टस्य भार्या या गुरुपत्यनुजस्य सा । यवीयसस्तु या भार्या सुषा ज्येष्टस्य सा स्मृता ॥५७॥

भ्रातिरिति ॥ ज्येष्टस्य भ्रातुर्या भार्या सा कनिष्टस्य श्रातुर्गुरुपत्नी भवति । कनिष्टस्य च श्रातुर्या भार्या सा ज्येष्टश्रातुः स्तुषा मुनिभिः स्मृता ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाञ्यजस्त्रियम् । पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

• ज्येष्ठ इति ॥ ज्येष्ठकनिष्ठञ्चातरावितरेतरभार्यां गत्वा संतानाभावं विना नियुक्ताविष पतितौ स्याताम् ॥ ५८ ॥

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्गियुक्तया । प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या संतानस्य परिश्चये ॥ ५९ ॥

देवरादिति ॥ संतानाभावे स्त्रिया पत्यादिगुरुनियुक्तया देवरादन्यसाहा सिपण्डाद्रक्ष्यमाणघृताकादिनियमवत्पुरुषगमनेनेष्टाः प्रजा उत्पादयितच्याः । 'ईप्सिता'इत्यभिधानमर्थात्कार्याक्षमपुत्रोत्पत्तौ पुनर्गमनार्थम् ॥ ५९ ॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥ ६० ॥

विधवायामिति ॥ 'विधवायाम्' इत्यपत्योत्पादनयोग्यपत्यभावपरमिदम् । जीवत्यपि पत्यौ अयोग्यपत्यादिगुरुनियुक्तो घृताक्तसर्वगात्रो मौनी रात्रावेकं पुत्रं जनयेश्व कथंचिद्वितीयम् ॥ ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्तीषु तद्विदः । अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥

द्वितीयमिति ॥ अन्ये पुनराचार्या नियोगात्पुत्रोत्पादनविधिज्ञा 'अपुत्र एकपुत्रः' इति शिष्टप्रवादादनिष्पन्नं नियोगप्रयोजनं मन्यमानाः स्त्रीषु पुत्रोत्पादनं द्वितीयं धर्मतो मन्यन्ते ॥ ६१ ॥

> विधवायां नियोगार्थे निर्श्ते तु यथाविधि । गुरुवच स्नुपावच वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

विधवायामिति ॥ विधवादिकायां नियोगप्रयोजने गर्भधारणे यथाशास्त्रं संपन्ने सित ज्येष्ठो आता कनिष्ठआतृभार्या च परस्परं गुरुवत्स्तुषावच व्यव-हरेताम् ॥ ६२ ॥

नियुक्ती यो विधि हित्वा वर्तेयातां तु कामतः । तात्रुभी पतिती स्थातां सुषागगुरुतल्पगी ॥ ६३ ॥

नियुक्ताविति ॥ ज्येष्टकनिष्टश्रातरौ यौ परस्परभार्यायां नियुक्तौ वृताकादि-विधानं त्यक्ता स्वेच्छातो वर्तेयातां तौ सुषागगुरुदारगौ पतितौ भवेताम् ६३

पाठा०—1 नियुक्तो यो विधि.

एवं नियोगमभिधाय दूषयितुमाह—

नान्यसिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।

अन्यसिन्हि नियुज्जाना धर्म हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥

नान्यस्मिन्निति ॥ ब्राह्मणादिभिर्विधवा स्त्री भर्तुरन्यस्मिन्देवरादौ न नियोजनीया । स्त्रियमन्यस्मिन्नियुञ्जानास्ते स्त्रीणामेकपतित्वधर्ममनादिसिद्धं नाशयेयुः ॥ ६४ ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते कचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥

नोद्वाहिकेष्विति ॥ 'अर्थमणं नु देवम्' ( आश्व. गृ. सू. १।७ ) इत्येवमा-दिषु विवाहप्रयोजनकेषु मन्नेषु कचिदपि शाखायां न नियोगः कथ्यते । नच विवाहविधायकशास्त्रेऽन्येन पुरुषेण सह पुनर्विवाह उक्तः ॥ ६५ ॥

अयं दिजैहिं विद्वद्भिः पशुधमो विगहिंतः।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

अयमिति ॥ यसाद्यं पशुसंबन्धी मनुष्याणामि व्यवहारो विद्वद्विर्ति-न्दितः । योऽयमधार्मिके वेने राज्ञि राज्यं कुर्वाणे तेन कर्तव्यतया प्रोक्तः । अतो वेनादारभ्य प्रवृत्तोऽयमादिमानिति निन्दते ॥ ६६ ॥

स महीमखिलां भुज्जन्राजार्षप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहत्वेतनः ॥ ६७ ॥

स महीमिति ॥ स वेनो महीं समयां पूर्व पालयन्नत एव राजर्षिश्रेष्ठो नतु धार्मिकत्वात् , कामोपहतबुद्धिश्रौतृभार्यागमनरूपं वर्णसंकरं प्रावर्तयत् ॥६७॥

> ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्वियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

तत इति ॥ वेनकालात्प्रभृति यो मृतभर्तृकादिश्चियं शास्त्रार्थाज्ञानादपत्यनिमित्तं देवरादौ नियोजयित तं साधवो नियतं गईयन्ते । अयं च स्वोक्तनियोगनिषेधः कलियुगविषयः । तदाह बृहस्पतिः—'उक्तो नियोगो मुनिना
निषिद्धः स्वयमेव तु । युगक्रमादशक्योऽयं कर्तृमन्यैर्विधानतः ॥ तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतन्नेतायुगे नरा । द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निमिता ॥ अनेकधा कृताः युत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः । न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं
शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥' अतो यद्गोविन्दराजेन युगविशेषच्यवस्थामज्ञात्वा सर्वदेव संतानाभावे नियोगादनियोगपक्षः श्रेयानिति स्वमनीषया किष्पतं तन्मुनिज्याख्याविरोधाक्षादियामहे । 'प्रायशो मनुवाक्येषु मुनिन्याख्यानमेव हि ।
नापराध्योऽस्मि विदुषां काहं सर्वविदः कुधीः ॥' ॥ ६८ ॥

पाठा०-1 द्विजैरविद्वद्भिः.

नियोगप्रकरणत्वात्कन्यागतं विशेषमाह—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

यस्या इति ॥ यस्याः कन्याया वाग्दाने कृते सति भर्ता म्रियेत तामनेन वक्ष्यमाणेनानुष्टानेन भर्तुः सोदरभ्राता परिणयेत् ॥ ६९ ॥

> यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्कवस्त्रां शुचित्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदतावृतौ ॥ ७० ॥

यथाविधीति ॥ स देवरो विवाहविधिना एनां स्वीकृत्य शुक्कवस्त्रां काय-वाद्मनःशौचशालिनीमागर्भप्रहणाद्रहसि ऋतावृतावेकैकवारं गच्छेत । एवं कन्याया नियोगप्रकारत्वाद्विवाहस्याप्रहाच गमनोपदेशाद्यसौ वाग्दत्ता तस्यैव तदपत्यं भवति ॥ ७० ॥

> न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः। दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्रामोति पुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥

न दस्वेति ॥ कसौचिद्वाचा कन्यां दस्वा तस्मिनसृते दानगणदोषज्ञस्ता-मन्यसै न द्यात् । यसादेकसै द्त्वान्यसै द्दत् पुरुषानृतं 'सहस्रं पुरुषानृते' (८।९८) इत्युक्तदोषं प्राप्तोति । सप्तपदीकरणस्याजातत्वाङ्गार्यात्वा-निष्पत्तेः पुनर्दानाशङ्कायामिदं वचनम् ॥ ७१ ॥

> विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् । व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

विधिवदिति ॥ 'अदिरेव द्विजाय्याणाम्' ( ३।३५ ) इत्येवमादिविधिना प्रतिगृह्यापि कन्यां वैधव्यलक्षणोपेतां रोगिणीं क्षतयोनिःवाद्यभिशापवतीसधि-काङ्गादिगोपनच्छद्मोपपादितां सप्तपदीकरणात्प्राग्ज्ञातां त्यजेत् । ततश्च तत्त्यागे दोषाभाव इत्येतद्र्ये नतु त्यागार्थम् ॥ ७२ ॥

> यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत्। तस्य तद्वितथं क्रयीत्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥

यस्तिवति ॥ यः पुनर्दोषवतीं कन्यां दोषाननिभिधाय ददाति तस्य कन्या-दातुर्दुरात्मनो दानं तत्प्रत्यर्पणेन न्यर्थं कुर्यात् । एतद्पि त्यागे दोषाभाव-कथनार्थम् ॥ ७३ ॥

विधाय दुत्तिं भायीयाः प्रवसेत्कार्यवाक्ररः। अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥ विधायेति ॥ कार्ये सति मनुष्यः पदया प्रासाच्छादनादि प्रकल्य देशा- न्तरं गच्छेत् । यसाद्रासाद्यभावपीडिता स्त्री शीलवत्यपि पुरुषान्तरसंपर्कं भजेत्॥ ७४॥

> विधाय प्रोषिते दृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता । श्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगहिंतैः ॥ ७५ ॥

विधायेति ॥ भक्ताच्छादनादि दत्त्वा पत्यौ देशान्तरं गते देहप्रसाधन-परगृहगमनरिहता जीवेत् । अदत्त्वा पुनर्गते सूत्रनिर्माणादिभिरनिन्दितशिल्पै-जीवेत् ॥ ७५ ॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।

विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ।।७६॥
प्रोषित इति ॥ गुर्वाज्ञासंपादनादिधर्मकार्थनिमित्तं प्रोषितः पतिरष्टौ
वर्षाणि पत्था प्रतीक्षणीयः, ऊर्ध्वं पतिसंनिधिं गच्छेत् । तदाह वसिष्टः
(व.स्य.१७।१५)—'प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युपासीत, ऊर्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत्'
इति । विद्यार्थं प्रोषितः षड् वर्षाणि प्रतीक्ष्यः । निजविद्याविभाजनेन यशोर्थंमपि प्रोषितः पतिः षडेव । भार्यान्तरोपभोगार्थं गतस्त्रीणि वर्षाणि ॥ ७६॥

संवैत्सरं प्रतीक्षेत द्विंषन्तीं योषितं पतिः।

ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥ संवत्सरिति ॥ पतिर्विषयसंजातद्वेषां स्त्रियं वर्षं यावत्मतीक्षेत । तत अर्धमपि द्विषन्तीं स्वदत्तमछंकारादि भनं हृत्वा नोपगच्छेत् । आसाच्छादन-मात्रं तु देयमेव ॥ ७७ ॥

अतिकामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा ।

सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥ अतीति ॥ या खी धूतादिप्रमादवन्तं मदजनकपानादिना मत्तं व्याधितं वा शुश्रूषाधकरणेनावजानाति सा विगतालंकारशय्यादिपरिच्छदा त्रीन्मासा-क्रोपगन्तस्या ॥ ७८ ॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।

न त्यागोऽस्ति द्विषनत्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥ ७९ ॥ उनमत्तमिति ॥ वातादिक्षोभादप्रकृतिस्थं पतितमेकादशाध्याये वस्यमाणं, नापुंसकं भवीजं बाध्यरेतस्त्वादिना बीजरहितं, कुष्टासुपैतं, च पतिमपरि-चरन्त्यास्त्यागो न करणीयः; नच धनमद्दणं करणीयम् ॥ ७९ ॥

मैद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिक्ला च या भवेत्।

न्याधिता वाधिवेत्तन्या हिंसार्थनी च सर्वदा ॥ ८० ॥ मद्यपेति ॥ निषद्धमद्यपानरता, असाध्वाचारा, भर्तुः प्रतिक्र्डाचरणशीला,

पाठा०-1 संवत्सरमुदीक्षेत. 2 द्विषाणां. 3 मद्यपाऽसल्यवृत्ता च.

कुष्ठादिन्याधियुक्ता, भृत्यादिताडनशीला, सततमतिन्ययकारिणी या भार्या भवेत्साऽधिवेत्तन्या तस्यां सत्यामन्यो विवादः कार्यः ॥ ८० ॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।

एकादशे स्त्री जननी सद्यस्त्विप्रयवादिनी ॥ ८१ ॥

वन्ध्येति ॥ प्रथमर्तुमारभ्याविद्यमानप्रस्ता अष्टमे वर्षेऽधिवेदनीया, मृतापत्या दशमे वर्षे, स्त्रीजनन्येकादशे, अप्रियवादिनी सद्य एव यद्यपुत्रा भवति । पुत्रवत्यां तु तत्यां 'धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत, अन्यतरापाये तु कुर्वीत' इत्यापत्सम्बनिषेधादधिवेदनं न कार्यम् ॥ ८१ ॥

या रोगिणी स्वातु हिता संपन्ना चैव शीलतः।

साजुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कहिंचित् ॥८२॥

येति ॥ या पुनर्व्याधिता सती पत्युरनुकूला भवति शीलवती च स्याता-मनुज्ञाच्यान्यो विवाहः कार्यः । कदाचिचासौ नावमाननीया ॥ ८२ ॥

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्विषता गृहात् ।

सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसंनिधौ ॥८३॥

अधिविद्येति ॥ या पुनः कृताधिवेदैना स्त्री कुपिता निर्गच्छित सा तद-इरेव रज्जादिना बद्धा स्थापनीया, भाकोपनिवृत्तेः । पित्रादिकुलसंनिधौवा स्याज्या ॥ ८३ ॥

त्रीतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युद्येष्वपि ।

प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि पट् ॥ ८४ ॥ प्रतिषिद्धापीति ॥ या पुनः क्षत्रियादिका स्त्री भर्त्रादिनिवारिता विवाहा- शुत्सवेष्विप निषिद्धमधं पिवेत्, मृत्यादिस्थानजनसमृहौ वा गच्छेत्, सा सुवर्णकृष्णलानि पदन्यवहारप्रकरणादाज्ञा दण्डनीया ॥ ८४ ॥

यदि स्वाश्रापराश्रेव विन्देरन्योपितो द्विजाः ।

तासां वर्णक्रमेण खाज्यष्ठयं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥

यदीति ॥ यदि द्विजातयः स्वजातीया विजातीयाश्रोद्वहेयुस्तदा तासां द्विजातिक्रमेण वाक्संमानदायविभागोत्कर्षार्थं ज्येष्टत्वं पूजा च वस्रालंकारा-दिदानेन गृहं च प्रधानं स्यात् ॥ ८५ ॥

मर्तः शरीरञ्जूश्रुषां धर्मकार्यं च नैत्यकम्।

स्ता चैव कुर्यात्सर्वेषां नासजातिः कथंचन ॥ ८६ ॥ भर्तुरिति ॥ भर्तुरेहपरिचर्यामञ्जदानादिस्पां धर्मकार्यं च भिक्षादाना-

श्वारु•—1 प्रतिषेत्रे पिवेद्या तु. 2 खा खैव कुर्यातु ; खाः खा नित्यं कर्म कुर्युः,

अपर्यों भार्यायां सत्यामन्या परिणीयते सा त्वधिविन्नेति भावः. २ 'ऋष्णलानि= अपर्योक्षितं अन्तम्' इति रामचन्द्रो न्याचष्टे.

तिथिपरिवेषणहोमीयद्रव्योपकल्पनादि प्रात्यहिकं सर्वेषां द्विजातीनां सजाति-भार्येव कुर्यान्न तु कदाचिद्विजातीयेति ॥ ८६ ॥

> यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया । यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

यस्त्विति ॥ यः पुनः स्वजातीयया संनिहितया देहशुश्रूपादिकं कर्तेन्यं विजातीयया मौर्ख्यात्कारयेत्स यथा ब्राह्मण्यां श्रूदाज्ञातो ब्राह्मणचाण्डाल-स्तथैव पूर्वेर्क्सपिभिर्देष्ट इति पूर्वानुवादः ॥ ८७ ॥

> उत्क्रष्टायाभिरूपाय वराय सदशाय च। अत्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

उत्कृष्टायेति ॥ कुलाचारादिभिरुकृष्टाय सुरूपाय समानजातीयाय वरा-याप्राप्तकालामपि 'विवाहयेदष्टवर्षामेवं धर्मो न हीयते' इति दक्षसारणात् । तसादपि कालाव्यागपि कन्यां ब्राह्मविवाहविधिना द्वात् ॥ ८८ ॥

> काममामरणात्तिष्ठेद्वहे कन्यर्तुमत्यि । न चैवैनां प्रयच्छेतु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

काममिति ॥ संजातार्तवापि कन्या वरं मरणपर्यन्तं पितृगृहे तिष्ठेन्न पुन-रेनां विद्यागुणरहिताय कदाचित्पित्रादिर्दद्यात् ॥ ८९ ॥

> त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत क्रमार्यृतुमती सती । ऊर्ध्व तु कालादेतसाद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

त्रीणीति ॥ पित्रादिभिर्गुणवद्वरायादीयमाना कन्या संजातातेवा सती त्रीणि वर्षाणि प्रतीक्षेत । वर्षत्रयात्पुनरूर्ध्वमधिकगुणवरालाभे समानजाति-गुणं वरं स्वयं वृणीत ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि खयम्।

नैनः किंचिदवामोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥ अदीयमानेति ॥ पित्रादिमिरदीयमाना कुमारी यथोक्तकाले यदि भर्तारं स्वयं वृणुते तदा सा न किंचित्पापं प्रामोति । नच वत्पतिः पापं प्रामोति ॥ ९१ ॥

अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या खयंवरा ।
मातृकं आतृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥ ९२ ॥
अस्त्रमिति ॥ स्वयंवृतपितका कन्या वरस्तीकरणात्पूर्वं पितृमातृआतृभिदेत्तमकंकारं तेम्यः समर्पयेत् । यदा नार्पयेतदा चौरी स्वात् ॥ ९२ ॥

पित्रे न द्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् । स हि स्वाम्याद्तिक्रामेदतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥

पित्र नेति ॥ ऋतुयुक्तां कन्यां वरः परिणयन्पित्रे छुल्कं न दद्यात् । यस्मात्स पिता ऋतुकार्यापत्योत्पत्तिनिरोधात्कन्यायाः स्वामित्वाद्धीयते ॥ ९३ ॥

> त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । ज्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीद्ति सत्वरः ॥ ९४ ॥

त्रिंशद्वर्ष इति ॥ त्रिंशद्वर्षः पुमान् द्वादशवर्षवयस्कां मनोहारिणीं कन्यामुद्रहेत् । चतुर्विशतिवर्षो वाऽष्टवर्षां, गार्हस्थ्यधर्मेऽवसादं गच्छति त्वरावान् ।
एतच योग्यकालप्रदर्शनपरं नतु नियमार्थम् ; प्रायेणैतावता कालेन गृहीतवेदो
भवति । त्रिभागवयस्का च कन्या वोढुर्यूनो योग्येति गृहीतवेदश्चोपकुर्वाणको
गृहस्थाश्रमं प्रति न विलम्बेतेति 'सत्वरः' इत्यस्यार्थः ॥ ९४ ॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः । तां सार्घ्वीं विभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥

देवेति ॥ 'भगो अर्थमा सविता पुरंधिर्मह्यं स्वाऽहुर्गाईपत्याय देवाः' इत्यादिमञ्जलिङ्गात्, या देवैर्दता भार्या तां पतिर्लभते नतु स्वेच्छया । तां सतीं देवानां प्रियं क्वन्यासाच्छादनादिना सदा द्वेषाद्यपेतामपि पोषयेत् ॥ ९५ ॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः । तसात्साधारणो धर्मः श्चतौ पत्त्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

प्रजनार्थिमिति ॥ यसाद्गभैप्रहणार्थं स्थियः सष्टाः गर्भाधानार्थं च मनुष्या-स्त्रसाद्गभौत्पादनमेवानयोः, अध्याधानादिरिप धर्मः पत्था सह साधारणः, 'भौमे वसानावद्गीनादधीयाताम्' इत्यादिवेदेऽभिहितः । तस्मात् 'भायौ विश्वयात्' (९१९५) इति पूर्वोक्तस्य शेषः ॥ ९६ ॥

> कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः । देवराय प्रदातच्या यदि कन्यानुमन्यते ॥ ९७ ॥

कन्यायामिति ॥ कन्यायां दत्तशुक्कायां स्त्यामसंजातविवाहायां यदि शुक्कदो वरो म्रियेत तदा देवराय पित्रादिभिर्वाऽसौ कन्या दातव्या यदि सा स्वीकरोति । 'यस्या म्रियेत' (९१६९) इति प्रागुक्तं नियोगरूपं, इदं तु शुक्कमहणविषयम् ॥ ९७ ॥

आद्दीत न शुद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं द्दन् । शुल्कं हि गृद्धन्कुरुते छन्नं दुहित्विकयम् ॥ ९८ ॥ आद्दीतेति ॥ शास्त्रानभिज्ञः शृद्धोऽपि पुत्री दवस्कुरुकं न गृद्धीयाहिक पुनः शास्त्रविद्विजातिः । यसाच्छुल्कं गृह्णन्गुसं दुहितृविक्रयं क्रस्ते । 'न कन्यायाः पिता' (३।५१) इत्यनेन निषद्धमपि ग्रुल्कग्रहणं कन्यायामपि गृहीतग्रुल्कायां शास्त्रीयनियमदर्शनाच्छुल्कग्रहणे शास्त्रीयत्वशङ्कायां पुन-स्तक्रिषिध्यते ॥ ९८ ॥

> एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः । यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥

एतिद्ति ॥ एतत्पुनः पूर्वे शिष्टा न कदाचित्कृतवन्तो नाप्यपरे वर्तमान-कालाः कुर्वन्ति यदन्यस्य कन्यामङ्गीकृत्य पुररन्यसौ दीयत इति । एतचा-गृहीतग्रुल्ककन्यामद्क्ता कस्यचित् , 'कन्यायाम्' (९।९७) इति तु गृहीत-ग्रुल्कविषयम् ॥ ९९ ॥

> नानुश्रुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु । शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

नेति ॥ पूर्वकल्पेष्वप्येतद्वृत्तमिति कदाचिद्वयं न श्चतवन्तः, यच्छुल्का-भिधानेन मूल्येन कश्चित्साधुर्गृढं दुहितृविकयमकाषीदिति ग्रुल्केनिपेधार्थ-वादः ॥ १०० ॥

अन्योन्यस्थाव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः । एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥

अन्योन्यस्येति ॥ भार्यापत्योर्मरणान्तं यावद्धमर्थिकामेषु परस्पराव्यभि-चारः स्यादित्येव संहोपतः स्रीपुंसयोः प्रकृष्टो धर्मो ज्ञातन्यः ॥ १०१ ॥

तथा च सति-

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतिकयौ । यथा नीभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

तथेति ॥ स्रीपुँसौ कृतविवाहौ तथा सदा यतं कुर्यातां यथा धर्मार्थकाम-विषये वियुक्तौ परस्परं न व्यभिचरेताम् ॥ १०२ ॥

> एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः। आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निवोधत ॥ १०३॥

एष इति ॥ एष भार्यापत्योरन्योन्यानुरागयुक्तो धर्मो युष्माकमुक्तः । संतानाभावे चापत्यप्राप्तिरुक्ता । इदानीं दीयत इति दायः पित्रादिधनं तस्य विभागन्यवस्थां ऋणुत ॥ १०३ ॥

पाठा०-1 नातिचरेतां. 2 दायधर्म.

१ तत्तु स्मृत्यन्तरे-'तं देशं पतितं मन्ये यत्रास्ते शुक्तविकयी' इत्यत्यन्तपातकत्वेनोक्तम्.

अातरो मिलित्वा पितृमरणादूध्वं पैतृकं मातृमरणादूध्वं मातृकं धनं समं कृत्वा विभजेरन् । ज्येष्ठगोचरतयोद्धारस्य वक्ष्यमाणत्वात् समभागोऽयं ज्येष्ठ-आतर्युद्धारमनिच्छति बोद्धच्यः । पित्रोमरणादूध्वं विभागहेतुमाह—

> ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य आतरः समम् । भजेरन्पेतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

ऊर्ध्वमिति ॥ यसात्ते पुत्रा जीवतोः पित्रोस्तदीयधने स्वामिनो न भवन्ति । मातुरिप प्रकृतत्वात् 'पैतृकम्' इत्यनेन मातृकस्यापि ग्रहणम् । अयं च पितृ-मरणानन्तरं विभागो जीवतः पितुरिच्छौभावे द्रष्टन्यः । पितुरिच्छया जीवत्यपि तस्मिन्विभागः । तदाह याज्ञवल्क्यः (या. स्मृ. २।११४)-'विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्' इति ॥ १०४ ॥

यदा पुनर्ज्येष्ठो धार्मिको भवति तदा,---

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः । शेषास्तम्रुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥

ज्येष्ठ इति ॥ ज्येष्ठ एव पितृसंबन्धि धनं गृह्णीयात् । कनिष्ठाः पुनज्येष्ठं भक्ताच्छादनाद्यर्थं पित्रसिवोपजीवेयुः । एवं सर्वेषां सहैवावस्थानम् ॥१०५॥

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः । पिदणामनृणश्चेव स तसात्सर्वमर्हति ।। १०६ ।।

ज्येष्ठेनेति ॥ उत्पन्नमात्रेण ज्येष्ठेन संस्काररहितेनापि मनुष्यः पुत्रवा-नभवति । ततश्च 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' इति श्चतेः पुण्यलोकाभावपरिहारो भवति। तथा 'प्रजया पितृभ्यः' इति श्चतेः 'पुत्रेण जातमात्रेण पितृणामनृणश्च सः' इति । अतो ज्येष्ठ एव सर्वधनमहीति पूर्वस्यानुजास्तेन साम्ना वर्तेरन् १०६

## यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्चते । स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥ १०७ ॥

यसिन्निति ॥ यसिन् जाते ऋणं शोधयति । येन जातेनामृतत्वं प्राप्तोति । तथा च श्रुतिः—'ऋणमस्मिन्समुन्नयत्ममृतत्वं च गच्छति । पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येचेजीवतो मुखम्' इति । स एव पितुर्धर्मेण हेतुना जातः पुत्रो भवति, तेनै-केनैव ऋणापनयनाद्यपकारस्य कृतत्वात् । इतरांस्तु कामजान्मुनयो जानन्ति । तत्रश्च सर्व धनं गृह्णीयादित्यस्यैवायमपि विशेषः ॥ १०७ ॥

१ वृहस्पतिस्त-'समन्यूनाधिका भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः। तथैव ते पाळनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा' इत्यनेनोद्धारे न पितुः प्रभुत्वं, किंतु शास्त्रस्थेत्याहः २ 'इतरान्' इत्यर्थवादोऽवन्, वशास्त्रतात्पर्यप्रहणाद्धि कनीयसामभागाईतैव स्थात् ; ततश्च बश्य- माणविरोधः इति मनुमाष्यम्.

## पितेव पालयेत्पुत्राङ्घेष्ठो भ्रादृन्यवीयसः । पुत्रवचापि वर्तेरङ्घेष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥

पितेवेति ॥ ज्येष्ठो आता विभागाभावेऽनुजान् आतृन्मकाच्छादना-दिभिः पितेव विभृयात् । अनुजाश्च आतरः पुत्रा इव ज्येष्ठे आतरि धर्माय वर्तेरन् ॥ १०८ ॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।

च्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥ १०९ ॥

ज्येष्ठ इति ॥ अकृतविभागो ज्येष्ठो यदि धार्मिको भवति तदानुजाना-मपि तदनुयायित्वेन धार्मिकत्वाज्येष्ठः कुलं वृद्धिं नयति । यद्यधार्मिकौ भवति तदानुजानामपि तदनुयायित्वेन धार्मिकत्वाज्येष्ठः कुलं नाशयति । तथा गुणवाञ्चेष्ठो लोके पूज्यतमः साधुभिश्चागर्हितो भवति ॥ १०९॥

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्थान्मातेव स पितेव सः । अज्येष्ठवृत्तिर्यस्त स्थात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥ ११०॥

यो ज्येष्ठ इति ॥ यो ज्येष्ठोऽनुजेषु आतृषु पितृवद्वर्तेत, स पितेव मातेवागईणीयो भवति । यः पुनस्तथा न वर्तेत, स मातुलादिबन्धुवद्र्य-नीयः ॥ ११० ॥

> एवं सह शसेयुवी पृथग्वा धर्मकाम्यया । पृथग्विवधेते धर्मस्तसाद्धम्यी पृथक्तिया ॥ १११ ॥

एवमिति ॥ एवमविभक्ता श्रातरः सह संवसेयुः । यदि वा धर्मकाम-नया कृतविभागाः पृथम्वसेयुः । यसात्पृथगवस्थाने सति पृथक् पृथक् पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानधर्मस्तेषां वर्षते तसाद्विभागिकया धर्मार्था । तथा च बृहस्पतिः-'एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् । एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्यादृहे गृहे'॥ १११॥

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच यद्धरम् । ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यातुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥

ज्येष्ठस्येति ॥ उद्भियत इत्युद्धारः ज्येष्ठस्याविमक्तसाधारणधनादुद्धत्य विंशतितमो भागः सर्वद्वन्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तद्दातन्यम् । मध्यमस्य चत्वारिश-त्तमो भागो देयः । कनिष्ठस्य पुनरशीतितमो भागो दातन्यः । अवशिष्टं धनं समं कृत्वा विभजनीयम् ॥ ११२ ॥

ज्येष्ठश्चेव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् । येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्थान्मध्यमं धनम् ॥ ११३॥ ज्येष्ठश्चेति ॥ ज्येष्ठकनिष्ठौ पूर्वश्चोके यथोक्तमुद्धारं गृद्धीयाताम् । ज्येष्ठ- कनिष्ठव्यतिरिक्ता ये मध्यमास्तेषामेवाचान्तर्ज्येष्टकनिष्ठतामनपेक्ष्य मध्यम-स्योक्तचत्वारिंशद्भागः प्रत्येकं दातब्यः । मध्यमानामवान्तरज्येष्टकनिष्टदेय-भागे वैषम्यवारणार्थमिदम् ॥ ११३ ॥

### सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः । यच सातिश्चयं किंचिद्देशतश्राष्ट्रयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां धनप्रकाराणां मध्यायच्छ्रेष्ठं धनं, ज्येष्ठः तद्धनं गृह्धीयात् । 'सर्वेद्रच्याच यद्वरम्' (९।११२) इत्युक्तमन्दितसमुचयबोधनाय । यच्चेकमपि प्रकृष्टं द्रव्यं विद्यते तद्दिप ज्येष्ठ एव गृह्धीयात् । तथा 'द्रातः पश्चनाम्' (गौ. स्ष्ट. २९।३) इति गौतमस्मरणादशभ्यो गवादिपश्चभ्य एकैकं श्रेष्ठं ज्येष्ठो लभते । इदं चयदि ज्येष्ठो गुणवानितरे निर्गुणासद्विषयम्॥ सर्वेषां समगणव्ये तः—

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु । यत्किचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥

उद्धार इति ॥ 'दशतश्चापुयाहरम्' (९।११४) इति योऽयमुद्धार उक्तः सोऽयमध्ययनादिकमें समृद्धानां आदणां ज्येष्टस्य नास्ति । तत्रापि यिकंचिदस्य देयमिति । दृब्यं पूजावृद्धिकरं ज्येष्टाय देयम् । एवं च समगुणेषूद्धारप्रतिषेध-दर्शनात्पूर्वत्र गुणोत्कर्षाविद्योषापेक्षयोद्धारवेषम्यं बोद्धव्यम् ॥ ११५ ॥

एवं सम्रुक्तोद्धारे समानंशान्त्रकल्पयेत् । उद्धारेऽनुकृते त्वेषामियं स्थादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण समुद्भुतविंशङ्कागाधिके धने समान्भागान् आवृणां कल्पयेत् । विंशतितमभागादौ पुनरनुद्धृत इयं वक्ष्यमाणा भाग-कल्पना भवेत् ॥ ११६ ॥

एकाधिकं हरेज्जयेष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः । अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥

एकाधिकमिति ॥ एकाधिकमंशं द्वावंशाविति यावत् । ज्येष्ठपुत्रो गृह्धी-यात् । अधिकमर्थं यत्रांशे सार्धमंशं ज्येष्ठादनन्तरजातो गृह्धीयात् । किष्ठाः पुनरेकैकमंशं गृह्धीयुरिति ज्यवस्थितो धर्मः । इदं तु ज्येष्ठतदनुजयोर्विद्यादि-गुणवत्त्वापेक्षया, किनष्ठानां च निर्गुणत्वे बोद्धन्यम् । ज्येष्ठतदनुजयोरधिक-दानदर्शनात् ॥ ११७ ॥

स्वेर्भ्यों इरोभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रद्युर्भातरः पृथक् । स्वात्स्वाद्शाचतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥ स्वेभ्य इति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैद्यस्त्राश्चरवारो भातरः स्वजात्यपेक्षया स्तेम्यः 'चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रः'(१।१५३) ह्लादिना वक्ष्यमाणेभ्यो भागेभ्य क्षात्मीयादात्मीयाद्वागाचतुर्थभागं पृथकन्याभ्योऽनूढाभ्यो भगिनीभ्यो या यस सोदर्या भगिनी स तस्या एव संस्कारार्थमिति एवं दृष्ठः । सोदर्याभावे विमातृजैक्ष्कृष्टैरपकृष्टैरपि संस्कार्येच । तथा च याज्ञवल्क्यः (या. स्मृ. व्य. ८।१२४)—'असंस्कृतास्तु संस्कार्या आतृिभः पूर्वसंस्कृतेः । भगिन्यश्च निजादंशाह्त्वांशं तु तुरीयकम् ॥' यदि भगिनीसंस्कारार्थं चतुर्भागं दृातुं नेच्छन्ति तदा पतिता भवेयुः। एतेनैकजातीयवैमात्रेयबहुपुत्रभगिनीसद्भावेऽपि सोदर्यभगिनीस्थश्चतुर्थभागदानमवगन्तव्यम् ॥ ११८॥

## अजाविकं सैकिशफं न जातु विषमं भजेत्। अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९॥

अजेति ॥ एकशफा अश्वादयः । छागमेषाद्येकशफसहितं विभागकाले समं कृत्वा विभक्तमशक्यं तन्न विभजेत्, किंतु ज्येष्टस्यैव तत्स्यान्नतु तत्तुल्य-द्रव्यान्तरदानेन समीकृत्य विकीय वा तन्मूल्यं विभजेत् । अजाविकमिति पश्चद्वनद्वाद्विभाषेकवद्वावः ॥ ११९ ॥

## यवीयाङ्येष्ठभार्यायां पुत्रग्रत्पाद्येद्यदि ।

समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १२०॥ यवीयानिति ॥ कनिष्ठो यदि ज्येष्ठश्रातृभार्यायां नियोगेन पुत्रं जनयेत्तदा तेन पितृत्येण सद्द तस्य क्षेत्रजस्य समो विभागः स्यान्नतु पितृवत् सोद्धारो भवतीति विभागन्यवस्था नियता । अनियोगोर्पञ्चस्यानंशित्वं वक्ष्यति । यद्यपि 'समेस्य श्रातरः समम्' (९।१०४) इत्युक्तं, तथाप्यस्यादेव लिङ्गा-रपोत्रस्यापि मृतपितृकस्य पैतामहे धने पितृन्यवद्विभागोऽस्तीति गम्यते ॥१२०॥

ज्येष्टआतुः क्षेत्रजः पुत्रोऽपि पितेव सोद्धारविभागी युक्त इतीमां शङ्कां निराकृत्य पूर्वोक्तमेव द्रढयति—

## उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।

पिता प्रधानं प्रजने तैसाद्धर्मेण तं भजेत् ॥ १२१ ॥

उपसर्जनिमिति ॥ अप्रधानं क्षेत्रजः पुत्रः प्रधानस्य क्षेत्रिणः पितृधर्मेण सोद्धारविभागग्रहणरूपेण न संबध्यते । क्षेत्र्यपि पिता तद्वारेणापत्योत्पादने प्रधानम् । तस्मात्पूर्वोक्तेनैक धर्मेण विभागन्यवस्थारूपेण पितृन्येण सह तं क्षेत्रजं विभजेदिति पूर्वस्थैव शेषः ॥ १२१ ॥

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः।

क्यं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥ १२२॥ पुत्र इति ॥ यदि प्रथमोडायां कनीयान्युत्रो जातः पश्चादूडायां च

पाठा०—1 चैकशफं. 2 तस्माद्धर्मेण तं त्यजेत्.

ज्येष्ठस्तदा तत्र कथं विभागो भवेदिति संशयो यदि स्थात्किं मातुरुद्वाहक्रमेण पुत्रस्य ज्येष्ठत्वमुत स्वजन्मकमेणेति तदाइ ॥ १२२ ॥

### एकं वृषभग्रद्धारं संहरेत स पूर्वजः । ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तद्नानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥

एकमिति ॥ पूर्वस्यां जातः पूर्वजः । 'ङयापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (गा. ६।३।६३) इति हस्वत्वम् । स किनष्ठोऽप्येकं वृषभमुद्धारं गृह्णीयात्ततः श्रेष्ठवृषभादन्ये ये सन्त्यम्याः श्रेष्ठवृषभास्ते तस्माज्येष्ठिनेयान्मातृत कनानां किनिष्ठेयानां प्रत्येकमेकैकशो भवन्तीति मात्रुद्धाहकमेण ज्येष्ट्यम् ॥ १२३ ॥

#### ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः । ततः खमातृतः शेषा भजेरिनति धारणा ॥ १२४ ॥

ज्येष्ठ इति ॥ प्रथमोदायां पुनर्यो जातो जन्मना च आतृभ्यो ज्येष्ठः स वृषभः षोडशो यासां गवां ता गृह्णीयात् । पञ्चदश्च गा एकं वृषभिमित्यर्थः । ततोऽनन्तरं येऽन्ये बह्णीभ्यो जातास्ते स्वमातृभागत ऊढज्येष्ठापेक्षया शेषा भागादि विभजेरन्ति निश्चयः ॥ १२४ ॥

#### सद्दशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः । न मातृतो ज्येष्ट्यमस्ति जन्मतो ज्येष्ट्यप्रच्यते ॥ १२५ ॥

सहरोति ॥ समानजातीयस्त्रीषु जातानां पुत्राणां जातिगतिवरोषाभावे सित न मातृक्रमेण ज्येष्ट्रवसृषिभिरुच्यते। जन्मज्येष्टानां तु पूर्वोक्त एव विशति-भागादिरुद्धारो बोद्धन्यः। एवं च मातृज्येष्ट्रवस्य विहितप्रतिषिद्धत्वात्षोडशी-प्रहणाप्रहणवद्विकल्पः। स च गुणविद्वर्गुणतया आतृणां गुरुल्घुत्वावगमाद्य-वस्थितः। अत एव 'जन्मविद्यागुणज्येष्टस्यंशं दायादवाप्त्रयात्' इति बृहस्प-स्यादिभिर्जन्मज्येष्टस्य विद्याद्युक्ष्मेणोद्धारोत्कर्षे उक्तः। 'निर्गुणस्यकं वृषभम्' इति, मन्दगुणस्य 'वृषभषोडशाः' इति मातृज्येष्ट्याश्रयणेनोद्धारो बोद्धन्यः। मातृज्येष्ट्यविधि त्वनुवादं मेधातिथिरवदत्।गोविन्दराजस्वन्यमतं जैगी १२५

न केवछं विभागे जन्मज्येष्ट्यं किंतु,—

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्त्रिपि स्मृतम् । यमयोश्रेव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥ जन्मेति ॥ सुब्रह्मण्याख्यो मन्नो ज्योतिष्टोम इन्द्रस्याह्वानार्थं प्रयुज्यते ।

पाठा०-1 परे ज्येष्ठवृषा<sup>0</sup>. 2 जातोऽज्येष्ठायां.

१ राघवानन्द्रत् —मेधातिथि-कुळूकाभिमतानुवादपूर्वं स्वाभिमतं 'वस्तुतस्तु जन्म-ज्यैष्ठयमेव प्रयोजकम्' इत्यादिनास्थातवान्. २ सोमयागादावयं मन्नद्रक्टन्दोगैः 'इन्द्राद्यनाय सुनद्याप्यो ३३ इन्द्र आगच्छ' इत्यादिप्रयोगे प्रयुज्यतेऽतः श्चितिसिद्धत्वमस्येति भावः.

तत्र प्रथमपुत्रेण पितरमुद्दिश्याह्वानं क्रियते-'क्षमुकपिता यजते' इत्येवमृषिभिः स्मृतम् । तथा यमयोर्गर्भ एककालं निषिक्तयोरिप जन्मक्रमेणैव ज्येष्ठता स्मृता । गर्भेष्विति बहुवचनं स्त्रीबहुत्वापेक्षया ॥ १२६ ॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् । यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्थात्स्वधाकरम् ॥ १२७॥ [अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् । अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥ ]

अपुत्र इति ॥ अविद्यमानपुत्रो यदस्यामपत्यं जायेत तन्मम श्राद्धाद्यौर्ध्व-देहिककरं स्यादिति कन्यादानकाले जामात्रा सह संप्रतिपत्तिरूपेण विधानेन दुहितरं पुत्रिकां कुर्यात् ॥ १२७ ॥

भत्र परप्रतिपत्तिरूपमनुवादमाह-

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः । विद्युद्ध्यर्थं खवंशस्य खयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

अनेनेति ॥ दक्षः प्रजापितः पुत्रोत्पादनविधिज्ञः स्ववंशवृद्धर्थमनेनोक्त-विधानेन कृत्स्ना दुहितरः पूर्वं पुत्रिकाः स्वयं कृतवान्। कात्क्र्ये 'अथ'-शब्दः ॥ १२८॥

ददौ स दश धर्मीय कश्यपाय त्रयोदश ।

सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतातमा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥ ददाविति ॥ स दक्षो भाविपुत्रिकापुत्रलाभेन प्रीतात्माऽलंकारादिना सत्कृत्य दश पुत्रिका धर्माय, त्रयोदश कश्यपाय, सप्तविंशतिं चन्द्राय द्वि-जानामोषधीनां च राज्ञे दत्तवान्। सत्कारवचनमन्येषामपि पुत्रिकाकरणे लिङ्गम्। दशेलादि च बह्वीनामपि पुत्रिकाकरणज्ञापकम् ॥ १२९ ॥

यथैवातमा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मिन तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३०॥
यथैवेति ॥ आत्मस्थानीयः पुत्रः 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (आ.गू.सू.१।१५)
इति मन्नलिङ्गात् । तत्समा व दुहिता तस्या अप्यङ्गेभ्य उत्पादनात् ।
अतस्यस्यां पुत्रिकायां पितुरात्मस्यरूपायां विद्यमानायामपुत्रस्य मृतस्य
पितुर्धनं पुत्रिकाव्यतिरिक्तः कथमन्यो हरेत् ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः । दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥ मातुरिति ॥ मातुर्येद्धनं तत्तस्यां स्तायां कुमारीभाग एव स्थान्न पुत्राणां तत्र भागः । कुमारी चानृढाभिष्रेता । तथा गौतमः (गौ.स्मृ.२९।६)—'स्त्रीधनं दुहितृणामदत्तानामप्रतिष्ठितानां च । अपुत्रस्य च मातामहस्य दौहित्र एक प्रकृतत्वात्पीत्रिकेयः समग्रं धनं गृह्णीयात्' इति ॥ १३१ ॥

दौहित्रो हाखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुईरेत्।

स एव दद्याद्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

दौहित्र इति ॥ दौहित्रः प्रकृतत्वात्पौत्रिकेय एव, तस्य मातामद्दधनप्रहण-मन्द्रतरोक्तम्, जनकधनग्रहणं च । पिण्डदानार्थोऽयमारम्भः, 'पितृ'शब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धत्वात् । अन्यस्य पौत्रिकेयः पुत्रान्तररहितस्य जनकस्य समग्रं धनं गृह्णीयात्स एव पितृमातामहाभ्यां ह्रौ पिण्डौ दद्यात् । पिण्डदानं श्राद्धौ-पलक्षणार्थम् । पौत्रिकेयत्वेन जनकधनग्रहणपिण्डदानन्यामोहनिरासार्थं वचनम् ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोलींके न विशेषोऽस्ति धर्मतः।

तयोहिं मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥

पौत्रिति ॥ पौत्रपौत्रिकेययोर्छोके धर्मकृत्ये न कश्चिद्विशेषोऽस्ति । यसा-त्त्रयोर्मातापितरौ तस्य देहादुत्पन्नाविति पूर्वस्यैवानुवादः ॥ १३३ ॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।

समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१२४॥
पुत्रिकायामिति ॥ कृतायां प्रत्रिकायां यदि तत्कर्तुः पुत्रोऽनन्तरं जायते
तदा तयोविभागकाले समो विभागो भवेत् । नोद्धारः प्रत्रिकाये देयः ।
यसाज्ज्येष्ठाया अपि तस्या उद्धारविषये ज्येष्ठता नादरणीया ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन । धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैयाविचारयन् ॥ १३५ ॥

अपुत्रायामिति ॥ अपुत्रायां पुत्रिकायां कथंचन मृतायां तदीयधनं तद्वतें-वाविचारयन्गृह्णीयात् । पुत्रिकायाः पुत्रसमन्वेनानपत्यस्य पत्नीरहितस्य मृत-पुत्रस्य पितुर्धनग्रहणप्रसक्तौ तिन्नवारणार्थमिदं वचनम् ॥ १३५ ॥

अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्स्रतम् । पौत्री मातामहस्तेन द्द्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

अकृतेति ॥ अकृता वा कृता वेति पुत्रिकाया एव हैविध्यं, तत्र 'यदपस्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्' (९।१२७) इसिभिधाय कन्यादानकारे वरानुमत्या या क्रियते सा कृताभिसंधिमात्रकृता, वाग्व्यवहारेण न कृता। तथा गौतमः (गौ.स्ह.२९।५)-'अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकामेकेषाम्' इति। अत एव 'पुत्रिकाथमेशङ्कया' (३।११) इति प्रागविवाद्यस्वमुक्तम् । पुत्रिकेव कृताऽकृता

वा पुत्रं समानजातीयाद्वोद्धरुत्पाद्येत्तेन दौहित्रेण पौत्रकार्यंकरणात्पौत्रिकेय-वानमातामद्दः पौत्री । तथा चासौ तसौ पिण्डं द्वात् । गोविन्दराजस्तु 'श्रकृता वा' इत्यपुत्रिकेव दुहिता तत्पुत्रोऽपि मातामहभने पौत्रिकेय इव मातामह्यादिसत्त्वेऽप्यधिकारीत्याह । तन्नः पुत्रिकायाः पुत्रतुल्यत्वाद्पुत्रिका-तत्पुत्रयोरतुल्यत्वेन तत्पुत्रयोस्तुल्यत्वायोग्यत्वादिति ॥ १३६ ॥

# पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्चते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्यामोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥

पुत्रेणेति ॥ पुत्रेण जातेन स्वर्गादिलोकान्यामोति । पौत्रेण तेष्वेव चिर-कालमवतिष्ठते । तदनन्तरं पुत्रस्य पौत्रेणादिस्यलोकं प्रामोति । अस्य च दाय-भागप्रकरणेऽभिधानं पितुर्धने पह्यादिसद्वावेऽपि पुत्रस्य तदभावे पौत्रस्येसेवं पुत्रसंतानाधिकारबोधनार्थम् ॥ १३७ ॥

#### पुत्राम्नो नरकाद्यसात्रायते पितरं सुतः । तसात्पुत्र इति प्रोक्तः खयमेव खयंभुवा ॥ १३८ ॥

पुन्नाम्न इति ॥ यसात्पुन्नामधेयनरकात्सुतः पितरं त्रायते तस्मात्राणादा-त्मनैव ब्रह्मणा पुत्र इति प्रोक्तः । तस्मान्महोपकारकत्वात्पुत्रस्य युक्तं तदीय-पुंसंतानस्य दायभागित्वमिति पूर्वदार्ह्यार्थमिदम् ॥ १३८ ॥

## पौत्रदौहित्रयोर्लीके विशेषो नोपपद्यते ।

# दौहित्रोञ्पि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥

पौत्रेति ॥ दौहित्रः पुत्रिकापुत्रः । पुत्रदौहित्रयोर्छोके कश्चिद्विद्दोषो न संभा-न्यते, यसाद्दीहित्रोऽपि मातामद्दं परलोके पौत्रवित्वस्तारयति । एतच पौत्रि-केयस्य पौत्रेण साम्यप्रतिपादनार्थं पुत्रिकाकरणानन्तरजातपुत्रेण सह धने तुल्यभागबोधनार्थम् ॥ १३९ ॥

## मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।

द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तित्पतुः पितुः ॥ १४०॥
मातुरित्यादि ॥ पौत्रिकेयः प्रथमं मात्रे पिण्डं, द्वितीयं मातुः पित्रे, तृतीयं
मातुः पितामहाय द्यात् । पित्रादीनां तु 'पित्रे मातामहाय च' (९।११२)
इत्युक्तत्वात्पितृक्रमेणैव पिण्डदानम् ॥ १४०॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु द्त्रिमः ।

स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥

जपपम्न इति ॥ 'पुत्रा रिक्थहराः पितुः' ( ९।१८५ ) इति हादशपुत्राणाः मेव रिक्थहरावं वस्यति । 'दशापरे तु कमशः' ( ९।१६५ ) हत्योरसस्त्रजाः भावे दत्तकस्य पित् रिक्थहरत्वं प्राप्तमेव । अतः सत्यप्यौरसपुत्रे दत्तकस्य सर्वगुणोपपञ्चस्य पितृरिक्थभागप्राप्त्यर्थमिदं वचनम् । यस्य दर्त्तकः पुत्रोऽध्य-यनादिसर्वगुणोपपन्नो भवति सोऽन्यगोन्नादागतोऽपि सत्यप्यौरसे पितृरिक्थभागं गृह्णीयात् । अत्र 'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः' (१९११६३) इत्यौरसस्य सर्वोत्कर्षाभिधानात्तेन नास्य समभागित्वं किंतु क्षेत्रजोक्तषष्ठभागित्वमेवास्य न्याय्यम् ।गोविन्दराजस्त्वौरसक्षेत्रजाभावे सर्वगुणोपपन्नस्यैव दक्तकस्य पितृरिक्थभागित्वार्थमिदं वचनमित्यवोचत् । तन्नः कृत्रिमादीनां निर्गु-णानां पितृरिक्थभागित्वं, दक्तकस्य तु तत्पूर्वपितस्यापि सर्वगुणोपपन्नस्यै-वेत्यन्याययत्वात् ॥ १४१ ॥

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेदित्रमः क्वेचित् । गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो न्यपैति ददतः स्वधा ॥ १४२ ॥

गोत्रिति ॥ गोत्रधने जनकसंबिन्धनी दत्तको न कदाचित्प्रामुयात् । पिण्डश्च गोत्रिरिक्थानुगामी यस्य गोत्रिरिक्थे भजते तस्यैव स पिण्डो दीयते, तस्मात्पुत्रं ददतो जनकस्य स्वधा पिण्डश्राद्धादि तत्पुत्रकर्तृकं निवर्तते ॥ १४२ ॥

> अनियुक्तासुतश्रेव पुत्रिण्याप्तश्र देवरात् । उमौ तौ नाहतो भागं जारजातककामजौ ॥ १४३ ॥

अनियुक्तेति ॥ यो गुर्वादिनियोगं विना जातो यश्च सपुत्राया नियोगेनापि देवरादेः कामादुत्पादितस्ताबुभौ क्रमेण जारोत्पन्नकामाभिलापजौ धनमागं नार्हतः ॥ १४३ ॥

> नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः । नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥ १४४ ॥

नियुक्तायामिति ॥ नियुक्तायामिप स्त्रियां घृताभ्यक्तत्वादिनियोगेतिकर्तव्यतां विना पुत्रो जातः स क्षेत्रिकस्य पितुर्धनं रुब्धं नाईति । यसादसौ पतितेनो-त्पादितः । 'नियुक्तौ यौ विधि हित्वा' (९।६३) इत्यनेन पतितस्योक्तत्वात् ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्री यथौरसः । क्षेत्रिकस्य तु तद्धीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥ हरेदिति ॥ तत्र नियुक्तायां यो जातः क्षेत्रजः पुत्र औरस इव धनं हरेत् ।

पाठा०-1 सुतः.

१ दत्तनपुत्रविषये वासिष्ठः-'शोणितशुक्तसंभवः पुरुषो मातापितृनिमित्तनः, तस्य प्रदानिविक्रयपरित्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः न त्वेकं पुत्रं दश्चात् ; स हि संतानाय पूर्वेषां, न स की पुत्रं दश्चात् , प्रतिगृत्तीयाहाऽन्यत्रातृज्ञानाक्ष्रतुः, पुत्रं प्रतिगृतीयान्यन्यभूमाहृय राजनि असे क्षेत्रक्षस्य मध्ये व्याहतिभिद्धत्वाऽदूरेवान्धवमसंनिकृष्टमेव प्रतिगृत्तीयात्' इत्याह ।

यसात्तत्तस्य कारणभूतं बीजं तत्सेत्रस्वामिन एव, तत्कार्यकरणत्वात् । अपत्य-मिप च धर्मतस्तदीयं तत् 'यवीयाक्ष्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पाद्येष्टदि' (९।१२०) इत्यनेन क्षेत्रजस्य पितामद्दधने पितृब्येन सह समभागस्य प्रोक्तत्वात् । गुणवतः स्रोत्रजस्य औरसवत्स्वोद्धारभागप्राप्त्यर्थमिदमौरसतुब्यत्वाभिधानम् ॥ १४५॥

# धनं यो विभृयाद्भातुर्भृतस्य स्त्रियमेव च ।

सोऽपत्यं अगुतुरुत्पाद्य दद्यात्तसैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

धनमिति ॥ यो मृतस्य आतुः स्थावरजङ्गमं धनं पत्या रक्षणाक्षणया समिपितं रक्षेत्रां च पुष्णीयात्स नियोगधर्मेण तस्यामुत्पादितस्य आतुरपत्यस्य दृद्यात् । एतच 'धनं यो विभृयाद्धातुः' इत्यभिधानाद्विभक्तआतृविषयम्, 'यवीयाङ्येष्टभार्यायाम्' (९।१२०) इति समभागाभिधानात् ॥ १४६॥

> या नियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवामुयात् । तं कामजमरिकथीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७॥

येति ॥ या स्ती गुर्वादिभिरनुज्ञाता देवराद्वान्यतो वा सपिण्डात्पुत्रमुत्पा-द्रयेत्स यदि कामजो भवति तदा तमरिक्थभाजं मन्वादयो वदन्ति । अका-मज एव रिक्थभागी । स च न्याहृतो नारदेन—'मुखान्मुखं परिहरन्गात्रै-र्गात्राण्यसंस्पृशन् । कुले तदवशेषे च संतानार्थं न कामतः ॥' इति ॥१४७॥

#### एतदिधानं विज्ञेयं विभागसैकयोनिषु । बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥

एतदिति ॥ समानजातीयासु भार्यासु एकेन भन्नी जातानामेष विभाग-विधिवीद्धन्यः । इदानीं नानाजातीयासु स्त्रीषु बह्वीपूरपन्नानां पुत्राणां विभागं ऋणुत ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्नियः । तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १४९ ॥

ब्राह्मणस्येति ॥ ब्राह्मणस्य यदि क्रमेण ब्राह्मण्याद्याश्वतको भार्या भवेयु-स्तदा तासां पुत्रेषुत्पकेष्वयं वस्यमाणो विभागविधिर्मन्वादिभिरुक्तः ॥ १४९ ॥

> कीनाशो गोष्ट्रपो यानमलंकारश्च वेश्म च । विप्रस्थाद्धारिकं देयमेकांश्चश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

कीनारा इति ॥ कीनाराः कर्षकः, गवां सेका वृषः, यानमधादि, अलंकारोऽङ्गुलीयकादि, वेदम गृहं च प्रधानं, यावन्तश्चांशासोऽषेकः प्रधान-भूतोंऽश इत्येतद्राह्मणीपुत्रस्योद्धारार्थं देयम् । अवशिष्टं वस्यमाणरीत्या विभजनीयम्॥ १५०॥ ज्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशो क्षत्रियासुतः । वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शद्रासुतो हरेत् ॥ १५१ ॥

ज्यंशमित्यादि ॥ त्रीनंशान्त्राह्मणो धनाद्गृह्णीयात् । द्वौ क्षत्रियापुत्रः । सार्धं वैद्यापुत्रः । अंशं ग्रुद्धासुतः । एवं च यत्र त्राह्मणीक्षत्रियापुत्रौ द्वावेव विद्येते तत्र पञ्चधा कृते धने त्रयो भागा त्राह्मणस्य, द्वौ क्षत्रियापुत्रस्य । अनयेव दिशा त्राह्मणीवैदयापुत्रादौ द्विबहुपुत्रादौ च कल्पना कार्या ॥ १५१ ॥

• सर्वे वा रिक्थजातं तद्दश्या परिकल्प्य च । धम्ये विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥ सर्विमिति ॥ यहा सर्वे रिक्थप्रकारमनुद्धतोद्धारं दश्या कृत्वा, विभाग-धर्मजो धर्मादनपेतं विभागमनेन वक्ष्यमाणविधिना कुर्वीत ॥ १५२ ॥

> चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः । वैक्यापुत्रो हरेद्वचंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५३ ॥

चतुर इति ॥ चतुरो भागान्त्राह्मणो गृह्णीयात् । त्रीन्क्षत्रियापुत्रः । हो वैदयापुत्रः । एकं शूद्राजः । अत्रापि ब्राह्मणीक्षत्रियापुत्रसद्भावे सप्तधा धने कृते चत्वारो भागा ब्राह्मणस्य । त्रयः क्षत्रियापुत्रस्य । एवं ब्राह्मणीवैद्या- , पुत्रादौ द्विबहुपुत्रेषु च कल्पना कार्या ॥ १५३ ॥

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् । नाधिकं दशमादद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

यद्यपीति ॥ यदि ब्राह्मणो द्विजातिस्त्रीषु सर्वासु विद्यमानपुत्रः स्याद्विद्य-मानपुत्रो वा तथापि ऋद्रापुत्रायानन्तराधिकारी यस्तेषु दशमभागाधिकं धर्मतो न दद्यात् । एवं च ऋद्रापुत्रविषये निषेधादविद्यमानसजातिपुत्रस्य क्षत्रियावैद्यापुत्रौ सर्वरिक्थहरो स्थाताम् ॥ १५४॥

> ब्राह्मणक्षत्रियविशां श्रुद्रापुत्रो न रिक्थभाक् । यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणेति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शूदापुत्रो धनभाङ्ग भवति, किंतु यदेव धनमसौ पिता दद्यात्तदेव तस्य भवेत् । एवं च पूर्वोक्तविभागनिषेधाद्विकल्पः, स च गुणवदगुणापेक्षः । अथवा अनुदश्द्वापुत्रविषयोऽयं दशमभागनिषेधः ॥

संमवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् । उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरित्रतरे समम् ॥ १५६ ॥ समवर्णास्तित ॥ द्विजातीनां समानजातिभार्यासु ये पुत्रा जातासे सर्वे ज्येष्ठायोद्धारं दत्त्वाऽविश्वष्टं समभागं कृत्वा ज्येष्ठेन सहान्ये विभजेरन् ॥१५६॥

पादा॰—1 यदापुत्रोऽपि वा. 2 समवर्णासु वा जाताः.

श्रुद्रस्य तु सवर्णेव नान्या भार्या विधीयते । तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १५७॥

शूद्रेति ॥ शूद्रस्य पुनः समानजातीयैव भार्योपदिश्यते नोत्कृष्टाऽवकृष्टा वा । तस्यां च ये जातास्ते यदि पुत्रशतमपि तदा समभागा एव भवेयुः । तेनोद्धारः कस्यचिन्न देयः ॥ १५७ ॥

> पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः । तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥ १५८ ॥

पुत्रानिति ॥ यान्द्वादश पुत्रान्हेरण्यगर्भो मनुराह तेषां मध्यादाचाः षड् बान्धवाः गोत्रदायादाश्च, तस्माद्वान्धवत्वेन सपिण्डसमानोदकानां पिण्डोदक-दानादि कुर्वन्त्यनन्तराभावे च गोत्रदायं गृह्णन्ति । पिनृरिक्थमाक्त्वस्य 'पुत्रा रिक्थहराः पितुः' (९।१८५) इति द्वादशविधपुत्राणामेव वक्ष्यमाण्यात् । उत्तरे षद न गोत्रधनहरा भवन्ति । बान्धवास्तु भवन्ति, ततश्च बन्धुकार्य-सुदकियादि कुर्वन्ति । मेधातिथिस्तु 'षडदायादबान्धवाः' इत्याद्युक्तरपद-कस्यादायाद्य्वमवान्धवत्वं चाह । तजः, बौधायनेन बन्धुत्वस्यामिहितस्वात् । तदाह (बौ. स्ट. २।२।३७)—'कानीनं च सहोढं च क्रीतं पौनर्भवं तथा । स्वयंदत्तं निषादं च गोत्रभाजः प्रचक्षते' ॥ १५८ ॥

औरसः क्षेत्रजश्चैन दत्तः कृत्रिम एव च ।
गृहोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा नान्धनाश्च षट् ।। १५९ ।।
औरस इति ॥ औरसादयो वक्ष्यमाणाः षड्क्षिमाजो बान्धनाश्च भवन्ति ॥

कानीनश्र सहोदश्र कीतः पौनर्भवस्तथा । स्वयंदत्तश्र शौद्रश्र पडदायादवान्धवाः ॥ १६० ॥

कानीनश्चेति ॥ कानीनादयो वश्यमाणलक्षणाः पङ्गोत्ररिक्थहरा न भवन्ति बान्धवाश्च भवन्तीति व्याख्यातम् ॥ ३६० ॥

औरसेन सह क्षेत्रजादीनां पाठातुत्वस्वाशक्कायां तिक्करासार्थमाइ---

यादृशं फलमामोति कुप्लैंः संतरञ्जलम् । तादृशं फलमामोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥

याददामिति ॥ नृणादिनिर्मितकुत्सितो द्वपादिभिरुदकं तरन् यथाविधं फर्छ प्राप्तोति तथाविधमेव कुपुत्रैः क्षेत्रजादिभिः पारकौकिकं दुःखं दुरुत्तरं प्राप्तो-तीति । भनेन क्षेत्रजादीनां मुक्यौरसपुत्रवस्तंपूर्णकार्यकरणक्षमस्वं न भवतीति द्वितम् ॥ १६१ ॥

### यद्येकरिक्थिना स्थातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ । यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्वृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥

यदीति ॥ 'अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः । उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥' (या.स्मृ. व्य. ८।१२७) इति याज्ञवल्क्योक्तिविषये, यदा क्षेत्रिकस्य पितुः क्षेत्रजानन्तरमौरसः पुत्रो भवति तदा तावौरसक्षेत्रजावे-किरिक्थनावेकस्य पितुर्यद्यपि रिक्थाहौं भवतस्तथापि यद्यस्य जनकसंबन्धि तदेव स मृद्धीयात्र क्षेत्रजः क्षेत्रिकपितुः। यत्तु वक्ष्यति (९।१६४)—'षष्ठं तु क्षेत्रज-स्यांशं प्रद्याप्पैतृकाद्धनात् । औरसो विभजनदायम्' इति, तत्पुत्रबहुलस्य । यत्तु याज्ञवल्क्येनोभयसंबन्धिरिक्थहरत्वमुक्तं तत्क्षेत्रिकपितुरौरसपुत्राभावे बोद्धन्यम् । सेधातिथि-गोविन्दराजौ तु औरसमनियुक्तापुत्रं च विषयीकृत्यमं स्टोकं व्याचक्षाते । तत्रः क्षनियुक्तापुत्रस्यक्षेत्रजत्वात् । 'क्षतियुक्तासुतक्ष' (९।१४३) इत्यनेन तस्य रिक्थप्रहणनिषेधात् 'यद्येकरिक्थिनौ' इत्यनन्वयाद्य ॥

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यातु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥

एक इति ॥ ब्याध्यादिना प्रथमौरसपुत्राभावे क्षेत्रजादिषु कृतेषु पश्चादौ-षधादिना विगतव्याधेरौरस उत्पन्ने सतीदमुच्यते । औरस एवैकः पुत्रः पितृ-धनस्वामी । शेषाणां क्षेत्रजन्यतिरिक्तानां तस्य षष्टांशादेर्वेक्ष्यमाणत्वात्पाप-संबन्धपरिहारार्थं ग्रासाच्छादनं दद्यात् ॥ १६३ ॥

> षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रद्यात्पेतृकाद्धनात् । औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पश्चममेव वा ॥ १६४ ॥

षष्ठमिति ॥ औरसः पुत्रः पितृसंबन्धि दायं विभजन् , क्षेत्रजस्य षष्टमंशं पञ्चमं वा दचात् । निर्गुणसगुणापेक्षश्चायं विकल्पः ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।

दशापरे तु कमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५॥

औरसेति ॥ भौरसक्षेत्रजौ पुत्रावुक्तप्रकारेण पितृधनहरौ स्थाताम् । अन्ये सुनर्देश दक्तकादयः पुत्रा गोत्रभाजो भवन्ति, 'पूर्वाभावे परः परः' (या. स्मृ. व्य. ८।१३२) इत्येवं क्रमेण धनांशहराश्च ॥ १६५॥

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पाद्येद्धि यम् । तमोरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥ स्वक्षेत्र इति ॥ स्वभायीयां कन्यावस्थायामेव कृतविवाहसंस्कारायां यं स्वयमुत्पादयेत्तं पुत्रमोरसं मुख्यं विद्यात् । 'सवर्णायां संस्कृतायामुत्पादित- मौरसपुत्रं विद्यात्' (बौ. स्मृ. २।२।१४) इति बौधायनदर्शनात्सजातीयायामेव स्वयमुत्पादित औरसो होयः ॥ १६६ ॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।

खधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७॥ य इति ॥ यो मृतस्य नपुंसकस्य प्रसनविरोधिन्याध्युपेतस्य वा भार्यायां चृताक्तवक्तादिनियोगधर्मेण गुरुनियुक्तायां जातः स क्षेत्रजः पुत्रो मन्नादिभिः स्मृतः ॥ १६७॥

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि । सद्यं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ॥ १६८॥

मातिति ॥ 'शुक्रशोणितसंभवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकस्तस्य प्रदानिक् क्रयपरित्यागेषु मातापितरे। प्रभवतः' (व.स्ट.१५।१) इति वसिष्ठस्मरणान्माता पिता वा परस्परानुज्ञ्या यं पुत्रं परिप्रहीतुः समानजातीयं तस्यैव पुत्राभाव-निमित्तायामापदि प्रीतियुक्तं न तु भयादिना उदकपूर्वं द्यात्स दिश्वमाख्यः पुत्रो विज्ञेयः॥ १६८॥

सँदशं त प्रकृपीद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।

पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं न विज्ञेयश्र कृत्रिमः ॥ १६९ ॥

सदशमिति ॥ यं पुनः समानजातीयं पित्रोः पारकौकिकश्राद्धादिकरणा-करणाभ्यां गुणदोषौ भवत इत्येवमादिज्ञं, पुत्रगुणैश्च मातापित्रोराराधनादि-युक्तं पुत्रं कुर्यात्स कृत्रिमाख्यः पुत्रो वाच्यः ॥ १६९ ॥

उत्पद्यते गृहे यस न च ज्ञायेत कस्य सः।

स गृहे गृह उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥ उत्पद्यत इति ॥ यस गृहेऽवस्थितायां भार्यायां पुत्र उत्पद्यते, सजाती-योऽयं भवतीति ज्ञानेऽपि कस्मात्पुरुपविशेषाज्ञातोऽसाविति न ज्ञायते स गृहेऽमकाशसुरुवस्तस्य पुत्रः स्याद्यदीयायां भार्यायां जातः ॥ १७० ॥

मातापित्भयाग्रत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।

तं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥

मातेति । मातापितृभ्यां त्यक्तं, तयोरन्यतरमरणेनान्यतरेण वा त्यकं पुत्रं स्वीक्वर्यात्सोपविद्धाख्यः पुत्रं उच्यते ॥ १७१ ॥

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जसयेद्रहः।

तं कानीनं वदेनाम्ना वोद्धः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥ पित्ववेदमनीति ॥ पितृगृहे कन्या यं पुत्रमप्रकाशं जनयेत्तं कन्यापरिणेतुः पुत्रं नाम्ना कानीनं वदेत् ॥ १७२ ॥

पाठा०-1 श्रीतसंयुक्ती. 2 सजातीयं.

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापि वा सती । वोद्धः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ १७३ ॥

येति ॥ या गर्भवती अज्ञातगर्भा ज्ञातगर्भा वा परिणीयते, स गर्भस्तस्यां ज्ञातः परिणेतुः पुत्रो भवति सहोढ इति च व्यपदिश्यते ॥ १७३ ॥

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदशोऽसदशोऽपि वा ॥ १७४ ॥

क्रीणीयादिति ॥ यः पुत्रार्थं मातापित्रोः सकाशाद्यं क्रीणीयात्स क्रीतक-स्तस्य पुत्रो भवति।क्रेतुर्गुणैस्तुल्यो हीनो वा भवेन्न तत्र जातितः सादृश्यवैसा-दृश्ये। 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः' (या. स्षृ. व्य. ८।१३३) दृति याज्ञवल्क्येन सर्वेषामेव पुत्राणां सजातीयत्वाभिधानत्वेन मानवेऽपि क्रीतन्यतिरिक्ताः सर्वे पुत्राः सजातीया बोद्धन्याः ॥ १७४॥

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा खयेच्छया । उत्पादयेत्पुनर्भृत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥

येति ॥ या भर्त्रा परित्यक्ता मृतभर्तृका वा खेच्छयान्यस्य पुनर्भार्या भूत्वा यमुत्पाद्येत्स उत्पादकस्य पौनर्भवः पुत्र उच्यते ॥ १७५ ॥

सा चेदश्वतयोनिः स्याद्रतप्रत्यागतापि वा । पौनर्भवेन भन्नी सा पुनः संस्कारमईति ॥ १७६ ॥

सा चेदिति ॥ सा स्त्री यद्यक्षतयोतिः सत्यन्यमाश्रयेत्तदा तेन पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहाल्यं संस्कारमईति । यद्वा कौमारं पतिमुत्सुज्यान्यमाश्रित्य पुनस्तमेव प्रत्यागता भवति तदा तेन कौमारेण भर्त्रा पुनर्विवाहाल्यं संस्कारमईति ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् । औत्मानं स्पर्शयद्यसमे स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥ १७७ ॥

मातेति ॥ यो मृतमातापितृकस्त्यागोचितकारणं विना द्वेषादिना ताभ्यां त्यक्तो वात्मानं यस्मै ददाति स स्वयंदत्ताष्ट्यसास्य पुत्रो मन्वादिभिः स्मृतः ॥ १७७ ॥

यं ब्राह्मणस्तु ग्रुद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् । स पारयन्नेव ग्रवस्तसात्पारगवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

यमिति ॥ 'विन्नास्त्रेष विधिः स्मृतः' (या.स्मृ.आ. ४।९२) इति याज्ञवल्क्य-दर्श्वनात्परिणीतायामेव ग्रूडायां ब्राह्मणः कामार्थं पुत्रं जनयेत्स जीवन्नेव श्ववतुल्य इति पारशवः स्मृतः । यद्यप्ययं पित्रुपकारार्थं श्राद्धादि करोत्येव तथाप्यसंपूर्णीपकारकत्वाच्छवन्यपदेशः ॥ १७८ ॥ दास्यां वा दासदास्यां वा यः शृद्रस्य सुतो भवेत् । सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७९ ॥

दास्यामिति ॥ ध्वजाहताशुक्तलक्षणायां दास्यां, दाससंबन्धिन्यां वा दास्यां ग्रद्भस्य यः पुत्रो जायते स 'पित्रानुज्ञातपरिणीतापुत्रैः समांशभागो भषा-नभवतु' इत्यनुज्ञातस्तुल्यभागं लभत इति शास्रन्यवस्था नियता ॥ १७९ ॥

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान्। पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १८० ॥

क्षेत्रजादीनिति ॥ एतान्सेत्रजादीनेकादश प्रमान्, प्रत्रोत्पादनविधिलोपः पुत्रकर्तन्यम्माद्वादिलोपश्च मा भूदिलेवमर्थं पुत्रमतिच्छन्दकान्मुनय भाहुः १८०

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यवीजजाः । यस्य ते वीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

य इति ॥ य एते क्षेत्रजादयोऽन्यबीजोत्पन्नाः पुत्रा औरसपुत्रप्रसङ्गेनोक्तास्ते यद्वीजोत्पन्नास्त्रस्थेव पुत्रा भवन्ति न क्षेत्रिकादेरिति सत्योरसे पुत्रे पुत्रिकायां च सत्यां न ते कर्तव्या इत्येवंपरम्, इदम् 'अन्यबीजजाः' इत्येकादशपुत्रोपलक्षणा-र्थम् । स्ववीजजाताविष पौनभैवशौद्रो न कर्तव्यो । अत एय वृद्धकृहस्पतिः— 'आज्यं विना यथा तेळं सिद्धः प्रतिनिधिः स्मृतः । तथैकादश पुत्रास्तु पुत्रि-कौरसयोर्विना' ॥ १८१ ॥

भ्रादणामेकजातानामेकश्रेत्पुत्रवान्भवेत् । सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरत्रवीत् ॥ १८२ ॥

आतृणामिति ॥ आदणामेकमातापितृकाणां मध्ये यश्चेकः पुत्रवास्त्यादन्ये च पुत्ररहितासदा तेनैकपुत्रेण सर्वान्आवृन्सपुत्रान्मनुराह । तत्रश्च तस्यान्सत्यन्ये पुत्रप्रतिनिधयो न कर्तव्याः । स एव पिण्डदोऽषाहरश्च भवतीत्यन्तिमस्य । एतश्च 'पत्नी दुहितरश्चैव पितरी आतरस्तथा। तत्सुता' (याह.स्य.व्य. ८।१३५) इति याज्ञवल्यवचनाद्वातुपर्यन्ताभावे बोख्य्यम् ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् । सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥

सर्वासामिति ॥ पुकपतिकानां सर्वासां स्त्रीणां मध्ये यसेका पुत्रवती स्यात्तदा तेन पुत्रेण सर्वास्ताः पुत्रयुक्ता मनुराद्द । तत्रश्च सपत्नीपुत्रे सति श्चिया न दत्तकादिपुत्राः कर्तस्या इत्येतदर्थमिदम् ॥ १८३ ॥

श्रेयसः श्रेयसोऽलामे पापीयान्तिकथमईति ।

बहनश्रेतु सदशाः सर्वे रिकथस्य भागिनः ।। १८४ ॥ श्रेयस इति ॥ औरसादीनां सर्वेषां पुत्राणां प्रकृतत्वादीरसादीनुपक्रम्य तेषां ३४ म० स्मृ० पूर्व: पूर्व: श्रेयान्स एव दायहरः, 'स चान्यान्विशृयात्' इति विष्णु-वचनात् । औरसादीनां पुत्राणां पूर्वपूर्वाभावे परः परो रिक्थमहीत । पूर्वस-द्वावे परसंवर्धनं स एव कुर्यात् । एवं च सिद्धे ग्रुटाप्रत्रस्य द्वादशपत्रमध्ये पाठः क्षेत्रजादिसद्भावे धनान्हैरवज्ञापनार्थत्वेन साधकः। अन्यथा त क्षत्रिया-वैद्यापुत्रवदौरसत्वात्क्षेत्रजादिसद्भावेऽपि धनं लभेत् , पूर्वस्य परसंवर्धनमात्रं चापवादेतरविषये द्रष्टन्यम् । क्षेत्रजगुणवद्दत्तकपुत्रयोः पञ्चमं षष्टं वा भाग-मौरसो दद्यादिति विहितत्वात । यदि त समानरूपाः पौनर्भवादयो बहवः पुत्रास्तदा सर्व एव विभज्य रिक्यं गृह्णीयः ॥ १८४॥

न आतरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः। · पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं श्रातर एव च ॥ १८५ ॥

नेति ॥ न सोदरश्रातरः, न पितरः, किंतु औरसामावे क्षेत्रजादयो गौण-पुत्राः पितृरिक्थहरा भवन्तीत्यनेनोच्यते । औरसस्य तु 'एक पुत्रौरसः पुत्रः' ( ९।१६३ ) इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । अविद्यमानमुख्यपुत्रस्य पतीदुहित्रहितस्य च पिता धनं गृह्णीयात्तेषां मातुश्राभावे न आतरो धनं गृह्णीयः । एतचान-न्तरं प्रपञ्जयिष्यामः॥ १८५॥

\_ इदानी क्षेत्रजानामप्यपुत्रपितामहादिधनेऽप्यधिकारं दर्शयितुमाह-🤝 त्रयाणाम्रद्कं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते । चतुर्थः संप्रदातैषां पश्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥ [असुतास्तु पितुः पल्याः समानांशाः प्रकीर्तिताः । पितामहश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः ॥ ]

द अयोगामिति ॥ त्रयाणां पित्रादीनामुद्दकदानं कार्यं, त्रिभ्य एव च तेभ्यः पिण्डो देयः। चतुर्थश्च पिण्डोदकयोदीता। पञ्चमस्यात्र संबन्धो नास्ति। तसाधुकोऽपुत्रिपतामहादिधने गौणपौत्राणामधिकारः। औरसपुत्रपौत्रयोश्च 'पुत्रेण लोकाञ्चयति' (९।१२७) इत्यनेनैवात्र पितामहादिधनभागित्व-सक्तम् ॥ १८६ ॥

> अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् । अत ऊर्घ्वं सक्कल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ।। १८७ ।।

अनन्तर इति ॥ अस्य सामान्यवचनस्योक्तौरसादिपिण्डमात्रविषयत्वे वैयर्थ्यात्ततश्चानुक्तपत्रवादिदायप्राप्त्यर्थमिदम् । सपिण्डमध्यात्संनिक्वष्टतरौ यः सपिण्डः पुमान स्त्री वा तस्य मृतधनं भवति । तत्र 'एक एवीरसः पुत्रः' ( ९।१६३ ) इत्युक्तवात्स एव सृतधने स्वाधिकारी । क्षेत्रजगुणवहत्तकयोस्तु यथोकं पद्ममं पृष्ठं वा भागं द्धात्। कृत्रिमादिपुत्राणां संवर्धनमात्रं कुर्यात्। भीरसमाने प्रक्रिका तत्पत्रश्च 'दौहित्र एव च हरेद्रपुत्रसाखिलं धनम्'

(९।१३७) इत्युक्तत्वादौरसपुत्ररहित एव तत्रापुत्रो विवक्षितः । तदभावे क्षेत्र-जाद्य एकाद्श पुत्राः क्रमेण पितृधनाधिकारिणः।परिणीतशृद्धापुत्रस्तु दसमभा-गमात्राधिकारी 'नाधिकं दशमाद्याच्छृद्वापुत्राय' (९।१५४) इत्याद्युक्तवात् । दशमभागावशिष्टं धनं संनिकृष्टसपिण्डो गृह्णीयात् । त्रयोदशविष्युत्राभावे पत्नी सर्वभर्तृधनभागिनी । यदाह याज्ञवल्क्यः (याज्ञ.स्मृ.व्य.८।१३५)—'पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ॥ स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥' बृहस्पतिरप्याह-'श्राम्नाये स्मृतितन्ने च लोकाचारे च सूरिभिः। शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा॥ यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति । जीवत्यर्धशरीरे तु कथमन्यः स्वमाप्नुयात् ॥ सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृमातृसनाभिभिः । अपुत्रस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी ॥ पूर्वप्रमीता-मिहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम् । विन्देत्पतिवता नारी धर्म एष सनातनः ॥ जङ्गमं स्थावरं हेम कुप्यं धान्यमथाम्बरम् । आदाय दापयेच्छ्राई मासपा-ण्मासिकादिकम् ॥ पितृन्यगुरुदौहित्रान्भर्तृस्वस्रीयमातुङान् । पूजयेत्कन्य-पूर्तीभ्यां बृद्धानप्यतिथीन्स्रियः ॥ तत्सपिण्डा बान्धवा वा ये तस्याः परि-पन्थिनः । हिंस्युर्धनानि तात्राजा चौरदण्डेन शासयेत् ॥' वृद्धमनुः-'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती वते स्थिता । पत्येव दद्यात्तत्पण्डं कृत्स्वमर्थं लमेतः यदुक्तम्—'स्रीणां तु जीवनं द्यात्' इति संवर्धनमात्रवचनं, तदःशीलाधार्मिकसविकारयौवनस्थपत्नीविषयम् । अतो यन्मेधातिथिना पत्नी-नामंशभागित्वं निषिद्धमुक्तं तद्संबद्धम् । पत्नीनामंशभागित्वं बृहस्पत्मादि-संमतम्। मेघातिथिनिराक्तवेत्र प्रीणाति सतां मनः ॥' पत्यभावेऽप्यपुत्रिका दुहिता, तद्भावे पिता माता च, तयोरभावे सोदर्यभ्राता, तद्भावे तत्सुतः। भातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्' (९।२१७) इति वक्ष्यमाणत्वात् । पितृमाता तदभावेऽन्योऽपि संनिकृष्टसपिण्डो मृतधनं गृह्णीयात् । तद्यथा-पिता-महसंतानेऽविद्यमाने प्रिपतामहसंतान एव । तद्प्युक्तम् । अतं अर्ध्वं सिपण्ड-संतानाभावे समानोदक श्राचार्यः शिष्यश्च ऋमेण धनं गृह्णीयात् ॥ १८७ ॥

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः।

त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥ १८८॥

सर्वेषामिति ॥ एषामभाव इति वक्तन्ये सर्वेषामभाव इति यदुकं तत्सब्रह्म-चार्यादेरिप धनहारित्वार्थम्। सर्वेषामभावे ब्राह्मणा वेदत्रयाध्यायिनो बाह्मा-न्तरशौचयुक्ता जितेन्द्रिया धनहारिणो भवन्ति, त एव च पिण्डदाः, तथा सित धनिनो सृतस्य श्राद्धादिधर्महानिनं भवति ॥ १८८ ॥

अहार्यं त्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः । इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेत्रृपः ॥ १८९ ॥ अष्टार्यमिति ॥ वाद्मणसंबन्धि धनं न राज्ञा कदाचिद्राद्ममिति शाद्म- मर्यादा। किंत्कलक्षणबाह्यणाभावे बाह्यणमात्रेभ्योऽपि देयम्। क्षत्रियादिधनं पुनः पूर्वोक्तरिक्थहराभावे राजा गृह्धीयात् ॥ १८९ ॥

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् । तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तिसम्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

संस्थितस्येति ॥ अनपत्यस्य मृतस्य भार्या समानगोत्रात्षुंसो गुरुनियुक्ता सती नियोगधर्मेण पुत्रमुत्पादयेत् । तस्मिन्मृतविषये यद्धनजातं भवेत्तत्तस्यि-त्पुत्रे समर्पयेत्। 'देवराहा सपिण्डाहा' (९१९) इत्युक्तत्वात् । सगोत्रान्नियोग-प्राध्यर्थं तज्ञस्य च रिक्थभागित्वार्थमिदम् ॥ १९० ॥

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने । तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्थात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥ १९१ ॥

द्वाविति ॥ 'यद्येकरिक्थिनौ स्वाताम्' (९।१६२) इस्वौरसक्षेत्रजयोरुकम्, इदं त्वौरसपौनर्भवविषयम् । यदोत्पन्नौरसमर्जुर्मृतत्वाद्वारुपस्यतया स्वामिधनं स्वीकृत्य पौनर्भवभर्तुः सकाशात्पुत्रान्तरं जनयेत्तस्यापि च पौनर्भवस्य भर्तुर्मृतत्वाद्विकथहरान्तराभावाद्धनं गृहीतवती, पश्चात्तौ द्वाभ्यां जातौ यदि विवदेयातां स्वीहत्तगतधने तदा तयोर्थस्य यज्ञनकस्य धनं स तदेव गृद्धीयात्र त्वन्यपितृजोऽन्यजनकस्य ॥ १९१ ॥

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।

भजेरन्मात्कं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥

जनन्यामिति ॥ मातिर मृतायां सोद्येश्रातरो भिगन्यश्च सोद्यां अनुहा मातृधनं समं कृत्वा मृह्णीयुः । ऊढास्तु धनानुरूपं संमानं रूभन्ते । तदाह वृहस्पतिः—'स्वीधनं स्वादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी । अपुत्रा चेत्समृढा तु रूभते मानमात्रकम् ॥' ततश्चानृदानां पितृधन इवोदानां मातृधनं आत्रा स्मादंशास्तुर्थभागो देयः ॥ १९२ ॥

यास्तासां स्युर्देहितरस्तासामपि यथाईतः । मातामद्या धनार्तिकचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३॥

या इति ॥ तासां दुहित्वणां या अनूदा दुहितरस्ताभ्योऽपि मातामही-भूनाद्यभा तासां पूजा भवति तथा प्रीत्या किंचिदातव्यम् ॥ १९३ ॥

अध्यस्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।

आरमात्पित्प्राप्तं षिष्ठ्यं स्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

अध्यक्तीति॥ मध्यक्तीति 'अध्ययं विभक्तिसमीप-'(पा.र।१।६) इत्यादिस्त्रेण समीपार्थेऽन्ययीमायः । विवाहकालेऽशिसंनिधौ यत्पित्रादिद्तं स्वष्यिक्ति सी-धनम् ; तदाह क्रात्यायनः-'विवस्तकाले यत्की स्थी क्षेत्रते स्विक्तंनिक्ते। तदध्य-क्रिकं स्वीक्रकीयनं परिकीर्तितम् ॥' यत्तु पिरुपुहस्तर्वेर्गृहं नीयमानया क्रव्धं तद्ध्यावाहनिकम्। तथा च कालायनः—'यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना तु पैतृकात्। अध्यावाहनिकं नाम तत्स्वीधनमुदाहृतम्॥' यतु प्रीतिहेतुकर्मणि भर्त्रादिदत्तं तथा आत्रा पित्रा च समयान्तरे यद्दतं एवं षद्यकारकं स्वीधनं स्मृतम्॥ १९४॥

अन्वाधेयं च यह्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् । पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥ १९५ ॥

अन्वाघेयमिति ॥ अन्वाधेयं व्याख्यातं कात्यायनेन—'विवाहात्परतो यत्तु छब्धं भर्तृकुले खिया । अन्वाधेयं तदुक्तं तु सर्वेबन्धुकुले तथा ॥' विवाहा-दूध्वं भर्तृकुले पितृकुले वा यत्खिया लब्धं भर्त्रा च प्रीतेन दृत्तं यद्ध्यस्यादि पूर्व-स्कोके उक्कं तद्वर्तरि जीवति मृतायाः खियाः सर्वेधनं तद्पत्यानां भवति ॥१९५॥

> ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु । अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

ब्राह्मेति ॥ ब्राह्मादिषु पञ्चसु विवाहेषूक्तलक्षणेषु यत्स्त्रियः पश्चिधं धनं तदनपत्यायां मृतायां भर्तुरेवं मन्वादिभिरिष्यते ॥ १९६ ॥

> यन्त्रस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु । अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥

यदिति॥ यत्पुनः स्त्रिया आसुरराक्षसपैशाचेषूक्तलक्षणेषु विवाहेषु यत्स्त्रियाः षड्ठिषं घनमपि तदनपत्यायां मृतायां मातापित्रोरिष्यते॥ १९७॥

> स्त्रियां तु यद्भवेदित्तं पित्रा दत्तं कथंचन । त्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

स्त्रियामिति ॥ ब्राह्मणस्य नानाजातीयासु स्त्रीषु क्षत्रियादिस्त्रियामनपत्यप-तिकायां मृतायां, तस्याः पितृदत्तं धनं सजातिविजातिसापत्व्यकन्यापुत्रसद्भावे-ऽपि ब्राह्मणी सापतेयी कन्या गृह्णीयात्। तदभावे तद्पत्यस्य तद्धनं भवेत् १९८

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्धहुमध्यगात् । स्वकादिप च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥

नेति ॥ आत्रादिबहुसाधारुणात्कुदुम्बधनाद्वार्यादिभिः स्नीभी रक्षालंकारा-द्यर्थं धनसंचयं न कर्तेष्यम् । नापि च भर्तुराज्ञां विना भर्तुधनादपि कार्यम् । ततश्च नेदं स्नीधनम् ॥ १९९ ॥

पत्यो जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥ पत्यावित्यादि ॥ भर्तरि जीवति तत्संमताभियोऽङंकारः स्त्रीभिर्धतस्त्रस्थिन नम्रते विभागकाले तं प्रशादयो न भजेरन् । भजमानाः पापिनो भवन्ति२००

अनंशो क्रीवपतितो जात्यन्धवधिरो तथा। उन्मत्तजडमुकाश्र ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

अनंशाविति ॥ नपुंसकपतितजालन्धश्रीत्रविकलोनमत्तजडमूकाश्च ये च कुणिपङ्गवादयो विकलेन्द्रियास्ते पित्रादिधनहरा न भवन्ति । किंतु प्रासा-च्छादनभागिनः ॥ २०१ ॥

तदेवाह-

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्तया मनीषिणा। ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यदद्ग्रवेत् ॥ २०२ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषामेषां क्षीबादीनां शास्त्रज्ञेन रिक्थहारिणा यावजीवं स्वशक्तया प्रासाच्छादनं देयम् । अद्दरपापी स्यात् ॥ २०२ ॥

> यद्यर्थिता त दारैः स्थात्क्वीबादीनां कथंचन । तेषाम्रत्पन्नतन्त्नामपत्यं दायमईति ॥ २०३ ॥

यदीति ॥ 'कथंचन' इत्यभिधानात्क्षीबादयो विवाहानहा इति सूचितम् । यदि कथंचिदेषां विवाहेच्छा भवेत्तदा श्लीबस्य क्षेत्रज उत्पन्नेऽन्येषामुत्पन्ना-पत्यानामपत्यं धंनभाग्भवति ॥ २०३ ॥

यर्तिकचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्टोऽधिगच्छति । भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः ॥ २०४ ॥ यरिंक चिदिति ॥ पितरि मृते सति भातृभिः सहाविभक्तो ज्येष्टः किंचि-त्स्वेन पौरुषेण धनं लभते । ततो धनाद्विद्याभ्यासवतां कनिष्ठभादृणां भागो

भवति नेतरेषाम् ॥ २०४ ॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्रेद्धनं भवेत । समस्तत्र विभागः स्याद्पित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥

अविद्यानामिति ॥ सर्वेषां आदृणां कृषिवाणिज्यादिचेष्ट्या यदि धनं स्या-तदा पित्र्यवर्जिते तस्मिन्धने स्वार्जिते समी विभागः स्यान तृद्धारोऽपित्र्य इति निश्चयः ॥ २०५ ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तसीव धनं भवेत्। मैत्र्यमौद्राहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

विद्याधनमिति॥ विद्यामैश्रीविवाहार्जितं माधुपर्किकं मधुपर्कदानकाले पुज्य-तया यञ्चन्यं तस्येव तत्स्यात्। 'यार्किचित्पितरि' (९।२०४) इत्युक्त्वायमपवादः। कियाधनं च ज्याहतं कात्यायनेन—'परभक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदान्यतः।

- 1-विद्यानपाछितः.

तया प्राप्तं च विधिना विद्याप्राप्तं तदुच्यते॥ उपन्यस्ते च यष्ठव्यं विद्यया पण-पूर्वकम् । विद्याघनं तु तद्विद्याद्विभागे न विभन्यते॥ शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात्संदिग्धप्रश्नतिर्णयात्। स्वज्ञानशंसनाद्वादाछ्व्यं प्राध्ययनाच यत्॥ विद्या-धनं तु तत्प्राहुर्विभागे न विभन्यते ॥' अतो यन्मेधातिथि-गोविन्द्राजाभ्यां माधुपर्विकमार्त्विज्यधनं व्याख्यातं तद्युक्तम्, विद्याधनत्वात्॥ २०६॥

> आदणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा । स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किचिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७॥

आतृणामिति ॥ राजानुगमनादिक्रमणा यो धनमर्जितं शक्तो आदृणां साधा-रणं धनं नेच्छति स स्वीयादंशार्तिकचिदुपजीवनं दत्त्वा आतृभिः पृथक्कार्यः । तेन तत्पुत्रास्तत्र धने कालान्तरे न विवदन्ते ॥ २०७ ॥

> अनुपन्निनितृद्वं श्रमेण यदुपार्जितम् । खयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमहिति ॥ २०८ ॥

अनुपञ्चन्निति ॥ पितृधनानुपघातेन यत्कृष्यादिक्केशाद्रजैयेत्तत्स्वचेष्टाप्राप्त-मनिच्छन् आतृभ्यो दातुं नार्हति ॥ २०८ ॥

> पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाष्ठ्रयात् । न तत्पुत्रभेजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥

पैतृकमिति ॥ यत्युनः पितृसंबन्धि धनं तेनासामर्थ्यनोपेक्षितत्वादनवासं पुत्रः स्वतात्त्या प्राप्तुयात्तत्स्वयमर्जितमनिच्छन्पुत्रैः सह न विभज्ञेषु ॥ २०९ ॥

> विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्युनर्यदि । समस्तत्र विभागः स्याज्येष्ठयं तत्र न विद्यते ॥ २१०॥

विभक्ता इति ॥ पूर्व सोद्धारं निरुद्धारं वा विभक्ता आतरः पश्चादेकीकृत्य धनं सह जीवन्तों यदि पुनर्विभागं कुर्वन्ति तदा तत्र समो विभागः कार्यः । ज्येष्ठस्योद्धारो न देयः ॥ २१० ॥

> येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः । स्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न छप्यते ।। २११ ।। सिति ॥ येषां भारणां सध्ये कश्चिद्विभागकाले स्वत्यादिना स्वांशा

येषामिति ॥ येषां भ्रातृणां मध्ये कश्चिद्विभागकाळे प्रवज्यादिना स्वांशा-द्वीयेत मृतो वा भवेत्तस्य भागो न छुप्येत् ॥ २११॥

र्षितु,-

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् । आतरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥ सोदर्या इसादि॥ सोदर्या आतरः समागम्य सहिताः स्मिन्यश्च सोदर्याः स्तमंशं समं कृत्वा विभजेरन्सोदर्याणां सापढ्यानामपि मध्याद्ये मिश्रीकृत-धनत्वेनैकयोगस्नेमास्ते विभजेयुः समं सर्वे सोदर्या सपद्या वा । एतच पुत्रपत्नीपितृमात्रभावे दृष्टज्यम् ॥ २१२ ॥

> यो ज्येष्ठो विनिक्जवींत लोभाद्धावन्यवीयसः । सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥

यो ज्येष्ट इति ॥ यो ज्येष्ठो आता लोभात्कनीयसो आहन्त्रज्ञयेत्स ज्येष्ट-आतृपुजाञ्चन्यः सोद्धारभागरहितश्च राजदण्ड्यश्च स्यात् ॥ ११३ ॥

> सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति आतरो धनम् । न चाद्त्वा कनिष्टेभ्यो ज्येष्टः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४॥

स्त्रे एवेति ॥ अपतिता अपि ये श्रातरो चूतवेश्यासेवादिविकर्मासकासे रिक्थं नाईन्ति । नच कनिष्ठेभ्योऽननुकल्प्य ज्येष्ठः साधारणधनादात्मार्थे-मसाधारणधनं कुर्यात् ॥ २१४ ॥

> भ्रादृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह । न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन ॥ २१५ ॥

भ्रातृणामिति ॥ श्रातृणां पित्रा सहावस्थितानामविभक्तानां यदि सह धनार्जनार्थमुत्थानं भवेत्तदा विभागकाले न कस्यचित्पुत्रस्याधिकं पिता कदा-चिद्दचात् ॥ २१५ ॥

> ऊर्ध्वं विभागाजातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् । संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥

क्किन्यमिति ॥ यदा जीवतैव पित्रा पुत्राणामिन्छया विभागः कृतस्तदा विभागाद्ध्यं जातः पुत्रः पितरि सृते पितृरिक्थमेव गृह्णीयात् । ये कृतविभागाः पित्रा सह पुनर्मिश्रीकृतधनास्तैः सहासौ पितरि सृते विभजेत् ॥ २१६॥

> अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्रयात्। मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्।। २१७॥

अनपत्यस्यति॥ अनपस्यस्य पुत्रस्य धनं माता गृह्णीयात् , पूर्वं 'पिता हरेद्र-पुत्रस्य रिक्यम्' (९११८५) इत्युक्तत्वात् , इह-माता हरेद्रिस्यादि याज्ञवक्क्येन 'पितरी' (वा.स्ट.व्य. ८११३५) इत्येक्शेषकरणात् , विष्णुना च-'अपुत्रस्य धनं पष्यभिगामि तदभावे वृहितृगामि तदभावे पितृगामि' इत्येकशेषस्य इतत्वात् मार्वितिति विभन्ति हृह्णियातीम् । माति भृतायी पत्नीवितृष्ठातृर्वनितृजाभावे

## ऋणे धने च सर्वस्मिन्त्रविभक्ते यथाविधि । पश्चाहृत्रयेत यत्किचित्तत्सर्वे समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

ऋण इति ॥ ऋणे पित्रादिधार्थमाणे धने च तदीये सर्वसिन्यथाशास्त्रं विभक्ते सित पश्चाद्यक्तिचित्पेतृकं ऋणं धनं वा विभागकालेऽज्ञातमुप-लभ्येत तत्सर्वं समं कृत्वा विभजनीयं नतु शोध्यं आह्यं न वा ज्येष्ठस्योद्धारो देयः॥ २१८॥

वस्तं पत्रमलंकारं कृतानग्रदकं स्त्रियः।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते॥ २१९॥

वस्त्रमिति ॥ वस्तं वाहनमाभरणमविभागकाले ययेनोपभुक्तं तत्तस्यैव न विभाज्यम् । एतच नातिन्यूनाधिकमूल्यविषयम् । यत्तु बहुमूल्यमाभरणादिकं तद्विभाज्यमेव । तद्विषयमेव 'विकीय वस्ताभरणम्' इति बृहस्पतेर्विभाग-वचनम् । कृतास्त्रमोदनसक्त्वादि तस्त्र विभाजनीयम् । तत्रातिप्रचुरतरमूल्यं सक्त्वादि तावन्मात्रमूल्यधनेन 'कृतासं चाकृतासेन परिवर्त्य विभाज्यते' इति बृहस्पतिवचनाद्विभाजनीयमेव। उदकं कृपादिगतं सर्वेरुपभोग्यमविभाजनीयम् । स्त्रियो दास्याद्या यास्तुल्यभागा न भवन्ति ता न विभाज्याः किंतु तुल्यं कर्म कारयित्वयाः । योगक्षेमं मिष्ठपुरोहितादि योगक्षेमहेतुत्वात् । प्रचारो गवादीनां प्रचारमार्गः एतत्सर्वं मन्यादयोऽविभाज्यमाहुः ॥ २१९॥

अयमुक्तो विभागो ना पुत्राणां च कियाविधिः।
, क्रमशः क्षेत्रजादीनां धृतधर्म निषोधतः॥ २२०॥

अयमिति ॥ एव दायभागः पुत्राणां क्षेत्रजादीनां क्रमेण विभागकरण-प्रकारो युष्माकमुक्तः । इदानीं यूतन्यवस्थां १२७॥ २२०॥

> द्युतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्राचिवारयेत् । राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥

द्युतमिति ॥ द्युतसमाह्नमौ वक्ष्यमाणलक्षणौ राजा खराष्ट्राश्चिवर्तयेत् । यसादेतौ द्रौ दोषौ राज्ञां राज्यविनाशकारिणौ ॥ २२२ ॥

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्ययौ । तयोर्नित्यं प्रतीमाते चुपतिर्यह्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

प्रकाशमिति ॥ प्रकटमेतचौर्यं यहपूतसमाद्वयौ, तसात्तविवारणे राजा नित्यं यत्नयुक्तः स्यात् ॥ २२२ ॥

अप्राणिभिर्यित्क्रियते तङ्कोके धूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विद्येयः समाहृयः ॥२२३॥ अप्राणिभिरिति ॥ अक्षकाकाकादिभिरमाणैर्यत्क्रियते तङ्कोके यूवं कथ्यते । रः पुनः प्राणिभिर्मेषकुक्कुटादिभिः पणपूर्वकं कियते स समाह्नयो ज्ञेयः। होकप्रसिद्धयोरप्यनयोर्कक्षणकथनं परिहारार्थम् ॥ २२३ ॥

झूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।

तान्सर्वान्धातयेद्राजा श्रुद्रांश्र द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥ द्यूतमिति ॥ द्यूतसमाद्वयौ यः कुर्याद्यो वा सभिकः कारयेत्रेषामपराधा- क्षिया राजा इस्तच्छेदादिवधं कुर्यात् । यज्ञोपवीतादिद्विजिविद्वधारिणः द्वद्वान्दन्यात् ॥ २२४ ॥

कितवान्क्रशीलवान्क्ररान्पाषण्डस्थांश्च मानवान् । विकर्मस्थाञ्छोण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥

कितवानिति ॥ द्यूतादिसेविनः, नर्तकगायकान्, वेदविद्विषः, श्रुतिस्मृति-बाह्यवतधारिणः, अनापदि परकर्मजीविनः, शौण्डिकान्मद्यकरान्मनुष्यान् क्षिप्रं राजा राष्ट्राविर्वासयेदिति । कितवप्रसङ्गेनान्येषामप्यभिधानम् ॥ २२५॥

अत्र हेतुमाह—

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छनतस्कराः । विकर्मिक्रियया नित्यं वाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥२२६॥ एत इति ॥ एते कितवादयो गृढचौरा राष्ट्रे वसन्तो नित्यं वज्रनात्मक-क्रियया सजनान्पीडयन्ति ॥ २२६॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् । तसाद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमिप बुद्धिमान् ॥ २२७॥ द्युतमिति ॥ नेदानीमेव परं किंतु पूर्वस्मित्रपि कल्पे द्यूतमेतदितशयेन वैरकरं दृष्टम् । अतः प्राज्ञः परिदासार्थमिप तन्न सेवेत ॥ २२७॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तिन्नषेवेत यो नरः। तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

प्रच्छन्नमिति ॥ यो मनुष्यसद्यूतं गूढं प्रकटं वा कृत्वा सेवेत तस्य यथा नृपतिरिच्छा भवति तथाविधो दण्डो भवति ॥ २२८ ॥

इदानीं पराजितानां धनाभावे सतीदमाह—

क्षत्रविद्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् । आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः॥२२९॥ क्षत्रेति ॥ क्षत्रवैश्यग्रद्भजातीयो निर्धनत्वेन दण्डं दातुमसमर्थेखदुवित-स्रोकरणेन दण्डगोधनं द्धर्यात् । त्राह्मणः पुनर्यथालामं क्रमेण द्यास कर्म

### स्रीवालोनमत्तवृद्धानां द्रिहाणां च रोगिणाम् । शिकाविदलरञ्जावैर्विदध्यान्नुपतिर्दमम् ॥ २३०॥

स्त्रीति ॥ स्त्रीबालादीनां पुनः शिफावेणुदलप्रहाररज्जबन्धनादिभिर्दमनं राजा क्रुर्यात् ॥ २३०॥

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् । धनोष्मणा पच्यमानास्तानिभ्लान्कारयेन्नुपः ॥ २३१॥

ये नियुक्तास्त्वित ॥ ये व्यवहारावेक्षणादिषु कार्येषु राज्ञा नियुक्ता उत्कोचधनतेजसा विकारं भजन्तः स्वाम्यादीनां कार्यं नाशयेयुस्तान्गृहीतस-र्वस्वान् राजा कारयेत् ॥ २३१ ॥

> क्टशासनकर्तेश्व प्रकृतीनां च दूषकान् । स्त्रीवालत्राक्षणप्तांश्व हन्याद्विट्सोविनस्तथा ॥ २३२ ॥

कूटेति ॥ कूटराजाज्ञालेखकान्, बमात्यानां च मेदकान्, स्त्रीबालब्राह्मण-घातिनः, शत्रुसेविनश्च राजा हन्यात् ॥ २३२ ॥

तीहितं चानुशिष्टं च यत्र कचन यद्भवेत्। कृतं तद्धर्मतो विद्याच तद्भ्यो निवर्तयेत्।। २३३॥ (तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विकर्मणा। द्विगुणं दण्डमास्याय तत्कायं पुनरुद्धरेत्॥)

तीरितिमिति ॥ यत्र कविद्दणादानादिब्यवद्दारे यत्कार्यं धर्मतस्तीरितम् । 'पार तीर कर्मसमाप्तो' इति चुरादौ पट्यते । साख्यव्यवस्थानिर्णीतम् । अनु- शिष्टं दण्डपर्यन्ततां च नीतं स्थासत्कृतमङ्गीकुर्याच्च पुनर्निवर्तयेत् । एतचाकार- णात् । अतः कारणकृतं निवर्तयेवेव ॥ २३३ ॥

अमात्याः प्रािद्ववाको वा यत्क्कर्युः कार्यमन्यथा । तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सद्दसं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

अमात्या इति ॥ राजामात्याः प्रािश्विषको वा ब्यवहारेक्षणे नियुक्तो यदस-न्यान्यवहारनिर्णयं कुर्युस्तस्त्रयं राजा कुर्यास्पणसङ्कं च तान्द्रण्डयेत् । इदं चोक्कोचधनप्रहणेतरविषयम् । उत्कोचप्रहणे 'ये नियुक्तास्तु' (९।२३१) इत्युक्तत्वात् ॥ २३४॥

त्रहाहा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः । एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातिकानो नराः ॥ २३५ ॥ प्रहाहिति ॥ यो मनुष्यो बाह्मणं इतवान्स बहाहा, सुरापो द्विजातिः पैद्याः पाता-ब्राह्मणश्च पैष्टीमाध्वीगौडीनां, तस्करो ब्राह्मणसुवर्णहारी मनुष्यः, यश्च कश्चिहुरुपक्षीगामीत्येते सर्वे प्रत्येकं महापातकिनो बोद्धन्याः ॥ २३५ ॥

## चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् । श्चारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

चतुर्णामिति ॥ चतुर्णामप्येतेषां महापातिकेनां प्रायश्चित्तमकुर्वेतां शारीरं धनप्रहणेन च धनसंबन्धमपराधानुसारेण धर्मादनपेतं वक्ष्यमाणं दण्डं कुर्यात्॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।

स्तेये च श्वपदं कार्य ब्रह्महण्यित्रराः पुमान् ॥ २३७ ॥

गुरुत्तल्प इति ॥ 'नाङ्क्या राज्ञा छलाटे स्युः' (९।२४०) इति वस्यमा-णत्वाल्ललाटमेवाङ्कनस्थानमवगम्यते । तत्र गुरुपतीगमने यावजीवस्थायि त-मलोहेन ललाटे भगाकृतिं गुरुपतीगमनचिह्नं कार्यम् । एवं सुरापाने कृते पातुर्दीर्वं सुराध्वजाकारं, सुवर्णापहारे सत्यपहर्तुः कुकुरपादरूपं कार्यम् । ब्रह्महणि कबन्धः पुमान्कर्तेन्यः ॥ २३७ ॥

> असंमोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्यांऽविवाहिनः। चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः।। २३८।।

असंभीज्या इति ॥ अन्नादिकं नैते भोजयितन्याः, न चैते याचनीयाः, नाप्येतेऽध्यापनीयाः, नाप्येतैः कन्यादानसंबन्धः कर्तव्यः। एते च निर्धनत्वा-द्याचनादिदैन्ययुक्ताः सर्वश्रौतादिकर्भवर्जिताः पृथिवीं पर्यटेयुः ॥ २३८ ॥

> ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः । निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥

कातीति ॥ ज्ञातिभिः संबन्धिभर्मातुलाधैरेते कृताङ्कास्त्यजनीयाः, न चैषां दया कार्या, नाप्येते नमस्कार्या इतीयं मनोराज्ञा ॥ २३९॥

> प्रायित्र तं तु कुर्वाणाः पूँवें वर्णा यथोदितम् । नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥ २४०॥

प्रायश्चित्तमिति ॥ शास्त्रविहितं प्रायश्चित्तं पुनः कुर्वाणा ब्राह्मणादयस्यो वर्णाराज्ञा लळाटेऽङ्कनीया न भवेयुः । उत्तमसहिसं पुनर्दण्डनीयाः ॥ २४०॥

आगःसु त्राह्मणसैव कार्यो मध्यमसाहसः।

विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रच्यः सपरिच्छदः ॥ २४१॥ आगःस्वित ॥ 'इतरे कृतवन्तस्तु' (९।२४२) इत्युत्तरक्षोके श्रूयमाणम्

'भकामतः' इति चात्रापि योजनीयम्। तेन 'भकामत' इत्येतेष्त्रपराधेषु गुणवतो

पाँठा -1 तस्करे. 2 °ऽविगहिताः. 3 सर्ववर्णाः.

ब्राह्मणस्य मध्यमसाहसो दण्डः कार्यः। पूर्वोक्तस्त्त्तमसाहसो निर्गुणस्य द्रष्टब्यः। कामतस्त्रेष्वपराधेषु धनधान्यादिपरिच्छदसहितो ब्राह्मणो देशास्त्रिवस्यः २४१

> इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः । सर्वस्वहारमहीन्त कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

इतर इति ॥ त्राह्मणाद्नये पुनः क्षत्रियादय प्तानि पापान्यनिच्छन्तः कृत-वन्तः सर्वस्वहरणमहिन्त । इदं च सर्वस्वहरणं पूर्वोक्तेनोत्तमसाहसेन वृत्ता-पेक्षया न्यवस्थापनीयम् । इच्छया पुनरेषामेतेष्वपराधेषु प्रवासनं वधोऽर्हति । 'प्रवासनं परासनं निषूद्नं विहिंसनम्' इति वधपर्यायं 'प्रवासन'शब्दं पठन्सा-भिधानिकाः ॥ २४२ ॥

> नाददीत नृपः साधुर्महापातिकनो धनम् । आददानस्तु तस्त्रोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

नाददीतेति ॥ धार्मिको राजा महापातकसंबन्धि धनं दण्डरूपं न गृह्की-यात् । लोभात्पुनस्तद्वह्वन्महापातकदोषेण संयुज्यते ॥ २४३ ॥

का तर्हि दत्तधनस्य प्रतिपत्तिरित्येतदर्थमाह-

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपाद्येत् । श्रुतवृत्तोपपन्ने वा त्राह्मणे प्रैतिपाद्येत् ॥ २४४ ॥

अप्स्थिति ॥ तद्दण्डधनं नद्यादिजले प्रक्षिपेद्वरुणाय दद्याच्छुतवृत्तसंपद्म-ब्राह्मणाय वा दद्यात् ॥ २४४ ॥

> ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः । ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥

ईश इति ॥ मैहापातिकदण्डधनस्य वरुणः स्वामी यसाद्राज्ञामपि दण्ड-धारित्वात्प्रभुः । तथा ब्राह्मणः समस्तवेदाध्यायी सर्वस्य जगतः प्रभुः । अतः प्रभुत्वात्तौ दण्डधनमर्हतः ॥ २४५ ॥

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्धयो धनागमम् ।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥
निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विश्वां पृथक् ।
बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥
यत्रेति ॥ निष्पद्यन्त इति ॥ यत्र देशे प्रकृतं महापातिकथनं राजा न

पाठा०-1 पापेन. 2 ह्यपपादयेत.

१ पूर्वोक्तप्रतिपत्तिविधेरर्थवादरूपोऽयं श्लोकः । ३५ म० स्मृ०

गृह्णाति तत्र परिपूर्णेन कालेन मनुष्या उत्पद्यन्ते, दीर्घायुषश्च भवन्ति । वैदयानां च यथैव धान्यादिसस्यान्युप्तानि तथैव पृथक् पृथक् जायन्ते । अकाले न बाला म्रियन्ते । 'दीर्घजीविनः' इत्युक्तेऽप्यादरार्थं बालानां पुनर्वच-नम् । ज्यक्नं च न किंचिन्नदूत्सुत्पद्यते ॥ २४६–२४७ ॥

ब्राह्मणान्वाधमानं तु कामादवरवर्णजम् । हन्याचित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरेर्नृपः ॥ २४८ ॥

व्राह्मणानिति ॥ शरीरपीडाधनम्रहणादिना शूद्रमिच्छातो ब्राह्मणान्बाध-मानं छेदादिभिरुद्देगकरैर्वधोपायैर्नुपो हन्यात् ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस वधे तावान्वध्यस मोक्षणे । अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥

यावानिति ॥ अवध्यस्य वधे यावानधर्मो नृपतेः शास्त्रेण ज्ञातस्तावानेव वध्यस्य त्यागेऽपि। यथाशास्त्रं दण्डं तु कुर्वतो धर्मः स्यात्तस्मात्तं कुर्यात् ॥२४९॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः । अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

उदित इति ॥ अष्टादशक्तणादानादिषु व्यवद्दारपदेषु परस्परं विवद-मानयोर्राथंप्रसर्थिनोः कार्यनिर्णयोऽयं विस्तरेणोक्तः ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कर्वन्महीपतिः । देशानलब्धांस्चिप्सेत लब्धांश्र परिपालयेत् ॥ २५१ ॥

एवमिति ॥ अनेनोक्तप्रकारेण धर्मादनपैतान्व्यवहाराक्षिणयन् राजा जना-नुरागादळब्धान्देशांळब्धुमिच्छेळब्धांश्च सम्यक्पालयेत् । एवं सम्यक्यवहार-दर्शनस्याळब्धप्रदेशप्राप्त्यर्थत्वसुक्तम् ॥ २५१ ॥

सम्यङ्गिविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः । कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यलग्रुचमम् ॥ २५२ ॥

सम्यगिति ॥ 'जाङ्गळं सस्यसंपन्नम्' ( ७१९ ) इत्युक्तरीत्या सम्यगाश्रित, देशस्तत्र सप्तमाध्यायोक्तप्रकारेण कृतदुर्गश्रीरसाद्दासिकादिकण्टकनिराकरणे
प्रकृष्टं यसं सदा कुर्यात् ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्। नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥ २५३॥

रक्षणादिति ॥ यसाःसाध्वाचाराणां रक्षणाचौरादीनां च शासनाट्यजा-पाळनोद्यका राजानः स्वर्गं गच्छन्ति तसास्कण्टकोद्धरणे यतं कुर्यात् ॥२५३॥ अशासंस्तस्करान्यस्तु विं गृह्णाति पार्थिवः । तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच परिहीयते ॥ २५४ ॥

अशासिनिति ॥ यथा पुनर्नृपतिश्चौरादीनिराकुर्वन् षङ्मागाद्यक्तं करं गृह्णाति तस्मै राष्ट्रवासिनो जनाः कुप्यन्ति । कर्मान्तरार्जिताप्यस्य स्वर्गप्राप्ति-रनेन दुष्कृतेन प्रतिबध्यते ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भनेचस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् । तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्वमः ॥ २५५ ॥

निर्भयमिति ॥ यस राज्ञो बाहुवीर्याश्रयेण राष्ट्रं चौरादिभयरहितं भवति । तस्य निसं तद्वृद्धिं गच्छति । उदकसेकेनेव वृक्षः ॥ २५५ ॥

> द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् । प्रकाशांश्राप्रकाशांश्र चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥

द्विविधानिति ॥ चारं एव चौरज्ञानहेतुत्वाबश्चरित यस्यासौ राजा, चारै-रेव प्रकटतया गूढतया द्विप्रकाराज्यायेन परधनप्राहिणो जानीयात् ॥२५६॥

> प्रकाशवश्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः। प्रच्छन्नवश्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः॥ २५७॥

प्रकाशेन्ति ॥ तेषां पुनश्चौरादीनां मध्याचे तुलाप्रतिमानोपचयादिना हिर-ण्यादिपण्यविक्रयिणः प्रधनसञ्जानित गृह्यन्ति ते प्रकाशक्वकाः खेलाश्चौहार्य सद्विच्छेदादिना गुप्ताबन्याश्चर्याश्च प्रस्थानं मृह्यन्ति ते प्रच्छक्ववज्ञकाः॥२५७॥

किं च,--

उत्कोचकाश्रौपधिका वश्रकाः कितवास्तथा ।

मजुरुद्देशस्त्रकाश्र मेद्राश्रेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥

असम्यकारिणश्रैव महामात्राश्रिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्र निषुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशाँ होककण्टकान् ।

निगृहचारिणश्रान्याननार्यानार्यक्रिक्तिनः ॥ २६० ॥

उत्कोचका इति ॥ असम्यगिति ॥ एवमिति ॥ उत्कोचका ये कार्यिभ्यो धनं गृहीत्वा कार्यमयुक्तं कुर्विन्ति । भौपधिका भयदर्शनाद्ये धनसुपत्रीवन्ति ।

पाठा०-1 भद्रप्रेक्षणिकैः. 2 एवमाद्यान्.

१ क्षीरे नीरादिमिश्रणेन, घते तैलादिमिश्रणेन, हेम्नि ताम्राचन्यतमधातुविमिश्रणेन च व्यवहारकारिणो विणिग्धेमकारादयः प्रकाशवञ्चकाः, अप्रकाशवञ्चकास्तु स्तेनादय इत्याशयः

वञ्चका ये सुवर्णादि दृष्यं गृहीत्वाऽपैद्रव्यप्रक्षेपेण वञ्चयन्ति । कितवा चूत-समाह्वयदेविनः । धनपुत्रलाभादिमङ्गलमादिश्य ये वर्तन्ते ते मङ्गलादेशवृत्ताः । मद्राः कल्याणाकारप्रच्लन्नपापा ये धनप्राहिणः । ईश्वणिका इस्तरेसाद्यवलो-कनेन ग्रुभाग्रुभफलकथनजीविनः । महामात्रा हस्तिशिक्षाजीविनः । चिकित्स-काश्चिकित्साजीविनः । असम्यक्कारिण इति महामात्रचिकित्सकविशेषणम् । शिल्पोपचारयुक्ताश्चित्रलेसाग्रुपायजीविनः तेऽप्यनुपजीव्यमानशिल्पोपाय-प्रोत्साहनेन धनं गृह्वन्ति । पण्यस्त्रियश्च परवशीकरणकुशला इत्यवमादी-म्यकाशं लोकवञ्चकांश्चारेर्जानीयात् । अन्यानपि प्रच्लन्नचारिणः शुद्रादीन्त्रा-द्यणादिवेषधारिणो धनमाहिणो जानीयात् ॥ २५८-२६०॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गृढैस्तत्कर्मकारिभिः । चारैश्वानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥

तानिति ॥ तानुक्तान्वञ्चकान्सभ्यैः प्रच्छन्नेस्तत्कर्मकारिभिर्वणिजां स्तेये वणिग्मिरिस्येवमादिभिः पुरुषेरेतद्यतिरिक्तैः सप्तमाध्यायोपदिष्टकापटिकादि-भिश्चारेरनेकस्थानस्थैर्ज्ञात्वा प्रोत्साच स्ववशान्कुर्यात् ॥ २६१ ॥

तेषां दोषानभिख्याप्य खे खे कर्मणि तत्त्वतः।

कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

तेषामिति । तेषां प्रकाशाप्रकाशतस्कराणां स्वकर्मणि चौर्यादौ ये पारमा-धिका दोषाः संधिच्छेदादयसाँ छोके प्रख्याप्य तद्गतधनशरीरादिसामर्थ्या-पेक्षयाऽपराधापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात् ॥ २६२ ॥

न हि दण्डादते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः । स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥

न हीति ॥ यसाम्बीराणां पापाचरणबुद्धीनां विनीतवेषेण पृथिव्यां चरतां दण्डव्यतिरेकेण पापिकयायां नियमं कर्तुमशक्यमत एषां दण्डं कुर्यात्॥२६३॥

सभाप्रपाष्प्रशालावेशमद्यात्मविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युप्रवनानि च ॥ २६५ ॥
एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्राप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

समेति ॥ जीर्णेति,॥ एवमिति ॥ सभाग्रामनगरादौ नियतं जनसमृहस्थानं,

पाठा०—1 प्रोत्साह्य (=उत्साहमुत्पाय ).

क्षिक्षद्रव्यं नाम रसविद्धतात्रादि रजतरूपेण अमोत्पादकं द्रव्यम्.

प्रपा जलदानगृहं, अपूपिविकयवेश्म, पण्यस्तीगृहं, मद्यान्नविकयस्थानानि, चतुष्पथाः, प्रत्यातवृक्षमूलानि, जनसमूहस्थानानि, जीर्णवाटिकाः, अटन्यः, शिल्पगृहाणि, शून्यगृहाणि, आम्रादिवनानि, कृत्रिमोद्यानानि । एवंप्रकारान्दे-शान्सैन्यैः पदातिसमृहैः स्थावरजङ्गमैरेकस्थानस्थितैः प्रचारिभिश्चान्यैश्चारेस्त-स्करनिवारणार्थं चारयेत् । प्रायेणैवंविधे देशेऽन्नपानस्तीसंभोगस्त्रप्रहर्त्राद्यन्वे-पणार्थं तस्करा अवतिष्टन्ते ॥ २६४-२६६॥

# तत्सहायैरचुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः।

विद्यादुत्सादयेचैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

तदिति ॥ तेषां साहाय्यं प्रतिपद्यमानैस्तचरितानुवृत्तिभः संधिच्छेदादिकर्मा-नुष्ठानवेदिभिः पूर्वचौरैश्चाररूपेश्चारमायानिपुणैस्तस्कराञ्जानीयादुःसादयेच ॥

> भैक्ष्यभोज्यापदेशैश्र ब्राह्मणानां च दर्शनैः । शौर्यकर्मापदेशैश्र कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

भक्ष्येति ॥ ते पूर्वचौराश्चारभूता 'क्षागच्छतास्मृहं गच्छामसत्र मोदक-पायसादीन्यश्मीमः' इत्येवं भक्ष्यभोज्यव्याजेन, 'क्षसाकं देशे ब्राह्मणोऽस्ति सो-ऽभिलिषतार्थसिद्धं जानाति तं पश्यामः' इत्येवं ब्राह्मणानां दर्शनैः, 'कश्चिदेक एव बहुभिः सह योत्स्यते तं पश्यामः' इत्येवं शौर्यकर्मव्याजेन तेषां चौराणां राज्ञो दण्डधारकपुरुषाः समागमं कुर्युर्भाह्येयुश्च ॥ २६८ ॥

## ्ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्र ये ।

तान्त्रसद्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥

य इति ॥ ये चौरास्तत्र भक्ष्यभीज्यादौ निम्रहणशङ्कया नोपसपिन्ति, ये च मूछे राजनियुक्तपुराणचौरवर्गे प्रणिहिताः सावधानभूताः तैः सह संगतिं भजन्ते तांश्रौरांस्तेभ्य एव ज्ञात्वा तदेकतापन्नामित्रपित्रादिज्ञातिस्वजनसहिता-न्वलादाक्रम्य राजा हन्यात् ॥ २६९ ॥

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः । सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥

न होढेनेति ॥ धार्मिको राजा हतद्रव्यसंधिच्छेदोपकरणव्यतिरेकेणानि-श्चितचौरभावं न घातयेर्त्कितु हतद्रव्येण चौर्योपकरणेन च निश्चितचौरभावम-विचारयन्यातयेत् ॥ २७० ॥

ग्रामेष्विप च ये केचिचौराणां भक्तदायकाः । भाण्डावकाशदाश्चेव सर्वास्तानिप घातयेत् ॥ २७१ ॥ ग्रामेष्विति ॥ ग्रामादिष्विप ये केचिचौराणां चौरत्वं ज्ञात्वा भक्तदाः

पाठा०-1 नानावर्मप्रचारिभिः. 2 भक्ष्यभोज्योपदेशैश्व.

चौर्योपयुक्तभाण्डादि गृहावस्थानं ये ददित तानपि नैरन्तर्याद्यपराधगोचरा-पेक्षया घातयेत् ॥ २७१ ॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् । अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्जिष्याचौरानिव द्वतम् ॥ २७२ ॥ राष्ट्रेष्विति ॥ ये राष्ट्रेषु रक्षानियुक्ताः, ये च सीमान्तवासिनः कूराः सन्त-श्चौर्योपदेशे मध्यस्था भवन्ति तांश्चौरवस्थिपं दण्डयेत् ॥ २७२ ॥

यश्रापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।

दण्डेनेव तमप्योषेत्स्वकाद्धमीद्धि विच्युतम् ॥ २७३ ॥ यश्चापीति ॥ याजनप्रतिप्रहादिना परस्य यागदानादिधर्ममुल्पाद्य यो जीवति स धर्मजीवनो ब्राह्मणः, सोऽपि यो धर्ममर्यादायाश्च्युतो भवति तमपि स्वधमित्परिभ्रष्टं दण्डेनोपतापयेत् ॥ २७३ ॥

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोपाभिद्र्शने।

शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥ श्रामेति । प्रामञ्जप्टने तस्करादिभिः क्रियमाणे, हिताभक्ते जलसेतुभक्ते जाते । 'क्षेत्रोत्पन्नसस्यनाशने वृत्तिभक्ते च' हति मेधातिथिः । पथि चौरदशैने तिन्नद्रवर्तिनो यथाशक्तितो ये रक्षां न क्रवैन्ति ते शय्यागवाश्वादिपरिच्छद्-सहिता देशान्निर्वासनीयाः ॥ २०४ ॥

राज्ञः कोशापहर्द्श्य प्रैतिक्लेषु च स्थितान् । घातयेद्विविधेर्दण्डेररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥

राङ्ग इति ॥ राज्ञो धनगृहाद्धनापहारिणस्तथा तदाज्ञान्याघातकारिणः शत्रूणां च राज्ञा सह वैरिवृद्धिकारिणोऽपराधापेक्षया करचरणजिह्वाच्छेदना-दिमिनीनामकारदण्डैर्घातयेत् ॥ २७५ ॥

संधिं छिच्चा तु ये चौर्य रात्री कुर्वन्ति तस्कराः ।

तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे ग्रूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥ संधिमिति ॥ ये रात्रौ संधिच्छेदं कृत्वा परधनं तस्करा मुष्णन्ति तेषां राजा हस्तद्वयं छित्त्वा तीक्ष्णे ग्रूले तानारोपयेत् ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्प्रान्थिभेदस्य छेदयेतप्रथमे प्रहे ।

द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमहिति ॥ २७७ ॥

अङ्कुळीरिति॥ पटप्रान्तादिस्थितं सुवर्णादिकं प्रनिथमोक्षणेन पश्चीरयति स प्रनिथमेदसस्य प्रथमे द्रव्यप्रहणेऽङ्कुळीइछेदयेत् । ते चाङ्कुक्तकंन्यौ 'उरह्मेपक-

पाठा०—1 तटाभने. 2 मोषाभिमशेने. 3 प्रातिकृत्येष्ट्रविस्थतान्. 4 प्रन्थि भिक्ता (=पक्षप्रान्तमृतम्बभेदं विश्वाय). अन्यिमेदो करसंदंशहीनको' (याज्ञ.स्म.व्य.२३।२७४) इति याज्ञवल्यवचनात् । द्वितीये अहणे हस्तपादौ छेदयेत् । तृतीये अहणे वधादों भवति ॥ २७७ ॥

> अग्निदान्भक्तदांश्चेव तथा शस्त्रावकाशदान् । संनिधादंश्च मोपस्य हन्याचौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

अग्निद्ानिति ॥ यन्थिभेदादिकारिणो विज्ञायाग्निमक्तशस्त्रावस्थानप्रदान्सु-च्यत इति मोषश्चौरधनं तस्यावस्थापकांश्चौरवद्गाजा निगृह्णीयात् ॥ २७८ ॥

तडागमेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।

यद्वापि प्रतिसंस्क्वर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥

तडागेति॥ यः स्नानदानादिना जनोपकारकं तडागं सेतुभेदादिना विना-शयति तमप्सु मजनेन प्रकारान्तरेण वा हन्यात्। यद्वा यदि तडागं पुनः संरेक्चर्यात्तदोत्तमसाहसं दण्ड्यः॥ २७९॥

### कोष्टागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।

हस्त्यश्चरथहर्देश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

कोष्ठिति ॥ राजसंबन्धिधान्यादिषु धनागारायुधगृहयोर्देवप्रतिमागृहस्य च बहुधनव्ययसाध्यस्य विनाशकान्हस्त्यश्वरथस्य चापहर्तृञ्ज्ञीश्रमेव हृन्यात् । यत्तु संक्रमध्वजयष्टिदेवताप्रतिमाभेदिनः पञ्चशतदृण्डं वश्यति सोऽस्मादेव देवतागारभेदकस्य बधविधानान्यन्मयप्जितोजिश्चतदेवताप्रतिमाविषयोऽत्र दृष्टग्यः ॥ १८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस तडागसोदकं हरेत्।

आगमं वाष्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥ यस्तिति ॥ यः पुनः प्रजार्थं पूर्वं केनचित्कृतस्य तडागस्योदकमेव गृह्णाति । कृत्स्वतद्यागोदकनाशने वधदण्डः प्रागुक्तः । तथोदकगमनमार्गं सेतुबन्धादिना यो नाशयति स प्रथमसाहसं दण्ड्यः ॥ २८१ ॥

समुत्सुजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।

स द्वी कार्षापणी द्वादमेश्यं चाग्र शोधयेत् ॥ २८२ ॥ समुत्स्जेदिति ॥ भनातः सन्यो राजपथेषु पुरीषं क्वर्यात्स कार्षापणद्वयं दण्डं द्वात् , स चामेश्यं शीघमेवापसारयेत् ॥ २८२ ॥

आपद्भतोऽथवा दृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।

परिभाषणमहिन्त तच शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥

आपद्भत इति ॥ व्याधितवृद्धगर्भिणीबाला न दण्डनीयाः किंतु ते पुनः किं कृतमिति परिभाषणीयाः। तश्वामेध्यं शोधनीया इति शास्त्रमर्यादा ॥ २८३ ॥

१ प्रतिसंस्कुर्यात् विषादिद्रव्येर्ष्षयेदिति राघवानन्दः ।

### चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः । अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

चिकित्सकानामिति ॥ सर्वेषां कायश्चरयादिभिषजां दुश्चिकित्सां कुर्वतां दण्डः कर्तव्यः । तत्र गवाश्वादिविषये दुश्चिकित्सायां प्रथमसाहसदण्डः । मानुषविषये पुनर्मध्यमसाहसः ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च मेदकः । प्रतिक्रयाचि तत्सर्वं पश्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥

संक्रमेति ॥ संक्रमो जलोपिर गमनार्थं काष्टशिलादिरूपः, ध्वजिश्चह्नं राज-द्वारादौ, यष्टिः पुष्करिण्यादौ, वृतिमाश्च श्चद्रा मृन्मय्यादयस्तासां विनाशकः पञ्चशतपणान्द्यात्, तस विनाशितं सर्वं पुनर्नेवं कुर्यात् ॥ २८५ ॥

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।

मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

अदृषितानामिति ॥ अदुष्टद्रव्याणामपद्रव्यप्रक्षेपेण दूषणे, मणीनां च माणिक्यादीनामभेद्यानां विदारणे, वेध्यानामपि मुक्तादीनामनवस्थानवेधने प्रथमसाहसो दण्डः कार्यः । सर्वत्र परकीयद्रव्यनाशे द्रव्यान्तरदानादिना स्वामितृष्टिः कार्या ॥ २८६ ॥

> समैिह विषमं यस्तु चरेद्वे मूल्यतोऽपि वा । समाप्रुयाइमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥

समैरिति ॥ समैः सममूल्यदातृभिः सहोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यदानेन यो विषमं व्यवहरति सममूल्यं द्रव्यं दत्त्वा यः कस्यविद्धमूल्यं कस्यविद्दरमूल्यमिति विषमं मूल्यं गृह्णाति सोऽनुबन्धविशेषापेक्षया प्रथमसाहसं मध्यमसाहसं वा दण्डं प्राग्नुयात् ॥ २८७ ॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजमार्गे निवेशयेत् । दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥ प्राकारस्य च मेत्तारं परिखाणां च पूरकम् । द्वाराणां चैव भङ्कारं श्विप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥ ४

बन्धनिति ॥ प्राकारेति ॥ बन्धनगृहाणि सर्वजनदृश्ये राजमार्गे कुर्यात , यत्र निगडबन्धनाषुपेताः क्षुत्तृष्णाभिभूता दीर्घकेशनखरमश्रवः कृशाः पाप-कारिणोऽन्येरकार्यकारिभिरकार्यनिवृत्त्यर्थं दृश्येरन् राजा गृहपुरादिसंबन्धिनः प्राकारस्य भेदकं तदीयानामेव परिखाणां पुरियतारं तद्गतानां द्वाराणां भक्षकं शीव्रमेव देशान्निर्वासयेत् ॥ २८८-२८९ ॥

पाठा०—1 राजा मार्गे.

## अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो दिशतो दमः।

मूलकर्मणि चानासः कृत्यास विविधास च ॥ २९० ॥ अभिचारे व्वित ॥ अभिचारहोमादिषु शास्त्रीयेषु मारणोपायेषु छौकिकेषु च मूलनिखननपद्पांशुप्रहणादिषु कृतेष्वनुत्पन्नमरणकलेषु द्विशतपणप्रहण-रूपो दण्डः कर्तेव्यः । मरणे तु मानुषमारणदण्डः । एवं मानुपितृभायीदिव्य-तिरिक्तरसत्येव्यामोह्य धनप्रहणाद्ययं वशीकरणे तथा कृत्यास्चाटनापाटवादि-हेतुषु क्रियमाणासु नानाप्रकारासु द्विशतपणदण्ड एव कर्तव्यः ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कष्टा तथैव च । मर्यादामेदकश्चैव विकृतं प्राग्रयाद्वधम् ॥ २९१ ॥

अवीजिति ॥ अवीजं बीजप्ररोहासमर्थं बीह्यादि प्ररोहसमर्थमिति कृत्वा यो विकीणीते, तथाऽपकृष्टमेव कतिपयोत्कृष्टप्रक्षेपेण सर्वमिदं सोत्कर्षमिति कृत्वा यो विकीणीते, यश्च प्रामनगरादिसीमां विनाशयति स विकृतनासाकरचरण-कर्णादिरूपं वर्धं प्राप्तुयात् ॥ २९१ ॥

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः । प्रवर्तमानमन्याये छेदयेर्त्वण्डद्याः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

सर्वेति ॥ सर्वकण्टकानां मध्येऽतिशयेन पापतमं सुवर्णकारं तुलाङशकष-परिवर्तापद्गन्यप्रक्षेपादिना हेमादिचौर्ये प्रवर्तमानमनुबन्धापेक्षयाङ्गाविशेषेण सर्वदेहं वा खण्डशश्छेदयेत् ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामीपथस्य च ।

कालमासाद्य कार्य च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥ सीतेति ॥ कृष्यमाणभूमिद्रव्याणां हलकुद्दालादीनामपहरणे, खङ्कादीनां च शस्त्राणां, भौषधस्य च कल्याणघृतादेश्चीर्ये सत्युपयोगकालेतरकालापेश्चया प्रयोजनापेश्चया च राजा दण्डं कुर्यात् ॥ २९३ ॥

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।

सप्त प्रकृतयो होताः सप्ताङ्गं राज्यग्रुच्यते ॥ २९४ ॥

स्वामीति ॥ स्वामी राजा, श्रमास्यो मध्यादिः, पुरं राज्ञः कृतदुर्गनिवास-नगरं, राष्ट्रं देशः, कोशो विचृतिचयः, दण्डो हस्स्थरथपादातं, मित्रं त्रिविधं सप्तमाध्यायोक्तमित्येताः सप्तप्रकृतयोऽङ्गानि । सप्ताङ्गमिदं राज्यमित्युच्यते२९४

ततः किमित्याह—

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् । पूर्व पूर्व गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५॥

सप्तानामिति ॥ आसां राज्यप्रकृतीनां सप्तानां क्रमोक्तानामुत्तरस्याविनाशम-

पाठा०-1 चानाप्ते. 2 बीजोत्कृष्टं. 3 °ह्रवशः.

पेक्ष्य पूर्वस्थाः पूर्वस्था विनाशविषये गरीयो व्यसनं जानीयात् । तथा हि-मित्र-व्यसनात्सवलव्यसनं गरीयः, संपन्नवलस्थैव मित्रानुम्रहे सामर्थ्यात्; एवं बला-त्कोशो गरीयान् , कोशनाशे बलस्यापि नाशात् । कोशादाष्ट्रं गरीयः, राष्ट्रनाशे कुतः कोशोत्पत्तिः ? एवं राष्ट्राहुर्गनाशोऽपि दुर्गादेव यवसेन्धनादिसंपन्नाद्राज्य-रक्षासिद्धिः । दुर्गादमात्यो गरीयान्, प्रधानामात्यनाशे सर्वाङ्गवैकल्यात् । अमा-त्यादप्यात्मा, सर्वस्यात्मार्थत्वात् । तस्मादुत्तरापेक्षया पूर्वं यवतो रसेत् ॥२९५॥

## सप्ताङ्गस्रोह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् । अन्योन्यगुणवैशेष्यात्र किंचिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

संसाङ्गस्येति ॥ उक्तसप्ताङ्गवतो लोके राष्ट्रस्य त्रिदण्डवद्न्योन्यसंबन्धस्य परस्परविलक्षणोपकारणाञ्च किंचिदङ्गमधिकं भवति । यद्यपि पूर्वश्लोके पूर्वपूर्वा- इस्याधिक्यमुक्तं तथाप्येषामङ्गानां मध्यादन्यस्याङ्गसंबन्धिनमपकारमन्यदङ्गं कर्तं न शकोति, तस्मादुत्तरोत्तराङ्गमप्यपेक्षणीयमित्येवंपरोऽयमाधिक्यनिषेधः । अत्र असिद्धं यतित्रिदण्डमेव दृष्टान्तः । तद्धि चतुरङ्गलगोवालवेष्टनाद्नयोन्य- संबन्धं, न च तन्मध्ये त्रिदण्डधारणशास्त्रार्थे कश्चिद्दण्डोऽधिको भवति ॥

## तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते । येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन्श्रेष्टमुच्यते ॥ २९७॥

तेष्विति ॥ यसात्तेषु तेषु संपाद्येषु कार्येषु तत्तदङ्गस्यातिशयो भवति, त-त्कार्यमन्येन कर्तुमशक्तेः। एवं च येनाङ्गेन यत्कार्यं संपाद्यते तस्मिन्कार्ये तदेव प्रधानमुच्यते। ततश्चान्योन्यगुणविशेषादि यदुक्तं तदेवानेन स्फुटीकृतम् ॥२९७॥

## चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् । स्वर्शाक्तं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८॥

चारेणेति ॥ सप्तमाध्यायोक्तकापटिकादिना बलस्योत्साहयोगेन कर्मणां च हस्तिबन्धवणिक्पथादीनामनुष्टानेन जातां शत्रोरात्मनश्च शक्तिं राजा सदा जानीयात् ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च । आरमेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघनम् ॥ २९९ ॥ पीडनानिति ॥ पीडनानि मारकादीनि कांमकोधोजनानि, दुःखानि च स्वपरचक्रगतानि तेषां च गुरुलघुभावं पर्यालोच्य संधिविग्रहादि कार्यमार-मेत् ॥ २९९ ॥

अम् मेर्वेव कर्माणि आन्तः आन्तः पुनः पुनः । कर्माण्यारममाणं हि पुरुषं श्रीनिवेवते ॥ २००॥ अस्टमेरोति॥ राजा स्वराज्यवृद्धिपरापचयनिमित्तानि कार्याणि कथंचिदिदं संजातमिति छलान्यप्यारभ्यात्मना खिन्नः पुनः पुनस्तान्यारभेतैत । यसा-त्कर्माणि सुज्यमानं पुरुषं श्रीनितरां सेवते । तथा नात्राह्मणे नानाश्रये श्रीर-स्तीति प्ररोहितापि शोषमेति, नच युगानुरूपेण कर्माणि फलन्तीति राज्ञो-दासितब्यम् ॥ ३०० ॥

यतः,

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं किलरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ २०१ ॥
कृतमिति ॥ कृतत्रेताद्वापरकल्यो राज्ञ एव चेष्टितविशेषासैरेव सत्यादिविशेषप्रवृत्तेः । तस्मादाजैव कृतादियुगमभिषीयते ॥ २०१ ॥

कीदक्चेष्टितः कृतादियुगमित्यत भाह-

किलः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्वापरं युगम् । कैर्मस्वभ्युद्यतस्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

किरिति ॥ अञ्चानाळस्यादिना यदा निरुधमो राजा भवति तदा किलः स्यात् । यदा जानन्नपि नानुतिष्ठति तदा द्वापरम् । यदा कर्मानुष्ठानेऽवस्थि-तस्तदा त्रेता । यथाशास्त्रं पुनः कर्माण्यनुतिष्ठन्विचरति तदा कृतयुगम् । तस्मादाज्ञा कर्मानुष्ठानपरेण भान्यप्तिस्वत्र तात्पर्यं नतु वास्तवकृतयुगा-यपळापे ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्थाकस्य वायोश्र यमस्य वरुणस्य च । चन्द्रस्याग्रेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥ इन्द्रस्येति ॥ इन्द्रादिसंबन्धिनो वीर्यस्यानुरूपं चरितं राजानुतिष्ठेत् । तथा च राजा कण्टकोद्धारेण प्रतापानुरागाभ्यां संयुक्तः स्यात् ॥ ३०३ ॥

कथमिन्द्रादिचरितमनुतिष्ठेदिलाह—

वार्षिकांश्रतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति । तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रवतं चरन् ॥ ३०४॥

वार्षिकानिति ॥ ऋतुसंवत्सरपक्षाश्रयणेनेद्रमुच्यते । यथा श्रावणादींश्रतुरो मासानिन्द्रः सस्यादिसिद्धये वर्षस्येवमिन्द्रचरितमतुतिष्ठन् राजा स्वदेशायात-साधुनभिल्पितार्थैः प्रयेत् ॥ ३०४ ॥

अष्टो मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रिक्मिभिः । तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कवतं हि तत् ॥ ३०५ ॥ अष्टाविति ॥ यथा सूर्यो मार्गशीर्षाबष्टमासान् रिक्मिभः स्रोकं स्रोकं

पाठा०-1 कर्मखभ्युदितः.

रसमीवत्तापेनादत्ते, तथा राजा शास्त्रीयकरानपीडया सदा राष्ट्राहृह्णीयात्। यसादेतदस्यार्केनतम् ॥ ३०५ ॥

> प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः । तथा चारैः प्रवेष्टन्यं त्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

प्रविद्येति ॥ यथा प्राणाख्यो वायुः सर्वजन्तुष्वन्तः प्रविद्य विचरत्येवं चारद्वारेण स्वपरमण्डलजालेषु चिकीर्षितार्यज्ञानार्थमन्तः प्रवेष्टन्यम् । यसा-देतन्मारुतं चरितम् ॥ ३०६ ॥

यथा यमः प्रियद्वेष्या प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमत्रतम् ॥ ३०७॥
यथेति ॥ यद्यपि यमस्य शत्रुमित्रे न सस्तथापि तक्षिन्दकार्चकयोः शत्रुमित्रयोर्यथा यमः शत्रुमित्रमरणकाले तुल्यविश्वयमयस्थेवं राज्ञाऽपराधकाले
रागद्वेषपरिहारेण प्रजाः प्रमापणीयाः । यसादेतदस्य याम्यं वतम् ॥ ३०७॥

वरुणेन यथा पाशैर्वद्ध एवाभिदृश्यते । तथा पापान्त्रिगृह्णीयाद्धतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

्वरुणेनेति ॥ यो वरुणस्य रज्जुभिर्बन्धयितुमिष्टः स यथा तेनाविशक्कितः पार्शेर्बेद्ध एव छक्ष्यते तथा पापकारिणोऽविशक्कितानेव यावन्न पारयन्ते ताव-च्छासयेत् । यसादेतदस्य वारुणं व्रतम् ॥ ३०८ ॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः । तथा प्रकृतयो यसिन्स चान्द्रवृतिको नृपः ॥ ३०९ ॥ परिपूर्णमिति ॥ यथा पूर्णेन्दुदर्शनेन मनुष्या दृषंमुत्पादयन्त्येवममात्याद्यो यसिन्दृष्टे तृष्टिमुपगच्छन्ति स चन्द्वाचारचारी नरेन्द्रः ॥ ३०९ ॥

> प्रतापयुक्तस्तेजस्ती नित्यं स्यात्पापकर्मसु । दुष्टसामन्तिहिंसश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

प्रतापयुक्त इत्यादि ॥'पापकारिषु सदा दण्डपातेन प्रचण्डोऽसहनः स्यात्तथा प्रतिकृष्णामात्राहिसनद्यीको भवेत् । तद्स्याग्निसंबन्धि वतं स्मृतम् ॥ ३१०॥

यथा सर्वाणि भूतानि घरा धारयते समम् । तथा सर्वाणि भूतानि विश्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥

यथेति ॥ यथा पृथिवी सर्वाण्युचावचानि स्थावरजङ्गमान्युरक्र्ष्टाप्य समं कृत्वा धारयते तद्वद्विद्वद्धनिकगुणवज्ञतानि तदितराणि च दीनानाथादि- सर्वभूतानि रक्षणधनदानादिना सामान्येन धारयतः पृथिवीसंबन्धि वर्तं भवति ॥ ३११ ॥

## एतैरुपायैरन्येश्र युक्तो नित्यमतन्द्रितः । स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

एतेरिति ॥ एतेरुक्तोपायैरन्येश्चानुक्तेरिप स्वन्नद्धिप्रयुक्तो राजाऽनलसः सन् स्वराष्ट्रे ये चौरा वसन्ति, ये च परराष्ट्रे वसन्तस्तदेशमागल मुण्णन्ति, तानुभय-प्रकारान्निगृद्धीयात् । 'सोऽग्निभेवित वायुश्च' (७।७) इत्यादिना पूर्व सिद्धवदुक्त-मभ्यादिरूपत्वम्, इह नु तद्धणलागेन स्फुटीकृतमिल्यपुनरुक्तिः ॥ ३१२ ॥

## परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान प्रकोपयेत् ।

ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सवलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

परामिति ॥ कोशक्षयादिना प्रकृष्टामप्यापदं प्राप्तो राजा ब्राह्मणान्न प्रकोप-येत् । यसात्ते रुष्टाः सबलवाहनमेनं सद्य एव शापाभिचाराभ्यां हन्युः ३१३ तथा हि,—

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः । श्वयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥३१४॥ यैरिति ॥ यैर्बाद्यणैरभिशापेन सर्वभैक्ष्योऽग्निः कृतः, समुद्रश्चापेयजैलः, चन्द्रैश्च क्षययुक्तः पश्चात्पूरितस्तान्कोपयित्वा को न नश्येत् ॥ ३१४॥ किंच.—

लोकानन्यान्सृजेयुर्थे लोकपालांश्च कोपिताः । देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्यात् ॥ ३१५ ॥

क्षोकानिति ॥ ये स्वर्गादिकोकान्परानन्यांश्च कोकपालान्सजन्तीति संभा-न्यते । देवांश्च शापेन मानुषादीन्कुर्वेन्ति तान्पीडयन्कः समृद्धिं प्राष्ट्रयात् ॥ अपि च,—

> यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्र सर्वदा । ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंखात्ताङ्जिजीविषुः ॥ ३१६॥

यानित्यादि ॥ यान्त्राह्मणान्यजनयाजनकर्तृकानाश्रित्य 'भम्मे प्रास्ताहुतिः' (११७६) इति न्यायेन पृथिन्यादिलोका देवाश्र स्थिति लभन्ते, वेद एव च येषामभ्युद्यसाधनतया याजनाध्यापनादिना धनोपायत्वास, ताञ्जीवितु-मिच्छन्को हिंस्यात् ॥ ३१६॥

१ भृगोरियं भावेति विद्विनिदिष्टवान्कंचनासुरम्, स च तामपाहरत्, ततश्च कुद्धी भूगुः 'त्वं सर्वभक्षो भव' इत्याप्तं शशापेति श्रूयते । २ तपश्चरता वडवासुखनामिषणाहृतः ससुद्रो नोपस्थितस्तेन चार्णवः शागे कवणभावमापादित शति मारते मोक्षधमेषूत्तस् । ३ दक्षण चन्द्रो दि क्षयी कृतः, पुनश्चोपायैः पूर्णत्वमापादित शति प्रसिद्धिः ।

एवं तर्हि विद्वांसं ब्राह्मणं सेवेतेत्यत भाह-

अविद्वांश्रेव विद्वांश्र त्राह्मणो दैवतं महत्।

प्रणीतश्राप्रणीतश्र यथाग्निर्देवतं महत् ॥ ३१७ ॥

अविद्वानिति ॥ यथाहितोऽनाहितो वाऽग्निमेहती देवता; एवं मूर्खो विद्वांश्च ब्राह्मणः प्रकृष्टा देवतेति ॥ ३१७ ॥

इमशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।

्हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

इमशानेष्वित्यादि ॥ यथाग्निर्महातेजाः स्मशाने शवं दहन्कार्येऽपि नैव दुष्टो भवति किंतु पुनरपि यज्ञेषु हूयमानोऽभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥

एवं यद्यपीति ॥ एवं क्रित्सितकर्मस्विप सर्वेषु यद्यपि ब्राह्मणाः प्रवर्तन्ते तथापि सर्वप्रकारेण पूज्याः । यस्मात् प्रकृष्टं तद्दैवतम् । स्तुत्यर्थत्वाचास्य न यथाश्चतार्थविरोधः शक्कनीयः ॥ ३१९॥

क्षत्रस्मातिप्रदृद्धस ब्राह्मणान्प्रति सर्वेशः।

ब्रह्मैव संनियन्तृ स्थात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

क्षत्रस्येति ॥ क्षत्रियस्य ब्राह्मणान्त्रति सर्वथा पीडानुवृत्तस्य ब्राह्मणा एव ज्ञापाभिचारादिना सम्यङ्कियन्तारः। यस्मात्क्षत्रियो ब्राह्मणात्संभूतः, ब्राह्मण-बाहुप्रसृतत्वात् ॥ ३२० ॥

तथा च,—

अद्भवोऽग्निबंहातः क्षत्रमञ्मनो लोहम्रुत्थितम् ।

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्नासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥

अद्भा इति ॥ जलबाह्मणपाषाणेभ्योऽग्निक्षत्रियशस्त्राणि जातानि, तेषां संबन्धि तेजः सर्वत्र दहनाभिभवच्छेदनार्थकं कार्यं करोति । स्वकारणेषु जलबाह्मण-गाषाणास्येषु दहनाभिभवच्छेदनात्मकं कार्यं न करोति ॥ ३२३ ॥

नात्रस क्षत्रमृश्लोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।

ब्रह्म क्षत्रं च संप्रक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

नेति ॥ ब्राह्मणरहितक्षत्रियो वृद्धिं न याति, शान्तिकपौष्टिकस्यवहारेक्षणा-दिधमीवरहात् । एवं क्षत्रियरहितोऽपि ब्राह्मणो न वर्धते, रक्षां विना यागादि-कर्मानिष्पत्तेः । किंतु ब्राह्मणः क्षत्रियस्र परस्परसंबद्ध एवेह लोके परलोके च भ्रमार्थकाममोक्षापाह्या वृद्धिमेति । दण्डप्रकरणे चेर्य ब्राह्मणस्तुतिब्राह्मणाना-मपराधिनामपि लघुदण्डप्रयोगनियमार्था ॥ ३२२ ॥

१ 'सेवा समस्य योनियंद्रहा' इति श्रुतिवचनात्स्रवियस्य महासंस्रवत्स्मितिः भावः

यदा त विशिष्टदर्शनेनाचिकित्खन्याधिना वासम्मस्युर्भवित तदा,—दत्ता धनं तु विष्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।
पुत्रे राज्यं समामुज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३॥

द्त्त्वेति ॥ महापातिकव्यतिरिक्तविनियुक्ताविशष्टसर्वदण्डधनं ब्राह्मणेभ्यो द्त्त्वा, पुत्रे राज्यं समर्प्यासन्नमृत्युः फलातिशयप्राप्तये संप्रामे प्राणलागं कुर्यात् । संप्रामासंभवे त्वनशनादिनापि ॥ ३२३ ॥

एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः । हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यानियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

एवमिति ॥ एवमध्यायत्रयोक्तराजधर्मेषु व्यवहार्यमाणो राजा सर्वदा यत-वान्त्रजाहितेषु सर्वान्श्रत्यान्विनियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

> एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः । इमं कर्मविधि विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥

एष इति ॥ इतदाज्ञः कर्मानुष्ठानं पारंपर्यागततया नित्यं समत्रमुक्तम्, इदानीं वैश्यशूद्रयोः क्रमेण वक्ष्यमाणिमदं कर्मानुष्ठानं जानीयात् ॥ ३२५ ॥

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् । वार्तायां नित्ययुक्तः स्थात्पश्चनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

वैश्यस्त्विति ॥ वैश्यः कृतोपनयनपर्यन्तसंस्कारो विवाहादिकं कृत्वा जीवि-कायां वक्ष्यमाणायां कृष्यादिकार्यार्थं पशुपालने च सदा समायुक्तः स्थात् । पशुरक्षणस्य वार्तात्वेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं पृथग्विधानम् । तथा चोत्तर-श्लोकान्यां प्राधान्यं दर्शयति ॥ ३२६ ॥

> प्रजापतिाईं वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् । ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥

प्रजापतिरिति ॥ यसाइह्या पश्चन्सञ्चा रक्षणार्थं वैश्याय दत्तवान्, अतो वैश्येन रक्षणीयाः पश्चव इति पूर्वानुवादः । प्रजाश्च सर्वाः सङ्घा बाह्यणाय राष्ट्रे च रक्षणार्थं दत्तवानिति प्रसङ्गादेतदुक्तम् ॥ ३२७ ॥

> न च वैश्यस्य कामः स्थान रक्षेयं पश्चिति । वैश्ये चैच्छति नान्येन रिश्वतच्याः कथंचन ॥ ३२८ ॥

म चेति ॥ पशुरक्षणं न करोमीति वैश्येनेच्छा न कार्या । अतः कृष्यादि-वृत्तिसंभवेऽपि वैश्येन पशुरक्षणमवश्यं करणीयम् । वैश्ये च पशुरक्षणं कुर्व-स्यम्यः पशुरक्षणं न कारयितच्यः ॥ ३२८ ॥

पादा०-1 लोकेभ्यः.

किंच,—

### मिणमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च । गन्धानां च रसानां च विद्यादर्धबलाबलम् ॥ ३२९॥

मणीति ॥ मणिमुक्ताविद्यमलोहवस्त्राणां, गन्धानां कर्प्रादीनां, रसानां लवणादीनामुक्तममध्यमानां देशकालापेक्षया मूल्योत्कर्षापकर्षं वैश्यो जानी-यात्॥ ३२९॥

ं बीजानामुप्तिविच स्थात्क्षेत्रदोषगुणस्य च।

मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्व सर्वशः ।। ३३० ।।

बीजानामिति ॥ बीजानां सर्वेषां वपनविधिज्ञः स्यात् । इदं बीजमिस-न्काले तत्र संहतं चोसं प्ररोहत्यसिन्नेत्येवं तथेदमूषरिमदं सस्प्रद्मित्यादि-ह्मेत्रदोषगुणज्ञश्च स्यात् । मानोपायांश्च प्रस्थद्रोणादीन् तुलोपायांश्च सर्वान् तत्त्वतो जानीयात्, यथाऽन्यो न वञ्चयति ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् । लाभालाभं च पण्यानां पश्नां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥

सारासारमिति ॥ इद्मुत्कृष्टमेतद्पकृष्टमिलेकजातीनामपि द्रव्याणां विशेषं जानीयात्, तथा देशानां प्राक्पश्चिमादीनां क किमल्पमूल्यं किं बहुमूल्यं चेलादिदेशगुणदोषौ बुध्येत । विकेयद्रव्याणां चेयता कालेन इ्यानपचय उपचयो वेति विद्यात् । तथास्मिन् देशे कालेऽनेन च नृणोदकयवादिना पश्चो वर्षन्तेऽनेन क्षीयन्त इत्येतद्पि जानीयात् ॥ ३३१ ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् । द्रव्याणां स्थानयोगांश्च ऋयविऋयमेव च ॥ ३३२ ॥

भृत्यानामिति ॥ गोपालमहिषपालानामिदमस्य देशमिति देशकालकर्मा-नुरूपं नेतनं जानीयात् । गोढदाक्षिणात्यादीनां च मनुष्याणां नानाप्रकारा भाषा निक्रयाद्यथे निद्यात्, तथेदं दृष्यमेवं स्थाप्यतेऽनेन च संयुक्तं निरं तिष्ठतीति नुश्येत, तथेदं दृष्यमस्मिन्देशे काले चेयता निक्रीयत दृत्येतद्पि जानीयात् ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्तमुन्।

द्द्याच सर्वभूतानामन्नमेन प्रयत्नतः ॥ २२२ ॥
धर्मेणेति ॥ धर्मेण विकयादिनोक्तप्रकारेण धनवृद्धौ प्रकृष्टं यतं कुर्यात् ॥
हिरण्यादिदानमपेक्ष्यान्नमेव प्राणिभ्यो विशेषेण दद्यात् ॥ ३३३ ॥

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।

शुश्रुपैव तु शूद्रस्य धर्मो नेश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥ विप्राणामिति ॥ शूद्रस्य पुनर्वेद्विदां गृहस्थानां स्वधर्मानुष्ठानेन यशौ-युक्तानां माह्मणानां या परिचर्या सैव प्रकृष्टस्वर्गादिश्रेयोहेतुर्धमः ॥ ३३४ ॥

## शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्भृदुवागनहंकृतः । त्रीह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्चते ॥ ३३५ ॥

शुचिरिति ॥ बाह्याभ्यन्तरशौचोपेतः, स्वजात्यपेक्षयोत्कृष्टद्विजातिपरिचर-णशीलः, अपरुषभाषी, निरहंकारः, प्राधान्येन ब्राह्मणाश्रयस्तद्भावे क्षत्रिय-वैदयाश्रयोऽपि स्वजातित उत्कृष्टां जातिं प्रामोति ॥ ३३५ ॥

> एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः ग्रुभः । आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमग्रस्तं निबोधत ॥ ३३६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

एष इति ॥ एष वर्णानामनापदि चतुर्णामपि कमीविधिर्धमे उक्तः, आप-द्यपि बस्तेषां धर्मस्तं संकीर्णश्रवणाद्ध्वं कमेण श्रुणुत ॥ ३३६ ॥ इति श्रीकुहूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः १०

अघीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्या द्विजातयः । प्रवृयाद्वाह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्रयः ॥ १ ॥

अधीयीरिम्निति ॥ वैश्यशूद्धर्मानन्तरं 'संकीर्णानां च संभवम्' (१११६) इति प्रतिज्ञातत्वात्तस्मिन्वाच्ये वर्णेभ्य एव संकीर्णानामुत्पत्तेः वर्णानुवादार्थे त्रैवर्णिकस्य प्रधानधर्ममध्ययनं ब्राह्मणस्य चाध्यापनमनुवद्ति । ब्राह्मणा-द्यस्त्रयो वर्णा अध्ययनानुभूतस्वकर्मानुष्ठातारो वेदं पठेयुः । एषां पुनर्मध्ये ब्राह्मण एवाध्यापनं कुर्यान्न क्षत्रियवैश्यावित्ययं निश्चयः । 'प्रबूयाद्वाह्मणस्त्वे-षाम्' इत्यनेनैव क्षत्रियवैश्ययोरध्यापनिषेधिसिद्धौ 'नेतरी' इति पुनर्निषेध-वचनं प्रापश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १ ॥

किंच,—

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथाविधि । प्रब्रुयादितरेभ्यश्च स्तरं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां वर्णानां जीवनोपायं यथाशास्त्रं ब्राह्मणो जानीयास्, ते यश्चोपदिशेत्, स्वयं च यथोक्तवित्रयममनुतिष्ठेत् ॥ २ ॥

अत्रानुवादः--

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रेष्ठयानियमस्य च धारणात् । संस्कारस्य विशेषाच वर्णानां ब्राह्मणः प्रश्वः ॥ ३ ॥

वैशेष्यादिति ॥ जात्युत्कर्षात्, प्रकृतिः कारणं हिरण्यगर्भोत्तमाङ्गरूपका-रणोत्कर्षात्, नियम्यतेऽनेनेति नियमो वेदस्तस्याध्ययनाध्यापनन्याख्यानादि-

पाठा०-1 बाह्मणापाश्रयः.

युक्तसातिशयवेदधारणात् । अत एव 'ब्रह्मणश्चेव धारणात्' (११९३) इति सातिशयवेदधारणेनैव ब्राह्मणोत्कर्ष उक्तः । गोविन्दराजस्तु स्नातकवतानां धारणादिति न्याख्यातवान्। तन्नः क्षत्रियादिसाधारण्यात्। संस्कारस्योपनयना- ख्यस्य क्षत्रियाद्यपेक्षया प्राधान्यविधाने विशेषाद्वर्णानामध्यापनवृत्युपदेशयो- ब्राह्मण एवेश्वरः ॥ ३ ॥

त्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः । चतुर्थ एकजातिस्तु शुद्रो नास्ति तु पश्चमः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण इति ॥ ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा द्विजाः, तेषामुपनयनविधानात् । भूदः पुनश्रतुर्थो वर्ण एकजातिः, उपनयनाभावात् । पञ्चमः पुनर्वर्णो नास्ति । संकीर्णजातीनां त्वश्वतरवन्मातापितृजातिव्यतिरिक्तजात्यन्तरत्वान्न वर्णत्वम् । अयं च जात्यन्तरोपदेशः शास्त्रे संव्यवहरणार्थः ॥ ४ ॥

#### सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु । आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥

सधेवणे विवित ॥ बाह्यणादिषु वर्णेषु चतु विपि, समानजातीयासु यथात्रास्त्रं परिणीतास्त्रक्षतयोनिव्वानुकोम्येन ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यां श्वित्रयेण श्वित्रयायामित्यनेनानुक्रमेण ये जातास्त्रे मातापित्रोर्जात्या युक्तास्त्रजातीया एव
ज्ञातव्याः । अनुकोम्यप्रदणं चात्र मन्दोपयुक्तसुक्तरश्लोक उपयोक्ष्यते । गवाश्वादिवद्वयवसंनिवेशस्य ब्राह्मणजात्यभिव्यञ्जकाभावादेतद्वाह्मणादिकश्चणसुक्रम् । अत्र च 'पत्ती'प्रहणादन्यपत्नीजनितानां न ब्राह्मणादिजातित्वम् । तथा
च देवलः-'द्वितीयेन तु यः पित्रा सवर्णायां प्रजायते । अववाट इति ख्यातः
श्रेद्धधर्मा स जातितः ॥ वैतद्दीना न संस्कार्याः स्वतन्नास्त्रपि ये सुताः । उत्पादिताः सवर्णेन ब्रात्या इव बहिष्कृताः ॥' व्यासः—'ये तु जाताः समानासु संस्कार्याः स्युरतोऽन्यथा' । याज्ञवक्योऽपि (या.स्ट.आ.४।९०)-'सवणैभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः' इत्यमिधाय 'विक्वास्वेष विधिः स्मृतः'
(या.आ.४।९२) इति बुवाणः स्वपत्युत्पादितस्यैव ब्राह्मणादिजातित्वं निश्चिकाय ५

## स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् । सद्द्यानेव तानाहुर्माहदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

स्त्रीष्टिति ॥ भाजुलोम्बेनान्यबहितवर्णजातीयासु भार्यासु द्विजातिभिर्धे उत्पादिताः पुत्राः, यथा ब्राह्मणेन क्षत्रियायां, क्षत्रियेण वैश्यायां, वैश्येन श्रद्धायां तान्मातुर्हीनजातीयस्वदोषाद्गाहेतान्पिनृसदशाञ्च तु पितृसजातीयान्मान्वादय भाहुः । पितृसदशमहणान्मातृजातेरुक्ष्म्याः पितृजातितो निकृष्टा श्रेयाः । एतेषां च नामानि मूर्जावसिक्तमाहिष्यकरणास्थानि याज्ञवल्क्यादिन

पाठा॰—1 ग्रह्मजन्मा. 2 वतहीना असंस्कार्याः सवर्णीखिप. 3 भार्या-जाताः समानाः स्युः संकराः स्युरतोऽन्यथा.

१ जननीसकाशाज्जनमरूपा शृद्धस्यैकैव जातिः, नान्या । 'अष्टमे नाद्मणमुपनयीत, एकादशे राजन्यम्, द्वादशे वैक्यम्' इत्यादौ शृद्धस्य साविष्युपदेशविधानानभिधानात्।

भिरुक्तानि, वृत्तयश्चेषामुशनसोक्ताः—इस्त्यश्वरथशिक्षा सम्बद्धारणं च मूर्धा-भिषिक्तानां, नृत्यगीतनक्षत्रजीवनं सत्यरक्षा च माहिष्याणां, द्विजातिशुक्रूपा श्रनधान्याध्यक्षता राजसेवा दुर्गान्तःपुररक्षा च पारशयोग्रकरणानामिति॥ इ॥

### अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः ।

द्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥

अनन्तरास्त्रिति ॥ एव पारम्पर्यागततया नित्यो विधिरनन्तरजातिभार्यो-त्पन्नानामुक्तः । एकेन द्वाभ्यां च वर्णाभ्यां व्यवहितासूत्पन्नानां यथा बाह्यणेन वैश्यायां, क्षत्रियेण श्रुवायां, बाह्मणेन श्रुवायामिमं वक्ष्यमाणं धर्मादनपेतं विधिं जानीयात्॥ ७॥

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्टो नाम जायते।

निषादः शुद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

ब्राह्मणादिति ॥ 'कन्या'प्रहणादत्रोढायामित्यध्याहार्यम् । 'विश्वास्येप विधिः स्मृतः (या.स्मृ.आ.१।९२) इति याज्ञवस्त्रयेन स्फुटीकृतत्वाच । बाह्यणाहैक्य-कन्यायामृहायामम्बद्धाख्यो जायते । शूद्रकन्यायामृहायां निपाद उत्पचते । यः संज्ञीन्तरेण पारशवश्चीच्यते ॥ ८ ॥

> क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां ऋराचारविहारवान् । क्षत्रश्रद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥ ९ ॥

क्षत्रियादिति ॥ क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामूढायां कृरचेषः कृरकर्मरतिश्र श्र-त्रशूदस्वभाव उमाल्यः पुत्रो जायते ॥ ९ ॥

विश्रस त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्धयोः ।

वैश्यस्य वर्णे चंकस्मिन्पडेतेऽपसदाः स्पृताः ॥ १० ॥

विप्रस्थेति ॥ वाक्षणस्य क्षत्रियादित्रयस्तीपु, क्षत्रियस्य वैद्यादिवर्णहृषीः क्रियोः, वैद्यस्य च श्रुवायां, वर्णत्रयाणामेते पद पुत्राः सवर्णपुत्रकार्यापेक्षया-पसदा भवसन्ना निकृष्टाः स्युः॥ १०॥

एवमनुकोमानुकरवा प्रतिक्षोमानाह-

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां स्तो भवति नातितः । वैक्यान्मागधवेदेही राजविप्राङ्गनासुती ॥ ११ ॥

क्षत्रियादिति ॥ अत्र विवाहासंभवात् 'कन्या'महणं सीमात्रमदशैनाः र्थम् । अत्रैव श्लोके 'राजविमाजनासुती' इति बाझण्यां क्षत्रियामात्वा सूत-नामा संजायते । वैश्याचयात्रमं क्षत्रियामाद्यप्योर्मागधनेदेहास्यी पुत्री भवतः । एवां च वृत्तयो मनुनैवाभिभास्यस्ते ॥ ११ ॥

१ मत्स्यवातजीन्यन्यो निपादः प्रतिक्षीमजी वरीवति, तक्क्सिनिरासार्थमनीच्य पारतः नेत्यम्या संदेति ध्येयम्.

[ अध्यायः १०

### श्रुद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्राधमो नृणाम् । वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

शूद्रादिति ॥ शूद्राह्वैश्याक्षत्रियात्राह्मणीषु क्रमेणायोगवः क्षत्ता नृणामध-मश्चाण्डालश्च वर्णानां संकरो येषु जनयितन्येषु ते वर्णसंकरा जायन्ते ॥१२॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्टोग्रौ यथा स्मृतौ । अनुवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥

एकान्तर इति ॥ एकान्तरेऽपि वर्णे ब्राह्मणाह्नैश्यकन्यायामम्बष्टः, क्षत्रि-याच्छूद्रकन्यायामुग्रः, एतावानुलोम्येन यथा स्पर्शाद्यहीं तहदेकान्तरे प्रति-लोमजननेऽपि शूद्धात्क्षत्रियायां क्षत्ता, वैश्याह्माह्मण्यां वैदेहः, एतावपि स्पर्शादियोग्यो विश्वेयो । एकान्तरोत्पन्नयोः स्पर्शाद्यनुज्ञानादनन्तरोत्पन्नानां स्तमागधायोगवानां स्पर्शादियोग्यत्वं सिद्धं भवति । अत्रश्चण्डाल एवैकः प्रतिलोमतः स्पर्शादौ निरस्यते ॥ १३ ॥

### पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् । ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

पुत्रा इति ॥ मानृदोषादिति हेतूपन्यासादन्तरप्रहणमनन्तरवधिकान्तरस्य-न्तरप्रदर्शनार्थम् । ये द्विजातीनामनन्तरैकान्तरस्यन्तरजातिस्वीध्वानुलोम्येनो-त्पन्नाः पूर्वमुक्ताः पुत्रास्तान्हीनजातिमानृदोषान्मानृजातिव्यपदेश्यानाचक्षते । मातापिनृज्यतिरिक्तसंकीर्णजातित्वेऽप्येषां मानृजातिव्यपदेशकथनं मानृजाति-संस्कारादिधर्मप्रास्यर्थम् ॥ १४ ॥

### त्राक्षणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते । आभीरोऽम्बष्टकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणादिति ॥ क्षत्रियेण शूद्रायामुत्पन्नोमा, उमा चासौ कन्या चेत्युम-कन्या, तस्यां ब्राह्मणादावृतनामा जायते । ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पन्नाम्बष्टा, तस्यां ब्राह्मणादाभीराख्यो जायते। शूद्रेण वैश्यायामुत्पन्ना आयोगवी, तस्यां ब्राह्मणाद्विग्वणो जायते ॥ १५ ॥

### आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् । प्रातिलोम्येन जायन्ते शुद्राद्पसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

आयोगवश्चेति ॥ भायोगवः क्षत्ता चण्डालश्च मनुष्याणामधम इत्येते त्रयो न्युक्तमेण वैश्याक्षत्रियात्राद्यणोषु पुत्रकार्याद्पगतास्ययः ध्रुद्धा जायन्ते। पुत्रकार्याक्षमत्वप्रतिपादनार्थसुक्तानामप्येषां पुनर्वचनम् । एवसुत्तरश्चोकोकानामप्येषां पुनर्वचनम् । एवसुत्तरश्चोकोकानामप्येषां पुनर्वचनम् । एवसुत्तरश्चोकोकानामप्येषां पुनर्वचनम् । एवसुत्तरश्चोकोकानामपि ॥ १६ ॥ वैश्यान्मागृधवैदेहौ क्षत्रियात्स्रत एव तु । प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥

वैर्यादिति ॥ क्षत्रियात्राह्मण्योर्मागधवैदेहौ क्षत्रियाद्राह्मण्यां सूत इत्थेवं प्रातिकोम्येनापरेऽपि त्रयः पुत्रकार्यादपसदा जायन्ते ॥ १७ ॥

जातो निषादाच्छ्द्रायां जात्या भवति पुकसः।

श्रद्राञ्जातो निषाद्यां तु स वै कुकुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

जात इति ॥ निषादाच्छूदायां जातो जात्या पुकसो भवति । निषायां पुनः शूदाद्यो जातः स कुक्कुटकनामा स्मृतः ॥ १८ ॥

क्षतुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते । वैदेहकेन त्वम्बध्याम्रत्पन्नो वेर्ण उच्यते ।। १९ ।।

क्षत्तुरिति ॥ शूद्रेण वैश्यायां जातः क्षत्ता, क्षत्रियेण शूद्रायां जाता उग्रा, तेन तस्यां जातः श्वपाक इत्युच्यते । वैदेहकेनाम्बद्धां बाह्यणेन वैश्याजातायां वेण इति कथ्यते ॥ १९ ॥

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् । तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्वात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥ ८

द्विजातय इति ॥ द्विजातयः सवर्णासु स्त्रीषु यान्पुत्रानुत्पादयन्ते ते चेदुपन यनाख्यवतद्दीना भवन्ति तदा तानकृतोपनयनान् वात्येत्यनया संज्ञया व्यपदि-होत्। 'शत अर्ध्वं त्रयोऽप्येते' (२।३९) इत्युक्तमपि वात्यलक्षणं प्रतिलोमजपुत्र-वदस्याप्युपकाराक्षमपुत्रत्वप्रदर्शनार्थमस्मिन्संकीर्णप्रकरणेऽनृदितम् ॥ २०॥

व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूजंकण्टकः ।

आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥

वात्यादिति ॥ वात्याद्वाह्मणात् 'सवर्णासु' (१०।२०) इत्यनुवृत्तेर्वाह्मण्याः पापस्वभावो भूर्जकण्टको जायते । तथा आवन्त्य-वाटधान-पुष्पध-शैखा जायन्ते । एकस्य चैतानि देशभेदशसिद्धानि नामानि ॥ २१ ॥

झह्नो मह्नश्च राजन्यांद्वात्यान्निच्छिविरेव च । नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥

झहो महुश्चेति ॥ क्षत्रियाद्रात्यात्सवर्णायां झहु-महु-निच्छित-नट-करण-खस-दविडाख्या जायन्ते । पुतान्यप्येकस्येव नामानि ॥ २२ ॥

वैश्यातु जायते ब्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च।

कारुपश्च विजन्मा च मैत्रः सात्त्वत एव च ॥ २३ ॥

वैद्यात्विति ॥ वैद्यात्पुनर्वात्यात्सवर्णायां सुधन्वाचार्यकारुषविजन्ममै-त्रसारवताख्या जायन्ते । एकस्य चैतान्यपि नामानि ॥ २३ ॥

#### व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च । खकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः॥ २४॥

व्यभिचारेणेति ॥ बाह्मणादिवर्णानामन्योन्यस्त्रीगमनेन, सगोत्रादिविवाहेन उपनयनरूपस्वकर्मत्यागेन, वर्णसंकरो नाम जायते । अतो युक्तमस्मिन्प्रकरणे बात्यानामिधानम् ॥ २४ ॥

,संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः । अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥

संकीर्णेति ॥ ये संकीर्णयोनयः प्रतिलोमैरनुलोमैश्च परस्परसंबन्धाजायन्ते तान्विशेषेण वक्ष्यामि ॥ २५ ॥

स्तो वैदेहकश्रेव चण्डालश्र नराधमः । मागधः क्षचृजातिश्र तथाऽऽयोगव एव च ॥ २६ ॥ स्त इति ॥ एते षडुक्छक्षणाः स्वादय उत्तरार्धमन्यन्ते ॥ २६ ॥ एते षद् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु । मातृजात्यां प्रस्यन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

पत इति ॥ एते प्र्वेक्तः षद प्रतिलोमजाः स्वयोनिषु सुतोत्पान्तं कुर्वन्ति । यया ग्रूहेण वैश्यायां जात आयोगवः आयोगव्यामेव, मानृजातौ वैश्यायां, प्रवरासु क्षत्रियात्राह्मणीयोनिषु, चकाराद्पकृष्टायामपि ग्रूह्मजातौ, सर्वत्र सदशान्वर्णाञ्जनयन्ति । सदशत्वं च न पित्रपेक्षया किंतु मानृजालादिषु चातुर्वर्ण्यस्त्रीष्ट्रवेव पिनृतोऽधिकगर्हितपुत्रोत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्, तत्सदशान्पिनृत्तोऽधिकगर्हितान्, स्वजातावपि जनयन्तीत्येतावदेवाप्राप्तत्वादनेन विधीयते । किंतु जवन्यवर्णेनोत्तमवर्णस्त्रीषु जनितत्वात्क्रियादुष्टा आयोगवाद्याः प्रति-कोमजाः क्रियादुष्टाभ्यां च मातापिनृभ्यां तुल्याभ्यामपि जनिते आयोगवादिपुत्रे त्रसहन्त्रनत्रजनितो ब्रह्महन्त्रमातापिनृजनितवद्धिकदुष्ट एव न्याय्यः । ग्रुह्म्बाह्मणादिजातीयेन ग्रुह्मबाह्मण्यादिसजातीयायां जनितः पिनृतुल्य एवोचितो नतु क्रियादुष्टोभयजनितोऽपि ॥ २७ ॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते । आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि कैमात्॥ २८॥

यथेति ॥ यथा त्रयाणां वर्णानां क्षत्रियवैश्यश्चदाणां मध्याद्वयोर्वणयोः क्षत्रियवैश्ययोर्गमने बाह्यणस्यानुकोम्याद्विज उत्पचते, सजातीयायां च द्विजो जायते । एवं बाह्यज्वपि क्षत्रियवैश्याभ्यां वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियाबाह्यण्यो- जित्तेषुक्कपीपक्रमो भवति । शूद्रजातप्रतिकोमापेक्षया द्विजाद्युत्पक्षप्रतिकोम-

पाठा०—1 चाण्डालः, 2 मातृजाल्या. 3 कृतः.

प्राशस्त्वार्थमिदम् । मेधातिथिस्तु द्विजत्वप्रतिपादकमेतदेषां वचनमुपनयना-र्थमित्याह । तन्नः 'प्रतिलोमजास्तु धर्महीनाः' (गौ. स्ट. ४।३ ) इति गौतमेन संस्कारनिषेधात् ॥ २८ ॥

### ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदृषितान् । परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगाईतान् ॥ २९ ॥

ते चापीति ॥ ते चायोगवादयः षद परस्परजातीयासु भार्यासु सुबहू-नानुलोम्येऽप्यधिकदुष्टान्सिहिक्याबहिर्भृताञ्जनयन्ति । तद्यथा-आयोगवः क्षत्तुजायायामात्मनो हीनतरं जनयति, तथा क्षत्ताप्यायोगन्यामात्मनो हीन-तरसुत्पाद्यति । एवमन्येष्वपि प्रतिलोमेषु दृष्टव्यम् ॥ २९ ॥

> यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते । तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्यं प्रसूयते ॥ ३० ॥

यशैनेति ॥ यथा ब्राह्मण्यां शूद्रोऽपकृष्टं चाण्डालाल्यं प्राणिनं प्रस्यते जन-यसेवं बाह्मश्राण्डालादिवर्णचतुष्टये चाण्डालादिश्योऽप्यपकृष्टं पुत्रं प्रस्यते ॥ एतदेव विस्तारयति—

> प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान्युनः । हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पश्चदशैव तु ॥ ३१ ॥

प्रतिकुल्सिति॥ अत्र मेघातिथि-गोविन्द्राजयोर्व्याच्यानम्-चातुर्वर्ण्यंबा-ह्याश्चण्डालक्षत्रायोगवाः शुद्धप्रभवास्त्रयश्चातुर्वण्ये गच्छन्त भारमनो हीनतरान परस्परापेक्षयापकृष्टोत्कृष्टवर्णप्रभवत्वात्पञ्चदशवर्णान्संपादयन्ति । तद्यथा-चण्डालः शूद्रायामात्मनो हीनतरं वैश्याक्षत्रियात्राह्मणीजातेभ्य उत्कृष्टं जन-यति, एवं वैश्यायां ततोऽप्यपसदं, क्षत्रियायां ब्राह्मणीजातादुत्कृष्टं जनयति, ततोऽपसदं, क्षत्रियायां ब्राह्मणीजातादुत्कृष्टं, ततोऽपि हीनं ब्राह्मण्यां जन-यति । एवं क्षत्रायोगवावि चातुर्वण्ये चतुरश्चतुरो जनयतः, इत्येते शूद्रप्रभव-चण्डालक्षत्रायोगवेभ्यश्चातर्षण्यंद्वादशप्रभेदा उत्पचन्ते । भात्मना च चण्डा-रुक्षत्रायोगवास्त्रय इत्येवं शुद्रप्रभवाः पञ्चदश उत्पद्यन्ते । एवं वैश्यक्षत्रिय-बाह्मणप्रभवाः प्रत्येकं पञ्चदश संभवन्ति । एवं षष्टिश्चातुर्वेण्येन सह चतुः-षृष्टिप्रभेदा भवन्ति । ते तु परस्परगमनेन नानावर्णाञ्जनयन्तीति । नैतन्मनोहरम् ; पूर्वश्लोके षण्णां प्रतिलोमजानां प्रकृतत्वात्तद्विस्तारकथन-त्वाचास्य । अत्रापि श्लोके 'प्रतिकृष्ठं वर्तमानाः' इत्युपादानात्प्रतिस्रोमजमात्र-विषयोऽयं श्लोको नानुलोमजविषयः। तथा च वैरयक्षत्रियब्राह्मणप्रभवाश्च प्रत्येकं पञ्चदश संभवन्त्येवं षष्टिरिति न संगच्छते । न च संभवमात्रेणैनेयं षष्टिरुक्ता न दुष्टतया, शुद्रप्रभवायोगवक्षत्तुचण्डाला एव चातुवैर्ण्यसंतानी-मेताः पञ्चदश गर्हिता इति वाच्यम् । यतो वैश्यक्षत्रियाम्यामपि प्रतिलोमत ः उत्पादितानां त्रयाणां हीनत्वात्तेरपि चातुर्वण्ये जनितानां गर्हितत्वस्य संभवातः

पाठा०-1 हीनाहीनान्.

'तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वेण्ये प्रसूयते' (१०।३०) इति मनुनैवानन्तरं स्फुटसु-कत्वात् । युवाभ्यामपि तथैव व्याख्यातत्वाचातुर्वर्ण्येन सह चतुःषष्टिरिति सर्वथैवाप्रकृतस् । नहि संकीर्णप्रकरणे ग्रुद्धचातुर्वर्ण्यगणनोचिता । किंच 'वर्णान्पञ्चदश प्रसूयन्ते' इति श्रूयमाणद्वादशजनानुक्त्वा ते चात्मना चण्डान लक्षत्रायोगवास्त्रय इत्येवं शुद्धप्रभवाः पञ्चद्शेति न युक्तम् । अपि चात्मना सह पञ्चदश संपादयन्तीति न संगच्छते । असंपाद्यत्वादात्मनः पञ्चदश संपद्यन्त इति च व्याख्यानेऽध्याहार एव दोषः; तस्मादेवं व्याख्यायते— श्रतिकृष्ठं वर्तमानाः प्रतिलोमजा बाह्याः, द्विजप्रतिलोमजेभ्यो निकृष्टत्वात् । शूद्रप्रभवायोगवक्षत्त्वण्डालास्त्रयः। पूर्वश्लोकाद्नुवर्तमाने चातुर्वर्ण्ये स्वजातौ 'एते षद सदशान्' (१०१२७) इत्यत्र सजात्युत्पन्नस्य पितृतो गर्हितत्वाभि-धानात् जात्मापेक्षया बाह्यान्तरान्प्रत्येकं पञ्चदश पुत्राञ्जनयन्ति । तद्यथा-मायोगवश्चातुर्वर्ण्येखीषु चायोगव्यामात्मनो निकृष्टान्पञ्च पुत्राक्षनयति । एवं क्षत्तृचाण्डाळावपि प्रत्येकं पञ्च पुत्राञ्जनयतः । इत्थं बाह्यास्त्रयः पञ्चदश पुत्राञ्जनयन्ति । तथानुलोमजेभ्यो हीना वैदयक्षत्रियप्रभवा मागधवैदेहसूता भारमापेक्षया हीनान्पूर्ववचातुर्वर्ण्यस्त्रीषु सजातौ प्रत्येकं पञ्च पुत्राञ्जनयन्तो हीना अपि त्रयः पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयन्ति । एवं त्रिंशदेते भवन्ति । अथवा 'बाह्य'शब्दो 'हीन'शब्दश्च पडेव प्रतिलोमजानाह । अत्र बाह्याश्चाण्डाल-क्षत्रायोगववैदेहमागधसूताः षड्यथोत्तरमुत्कर्षात्प्रातिलोम्येन स्नीषु वर्तमाना बाह्यतरान्पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयन्ति । तद्यथा-चाण्डालाः क्षत्रियादिषु पञ्चसु स्रीषु, क्षत्तायोगन्यादिषु चतस्रषु, भायोगवो वैदेह्यादितिसृषु, वैदेहो माग-धीसुत्योः, मागधः सूत्यां, सृतस्तु प्रतिलोमाभावात्प्रातिलोम्येन पञ्चदशैव पुत्रोक्षनयति । पुनरिति निर्देशाद्धीनाः सुतादयश्चाण्डालान्ताः षड्यथोत्तरम-पकर्षादानुलोम्येनापि प्रतिलोमोक्तरीला स्वापेक्षया हीनान्पञ्चदशैव पुत्राञ्जन-यन्ति । एवं त्रिंशदेते भवन्ति ॥ ३१ ॥

### त्रसाधनोपचारज्ञमदासं देखिजीवनम् । सैरिन्त्रं वागुराष्ट्रतिं स्ते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

प्रसाधनेति ॥ केशरचनादिः प्रसाधनं तस्योपचारज्ञं अदासमुच्छिष्टभक्ष-णादिदासकर्मरहितमङ्गसंवाहनादिदासकर्मजीवनं पाशबन्धनेन सृगादिवधा-ख्यवृत्त्यन्तरजीवनं सैरिन्ध्रनामानं 'मुखबाहूरूपज्ञानाम्' (१०१४५) इति श्लोके वश्यमाणो दस्युरायोगवस्त्रीजातौ श्लद्भेण वैश्यायामुत्पन्नायां जनयति, तचास्य मृगादिमारणं देवपित्रीषधार्थं वेदितन्यम् ॥ ३२ ॥

## मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रस्रयते । नृन्त्रशंसत्यजसं यो घण्टाताडोऽरूणोद्ये ॥ ३३ ॥

मेत्रेयकमिति॥ वैश्याद्वाद्वाण्यां जातो वैदेहः प्रकृतायामायोगस्यां मेत्रेयाः स्यं मधुरभाषिणं जनयति । यः प्रातर्घण्टामाहस्य राजप्रसृतीन्सततं वृष्ट्ययं स्रोति ॥ ३३ ॥

### निषादो मार्गवं सते दासं नौकर्मजीविनम् । कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

निषाद् इति ॥ ब्राह्मणेन स्ट्रायां जातो निषादः प्रागुक्तायामायोगन्यां मार्गेवं दासापरनामानं नौन्यवहारजीविनं जनयति । बार्यावर्तदेशवासिनः 'कैवर्त'शब्देन यं कीर्तयन्ति ॥ ३४ ॥

> मृतवस्त्रभृत्स्वनायासु गर्हितानाश्चनासु च । भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥

मृतेति ॥ सैरिन्ध्रमैत्रेयमार्गवा हीनजातीयास्त्रयः मृतवस्त्रपरिधानासु ऋरासूच्छिष्टादिभक्ताबाशनायोगवीषु पितृभेदाद्गित्रा भवन्ति ॥ ३५ ॥

> कारावरो निषादातु चैर्मकारः प्रस्यते । वैदेहकादन्त्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥

कारावर इति ॥ 'वैदेह्यामेव जायते' (१०१३७) इत्युत्तरत्र श्रवणात्, अत्राप्या-शक्कायां सैव संबध्यते । निषादाद्वैदेद्यां जातः कारावराख्यश्चर्मच्छेदनकारी जायते । अत एव औशनसे कारावराणां चर्मच्छेदनाचरणमेव वृत्तित्वेनोक्तम् । वैदेहकादन्ध्रमेदाख्यौ ग्रामबहिर्वासिनौ । अन्तरानिर्देशाद्वैदेहकेन च वैदेद्यां जातस्य गर्हितवैदेहकस्याप्युचितन्वात् , कारावरनिषादजात्योश्चात्र श्लोके संनिधानात्, कारावरनिषादस्थियोरेव क्रमेण जायते ॥ ३६ ॥

> चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वकसारव्यवहारवान् । औहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥

चण्डालादिति ॥ वैदेशां चण्डालात्पाण्डुसोपाकाख्यो वेणुव्यवहारजीवी जायते । तिषादेन च वैदेशामेवाहिण्डिकाख्यो जायते । अस्य च बन्धनस्थानेषु बाह्यसंरक्षणादाहिण्डिकानामित्यौशनसे वृत्तिरुक्ता । समानमातापितृकत्वेऽपि कारावराहिण्डिकयोर्वृत्तिभेदसंश्रवणाद्वयपदेशभेदः ॥ ३७ ॥

चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनष्टत्तिमान् । पुकस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८॥

चण्डालेनेति ॥ श्र्हायां निषादेन जातायां पुक्तस्यां चण्डालेन जातः सोपा-काख्यः पापात्मा, सर्वदा साधुभिनिन्दितो, मारणोनितापराधस्य मूळं वध्य-स्तस्य ज्यसनं राजादेशेन मारणं तेन वृत्तिर्थस्य स जायते ॥ ३८ ॥

निषादस्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् । इमञ्जानगोचरं स्ते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥

निपादस्त्रीति ॥ निषादी चण्डालादन्त्यावसायिसंशं चण्डालादिभ्योऽपि दुष्टतमं इमशानवासिनं तहृत्तिं च जनयति ॥ ३९ ॥

पाठा॰—1 मृतनस्रमृत्सु नारीषु. 2 वर्मकारं. 3 आहिण्डिको निषाद्यां तु वैदेहेनैव जायते. 4 पुल्कस्यां.

संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः । प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

संकर इति ॥ वर्णसंकरिवषये एता जातयो यस्थेयं जनयित्री अयं जनकः स एवंजातीय इत्येवं पितृमातृकथनपूर्वकं दर्शिताः । तथा गूढाः प्रकटा वा तजात्युदितकर्मानुष्ठानेन ज्ञातन्याः ॥ ४० ॥

संजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।

गूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥ सजातीति ॥ द्विजातिसमानजातीयासु जाताः, तथानुरुक्तियेनोत्पेन्नाः ब्राह्म-णेन क्षत्रियावैद्ययोः क्षत्रियेण वैद्यायामेवं षद पुत्रा द्विजधर्मिण उपनेयाः । 'ताननन्तरनाम्नस्तु' (१०१४) इति यदुक्तं तत्तजातिन्यपदेशार्थं न संस्कारार्थ-मिति कस्यचिद्धमः स्यादत एषां द्विजातिसंस्कारार्थमिदं वचनम् । ये पुनरन्ये द्विजात्युत्पन्ना अपि सूतादयः प्रतिरुक्तेमजास्ते शूद्धमाणो नैषामुप-नयनमित ॥ ४१ ॥

> तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे । उत्कर्ष चापकर्ष च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

तप इति ॥ सजातिजानन्तरजाः, तपःत्रभावेण विश्वामित्रवत्, बीजप्रभा-वेण ऋष्यश्रङ्गादिवत्, कृतन्नेतादौ मनुष्यमध्ये जात्युत्कर्षं गच्छन्ति । अपकर्षे च वक्ष्यमाणहेतुना यान्ति ॥ ४२ ॥

शनकैस्तु कियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके बाँह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥

शानकरिति ॥ इमा वश्यमाणाः क्षत्रियजातय उपनयनादिकियाछोपेन ब्राह्मणानां च याजनाध्यापनप्रायश्चित्ताद्यर्थेदर्शनाभावेन शनैः शनैलेकि श्चद्रतां प्राप्ताः ॥ ४३ ॥

पौर्ण्ड्रैकाश्रौड्द्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः । पारदाः पह्नवाश्रीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥ पौर्ण्ड्रेति ॥ पौर्ण्ड्रादिदेशोद्रवाः सन्तः क्रियालोपादिना ग्रहत्वमापकाः॥

मुखबाहूरुपञ्जानां या लोके जात्यो बहिः।

म्लेच्छवाचश्रार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः समृताः ॥ ४५ ॥

मुखेति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यग्रुद्धाणां क्रियालोपादिना या जातको बाह्मा जाता म्लेग्लभाषायुक्ता क्षार्यभाषोपेता वा ते दस्यवः सर्वे स्मृताः ॥ ४५॥

पाटा॰-1 खजातिजानन्तरजाः. 2 ब्राह्मणातिक्रमेण च. 3 पुण्डूकाः.

१ उत्तमवर्णेन हीनवर्णायां परिणीतायामुत्पन्ना अनुलोमजाः. २ हीनवर्णेनोस्क्रष्टवर्णायां चनिताः प्रतिकोमजाः.

ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्पृताः । ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

य इति ॥ ये द्विजानामानुलोम्येनोत्पन्नाः 'षडेतेऽपसदाः स्मृताः' (१०।१०) इति तेषामपि पिनृतो जघन्यत्वेन 'अपसद'शब्देन प्रागभिधानादपध्वंसजास्ते द्विजात्युपकारकेरेव निन्दित्तैर्वक्ष्यमाणैः कर्मभिजीवेयुः ॥ ४६ ॥

> स्रतानामश्वसारथ्यमम्बष्टानां चिकित्सनम् । वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥

स्तानामिति ॥ स्तानामश्वदमनयोजनादि रथसारथ्यं जीवनार्थम्। भम्बद्यानां रोगशान्यादिचिकित्सा, वैदेहकानामन्तः पुररक्षणम्, मागधानां स्थलपथवणिज्या ॥ ४७ ॥

मत्स्यवातो निर्षादानां तष्टिस्त्वायोगवस्य च । मेदान्ध्रचुश्चमद्गनामारण्यपग्चहिंसनम् ॥ ४८ ॥

मेदान्ध्रचुश्चमद्भूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥

मत्स्यद्यात इति ॥ निषादानामुक्तानां मत्स्यवधः, आयोगवस्य काष्ठतक्षणं,
मेदान्ध्रचुश्चमद्भूनामारण्यपश्चमारणम् । चुञ्चमेद्धश्च वैदेहकवन्दिश्चियोर्बाद्धणेन जातो बौधायनेनोक्तौ बोद्धन्यौ । बन्दिश्ची च क्षत्रियेण श्रद्धायां जाता
सोप्रैव प्राह्मा ॥ ४८ ॥

क्षत्रुप्रपुंकसानां तु विलोकोवधवन्धनम् । धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ४९॥

अञ्ज्ञेति ॥ अत्रादीनां बिलनिवासिगोधादिवधबन्धनं, धिग्वणानां चर्म-करणं 'चर्मकार्यं तद्विकयश्च जीवनं धिग्वणानाम्' इत्योशनसद्शीनात्। अत एव कारावरेभ्य एषां वृत्तिच्छेदः। वेणानां कांस्यमुरजादिवाद्यभाण्डवादनम्॥४९॥

चैत्यद्धमञ्मञ्चानेषु शैलेषूपवनेषु च । वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

चैत्येति ॥ ग्रामादिसमीपे ख्यातवृक्षश्चैत्यद्वमः तन्मूले इमशानपर्वतवन-समीपेषु चामी प्रकाशकाः स्वकर्मभिजीवन्तो वसेयुः ॥ ५० ॥

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः । अपैपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥ वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् । कार्ष्णीयसमलंकारः परित्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

चण्डालेति ॥ वासांसीति ॥ प्रतिश्रयो निवासः । चण्डालश्रपाकानां तु

पाठा॰—1 निषादानामायोगव्यस्य लक्षणम् ; निषादानां त्वष्टि॰. 2 पुल्कसानां. 3 विज्ञानाः; °ऽविज्ञाताः. 4 अवपात्राश्च.

प्रामाद्वहिनिवासः स्यात् । पात्ररहिताः कर्तन्या यत्र लोहादिपात्रे तैर्शुकं तत्संस्कृत्यापि न न्यवहर्तन्यं, धनं चैषां कुकुरखरं न वृषभादि, वासांसि च शाववस्त्राणि, भिन्नशरावादिषु च भोजनं, लौहवलयादि चालंकरणं, सर्वदा च श्रमणशीलत्वम् ॥ ५१-५२ ॥

> न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् । व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृश्चैः सह ॥ ५३ ॥

न तैरिति ॥ धर्मानुष्टानसमये चण्डालश्चपाकैः सह दर्शनादिव्यवहारं न कुर्यात् । तेषां च ऋणदानप्रहणादिव्यवहारो विवाहश्च समानजातीयैः सहा-न्योन्यं स्वात् ॥ ५३ ॥

> अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्धिनभाजने । रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

अन्नमेषामिति ॥ अन्नमेषां परायत्तं कार्यं, साक्षादेश्यो न देयं किंतु भेष्यैभिन्नपात्रे दातव्यम् । ते च रात्रौ प्रामनगरयोर्न पर्यटेयुः ॥ ५४ ॥

> दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः । अवान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥

दिवेति ॥ दिवा प्रामादौ ऋयविऋयादिकार्यार्थं राजाज्ञया चिह्नाक्किताः सन्तः पर्यटेयुः । अनाथं च शवं प्रामान्निहरेयुरिति शास्त्रमर्यादा ॥ ५५ ॥

वध्यांश्र हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया । वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्राभरणानि च ॥ ५६ ॥

वध्यांश्चेति ॥ वध्यांश्च शास्त्रानतिकमेण शूलारोपणादिना सर्वेदा राजा-ज्ञया हन्युस्तद्वस्रशस्यालंकारांश्च गृह्णीयुः ॥ ५६ ॥

> वर्णापेतमविज्ञातं नरं कछवयोनिजम् । आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥

वर्णापेतमिति ॥ वर्णत्वाद्पेतं मनुष्यं संकरजातं लोकतस्तथात्वेनाविज्ञा-तमत एवार्यसदृशं वस्तुतः पुनरनार्यं, तिन्दितयोन्यनुरूपाभिश्चेष्टाभिर्वक्ष्यमा-णाभिर्निश्चिनुयात ॥ ५७ ॥

> अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता । पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कळुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

. सनार्यसेति ॥ निष्ठुरत्वपरुषभाषित्वहिंसत्वविहिताननुष्ठातृत्वानि संकर-जातित्वं षसिँद्धोषे प्रकटीकुर्वन्ति ॥ ५८ ॥ ं यसात्,--

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।

न कथंचन दुर्योनिः प्रकृति खां नियच्छति ॥ ५९ ॥

पित्रयं वेति ॥ असौ संकरजातो दुष्टयोनिः पितृसंबन्धि दुष्टस्वभावत्वं सेवते मातृसंबन्धि वोभयसंबन्धि वा । न कदाचिदसावात्मकारणं गोपितितुं शकोति ॥ ५९ ॥

कुरुं ग्रुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः । स श्रैयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

कुल इति ॥ महाकुलप्रसृतस्वापि यस्य योनिसंकरः प्रच्छन्नो भवति सं मनुष्यो जनकस्वभावं स्रोकं प्रचुरं वा सेवत एव ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसाजायन्ते वर्णदृषकाः ।

राष्ट्रियैः सह तद्राष्ट्रं क्षित्रमेव विनस्यति ॥ ६१ ॥

यत्रेति ॥ यसित्राष्ट्रे एते वर्णसंकरा वर्णानां दूषका जायन्ते तद्राष्ट्रं राष्ट्रवार् सिजनैः सह शीधमेव नाशमेति । तसाद्राज्ञा वर्णानां संकरो निरसनीयः ६९

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।

स्रीवालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

ज्ञाह्मणार्थे इति ॥ गोब्राह्मणस्रीबाङानामन्यतरस्यापि परिज्ञाणार्थे दुष्ट्-प्रयोजनानपेक्षः प्राणत्यागः प्रतिङोमजानां स्वर्गप्राप्तिकारणम् ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः।

एतं सामासिकं धर्मे चातुर्वर्ण्येऽत्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

अहिंसेत्यादि ॥ हिंसात्यागः, यथार्थाभिधानम्, अन्यायेन परधनस्था-महणं, मृजलादिना विद्युद्धिः, इन्द्रियसंयम इत्येवं धर्म संक्षेपतश्चातुर्वण्यानु-ष्टेयं मनुराह । प्रकरणसामर्थ्यात्संकीर्णानामप्ययं धर्मो वेदितच्यः ॥ ६३ ॥

इदानीं 'सर्ववर्णेषु तुल्यासु' (१०१५) इत्युक्तलक्षणव्यतिरेकेणापि ब्राह्मण्यादि दर्शयितुमाह—

शूद्रायां बाह्मणाजातः श्रेयसा चेत्रजायते ।

अश्रेयान् श्रेयसी जाति गच्छत्या सप्तमाद्यगात् ॥६४॥

शुद्धार्यामिति ॥ श्रृहायां ब्राह्मणाज्ञातः पारश्चवाख्यो वर्णः प्रजायत इति सामर्थ्यात्स्त्रीरूपः स्थात्।सा यदि स्त्री ब्राह्मणेनोटा सती प्रस्यते साहुहितर-मेव जनयति । साप्यन्येन ब्राह्मणेनोटा सती दुहितरमेव जनयति । साप्येव-

पाष्ठा०—1 पितुर्वा भजते. 2 तंश्रयत्येव. 3 राष्ट्रिकैः. 4 °ऽतुपस्कृतेः (=उपस्कारो मूल्यप्रहणं). 5 स्त्रीबालाभ्यवपत्ती वा (=अभ्यवपत्तिरत्यहः).

मैच सप्तमे थुँगे जन्मनि स पारशवाख्यो वर्णो बीजशधान्याद्वाद्यण्यं प्रामोति । 'कासप्तमाद्युगात्' इत्यभिधानात्सप्तमे जनमृति ब्राह्मणः संपद्यत इत्यर्थः ॥६४॥

## श्रुद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्रैति श्रुद्रताम् । क्षत्रियाज्ञातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥

शूद्ध इति ॥ एवं पूर्वश्चोकोक्तरीला शृद्धो ब्राह्मणतां याति, ब्राह्मणश्च श्चाद्धतामेति । ब्राह्मणोऽत्र ब्राह्मणाच्छूद्धायामुत्पन्नः पारश्चो ह्रेयः । स यदि पुमान्केन्नलशूद्धोद्धाहेन तस्यां पुमांसमेव जनयति, सोऽपि केवलशूद्धोद्धाहेन् नापरं पुमांसमेव जनयति, सोऽप्येतं, तदा स ब्राह्मणः सप्तमं जन्म प्राप्तः केवलशूद्धतां बीजनिकर्षात्क्रमेण प्रामोति । एवं श्वत्रियाद्धैरयाच शूद्धायां ज्ञातस्योत्कर्षापकर्षौ जानीयात् । किंतु जातरपकर्षात् 'जात्युत्कर्षो युगे श्लेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा' (या.स्य.आ. ११९६) इति याज्ञवलक्यदर्शनाच श्वत्रिया-आतस्य पञ्चमे जनमन्युत्कर्षापकर्षौ बोद्धन्यौ। वैद्याज्ञातस्य तत्योऽप्युत्कर्षात् । याज्ञवलक्येनापि 'वा'शब्देन पश्चान्तरस्य संगृहीतत्वाद्वृद्धन्यास्यानुरोधाच तृतीयजनमन्युत्कर्षापकर्षौ ह्रेयौ । क्षनेनेव न्यायेन ब्राह्मणेन वैद्यायां ज्ञातस्य पञ्चमे जनमन्युत्कर्षापकर्षौ, श्वत्रियायां ज्ञातस्य तृतीये, श्वत्रियेण वैद्यायां ज्ञातस्य तृतीय एव बोद्धन्यौ ॥ ६५ ॥

### अनार्यायां समुत्पनो त्राह्मणातु यदच्छया ।

## ब्राह्मण्यामप्यनार्यातु श्रेयस्त्वं क्रिति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥

अनार्यायामिति ॥ एकः क्र्इायां यदच्छया अनुदायामि ब्राह्मणादुत्प-क्षोऽन्यश्च ब्राह्मण्यां क्र्इाजातः द्वयोर्मध्ये क चौत्पन्नस्य श्रेयस्त्वमिति चेत्संशयः स्यात् , संशयबीजं च यथा बीजोत्कर्षात् । ब्राह्मणाच्छ्दायां जातः साधुः क्र्इः, एवं क्षेत्रोत्कर्षाद्वाह्मण्यामिष क्रूद्रेण जातः किमिति साधुः क्रूद्रो न स्यात्॥६६॥

तत्र निर्णयमाद्द--जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्धणैः । जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥

जात इति ॥ श्रद्धायां श्रियां ब्राह्मणाजातः स्मृत्युक्तैः पाकयज्ञादिभिर्गुणै-रनुष्ठीयमानैर्युक्तः प्रशस्यो भवति । श्रूद्रेण पुनर्बाह्मण्यां जातः प्रतिलोमत उत्पन्नतया श्रद्धभेष्वण्यनधिकाराद्प्रशस्य इति निश्चयः । न्यायप्राप्तोऽण्यर्थो वसन्त्रामाण्याद्त्र बोध्यते ॥ ६७ ॥

ताबुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः । वैगुण्याजन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

तासुभाविति ॥ पारशवचण्डाको द्वावच्यतुपनेयाविति व्यवस्थिता शास-

पाडा०-1 कस्यचित्.

<sup>े</sup> क्षेत्र युगशब्दो जायापत्योर्युग्मवाचक इत्यपराकः, अन्ये तु संततिवाचक इतिप्रचक्षते. बर्द्यतस्य मुल्कुभिक्रयोग्साध्यतया तस्ताध्यायां सन्ततावेव 'युग'शब्दश्रहणे सर्व निरवसम्

मर्यादा । पूर्वः पारशवः शूद्धाजातत्वेन जातिवैगुण्यादनुपनेयः । प्रतिलोम्येन शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातत्वादित्युत्तरत्वेनानुपनेयः ॥ ६८ ॥

> सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा । तथार्याञ्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमहिति ॥ ६९ ॥

सुबीजिमिति ॥ यथा शोभनबीजं शोभनक्षेत्रे जातं समृद्धं भवति, एवं द्विजातेर्द्विजातिस्त्रियां सवर्णायामानुलोम्येन च क्षत्रियावैश्ययोर्जातः, सवर्ण-संस्कारं क्षत्रियवैश्यसंस्कारं च सर्वे श्रोतं सार्ते चाईति। न च पारशवचण्डाला-विति पूर्वोक्तदार्व्यार्थमेतत् ॥ ६९ ॥

दर्शनान्तराण्युक्तस्यैवार्थस्य स्थैर्यार्थमाह-

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः । बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

वीजिमिति ॥ केचित्पण्डिता बीजं स्तुवन्ति, हरिण्याद्युत्पन्नऋष्यशृङ्गादे-र्वह्ममुन्तिवदर्शनात् । अपरे पुनः क्षेत्रं स्तुवन्ति, क्षेत्रस्वामिपुत्रत्वदर्शनात् । अन्ये पुनर्बीजक्षेत्रे उमे अपि स्तुवन्ति, सुबीजस्य सुक्षेत्रे समृद्धिदर्शनात् । पुतस्मिन्मतमेदे वक्ष्यमाणेयं न्यवस्था ज्ञेया ॥ ७० ॥

> अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति । अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥

अक्षेत्र इति ॥ ऊषरप्रदेशे बीजमुसं फलमदददन्तराल एव विनश्यति । शोभनमपि क्षेत्रं बीजरहितं स्थण्डिलमेव केवलं स्थान तु तत्र सस्यमुत्पद्यते । तस्मात्प्रत्येकनिन्द्या 'सुबीजं चैव सुक्षेत्रे' (१०१६९) इति प्रागुक्तमुभय-प्राधान्यमेवाभिहितम् ॥ ७१ ॥

इदानीं बीजप्राधान्यपसे दृष्टान्तमाह—

यसाद्वीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् । पूजिताश्र प्रशस्ताश्र तसाद्वीजं प्रशस्तते ॥ ७२ ॥

यसादिति ॥ यसाद्वीजमाहात्म्येन तिर्यग्जातिहरिण्यादिजाता अपि ऋष्यशृङ्कादयो मुनित्वं प्राप्ताः, पूजिताश्चामिवाद्यत्वादिना, वेदझानादिना प्रशस्ता वाचा संस्तुतास्त्रसाद्वीजं प्रस्त्यते। एतच बीजप्राधान्यनिगमनं बीजयोन्योर्मध्ये बीजोरकृष्टा जातिः प्रधानमित्येवंपरतया बोद्धस्यस् ॥ ७२ ॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् । संप्रधार्यात्रवीद्धाता न समी नासमानिति ॥ ७३ ॥

अनार्यमिति ॥ ग्रुदं द्विजातिकर्मकारिणं द्विजाति च ग्रुद्धकर्मकारिणं

अध्यायः १०

ब्रह्मा विचार्य 'न समी नासमी' इत्यवीचत् । यतः शूद्धो द्विजातिकर्माषि न द्विजातिसमः, तत्यानधिकारिणो द्विजातिकर्माचरणेऽपि तत्साम्याभावात् । एवं शूद्धकर्मापि द्विजातिर्न शूद्धसमः, निषिद्धसेवनेन जात्युत्कर्षस्यानपायात् । नाष्यसमी, निषिद्धाचरणेनोभयोः साम्यात् । तस्माद्यस्य विगर्दितं तत्तेन न कर्तस्यमिति संकरपर्यन्तवर्णधर्मोपदेशः ॥ ७३ ॥

इदानीं ब्राह्मणानामापद्धर्मं प्रतिपादयिष्यन्निदमाह-

ं ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः । ते सम्यगुपजीवेयुः षद्धर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

ब्राह्मणा इति ॥ ये ब्राह्मणा ब्रह्मप्रसिकारणब्रह्मध्याननिष्ठाः स्वकर्मानुष्ठाननि-रताश्च ते षद कर्माणि वक्ष्यमाणान्यध्यापनादीनि क्रमेण सम्यगनुतिष्ठेयुः॥७४॥

तानि कर्माण्याह-

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षद्धर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥

अध्यापनमिति ॥ अध्यापनाध्ययने साङ्गस्य वेदस्य, तथा यजनयाजने, दानप्रतिप्रहो चेत्येतानि षद्र कर्माणि ब्राह्मणस्य वेदितच्याति ॥ ७५ ॥

> षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विद्युद्धाच प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

चण्णामिति॥ अस्य ब्राह्मणस्यैषामध्यापनादीनां षण्णां कर्मणां मध्याचाजनम-ध्यापनं विशुद्धप्रतिप्रहेः 'द्विजातिभ्यो धनं लिप्सेत्प्रशस्तेभ्यो द्विजः' इति वचननिर्देशाद्विजातेः प्रतिप्रह इत्येतानि श्रीणि कर्माणि जीवनार्थानि श्रेयानि ७६

> त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति । अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥

त्रयो धर्मा इति ॥ बाह्मणापेक्षया श्वत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिप्रहाख्यानि दुस्तर्थानि त्रीणि कर्माणि निवर्तन्ते । अध्ययनयागदानानि तु तस्यापि अवन्ति ॥ ७७ ॥

वैदयं प्रति तथैवैते निवर्तेरित्रति स्थितिः ।

न तो प्रति हि तान्धर्मान्मजुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥ वैद्यं प्रतीति ॥ यथा अत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिप्रहा निवर्तन्ते स्था

वश्य प्रताति ॥ यथा क्षात्रयसाध्यापनयाजनप्रातप्रहा निवतन्त स्या वैश्यसापीति शास्त्रव्यवस्था । यसान्मनुः प्रजापतिस्तौ क्षात्रियवेश्यो प्रति लानि कृत्यर्थानि कर्माणि कर्तव्यत्वेन नोक्तवान् । एवं वैश्यस्याप्यस्ययनसाग-दानानि संवन्ति ॥ ७८ ॥

#### शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥

रास्त्रास्त्रिति ॥ शस्त्रं खड्डादि, अस्त्रं बाणादि, एतद्धारणं प्रजारक्षणाय क्षत्रि-यस च वृत्त्यर्थम् । वाणिज्यपशुरक्षणकृषिकर्माणि वैश्यस्य जीवनार्थानि । धर्मार्थाः पुनरनयोर्दानाध्ययनयागा भवन्ति ॥ ७९ ॥

# वेदाभ्यासी ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् । - वार्ताकर्मेव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८०॥

वेदाभ्यास इति ॥ वेदाभ्यासो वेदाध्यापनं रक्षावार्ताभ्यां वृत्यर्थाभ्यां सहोपदेशात्तद्वाह्मणस्य, प्रजारक्षणं क्षत्रियस्य, वाणिज्यं पाञ्चपाल्यं वैश्यस्य, एतान्येतेषां वृत्त्यर्थकर्मसु श्रेष्ठानि ॥ ८० ॥

अधुना आपद्धर्ममाह---

#### अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्त्रेन कर्मणा । जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥

अजीविश्विति ॥ यथोक्तेनाध्यापनादिस्वकर्मणा ब्राह्मणो नित्यकर्मानुष्टानेन कुटुम्बसंवर्धनपूर्वकमजीवन्, क्षत्रियकर्मणा प्रामनगररक्षणादिना जीवेत् । यसात्क्षत्रियधर्मोऽस्य संनिकृष्टा वृत्तिः ॥ ८१ ॥

#### उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्थादिति चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैक्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥

उभाभ्यामिति ॥ ब्राह्मण उभाभ्यां स्ववृत्तिक्षत्रियवृत्तिभ्यामजीवन्केन प्रकारेण वर्तेतेति यदि संशयः स्यात्तदा कृषिपशुरक्षणे आश्रित्य वैद्यस्य वृत्तिमनुतिष्ठेत् । 'कृषिगोरक्ष'यहणं वाणिज्यदर्शनार्थम् । तथा च विकेयाणि वस्यति । स्वयंकृतं चेदं कृष्यादि ब्राह्मणापद्वृत्तिः । अस्वयंकृतस्य 'ऋतामृताभ्यां जीवेतु' (४।४) इत्यनापद्येव विहितत्वात् ॥ ८२ ॥

संप्रति कृष्यादेर्बलाबलमाह—

## वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु बाह्मणः क्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

वैद्येति ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा वैद्यवृत्त्यापि जीवन्सूसिष्ठजन्तुहिंसा-बहुलां बलीवर्दादिपराधीनां कृषि यत्नतस्यजेत् । अतः पशुपालनाद्यभावे कृषिः कार्येति द्रष्टव्यम् । 'क्षत्रियोऽपि वा' इत्युपादानात्क्षत्रियस्याप्यात्मीय-वृत्त्यभावे वैद्यवृत्तिरस्तीत्यभिगम्यते ॥ ८३ ॥

वार्तया नाम कृषिकर्मणाऽजिंतेन धनेन यत्कर्म दानयजनादिकं वार्ताकर्मेति सावः.

कृषि साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता । भृमि भृमिश्यांश्रेव हन्ति काष्टमयोग्रखम् ॥ ८४ ॥

कृषिमिति ॥ साध्वदं जीवनमिति कृषिं केचिन्मन्यन्ते, सा पुनर्जीविका साधुभिर्निन्दिता, यसाद्धलकुदालादिलोहप्रान्तं काष्टं भूमिं भूमिष्ठजन्त्ंश्च हम्ति ॥ ८४ ॥

.इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् । विद्यण्यमुद्धतोद्धारं विक्रयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥

इदं त्विति ॥ ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य चात्मीयवृत्तेरसंभवे, धर्मे प्रति यथोक्त-निष्णातत्वं स्वजतो वैश्येन यद्विकेतब्यं द्रव्यजातं तद्वस्यमाणवर्जनीयवर्जितं धनवृद्धिकरं विकेयम् ॥ ८५ ॥

तानि वर्जनीयान्याइ-

सर्वान्रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह । अञ्मनो लवणं चैव पश्चो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

सर्वानिति ॥ सर्वानचोद्यमानानधर्मान् यथा सिद्धार्थतिलपाषाणलवण-पद्ममनुष्यान् न विक्रीणीत । रसत्वेनैव लवणस्य निषेधसिद्धौ निशेषेण निषेधो दोषगौरवज्ञापनार्थः । तस प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । एवमन्यस्यापि पृथङ्किषेधो न्याख्येयः ॥ ८६ ॥

> सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च । अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥

सर्वमिति ॥ सर्वं तन्तुनिर्मितं वस्तं कुसुम्भादिरक्तं वर्जयेत् । शणक्षुमात-न्तुमयान्याविकलोमभवानि च यद्यलोहितान्यपि भवेयुस्तथापि न विकी-णीत । तथा फलमूलगुडूच्यादीनि वर्जयेत् ॥ ८७ ॥

अपः शुस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्र सर्वशः ।

क्षीरं क्षीद्रं दिध् घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

अप इति ॥ जललोहविषमांससोमश्लीरदिधिष्टततैलगुडदर्भान्, तथा गम्धवन्ति सर्वाणि कर्पूरादीनि, क्षौदं माक्षिकं, मधु मधूच्छिष्टं 'सम्रीमरम-धूष्टिष्ट-' (याज्ञ.स्ट.आ. २।३३) इति याज्ञवल्क्येन पठितं वर्जयेत् ॥ ८८॥

आरण्यांश्च पश्र्न्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।

मद्यं नीलीं च लाक्षां च सर्वाश्चेकश्यक्तांस्तथा ।) ८९ ।। आरण्यानिति । भारण्यानसर्वान्पश्चन्द्दस्यादीन्, दंष्ट्रिणः सिंहादीन्, तथा पक्षिजलजन्त्न्, मद्यादीन्, एकशकांश्चाश्चादीन्, न विक्रीणीत ॥ ८९ ॥

<sup>•</sup> प्रचलितपाठस्त 'मधुमांसाञ्जनोन्छिट-' इति लभ्यते. २ सर्वाश्चेकशफांस्तथा.

#### काममुत्पाद्य कृष्यां तु खयमेव कृषीवलः । विक्रीणीत तिलाञ्जोद्धान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

काममिति ॥ कर्षकः स्वयमेव कर्षणेन तिलानुत्पाद्य, द्रैन्यान्तरेणामिश्रा-जुत्पस्यनन्तरमेव नतु लाभार्थं कालान्तरं प्रतीक्ष्य धर्मनिमित्तमिच्छतो विक्री-णीत, निषिद्धस्य तिलविकयस्य धर्मार्थमयं प्रतिप्रसवः ॥ ९० ॥

> भोजनाभ्यञ्जनादानाद्यद्न्यत्कुरुते तिलैः। कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मजति ॥ ९१ ॥

भोजनेति ॥ भोजनाभ्यङ्गदानव्यतिरिक्तं यदन्यन्निषिद्धं विकयादि तिलानां कुरुते, तेन पितृभिः सह कृमित्वं प्राप्तः कुकुरपुरीषे मज्जति ॥ ९१ ॥

सद्यः पतित मांसेन लाक्षया लवणेन च।

ज्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः श्वीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

सद्य इति ॥ मांसलाक्षालवणविक्रयैर्बाह्यणस्तःक्षणादेव पत्तीति दोषगौरव-स्यापनार्थमेतत्, पञ्चानामेव महापातिकनां पातित्यहेत्नां वश्यमाणत्वात् । श्रीरिविक्रयात्रयहेण श्रद्धतां प्राप्तोति । एतदपि दोषगौरवात्प्रायश्चित्तगौरव-स्यापनार्थम् ॥ ९२ ॥

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः।

ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥

इतरेषामिति । ब्राह्मण उक्तेभ्यो मांसादिभ्योऽन्येषां प्रतिषिद्धानां पण्या-नामिच्छातो नतु प्रमादाह्रच्यान्तरसंक्षिष्टानां सप्तरात्रविक्रयणेन वैदयस्वं गच्छति ॥ ९३ ॥

रसा रसैर्निमातच्या न त्वेव रुवणं रसैः।

कृतात्रं चाकृतात्रेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

रसा इति ॥ रसा गुडादयो रसैर्घृतादिभिः परिवर्तनीयाः । छवणं पुना रसान्तरेण न परिवर्तनीयं, सिद्धान्नं चामान्नेन परिवर्तनीयं, तिछा धान्येन धान्यप्रस्थप्रस्थेनेत्येवं तत्समाः परिवर्तनीयाः ॥ ९४ ॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।

न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥

जीवेदिति ॥ क्षत्रियः क्षापदं प्राप्तः 'एतेन' इत्यिभधाय 'सर्वेण' इत्यिभ-धानाद्राह्मणगोचरतया निषिद्धेनापि रसादिविकयणेन वैद्यवजीवेत् , न पुनः कदाचिद्राह्मणजीविकामाश्रयेत् । न केवलं क्षत्रियः क्षत्रियवदन्योऽपि ॥९५॥

पाठा०-1 श्रुद्वान, 2 द्रव्यान्तरेण मिश्रान, 3 लवणं तिलै:.

१ मूले 'शुद्धान्' इत्यनेनान्यत्रीद्यादिभिरमिश्रान् , अथवा क्रण्णेतरांस्तिलान् विक्री-शीतित्युद्यान् ; क्रुणातिलविक्रयस्य 'कृताक्षं च तिलैः सह' (१०।८६) इत्यनेन प्राङ्गिषेशाद-

यो लोभादधमी जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत ॥ ९६ ॥

यो लोभादिति ॥ यो निकृष्टजातिः सन्, लोभादुःकृष्टजातिविहितकर्म-भिजीवेत्तं राजा गृहीतसर्थस्यं कृत्वा तदानीमेव देशाक्षिःसारयेत् ॥ ९६ ॥

> वरं खधर्मो विगुणी न पारक्यः खनुष्ठितः । परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पत्ति जातितः ॥ ९७ ॥

वर्गिति ॥ विगुणमपि स्वकर्म कर्तुं न्याय्यं, न परकीयं संपूर्णमपि; यसाज्जात्यन्तरविहितकर्मणा जीवन् तत्क्षणादेव स्वजातितः पततीति दोषो वर्जनार्थः ॥ ९७ ॥

> वैश्योऽजीवन्खधर्मेण शृद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् । अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत् च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

वैद्य इति ॥ वैदयः स्ववृत्त्या जीवितुरामकुवन् सूद्ववृत्त्यापि द्विजातिसुश्रूष-योच्छिष्टभोजनादीन्यकुर्वन् वर्तेत, निस्तीर्णापत्क्रमशः दूद्ववृत्तितो निवर्तेत ९८

अशक्रुवंस्तु शुश्रुषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥

अञ्ज्ञिति ॥ ग्रदः द्विजातिग्रुश्रूषां कर्तुमक्षमः श्चदवसन्नपुत्रकलत्रः सपकारादिकमेभिजीवेत् ॥ ९९ ॥

यैः कर्मभिः भैच्रितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।

तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ १०० ॥ यैरिति ॥ पूर्वोक्तकारुकमेविशेषाभिधानार्थमिदम् । यैः कर्मभिः कृतैर्द्धि-जातयः परिचर्थन्ते तानि च कर्माणि तक्षणादीनि शिल्पानि च चित्रलिखिता-दीनि नानाप्रकाराणि कुर्यात् ॥ १०० ॥

> वैक्ष्यवृत्तिमनातिष्ठन्त्राह्मणः स्त्रे पथि स्थितः । अवृत्तिकर्षितः सीद्त्रिमं धर्म समाचरेत् ।। १०१ ।।

वैद्येति ॥ ब्राह्मणो वृत्त्यमावपीडितोऽवसादं गच्छन् क्षत्रियवैद्यवृत्तिम-नातिष्ठन् 'वरं स्वधर्मो विगुणः' (१०१९७) इत्युक्तत्वात्स्ववृत्तावेव वर्तमान इमां वक्ष्यमाणां वृत्तिमनुतिष्ठेत्। अतश्च विगुणप्रतिप्रहादिस्ववृत्त्यसंभवे परवृत्त्याश्रयणं द्येयम् ॥ १०१ ॥

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्वाह्मणस्त्वनयं गतः । पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

सर्वत इति ॥ ब्राह्मण आपदं प्राप्तः सर्वेभ्योऽपि निन्दिततमेभ्यः क्रमेण

<sup>्</sup>पाठा॰—1 विगुणः परधर्मात्स्वधिष्ठितात् ; परधर्मात्स्वनुष्ठितात्. 2 सुरचितैः.

<sup>·</sup> ४ माइण-क्षत्रिययोर्षि-शृह्यृत्तितो निवृत्तिः प्रायश्चित्तसमन्वितैवेति प्राञ्चः,

प्रतिप्रहं कुर्यात् । अत्रार्थान्तरन्यासो नामालंकारः । यसात्पवित्रं गङ्गादिः रथ्योदकादिना दुष्यतीत्येतच्छास्रस्थित्या नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

यसात्,--

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात्। दोषो भवति विप्राणां ज्वेलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३॥ नाध्यापनादिति ॥ ब्राह्मणानामापदि गर्हिताध्यापनयाननप्रतिग्रहैरधर्मो

न भवति । यसात्स्वभावतः पवित्रत्वेनाम्युद्कतुल्यास्ते ॥ १०३ ॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यैतस्ततः । आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ।। १०४ ॥

जीवितेति ॥ यः प्राणात्ययं प्राप्तः प्रतिलोमजादन्नमञ्चाति सोऽन्तरिञ्च-मिव कर्दमेन पापेन न संबध्यते ॥ १०४ ॥

अत्र परकृतिरूपार्थवादमाह-

अजीगर्तः सुतं हन्तुसुपासपेद्वुसुक्षितः ।

न चालिप्यत पापेन श्चत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥

अजीगर्त इति ॥ ऋषिरजीगर्ताख्यो बुभुक्षितः सन्, पुत्रं ब्रुनःशेपनामानं स्वयं विकीतवान् । यज्ञे गोशतलाभाय यज्ञयूपे बद्धा विशक्तिता भूत्वा हन्तुं प्रचक्रमे । न च श्रुत्प्रतीकारार्थं तथा कुर्वन्पापेन लिक्षः । पृतच बह्नुचक्राह्मणे ब्रुनःशेपाख्यानेषु ब्यक्तसुक्तम् ॥ १०५॥

श्वमांसमिच्छन्नातोंऽतुं धर्माधर्मविचक्षणः ।

प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥ श्वमांसमिति ॥ वामदेवाख्य ऋषिर्धर्माधर्मञ्जः ध्वधार्तः प्राणत्राणार्थं श्वमांसं खादितुमिच्छन्दोषेण न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।

बह्वीगाः प्रतिजग्राह वैधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥ भरद्वाज इति ॥ भरद्वाजाख्यो ग्रुनिः महातपस्वी पुत्रसहितो निर्जने वनेऽ-रण्य उपित्वा क्षुत्पीडितो वृष्ठनाम्नस्तक्ष्णो बह्वीर्गाः प्रतिगृहीतवान् ॥ १०७ ॥

> क्षुधार्तश्रात्तमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् । चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८॥

भुधार्त इति ॥ ऋषिर्विश्वामित्रो धर्माधर्मज्ञः श्चरपीडितश्चण्डालहस्ताद्व-हीत्वा कुकुरंजधनमांसं भक्षितुमध्यवसितवान् ॥ १०८॥

पाठा०—1 ज्वलनार्कसमा हि ते; ज्वलनार्कसमाहितः, 2 ततस्ततः, 3 बृह-

[ अध्यायः १०

#### प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादिष । प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विष्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥

प्रतिप्रहादिति ॥ गर्हितानामप्यध्यापनयाजनप्रतिप्रहाणां मध्याद्वाह्यण-स्वासस्प्रतिप्रहो निकृष्टः परलोके नरकहेतुः । ततश्चापदि प्रथमं निन्दिता-ध्यापनयाजनयोः प्रवर्तितस्यम्, तदसंभवे स्वसस्प्रतिप्रह ह्रस्वेवंपरमेतत् १०९

#### अत्र हेतुमाइ--

याजनाध्यापने निस्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् । प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्स्यजन्मनः ॥ ११० ॥

याजनेति ॥ याजनाध्यापने आपद्यनापदि च उपनयनसंस्कृतात्मनां द्विजातीनामेव कियेते । प्रतिप्रदः पुनर्निकृष्टजातेः श्रृदादपि कियते तस्मा-दसौ ताभ्यां गर्हितः ॥ ११० ॥

#### जपहोंमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तैपसैव च ॥ १११ ॥

जपेति ॥ 'एनो'म्रहणाद्सस्यतिम्रहयाजनाध्यापनैर्यद्वपपश्चं तस्प्रायश्चित्त-अकरणे वक्ष्यमाणक्रमेण जपहोमैर्नेश्यति । असस्यतिम्रहजनितं पुनः प्रतिगृहीत-द्वष्यस्थानेन 'मासं गोष्ठेपयः पीत्वा' (११।१९३) द्वस्थेनमादिवक्ष्यमाणतपसा-ऽपंगच्छति ॥ १११ ॥

#### शिलोञ्छमप्याददीत विष्ठोऽजीवन्यतस्ततः ।

प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युज्छः प्रशस्यते ॥ ११२॥ शिलोञ्छमिति ॥ बाह्मणः स्ववृत्त्याऽजीवन्यतस्ततोऽपि शिलोञ्छं गृह्कीयाश्च तु तत्संभवेऽसत्प्रतिग्रहं कुर्यात् । यस्मादसत्प्रतिग्रहाच्छिलः प्रशस्तः । मञ्जर्यात्मकानेकधान्योन्नयनं शिलः, ततोऽप्युज्छः श्रेष्ठः। एकैकधान्यादिगुढ-कोषयनसुज्छः ॥ ११२॥

## सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः।

याच्यः स्थात्स्नात्कैर्विप्रैरिदत्संस्त्यागमर्हित ॥ ११३ ॥

सीद्द्विरिति ॥ स्नातकैर्बोह्मणैर्धनाभावाद्धर्मार्थं कुटुम्बावसादं गच्छद्धिः सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं धान्यवस्नादि कुण्यं धनं धागाद्यपयुक्तं हिरण्याद्यप्याप्यप्यक्रिराण्याद्यस्याद्यक्रिराण्याद्याद्यस्य स्वात् । यश्च दातुं नेच्छति कृपणत्वेनावधारितः स त्याज्यो न याचनीय इत्यर्थः। मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु 'स्यागमर्हतीति तस्य देशे न वस्तव्यस्' इति ब्याचक्षाते ॥ १९३ ॥

पाठा०-1 प्रतिप्रहाद्याजनाच, 2 तपसापि च. 3 ॰ धने.

१ देवलस्त - 'छूनशीर्णमनुज्ञातं शिलम्' इत्याहः

## अंकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च।

हिरण्यं धान्यमनं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

अकृतं चेति । अकृतमनुप्तससं क्षेत्रं तत्कृतादुप्तससात्प्रतिग्रहे दोषरहितं तथा गोछागमेषहिरण्यधान्यसिद्धानानां मध्यात्पूर्वं पूर्वमदुष्टम् । तत्रश्चेषां पूर्वपूर्वासंभवे परः परो होयः ॥ ११४ ॥

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः ऋयो जयः। प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५॥

सप्तिति ॥ दायाचाः सप्त धनागमाः यथाधनाधिकारं धर्मादनपेताः । तत्र दायोऽन्वयागतधनं, लाभो निध्यादेः मैग्यादिलव्धस्य च, क्रयः प्रसिद्धः, एते त्रयश्चतुर्णामपि वर्णानां धर्म्याः । जयधनं विजयत्वेन क्षत्रियस्य, धर्म्यः प्रयोगो वृद्धादिधनस्य, कर्मयोगश्च कृषिवाणिज्ये, एतौ प्रयोगो वैद्यस्य धर्म्यः प्रयोगो वृद्धादिधनस्य, कर्मयोगश्च कृषिवाणिज्ये, एतौ प्रयोगो वैद्यस्य धर्म्यः, सस्प्रतिप्रहो ब्राह्मणस्य धर्म्यः । एवं चैतेषां धर्मत्ववचनादेतद्भावेऽन्येष्वना-पद्विहितेषु वृत्तिकर्मसु व्रवर्तितव्यम् । तद्भावे चापद्विहितेषु प्रकृतेष्वित्रस्तिः दर्थमेतदिद्दोच्यते ॥ ११५॥

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः। धैतिर्भेक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥ ११६॥

विद्यति ॥ भापत्यकरणाज्जीवनहेतव इति निर्देशादेषां मध्ये यया वृत्त्या यस्यानापिद् न जीवनं तया तस्यापद्यभ्य जुज्ञायते । यथा ब्राह्मणस्य मृतिसे-वादि । एवं शिक्पादाविष शेयम् । विद्या वेदिविद्याव्यतिरिक्ता वैद्यतक्ष्रित्याप-नयनादिविद्या सर्वेषामापिद् जीवनार्थं न दुष्यति । शिक्पं गन्धयुक्त्यादिकरणं, मृतिः प्रैष्यभावेन वेतनप्रहणं, सेवा पराज्ञासंपादनं, गोरक्ष्यं पशुपाद्यं, विपणिर्वणिष्या, कृषिः स्वयं कृता, धितः संतोषस्त्रस्मिन्सत्यक्पकेनापि जीव्यते, भेक्ष्यं मिक्षासमूहः, कुसीदं वृद्धा धनप्रयोगः स्वयं कृतोऽपीत्रे-मिदंशिनरापदि जीवनीयम् ॥ ११६ ॥

त्राह्मणः क्षत्रियो नापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत्।

काम तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ११७॥ ब्राह्मण इति ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृज्यादिधनमापचपि न प्रयुक्तीत किंतु निकृष्टकर्मणा धैर्मार्थमर्ह्पिकया वृज्या प्रयुक्तीत ॥ ११७॥

इदानीं राज्ञामापद्धर्ममाइ---

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।

प्रजा रक्षन्परं शक्तया किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥ चतुर्थमिति ॥ राज्ञो धान्यादीनामष्टम इस्राद्यकं स आपदि धान्यादे-

पाठा॰—1 अकृतं च गृहं क्षेत्रं. 2 धृतिभैक्षं. 3 धर्मार्थमनुकल्पित्या कृत्या.

श्रतुर्थमपि भागं करार्थं गृह्यन्परया ज्ञात्तया प्रजा रक्षस्रधिककरम्रहणपापैन न संबध्यते ॥ ११८ ॥

कस्मात्युनरापद्यपि राज्ञोऽपि रक्षणमुच्यते, यस्मात्-

स्वधमी विजयसास्य नाहवे सात्पराञ्जूखः।

शस्त्रेण वैर्वयान्रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्वलिम् ॥ ११९ ॥ स्वधर्म इति ॥ राज्ञः शत्रुविजयः स्वधर्मो विजयफलं युद्धमिलर्थः । प्रजार-क्षणप्रयुक्तस्य यदि कुतश्चिद्धयं स्यात्तदा स युद्धपराञ्जुखो भवेत् । एवं च शस्त्रेण वैश्यान्दस्युभ्यो रक्षित्वा तेभ्यो धर्मादनपेतमाप्तपुरुषैर्वलिमाहारयेत् ॥११९॥

कोऽसौ बलिस्तमाइ-धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विशं कार्षापणावरम् । कर्मोपकरणाः शुद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ १२० ॥

धान्य इति ॥ धान्ये विंश उपचये वैदयानामष्टमं भागं ग्रुक्कमाहारयेत्। धान्यानां द्वादशोऽपि भाग उक्तः। आपद्ययमष्टम उच्यते। अस्यन्तापदि प्रागकश्चतुर्थो वेदितव्यस्तत्रापि विंशं प्राह्मम् । तथा हिरण्यादीनां कार्षापणा-न्तानां विंशतितमं भागं शुल्कं गृह्णीयात्तत्रापि 'पञ्चाशद्भाग श्रादेयो राज्ञा पञ्चहिरण्ययोः' ( ७।१३० ) इत्यनापदि पञ्चाश्रद्धाग उक्तः । भाषययं विंश उच्यते तथा श्रद्धाः, कारवः सूपकारादयः, शिल्पिनः तक्षादयः, कर्मणैवोप-कुर्वन्ति नतु तेभ्य आपद्यपि करो आहाः ॥ १२० ॥

श्रुद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्कनक्षत्रमाराधयेद्यदि ।

धनिनं वाप्यपाराध्य वैदयं द्युद्रो जिजीविषेत् ॥ १२१ ॥ शुद्रस्त्वित ॥ शूदो ब्राह्मणग्रुश्र्षयाऽजीवन्यदि वृत्तिमाकाङ्क्रेत्तदा श्लित्रियं परिचर्य तद्भावे धनिनं वैद्यं परिचर्य जीवितुमिच्छेत् । द्विजाति-ग्रुश्रवणासामर्थ्ये तु प्रागुक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥ १२१ ॥

खर्गार्थम्रभयार्थं वा विप्रानाराधयेतु सः।

जातन्नाह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥ स्वर्गार्थमिति॥ स्वर्गप्राध्यर्थं स्ववृत्तिलिप्सार्थं वा ब्राह्मणानेव शूदः परिचरेत्। तसाजातो बाह्मणाश्रितोऽयमिति शब्दो यस्य । शाकपार्थिवादित्वात्समासः। सास ग्रुदस्य कृतकृत्यता, तद्यपदेशतयाऽसौ कृतकृत्यो भवति ॥ १२२ ॥

यत पुवमतः-विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्र्यते ।

यद्तोऽन्यद्धि क्रुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३ ॥ विप्रेति ॥ बाह्यणपरिचयैंव ग्रुद्धस्य कर्मान्तरेभ्यः प्रकृष्टं कर्म शास्त्रेऽभि-

१ मेघातिथिस्त - 'शक्षेण वैश्याद्धित्वा' इति पाठमादृत्य 'अनेन प्रकारेण प्रजा रक्षित्वा वैश्याद्विष्टिरियतव्यः; वैश्या हि महाधना भवन्ति ततस्तथाहरणे नियुक्ताः' इति न्याख्यातवान्.

भीयते । यसादेतज्ञतिरिक्तं यदसौ कर्म कुरुते तदस्य निष्फलं भवतीति पूर्व-स्तुत्यर्थं न त्वन्यनिवृत्तये । पाकयज्ञादीनामपि तस्य विहितत्वात् ॥ १२३ ॥

प्रकल्प्या तस्य तैर्द्वतिः स्वकुटुम्बाद्यथाईतः ।

शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥१२४॥ प्रकल्प्येति ॥ तस्य परिचारकश्च्रदस्य परिचर्यासामर्थ्यं कर्मोत्साहं प्रतदारा-दिभर्तव्यपरिमाणं चावेक्ष्य तैर्बाह्मणैः स्वगृहादनुरूपा जीविका कल्पनीया १२४

उच्छिष्टमत्रं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।

पुलाकाश्चेव धान्यानां जीर्णाश्चेव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥ उच्छिष्टमिति॥ तस्मै प्रकृताश्चितग्रदाय भुक्ताविशदाक्षं बाह्मणेदेंयम्। एवं च 'न ग्रद्धाय मितं द्यान्नोच्छिष्टम्' (४।८०) इत्यनाश्चितग्रद्धविषयमव-तिष्ठते। तथा जीर्णवस्वासारधान्यजीर्णशच्यापरिच्छदा अस्मै देयाः॥ १२५॥

न शर्द्रे पातकं किंचित्र च संस्कारमहिति।

ः नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६॥

न शूद्ध इति ॥ लग्जनादिमञ्चणेन शूद्धे न किंचित्पातकं भवति । नतु ब्रह्मवधादाविप । 'अहिंसा सत्यं' (१०१६१) इत्यादेश्वातुर्वण्यंसाधारणत्वेन विहितत्वात् । न चाप्युपनयनादिसंस्कारमहीते, नात्याग्निहोत्रादिधमें ऽधिकारोऽस्ति, अविहितत्वात् । न च शूद्धविहितात्पाकयज्ञादिधमीदस्य निषेधः । एवं चास्य सर्वस्य सिद्धार्थत्वाद्यं श्लोक उत्तरार्थोऽनुवादः ॥ १२६ ॥

धर्मेप्सवस्त धर्मज्ञाः सैतां वृत्तमनुष्ठिताः।

मञ्जवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७॥

धर्मेण्सव इति ॥ ये पुनः श्रुद्धाः स्वधर्मवेदिनो धर्मप्राप्तिकामास्वैवर्णिकानामाचारमनिषिद्धमाश्रितास्ते 'नमस्कारेण मन्नेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्' (या. स्मृ.आ. ५।१२१) इति याज्ञवल्कयवचनान्नमस्कारमन्नेण मन्नान्तररहितं पञ्च-यज्ञादिधर्मान्कुर्वाणा न प्रत्यवयन्ति । स्थाति च लोके लभनते ॥ १२७ ॥

यथा यथा हि सद्धत्तमातिष्ठत्यनस्यकः।

तथा तथेमं चामुं च लोकं प्रामोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

यथेति ॥ परगुणानिन्दकः ग्रुद्दो यथा यथा द्विजात्याचारमनिषिद्धमनु-तिष्ठति तथा तथा जनैरनिन्दित इह छोके उत्कृष्टः स्मृतः स्वर्गादिछोकं च प्रामोति ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।

श्र्द्रों हि धनमासाद्य त्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥

राक्तेनापीति ॥ धनार्जनसमर्थेनापि ग्रुद्रेण पोष्यवर्गसंवर्धनपञ्चयज्ञाद्यु-

पाठा०—1 धर्मेच्छवस्तु. 2 सतां धर्म°.

चितादिक बहुधनसंचयो न कर्तेच्यः । यस्माच्छूदो धनं प्राप्य शास्त्रानिक इत्वेन धनमदाच्छुश्रूषायाश्चाकरणाद्राक्षणानेव पीडयतीत्युक्तस्यानुवादः १२९

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः । यान्सम्यगन्तिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३०॥

एत इति ॥ अभी चतुर्णां वर्णानामापद्यनुष्ठेया धर्मा उक्ताः । यान्सम्य-गाचरन्तो विहितानुष्ठानाशिषिद्धानाचरणाच निष्पापतया ब्रह्मज्ञानकाभेन परमां गीतें मोक्षकक्षणां कभन्ते ॥ १३० ॥

एष धर्मविधिः ऋत्स्रश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधि शुमम् ॥ १३१ ॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः ॥ १०॥

एष इति ॥ अयं चतुर्णो वर्णानामाचारः समग्रः कथितः। अत अर्ध्वे प्रायश्चित्तानुष्ठानं ग्रुभमभिधासामि ॥ १३१ ॥

इति श्रीकुकुकभद्रकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

#### एकादशोऽध्यायः ११

सांतानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् । गुर्वर्थे पितृमात्रर्थं खाध्यायार्थ्यपतापिनः ॥ १ ॥ नवेतान्स्नातकान्विद्याद्वाह्मणान्धर्मभिक्षुकान् । निःखेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

सांतानिकमिति ॥ नवैतानिति ॥ ननु 'अतःपरं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधि ग्रुभम्' (१०।१३१) इति प्रायश्चित्तस्य वक्तव्यत्या प्रतिज्ञातत्वात्सांतानिकादिभ्यो देयमिलादेः कः प्रस्तावः ? उच्यते,—'दानेनाकार्यकारिणः'
(५।१०७) इति प्रागुक्तत्वात् 'दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्रुवन्' (११।१३९)
इत्यादेश्च वक्ष्यमाणत्वात्प्रकृष्टप्रायश्चित्तात्मकदानपात्रोपन्यासः प्रकृतोपशुक्त
एव । वर्णाश्रमधर्मादिव्यतिरिक्तप्रायश्चित्तादिनैमित्तिकधर्मकथनार्थत्वाद्याध्यायसान्यसापि नैमित्तिकधर्मसात्रोपन्यासो शुक्तः । संतानप्रयोजनत्वाद्विवादस्य
सांतानिको विवाद्यार्था यक्ष्यमाणोऽवद्यकर्तव्यज्योतिष्टोमादियागं निकीर्षुः,
अध्वगः पान्थः, सर्ववेदसः कृतसर्वस्वदक्षिणविश्वजिद्यागः, विद्यागुरोर्धासाच्छादनाद्यथः प्रयोजनं यस्य स ग्रुवंथः, एवं पितृमात्रर्थावपि, स्वाध्यायार्थः
स्वाध्यायाध्ययनकालीनाच्छादनाद्यपी अद्यायारी, उपतापी रोगी, एताक्रव

बाद्याणान्धर्मिक्षाद्यीलान्कातकाक्षानीयात्। एतेम्यो निर्वनेभ्यो गोहिरण्यादि
वीश्वव इति दानं विद्याविशेषानुक्षपेण दश्चात् ॥ १-२ ॥

पाठा०-1 सार्ववेदसम्.

#### एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमनं सदक्षिणम् । इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतानं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

एतेभ्य इति ॥ एतेभ्यो नवभ्यो ब्राह्मणश्रेष्ठेभ्योऽन्तर्वेदि सदक्षिणमश्च दातन्यम् । एतद्यतिरिक्तेभ्यः पुनः सिद्धान्नं बहिर्वेदि देयत्वेनोपदिश्यते । भनदाने त्वनियमः ॥ ३ ॥

सर्वरतानि राजा तु यथाई प्रतिपादयेत् ।

त्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

सर्वेति ॥ राजा पुनः सर्वरतानि मणिमुकादीनि यागोपयोग्यानि च दक्षिणार्थं धनं विद्यानुरूपेण वेदविदो ब्राह्मणान्स्वीकारयेत् ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारानिभक्षित्वा योऽधिगच्छति ।

रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु संतितः ॥ ५ ॥

क्रतेति ॥ यः सभार्यः संतत्यर्थादिनिमित्तमन्तरेणापरान्दारान् भिक्षित्वा करोति तस्य रतिमात्रं फलं, धनदातुः पुनस्तदुत्पन्नान्यपत्यानि भवन्तीति निन्दातिशयः । नैवंविधेन धनं याचित्वाऽन्यो विवादः कर्तव्यो नाप्येवं विधाय नियमतो धनं देयमिति ॥ ५ ॥

> धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य खर्ग समश्रुते ॥ ६ ॥

धनानीति ॥ धनानि गोमूहिरण्यादीनि शक्तयनतिक्रमेण बाह्मणेषु वेद-हेषु विविक्तेषु पुत्रकलत्रायवसकेषु प्रतिपाद्येसदृशास स्वर्गप्राप्तिर्भवतीति ॥६॥

यस त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।

अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमहिति ॥ ७ ॥

यस्येति॥ यस्यावद्यपोष्यभरणार्थं वर्षत्रयपर्याप्तं तद्धिकं वा भक्तादि स्यास्त काम्यसोमयागं कर्तुमहिति । नित्यस्य पुनर्यथाकथंचिद्वद्दयकर्तव्यस्वाद्यायं निषेधः । अत एव 'समान्ते सौमिकैर्मखैः' (४।२६) इति नित्यविषयस्य सुक्तवान् ॥ ७॥

अतः खल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिवति द्विजः ।

स पीतसोमपूर्वोऽपि न तसामोति तत्फलम् ॥ ८॥

अत इति ॥ त्रैवार्षिकधंनादृष्टपधने सति यः सोमयागं करोति तस्य प्रथमसोमयागो निस्रोऽपि न संपन्नो भवति । सुतरां द्वितीययागः काम्यः ॥८॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।

मध्वापातो विषास्त्रादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥

दाक्त इति ॥ यो बहुधनत्वाद्दानशकः सम्बद्यभरणीये पितृमात्राविक्या-

१ पतत्तु 'दीक्षितो न ददाति' इत्यस्याः श्रुतेः प्रतिप्रसवार्थमुक्तम्

तिजने दौर्गलादुः लोपेते सित यशोऽर्थमन्येभ्यो ददाति स तस्य दानिवशेषो धर्मप्रतिरूपको नतु धर्म एव । मध्वापातो मधुरोपक्रमः, प्रथमं यशस्कर- द्वात् । विषास्वादश्चान्ते; नरकफल्टवात् । तस्मादेतन्न कार्यम् ॥ ९ ॥

भृत्यानाम्चपरोधेन यत्करोत्योध्वदेहिकम् । तद्भवत्यसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥ .[ बृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः । अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरत्रवीत् ॥ ]

भृत्यानामिति ॥ पुत्रदाराद्यवश्यभर्तव्यपीडनेन यत्पारलोकिकधर्मेबुद्धा दानादि करोति तस्य दातुर्जीवतो मृतस्य च तद्दानं दुःसफलं भवतीति पूर्व कीर्त्यादिदृष्टार्थदानप्रतिषेधः । अयं त्वदृष्टार्थदानप्रतिषेधः ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥ यो वैश्यः स्याद्धहुपशुर्हीनकतुरसोमपः । कुटुम्बात्तस्य तद्दव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

यञ्जश्चेदिति॥यो वैस्य इति ॥ क्षत्रियादेर्यजमानस्य विशेषतो ब्राह्मणस्य यदि यज्ञ इतराङ्गसंपत्तौ सत्यामेकेनाङ्गेनासंपूर्णः स्यातदा यो वैश्यो बहु-पक्षादिधनः पाकयज्ञादिरहितोऽसोमयाजी तस्य गृहात्तदङ्गोचितं द्रव्यं बलेन चौर्येण वाहरेत् । एतच धर्मप्रधाने सति राजनि कार्यम् । स हि शास्त्रार्थ-मनुतिष्ठन्तं न निगृह्णाति ॥ १९-१२ ॥

आहरेत्रीणि वा द्वे वा कामं ग्रद्रस्य वेश्मनः । न हि ग्रद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदित्त परिग्रहः ॥ १३ ॥

आहरेदिति ॥ यज्ञस्य द्वित्र्यक्षवैकल्ये सित तानि त्रीणि चाङ्गानि द्वे वाङ्गे वैश्यादलामे सित निर्विशक्कं ग्रुद्धस्य गृहाद्वलेन चौर्यण वाहरेत् । यस्माच्छू-द्वस्य कविदिप यज्ञसंबन्धो नास्ति । 'न यज्ञार्थं धनं ग्रुद्धाद्विमो भिस्नेत' (११।२४) हति वक्ष्यमाणप्रतिषेधः ग्रुद्धाद्याचनस्य नतु बल्प्यहणादेः॥ १३॥

योऽनाहिताग्निः श्रेतगुरयज्वा च सहस्रगुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

य इति ॥ योऽनाहिताभिगीशतपरिमाणधम आहिताभिर्वाऽसोमयाजी गोसहस्रपरिमितधनः द्वयोरिप गृहाभ्यां प्रकृतमङ्गद्वयं त्रयं वा शीक्षं संपाद-यितुं ब्राह्मणेन द्वाभ्यामाहरणीयम् । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामपि ब्राह्मण आह-रेत् । क्षत्रियस तु अदस्युक्तियावद्राह्मणस्वहरणं निषेधयिष्यति ॥ १४ ॥

पाठा०—1 शतगुरयज्ञश्च.

#### आदाननित्याचादातुराहरेदप्रयच्छतः । तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्रेव प्रवर्धते ॥ १५ ॥

आदाननित्यादिति ॥ प्रतिप्रहादिना आदानं धनप्रहणं नित्यं यस्यासावा-दाननित्यो बाह्मणस्तस्मादिष्टापूर्तदानरहिताद्यज्ञाङ्गद्वपत्रयार्थायां याचनायां कृतायामददतो बलेन चौर्येण वाहरेत् । तथा कृतेऽपहर्तुः ख्यातिः प्रकाशते धर्मश्र वृद्धिमेति ॥ १५ ॥

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्रता । अश्रस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

तथैवेति ॥ सायंप्रातभोजनोपदेशात्रिरात्रोपवासे वृत्ते चतुर्थेऽहिन प्रातः सप्तमे भक्ते दानादिधर्मरहितादेकदिनपर्याप्तमर्थं चौर्यादिना हर्तव्यम् ॥ १६॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते ।

आख्यातव्यं तु तत्तसौ पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७॥ खलादिति ॥ धान्यादिमदेनस्थानात्झेत्राद्वा गृहाद्वा यतो वाऽन्यसात्प्रदेन

खलाद्ता । वान्यादमदनस्थानात्क्षत्राद्वा गृहाद्वा यता वाडन्यसात्प्रद्-शाद्धान्यं हीनकर्मसंबन्धि लभ्यते ततो हर्तव्यं, यदि वासौ धनस्वामी पृच्छति किनिमित्तं कृतमिति पृच्छते निमित्तं चौर्यादि वक्तव्यम् ॥ १७ ॥

> त्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन । दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन्हर्तुमहित ॥ १८॥

ब्राह्मणस्वमिति ॥ उक्तेष्वपि निमित्तेषु क्षत्रियेण ब्राह्मणस्य धनं ततोऽपक्ट-ष्टत्वाश्च हर्तेष्यं, समानन्यायतया तु वैश्यशूद्राभ्यामुत्कृष्टजातितो न हर्त-ष्यम् । प्रतिषिद्धकृद्विहिताननुष्टायिनोः पुनर्वाह्मणक्षत्रिययोरत्यन्तापदि क्षत्रियो हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति । स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति ताबुभौ ॥ १९ ॥

योऽसाधुभ्य इति ॥ यो हीनकर्मादिभ्य उत्कृष्टेभ्योऽभिहितेष्विप निमित्ते-पूकानुरूपं यज्ञाङ्गादि साधनं कृत्वा साधभ्य उत्कृष्टेभ्य ऋत्विगादिभ्यो धनं ददाति स यस्यापहरति तदुरितं नाशयति यसौ तददाति तद्दौर्गत्याभिवाता-दिस्येवं द्वावप्यात्मानसुद्धुपं क्कृत्वा दुःखान्मोचयति ॥ १९ ॥

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः । अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २०॥

यद्धनमिति ॥ यज्ञशीलानां यद्धनं तद्यागादौ विनियोगाद्देवस्वं विद्वांसो मन्यन्ते । यागादिशून्यानां तु यद्द्रव्यं तद्धमीविनियोगाभावादासुरस्वसुच्यते । भतसद्वर्यपद्भत्य यागसंपादनात्तद्देवस्वं कर्तेग्यम् ॥ २० ॥

पाठा०—1 अश्वस्तननिधानाय ( =श्वस्तनन्यासाभावाय ).

न तसिन्धारयेइण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः।

क्षत्रियस्य हि वालिक्याद्वाह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥ न तसिक्षिति ॥ तसिक्षुक्तनिमित्ते चौर्यबलाकारं कुर्वाणे धर्मप्रधानौ राजा दण्डं न कुर्यात्। यसाद्राज्ञो मुढ्याद्राह्मणः क्षुधावसादं प्राप्नोति॥ २१॥ ततम्,---

ृतस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुडुम्बान्महीपतिः । श्रुतशीले च विज्ञाय द्वतिं धम्या प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥ तस्येति ॥ तस्य ब्राह्मणस्यावस्यभरणीयपुत्रादिवर्गं ज्ञात्वा श्रुताचारोचित-तद्तुरूपां वृत्तिं स्वगृहाद्राजा कल्पयेत् ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।

राजा हि धर्मपङ्गागं तसात्प्रामोति रक्षितात्।। २३।। कल्पचित्वेति ॥ भस्य बाह्मणस्य जीविकां विधाय शत्रुचौरादेः सर्वतौ रक्षयेत् । यसाहाह्मणाद्रक्षितात्तस्य धर्मषङ्घागं प्रामोति ॥ २३ ॥

न यज्ञार्थं धनं श्रद्रादियो भिक्षेत कर्हिचित्।

यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥ न यहार्थमिति ॥ यज्ञसिद्धये धनं ब्राह्मणः कदाचित्र शुद्राद्याचेत्; यसाच्छूदाद्याचित्वा यज्ञं कुर्वाणो मृतश्चण्डालो भवति । अतो याचननिषे-धाच्छद्राद्याचितोपस्थितं यज्ञार्थमप्यविरुद्धम् ॥ २४ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वे प्रयच्छति ।

स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥ यज्ञार्थिमिति ॥ यज्ञसिद्धार्थं धनं याचित्वा यो यज्ञे सर्वं न विनियुद्धे स शतं वर्षाणि भासत्वं काकत्वं वा प्राप्तोति ॥ २५ ॥

देवस्तं ब्राह्मणस्तं वा लोमेनोपहिनस्ति यः।

स पापात्मा परं लोके गृधोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥ देवस्वमिति ॥ प्रतिमादिदेवतार्थमुत्सृष्टं धनं देवस्वं, ब्राह्मणस्वं च यौ कोभादपहरति स पापस्वभावो जन्मान्तरे गृश्लोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वेपेदब्दपर्यये ।

ऋप्तानां पञ्चसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे ॥ २७ ॥

इष्टिमिति ॥ समाप्ते वर्षे द्वितीयवर्षस्य प्रवृत्तिरबद्पर्ययं चैत्रशुक्कादिवर्ष-प्रवृत्तिस्तत्र वर्षान्तरे वैश्वानरीमिष्टि विहितसोमयागासंभवे सदकरणहोष-निर्देरणार्थं सर्वेदा श्रुँदादितो धनप्रहणेनोकरूपामिष्टि कुर्यात् ॥ २७ ॥

पाठा०-1 श्रुतिशीळे (=वेदाभ्यासरते ). 2 शूद्रादित उक्तधनमहणरूपां.

आपत्कल्पेन यो धर्म क्रुरतेऽनापदि द्विजः।

स नामोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

आपदिति ॥ सापिद्विहितेन विधिना योऽनापिद धर्मानुष्टानं द्विजः कुरुते तस्य तत्परछोके निष्फर्छं भवतीति मन्वादिभिर्विचारितम् ॥ २८ ॥

विश्वेश्व देवैः साध्येश्व ब्राह्मणेश्व महर्षिभिः।

्आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९.॥

निश्वैरिति ॥ विश्वेदेवाल्येदेवैः साध्येश्च तथा महर्षिभिर्माक्कणैर्मरणाद्गीतै। रापत्सु मुख्यस्य विधेः सोमादेवैश्वानयदिः प्रतिनिधिरनुष्टितोऽसौ मुख्यासंभवे कार्यो न तु मुख्यसंभवे ॥ २९ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।

न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

प्रभुरिति ॥ यो मुख्यानुष्टानसंपन्नः सन्नापद्विहितेन प्रतिनिधिनानुष्टानं करोति तस्य दुर्जुद्धेः पारलौकिकमभ्युद्यरूपं प्रत्यवायपरिहारार्थं फलं च न भवति । 'क्षापत्कल्पेन यो धर्मम्' (११।२८) इत्यनेनोक्तमप्येतच्छास्रादरार्थं पुनरूच्यते ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणो वेदयेत किंचिद्राजनि धर्मवित् । स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

नेति ॥ धर्मेह्नो ब्राह्मणः किंनिद्प्यपकृतं न राज्ञः कथवेत् । अपितु स्वक्ष-त्त्रयेव वक्ष्यमाणाभिचारादिनापकारिणो मनुष्याक्षिगृह्णीयात् । ततश्च स्वकीय-धर्मविरोधादपकृष्टापराधकरणे सत्यभिचारादि न दोषायेत्येवंपरमेतत् । न त्वभिचारो विधीयते राजनिवेदनं वा निषिध्यते ॥ ३१ ॥

खवीर्याद्राजवीर्याच खवीर्यं बलवत्तरम्।

तसात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्रिजः ॥ ३२ ॥

स्ववीर्यादिति ॥ यसात्स्वसामर्थ्यादाजसामर्थ्याच पराधीनराजसामर्थ्या-पेक्षया स्वसामर्थ्यमेव स्वाधीनत्वाद्वस्रीयः तसात्स्वेन वीर्येणैव दात्रून्द्राह्मणो निगृह्णीयात् ॥ ३२ ॥

तिक स्ववीर्यमित्याह—

श्चतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् । वाक् शस्त्रं वे ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्रिजः ॥ ३३ ॥ [तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः । तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ॥]

श्रुतीरिति॥ अथर्ववेदस्य साङ्गिरसीर्दुष्टाभिचारश्रुतीरविचारयन्कुर्यात्। तद-

र्थमिनचारमनुतिष्ठेदित्यर्थः। यसादिनचारमञ्जोबारणात्मका बाह्मणस्य वागैव शस्त्रकार्यकरणाच्छकं तेन बाह्मणः शत्रुन्हन्यात्रतु शत्रुनियमाय राजा वाष्यः॥

> क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः । [तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्रामोति परमां गतिम् ।] धनेन वैश्यशुद्धौ तु जपहोमैद्धिंजोत्तमः ॥ ३४ ॥

क्षित्रिय इति क्षत्रियः स्वपौरुषेण शत्रुतः परिभवछक्षणामारमन आपदं निस्तरेत् । वैश्यशूद्रौ पुनः प्रतिकर्त्रे धनदानेन । ब्राह्मणस्त्वभिचारात्मकैर्ज-पहोमेः ॥ ३४ ॥

> विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते । तस्मै नाकुश्रुलं ब्रुयाच शुष्कां गिरमीरयेतु ॥ ३५ ॥

विधातेति ॥ विहितकर्मणामजुष्ठाता, पुत्रशिष्यादीनां शास्ता, प्रायश्चिताः धंधर्माणां वक्ता, सर्वभूतमेत्रीप्रधानो ब्राह्मण उच्यते। तसौ निगृह्यतामयमिले-वमनिष्टं न ब्र्याबापिसाक्रोशं वाचं वाग्दण्डधिग्दण्डस्पां तस्योचारयेत् ॥३५॥

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न वालिशः । होता स्यादिग्रहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

न वा इति ॥ कन्याऽनूढा, ऊढापि तरुणी, तथा भूल्पाध्यायिमूर्वज्याध्या-दिपीडितानुपनीताः श्रोतान्सायंप्रातहींमान्न कुर्युः । 'हावयेत्' इति प्रसक्तावयं कन्यादीनां प्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् । तसाद्वैतानक्रशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७॥

नरक इति ॥ एते कन्यादयो होमं कुर्वाणा नरकं गच्छन्ति । यस तद्द- । प्रिहोत्रं प्रतिनिधिरूपेण कुर्वन्ति सोऽपि नरकं गच्छति । तस्माच्छ्रोतकर्म- प्रवीणः समस्तवेदाध्याची होता कार्यः ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमध्याधेयस्य दक्षिणाम् । अनाहिताग्विभेवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

प्राजापत्यमिति ॥ भाषाने प्राजापत्यमधं प्रजापतिदेवताकं धनसंपत्तौ सत्यां ब्राह्मणो दक्षिणामदत्त्वा कृतेऽप्याधानेऽनाहिताप्तिर्भवत्याधानफलं न रूभते । तस्यादाधानेऽश्वं दक्षिणां द्यात् ॥ ३८ ॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानी जितेन्द्रियः । न त्वलपदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथंचन ॥ ३९ ॥

पुण्यानीति ॥ श्रद्धावान्यशी जितेन्द्रियो यज्ञब्यतिरिक्तानि तीर्थयात्रादीनि

१ अग्निहोत्रे 'जुहुयाद्धावयेद्धा' इत्यनेनानिशेषेण खीपुंसयोः क्षीरहोत्तताप्रसत्तौ कन्या-जुनसादीनां निषेधवचनमिदम् ; तथा च मूळे 'अग्निहोत्र'—'होतु'शब्दौ क्रमेण

कर्माणि पुण्यानि कुर्वीत नतु शास्त्रोक्तदक्षिणातोऽह्यदक्षिणैर्यजेत । परोपका-रार्थत्वादक्षिणायाः स्वरूपेनाप्यृत्विगादिदोषनिषेधार्थमिदं वचनम् ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पश्चन् । हन्त्यलपदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नालपधनो यजेत् ॥ ४० ॥ [ अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्नहीनस्तु ऋत्विजः । दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥ ]

इन्द्रियाणीति ॥ चक्षुरादीनीन्द्रियाणि जीवतः ख्यातिरूपं यशः,स्वर्गा-युषी, सृतस्य ख्यातिरूपां कीर्ति, अपत्यानि, पश्चंश्वालपदक्षिणो यज्ञो नाश-यति । तस्मादलपदक्षिणादानेन यागं न कुर्यात् ॥ ४० ॥

अग्निहोत्र्यपविष्याग्नीन्त्राह्मणः कामकारतः।

चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

अग्निहोत्रीति ॥ अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छातोऽग्निषु सार्यपातहोंमानकृत्वा मासं चान्द्रायणं चरेत् । यसाद्वीरः पुत्रस्तस्य हत्या हननं तत्तुल्यमेतत् । तथा च श्रुतिः-'वीरहा वा एष देवानां भवति योऽग्निमुद्रासयते ।' अन्ये तु मासमपविध्येति समर्थयन्ति ॥ ४१ ॥

## ये श्रुद्राद्धिगम्यार्थमित्रहोत्रम्रुपासते । ऋत्विजस्ते हि श्रुद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

ये शुद्धादिति ॥ ये शुद्धादिधगम्यार्थं प्राप्य सामान्याभिधानेन याचनेन वाऽर्थं स्त्रीकृत्य 'वृषलाझ्युपसेविनाम्' (११।४३) इति वक्ष्यमाणिलङ्कादा-धानपूर्वकमित्रहोत्रमनुतिष्ठन्ति ते शुद्धाणामेव याजका नतु तेषां तत्फर्कं भवत्यतस्ते वेदवादिषु निन्दिताः ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलारयुपस्विनाम्।

पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

तेषामिति ॥ तेषां ग्रुद्धनाहितान्निपरिचारिणां मूर्खाणां मूर्झि पादं दत्त्वा ग्रुद्धतेन दानेन सततं परलोके दुःखेभ्यो निस्तरित, नतु यजमानानां फलं भवति ॥ ४३ ॥

> अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रेसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

अकुर्विमिति ॥ नित्यं यद्विहितं संध्योपासनादि, नैमित्तिकं च शवस्पर्शादौ स्नानादि, तदकुर्वन् तथा प्रतिषिदं हिंसाद्यनुतिष्ठन्नविहितनिषिद्धेष्वत्यन्ता-

पाडा०—1 प्रसजंश्वेन्द्रियार्थेषु; प्रसङ्गज्ञिद्रियार्थेषु.

३९ म० स्मृ०

सार्ते कुर्वन्नरो मनुष्यजातिमात्रं प्रायश्चित्तमहित । ननु 'इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसत्त्येत कामतः' (४।१६) इति निषेधान्निद्तपदेनैव 'प्रसत्तश्चेन्द्रियार्थेषु' इत्यपि संगृहीतमतः पृथङ्क वक्तव्यम् । उच्यते,—अस्य स्नातकन्नतेषु पाठात्तत्र 'वतानीमानि धारयेत्' (४।१३) इत्युपक्रमान्नायं प्रतिषेधः किंतु नतिधिः । तर्हि 'अकुर्वन्विहितं कर्म' इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्पृथङ्क वक्तव्यमिति चेन्न । स्नात-केतरविषयत्वेनास्य सविषयत्वात् ॥ ४४ ॥

#### अकामतः कृते पापे प्रायिश्वतं विदुर्नुधाः । कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

अकामत इति ॥ अबुद्धिकृते पापे प्रायिश्वतं भवतीत्याहुः पण्डिताः । एके पुनराचार्याः कामतः कृते पापे प्रायिश्वतं भवतीत्याहुः । एतस पृथकृत्यान्तिभानं प्रायिश्वत्तगौरवार्थं श्वतिनिदर्शनादिति । 'इन्द्रो यतीन्त्सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तमश्चीला वागभ्यवदत्स प्रजापतिमुपाधावत्तस्या इन्द्रायैतमुपहृच्यं प्रायच्छत्' इति । अस्यार्थः – इन्द्रो यतीन् बुद्धिपूर्वकं श्वभ्यो दत्तवान्, स प्रायिश्वत्तार्थं प्रजापतिसमीपमगमत्, तस्म प्रजापतिरुपहेन्याख्यं कर्म प्रायन्श्वित्तं दत्तवान् अतः कामकारकृतेऽप्यस्ति प्रायश्वित्तम् ॥ ४५ ॥

#### अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

अकामत इति ॥ अनिच्छातः कृतं पापं वेदाभ्यासेन ग्रुध्यति नश्यति । वेदाभ्यासेनेति कामकृतविषयप्रायश्चित्तापेक्षया लघुप्रायश्चित्तोपलक्षणार्थम् । प्रायश्चित्तान्तराणामपि विधानाद्दागद्देषादिन्यामूदत्या पुनरिनच्छातः कृतं नानाप्रकारेः प्रायश्चित्तेविद्याधनतपोभिः ग्रुध्यतीति गुरुप्रायश्चित्तपरम् । अतः पूर्वोक्तस्येवायं न्याकारः । यद्यप्यधिकारनिरूपणं प्रकृतप्रायश्चित्तं त्वनन्तरं वक्ष्यति तथाप्यज्ञानाञ्चयुप्रायश्चित्ताधिकारी ज्ञानाद्वरुप्रायश्चित्तेऽधिक्रियत इत्यधिकारिनिरूपणमेवेदम् ॥ ४६॥

> प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा । न संसर्ग व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥ [ प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ ]

प्रायश्चित्तीयतामिति ॥ दैवालमादादन्यशरीरकृतेन पूर्वजनमार्जितदु-कृतेन श्चयरोगादिभिः सूचितेन प्रायश्चित्तीयतां प्राप्याकृते प्रायश्चित्ते साधुभिः सह याजनादिना संसर्गे न गच्छेत् ॥ ४७ ॥ इह दुश्रितेः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा । प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

इहेति ॥ इह जन्मनि निषिद्धाचरणैः केचित्पूर्वजन्मकृतेर्दुष्टस्वभावा मनुष्याः कौनल्यादिकं रूपविपर्ययं प्राप्तुवन्ति ॥ ४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः इयावदन्तताम् ।

बह्य अयरोगित्वं दौश्रम्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥ पिश्चनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।

धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमीतिरैक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

अन्नहर्तामयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ।

वस्नापहारकः श्रेच्यं पङ्गतामश्रहारकः ॥ ५१ ॥

[दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत् ।

हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ॥

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सिंहगिहिंताः ।

जडमूकान्धविधरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

सुवर्णेति ॥ पिशुन इति ॥ अञ्चहतेति एवमिति ॥ बाह्मणसुवर्णचौरः कृत्सितनस्वत्वं प्राप्तोति । निषिद्धसुरापः स्यावदन्ततां, ब्रह्महा क्ष्यरोतित्वं, गुरुभार्यागामी विकोशमेहनत्वं, पिशुनो विद्यमानदोषाभिधायी दुर्गन्धिना-सत्वं, अविद्यमानदोषाभिधायको दुर्गन्धिमुखत्वं, धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वं, धान्यादेरपद्रव्येण मिश्रणकर्ता, अतिरिक्ताङ्गत्वं अञ्चचौरो मन्दानलत्वं अन्तु-झाताध्यायी मुकत्वं, वस्रचौरः श्वेतकुष्ठत्वं, अश्वचौरः खङ्गत्वम् । एवं बुद्धि-वाक्सञ्जः श्रोत्रविकला विकृतरूपाः साधुविगहिताश्च प्राप्तन्मार्जितोपभक्तदु-ष्कृतरोषेणोत्पद्यन्ते । 'दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापकस्तथा । हिंसारुनिः सदारोगी वाताङ्गः पारदारिकः ॥' ॥ ४९-५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । निन्दैर्हि लक्षणेर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥

चरितव्यमिति ॥ यसादिनिष्कृतमनाशितमेनो यैसोऽनिष्कृतैनसोऽकृतप्राय-श्चित्ताः परछोकोपभुक्तदुष्कृतरोषेण निन्धैर्छक्षणैः कुनखित्वादिभिर्युक्ता जायन्ते। तसाद्विश्रुद्धये पापनिर्दरणार्थं प्रायश्चित्तं सदा कर्तव्यम् । एवं 'भिन्ने जुद्दोति' इतिवन्न नैमित्तिकमात्रं प्रायश्चित्तं किंत्वनिष्कृतैनस इत्युपादानात्तथा विद्य-स्र्ये चरितव्यमित्युपदेशात्पापक्षयार्थिन एवाधिकारः । तथा हि प्रायश्चित्तं हि चरितव्यमिति विधाविषकारापेक्षायां फलमात्रे निर्देशादिति रात्रिसत्र-न्यायेन श्रूयमाणमेव विशुद्धय इति फलमधिकारिविशेषणं युक्तम् । इममेवार्थं स्फुटयित याज्ञवल्क्यः (या.स्ट.प्रा. ५।२१९)-'विहितस्याननुष्ठानािक्षन्दितस्य च सेवनात् । अनिप्रहाचिन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छिति । तस्मात्तेनेह कर्तेच्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥' पतनमृच्छिति पापं प्राप्तोतीत्यर्थः । विशुद्धये पाप-विनाशाय । 'बहून्वर्षगणान्योराक्षरकान्प्राप्य तत्थयात् । संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापानकिनस्त्विमान् ॥' (१२।५४) इत्यादिना महापातक्यादीनां नरका-दिप्राप्तिं वक्ष्यति । न तक्षिमित्तिकमात्रत्वं प्रायश्चित्तानां संगच्छते । तस्माद्रह्म-वधादिजनितपापक्षयार्थिन एव प्रायश्चित्तविधावधिकार इति ज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

#### ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याद्वः संसर्गश्रापि तैः सह ॥ ५४ ॥

ब्रह्महत्येति ॥ ब्राह्मणप्राणिवयोगफलको न्यापारो ब्रह्महत्या, स च साक्षा-दन्यं वा नियुज्य तथा गोहिरण्यप्रहणादिनिमित्तकार्यकस्यापि तदुदेशेन ब्राह्म-णमरणे ब्रह्महत्या । नन्वेवमिषुकारस्यापीपृत्पादनद्वारेण तथा वध्यस्यापि हन्तृत्वं प्रतीयते स एव ब्रह्महत्या स्यात् । उच्यते,—शास्त्रतो यस्य ब्राह्मण-हन्तृत्वं प्रतीयते स एव ब्रह्महत्या । मत एव शातातपः—'गोभूहिरण्यप्रहणे स्वीसंबन्धकृतेऽपि वा । यमुद्दिश्य स्रजेत्प्राणांस्तमाहुर्बद्धायातकम् ॥' एवं चान्यान्यपि शास्त्रीयाण्येव ब्रह्मवधिनिमत्तानि ज्ञेयानि । तथा 'रागाद्वेषात्प्र-मादाद्वा स्वतः परत एव वा । ब्राह्मणं घातयेयस्तु तमाहुर्बद्धायातकम् ॥' इति प्रयोजकस्यापि हन्तृत्वं शास्त्रीयम् । तथा निषद्धसुरापानं, ब्राह्मणसुवर्णहर-णम्, गुरुभार्यागमनम् । गुरुरत्र पिता, 'निषेकादीनि कर्माणि' (२।१४२) इस्मादिना तस्य गुरुत्वेन विधानात् । एतेश्च सह संसर्गः संवत्सरेण पत्तती-स्वेतानि महापातकान्याहुः । महापातकसंज्ञा चेयं वक्ष्यमाणस्थोपपातकादि-संज्ञालघवार्थम् ॥ ५४ ॥

## अनृतं च सम्रत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् । गुरोश्वालीकनिर्वन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५५ ॥

अनृतमिति ॥ जात्युत्कर्षनिमित्तमुत्कर्षभाषृणं यथा ब्राह्मणोऽहमिति अबा-ह्मणो ब्रवीति, राजनि वा स्तेनादीनां परेषां मरणफलकं दोषाभिधानं, गुरो-श्चानृताभिश्चंसनम् । तथा च गौतमः (गौ. स्ट. १२।३)—'गुरोरनृताभि-शंसनम्' इति । महापातकसमानीस्रेतानि ब्रह्महस्यासमानीति ॥ ५५ ॥

> त्रह्मोज्झता मेद्निन्दा कीटसाक्ष्यं सुहृद्धधः । गर्हितानाद्ययोजिन्धिः सुरापानसमानि षद् ॥ ५६ ॥

अस्रोज्झतेति ॥ असणोऽधीतवेदस्थानभ्यासेन विसारणम् , असच्छास्राश्र-

यणेन वेद्कुत्सनम्, साक्ष्ये मृषाभिधानम्, मित्रसाब्राह्मणस्य वधः, निषि-द्धस्य ल्क्युनादेभेक्षणम्, अनाद्यस्य पुरीषादेरदनम्। मेधातिथिस्तु न भोक्ष्यत इति संकल्प्य यद्भुज्यते तदनाद्यमित्याचष्टे। एतानि सुरापानसमानि॥ ५६॥

> निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

निश्लेपस्येति ॥ ब्राह्मणसुवर्णन्यतिरिक्तनिश्लेपस्य हरणं तथा मनुष्यतुरग-रूप्यभूमिहीरकमणीनां हरणं सुवर्णस्तेयतुल्यम् ॥ ५७ ॥

> रेतःसेकः खयोनीषु क्रमारीष्वन्त्यजासु च । सच्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

रेतः सेक इति ॥ सोद्यभगिनीकुमारीचण्डालीसखिपुत्रभायां यो रेतः-सेकतं गुरुभायांगमनसमानमाहुः । एतेषां भेदेन समीकरणं यथेन समीकृतं तस्य तेन प्रायश्चित्तार्थम् । यत्कोटसाक्ष्यसुद्धद्वधयोः सुरापानसमीकृतयोर्बस-हत्याप्रायश्चित्तं वक्ष्यति तद्विकल्पार्थम् , यत्पुनर्गुरोरलीकिनिबन्धस्य ब्रह्महत्या-समीकृतस्य पुनरुपरिष्टाइह्महत्याप्रायश्चित्तनिर्देशः तत्समीकृतानां न्यूनप्राय-श्चित्तं भवतीति ज्ञापनार्थम् । तथा च लोके राजसमः सचिव इत्युक्ते सचि-वस्य न्यूनतेव गम्यते । अत्रौपदेशिकप्रायश्चित्तेभ्य आतिदेशिकप्रायश्चित्तानां तक्यूनं प्रायश्चित्तं समीकृतानां च ॥ ५८ ॥

इदानीसुपपातकान्याह—

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ।
गुरुमातृपितृत्यागः खाध्यायाद्योः सुतस्य च ॥ ५९ ॥
परिवित्तितानुजेऽनृद्धे परिवेदनमेव च ।
तयोदीनं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं वतलोपनम् ।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥
वात्यता वान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥
सर्वाकरेष्वधीकारी महायश्रवर्तनम् ।
हिंसीपधीनां स्याजीवोऽभिचारो मृत्रकर्म च ॥ ६३ ॥
इन्ध्रनार्थमञ्जष्काणां द्धुमाणामवपातनम् ।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दिताक्षाद्नं तथा ॥ ६४ ॥

पाठा०—1 च व्रताइयुतिः. 2 मृताचाध्ययनादान°.

[ अध्यायः ११

अनाहितामिता स्तेयमृणानामनपित्रया । असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च किया ॥ ६५ ॥ धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्तीनिषेवणम् । स्त्रीशृद्रविदक्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६६ ॥

गोवधेत्यादि-धान्यकुप्येखन्तेन ॥ गोहननं, जातिकर्मद्वष्टानां याजनं, परपत्नीगमनं, भात्मविकयः, मातृपितृगुरूणां च शुश्रूषाद्यकरणं, सर्वदा ब्रह्म-यज्ञत्यागः, न वेदविस्मरणं 'ब्रह्मोज्झता' (११।५६) इत्यनेनोक्तत्वात् । अग्नेश्च स्मातेस्य त्यागः श्रौतानां 'अग्निहोन्यपविध्याग्नीन्' (११।४१) इत्युक्तत्वात् , सुतस्य च संस्कारभरणायकरणम् । कनीयसा भादौ विवाहे कृते ज्येष्टस्य परिवित्तित्वं भवति । 'दाराग्निहोत्रसंयोगं' (३।१७१) इत्यादिना प्रागुक्तं कनिष्ठस्य परिवेत्तृत्वं तयोश्च कन्याया दानं तयोरेव विवाहहोमादियागेष्वा-र्त्विज्यं, कन्याया मैथुनवर्जमङ्कलीप्रक्षेपादिना दूषणं, रेतःसेकपर्यन्तमैथुनेषु तु रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च'(११।५८) इत्युक्तत्वात्प्रति-षिद्धं, बृद्धिजीवनं, ब्रह्मचारिणो मैथुनं, तडागोद्यानभार्यापत्यानां विक्रयः, यथाकालमनुपनयनं बालता । तथा चोक्तम् ( २।३९ )- भत ऊर्ध्व त्रयो-ऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः' इति । बान्धवानां पितृष्यादीनामनजुवृत्तिः, प्रतिनियतवेतनप्रहणपूर्वकमध्यापनं, प्रतिनियतवेतनप्रदानपूर्वकमध्ययनं, च, **भविक्र**य्यादीनां तिलादीनां विक्रयः, सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु राजाज्ञ्याधिकारः, महतां प्रवाहप्रतिबन्धहेतूनां सेतुबन्धादीनां प्रवर्तनं, औषधीनां जातिमात्रा-दीनां हिंसनम् । एतच ज्ञानपूर्वकाभ्यासिकयायां प्रायश्चित्तगौरवात् । यत्तु 'कृष्टजानामौषधीनां' (११।१४४) इत्यादिना वस्यति तत्सकृद्धिसायां, शायश्चित्तलाघवात् । भार्यादिखीणां वेश्यात्वं कृत्वा तदुपजीवनं, इयेनादि-यज्ञेनानपराद्धस्य मारणं, मन्त्रौषिधना वशीकरणं, पाकादिरष्टप्रयोजनार्थमात्र-मेव वृक्षच्छेदनं, अनातुरस्य देविपत्राद्यदेशमन्तरेण पाकाद्यनुष्ठानं; निन्दिता-बस्य लग्जनादेः सकूद्रिनच्छया भक्षणम्, इच्छापूर्वकाभ्यासभक्षणे पुनः 'गर्हितानाद्ययोर्जिग्धः' (११।५६) इत्युक्तत्वात् । सत्यिधकारेऽइयनाधानं, सुवर्णादन्यस्य सारद्रव्यस्यापहरणं, ऋणानां च ऋणैस्विभिर्ऋणवासरो जायते तदनपकरणं, श्रुतिस्सृतिविरुद्धशास्त्रशिक्षणं, नृंत्यगीतवादित्रोपसेवनं, धान्य-तामुलोहादेः पशुनां च चौर्यं, द्विजातीनां पीतमद्यायाः स्निया गमनं, स्नीशह-वैदयक्षत्रियहननं, अदृष्टार्थकर्माभावबुद्धिः, एतत्प्रत्येकसूपपातकस् । 'बान्ध-बलागः' (११।६२) इलनेनैव मात्रादीनां लागप्राप्ती प्रथावचनं निन्दार्थस् । पितृब्यादिबान्धवस्यागेनावश्यमेव प्रायश्चित्तं भवति किंतु मात्रादिस्यागप्राय-किलास्यूनमपि भवति ॥ ५९-६६ ॥

ब्राह्मणस्य रेजःकृत्या घातिरघ्रेयमद्ययोः । जैद्वयं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मणस्येति ॥ ब्राह्मणस्य दण्डहस्तादिना पीडाक्रिया, यदितिशयदुर्गिनिध-तयाऽन्नेयं लग्जनपुरीषादि तस्य मद्यस्य चान्नाणं, कृटिलत्वं वक्रता, पुंसि च मुखादौ मैथुनमिलेतत्त्रस्येकं जातिश्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

> खराश्रोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा । संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

खरेति ॥ गर्देभतुरगोष्ट्रमृगहस्तिच्छागमेषमत्स्यसर्पमहिषाणां प्रत्येकं यधः संकरीकरणं ज्ञेयम् ॥ ६८ ॥

> निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥

निन्दितेभ्य इति ॥ अप्रतिप्राद्यधनेभ्यः प्रतिप्रहः, वाणिःमं, स्वस्य परिचर्या, अनुताभिधानमित्येतत्प्रत्येकमपात्रीकरणं झेयम् ॥ ६९ ॥

> कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् । फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

स्मिति ॥ क्रमयः श्रुद्रजन्तवस्तेभ्य ईष्रस्थूलाः कीटासोपां यधः, पिलणां च । मद्यानुगतं वज्रोज्यमपि शाकायेकन्न पिटकादौ कृत्वा मयेन सद्दानीतं तस्य भोजनम् । मेथ्नितिथिस्तु मद्यानुगतं मद्यसंस्पृष्टमाद्द । तमः, तत्र भाष-श्चित्तगौरवात् । फलकाष्ठपुष्पाणां च चौर्यमल्पेऽपचयेऽप्यत्यन्तवैक्षम्यम् । प्रतस्तवं प्रत्येकं मलिनीकरणम् ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथकपृथक् । यैर्यैर्वतैरपोद्यन्ते तानि सम्यङ्गिबोधत ॥ ७१ ॥

एतानीति ॥ एतानि बहाहत्यादीनि सर्वाणि पापानि भेदेन यथोकानि वैवैवैतैः प्रायश्चिक्तरूपैनश्चिमते तानि यथावत् श्रणुत् ॥ ७१ ॥

> त्रहाहा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् । भैक्षाश्यात्मविशुध्यर्थे कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

श्रहाहेति ॥ यो श्राह्मणं हतवान्स वने कुटीं कृत्वा हतस्य शिरः कपासं सद-भावेऽन्यस्यापि चिह्नं कृत्वारण्ये भैक्षसुगारमनः पापनिर्देरणाय द्वावद्य वर्षावि वसेद्रतं कुर्यात् । अत्रापि कृतवपनो निवसेदिति वश्यति । सुन्यन्तरोक्ता अपि विशेषा श्राद्याः । तथा च यमः-'सप्तागाराण्यपूर्वाणि यान्यसंकिष्यः। विशेषा श्राद्याः

पाठा०-1 रजः कृत्यं; रजः कृत्या.

[ अध्यायः ११

संविशेत्तानि शनकैर्विधूमे भुक्तवज्जने ॥ अृणवे देहि मे भिक्षामेनो विख्याच्य संचरेत्। एककालं चरेक्नैक्ष्यं तदलब्ध्वोदकं पिवेत् ॥' अयं च द्वादशवार्षि-कविधिर्वाद्मणस्याज्ञानकृतवाद्मणवधे । 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्' (११।८९) इति वस्यमाणत्वात् । क्षत्रियवैश्यश्चदाणां तु क्रमेणैत-द्वादशवार्षिकं द्विगुणं त्रिगुणं चतुर्गुणं च द्रष्टव्यम् । यथोक्तं भविष्यपुराणे-'द्विगुणाः क्षत्रियाणां तु वैश्यानां त्रिगुणाः स्मृताः । चतुर्गुणास्तु शुद्धाणां पर्वदुक्ता महात्मनाम् ॥ पर्वदुक्तवतं प्रोक्तं शुद्धये पापकर्मणाम् ॥' याविद्ध-र्श्राह्मणैर्शाह्मणानां सभा, ततो द्विगुणैः क्षत्रियाणां द्रष्टन्यन्यवहारदर्शनाद्वयथां सभा भवेत्, त्रिगुणैवैंइयैवैंइयानां चतुर्भिः शूद्राणामिति सभावच क्षत्रिया-दीनां त्रयाणां व्रतमपि द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणमित्यर्थः । एतानि च मनूकन्नद्व-वधमायश्चित्तवचनानि गुणवत्कृतनिर्गुणब्राह्मणहननविषयत्वेन भविष्यपुराणे व्याख्यातानि । 'इन्ता चेहुणवान्वीर अकामान्निगुंणो हतः । कर्तन्यानि मनू-कानि कृत्वा वै आश्वमेधिकम् ॥ ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत् । गच्छेदवभृथं वापि अकामान्निर्गुणे हते ॥ जातिशक्तिगुणापेक्षं सकुद्ध-द्धिकृतं तथा । अनुवन्धादि विज्ञाय प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥' इति विश्वा-मित्रवचनात्प्रायश्चित्ताधिन्यमृहनीयम् । कामकृते तु बाह्यणवधे द्विगुणं ब्रह्म-वधमायश्चित्तं चतुर्विशतिवर्षम् । तवाहाङ्गिराः-'अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं न कामतः। स्यास्वकामकृते यत् द्विगुणं बुद्धिपूर्वके'॥ ७२॥

## लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः । प्रास्वेदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥

लक्ष्यमिति ॥ धनुःशराद्यायुधधारिणां ब्रह्मवधपापश्चयार्थमयं लक्षीभूत इसेवं जानतां स्वेच्छया बाणलक्ष्यभूतो वावतिष्ठेत । यावन्मृतो सृतकल्यो वा विग्रुध्येत् । तदाह याज्ञवल्क्यः (या.स्य.प्रा.५।२४८)—'संग्रामे वा हतो लक्ष्य-भूतः शुद्धिमवामुयात्। मृतकल्पः प्रहाराते जीवन्नपि विशुष्यति ॥' अभौ प्रवीसे वाऽधोमुखस्त्रीन्वारान्शरीरं प्रक्षिपेत् । 'तथा प्रास्येत यथा च्रियेत' इत्यापस्त-म्बवचनादेवं प्रक्षिपेत् । एतःप्रायश्चित्तद्वयमनन्तरं वक्ष्यमाणं च 'यजेत वाश्व-मेधेन' (११।७४) इत्येवं प्रायश्चित्तत्रयमिदं कामतः क्षत्रियस्य ब्राह्मणवध-विषयम् । मनुऋोकमेव लिखित्वा यथा ब्याख्यातं भविष्यपुराणे-'लक्ष्यं शस्त्रन्तां वा साद्विदुवामिच्छयात्मनः । प्रास्येदौत्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिर-वाक्तिराः ॥ यजेत वाश्वमेधेन क्षत्रियो विप्रवातकः । प्रायश्चित्तत्रयं होतत्क्ष-त्रियस्य प्रकीर्तितम् ॥ क्षत्रियो निर्गुणो धीरं आहाणं चेवपारगम् । निष्ठत्य कामतो बीर लक्ष्यः शस्त्रभृतो भवेत् ॥ चतुर्वेदविदं भीरं नाहाणं चासिही-त्रिणम् । निहत्य कामादात्मानं क्षिपेद्भाववादिशराः ॥ निर्गुणं ब्राह्मणं हत्वा कासतो गुणवान्गुह। यङ्का वा अश्वमेश्वेन क्षत्रियो यो महीपतिः'॥ ७३॥

#### यजेत वाऽश्वमेधेन खर्जिता गोसवेन वा । अभिजिद्दिश्वजिद्धां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥ ७४ ॥

यजेतेति॥ 'यजेत वाऽश्वमेधेन' इत्यनन्तरं न्याख्यातम्। स्वर्जिता पागिने शेषेण, गोसवेन वा, अभिजिता विश्वजिता वा, त्रिवृताऽग्निष्ठुता वा याजयेत्। एतानि चाज्ञानतो ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानि त्रैवर्णिकस्य विकल्पितानि। तरुकं भविष्यपुराणे-'स्वर्जितादेश्च यद्वीर कर्मणां पृतनापते। अनुष्ठानं व्रिजातीनां वधे ह्यमतिपूर्वके'॥ ७४॥

#### जपन्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं त्रजेत्। त्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्गियतेन्द्रियः॥ ७५॥

जपन्निति ॥ वेदानां मध्यादेकं वेदं जपन्स्वल्पाहारः संयतेन्द्रियो महा-हत्यापापनिर्हरणाय योजनानां शतं गच्छेत् । एतद्प्यज्ञानकृते जातिमात्र-ब्राह्मणवधे त्रैवर्णिकस्य प्रायश्चित्तम् । तथा च भविष्यपुराणे अयमेव श्लोकः पठितो न्याख्यातश्च—'जातिमात्रं यदा विग्रं हन्यादमतिपूर्वकम् । वेदिविषा-ग्निहोत्री च तदा तस्य भवेदिदम्'॥ ७५॥

#### सर्वस्वं वेद्विदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

सर्वस्विमिति ॥ सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणाय दद्यात् । यावद्धनं जीवनाय समर्थेम् । गृहं वा गृहोपयोगिधनधान्यादियुतं । अतः सर्वस्वं वा गृहं वा सपरिच्छदं द्यात् । 'जीवनायालम्'इति वचनाजीवनपर्याप्तं सर्वस्वं गृहं वा द्यान्न ततोऽल्पम् । एतचाज्ञानतो जातिमात्रब्राह्मणवधे ब्राह्मणस्य प्रामिक्तिम् । तथा च भविष्यपुराणम्—'जातिमात्रं यदा हन्याद्राह्मणं ब्राह्मणो गृहं । वेदाभ्यासिविहीनो वे धनवानग्निविजतः ॥ प्रायश्चित्तं तदा कुर्यादिदं पापविगुद्धये । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छद्म्' ॥ ७६ ॥

#### हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रति स्रोतः सरखतीम् । जपेद्वा नियताहारस्त्रिवै वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥

ह्विच्येति ॥ नीवारादिद्वविच्यान्नभोजी विख्यातप्रस्ववणादारस्यापश्चिमो-द्धेः स्रोतः प्रति सरस्वतीं यायात् । एतच जातिमात्रब्राह्मणवधे ज्ञानपूर्वके । तथा भविष्यपुराणे—'जातिमात्रे हते विप्रे देवेन्द्र मतिपूर्वकम् । हन्ता यदा वेदहीनो धनेन च भवेद्भृतः ॥ तदैतत्कस्पयेत्तस्य प्रायश्चित्तं निषोध में । हविष्यभुक्षेदेद्वापि प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ॥ अथवा परिमिताहारसीन्वारा-

पाठा०—1 स्त्रार्जितादेश्व षड्वीर. 2 गृहं वासः परिच्छदम्; गृहवासपरि-च्छदम्. 3 दैवादमति 4 भवेद्गह. 5 चरेत्तीरे.

न्वेदसंहिताम् ॥' 'संहिता'म्रहणात्पदक्रमन्युदासः । अत्रापि भविष्यपुराणीयो विशेषः—'जातिमात्रं तु यो हन्याद्विमं त्वमतिपूर्वकम् । बाह्मणोऽस्यन्तगुण-वांस्तेनेदं परिकल्पयेत् ॥ जपेद्वा नियताहारस्त्रिवें वेदस्य संहिताम् । ऋचो यज्ंषि सामानि त्रैविद्याख्यं सुरोत्तम' ॥ ७७ ॥

इदानीं 'समाप्ते द्वादशे वर्षे' (१११८१) इत्युपदेशाद्वादशवार्षिकस्य विशेषमाह—

#### फतवापनो निवसेद्धामान्ते गोत्रजेऽपि वा । आश्रमे दृक्षमूले वा गोत्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥

कृतेति ॥ त्यनकेशनखरमञ्जगीनाद्यणहिते रतो गोन्नाद्यणोपकारान्कुर्वन्या-मसमीपे गोष्ठपुण्यदेशवृक्षमूळान्यतमे निवसेत् । 'वने कुटीं कृत्वा' (११।७२) इत्यस्य विकव्पार्थमिदम् ॥ ७८ ॥

त्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्पेरित्यजन् । मुच्यते त्रह्महत्याया गोप्ता गोत्रीह्मणस्य च ॥ ७९ ॥

ब्राह्मणार्थे इति ॥ प्रकान्ते द्वादशवार्षिकेऽन्तराझ्युदकहिंसकाद्याकान्त-ब्राह्मणस्य गोर्वा परित्राणार्थे प्राणान्परिस्यजन् ब्रह्महस्याया मुच्यते । गोब्राह्मणं वा ततः परित्रायामृतोऽप्यसमासद्वादशवर्षोऽपि मुच्यते ॥ ७९ ॥

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्त्रमवजित्य वा । विप्रस्य तित्रमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

त्रिवारमिति ॥ स्तेनादिभिर्बाह्मणसर्वस्वेऽपहियमाणे तदानयनार्थं निर्धांजं यथाशक्ति प्रयत्नं कुर्वस्तत्र त्रिवारान् युद्धे प्रवर्तमानो नानीतेऽपि सर्वस्वे ब्रह्म-हत्यापापात्ममुच्यते । अथवा प्रथमवार एव विश्वसर्वस्वमपहृतं जित्वार्पयिति तथापि मुच्यते । यद्वा धनापहारकत्वेन स्वेनैव ब्राह्मणो युद्धेन मरणे प्रवर्तते तदा यद्यप्यपहृतसमधनदानेन तं जीवयति तदापि तिक्वमित्ते तस्य प्राणलाभे ब्रह्महत्यापापानमुच्यते । एतदितरप्रकारान्तरेण तु रक्षणे 'गोसा गोर्बाह्मणस्य च' (१११७९) इत्यपुनरुक्तः ॥ ८०॥

एवं दृढत्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥

एचिमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण सर्वदा नियमोपहितः खीसंयोगादिशून्यः संयतमनाः समाते द्वादरो वर्षे बह्महत्यापापं नाशयति । एवं 'ब्राह्मणार्थे' (११।७९) इत्यादि सर्वे प्रकान्तद्वादशवार्षिकस्य बोद्धव्यम् ॥ ८३॥

शिष्ट्रा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽवसृथस्नातो हयमेघे विग्रुच्यते ॥ ८२ ॥

शिष्ट्रेति ॥ अश्वमेधे ब्राह्मणानामृत्विजां क्षत्रियस्य यजमानस्य समागमेषु पाठा०—1 परिलजेत.

स्वं ब्रह्महत्यापापं शिष्ट्वा निवेद्यावस्थकातो ब्रह्महत्यापापानसुच्यते, द्वादश-वार्षिकस्योपसंहतत्वात् स्वत्व्रमेवेदं प्रायश्चित्तम् । तथा च भविष्यपुराणे— 'यदा तु गुणवान्विप्रो हन्याद्विप्रं तु निर्गुणम् । अकामतस्तदा गच्छेत्सानं चैवाश्वमेषिकम्'।गोविन्दराजस्तु—'अश्वमेधविवर्जितसकलप्रायश्चित्तरोषतोऽस्य प्रकान्तद्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यान्तरावस्थकाने तेनैव शुद्धिः' इत्याह । तद्युक्तम्; भविष्यपुराणवचनविरोधात् ॥ ८२ ॥

## धर्मस्यं ब्राह्मणो मूलमग्नं राजन्य उच्यते । तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य ग्रुध्यति ॥ ८३ ॥

धर्मस्येति ॥ यसाद्राह्मणो धर्मस्य कारणं ब्राह्मणेन धर्मोपदेशे कृते धर्मा-चुष्ठानाद्राजा तस्यायं प्रान्तं मन्वादिभिरुच्यते, ताभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां समूलाप्रधर्मतरुनिष्पत्तेः । तस्मात्तेषां समागमेऽश्वमेधे पापं निवेद्यावभ्रथस्नातः ग्रुध्यतीत्यस्यैव विशेषः ॥ ८३ ॥

## त्राक्षणः संभवेनैव देवानामि दैवतम् । प्रमाणं चैव लोकस्य त्रक्षात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

त्राह्मण इति ॥ ब्राह्मण उत्पत्तिमात्रेणैव किं पुनः श्वतादिभिर्देवानामपि पुज्यः सुतरां मनुष्याणां लोकस्य च प्रत्यक्षवत्त्रमाणम्, तदुपदेशस्य प्रामा-ण्यात् । यसात्तत्र वेद एव कारणं वेदमुलकत्वादुपदेशस्य ॥ ८४ ॥

यत एवमतः,---

## तेषां वेदविदो ब्र्युस्त्रयोऽप्येनःसुनिष्कृतिम् । सा तेषां पावनाय स्थात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥८५॥

तेषामिति ॥ तेषां विदुषां ब्राह्मणानां मध्ये वेदज्ञास्त्रयोऽपि किमुताधिकाः, यत्पापनिर्हरणाय प्रायश्चित्तं ब्र्युस्तत्पापिनां विशुद्धये भवति । यस्माद्विदुषां वाक् पावयित्री, ततश्च प्रकाशप्रायश्चित्तार्थं विदुषामपि परिषद्वद्दयं कार्या । रहस्यप्रायश्चित्ते पुनरेतन्नास्ति, रहस्यत्विदिधात् ॥ ८५ ॥

#### अतोऽन्यतममास्थाय विधि विष्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

अत इति ॥ अस्मात्त्रायश्चित्तगणादन्यतमं प्रायश्चित्तं ब्राह्मणादिः संयतमना आश्चित्य प्रशस्तार्थतया ब्रह्महत्याकृतं पापमपनुदति । एतच ब्रह्मवधादिप्राय-श्चित्तविधानं सकृत्पापकरणविषयं, पापावृत्तौ त्वावर्तनीयम् । 'एनसि गुरुणि

पाठा०-1 हत्वा विप्रं.

१ 'धर्मस्य' इत्यादिश्होक्तत्रयं परिषद्भमनस्तुत्यर्थकम्.

गुरूणि लघुनि लघूनि'इति गौतमस्मरणात्। 'पूर्णे चानस्यनस्थां तु श्रद्भहत्यावतं चरेत्' (१११४०) इति बहुमारणे प्रायश्चित्तवहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच। 'विधेः प्राथमिकादस्माद्भितीये द्विगुणं स्मृतम् । मृतीये त्रिगुणं प्रोक्तम्' इति गौतमस्परणात् । गृहदाहादिना युगपदनेकश्राह्मणहनने तु भविष्यपुराणीयो विशेषः— 'ब्राह्मणो ब्राह्मणं वीर ब्राह्मणो वा बहून्गुह। निहस्य युगपद्वीर एकं प्राणान्तिकं चरेत् ॥ कामतस्तु यदा हन्याह्माह्मणान्सुरसत्तम । तदात्मानं दहेदग्री विधिना येन तच्छृणु ॥' एतचाज्ञानविषयं सर्वमेवैतत् । तथा 'अकामतो यदा हन्याह्मह्मणान्त्राह्मणो गुह । चरेद्वने तथा घोरे यावत्प्राणपरिस्थम् ॥' एतचाज्ञानवधे प्रकृतत्वाद्य गपन्मारणविषयम् । क्रममारणे तु 'विधेः प्राथमिकादस्मात्' इत्यावृत्तिविधायकं वेदवचनम् ॥ ८६॥

## हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् । राजन्यवैक्यो चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

हत्वेति ॥ प्रकृतत्वाद्वाह्मणगर्भविषयं स्त्रीपुंनपुंसकत्वेनाविज्ञातं क्षत्रियं वेश्यं च यागप्रवृत्तं हत्वा आत्रेयीं च स्त्रियं ब्राह्मणीं 'तथात्रेयीं च ब्राह्मणीम्' इति यमस्परणात् । इत्वा ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं कुर्यात् । आत्रेयी च रजस्वला ऋतुस्नातोच्यते । 'रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीम्' इति वसिष्ठस्परणात् । एवं चानात्रेयीबाह्मणीवधे त्रैवार्षिकमुपपातकम्। यथोक्तम् (१११६६)–'स्त्रीकुद्भविद्ध-क्षत्रवधः' इति । यत्त्तरक्षोके 'कृत्वा च स्त्रीसुहद्भधम्' (११।८८) इति तदा-हिताग्निबाह्मणस्य ब्राह्मणीभार्याविषयम् । तथा चाङ्गिराः-'आहिताग्नेबाह्मणस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् । ब्रह्महत्यावतं कुर्यादात्रेयीग्नस्तथैव च'॥ ८७॥

## ं उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा । अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

उक्त्वेति ॥ हिरण्यभूम्यादियुक्तसाक्ष्येऽनृतसुक्त्वा, गुरोश्च मिथ्याभिशा-पसुत्पाद्य, निक्षेपं च ब्राह्मणसुवर्णाद्दन्यद्रजतादि द्रव्यं, क्षत्रियादेः सुवर्णमपि चापहृत्य, स्त्रीवथं च यथान्याख्यातं कृत्वा मित्रं चाब्राह्मणं इत्वा ब्रह्महत्या-प्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ ८८ ॥

## इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामती द्विजम्। कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥

इयमिति ॥ एतत्तु प्रायित्रतं विशेषोपदेशमन्तरेणाकामतो ब्राह्मणवधेऽ-भिहितम् । कामतस्तु ब्राह्मणवधे नेयं निष्कृतिनैतत्प्रायश्चित्तं किंत्वतो द्विगु-णादिकरणात्मकमिति प्रायश्चित्तगौरवार्थं नतु प्रायश्चित्ताभावार्थम् । 'कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः' (११।४६) इति पूर्वोक्तिविरोधात् ॥ ८९॥

#### सुरां पीत्वा द्विजो मोहाद्गिवणाँ सुरां पिवेत् । तया स काये निर्देग्धे मुच्यते किल्विषात्ततः ॥ ९०॥

सुरामिति॥ 'सुरा'शब्दः पैष्टीमात्रे सुख्यो नतु गौडीमाध्वीपेष्टीषु त्रितयानुगन्तैकरूपाभावात्प्रत्येकं च शक्तिकरूपने शक्तित्रयकरूपनागौरवप्रसङ्गात् । गौड्या-दिमदिरासु गुणवृत्त्यापि 'सुरा'शब्द्ययोगोपपत्तेः । अत एव भविष्यपुराणे—'सुरा च पैष्टी सुख्योक्ता न तस्यास्त्वितरे समे । पैष्ट्याः पानेन चैतासां प्राय-श्चित्तं निवोधत ॥ मनुनोक्तं महाबाहो समासब्यासयोगतः ।' एतासामिति निर्धारणे षष्टी । एतासां गौडीमाध्वीपेष्टीनां प्रकृतानां मध्ये पैष्टीपाने मनूकं प्रायश्चित्तं 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहात्' इति निवोधतेत्यर्थः । सुख्यां सुरां पैष्टीं रागादिन्यासूदत्या द्विजो बाह्यणादिश्च पीत्वाऽभिवणी सुरां पिवेत् । तथा सुरया शरीरे निर्देग्धे सति द्विजससात्पापान्युच्यते। एतच गुरुत्वात्कामकार-कृतसुरापानविषयम् । तथा च वृहस्पतिः—'सुरापाने केमकृते ज्वरून्तीं तां विनिक्षिपेत् । सुखे तथा स निर्देग्धो सृतः झुद्धिमवाप्नुयात्' ॥ ९० ॥

## गोमुत्रमग्निवर्णं वा पिवेदुदकमेव वा।

पयो घृतं वाऽऽमरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥९१॥

गोमूत्रमिति ॥ गोमूत्रजलगोक्षीरगब्यष्टतगोमयरसानामन्यतममप्तिस्पर्सं इत्वा यावन्मरणं पिवेत् ॥ ९१ ॥

#### कणान्वा मक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सक्तिश्रि । सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

कणान्वेति ॥ अथवा गोरोमादिकृतवासा जटावान् सुराभाजनिद्धः सूक्ष्मतण्डुलावयवानाकृष्टतेलं तिलं वा रात्रावेकवारं संवत्सरपर्यन्तं सुरापा-नपापनाशनार्थं भक्षयेत् । इदमबुद्धिपूर्वकमसुख्यसुरापाने दृष्टब्यं, नतुं गुणा-न्तरवैकित्पकं लघुत्वात् ॥ ९२ ॥

#### सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते । तसाद्वाह्मणराजन्यौ वैभ्यश्च न सुरां पिवेत् ॥ ९३ ॥

सुरेति ॥ यसात्तण्डुलपिष्टसाध्यत्वात्सुराऽन्नमलम् । 'मलं शब्देन च पाप-मुच्यते । तसाद्वाह्मणक्षत्रियवैश्याः पैष्टीं सुरां न पिनेयुरित्यनेन प्रतिषेधे सति एतद्तिक्रमे 'सुरां पीत्वा' (१११०) इति प्रायश्चित्तम् । अन्नमलानुवादास पैष्टीनिषेध एव स्फुटस्वैवर्णिकस्य मनुनैवोक्तः ॥ ९३ ॥

#### पाठा०-1 द्विजोऽमोहात् (=मतिपूर्वकं).

१ अत्र 'द्विज'शब्द: नेवलविप्रविषयक इति प्रतीयते, 'बाह्मणस्य उष्णां वा पिनेयुः सुराम्' इत्यादि स्मृत्यन्तरोक्तः. २ 'अमोहात्' इति मूलपाठः समीचीनः, वसिष्ठादि-स्मृत्यन्तरैः सुसङ्गतत्वात्.

#### गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातच्या द्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥

गौडीति ॥ या गुडेन कृता सा गौडी, एवं पिष्टेन कृता पैष्टी, मधुकबृक्षो मधुस्तरपुष्पैः कृता सा माध्वी एवं त्रिप्रकारा सुरा जायते । मुख्यसुरासाम्य-निबोधनमितरसुरापेक्षया बाह्यणस्य गौडीमाध्वीपाने पायश्चित्तगौरवार्थम् । यथा वैका पैष्टी मुख्या सुरा पूर्ववाक्यानिषिद्धत्वाष्ट्रैवर्णिकस्यापेक्षया तथा पूर्वा गौडी माध्वी च द्विजोत्तमैर्न पातब्या ॥ ९४ ॥

#### यक्षरक्षःपिशाचानं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्वाह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्रता हविः ॥ ९५ ॥

यक्षेति ॥ मद्यमत्र निषिद्धपैष्टीगौडीमाध्वीव्यतिरिक्तं नविधं बोद्धव्यम् । तान्याद्द पुरुस्यः—'पानसद्दाक्षमाध्वीकं खार्जूरं तारूमैक्षवम् । माध्वीकं टाक्कमार्द्दीकमैरेयं नालिकेरजम् । सामान्यानि द्विजातीनां मद्यान्येकादशैव च । द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥' मांसं च प्रतिषिद्धम् । सुरा च त्रिप्रकारा प्रोक्ता । अस्यत इत्यासवो मद्यानामवस्थाविशेषः । सद्यःकृतसंधानाः संजातमद्यस्वभावः । यमधिकृत्येदं पुरुस्त्योक्तप्रायश्चित्तम् । 'द्राह्मेक्षुटक्कखर्जूरपनसादेश्च यो रसः । सद्योजातं तु पीत्वा तु ज्यद्वाच्छुध्येद्विज्ञोत्तमः ॥' एवं मद्यादिचतुष्टयं यक्षरक्षःपिशाचसंबन्ध्यन्नं ततसद्भाद्याणेन देवानां हविभेक्षयता नाशितव्यम् । निषद्धायाः सुराया इहोपादानं यक्षर-क्षःपिशाचान्नतया निन्दार्थम् । अत्र केचित्-'देवानामक्षता हविः' इति पुंलिक्तिनेशाद्वाह्यणस्य पुंस एव मद्यप्रतिषेधो न स्त्रिया इत्याहुः । तदसत् ; 'पितिलोकं न सा याति बाह्यणी या सुरां पिवेत् । इहैव सा धुनी गृधी सूक्ररी चोपजायते ॥' (या.स्ट.पा. ५।२५६) इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिविरोधात् ॥९५॥

#### अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् । अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा बाह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

अमेध्य इति ॥ ब्राह्मणो मद्यपानमदम्दनुद्धिः सन्नशुर्ची वा पतेत्, वेद-वाक्यं वोचारयेत्, ब्रह्महत्याद्यकार्यं वा कुर्यात्, अतस्तेन मद्यपानं न कार्यमिति पूर्वस्थैवानुवादः ॥ ९६ ॥

> यस कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् । तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं श्रुद्धत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥

यस्पेति ॥ यस ब्राह्मणस्य कायगतं ब्रह्म वेदः संस्काररूपेणावस्थितः एकदेहत्वात् जीवात्मा एकवारमपि मचेनाप्लान्यते तथा चैकवारमपि यो

पाठा०—1 °न्मत्तोऽवैदिकं ( =म्लेच्छभाषितम् ).

१ केचित्तु-'माघ्वी'शब्देन द्राक्षारसकृता सुरेलाहु:.

ब्राह्मणो मद्यं पिवति तस्य ब्राह्मण्यं व्यपैति स ग्रूड्तां समामोति । तसा-न्मद्यं सर्वथैव न पातव्यम् ॥ ९७ ॥

एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८॥

एषेति ॥ इदं सुरापानजनितपापस्य नानाप्रकारं प्रायश्चित्तम् । तस्मात् परं बाह्मणसुवर्णहरणपापस्य निष्कृतिं वक्ष्यामि ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्वित्रो राजानमभिगम्य तु ।

खकर्म ख्यापयन्त्र्यान्मां भवानजुद्यास्त्वित ॥ ९९ ॥

सुचर्णेति ॥ 'अपहत्य सुवर्णं तु ब्राह्मणस्य यतः स्वयम्' इति शातातप-स्नरणाद्वाह्मणसुवर्णचौरो ब्राह्मणो राजानं गत्वा ब्राह्मणसुवर्णापहारं स्वीयं कर्मे कथयनमम निप्रहं करोत्विति ब्रूयात् । 'ब्राह्मण'प्रहणं मनुष्यमात्रप्रदर्शनार्थम् । 'प्रायश्चित्तीयते नरः' (११।४४) इति प्रकृतत्वात्क्षत्रियादीनां च प्रायश्चित्ता-नतरानिभधानात् ॥ ९९ ॥

> गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्याचु तं खयम् । वधेन ग्रुष्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसेव वा ॥ १००॥

गृहीत्वेति ॥ 'स्कन्धेनादाय मुसलम्' (८१३१६) इत्यादेरुक्तत्वात्तेनापितं मुसलादिकं गृहीत्वा स्तेयकारिणं मनुष्यमेकवारं राजा स्वयं इन्यात्। स च स्तेने वधेन मुसलाभिवातेन 'इतो मुक्तोऽपि वा श्रुविः' (या. स्ट. प्रा. ५१२५७) इति याज्ञवल्क्यसरणान्मृतो वा मृतकल्पो वा जीवंस्तसात्पापान्मुच्यते। ब्राह्मणः पुनः 'तपसैव वा' इत्येवकारदर्शनात्। तथा च-'न जातु ब्राह्मणं इन्यात्सर्वपापेष्विप स्थितम्' (८१३८०) इति तपसैव श्रुध्यति। अत एव मन्वर्थव्याल्यान्परे मविष्यपुराणे-'यदेतद्वचनं वीर ब्राह्मणस्तपसैव वा। तत्रेव कारणाद्विद्वन् ब्राह्मणस्य सुराधिप। तपसैवेत्यनेनेह प्रतिषेघो वधस्य तु।' 'वै।'शब्दश्च क्षत्रियादीनामपि तपोविकल्पार्थः। ब्राह्मणस्य तु तप एवेति नियमो नतु ब्राह्मणस्यैव तपः। अत एव भविष्यपुराणे-'इतरेषामपि विभो तपो न प्रतिषिध्यते' इति॥ १००॥

तदेव तप भाइ-

तपसाऽपनुजुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् । चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्रह्महणो व्रतम् ॥ १०१ ॥ तपसेति ॥ तपसा स्वर्णस्तेयोत्पन्नं पापं द्विजो निर्हर्तुमिच्छन् 'अरण्य'म्हणा-

पाठा०-1 तु.

१ केलिक्वत्र 'वा'शब्दो गायत्रीजपविकल्पार्थकः; 'गायत्र्यास्तु जपन्कोटि ब्रह्महत्यां व्यपोद्दति । लक्षाशीतिं जपेवस्तु सुरापानात्प्रमुच्यते' इति स्मरणादित्यादुः.

अध्यायः ११

स्प्राथम्याच बहाहणि यद्रतमुक्तं तत्कुर्यात् । एतच द्वादशवार्षिकं क्षेशगौरवात्क्ष-त्रियादीनां मरणेन विकल्पितत्वाश्व बाह्मणसंबन्धिनः सुवर्णापहरणे 'पञ्चकृष्ण-लको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडका' (८।१३४) इति सुवर्णपरिमाणं द्रष्टब्यं, न ततो न्यूनस्य । परिमाणापेक्षया मनुक्तपरिमाणस्य ग्रहीतुं न्याय्यत्वात् । यत्त्विध-कपरिमाणं भविष्यपुराणे श्रूयते तत्तथानुबन्धविशिष्टापहारे तथाविधप्रायश्चि-त्तविषयमेव । तथा भविष्यपुराणे—'क्षत्रियाद्यास्त्रयो वर्णा निर्गुणा स्वधत-त्पराः । गुणाड्यस्य तु विश्रस्य पञ्च निष्कान्दरन्ति चेत् ॥ निष्कानेकादश तथा दग्ध्वात्मानं तु पावके । शुध्येयुर्मरणाद्वीर चरेद्रह्मात्मशुद्धये' ॥ १०१ ॥

#### एतैव्रेतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः । गुरुस्नीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत ॥ १०२ ॥

प्तैरिति ॥ बाह्यणसुवर्णस्तेयजनितपापमेभिर्वतीर्द्वेजो निर्हरेत् । व्रततप-सोर्द्वयोरुकत्वादेतैरिति बहुवचनं संबन्धापेक्षया मनुक्तमपि प्रायश्चित्तं कल्प-नीयमिति ज्ञापनार्थम् । गुरुखीगमननिर्मित्तं पुनः पापमेभिर्वक्ष्यमाणैः प्राय-श्चित्तैर्निर्हरेत् ॥ १०२ ॥

#### गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते खप्यादयोमये । सूर्मी ज्वलन्तीं वाश्लिष्येनमृत्युना स विशुध्यति ॥१०३॥

गुर्विति ॥ 'निषेकादीनि कर्माणि' (२।१४२) इत्युक्तत्वाद्भुरः पिता, तल्पं भार्या, गुरुतल्पं गुरुभार्या तद्गामी गुरुभार्यागमनपापं विख्याप्य लोहमये तप्तशयने खप्यात् । लोहमयीं खीप्रतिकृतिं कृत्वा ज्वलन्तीमालिङ्ग्य मृत्युना सं विद्युद्धो भवति ॥ १०३ ॥

#### खयं वा शिश्वदृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ । नैर्ऋतीं दिश्रमातिष्ठेदानिपातादजिक्षगः ॥ १०४॥

स्वयं वेति ॥ भारमनैव वा लिङ्गवृषणौ छित्त्वाऽञ्जलौ कृत्वा यावच्छरीर-पातमवकगतिः सन्दक्षिणपश्चिमां दिशं गच्छेत्। एवं चोक्तप्रायश्चित्तद्वयं गुरु-त्वात्सवर्णगुरुभार्याविषयं ज्ञानतो रेतोविसर्गपर्यन्तमैथुनविषयम् ॥ १०४ ॥

#### खद्वाङ्गी चीखासा वा अमश्रुलो विजने वने । प्राजापत्यं चरेत्क्रुच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥

खद्वाङ्गे मृद्ध खलण्डा च्छन्नोऽच्छिन्नकेशन खलोम रम्भुधारी संयतमना निर्जने वने वर्षमेकं प्राजापत्यवतं चरेत्। एवं च वक्ष्यमाणप्राय-श्चित्तरुष्टुत्वात्स्वभार्यादिञ्जमेणाज्ञानविषयं बोद्धन्यम् ॥ १०५ ॥

<sup>े</sup> के के नितु - 'खट्टाक् सन्देन तिक्दतयात्र 'खट्टाया दण्डः' आबा इलाहः; अपरे च पृष्ठवंशासियद्रणसाद्धः। अन्ये तु सूल्यार्णं समधेयन्ते.

#### चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्थेन्नियतेन्द्रयः । इविष्येण यवाग्वा वा गुरुतस्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

चान्द्रायणमिलादि ॥ यहा गुरुभार्यागमनपापनिर्देशाय संयतेन्द्रियः फलमूलादिमा हविष्येण नीवारादिकृतयवाग्वा वा त्रीन्मासांश्चानद्रा-यणान्याचरेत् । एतच्च पूर्वोक्तादपि लघुत्वादसाध्वीमसवर्णां वा गुरुभार्या गच्छतो द्रष्टन्यम् ॥ १०६ ॥

> एतैर्वतैरेपोहेयुर्महापातिकनो मलम् । उपपातिकनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्वतैः ॥ १०७॥

एतैर्नतैरित्यादि ॥ एभिरुक्तवर्तेर्वहाहत्यादिमहापातककारिणः पापं निर्ह-रेयुः । गोवधाद्यपपातककारिणः पुनर्वक्ष्यमाणप्रकारेणानेकरूपव्रतेः पापानि निर्हरेयुः ॥ १०७ ॥

> उपपातकसंयुक्ती गोन्नो मासं यवान्पिबेत् । कृतवापो वसेद्रोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥ चतुर्थकालमश्रीयादश्वारलवणं मितम् । गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥ दिवानुगच्छेद्रास्तास्तु तिष्ठकूर्ध्वं रजः पिबेत्। शुश्रुषित्वा नमस्कृत्य रात्री वीरासनी वसेत् ॥ ११०॥ तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेतु त्रजन्तीष्वप्यनुत्रजेत् । आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ १११ ॥ आतुरामभिश्वस्तां वा चौरव्याव्रादिभिर्भयैः। पतितां पङ्कलयां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥ उज्जो वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम्। न क्वीतात्मनस्मणं गोरकत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥ आत्मनो यदि वाब्न्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खरे । मक्षयन्तीं न कथैंचेत्पिंबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥ अनेन विधिना यस्तु गोन्नो गामनुगच्छति । स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिमसिव्यपोहति ॥ ११५ ॥

उपपातकेति ॥ 'भनेन विधिना यस्तु' (११।११५) इति यावत्कुलकम् । खपपातकयुक्तो गोघाती शिथिलयवागूरूपेण प्रथममासं यवान्पिनेत् । सशिखं

पाठा०—1 सर्वप्राणै°. 2 °द्धयन्तं चैव.

ा अध्यायः ११

मण्डितशिरा लनसम्बन्धेन हतगोचर्मणाच्छादितदेहो मासत्रयमेव गोष्ठे वसेत् । गोमन्नेणाचरेत्स्नानं संयतेन्द्रियः क्रिन्नस्वणवर्जितं हविष्यमस्मेकाहं भक्ता द्वितीयेऽहि सायं द्वितीयत्तीयमासावशीयात । मासत्रयमेव दिवा शातस्ता गा भनगच्छेत् । तासां च गवां खरप्रहारादर्धमस्थतं रजस्तिष्टसा-स्वादयेत । कण्डयनादिना ताः परिचर्य प्रणम्य च रात्रौ भिरवादिकमननुवे-क्योपविष्ट आसीत । तथा अचिर्विगतकोध उत्थितास गोप्र पश्चाद्रचिष्ठेत । वने च परिश्रमन्तीषु पश्चात्ततः परिश्रमेत् । उपविष्टासु गोष्पविशेत् । व्याधितां चौरव्याघादिभयहेत्भिराकान्तां पतितां कर्दमल्यां वा यथाशक्ति मोचयेत्। तथा उष्ण भादिसे तपति मेघे च वर्षति शीते चोपस्थिते मारुते चासर्थं वाति गोर्थथाशक्ति रक्षामकत्वात्मनस्राणं न कर्यात । तथात्मनोऽन्येषां वा गेहे क्षेत्रे खलेषु सत्यादि भक्षणं कुर्वन्तीं वरसं च क्षीरं पिबन्तं न कथ्येत् । अनेनोक्तविधानेन यो गोझो गाः परिचरति स गोवधजनितपापं त्रिभिर्मासैरपन्तदति १०८-११५

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सचरितवतः।

अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भचो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

वृषभैकादशा इति ॥ वृषभ एकादशो यासां ताः सम्यगन्ष्रितप्रायश्चित्तो द्यात् । अविद्यमाने तावति धने सर्वस्वं वेदज्ञेभ्यो बाह्मणेभ्यो दद्यात ११६

#### एतदेव व्रतं क्र्युरुपपातिकनो द्विजाः।

अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥ एतदेवेति ॥ अपरे तपपातिकनो वक्ष्यमाणावकीर्णिवर्जिताः पापनिर्हरणा-र्थमेतदेव गोवधप्रायश्चित्तं चान्द्रायणं वा लघुत्वात्कुर्युः । चान्द्रायणं तु लघु-न्युपपातके जातिशक्तिगुणाद्यपेक्ष्य वा योजनीयम् ॥ ११७ ॥

> अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे। पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋति निश्चि ॥ ११८ ॥

अवकीर्णी त्विति ॥ भवैकीर्णी वस्यमाणः काणेन गर्दभेन रात्रौ चतुष्पये पाकयज्ञेन तम्रेण निर्ऋत्याख्यां देवतां यजेत् ॥ ११८ ॥

हुत्वाग्रौ विधिवद्धोमानन्ततश्च सैमित्युचा । वातेन्द्रगुरुवह्वीनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥

हत्वेति ॥ ततो निर्ऋत्ये गर्दभवपादिहोमान्यथावचतुष्पथे कृत्वा तदन्ते

पाठा॰—1 ॰न्संततञ्च (=अविच्छिन्नधारं). 2 समेत्यचा.

१ राधवानन्द्रस्त अत्र व्रतत्रयमेवोजितं, मासत्रयसाध्यमेकं 'त्रिभिर्मासैर्व्य-पोहति' इत्युपसंहाराद्वाह्मणधेनुनिषयं; तदितर्थेनुनिषयं चोपोपणपुरस्तरं गनामेनादशक-दानं, अज्ञानेन गोमात्रवथे तु सर्वस्वदानमित्याह. २ अवकीणिप्रायश्चित्तविधिस्तु गौतमेनोक्त:-'सोमानास्यायां निश्यग्निमुपसमाधाय प्रायश्चिक्ताज्याद्वतीर्जुहोति' (गौ. स्पृः २६।२) इत्यादिना. 

'सं मा सिञ्चन्तु मरुतः'(अथर्व ७।३३।१) इत्येतया ऋचा मारुतेन्द्रबृहस्प-त्यमीनां घृतेनाहुतीर्जुहुयात् ॥ ११९॥

अप्रसिद्धत्वादवकीर्णवतो लक्षणमाह—

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः । अतिक्रमं व्रतस्थाहुर्धमैज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२०॥

कामत इति ॥ इच्छातो द्विजः 'अवकीणीं भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी चे योषि-तम्' (या. स्ट. प्रा. ५।२८१) इति वचनात्स्त्रीयोनौ छुकोत्सर्गं ब्रह्मचर्यस्याति-क्रममवकीर्णरूपं सर्वज्ञा वेदविदः प्राहुः ॥ १२०॥

> मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च । चतुरो त्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥

मारुतमिति ॥ वतचारिणो वेदाध्ययननियमानुष्ठानजं तेजः तदवकीर्णिनः सतो मरुदिनद्रबृहस्पतिपावकांश्चतुरः संकामित । अतस्तेभ्य आज्याहुतीर्जुहुया-दित्याज्याहुतेरयमनुवादः ॥ १२१ ॥

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् । सप्तागारांश्वरेद्धेक्षं खकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

एतसिमिन्निति ॥ एतसिम्बनकीर्णाख्ये पाप उत्पन्ने पूर्वोक्तं गर्दभयागादि कृत्वा 'गर्दभचर्म परिधाय' इति हारीतसरणात्स गर्दभसंबन्धिचर्मप्रावृ-तोऽवकीर्ण्यहमिति स्वकर्मख्यापनं कुर्वन्सस गृहाणि भैक्षं चरेत् ॥ १२२ ॥

> तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयनेककालिकम् । उपस्पन्नांस्निषवणं त्वब्देन स विग्रध्यति ॥ १२३ ॥

तेभ्य इति ॥ तेभ्यः सप्तगृहेभ्यो छन्धेन भैन्नेणैककालमाहारं ऊर्वन्सायं-प्रातमेध्यन्दिनेषु च स्नानमाचरन्सोऽवकीणीं संवत्सरेणैव विशुध्यति ॥१२३॥

> जातिश्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतमिम्छया । चरेत्सांतपनं कृच्छुं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

जातीति ॥ 'ब्राह्मणस्य रूजः कृत्वा' (१११६७) इत्यादि जातिअंशकमोंकं तन्मध्यादन्यतमं कर्मविशेषमिच्छातः कृत्वा वश्यमाणं सांतपनं सप्ताहसाध्यं कुर्यात् । अनिच्छातः पुनः कृत्वा प्राजापसं वश्यमाणं चरेत् ॥ १२४ ॥

पाठा०-1 °स्त्रिषवणमब्देन.

१ 'सं मा सिख्चन्तु मरुतः सिमन्द्रः स बृहस्पतिः । सं चायमिकः सिर्ब्वेतु प्रजया च धनेन च ॥' इत्यथवंवेदीयेयं ऋक्.

# संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् । मिलनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैक्रयहम् ॥ १२५॥

संकरेति ॥ 'खराश्चोष्ट्र-' (११।६८) इत्यादिना संकरीकरणान्युक्तानि । 'निन्दितेम्यो धनादानम्' (११।६९) इत्यादिना चापात्रीकरणान्युक्तानि । तेषां मध्यादन्यतमिन्छातः इत्या चान्द्रायणं मासं शुद्धये कुर्यात् । 'क्रमिकीटवयोहत्या' (११।७०) इत्यादिना मिलनीकरणान्युक्तानि । तन्मध्यादेकमिन्छातः कृत्वा त्रिरात्रं यवागं कथितामश्रीयात् ॥ १२५॥

# तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः । वैश्येऽष्टमांश्रो वृत्तस्ये शुद्रे ज्ञेयस्तु षोडग्नः ॥ १२६ ॥

तुरीय इति ॥ त्रसहत्यातुरीयो भागः त्रैवार्षिकरूपो द्वाद्शवार्षिकस्य चतुर्थो भागः। एतच प्रायश्चित्तं 'खीशूद्रविद्दश्चत्रवधः' (१११६६) इत्युप-पातकत्वेनोपदिष्टं त्रैवार्षिकत्वापेक्षया गुरुत्वाद्वृत्तस्थक्षत्रियस्य कामतो वधे द्रष्टन्यम्। वैश्ये साध्वाचारे कामतो इतेऽष्टमो भागः सार्धवार्षिकं व्रतम्। शूद्रे वृत्तस्थे कामतो हते नवमासिकं द्रष्टन्यम्॥ १२६॥

#### अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः । वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितवतः ॥ १२७ ॥

अकामत इति ॥ अबुद्धिपूर्वकं पुनः क्षत्रियं निहत्य वृषभेणैकेनाधिकं सहस्रं यासां गर्वा ता आत्मग्रुद्धार्थं ब्राह्मणेभ्यो दचात् ॥ १२७ ॥

# त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् । वसन्द्रतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८॥

ज्यब्द्मिति ॥ यद्वा संयतो जटावान्प्रामाद्विप्रकृष्टवृक्षमूले कृतिन्वासो ब्रह्मित यदुकं 'ब्रह्महा द्वादश समाः' (११।७२) इत्यादि तद्वर्षत्रयं द्ध्यात् । नतु 'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः' (११।१२६) इत्यनेन पुनरुक्तिर्वाच्या । 'जटी दूरतरे प्रामाद्वश्रमूलनिकेतनः' इति वचनाद्यतिरिक्तश्वशिरोध्वजधारणादिसकलः धर्मनिवृत्यर्थत्वादस्य प्रन्थस्य । अकामाधिकाराज्ञेदमकामतः । अत एवाङ्ग-लिववाद्युचितम् ॥ १२८॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजीत्तमः । प्रमाप्य वैक्यं वृत्तस्यं दैद्याद्वैकक्षतं गवाम् ॥ १२९ ॥

प्तदिति ॥ एतदेव द्वादशवार्षिकवतमकामतः साध्वाचारं वैदयं निहस्य वर्षेमेकं ब्राह्मणादिः क्र्यदिकाधिकं वा गोशतं द्रधात् ॥ १२९ ॥

पाठा०—1 °मैन्दनः, 2 ददाचैकरातं.

र्एतदेव त्रतं कृत्स्नं पण्मासान् श्रूद्रहा चरेत् । वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३० ॥

एतिदिति ॥ एतद्प्यकामत इदमेव वर्तं श्रृद्धहा षण्मासं चरेत् । वृषम एकादशो यासां गवां ताः श्रुक्षवणी बाह्यणाय द्यात् ॥ १३०॥

> मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च । श्वगोधोत्क्षकाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥

मार्जारेति ॥ विडालनकुङचाषमेककुकुरगोधापैचककाकानामेकैकं हत्वा शृद्रहत्यावतं 'स्त्रीशृद्रवध' (११।६६) इत्युपपातकप्रायश्चित्तं गोवधवतं चान्द्रा-'यणं चरेत्, नतु 'श्रृद्धे सेयस्तु षोडशः' (११।१२६) इत्यादि प्रायश्चित्तं, पापस्य लघुत्वात् । चान्द्रायणमप्येतत्कामतोऽभ्यासादिविषये द्रष्टव्यम् ॥ १३१ ॥

> पयः पिवेत्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् । उपस्पृशेत्स्वन्त्यां वा सक्तं वाऽब्दैवतं जपेत् ॥ १३२ ॥

पय इति ॥ अबुद्धिपूर्वकं मार्जारादीनां वधे त्रिरात्रं क्षीरं पिबेत् । अथ मन्दानल्यवादिना न समर्थेखिरात्रं प्रतियोजनमध्वनो व्रजेत् । अत्राक्षक्षिरात्रं नद्यां स्नायात् । तत्राप्यक्षमिखरात्रं 'आपो हि छा' (क्र. सं. ७।६।५) इत्यादिसूक्तं जपेत् । यथोत्तरं लघुत्वात्पूर्वपूर्वासंभवे उत्तरोत्तरपरिग्रहो नतु वैकल्पिकः ॥ १३२ ॥

> अभि कार्ष्णायसीं द्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः। पलालभारकं षण्टे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३॥

अभिमिति ॥ सर्पं हत्वा ब्राह्मणाय तीक्ष्णाञ्चं लोहदण्डं द्यात् । नपुंसकं हत्वा पळाळभारं सीसकं च माषकं ब्राह्मणाय द्यात् ॥ १३३ ॥

घृतक्रमभं वराहे तु तिलद्रोणं तु तिचिरौ ।

शुके दिहायनं वत्सं क्रीश्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३४॥ चृतेति ॥ सूकरे हते इतपूर्णं घटं बाह्मणाय द्यात् । तिचिरिसंज्ञिन पक्षिणे हते चतुराढकपरिमाणं तिङं द्यात् । शुके हते द्विवर्षं वत्सम् । क्रीश्चार्थं पक्षिणं हत्वा त्रिवर्षं वत्सं बाह्मणाय द्यात् ॥ १३४॥

हत्वा हंसं बलाकां च वकं बहिंणमेव च । वानरं रुयेनभासी च स्पर्शयेद्घाह्यणाय गाम् ॥ १३५॥ इत्वेति ॥ इंसबळाकामयूरवानररुयेनभासाख्यपक्षिणामन्यतमं इत्वा बाह्यणाय गां द्यात्॥ १३५॥ वासो द्वाद्धयं हत्वा पश्च नीलान्द्वषान्गजम् । अजमेपावनङ्चाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

वास इति ॥ अश्वं हत्वा वस्वं द्यात् । हस्तिनं हत्वा पञ्च नीलान्वृषभा-न्द्यात् । प्रत्येकं छागमेषौ हत्वा वृषभं द्यात् । गर्दभं हत्वैकवर्षं वत्सं दृषात् ॥ १३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेतुं द्यात्पयस्त्रिनीम् ।

अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३७॥

ऋव्यादानिति ॥ आममांसभक्षिणो मृगान्त्याघादीन्हत्वा बहुक्षीरां धेनुं दद्यात् । आममांसभक्षकान्हरिणादीन्हत्वा प्रौडवत्सिकां दद्यात् । उष्ट्रं हत्वा सुवर्णकृष्णळं रक्तिकां द्यात् ॥ १३७ ॥

जीनकार्भुकवस्तावीनपृथग्दद्याद्विशुद्धये ।

चतुर्णामपि वर्णानां नारीईत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥

[ वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः।

अमला च प्रमाप्य स्त्रीं श्रुद्रहत्यात्रतं चरेत् ॥ ]

जीनेति ॥ ब्राह्मणादिवर्णस्त्रियो लोभादुत्कृष्टापकृष्टपुरुषव्यभिचारिणीईत्वा ब्राह्मणादिक्रमेण चर्मपुटधनुरुलामेषान्द्युद्धार्थं द्यात् ॥ १३८ ॥

दानेन वधनिणेंकं सर्पादीनामशक्रुवन् ।

एकैकशश्चरेत्कुच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥

दानेनेति ॥ अञ्चित्रभृतीनामभावाद्दानेन सर्वपापनिर्हरणं कर्तुमसमर्थो ब्राह्म-णादिः प्रत्येकं वधे कृच्छं प्राथम्यात्प्राजापत्यं द्विजः पापनिर्हरणार्थं चरेत्। सर्पाद्यक्ष 'आश्चिं कार्ष्णायसीं द्यात्' (११।१३३) इत्येवमारभ्येतत्पर्यन्ता गृह्यन्ते ॥ १३९ ॥

अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे । पूर्णे चानस्थनस्थ्रां तु शुद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

अस्थिमतामिति ॥ अनिश्यसाहचर्यादस्थिमतां प्राणिनां कृकलासादीनां सहस्रस्य वधे शूद्रवधप्रायश्चित्तमौपदेशिकं कुर्यात् । अस्थिरहितानां च मत्कु-णादीनां शकटपरिमितानां वधे तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ १४० ॥

किंचिदेव तु विप्राय दद्यादिश्यमतां वधे ।

अनस्थ्रां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति ॥ .१४१ ॥ किंचिदिति ॥ अस्थिमतां श्चद्रजन्त्नां कृकलासादीनां प्रत्येकं वधे किंचिदेवे

१ 'अष्टमुष्टिभैनेत् किंचित् किंचिश्चलारि पुष्पलम् । पुष्पलाने च चत्नारि पूर्णपात्रं विधीयते' इत्युक्तः 'किंचित्'राब्देनाष्टमुष्टि दद्यादिति केचिदाद्यः

द्यात्। अस्थिमतां वधे 'पणो देयः सुवर्णस्य' इति सुमन्तुस्परणार्किविदेवेति पणो बोद्धन्यः। अनस्थिमतां तु यूकामत्कुणादीनां प्रत्येकं वधे प्राणायामेन शुद्धो भवति। प्राणायामश्च 'सन्याहृतिकां सप्रणवां सावित्रीं शिरसा सह। त्रिः पटे-दायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥' इति वसिष्ठपोक्तलक्षणो प्राह्यः॥१४१॥

# फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४२ ॥

फलद्रानामिति ॥ फलद्रानामाम्रादीनां बृक्षाणां, गुल्मानां कुळकादीनां, विश्वानां गुडूच्यादीनां, लतानां, वृक्षशाखासक्तानां पुष्पितानां च वीरुधां कृष्मांण्डादीनां, प्रत्येकं छेदने पापप्रमोचनार्थं सावित्र्यादिऋक्शतं जपनीयम् । 'इन्धनार्थमग्रुष्काणां द्वमाणामवपातनम्' (१२।६४) इत्यादेरुपपातकमध्ये पितत्स्य गुरुपायश्चित्ताभिधानात् । इदं फलवद्यक्षादिच्छेदने लघुपायश्चित्तं सकृदबुद्धिपूर्वकविषयं वेदितन्यम् ॥ १४२ ॥

# अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वशः । फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥ १४३ ॥

अन्नाद्यजानामिति ॥ भन्नादिषु जातानां, गुडादिरसजातानां च, उदुम्ब-रादिफलसंभवानां, मधूकादिपुष्पोद्भवानां च सर्वेप्राणिनां वधे वृतप्राज्ञनं पापशोधनम् ॥ १४३ ॥

#### कृष्टजानामोषधीनां जातानां च खयं वने । वृथालम्मेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोवतः ॥१४४ ॥

क्रमुजानामिति ॥ कर्षणपूर्वकजातानामोषधीनां पष्टिकादीनां, वने च स्वयमुत्पन्नानां नीवारादीनां तिःप्रयोजनच्छेदने क्षीराहारः। एष्वेकमहो गोरनु-गमनं कुर्यात् ॥ १४४ ॥

# एतैर्वतरपोद्यं सादेनो हिंसासग्रुद्भवम् । ज्ञानज्ञानकृतं कृत्स्रं ऋणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥

एतेरिति ॥ एभिरुक्तप्रायश्चित्तैर्हिसाजनितपापं ज्ञानाज्ञानकृतं निर्हरणीयम्। इदानीमभक्ष्यभक्षणपायश्चित्तं वक्ष्यमाणं श्रृणुत ॥ १४५ ॥

# अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति । मृतिपूर्वमनिर्देक्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

अज्ञानादिति ॥ महापातकप्रकरणव्यवधानेनास्यामानानेदं मुख्यपेष्टीसुरा-विषयं वचनं किंतु तदितरविषयम् । तत्र यथा चैका तथा सर्वा। गोडीमाध्व्योर्भु-ख्यसुरासाम्यवोधनमितरमञ्जापेक्षया ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तगौरवार्थमित्युक्तम् ।

[ अध्यायः ११

तेनाबुद्धिपूर्वकं गौडीं माध्वीं च पीत्वा गौतमोक्तं तसकुच्छ्नं कृत्वा पुनःसंस्कारेणेव बुध्यति। तथा च गौतमः(गौ.त्मृ. २४।१)—'अमत्या मद्यपाने पयो वृत्तमुद्कं वायुं प्रसद्दं तसकुच्छ्नस्ततोऽस्य संस्कारः'। इत्थमेव व्याख्यातं भविष्यपुराणे—'अकामतः कृते पाने गौडीमाध्व्योनराधिप। तसकुच्छ्रविधानं स्याद्वौतमेन यथोदितम्'। बुद्धिपूर्वकं तु पैष्टीतरमद्यपाने 'प्राणान्तिकमनिर्देश्यम्' इति शास्त्रमर्यादा। तथा गौडीमाध्व्योर्ज्ञानात्पाने मरणनिषेधादितरमद्यापेक्षया गुरुत्वाच् मानवमेव 'कणान्वा भक्षयेदब्दम्' (११।९२) इति प्रायश्चित्तम् मुक्तम्। अत एव गौडीमाध्व्योः कामतः पानानुवृत्तौ भविष्यपुराणे—'यद्वा-सिक्तेव विषये मानवीयं प्रकल्पयेत्। कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकुनित्रशि । सुरापापापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी' इति। पैष्टीगौडीमाध्वीव्यतिरिक्तपुलस्योक्तपानसादिनवविधमद्यस्य प्रत्येकं पाने लघुत्वात्संस्कारमान्वमेव केवलमन्यद्वा लघुत्वात्प्रायश्चित्तं बाह्यणस्य युक्तम्। बुद्धिपूर्वं पानसादिमद्यपाने तु 'मतिपूर्वं सुरापाने कृते वै ज्ञानतो गुद्द। कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ भवतः पुनःसंस्कार एव हि॥' इति भविष्यपुराणीयमन्यद्विविधं मुन्यन्तरोक्तम्॥ १४६॥

# अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा । पश्चरात्रं पिवेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥ १४७ ॥

अप इति ॥ पैष्टीसुराभाण्डे तदितरमद्यभाण्डेऽवस्थिता अपः सुरारस-गन्धवर्जिताः पीत्वा शङ्कपुष्प्यास्यौषधिप्रक्षेपेण पकं श्लीरं न त्दकम् । शङ्क-पुष्पीविपकेन व्यहं श्लीरेण वर्तयेत्' (बी.स्ट.१२।२५) इति बौधायनस्परणा-त्पञ्चरात्रं पिवेत् । सुरामद्ययोः सर्वत्रैव गुरुल्घुप्रायश्चित्ताभिधानादिहापि ज्ञानाज्ञानादिप्रकारभेदेन विषयसमीकरणं समाध्यस् । वाचनिकमेव प्राय-श्चित्तं साध्यमिति मेधातिथिराह् ॥ १४७ ॥

# स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च। ज्ञूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः क्रुज्ञवारि पिवेत्र्यहम् ॥ १४८॥

स्पृष्ट्विति ॥ सुरां स्पृष्ट्वा दत्त्वा च स्वस्तिवाचनपूर्वकं च प्रतिगृह्य श्रुद्धोच्छि॰ ष्टाश्च भपः पीत्वा, 'प्रतिगृह्य' इत्युपादानाद्वाह्मणो दर्भक्षथितसुदकं ज्यहं पिवेत् ॥ १४८ ॥

> त्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमात्राय सोमपः । प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राज्य विशुध्यति ॥ १४९ ॥

ब्राह्मणस्तिवत्यादि ॥ ब्राह्मणः पुनः कृतसोमयागः सुरापस मुखसंबन्धिनं गन्धे हात्वा जलमध्ये प्राणायामत्रयं कृत्वा पृतं प्रार्थ विशुद्धो भवति॥१४९॥

#### अज्ञानात्प्राक्य विष्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च । पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५० ॥

अज्ञानादिति ॥ विद्वराहादीनां वक्ष्यमाणत्वादबुद्धिपूर्वकं मनुष्यसंबन्धि मूत्रं पुरीषं वा प्राश्य मद्यसुरासंस्पृष्टं च भक्तादिरसं वा प्राश्य द्विजातयस्रयो वर्णाः पुनरुपनयनमर्हन्ति ॥ १५० ॥

# वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च । निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥

चपनमिति॥ शिरोसुण्डनं मेखलाधारणं दृण्डधारणं मैक्षाणि व्रतानि च मधु-मांसस्रीवर्जनयुतानि प्रायश्चित्तानि पुनरुपनयने द्विजातीनां न भवन्ति ॥१५१॥

### अभोज्यानां तु भ्रुक्त्वान्नं स्त्रीश्रुद्रोच्छिष्टमेव च। जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्यिवेत् ॥ १५२॥

अमोज्यानामिति॥ अभोज्यानां 'नाश्रोत्रियतते यत्ते' (४।२०५) इत्याद्यक्ता-नामनं भुक्त्वा जलमिश्रितसक्तुरूपेण यवागृरूपेण वा यवान्पानयोग्यान्कृत्वा सप्तरात्रं पिनेत्। अमुष्मिन्नेव विषये 'मला भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रम्' (४।२२२) इति चतुर्थाध्याये प्रायश्चित्तमुक्तं तेन सह वैकल्पिकम्। विकल्पश्च कर्तृशक्तयपेक्षः। तथा द्विजातिस्त्रीणामुच्छिष्टं शुद्रोच्छिष्टं वा भुक्त्वैतदेव कुर्यात्। तथा 'क्रव्यादस्करोष्ट्राणाम्' (११।१५६) इत्यादिना यद्विशेषप्रायश्चित्तं तन्निषद्ध-मांसं भुक्त्वेदमेव कुर्यात्॥ १५२॥

#### शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः। तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन व्रजत्यधः॥ १५३॥

शुक्तानीति ॥ यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि कालयोगेनोदकपरिणामादि-नाम्लभावं व्रजनित तानि शुक्तानि, कषायान्विभीतकादीन्, कथितान्यप्रतिषि-द्धान्यपि पीत्वा यावन्न जीर्णानि भवन्ति तावदश्चन्दिः पुरुषो भवति ॥१५३॥

# विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः किपकाकयोः । प्राइय मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

विद्वराहेति ॥ प्राम्यस्करखरोष्ट्रश्रगालवानरकाकानां मृत्रं पुरीषं वा द्विजातिर्भुक्त्वा चान्द्रायणं कुर्याच्छोधनम्।यत्तु 'छत्राकं विद्वराहं च'(५।१९) इत्यनेन विद्वराह्यामकुकुटयोर्बुद्धिपूर्वकभक्षणे पञ्चमाध्याये प्रायश्चित्तमुक्तं तद-भ्यासविषये न्याख्यातम्। इदं त्वनभ्यासविषये तप्तकुच्छ्रमित्यविरोधः॥ १५४॥

पाठा०—1 पीत्वाऽमेध्यानि (=ग्रुक्तानि; लग्रुनादीनि). 2 अज्ञानात्प्रास्य विष्मूत्रं.

# शुष्काणि अक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च । अज्ञातं चैव स्नास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

शुष्काणीति ॥ वाय्वादिना शोषितानि मांसानि सुक्त्वा भूम्यादिप्रभवाणि छत्राकाणि सुक्त्वा 'भूमिजं वा वृक्षजं वा छत्राकं भक्षयन्ति ये । ब्रह्मश्नांस्ता-न्विजानीयात्' इति यमेन वृक्षजस्यापि निषेधात् । हरिणमांसं वा रासभ-मांसमिति, भक्ष्याभक्ष्यतया यन्न ज्ञातं, तथा हिंसास्थानं सूना ततो यदानीतं तद्भक्त्वा चान्द्रायणमेव कुर्यात् ॥ १५५ ॥

# र्कंट्यादस्करोष्ट्राणां क्रुकुटानां च भक्षणे । नरकाकखराणां च तप्तकुच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥

क्रव्यादेति ॥ आममांसभिक्षणां प्राम्यस्करोष्ट्रप्राम्यकुक्कुटानां तथा मानु-षकाकगर्दभानां प्रत्येकं बुद्धिपूर्वकं मांसभक्षणे वक्ष्यमाणं तसकृच्छ्रं प्रायिक्ष-त्तम् । प्राम्यस्करकुक्कुटयोर्बुद्धिपूर्वकभक्षणे पञ्चमाध्याये पातित्यमुक्तं तदम्या-सविषये व्याख्यातं, इदं तु नाभ्यासविषये तसकृच्छ्रमित्यविरोधः ॥ १५६ ॥

# मासिकानं तु योऽश्लीयादसमावर्तको द्विजः । स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥

मासिकान्नमिति ॥ यो ब्रह्मचारी ब्राह्मणो मासिकश्राद्धसंबन्ध्यन्नमश्नाति । एतच्च सपिण्डीकरणात्पूर्वमेकोद्दिष्टश्राद्धार्थोपलक्षणम् । स त्रिरात्रमुपवसेत् । त्रिरात्रमध्ये एकसिन्नहित जलमावसेत् ॥ ३५७ ॥

# ब्रह्मचारी तु योऽश्रीयान्मधु मांसं कथंचन । स कृत्वा प्राकृतं कुच्छूं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

ब्रह्मचारीति ॥ यो ब्रह्मचारी माक्षिकं मांसं वा अनिच्छातः आपदि वाऽद्यात् स प्राजापत्यं कृत्वा प्रारब्धब्रह्मचर्यव्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

#### विडालकाकाख्चिछष्टं जग्ध्या श्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिवेद्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥

विडालेति ॥ विडालकाकमूषिककुकुरनकुलानामुन्छिष्टं केशकीटरूपसंस-र्गादुष्टं वाऽकृतमृत्झेपविद्युद्धिकं ज्ञात्वा भुक्त्वा ब्रह्मसुवर्चलां क्रथितमुद्धं पिवेत् ॥ १५९ ॥

१ 'शुष्कानि सुक्त्वा', 'क्रन्यादस्करोष्ट्राणां' इति क्षोकद्वयस्य 'विडालकाक-' (११।१५९) इत्यत्र पाठो युक्त इति प्रतीयते अन्यथा रमृत्यन्तरोक्तमसुष्यमात्रा-थिकृतिः 'द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्' (११।१५४) इति क्षोकगत'द्विज'शब्देन विसंवा-दिता स्यात्

#### अभोज्यमत्रं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता । अज्ञानभुक्तं तूत्तार्थं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥ १६०॥

अभोज्यमिति ॥ आत्मनः शुद्धिकामेन प्रतिषिद्धमन्नं नादनीयम्। प्रमा-दात्तु भुक्तं विमतन्यम्। तदसंभवे प्रायश्चित्तैः क्षिप्रं शोधनीयम्। वमनपसे तु लघु प्रायश्चित्तं भवत्येव। ज्ञानतः पुनः पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तम्॥ १६०॥

#### एषोऽनाद्यादनस्थोक्तो त्रतानां विविधो विधिः । स्तेयदोषापहर्वृणां त्रतानां श्रुयतां विधिः ॥ १६१ ॥

एष इति ॥ अभक्ष्यभक्षणे यानि प्रायश्चित्तानि तेषामेतन्नानाप्रकारविधा-नमुक्तम् । स्तेयपापहारिणां विधानमधुना श्रृयताम् ॥ १६१ ॥

#### धान्यात्रधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्विजोत्तमः। स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विद्युष्यति ॥ १६२ ॥

धान्येति ॥ ब्राह्मणो ब्राह्मणगृहाद्धान्यभक्तां बन्नस्पाणि धनचौर्याणीच्छातः कृत्वा न त्वात्मीयश्रान्त्या नीत्वा संवत्सरं प्राजापत्यवताचरणेन ग्रुध्यति । एतच देशकालद्रव्यपरिमाणस्वामिगुणाद्यपेक्षया महत्त्वादि बोद्धव्यम् । एवमुत्तरत्रापि ॥ १६२ ॥

# मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूँपवापीजलानां च ग्रुद्धिश्वान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६३ ॥

मनुष्याणामिति ॥ पुरुषस्त्रीक्षेत्रगृहाणामन्यतमहरणे कूपजलस्य वापीज-लस्य वा समस्तस्य वा हरणे चान्द्रायणं शयश्चित्तं मन्वादिभिः स्मृतम् ॥१६३॥

#### द्रव्याणामलपसाराणां स्तेयं कैत्वाऽन्यवेश्मतः । चरेत्सांतपनं कुच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ।। १६४ ।।

द्रव्याणामिति॥ द्रव्याणामल्पार्घाणामल्पप्रयोजनानां चानुक्तप्रायश्चित्तवि-शेषाणां त्रपुसीसकादीनां परगृहाचौर्यं कृत्वा तद्पहृतं द्रव्यं स्वामिने दत्त्वा सांतपनकृष्ट्यं प्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणं चात्मशुद्धये कुर्यात् । स्वामिनेऽपहृतं द्रव्यं निर्यास्रिति सर्वस्तयप्रायश्चित्तरोषः॥ १६४॥

# भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च पश्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

भक्ष्येति ॥ भक्ष्यस्य मोदकादेः, भोज्यस्य पायसादेः, यानस्य शकटादेः, शय्यायाः, भासनस्य च, पुष्पमूलफलानां च प्रत्येकमपहरणे पद्मगन्यपानं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

पाठा०-1 शुद्धि. 2 कूपवापीतडागानां. 3 कृत्वान्यवेश्मानि.

तृणकाष्ट्रद्वमाणां च ग्रुष्कान्नस्य गुडस्य च । चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६६ ॥

तृणेति ॥ तृणकाष्टवृक्षाणां ग्रुष्कान्नस्य च तण्डुलादेर्वस्वचर्ममांसानां मध्ये एकस्याप्यपहरणे त्रिरात्रमुपवासं चरेत् ॥ १६६ ॥

> मणिम्रक्ताप्रवालानां ताम्रस रजतस्य च । अयःकांस्रोपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥ १६७॥

मणीति ॥ मणिमुक्ताविद्यमताम्ररूप्यलोहकांस्योपलानां च प्रत्येकमपहरणे द्वादशाहं तण्डुलकणभक्षणं कुर्यात् । सर्वत्र चात्र सकृद्भ्यासदेशकाल-द्रव्यस्वामिगुणादौ शक्त्यपेक्षयोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यापहारिविषयसमीकरणं समाधे-यम् ॥ १६७ ॥

कार्पासकीटजोर्णानां द्विशेफैकशफस्य च । पक्षिगन्धौषधीनां च रज्जाश्चैव त्र्यहं पयः ॥ १६८ ॥

कार्पासेति ॥ कार्पासकृमिकोशजोर्णानां वस्त्राणां द्विशक्षेकशफस्य गोर-श्वादेः, पक्षिणां ग्रुकादीनां गन्धानां च चन्दनप्रभृतीनां रज्वाश्च प्रस्थेकं हरणे ज्यहं श्वीराहारः स्यात् । अन्नापि पूर्ववद्विषयसमीकरणपरिहारः स्यामिनश्चो-स्कृष्टापकृष्टद्वव्यसमर्पणादपि वचनादेकरूपप्रायश्चित्ताविरोधः ॥ १६८ ॥

एतैर्वतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः । अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥

एतेरिति ॥ एतैरुक्तैः शायश्चित्तैः स्तेयजनितपापं द्विजातिरपानुदेत् । अग-म्यागमननिमित्तं पुनरेभिर्वक्ष्यमाणैर्वतैर्निर्हरेत् ॥ १६९ ॥

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा खयोनिषु ।

सच्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

गुरुतल्पव्रतमिति ॥ स्वयोनिषु सोदर्थभगिनीषु तथा मित्रभार्यासु, पुत्र-पत्नीषु कुमारीषु, चाण्डालीषु, प्रत्येकं रेतः सिक्त्वा गुरुदारगमनप्रायश्चित्तं कुर्यात् । अत्रापि ज्ञानाभ्यासाद्यनुबन्धापेक्षया मरणान्तिकम् । अत एव 'रेतः सिक्त्वा कुमारीषु चाण्डालीष्वन्त्यजासु च । सम्पण्डापत्यद्वारेषु प्राणत्यागो विधीयते ॥' इति यमेन मरणान्तिकसुपदिष्टमज्ञानात्तद्रतम् ॥ १७० ॥

पैर्तृष्वसेयीं भिगनीं स्वसीयां मातुरेव च । मातुश्र श्राँतुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ।। १७१ ॥ पैतृष्वसेयीमिति ॥ पितृष्वसुर्मातृष्वसुश्र दुहितरं भगिनीं, मातुश्र सोद-

पाठा०-1 द्विशफैकखरस्य च. 2 पैतृष्वक्षेयीं. 3 भ्रातुराप्तस्य.

र्थभातुर्दुहितरं सोद्र्यभगिनीमिव निषिद्धगमनां गत्वा चान्द्रायणं कुर्यात्, सक्टद्ज्ञानव्यभिचरिताविषयमल्पत्वात्॥ १७१॥

एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेतु बुद्धिमान् । ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतित ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

एता इति ॥ तिस्र एताः पैतृष्वसेय्याद्या भार्यार्थे प्राज्ञो नोद्वहेत् । ज्ञाति-त्वेन बान्धवत्वेन ता नोपेतन्याः । यस्मादेता उपयन्नुपगच्छन्नरुकं याति । 'असपिण्डा च या मातुः' (३।५) इत्यनेन निषेधसिद्धौ दाक्षिणात्याचारदर्श-नेन निषेधदार्ढ्यार्थे पुनर्वचनम् ॥ १७२॥

अमानुषीषु पुरुष उद्क्यायामयोनिषु ।

रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥ १७३॥ अमानुषीष्वित ॥ अमानुषीषु वडवाद्यासु न गवि। 'गोष्ववकीणीं संवत्सरं प्राजापत्यं चरेत्' इति शङ्कालिखितादिभिर्गुरुप्रायश्चित्तामिधानात् । तथा रजस्वलायां, योनितश्चान्यत्र ख्रियां, जले रेतःसेकं कृत्वा पुरुषः सांतपनं कृच्छ्रं कुर्यात् ॥ १७३॥

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः । गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ १७४॥ मैथुनमिति ॥ यत्र देशे कापि पुरुषे मैथुनं सेवित्वा खियां गोयाने शक-टादौ जले दिवाकाले च मैथुनं सेवित्वा सवस्त्रश्च खायात् ॥ १७४॥

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा अक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ १७५॥

चण्डालेति ॥ चण्डालस्यान्यजानां च म्लेच्छशरीरादीनामज्ञानतो ब्राह्मणः स्त्रियो गत्वा तेषां चान्नं भुकत्वा तेभ्यः प्रतिगृद्ध पतित । पतितस्य प्रायश्चित्तं कुर्यात् । एतच गुरुत्वाचाभ्यासतो भोजनप्रतिप्रहविषयम् । ज्ञानातु तेषां स्त्रीगमनं कृत्वा समानतां गच्छति । एतच प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १७५ ॥

> वित्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि । यत्पुंसः परदारेषु तचैनां चारयेद्वतम् ॥ १७६ ॥

विप्तदुष्ट्रामिति ॥ विशेषेण प्रदुष्टाम् । इच्छया व्यभिचारिणीमित्यर्थः । भर्ता निरुम्ध्यात्पत्नीं कार्येभ्यो निवर्त्यं निगडवद्धामिवैकगृहे धारयेत् । यस पुरुषस्य सजातीयपरदारगमने प्रायश्चित्तं तदेवैनां कारयेत् । ततश्च 'स्त्रीणामधं प्रदा-तव्यम्' इति यद्वसिष्ठादिभि रुक्तं तदनिच्छया व्यभिचारे च कर्तव्यम् ॥१७६॥ सा चेत्पुनः प्रदुष्येतु सहशेनोपयन्त्रिता।

कुच्छूं चान्द्रायणं चैव तद्साः पावनं स्मृतम् ॥ १७७॥ सा चेदिति ॥ सा स्नी सजातीयगमने सकृदुष्टा कृतप्रायश्चित्ता यदि पुनः सजातीयेनाभ्यर्थिता सती तद्गमनं कुर्यात्तदास्याः प्रायश्चित्तं प्राजापत्यं कृच्छ्रं चान्द्रायणं च मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ १७७॥

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्विजः। तद्भेक्षग्रुग्जपन्नित्यं त्रिभिवर्षेव्यपोहति॥ १७८॥

यदिति ॥ वृषल्यत्र चण्डाली, प्रायश्चित्तगौरवात् । चण्डालीगमने यदेकरा-त्रेण ब्राह्मणः पापमर्जयति तद्रैक्षाशी नित्यं सावित्र्यादिकं जपन् त्रिभिवेषैरंपतु-दृति । तथा चापस्तम्बः—'यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णं वर्णं ब्राह्मणः सेव-मानः। चतुर्थकाल उदक आत्मजापी मैक्षचारी त्रिभिवेषैंसा व्याहिति पापम्॥' मैधातिथिस्तु इत्थमेव व्याख्यातवान् । गोविन्दराजस्त्वक्रमपरिणीतरुद्भा-गमनप्रायश्चित्तमिद्माह ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः।

पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः ग्रुणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥

एषेति ॥ इयं हिंसाऽभक्ष्यभक्षणस्तेयागम्यागमनकारिणां चतुर्णामपि पापकृतां विद्युद्धिरुक्ता । इदानीं साक्षात्पापकृद्धिः सह संसर्गिणामिमा वक्ष्यमाणाः संद्युद्धीः श्रृणुत ॥ १७९ ॥

संवत्सरेण पतित् पतितेन सहाचरन् ।

याजनाध्यापनाद्योनाच तु यानासनाज्ञनात् ॥ १८० ॥

संवत्सरेणेति ॥ पतितेन सह संसर्गमाचरन् एकयानगमनैकासनोपवेशनपक्किमोजनरूपान्संसर्गानाचरन् संवत्सरेण पति । नतु याजनाध्यापनाद्योनात्संवत्सरेण पति किंतु सद्य एवेत्यर्थः । अध्यापनमत्रोपनयनपूर्वकं सावित्रीश्रावणम् । याजनादीनां च सद्यःपातित्यमाह देवलः (को ३४)—'याजनं
योनिसंबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् । कृत्वा सद्यः पत पतितेन न संशयः ॥'
विष्णुः—'आ संवत्सरात्पतित पतितेन सहाचरन् । सहयानासनाभ्यासाद्योनातु
सद्य एव हि ॥' बौधायनः—'संवत्सरेण पतित पतितेन सहाचरन् । याजनाध्यापनाद्योनात्सेद्यो न शयनासनात्' इति । गोविन्दराजस्तु याजनादीनां
त्रयाणां संवत्सरेण पातित्यहेतुत्वं सहासनादीनां लघुत्वान्न संवत्सरेण किंतु
तस्मादूर्थमपीति व्याचष्टे । अस्पदीयमनुव्याख्या सुनिव्याख्यानुसारिणी ।
नैनां गोविन्दराजस्य कल्पनामनुरुन्ध्महे ॥ १८० ॥

पाठा०-1 सहदोनोपमन्त्रिता (=प्रापिता).

१ वसिष्ठस्तु (१।८) यथावचरणत्रयपाठमादृत्य

# यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव त्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविद्यद्वये ॥ १८१ ॥

यो येनेति ॥ 'पतित'शब्दोऽयं पापकारिवचनः, सकल्पापिनामविशेष-पाठात् । एषां पतितानां मध्ये यो येन पापकारिणा सह प्वोंकं संसर्ग करोति स तस्येव वतरूपं प्रायश्चित्तं कुर्यान्नतु मरणान्तिकमिस्यभिहितं तद्पि वतं संसर्गणाणा कियमाणं 'ब्रह्महा द्वादश समाः' (११।७२) इत्यादिकं पादहीनं कर्त-व्यम् । तथा च व्यासः—'यो येन संस्जेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् । पादन्यूनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य वतं द्विजः' ॥ १८९ ॥

#### पतितस्योद्कं कार्यं सिपण्डैर्बान्धवैर्वहिः।

निन्दितेऽहिन सायाह्वे ज्ञात्यृत्विज्गुरुसंनिधौ ॥ १८२ ॥ पतितस्येति ॥ महापातिकतो जीवत एव प्रेतस्योदकित्रया वक्ष्यमाणरीत्या सिपण्डैः समानोदकेश्च प्रामाहिहर्गत्वा ज्ञात्यृत्विज्गुरुसंनिधाने रिक्तायां नव-म्यां तिथौ दिनान्ते कर्तव्या ॥ १८२ ॥

# दासी घटमपां पूर्ण पर्यस्थेत्व्रेतवतपदा ।

अहोरात्रम्रपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥

दासीति ॥ सपिण्डसमानोदकप्रयुक्ता दासी उदकपूर्ण घटं प्रेतचिद्ति दक्षि-णाभिमुखीभूय पादेन क्षिपेत् यथा स निरुद्को भवति । तदनु ते सपिण्डाः समानोदकैः सहाहोरात्रमशौचमाचरेयः ॥ १८३ ॥

#### निवर्तेरंश्च तसातु संभाषणसहासने।

द्याद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैत हि लौकिकी ॥१८४॥ नियतेंरिकति ॥ तस्मात्पिततात्सिपण्डादीनां संभाषणमेकासनोपवेकानं च तस्मै ऋक्थप्रदानं सांवत्सिरिकादौ निमन्नणादिरूपो लोकन्यवहार एतानि निवर्तरम् ॥ १८४ ॥

#### . ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च येद्धनम् ।

ज्येष्ठांत्रं प्रामुयाचास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥ ज्येष्ठतेति ॥ ज्येष्ठस्य चत्प्रत्युत्थानादिकं कार्यं तत्तस्य न कार्यम् । ज्येष्ठ-छभ्यं च तस्य विंशत्युद्धारादिकं धनं न देयम् । यद्यपि ऋक्थप्रदानप्रतिषेधादे-वाण्युद्धारप्रतिषेधः सिद्धस्तथापि यवीयसस्तत्प्रात्यर्थमन् वते । तस्यैव ज्येष्ठस्य संबन्धि धनं सोद्धारांशं तदनुजो गुणाधिको लभते ॥ १८५ ॥

#### प्रायिश्वते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।

तेनैव सार्ध प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाश्ये ॥ १८६ ॥ प्रायश्चित्त इति ॥ कृते पुनः पतितेन प्रायश्चित्ते सपिण्डसमानोदकास्ते- नैव कृतप्रायश्चित्तेन सह पवित्रे जलाधारे स्नात्वा जलपूर्णं नवं घटं प्रक्षि-षेयुः । इह 'नवघट'प्रहणात् 'दासी घटम्' (११।१८३) इत्यन्न कृतोपयोगिघटः प्रतीयते ॥ १८६ ॥

> स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं खकम् । सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥

स त्विति ॥ स कृतप्रायश्चित्तः तं पूर्वोक्तघटं जलमध्ये क्षित्वा ततः स्वकीयभवनं प्रविद्य यथापूर्वं सर्वाणि ज्ञातिकर्माणि कुर्यात् ॥ १८७ ॥

> एंबमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्त्रपि । वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥

एचिमिति ॥ स्त्रीष्विप पतितास्वेवमेव 'पतितस्योदकं कार्यम्' (१११८२) इत्यादिविधि भर्त्रादिसपिण्डसमानोदवर्गः कुर्यात् । ग्रासाच्छादनानि पुन-राभ्यो देयानि । गृहसमीपे चासां वासार्थं कुटीर्दद्यः ॥ १८८ ॥

एनस्विभिरनिणिक्तैर्नार्थं किंचित्सहाचरेत् । कृतिनिणेजनांश्रेव न जुगुप्सेत किंचित् ॥ १८९ ॥

एनस्विभिरिति ॥ पापकारिभिरकृतप्रायश्चित्तैः सह दानप्रतिग्रहादिकमर्थं किंचिन्नानुतिष्ठेत् । कृतप्रायश्चित्तान्नेव कदाचिदपि पूर्वकृतपापत्वेन निन्देत्कितुः पूर्ववद्यवहरेत् ॥ १८९ ॥

अस्यापवादमाह—

बालन्नांश्र कृतन्नांश्र विशुद्धानिप धर्मतः । शरणागतहन्तृंश्र स्त्रीहन्तृंश्र न संवसेत् ॥ १९० ॥

बालज्ञानिति॥ बालं यो हतवान्, कृतोपकारमपकाराचरणेन यो विनाशित-वान्, प्राणरक्षार्थमागतं यो हतवान्, स्त्रियं च यो न्यापादितवान्, एतान्य-थावत्कृतप्रायश्चित्तानपि संसर्गितया न पैरिवसेत्॥ १९०॥

> येषां द्विजानां सावित्री नान्च्येत यथाविधि । तांश्रारियत्वा त्रीन्क्रच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥

येषामिति ॥ येषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां आनुकल्पिककाल उपनयनं यथा-शास्तं न कृतवान् तान्याजापत्यत्रयं कारयित्वां यथाशास्त्रमुपनयेत्; यन्तु याज्ञवल्क्यादिभिर्वात्यस्तोमादियायश्चित्तमुक्तं तेन सहास्य गुरुलाघवमनुसंधाय जातिशक्ताद्यपेक्षो विकल्पो मन्तन्यः॥ १९१॥

पाडा॰—1 एतमेव. 2 कृतनिर्णेजनांश्चेतान्.

<sup>?</sup> पापं हि द्विविधम्—स्वात्मगतं देहगतं चेतिः तत्रायं प्रायश्चित्तादिव्यपोद्यम् ; अपरं तु यावद्देहस्थायित्वादिनिरस्यमत एव चीर्णेव्रतानिप तान्संसर्गितया न संवसेदिति भावः.

# प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः । ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥

प्रायश्चित्तमिति ॥ ये प्रतिषिद्धश्चद्भसेविनो द्विजास्ते चोपनीता अप्यनधीतः वेदाः प्रायश्चित्तं कर्तुमिच्छन्ति तेषामप्येतःप्राजापत्यादित्रयमुपदिशेत् ॥१९२॥

> यद्गितिनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥ १९३ ॥

यदिति ॥ गहिंतेन कर्मणा निषिद्धदुष्प्रतिग्रहादिना ब्राह्मणा यद्धनमर्जयन्ति तस्य धनस्य त्यागेन जपतपोभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां ग्रुष्यन्ति । धनत्यागेन च प्रायश्चित्तविधानाद्वहुमूल्ये च करितुरगादावल्पमूल्ये च लौहादौ परिगृहीते तुल्यशायश्चित्ताभिधानमुपपन्नम् । एवमविकय्याविकयादावपि ॥ १९३ ॥

जिपत्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा ग्रुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १९४ ॥

जिपत्वेति ॥ त्रीणि सावित्रीसहस्राणि जिपत्वा गोष्ठे वा मासं क्षीराहा-रोऽसत्प्रतिग्रहजनितात्पापान्मुक्तो भवति । शूद्धप्रतिग्रहादावप्येतदेव प्रायिश-त्रम् । द्रव्यदोषेण च दानृदोषेणापि प्रतिग्रहस्य गर्हितत्वाविशेषादिति ॥ १९४॥

> उपवासकुशं तं तु गोत्रजात्पुनरागतम् । प्रणतं परिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम्।। १९५॥

उपवासेति ॥ केवलक्षीराहारेण इतरभोजनन्यावृत्त्या क्रशदेहं गोष्ठात्य-त्यागतं प्रणतं नम्रीभूतं 'किमसाभिः सह साम्यमिन्छसि, पुनरसत्य्रतिग्रहं न करिष्यसि' इत्येवं धर्म ब्राह्मणाः परिपृच्छेयुः ॥ १९५ ॥

> सत्यमुक्त्वा तु विश्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् । गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥

सत्यमिति ॥ 'सत्यमेतत्पुनरसन्प्रतिग्रहं न करिष्यामि' इत्येवं ब्राह्मणेषूक्तवा घासं गवां दद्यात् । तिसान्यवसं भक्ष्यमाणे देशे गोभिः पवित्रीकृतत्वात्ती-थींभूते ब्राह्मणास्तस्य संव्यवहारे स्वीकारं कुर्युः ॥ १९६ ॥

त्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च । अभिचारमहीनं च त्रिभिः कुच्छ्रैर्ट्यपोहति ॥ १९७ ॥ बात्यानामिति ॥ बात्यानां 'अत कर्ध्वं त्रयोऽप्येते' (२।३९) इत्यु-

पाठा०-1 प्रतिपृच्छेयुः.

१ तत्र सावित्रीजपस्तु प्रत्यहं कर्तव्य इति केन्चिदाहुः, अपरे तु मासत्रयं यावदिति.

क्तानां वात्यस्तोमादियाजनं कृत्वा पितृगुर्वादिन्यतिरिक्तानां च निषिद्धौर्ध्व-देहिकदाहश्राद्धादि कृत्वाभिचारं च इयेनादिकम् । अभिचारोऽनभिचारणी-यस्य । अहीनं यागविशेषः । 'अहीनयजनमग्रुचिकरम्' इति श्रुतेः । त्रिरा-त्रादि तस्य यजनं कृत्वा त्रिभिः कृच्छ्रैर्विग्रुध्यति ॥ १९७ ॥

#### शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः । .संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

शरणागतमिति ॥ शरणागतं परित्राणार्थमुपगतं शक्तः सन्नुपेक्षते द्विजा-तिरनध्याप्यं च वेदमध्याप्य तजनितं पापं संवत्सरं यवाहारोऽपनुदति॥१९८॥

श्वसृगालखरैर्द्धो ग्राम्येः कव्याद्भिरेव च । नराश्वोष्ट्रवराहेश्च प्राणायामेन सुध्यति ॥ १९९ ॥ [ स्नाघातोपलीटस्य दन्तैर्विदलितस्य च । अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्रिना चोपचलनम् ॥ ]

श्वसुगालेति ॥ कुक्कुरसगालगर्दभनराश्ववराहाचैर्प्राम्येश्वाममांसादैर्मार्जा-रादिभिर्देष्टः प्राणायामेन ग्रुध्यति ॥ १९९ ॥

#### पष्टात्रकालता मासं संहिताजप एव वा।

होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्ष्यानां विशोधनम् ॥२००॥ पष्टान्नेति ॥ अपाङ्क्याः 'ये स्तेनपतितक्कीवाः' (१।१५०) इत्यादि-नोक्तास्तेषां विशेषतोऽनुपदिष्टयायश्चित्तानां मासं त्र्यहमभुक्तवा तृतीयेऽह्वि सायं भोजनं वेदसंहिताजपो 'देवकृतस्थैनसोऽवयजनमिस' (ग्रु.यजुःसं.८।१३) इत्यादिभिरष्टभिमें ब्रेहोंमैः प्रत्येकं कार्यः । एतत्ससुद्दिष्टं दानशोधनम् ॥२००॥

#### उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ।

स्नात्वा तु विश्रो दिग्वासाः प्राणायामेन ग्रुध्यति ॥२०१॥ उष्ट्रयानमिति ॥ उष्ट्रैर्थुक्तं यानं शकटादि, एवं खरयानमपि । तत्कामत आरुह्य अञ्यवधान उष्ट्रखराभ्यां याने प्राणायामबहुत्वम् ; नग्नश्च कामतः स्नानं कृत्वा प्राणायामेन शुद्धो भवति ॥ २०१ ॥

विनाद्भिरप्सु वाडप्यार्तः शारीरं ैसंनिवेश्य च । सचैलो बहिराष्टुत्य गामालभ्य चिशुध्यति ॥ २०२ ॥ विनेति ॥ असंनिहितजलो जलमध्ये वा वेगातो सूत्रं पुरीषं वा ऋता सवासा बहिर्मामान्नयादौ स्नात्वा गां च स्पृष्ट्वा विशुद्धो भवति ॥ २०२ ॥

पाठा॰—1 °र्दष्टोऽप्राम्यैः. 2 संनिषेव्य च.

१ शाकलहोमः 'शाकलाधानं देवकृतस्येति मन्नस्येति' (का० १०।८।६) इत्यनेन सर्वाधमर्भक इत्युक्तः, तत्र विस्तरस्तु वौधायनस्मृतौ (४ प्रश्ने ३ अध्याये) द्रष्टव्यः.

# वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।

स्नातकत्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥

वेदेति ॥ वेद्विहितानां कर्मणामग्निहोत्रादीनामनुपिदृष्टप्रायश्चित्तविशे-षाणां च परिलोपे स्नातकवतानां चतुर्थाध्यायोक्तानामतिक्रमे सत्येकाहोप-वासं प्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ २०३ ॥

हुंकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।

स्नात्वाऽनश्चनहःशेषमभिवाद्य प्रसाद्येत् ॥ २०४ ॥

हुंकारमिति ॥ 'हुं त्र्णीं स्थीयताम्' इत्याक्षेपं ब्राह्मणस्य कृत्वा त्वंकारं च विद्याद्यिकस्योक्त्वाऽभिवादनकालादारभ्याहःशेषं यावत्स्नात्वा भोजनिवृत्तः पादोपश्रहणेनापगतकोपं कुर्यात् ॥ २०४ ॥

ताडियत्वा तृणेनापि कण्ठे वावध्य वाससा।

विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसाद्येत् ॥ २०५ ॥

ताडियत्वेति ॥ प्राकृतं ब्राह्मणं तृणेनापि ताडियत्वा कण्ठे वाबध्य वाससा वा वाक्कहेन जित्वा प्रणिपातेन प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च।

जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

अवगूर्येति ॥ ब्राह्मणस्य हननेच्छया दण्डमुखम्य वर्षशतं नरकं प्राप्तोति । दण्डादिना पुनः प्रहृत्य वर्षसहस्रं नरकं प्राप्तोति ॥ २०६ ॥

शोणितं यावतः पांसन्संगृज्ञाति महीतले ।

तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७॥

शोणितमिति ॥ प्रहतस्य बाह्मणस्य रुधिरं यावत्संख्याकान् रजःकणा-नभूमौ पिण्डीकरोति तावत्संख्याकानि वर्षसहस्राणि तच्छोणितोत्पादको नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

अवगूर्य चरेत्क्रच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।

कुच्छ्रातिकुच्छ्रौ कुर्वीत विष्रस्रोत्पाद्य शोणितम् ॥२०८॥

अवेति ॥ ब्राह्मणस्य हनने च्छया दण्डाद्यसने क्रच्छं कुर्यात् । दण्डादि-प्रहारे दत्तेऽतिकृच्छ्ं वक्ष्यमाणं चरेत् । रुधिरमुत्पाद्य कृच्छ्रातिकृच्छ्रों कुर्वीत् ॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुक्तये ।

र्ञार्क्त चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

अनुक्तिति ॥ अनुक्तप्रायश्चित्तानां यथा प्रतिलोमवधादिकृतानां निर्दृश्णार्थं कर्तुः शरीरधनानि सामर्थ्यमवेक्ष्य पापं च ज्ञात्वा ज्ञानाज्ञानसकृदावृत्त्यनु-बन्धादिरूपेण प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥ यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति । तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१०॥ यैरिति ॥ यैहेंत्रिभिर्मनुष्यः पापान्यपनुदति तान्पापनाशहेत्न्देवर्षिपितृ-भिरनुष्ठितान् युष्माकं वक्ष्यामि ॥ २१०॥

त्र्यहं प्रातह्वयहं सायं त्र्यहमद्याद्याचितम् ।

'त्रयहं परं च नाश्चीयात्प्राजापत्यं चरिद्रजः ॥ २११ ॥ त्र्यहमिति ॥ प्राजापत्याख्यं कृच्छ्माचरन् द्विजातिराद्यं दिनत्रयं प्रातर्भुः क्षीत । 'प्रातः'शब्दोऽयं भोजनानामौिवत्यप्राप्तदिवाकालपरः । क्षत एव विसष्टः—'व्यहं दिवा भुक्के नक्तमित्तं च व्यहं व्यहम् । अयाचितवतं व्यहं न भुक्के' हति च कृच्छः । आपस्तम्बोऽप्याह—'व्यहं नक्ताशी दिवाशी च तत-स्यइम् । व्यहमयाचितवतस्यहं नाक्षाति किंचन ॥' हति कृच्छ्द्वादशरात्रस्य विधिः । अपरं च दिनत्रयं सायंसंध्यायामतीतायां भुक्षीत । अन्यदिनत्रयम्याचितं तावद्त्रं भुक्षीत । शेषं च दिनत्रयं न किंचिद्श्रीयात् । अत्र प्रास्तस्य संख्यापरिमाणापेक्षायां पराशरः—'सायं द्वात्रिंशतिर्मासाः प्रातः पित्रंशितस्तथा । अयाचितं चतुर्विशत्परं चानशनं स्मृतम् ॥ कुक्रुटाण्डप्रमाणं च यावांश्र प्रविशेन्मुखम् । एवं प्रासं विजानीयाच्छुद्धर्थं प्रासशोधनम् ॥ हविष्यं चान्नमश्रीयाद्यश रात्रौ तथा दिवा । त्रींस्रीण्यहानि शास्त्रीयान्प्रासान्संख्याकृतान्यथा ॥ अयाचितं तथैवाद्यादुप्रवासस्त्रयहं भवेत्' ॥ २११ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दिध सिंपः क्वशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

गोमूत्रमिति ॥ गोमूत्राचेकीकृत्य एकैकसिजहिन भक्षयेज्ञान्यार्केचिद्-द्यात् । अपरिदने चोपवास हत्येतत्सांतपनं कृच्छूं स्मृतम् । यदा तु गोमू-त्रादिषद् प्रत्येकं षद् दिनान्युपभुज्य सप्तमे दिने चोपवासस्तदा महासांतपनं भवति । तथा च याज्ञव्दक्यः (या. स्मृ. प्रा. ५।३१४)—'कुशादिकं च गोक्षीरं दिध मूत्रं शकुद्धृतम् । जग्ध्वा परेऽह्मयुपवसेत्कृच्छूं सांतपनं चरन् ॥ पृथक् सांतपनद्वयः षडहः सोपवासिकः । सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासांतपनं स्मृतम्' इति ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्रीयाज्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
ज्यहं चोपवसेदन्त्यमितकुच्छ्रं चरनिद्वजः ॥ २१३ ॥
एकैकमिति ॥ अतिकृच्छ्रं द्विजातिरत्तिष्टन्यातः सायमयाचितादिरूपेणैकैकं
आसं ज्यहाणि श्रीणि श्रीणि पूर्ववत् । अन्यस ज्यहं न किंचिक्कश्रीत ॥२१३॥

१ 'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दिध सिर्पः कुशोदकम्' इति प्रचलितः पाठ उपलभ्यते यास्वल्वस्यस्मृतौ.

तप्तकुच्छ्रं चरिन्वप्रो जलक्षीरघृतानिलान् । प्रतित्र्यहं पिवेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१४ ॥ [ अपां पिवेच त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः । पयः पिवेत्त त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः ॥ ]

तप्तिति ॥ तप्तकुच्छं चरिन्द्रजातिः ज्यह्मुष्णोद्कं, ज्यह्मुष्णक्षीरं, ज्यह्मु-ष्णवृतं, ज्यह्मुष्णवायुं, एकवारं स्नानं कुर्वन् संयमवान्पिवेत् । अत्र पराशरोक्तो विशेषः—'षदपळं तु पिवेद्म्मस्चिपळं तु पयः पिवेत् । पळमेकं पिवेत्सिपें-स्तप्तकुच्छं विधीयते' ॥ २१४ ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।

पराको नाम कुच्छोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५॥

यतात्मन इति ॥ विगतानवधानस्य संयतेन्द्रियस्य द्वादशाहमभोजनमेव पैराकाख्यः कुच्छ्ः सक्टदावृक्तितारतम्येन गुरुलवुसमफलपापापनोदनः॥२१५॥

एकैकं हासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्के च वर्धयेत्। उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

एकैकमिति ॥ सायंप्रातमेध्याहेषु जानं कुर्वाणः पौर्णमास्यां पञ्चद्का आसानशित्वा ततः कृष्णप्रतिपत्कमेणैकैकं प्रासं हासयेत्तथा चतुर्दश्यामेको मासः संपद्यते । ततोऽमावास्यायासुपोष्य शुक्कप्रतिषद्यमृतिभिरेकैकं प्रासं वृद्धिं नयेत् । एवं पौर्णमास्यां पञ्चदश प्रासाः संपद्यन्ते । एतित्पपीलिका-मध्याख्यं चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

> एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे । शुक्कपक्षादिनियतश्ररंश्रान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥

एतमिति ॥ एतमेव पिण्डहासवृद्धित्रिषवणस्नानात्मकं विधानं यव-मध्याख्ये चान्द्रायणे ग्रुक्कपक्षमादितः कृत्वा संयतेन्द्रियश्चान्द्रायणमनुतिष्ठ-ब्राचरेत् । ततश्च ग्रुक्कप्रतिपदमारभ्य एकैकं पिण्डं वर्धयेत् । तथा पौर्णमास्यां पञ्चदश प्रासाः संपद्यन्ते । ततः कृष्णप्रतिपदमारभ्य एकैकं पिण्डं हासयेत् । यथाऽमावास्यायामुपवासो भवति ॥ २१७॥

अष्टावष्टौ समश्रीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते । नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ २१८॥ अष्टाचिति ॥ यतिचान्द्रायणमनुतिष्ठन् शुक्कपक्षात्कृष्णपक्षाद्वारभ्य मासन

१ पराको नाम उपनासः; तिहिशिष्टेऽसिन् क्रच्छ्रे संयतेन्द्रियत्वमप्रमत्तत्वमित्येतहूर्यं सर्वधावस्यकाङ्गिति संसूच्यते. २ तचोक्तं वासिष्ठेन-'एकैकं वर्धयेतिपण्डं शुक्छे क्रणो च हासयेत्। इन्दुक्षये च मुक्षीत एष चान्द्रायणो विधिः' इति.

मेकं संयतेन्द्रियः प्रत्यहमष्टावष्टौ प्रासान्मध्यंदिने भुञ्जीत । 'मध्यंदिने' इति गृहस्थब्रह्मचारिणोः सायंभोजननिवृत्त्यर्थम् ॥ २१८ ॥

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः । चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१९ ॥

चतुर इति ॥ प्रातश्चतुरो प्रासानश्चीयात् । अस्तमिते च सूर्ये चतुरो प्रासा-न्भुञ्जीत r एतच्छिशुचान्द्रायणं मुनिभिः स्मृतम् ॥ २१९ ॥

यथाकथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः । मासेनाश्चन्हविष्यस्य चन्द्रस्थैति सलोकताम् ॥ २२० ॥

यथेति ॥ नीवारादिद्दिवष्यसंबिन्धनां प्रासानां द्वे शते चत्वारिंशद्धिके कदाचिद्दश कदाचित्पञ्च कदाचित्पोद्धश कदाचिद्दुपवास इत्येवमाधिनयमेन यथाकथंचित्पिण्डान्मासेन संयतवानभुञ्जानश्चनद्रसलोकतां याति । एवं पाप-क्षयार्थमभ्युद्यार्थं चेद्मुक्तम् । अत एव याञ्चवल्क्यः (या.स्षृ.प्रा. ५।३२६)— 'धर्मार्थं यश्चरेदेतचन्द्रस्थैति सलोकताम् । कृष्कुञ्च्छमेकामस्तु महतीं श्रियमाप्रुयात् ॥' अतः प्राजापत्यादिकुच्छूमण्यभ्युद्यफलमिति याज्ञवन्त्वयेनोक्तम् ॥ २२०॥

एतद्वद्रास्तथादित्या वसवश्राचरन्त्रतम् । सर्वोक्कशलमोक्षाय मरुतश्र महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

एतदिति ॥ एतचान्द्रायणाख्यं त्रतं रुद्रादिस्यवसुमरुतश्च महर्षिभिः सह सर्वपापनाशाय गुरुलघुपापापेक्षया सकृदावृत्तिप्रकारेण कृतवन्तः ॥ २२१ ॥

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः खयमन्वहम् । अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

महान्याहृतिभिरिति ॥ महान्याहृतिभिर्भू भ्रेवःस्वरेताभिः। 'आज्यं हविर-नादेशे जुहोतिषु विधीयते' इति परिशिष्टवचनादाज्येन प्रस्तद्दं होमं कुर्यात् । अहिंसासत्याकोधाकौटिल्यानि चानुतिष्ठेत् । यद्यप्येतानि पुरुषार्थतया विहि-तानि तथापि वताङ्गतयायमुपदेशः ॥ २२२ ॥

त्रिरेहिस्तिनिंशायां च सवासा जलमाविशेत्। स्त्रीशुद्रपतितांश्रेव नाभिभाषेत कहिंचित्॥ २२३॥

त्रिरिति ॥ महिन रात्रावादिमध्यावसानेषु स्नानार्थं सचैलो नद्यादिजलं प्रविशेत् । एतस पिपीलिकामध्ययवमध्यचानदायणेतरचानदायणिविषयस् । तयोः 'उपस्पर्शक्षिषवणम्' (६।२४) इत्युक्तत्वात् । कीशूद्रपतितेश्च सह यावद्रतं कदाचित्संमाषणं न कुर्यात् ॥ २२३ ॥

# स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा । ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्वरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

स्थानेति ॥ अहिन रात्रों च उत्थित आसीनः सान्न तु शयीत । असा-मध्यें तु स्थण्डिले शयीत न खद्भादौ । ब्रह्मचारी स्त्रीसंयोगरहितवतः । वर्ती मौज्ञीदण्डादियुक्तः । 'पालाशं धारयेदण्डं शुचिमौंज्ञीं च मेखलाम्' इति समस्मरणात् । गुरुदेवबाह्मणानां च पूजको भवेत् ॥ २२२ ॥ '

#### सावित्रीं च जपेत्रित्यं पवित्राणि च शक्तितः । सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायिश्वत्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥

सावित्रीमिति ॥ सावित्रीं च सदा जपेत् । पवित्राणि चाघमर्षणादीनि यथाशक्ति जपेत् । एतच यथा चान्द्रायणे तथा प्राजापत्यादिकृच्छ्रेष्वपि यतवान्प्रायश्चित्तार्थमनुतिष्ठेत् ॥ २२५॥

# एतैर्द्विजातयः शोध्या त्रतैराविष्कृतैनसः । अनाविष्कृतपापांस्तु मन्नैहीमैश्र शोधयेत् ॥ २२६ ॥

एतैरिति ॥ छोकविदितपापा द्विजातय एभिरुक्तप्रायश्चित्तैर्वक्ष्यमाणपरि-षदा शोधनीयाः । अप्रकाशितपापांस्तु मानवान्मञ्जेहोंमैश्च परिषदेव शोधयेत् । यद्यपि परिषदि निवेदने रहस्यत्वस्य नाशस्त्रथाप्यमुकपापे कृते केनापि छोकाविदिते किं प्रायश्चित्तं स्यादिति सामान्यप्रश्चे न विरोधः ॥ २२६ ॥

#### ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च । पापकुन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥

ख्यापनेनेति ॥ पापकारी नरो लोकेषु निजपापकथनेन 'धिक्यामितपाप-कारिणम्' इति पश्चाचापेन शुध्यति । तपसा चोग्ररूपेण सावित्रीजपादिना च पापान्मुच्यते । तपस्यशक्तो दानेन च पापान्मुक्तो भवति । ख्यापनं चेदं प्रकाशपायश्चित्ताङ्गभूतं न रहस्यप्रायश्चित्ताङ्गं रहस्यत्वहानिप्रसङ्गात् । अनुता-पश्च प्रकाशरहस्याङ्गमेव । दानेनेति प्राजापत्यत्रत एकधेनुविधानात् । धेनुश्च पञ्चपुराणीया त्रिपुराणीया वेति । एतेन ब्रह्महत्यानिमिक्तके द्वादश-वार्षिकवते मासि सार्थद्वयप्राजापत्यात् वत्सरे त्रिंशद्धेनवो भवन्ति । द्वाद-शमिवंषेः पष्ट्यिकशतत्रयं धेनवो भवन्तीति ॥ २२७ ॥

#### यथा यथा नरोऽधर्मं खयं कृत्वानुभाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

यथेति ॥ यथा यथा स्वयं पापं कृत्वा नरो भाषते छोके ख्यापयति तथा तथा तेन पापेन सर्प ह्व जीर्णस्वचा मुच्यत हति ख्यापनिविधरनुवादः॥२२८॥

#### यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गईति । तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण ग्रच्यते ॥ २२९ ॥

यश्चेति ॥ तस्य पापकारिणो मनो यथा यथा दुष्कृतं कर्मे निन्दृति तथा तथा शरीरं जीवात्मा तेनाधर्मेण मुक्तो भवति । अयमनुतापानुवाद इति ॥ २२९ ॥

> र्कृत्वा पापं हि संतप्य तसात्पापात्प्रमुच्यते । नैवं क्रुयाँ पुनरिति निष्टत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥

कृत्वेति ॥ पापं कृत्वा पश्चात्संतप्य तस्मात्पापानमुच्यत इत्युक्तमि 'नैवं कुर्या पुनः' इत्येवमनूदितम् । यदा तु पश्चात्तापो 'नैवं पुनः करिष्यामि' इत्येवं निवृत्तिरूपसंकल्पफलकः स्यात्तदा सुतरां तस्मात्पापात्पुतो भवतीति । एतच्च निवृत्तिसंकल्पस्य प्रकाशाप्रकाशायश्चित्ताङ्गविधानार्थम् ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् । मनोवाङ्म्तिभिनित्यं ग्रुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥

एवमिति ॥ एवं शुभाशुभानां कर्मणां परलोक इष्टानिष्टफलं मनसा विचार्य मनोवाक्कायैः शुभमेव सर्वं कर्म कुर्यात्, इष्टफल्टवात् । नाशुभं, नरकादिदुः सहेतुत्वात् ॥ २३१ ॥

> अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगार्हेतम्। तैसाद्विम्रक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥

अज्ञानादिति ॥ प्रमादादिच्छातो वा निषिद्धं कर्म कृत्वा तस्मात्पापानमु-किमिच्छन्पुनसन्न कुर्यात् । एतच पुनः करणे प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । अत एव देवलः—'विधेः प्राथमिकादस्माद्वितीये द्विगुणं भवेत्' इति ॥ २३२ ॥

> यसिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः साद्वायवम् । तसिस्तावत्तपः कुर्याद्यावतुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥

यसिनिति ॥ अस्य पापकारिणो यसिन्प्रायश्चित्ताख्ये कर्मण्यनुष्टिते न चित्तस्य संतोषः स्यात्तस्मिस्तदेव प्रायश्चित्तं तावदावर्तयेद्यावन्मनसः संतोषः प्रसादः स्वात् ॥ २३३ ॥

तपोमूलिमदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् । तपोमध्यं बुधेः प्रोक्तं तपोन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

तप इति ॥ यदेतत्सर्वे देवानां मनुष्याणां च सुखं तस्य तपः कारणम् । तपसैव च तस्य स्थितिः । तपोऽन्तः प्रतिनियतविधिरेव देवादिसुखस्य तपसा जननादादिष्टं वेदार्थज्ञैरुक्तम् । उक्तप्राजापत्यादिप्रायश्चित्तात्मकं तपः । असङ्गेन चेदं वक्ष्यमाणं च सर्वतपोमाहात्म्यकथनम् ॥ २३४ ॥

> ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् । वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः श्रुद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥

ब्राह्मणस्पेति ॥ ब्राह्मणस्य ब्रह्मचर्यात्मकवेदान्तावबोधनं तपः, राजन्यस्य रक्षणं तपः, वैदयस्य क्रिवाणिज्यपाञ्चपाल्यादिकं तपः, शूद्रस्य ब्राह्मणपरि-चर्या तप इति वर्णविशेषेणोत्कर्षबोधनार्थम् ॥ २३५ ॥

> ऋष्यः संयतात्मान्ः फलमूलानिलाञ्चनाः । तपसव प्रपञ्चनित त्रेलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

ऋषय इति ॥ ऋषयो वाङ्मनःकायनियमोपेताः फलमूलवायुभक्षास्तप-सैव जङ्गमस्थावरसहितं पृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गात्मकं लोकत्रयमेकदेशस्थाः सन्तो निष्पापान्तःकरणाः प्रकर्षेण पश्यन्ति ॥ २३६ ॥

> औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः। तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥

औषधानीति ॥ औषधानि व्याध्युपशमनहेतुकानि । अगदो गदाभावः । नैरुज्यमिति यावत् । विद्या ब्रह्मधर्मेचर्यात्मकवेदार्थज्ञानं वेदसंबिन्धनौ च नानारूपा स्वर्गादाववस्थितिरित्येतानि तपसैव प्राप्यन्ते । यस्मात्तप एषां प्राप्तिनिमित्तम् ॥ २३७ ॥

> यहुस्तरं यहुरापं यहुर्गं यच दुष्करम् । सैवं तत्तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८॥

यदिति ॥ यहुःखेन तीर्यते प्रहदोषस्चितापदादि, यहुःखेन प्राप्यते क्षत्रियादिना यथा विश्वामित्रेण तेनैव शरीरेण ब्राह्मण्यादि, यहुःखेन गम्यते मेरुपृष्ठादि, यहुःखेन क्रियतेगोः प्रजुरदानादि, तत्सर्वं तपसा साधितुं शक्यते। यसादितदुष्करकार्यकरणं सर्वं तपसा साध्यते तपो दुर्छङ्कनशक्ति ॥ २३८ ॥

> महापातिकनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः । तपसेव सुतप्तेन सच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥

महेति ॥ ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणोऽन्ये उपपातकाद्यकार्यकारिणस्तप-सेवोक्तरूपेणानुष्ठितेन तस्मात्पापान्मुच्यन्ते । उक्तस्यापि पुनर्वचनं प्रायश्चित्त-स्तुत्यर्थम् ॥ २३९ ॥

कीटाँ श्राहिपतङ्गाश्र परावश्र वयांसि च । स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोवलात् ॥ २४०॥ कीटा इति ॥ कीटसर्पश्रलभपश्रपक्षिणः स्थावराणि च वृक्षगुल्मादीनि

पाठा०—1 °न्यगदा ( =रोगोपशामकान्यौषधानि ). 2 सर्वे तु तपसा. 3 कीटाः श्वाहिपतङ्गाश्व.

भूतानि तपोमाहात्म्येन स्वर्ग यान्ति । इतिहासादौ कपोतोपाख्यानादिषु पक्षिणोऽप्यन्निप्रवेशादिकं तपस्तपन्तीति श्रूयते । कीटानां यज्ञातिसहजं दुःखं तत्समं तपस्तेन च क्षीणकल्मषा अविकारिणो जन्मान्तरकृतेन सुकृतेन दिवं यान्ति ॥ २४० ॥

यत्किचिदेनः कुर्वन्ति मेनोवाङ्यतिभिर्जनाः । तत्सर्वं निर्देहन्त्याग्र तपसेव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

यत्किचिदिति ॥ यत्किचित्पापं मनोवाग्देहैर्मानवाः कुर्वन्ति तत्सर्वे पापं निर्देहन्ति । तपसैव तपोधना इति तप एव धनमिव रक्षणीयं येषां ते तपोधनाः ॥ २४१ ॥

> तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवोकसः । इज्याश्र प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥ २४२ ॥

तपसैवेति ॥ प्रायश्चित्ततपसा श्लीणपापस्य ब्राह्मणस्य यागे हवींषि देवाः प्रतिगृह्णन्ति । अभिलिषितार्थाश्च प्रयच्छन्ति ॥ २४२ ॥

> प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसेवास्त्रजतप्रभः। तथैव वेदानृषयस्तपसेव प्रपेदिरे ॥ २४३ ॥

प्रजापितिरिति ॥ हिरण्यगर्भः सकललोकोत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रभुः तपःकर-णपूर्वकमेवेमं ग्रन्थमकरोत् । तथैव ऋषयो वसिष्ठादयस्तपसैव मञ्जबाह्मणा-रमकान्वेदान्प्राप्तवन्तः ॥ २४३ ॥

> इँद्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते । सर्वस्थास्य प्रपञ्यन्तस्तपसः पुण्यम्रत्तमम् ॥ २४४ ॥ [ ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम् । अरागद्वेषलोभाश्र तप उक्तं स्वयंभ्रवा ॥ ]

इत्येतिदिति ॥ सर्वस्थास्य जन्तोर्येदुर्रुभं जन्म तपसः सकाशादिस्रेवं देवाः प्रपश्यन्तः 'तपोमूरुमिदं सर्वम्' (११।२३४) इत्यादि तपोमाहात्म्यं प्रवदन्ति ॥ २४४॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्तया महायज्ञित्रया क्षमा । नाशयन्त्याश्च पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥

नाश्यन्त्याशु पापानि महापातकजान्याप् ॥ २४५ ॥ वेदाभ्यास इति ॥ यथाशक्ति मत्यहं वेदाध्ययनं पञ्चमहायज्ञानुष्ठानमप-राधसहिष्णुत्वमित्येतानि महापातकजनितान्यपि पापानि शीव्रं नाशयन्ति किमुतान्यानि ॥ २४५ ॥

पाठा०—1 मनोवाकर्मभिर्जनाः. 2 ॰ त्तपसा प्रतिपेदिरे. 3 यदेतनापसो. 4 पुष्पमुद्भवम् (=श्रुभजन्म).

# येथेथस्तेजसा विह्नः प्राप्तं निर्दहित क्षणात् । तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहित वेद्वित् ॥ २४६ ॥

यथेति ॥ यथाग्निः काष्टान्यासन्नानि क्षणेनैव तेजसा निःशेषं करोति तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्व वेदार्थज्ञो ब्राह्मणो नाशयति । इत्वेतत्परमात्मज्ञान-स्रोतत्पापक्षयोत्कर्षज्ञापनार्थमेतत् ॥ २४६ ॥

#### इंत्येतदेनसाम्रक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि । अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निवोधत २४७ ॥

इत्येतिदिति ॥ इत्येतद्रह्महत्यादीनां पापानां प्रकाशानां प्रायश्चित्तं यथा-विध्यभिहितम् । अत ऊर्ध्वमप्रकाशानां पापानां प्रायश्चित्तं ऋणुत । अयं श्लोको गोविन्दराजेनालिखितः, मेधातिथिना तु लिखित एव ॥ २४७ ॥

# सन्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश्च । अपि भ्रूणहृणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

सद्याह्नतीति ॥ सन्याहतिसप्रणवाः सावित्रीशिरोयुक्ताः प्रककुम्भकरेच-कादिविधिना प्रत्यहं षोडश प्राणायामाः कृताः मासाद्रह्मप्रमिष निष्पापं कुर्वनित । 'अपि'शब्दादातिदेशिकबह्महत्याप्रायश्चित्ताधिकृतमि । एतच प्रायश्चित्त द्विजातीनामेव, न स्वीशूद्धादेमीन्नानधिकारात् ॥ २४८ ॥

# कौत्सं जानाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् । माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥ २४९ ॥

कौत्समिति ॥ कौत्सेन ऋषिणा दृष्टं 'अप नः शोशुचद्यम्' (ऋसं १।७।५) इत्येतत्स् कं विसष्टेन ऋषिणा दृष्टं च 'प्रतिस्तोमेभिरुषसं विसष्टाः' (ऋसं ५।५। २७) इत्येव ऋचं, माहित्रं 'महित्रीणामवोस्तु' (ऋसं ८।८।४३) इत्येतत्स् कं, शुद्धवतः 'एतोन्विन्दं स्तवाम शुद्धम्' (ऋसं ६।६।३१) इत्येतास्तिस्र ऋचः, प्रकृतं मासमहरहः षोडशकृत्वोऽपि जपित्वा सुरापोऽपि विशुध्यति । 'अपि'-शब्दादातिदेशिकसुरापानप्रायश्चित्ताधिकृतोऽपि ॥ २४९ ॥

# सकुज्जस्वास्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च । अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥

सकृदिति ॥ ब्राह्मणः सुवर्णमपहत्य 'अस्य वामस्य पिलतस्य' (ऋ.सं. २।३। १४) इत्येतत्सूक्तं प्रकृतत्वान्मासमेकं प्रत्यहमेकवारं जिनत्वा, ज्ञिवसंकल्पं च 'यजाप्रतो दूरम्' (वाज. सं. ३४।१) इत्येतद्वाजसनेयके यत्पितं तज्जिपत्वा सुवर्णमपहत्यं क्षिप्रमेव निष्पापो भवति ॥ २५०॥

पाठा०—1 यथैधाँस्तेजसा. 2 इत्येषामेनसामुक्तं; इत्येष एनसामुक्तं. 3 माहेन्द्रं (='महां इन्द्रो य ओजसे' इत्यादि ).

#### हैविष्पान्तीयमभ्यस्य न तमं ह इतीति च । जिपत्वा पौरुषं सक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥

ह्विष्पान्तीयमिति॥ 'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि' (क.सं. ८।४।१०) इत्येक्तेनविंशतिक्तचः 'न तमंहो न दुरितम्' (क. सं. २।६।२९) इत्यष्टो, 'इति वा इति मे मनः', (क. सं. ८।६।२६) 'शिवसंकल्प' (?) इति च सूकं 'सहस्रक्षीर्षा पुरुषः' (क.सं. ८।४।१७) इत्येतच षोडशर्च सूकं मासमेकं प्रत्यहम्मभ्यस्येति श्रवणात्प्रकृतत्वात् षोडशाभ्यासाज्ञपित्वा गुरुदारगस्तस्मात्पापान्मुच्यते॥ २५१॥

# एनसां स्थूलसङ्गाणां चिकीर्षत्रपनोदनम् । अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किचेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

एनसामिति ॥ स्थूलानां पापानां महापातकानां सूक्ष्माणां चोपपातकादीनां निर्हरणं कर्तुमिच्छन् 'अव ते हेळो वरुण नमोभिः' (ऋसं. १।२।१५) इत्येता- मृचं, 'यिंकचेदं वरुण दैव्ये जने' (ऋसं. ५।६।११) इत्येतां च ऋचं, 'इति वा इति मे मनः' (ऋसं. ८।६।२६) इत्येतत्सूकं संवत्सरमेकवारं प्रत्यहं जपेत् २५२

# प्रतिगृह्याप्रतिप्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् । जपंस्तरत्समन्दीयं प्यते मानवस्त्रयहात् ॥ २५३ ॥

प्रतिगृह्योते ॥ स्वरूपतो महापातिकथनत्वादिना वाऽप्रतिग्राह्यं प्रतिगृह्य चात्रं स्वभावकालप्रतिग्रहसंसर्गदुष्टं भुक्त्वा 'तरत्स मन्दी धावति' (ऋ.सं.७।१। १५) इत्येता ऋचश्रतस्रो जपित्वा त्र्यहं तस्मात्पापान्मनुष्यः पूतो भवति॥२५३॥

# सोमारौद्रं तु बँह्वेना मासमभ्यस्य शुध्यति । स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्थमणामिति च तृचम् ॥ २५४ ॥

सोमिति ॥ 'सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यम्' (क.सं. ५।१।१८) इति चतस्तः । 'अर्थमणं वरुणं मित्रं च' (क.सं. ३।४।१६) इति क्रक्त्रयं नद्यां च स्नानं कृत्वा मासमेकं प्रत्येकमभ्यस्य बहुपापो विद्युध्यति । बहुष्विप पापेषु तन्नेणैकं प्राय-श्चित्तं कार्यमिति ज्ञापकमिदम् ॥ २५४॥

# अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् । अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत मैक्षश्चक् ॥ २५५ ॥

अब्दार्घमिति ॥ एनस्वीत्यिक्शेषात्सर्वेष्वेव पापेषु 'इन्द्रं मित्रं वरूणम-प्रिम्' (क.सं. २।३।२२) इत्येताः सप्त ऋचः षण्मासं जपेत् । संप्रशस्तं मूत्र-पुरीषोत्सर्गादिकं जले कृत्वा मासं भैक्षभोजी भवेत् ॥ २५५॥ •

पाठा०—1 हविष्यानतीय; हविष्यन्तीय. 2 बह्वेनाः समामभ्यस्य.

# मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः । सुगुर्वेष्यपहन्त्येनो जस्वा वा नैम इत्युचम् ॥ २५६ ॥

मन्त्रीरिति ॥ 'देवकृतस्य' (वाज.सं.८।१३) इत्यादिभिः शाकलहोममन्त्रैः संव-त्सरं घृतहोमं कृत्वा 'नैम इन्द्रश्च' (१) इत्येतां वा ऋचं संवत्सरं जिपत्वा महापातकमि पापं द्विजातिरपहन्ति ॥ २५६ ॥

# महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्धाः समाहितः । अभ्यस्याब्दं पावमानीभैक्षाहारो विशुध्यति ॥ २५७ ॥

महापातकेति ॥ ब्रह्महत्यादिमहापातकयुक्तो भिक्षालब्धाहारो वर्षमेकं संयतेन्द्रियो गवामनुगमनं कुर्वन् 'यः पावमानीरध्येति' ( ऋ. सं. ७।२।१८ ) इत्यादिऋचोऽन्वहमभ्यासेन जपित्वा तस्मात्पापाद्विशुद्धो भवति ॥ २५७ ॥

# अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८॥

अरण्य इति ॥ त्रिभिः पैराकैः पूतो मञ्जबाह्यणात्मिकां वेदसंहितां अरण्ये वारत्रयमभ्यस्य वा प्रयतो बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः सर्वेर्महापातकैर्मुच्यते २५८

# त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्वोऽभ्युपयन्नपः । मुच्यते पातकः सर्वेस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९ ॥

ज्यहमिति ॥ त्रिरात्रमुपवसन्संयतः प्रत्यहं प्रातमध्याद्वसायंकालेषु स्नानं कुर्वेन् त्रिषवणस्नानकाल एव जले निमज्य 'ऋतं च सत्यं च' (ऋ.सं.८।८।४८) इति स्क्तमधमर्षणं त्रिरावृत्तं जिपत्वा सवैंः पापेर्मुच्यते । तत्र गुरुलघुपापापे- क्षया पुरुषशक्तयाद्यपेक्षया चावर्तनीयम् ॥ २५९ ॥

# यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः । तथाऽघमर्षणं सक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६०॥

यथेति ॥ यथाऽश्वमेधयागः सर्वयागश्रेष्ठः सर्वपापक्षयहेतुस्तथाऽधमर्षण-सुक्तमपि सर्वपापक्षयहेतुरित्यघमर्षणसुक्तोत्कर्षः ॥ २६० ॥

#### हत्वा लोकानपीमांस्नीनश्रन्नपि यतस्ततः। ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्रामोति किंचन ॥ २६१ ॥

हत्वेति ॥ भूरादिछोकत्रयमपि इत्वा महापातक्यादीनामप्यक्रमश्चन् अरुग्वेदं धारयन्विपादिनं किंचित्पापं प्राप्तोति ॥ २६१ ॥

१ मेथातिथ्यादयस्तु 'नम' इत्यनेन 'नमो रुद्राय तवसे' इति मन्नं जपेदित्याहुः. २ द्वादशाहोपनासेनैकः पराककृच्छ्रो भवति; 'त्रिभिः पराकैः' नाम षट्त्रिशाहोप-वासैरिति भावः.

ऋग्वेदं रहस्यप्रायश्चित्तार्थमुक्तं ततश्च रहस्यपापे कृते ऋक्संहितां मन्नज्ञा-ह्मणात्मिकामम्यसेत्तदाह---

मनुस्मृतिः

ऋक्तंहितां त्रिरभ्यस्य यज्जवां वा समाहितः । साम्नां वा सरहस्थानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

ऋगिति ॥ ऋक्संहितां मञ्जबाह्मणात्मिकां नतु मञ्जमात्रात्मिकां अनन्तरं 'वेदे त्रिष्ट्वित' (११।२६३) इति प्रत्यवमर्शात् । यञ्जषां वा मञ्जबाह्मणानां संहितां साम्नां वा ब्राह्मणोपनिषद्संहितां वारत्रयमभ्यस्य सर्वपापैः प्रमुक्तो भवति ॥ २६२ ॥

यथा महाहदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनन्न्यति । तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥

यथेति ॥ ऋगाद्यात्मना त्रिरावर्तत इति त्रिवृत् यथा महाहदं प्रविश्य , लोष्टं विशीर्थते तथा सर्वं दुश्चरित्ं त्रिवृति वेदे विनश्यति ॥ २६३ ॥

त्रिवृत्त्वमेवाह--

ऋचो यज्ंषि चान्यानि सामानि विविधानि च । एष ज्ञेयस्त्रिष्टदेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ २६४ ॥

ऋच इति ॥ ऋच ऋद्यञ्चाः, यज्ञ्षि यज्ञमेञ्चाः, सामानि बृहद्दथन्तरादीनि नानाप्रकाराण्यन्यानि एषां त्रयाणां पृथक् पृथक् मञ्जबाह्मणानि एष त्रिवृ-द्वेदो ज्ञातन्यः य एनं वेद स वेद्विद्मवति ॥ २६४ ॥

> आद्यं यभ्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता । स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्धेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥ [पृथग्ब्राह्मणकल्पाभ्यां स हि वेदस्त्रिवृत्समृतः ।]

इति मानवे धर्मशास्त्रे सृगुप्रोक्तायां संहितायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११॥

आद्यमिति ॥ सर्ववेदानामायं यद्गह्य वेदसारं क्षकारोकारमकारात्मकत्वेन ज्यक्षरं यत्र त्रयो वेदाः स्थिताः सोऽन्यस्त्रिवृद्धेदः प्रणवाख्यो गुद्धो गोपनीय-वेदमञ्जलेष्ठत्वात्, परमार्थाभिधायकत्वात्परमार्थकत्वेन धारणजपाभ्यां मोक्ष-हेतुत्वाच । यसं स्ररूपतोऽर्थतश्च जानाति स बेद्वित् ॥ २६५ ॥

प्रायश्चित्ते बहुमुनिमतालोचनाद्यन्मयोक्तं सम्बाख्यानं खलु मुनिगिरां तद्गजध्यं गुणज्ञाः । नैतन्मेधातिथिरभिद्धे नापि गोविन्दराजो ब्याख्यातारो न जगुरपरेऽप्यन्यतो दुर्लभं वः ॥ १ ॥ इति श्रीकुहूकमद्दविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुदृक्तावैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ अथ द्वादशोऽध्यायः १२

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयम्रुक्तो धर्मस्त्वयानघ। कर्मणां फलनिर्द्वत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १॥

चातुर्वेण्यस्येति ॥ हे पापरहित! ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयस्य सान्तरप्रभव-स्यायं धर्मस्त्वयोक्तः । इदानीं कर्मणां ग्रुभाग्रुभफलप्राप्तिं परां जन्म्नान्तर-प्रभवां परमार्थरूपामस्माकं ब्रहीति महर्षयो स्रुगमवोचन् ॥ १ ॥

> स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः। अस्य सर्वस्य ग्रणुत कर्मयोगस्य निर्णयम्॥ २॥

स तानिति ॥ स धर्मप्रधानो मनोरपत्यात्मा भृगुरस्य सर्वस्य कर्मसंब-न्धस्य फलनिश्चयं शृणुतेति तान्महर्षीनत्रवीत् ॥ २ ॥

> शुभाश्चभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् । कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

शुभेति ॥ मनोवाग्देहहेतुकं कर्म विहित्तनिषिद्धरूपं सुखदुःखफलकं तज्ञ-न्या एव मनुष्यतिर्यगादिभावेनोत्कृष्टसध्यमाधमापेक्षया मनुष्याणां गतयो जन्मान्तरप्राप्तयो भवन्ति । 'कर्म'शब्दश्चात्र न कायचेष्टायामेव किंतु ममेदं स्वमिति संकल्परूपयोगादिध्यानाचरणादाविष कियामात्रे वर्तते ॥ ३ ॥

> तसेह त्रिविधसापि त्र्यधिष्ठानस देहिनः । दश्रलक्षणयुक्तस मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४॥

तस्येति ॥ तस्य देहिसंबन्धिनः कर्मण उत्कृष्टमध्यमाधमतया त्रिप्रकारस्यापि मनोवाक्कायाश्रितस्य वक्ष्यमाणदश्रुक्षणोपेतस्य मन एव प्रवर्तकं जानीयात् । मनसा हि संकल्पितमुच्यते क्रियते च । तथा तैत्तिरीयोपनिषदि—'तस्माद्य-रपुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति ॥ ४ ॥

तानि दशलक्षणानि कर्माणि दर्शयितुमाह—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥

परद्रव्येष्ट्विति ॥ कथं परधनमन्यायेन गृह्णामीसेवं चिन्तनम्, मनसा व्रह्मचधादिनिषिद्धाकाङ्क्षा, नास्ति परलोकः देह, एवात्मेसेतद्वहश्चेस्येवं त्रिप्रकारमञ्जभपलं मानसं कर्म । एतच्चयविपरीतबुद्धिश्च त्रिविधं ग्रभफलं मानसं कर्म । 'श्चमाग्रभफलं कर्म' (१२।३) इत्युभयस्येव प्रकान्तत्वात् ॥ ५ ॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः । असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं साचतुर्विधम् ॥ ६ ॥

पारुष्येति ॥ अप्रियाभिधानं, असत्यभाषणं, परोक्षे परदूषणकथनं, सत्यस्यापि राजदेशपौरवार्तादेनिष्प्रयोजनं वर्णनम्, इत्येवं चतुःप्रकारमञ्जभफलं वाचिकं कर्म भवेत् । एतद्विपरीतं प्रियसत्यपरगुणाभिधानं श्रुतिपुराणादौ च राजादिवरितकथनं ग्रुभफलम् ॥ ६ ॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः । परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

अद्त्तानामिति ॥ अन्यायेन परस्वप्रहणमशास्त्रीयहिंसा परदारगमनमि-त्येवं त्रिप्रकारमञ्जभफलं शारीरं कर्मे । एतद्विपरीतं त्रयं श्चभफलम् ॥ ७ ॥

> मानसं मनसैवायग्रुपभुङ्के शुभाशुभम् । वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८॥ [ त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् । मनसा त्रिविधं कर्म दश धर्मपथांस्त्यजेत् ॥ ]

मानसमिति ॥ मनसा यत्सुकृतं दुष्कृतं वा कर्म कृतं तत्फळं सुखदुःख-रूपमिद्द जन्मिन जन्मान्तरे वा मनसेवायमुपभुक्के । एवं वाचा कृतं ग्रुभाग्रुभं वाग्द्वारेण मधुरगद्भदमाषित्वादिना, शारीरं ग्रुभाग्रुभं शरीरद्वारेण स्वक्चन्द्रनादिप्रियोपभोगव्याधितत्वादिनानुभवति । तस्मात्प्रयक्षेन शारीरमानसवाचि-कानि धर्मरहितानि च वर्जयेश्व कुर्याच ॥ ८ ॥

श्ररीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पश्चिम्गतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥ [ श्रुभैः प्रयोगेर्देवत्वं व्यामिश्रेमीनुषो भवेत् । अश्रुभैः केवलैश्रेव तिर्यग्योनिषु जायते ॥ वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम् । कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन्हन्यादपरिरक्षितः ॥ वाग्दण्डोऽथ भवेन्मानं मनोदण्डस्त्वनाश्चनम् । श्रारीरस्थ हि दण्डस्य प्राणायामो विधीयते ॥ ]

श्रीरेति ॥ यद्यपि पापिष्ठानां शारीरवाचिकमानसिकान्येव श्रीणि पापानि संमवन्ति तथापि स यदि प्रायशोऽधर्ममेव सेवते, धर्ममरूपमिति बाहुल्याभि-श्रासेणेति व्याख्यातम्, बाहुल्येन शरीरकर्मजपापैर्युकः स्वावरसं माजुषः प्रामोति । बाहुल्येन वाक्कृतैः पक्षित्वं मृगत्वं वा । बाहुल्येन मनसा कृतैश्चा-ण्डालादित्वं प्राप्तोति ॥ ९॥

> वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च । यस्यैते 'निहिता बुद्धै। त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

चाग्दण्ड इति॥ दमनं दण्डः, वाङ्मनःकायानां दण्डा निषिद्धाभिधानात ससंकल्पप्रतिषिद्धन्यापारत्यागेन बुद्धाववस्थिताः स त्रिद्ण्डीत्युच्यते । नतु दण्डत्रयधारणमात्रेणेत्याभ्यन्तरदण्डत्रयप्रशंसा ॥ १०॥

> त्रिदण्डमेतनिक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः। कामकोधौ तुँ संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥

त्रिदण्डमिति ॥ एवं निषिद्धवागादीनां सर्वभूतगोचरतया दमनं कृत्वैतह्म-नार्थमेव कामकोधौ तु नियम्य ततो मोक्षावाप्तिलक्षणां सिद्धिं मनुष्यो लभते ॥

कोऽसौ सिद्धिमामोतीत्वत बाह—

योऽस्यात्मनः कार्यिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।

यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

य इति ॥ अस्य लोकसिद्धस्थात्मोपकारकत्वादात्मनः शरीराख्यस्य यः कर्मस प्रवर्तियता तं क्षेत्रज्ञं पण्डिता वदन्ति । यः पुनरेष व्यापारान्करोति शरीराख्यः स पृथिन्यादिभूतारम्भत्वाज्जूतात्मैवेति पण्डितेरुच्यते ॥ १२ ॥

> जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्वे सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥

जीवसंज्ञ इति ॥ 'जीव'शब्दोऽयं महत्परः, 'येन' इति करणविभक्तिनिर्दे-शात्। उत्तरहलोके च 'ताबुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च' (१२।१४) इति तच्छब्देन प्रत्यवमर्शाच्छरीरक्षेत्रज्ञातिरिक्तोऽन्तःशरीरमौत्माख्यत्वादात्मा जीवाख्यः सर्वक्षेत्रज्ञानां सहज आत्मा । तत्प्राप्तेस्तेस्तस्य विनियोगात् । येनाहं-कारेन्द्रियरूपतया परिणतेन कारणभूतेन क्षेत्रज्ञः प्रतिजनम सुखं दुःखं ज्ञानु-भवति ॥ १३ ॥

> ताबुमौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च । उचावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

ताविति ॥ तौ द्वौ महत्सेत्रज्ञौ पृथिन्यादिपञ्चभूतसंपृक्षौ वस्यमाणं सर्वेलोकवेदस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धतया तमिति निर्दिष्टं परमात्मान्मुत्कृष्टाप-कृष्टसस्वेषु व्यवस्थितमाश्रित्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

पाठा०-1 नियता. 2 सुसंयम्य.

# असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः । उचावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥

असंख्या इति ॥ तस्य परमात्मनः शरीराद्मंख्यमूर्तयो जीवाः 'क्षेत्रज्ञ'शब्दे-नानन्तरमुक्ता लिङ्गशरीराविष्ठश्वा वेदान्त उक्तप्रकारेणाभेरिव स्फुलिङ्गा निः-सरन्ति । या मूर्तेय उत्कृष्टापकृष्टभूताभिदेवरूपतया परिणतानि सर्वदा कर्मसु प्रेरयन्ति ॥ १५ ॥

> पश्चभ्य एव मीत्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् । श्वरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

पञ्चभ्य इति ॥ पञ्चभ्य एव प्रथिव्यादिभूतेभ्यो दुष्कृतकारिणां मनुष्याणां पीढानुभवप्रयोजकं जरायुजादिदेहच्यतिरिक्तं दुःखसहिष्णु शरीरं परलोके जा-यते ॥ १६ ॥

> तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः । तास्वेव भृतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ।। १७ ॥

तेनिति ॥ तेन निर्गतेन शरीरेण ता यमकारिता यातना दुष्कृतिनो जीवाः सूक्ष्मानुभूतस्थूलशरीरनाशे तेष्वेवारम्भकभूतभागेषु यथास्वं प्रलीयन्ते । सस्योगीनो भूखाऽवतिष्ठन्त इस्यर्थः ॥ १७ ॥

सोऽनुभूयासुखोदकीन्दोषान्विषयसङ्गजान् । व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

सोऽनुभूयेति ॥ स शरीरी भूतसूक्ष्मादिलिङ्गशरीराविच्छको निषिद्धशब्द-स्पर्शरूपरसगन्धाल्यविषयोपभोगजनितयमलोकदुःखाद्यनुभूयानन्तरं भोगाद-पद्दतपाप्मा तावेव महत्परमात्मानौ महावीयौ द्वावाश्रयति ॥ १८ ॥

तौ धर्म पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।

याभ्यां प्रामोति संप्रक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥

ताविति ॥ तौ महत्परमात्मानौ अनलसौ तस्य जीवस्य धर्म भुक्तहोषं च पापं सह विचारयतः । याभ्यां धर्माधर्माभ्यां युक्तो जीवः परलोकेहलोकयोः सुखदुःखे प्राप्तोति ॥ १९ ॥

यैद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः । तैरेव चावतो भूतैः खर्गे सुखग्रुपाश्चते 1। २० ॥

यदीति ॥ स यदि जीवो मानुषद्शायां बाहुस्येन धर्ममनुतिष्ठति अस्पं चाधमे तदा तैरेव प्रथिन्यादिभूतैः स्थूछशरीररूपतया परिणतैर्भुकः स्वर्ग-सुसमनुभवति ॥ २०॥

पाडा०-1 भूतेभ्यः, 2 यथाचरति,

यदि तु प्रायशोऽधर्म सेवते धर्ममल्पशः । तैर्भृतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्तोति यातनाः ॥ २१ ॥

यदीति ॥ यदि पुनः स जीवो मानुषदशायां बाहुल्येन पापमनुतिष्ठति अल्पं च पुण्यं तदा तैरेव भूतैर्मानुषदेहरूपतया परिणतैस्त्यक्तो मृतः सञ्च-नन्तरं 'पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः' (१।२।१६) इत्युक्तरीत्या यातनानुभवोचित-संपातकठिनदेहो यामीः पीडा अनुभवति ॥ २१ ॥

> यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः । तान्येव पश्चभृतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

यामीरिति ॥ स जीवो यमकारितास्ताः पीडास्तेन कठिनदेहेनानुभूय ततो भोगेनापहतपाप्मा तान्पञ्च जरायुजादिशरीरारम्भकान्प्रथिव्यादिभूतभागान- धितिष्ठति । मानुषादिशरीरं गृह्णातीत्यर्थः ॥ २२ ॥

एँता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्रेव धर्मे दृध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥

एता इति ॥ अस्य जीवस्य एता धर्माधर्महेतुकाः स्वर्गनरकाद्युपभोगोचि-तिप्रयाप्रियदेहप्राप्तीरन्तःकरणे ज्ञात्वा धर्मानुष्ठाने मनः सदा संगतं कुर्यात् ॥

सत्त्वं रजस्तमश्रेव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् । यैर्व्याप्येमान्धितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

सत्त्वमिति ॥ सत्त्वरजस्तमांसि त्रीणि वक्ष्यमाणगुणलक्षणानि आत्मोपकार-कत्वादात्मनो महतो गुणाञ्जानीयात्, यैर्ग्यासो महानिमान्स्थावरजङ्गम-रूपान्पदार्थाज्ञःशेषेण ज्याप्य स्थितः ॥ २४ ॥

> यो यदैशां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते । स तदा तद्घणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥

य इति ॥ यद्यपि सर्वमेवेदं त्रिगुणं तथापि यत्र देहे येषां गुणानां मध्ये यो गुणो यदा साकल्येनाधिको भवति तदा तद्वुणलक्षणबहुलं तं देहिनं करोति ॥ २५ ॥

संप्रति सत्त्वादीनां लक्षणमाह—

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् । एतद्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वषुः ॥ २६ ॥

सत्त्वमिति ॥ यथार्थावभासो ज्ञानं तत्सत्त्वस लक्षणम् । एतद्विपरीत-मज्ञानं तत्तमोलक्षणम् । विषादाभिलाषं मानसकार्यं रजोलक्षणम् । स्वरूपं तु सत्त्वरजस्तमसां प्रौत्यप्रीतिविषादात्मकम्। तथा च पठन्ति 'प्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशवृत्तिनियमार्था अन्योन्याभिभवजननिधुनवृत्त्यश्च गुणाः'। एतचैषां स्वरूपमनन्तरश्चोकत्रयेण वक्ष्यति । एतेषां सत्त्वादिगुणानामेतज्ज्ञानादि सर्वप्राणिन्यापकं लक्षणम् ॥ २६ ॥

तत्र यत्त्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् । प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तेदुपधारयेत् ॥ २७ ॥

तत्रेति ॥ तसिन्नात्मिन यत्संवेदनं प्रीतियुक्तं प्रत्यसमितक्केशं प्रकाशरूप-मनुभवेत्तत्पत्तवं जानीयात् ॥ २७ ॥

> यतु दुःखसमायुक्तमशीतिकरमात्मनः । तद्रजः प्रैतीपं विद्यात्सततं हैंारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

यन्त्रित ॥ यत्पुनः संवेदनं दुःखानुविद्धमत एव सत्त्रशुद्धात्मशीतेरजनकं सर्वदा च शरीरिणां विषयस्पृहोत्पादकं तत्त्वनिवारकात्प्रतिपक्षं रजो जानी-यात् ॥ २८ ॥

> यत्तु स्थान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् । अप्रतक्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

यस्विति ॥ यत्पुनः सदसद्विवेकग्रन्यमस्फुटविषयाकारस्यभावमतर्कनीय-स्वरूपमन्तःकरणबहिःकरणाभ्यां दुर्ज्ञातं तत्तमो जानीयात् । एषां च गुणानां स्वरूपकथनं सत्त्ववृत्त्यवस्थितौ यववता भवितव्यमित्येतत्प्रयोजनकम् ॥२९॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।

अग्रयो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २० ॥ जयाणामिति ॥ एतेषां सत्त्वादीनां त्रयाणामि गुणानां यथाकममुत्तम- मध्यमाधमरूपो यः फलोत्पादकसं विशेषेण वक्ष्यामि ॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः।

धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्रिकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥ वेदाभ्यास इति ॥ वेदाभ्यासः, प्राजापत्याचनुष्ठानं, शास्त्रार्थावशेषः, मृद्वार्यादिशोचं, इन्द्रियसंयमः, दानादिधर्मानुष्ठानं, आत्मध्यानपरता, एत-स्सन्त्वाख्यगुणस्य कार्यम् ॥ ३१ ॥

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः। विषयोपसेना चाजसं राजसं गुणलक्षणम्।। ३२।।

आरम्मेति ॥ फलार्थं कर्मानुष्टानशीलता, बल्पेऽप्यर्थे वैक्कव्यं, निविद्धक-मीचरणं, अजसं शब्दादिविषयोपभोग इत्येतम्जोभिधानगुणस्य कार्यम् ॥ ३२॥

<sup>्</sup>पाठा॰—1 तदवधारयेत्, 2 तद्रजोऽप्रतिपं (=अप्रलक्षं, पारमार्थिकम् ); तद्रजोऽप्रतिषं (=प्रतिधातरिहतं). 3 हुर्तृ.

लोभः खमोऽधृतिः कौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता । याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३॥

लोभ इत्यादि ॥ अधिकाधिकधनस्प्रहा, निद्रात्मता, कातर्य, पैशुन्यं, पर-लोकाभावबुद्धिः, आचारपरिलोपः, याचनशीलव्वं, संभवेऽपि धर्मादिष्वनव-धानं, इत्येतत्तामसाभिधानस्य गुणस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥

> त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्। इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम्।। ३४॥

त्रयाणामपीति ॥ एषां सस्वादीनां त्रयाणामपि गुणानां त्रिषु कालेषु भूत-भविष्यद्वतैमानेषु विद्यमानानामिदं वक्ष्यमाणसापेक्षिकं क्रमेण गुणलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ ३४ ॥

> यत्कर्म कृत्वा कुर्वश्च करिष्यंश्चेव लज्जति । तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वे तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

यदिति ॥ यक्तर्म कृत्वा, कुर्वन्, करिष्यंश्च लजावान्भवति । कालन्नये हयोरन्यत्र वेति विवक्षितं तत्सर्वं तमःकार्यत्वात्तमोभिधानं गुणलक्षणं शास्त्र-विदा बोद्धन्यम् ॥ ३५ ॥

> येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् । न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

येनेति॥ इहलोके महतीं ख्यातिं प्राप्तयाम्'इत्येतदर्थमेव यो यस्कर्म करोति न परलोकार्थं नच तस्कर्मफलासंपत्तौ दुःखी भवति तद्रजःकार्यत्वाद्रजोगुण-लक्षणं विज्ञेयम्॥ ३६॥

> यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यत्र लज्जति चाचरन् । येन तुष्यति चात्मास्य तत्सच्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥

यदिति ॥ यत्कर्म वेदार्थं सर्वात्मना ज्ञातुमिच्छति, यच कर्माचरन् काल-त्रयेऽपि न लज्जति, येन येन कर्मणाऽस्यात्मतुष्टिर्जायते, तत्सत्त्वाख्यस्य गुणस्य रूक्षणं ज्ञेयम् ॥ ३७ ॥ \*

> तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते । सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठचमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

तमसं इति ॥ कामप्रधानता तमसो रुक्षणम्, अर्थनिष्ठता रजसः, धर्म-प्रधानता सन्त्रसः, एषां च कामादीनामुत्तरोत्तरस्य श्रेष्टत्वम् । कामादर्थः श्रेषान्, अर्थमूलस्वास्कामस्य । ताभ्यां च धर्मः, तन्मूलस्वात्तयोः ॥ ३८ ॥ येन यीस्तु गुणेनैषां संसीरान्प्रतिपद्यते । तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्थास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥

येनेत्यादि ॥ एषां सत्त्वादीनां गुणानां मध्ये येन गुणेन स्वकार्येण या गती-जीवः प्राप्तोति ताः सर्वस्थास्य जगतः संक्षेपतः क्रमेण वस्थामि ॥ ३९ ॥

देवत्वं सान्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।

तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥ देवत्विमिति ॥ ये सत्त्ववृत्ताववस्थितास्ते देवत्वं यान्ति । ये तु रजोवृत्त्यवस्थिन तास्ते मनुष्यत्वम् । ये तमोवृत्तिस्थास्ते तिर्यक्तं चेलेषा त्रिविधा जन्मप्राप्तिः ॥

त्रिविधा त्रिविधेषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः। अधमा मध्यमाप्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥४१॥

त्रिविधिति ॥ या सत्त्वादिगुणत्रयनिमित्ता त्रिविधा जन्मान्तरप्राप्तिरुक्ता सा देशकालादिभेदेन संसारहेतुभूतकर्मभेदाञ्ज्ञानभेदाश्वाधममध्यमोत्तमभेदेन पुनस्त्रिविधा बोद्धव्या ॥ ४१ ॥

> स्थावराः कृमिकीटाश्र मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः । पश्चश्च मृगाश्चेव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

स्थावरा इति ॥ स्थावरा वृक्षादयः, कृमयः सूक्ष्माः प्राणिनः, तेभ्य ईष-रस्थूलाः कीटाः,तथा मःस्थसपंकूर्मपग्रुमृगाश्चेत्येषा तमोनिमित्ता जघन्या गतिः॥

हस्तिनश्र तुरंगाश्र शूद्रा म्लेच्छाश्र गर्हिताः।

सिंहा व्याघ्रा वराहाश्र मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥ हस्तिनश्चेति ॥ हस्त्रश्चशूद्धम्लेच्छसिंहव्याघ्रसूकरास्त्रमोगुणनिमित्ता मध्यमा गतिः । गहिंता इति म्लेच्छानां स्वरूपानुवादः ॥ ४३ ॥

चारणाश्र सुपर्णाश्र पुरुषाश्रेव दाम्भिकाः।

रक्षांसि च पिशाचाश्र तामसीपूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

चारणाश्चेति ॥ चारणा नटादयः, सुपर्णाः पक्षिणः, छग्नना कर्मकारिणः पुरुषाः, राक्षसाः, पिशाचाश्चेत्येषा तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

्र झङ्घा मछा नटाश्रेव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।

द्युतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजर्सी गतिः ॥ ४५ ॥

हाला इति ॥ सला मलाः श्रित्रयाद्वात्यात्सवर्णायामुत्पन्ना दशमाध्यायोक्ता होयाः । तत्र सला यष्टिमहरणाः, मला बाहुयोधिनः, रङ्गावतारका नटाः, श्रुक्तोवियुत्तपानप्रसक्ताश्च पुरुषा अधमा राजसी गतिईया ॥ ४५ ॥

्राठा०—1 यांस्तु; येन यं तु गुणेनैषां संसारं प्रतिपद्यते । तं समासेन.

क्षा संसारान् राजनेन गतीकातन्याः। सर्वक्रनारायणस्तु जातीरिति व्याख्यातवान्

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः । वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

राजान इति ॥ राजानोऽभिषिक्ता जनपदेश्वराः । तथा श्वत्रिया राजपुरो-हिताश्च शास्त्रार्थकलहप्रियाश्च एषा राजसी गतिर्मध्यमा बोद्धन्या ॥ ४६ ॥

गन्धर्वा गुद्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये । तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीपूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥

गन्धर्वा इति ॥ गन्धर्वाः, गुह्यकाः, यक्षा जातिविशेषाः पुराणादिप्रसिद्धाः, ये च देवानुयायिनो विद्याधरादयः, अप्सरसश्च देवगणिकाः सर्वा इत्येषा राजसीमध्य उत्कृष्टा गतिः ॥ ४७ ॥

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा साचिकी गतिः ॥ ४८ ॥
तापसा इति ॥ वानप्रस्थाः, भिक्षवः, ब्राह्मणाश्च, अप्सरोव्यतिरिक्ताः पुष्पकादिविमानचारिणः, नक्षत्राणि, दैत्याश्चेत्येषा सत्त्वनिमित्ताऽधमा गतिः ॥४८॥

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः । पितरश्रेव साध्याश्र द्वितीया सान्तिकी गतिः ॥ ४९ ॥

यज्वान इति ॥ यागशीलाः, तथर्षयः, देवाः, वेदाभिमानिन्यश्च देवता विग्रहवत्य इतिहासप्रसिद्धाः, ज्योतीिष ध्रुवादीनि, वत्सरा इतिहासदृष्ट्या विग्र-ह्यवन्तः, पितरः सोमपादयः, साध्याश्च देवयोनिविशेषा इत्येषा सत्त्वनिमित्ता मध्यमा गतिः ॥ ४९ ॥

> ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मी महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सान्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥

ब्रह्मेति ॥ चतुर्वदनः, विश्वस्ताश्च मरीच्यादयः, धर्मो विश्वहवान्, महान्, अध्यक्तं च सांख्यप्रसिद्धं च तत्त्वद्वयं, तद्धिष्ठातृदेवताद्वयमिह विवक्षितम् । अचेतनगुणत्रयमात्रस्रोत्तमसात्त्विकगतित्वानुपपत्तेः। एतां चतुर्वदनाद्यात्मिकां सत्त्वनिमित्तामुत्कृष्टां गतिं पण्डिता वदन्ति ॥ ५० ॥

एप सर्वः समुद्दिष्टस्तिःप्रकारस्य कर्मणः । त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्तः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥

एय इति ॥ एव मनोवाक्कायरूपत्रयभेदेन त्रिःत्रकारस्य कर्मणः सत्त्वरजस्त-मोभेदेन त्रिविधः पुनः प्रथममध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधः सर्वप्राणिगतः समग्रो गतिविदोषः कारक्येनोक्तः । 'सार्वभौतिकः' इत्यभिधानादनुक्ता अप्यत्र गतयो इष्टब्याः । उक्तगतयस्तु प्रदर्शनार्थाः ॥ ५१ ॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च । पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

इन्द्रियाणामिति ॥ इन्द्रियाणां विषयेपु प्रसङ्गेन निषिद्धाचरणेन च प्रायश्चि-त्तादिधर्माननुष्ठानेन मुढा मनुष्यापसदाः कुत्सिता गतीः प्राप्नुवन्ति ॥ ५२ ॥

म्रां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा । क्रमशो याति लोकेऽस्मिसत्तत्त्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥

यां यामिति ॥ अयं जीवो येन येन पापेन कर्मणा इह लोके कृतेन यद्यजनम प्रामोति तत्सर्व क्रमेण कृष्णुत ॥ ५३ ॥

> बहून्वर्षगणान्घोरात्ररकान्त्राप्य तत्क्षयात् । संसारान्त्रतिपद्यन्ते महापातिकनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥

बहूनिति ॥ ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणो बहून्वर्षसमुहान् भयंकराजरका-न्प्राप्य तदुपभोगक्षयादुष्कृतशेषेण वक्ष्यमाणान् जन्मविशेषान्त्राप्तुवन्ति ॥५४॥

> श्रद्धकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥

श्वेति ॥ कुक्कुरस्करगर्दभोष्ट्रगोच्छागमेषमृगपक्षिचण्डालानां पुकक्षानां च निषादेन शूदायां जातानां संबन्धिनीं जातिं ब्रह्महा प्रामोतिः तत्र पापशेष-गौरवलाधवापेक्षया क्रमेण सर्वयोनिप्राप्तिबीद्धन्या । एतमुत्तरत्रापि ॥ ५५ ॥

कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् । हिंस्नाणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ ५६ ॥ कृमीति ॥ कृमिकीटशलभानां पुरीषभक्षणां पक्षिणां हिंसनशीलानां च ज्याब्राद्दीनां प्राणिनां जातिं सुरापो ब्राह्मणो गच्छति ॥ ५६ ॥

स्ताहिसरटानां च तिरश्वां चाम्बुचारिणाम् । हिंस्नाणां च पिशाचानां स्तेनो विष्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥ स्त्ताहीति ॥ कर्णनाभसर्पकृकळासानां, जळचराणां च, तिरश्चां कुम्भीरा-दीनां, हिंसनशीळानां च योनिं सुवर्णहारी बाह्मणः सहस्रवारान्प्रामोति ॥५७॥

तृणगुल्मलतानां च ऋच्यादां दंष्ट्रिणामपि । ऋरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

कुणिति ॥ तृणानां दूर्वादीनां, गुल्मानामप्रकाण्डादीनां, छतानां गुड्र्च्या-विन्तं, काममांसभक्षिणां गृश्चादीनां, दंड्रिणां सिंहादीनां, क्रूरकर्मशालिनां विक्तिकानां च व्यात्रादीनां जातिं शतवारान्य्रामोति गुरुदारगामी ॥ ५८॥ हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः क्रमयोऽभक्ष्यभक्षिणः । परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥

हिंस्ना इति ॥ ये प्राणिवधदीकास्त काममांसाहिनो मार्जाराद्यो भवन्ति। अभक्ष्यभक्षिणो ये ते कृमयो जायन्ते। महापातकव्यतिरिक्ताश्चीरास्ते परस्परं मांसस्यादिनो भवन्ति। ये चाण्डालादिस्तीगाभिनस्ते प्रेताख्याः प्राणि-विशेषा जायन्ते। 'प्रेतान्त्यस्तीनिपेविणः' इति छन्दःसमानस्वात्स्मृतीनां, 'सर्बे विधयश्चन्द्रस्ति विकल्प्यन्त' (की. प. स. ३६) इति विसर्गकोपे च । यहा यहोपे च सवर्णदीर्घः॥ ५९॥

संयोगं पतितैर्गत्वा परस्थैव च योषितम् ।

अपहत्य च विप्रखं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

ं संयोगमिति ॥ यावत्कालीनपतितसंयोगेन पतितो भवति तावन्तं कालं व्रह्महादिभिश्चतुर्भिः सह संसर्गं कृत्वा परेषां च स्त्रियं गत्वा ब्राह्मणसुवर्णाद-न्यद्पहत्य प्कैकपापकारेण ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो भवति ॥ ६० ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः।

विविधानि च रतानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥

मणीति ॥ मणीनमाणिक्यादीनि, मुक्ताविद्यमी च, नानाविधानि च रहानि वैदूर्यदीरकादीनि छोभेन इत्वास्मीयभ्रमाद्विना सुवर्णकारयोनी जायते । केचितु हेमकारपक्षिणमाचक्षते ॥ ६१ ॥

धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांखं हंसी जलं प्लयः।

मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥ धान्यमिति ॥ धान्यमपहत्य मृपिको भवति । कांत्यं हृत्वा हंतः, अकं हृत्वा प्लवाख्यः पक्षी, माक्षिकं हृत्वा दंशः, शीरं हृत्वा काकः, विशेषोपिहिङ्गगुङ्खवणाविष्यतिरिक्तमिक्वादिरसं हृत्वा श्वा भवति । एतं हृत्वा नकुली भवति ॥ ६२ ॥

मांसं गृधो नेपां महुस्तैलं तैलपकः खगः।

चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्देधि ॥ ६३ ॥

मांसमिति ॥ मांसं हृत्वा गृध्यो भवति । वर्षा हृत्वा महुनामा जलवरी भवति । तेलं हृत्वा तेलपायिकारुयः पक्षी, कवणं हृत्वा वीराक्य उच्चे: खरः कीटः, दृधि हृत्वा बलाकारुयः पक्षी जायते ॥ ६६ ॥

कौशेयं तिचिरिईत्वा क्षीमं इत्वा तु दर्दुरः ।

कार्पासतान्तवं कौश्रो गोथा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४॥ कौशेयमिति ॥ कीटकोशनिर्मितं यसं हत्वा तिक्तिश्वांमा पश्री सर्वातः।

<sup>.</sup> पाठा०-1 वसां महसीलं.

क्षौमकृतं वस्रं हत्वा मण्डूकः, कार्पासमयं पटं हत्वा कौञ्चाख्यः प्राणी, गां हत्वा गोधा, गुडं हत्वा वाग्गुदनामा शकुनिभेवति ॥ ६४ ॥

छुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशाकं तु वर्हिणः । श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतानं तु शल्यकः ॥ ६५ ॥

छुच्छुन्द्रिरिति ॥ सुगन्धिद्रव्याणि कस्तूर्यादीनि हत्वा छुच्छुन्द्रिभैवति । वास्त्काद्विपत्रशाकं हत्वा मयूरः, सिद्धान्नमोदनसक्त्वादि नानाप्रकारकं हत्वा श्वाविधाख्यः प्राणी, अकृतानं तु बीहीयवादिकं हत्वा शल्यकसंत्रो जायते ॥ ६५ ॥

> बको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् । रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

बक इति ॥ अप्तिं हृत्वा बकाख्यः पक्षी जायते । गृहोपयोगि शूर्पमुस-लादि हृत्वा भित्त्यादिषु मृत्तिकादिगृहकारी सपक्षः कीटो भवति । कुसुम्भा-दिरक्तानि वासांसि हृत्वा चकोराख्यः पक्षी जायते ॥ ६६ ॥

वृको मृगेमं व्याघोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः।

स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्टः पश्चन्तः ॥ ६७ ॥ वृक इति ॥ मृगं इस्तिनं वा हत्वा वृकाख्यो हिंकः पश्चभेवति । घोटकं हत्वा व्यात्रो भवति । फलमूलं हत्वा मर्कटो भवति । स्त्रियं हत्वा भक्षको भवति । पानार्थमुद्दं हत्वा चातकाख्यः पक्षी । यानानि शकटादीनि हत्वा उष्ट्रो भवति । पश्चनुकेतरान् हत्वा छागो भवति ॥ ६० ॥

यद्वा तद्वा परद्रव्यूमपहृत्य बलान्नरः ।

अवर्यं याति तिर्यक्तवं जण्ध्या चैनाहुतं हिविः ॥ ६८॥ यद्वेति ॥ यिकंचिदसारमपि परद्रव्यमिच्छातो मानुषोऽपहत्य पुरोडाशा-दिकं तु हिवरहुतं सुक्त्वा निश्चितं तिर्यक्तवं प्रामोति ॥ ६८ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हूत्वा दोषमवाप्रुयुः।

एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वग्रुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥

स्त्रियोऽपीति ॥ स्त्रियोऽप्येतेन प्रकारेणेच्छातः परस्त्रमपहत्य पापं प्राप्तु-वन्ति । तेन पापेनोक्तानां जन्तूनां भाषात्वं प्रतिपद्यन्ते ॥ ६९ ॥

एवं निषिद्धाचरणफलान्यभिधायाधुना विहिताकरणफलविपाकमाह-

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्युता वर्णा ह्यनापदि। पापान्संस्रत्य संसारान्त्रेष्यतां यान्ति श्रेत्रुषु ॥ ७० ॥

स्वेभ्य इति ॥ बाह्मणाद्यश्रवारो वर्णा भापदं विना पञ्चयशादिकर्मत्यागिनो वस्यमाणाः कुत्सिता योनीः प्राप्य ततो जन्मान्तरे शत्रुदासस्व प्राहुवन्ति ७०

पाठा०-1 दस्युषु.

१ राघवानन्द्रतु-'आहुतं' इति पदच्छेदं विधाय, 'देवार्थ संचितम्' इति पाह,

## वान्तात्रयुल्कामुखः प्रेतो वित्रो धर्मात्खकाच्युतः । अमेध्यकुणपाञ्ची च क्षत्रियः केटपूतनः ॥ ७१ ॥

चान्ताशीति ॥ ब्राह्मणः स्वकर्मश्रष्टश्छिदितशुक्, ज्वालामुखः प्रेतिविशेषो जायते । क्षत्रियः पुनर्नष्टकर्मा पुरीषशवभोजी कटपूतनाख्यः प्रेतिविशेषो भवति ॥ ७१ ॥

मैत्रांक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूपग्रक् । · चैलाशकश्च भवति श्रुद्रो धर्मात्स्वकाच्युतः ॥ ७२ ॥

मैत्रेति ॥ वैश्यो अष्टकर्मा मैत्राक्षज्योतिकनामा प्यमक्षः प्रेतो जन्मान्तरे भवति । मित्रदेवताकत्वान्मैत्रः पायुस्तदेवाक्षं कर्मेन्द्रियं तत्र ज्योतिर्यस्य स्र मैत्राक्षज्योतिकः । पृषोदरादित्वाज्योतिषः, षकारलोपः । श्रूदः पुनर्श्रष्टकर्मा चैलाशकाख्यः प्रेतो भवति । चेलं वस्तं तत्संबन्धिनीं यूकामभातीति चेलाशकः । गोविन्दराजस्तु चेलाशकाख्यः कीटश्रेल इत्युच्यते, तद्रक्षश्च स भवती-स्याह । तद्युक्तं; प्रेताख्यप्राणिविशेषप्रकरणात् ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः । तथा तथा क्रशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥

यथेति ॥ यथा यथा शब्दादिविषयान्विषयलोलुपा नितान्तं सेवन्ते तथा तथा विषयेष्वेच तेषां प्रावीण्यं भवतीति ॥ ७३ ॥

ततः,—

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामलपबुद्धयः । संप्राप्तवन्ति दुःखानि तासु तास्तिह योनिषु ॥ ७४ ॥

त इति ॥ तेऽल्पिश्वयस्तेषां निबद्धविषयोपभोगानामभ्यासतारतम्यात्तासु तासु गर्हितगर्हिततरगर्हिततमासु तिर्थगादियोनिषु दुःखमनुभवन्ति ॥ ७४ ॥

तामिस्नादिषु चोत्रेषु नरकेषु विवर्तनम् । असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥

तामिस्तादिष्विति ॥ 'संप्राप्तवन्ति' (१२।७४) इति पूर्वश्लोकस्थमिहोत्तरत्र चानुवर्तते । तामिस्तादिषु चतुर्थाध्यायोक्तेषु घोरेषु नरकेषु दुःखानुभवं प्राप्तु-वन्ति । तथाऽसिपत्रवनादीक्ते बन्धनच्छेदनात्मिकान्नरकान्प्राप्तवन्ति ॥ ७५ ॥

विविधाश्चेव संपीडाः काकोल्द्रकेश्व भक्षणम् ।

कर्म्भवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥ •िवविधा इति ॥ विविधपीडनं काकावैर्भक्षणं तथा तसवालुकादीन् उम्भी-पाकादींश्च नरकान्द्रारुणान्त्राप्तुवन्ति ॥ ७६ ॥

पाटा॰-1 कूटपूतनः (=दुर्गधयुतनासिकः). 2 मैत्राक्षि॰.

संभवांश्व वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः । शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥ संभवांश्चेति ॥ संभवान् तिर्यंगादिजातिषु नित्यं दुःखबहुलासूत्पर्ति प्राप्तुव-न्ति । तत्र शीतातपादिपीडनादि नानाप्रकाराणि च प्राप्तुवन्ति ॥ ७७ ॥

असकुद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् । बन्धनानि च केष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अस्तकृदिति ॥ पुनः पुनर्गर्भस्थानेषु वासः समुत्पत्ति च योनियन्नादिभि-र्दुःखावहामुत्पन्नाश्च श्रङ्खलादिभिन्नेन्धनादिपीडामनुभवन्ति । परदासत्वं च प्राप्तुवन्ति ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः।

द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रार्डिमत्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥ बन्धुत्रियेति ॥ बान्धवैः सुहृद्धिः सह वियोगान् , दुर्जनेश्च सहैकत्रावस्थानं, धनार्जनप्रयासं, धनविनाशं, कष्टेन मित्रार्जनं, शत्रुपादुर्भावं प्राप्नुवन्ति च॥७९॥

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्रोपपीडनम् ।

क्केशांश्र विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

जरामिति ॥ जरां चाविद्यमानप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनं श्चित्पपासा-दिना च नानाप्रकारान् क्वेजान्मृत्युं च दुर्वारं प्राप्नुवन्ति ॥ ८० ॥

यादशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।

तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलग्रुपाश्चते ॥ ८१ ॥

यादृशेनेति ॥ यथाविधेन सास्विकेन राजसेन तामसेन वा चेतसा यद्य-कर्म स्नानदानयोगाचनुतिष्ठति तादृशेनैव शरीरेण सास्विकेन रजोधिकेन तमोधिकेन वा तत्तत्स्थानादिफलसुपभुद्धे ॥ ८१ ॥

एष सर्वः सम्रद्धिः कर्मणां वः फलोद्यः । नैःश्रेयसकरं कर्म विष्रस्थेदं निबोधत ॥ ८२ ॥

एष इति ॥ एष युष्माकं विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणां सर्वः फलोदय उक्तः । इतृतिं ब्राह्मणस्य निःश्रेयसाय मोक्षाय हितं कर्मानुष्ठानं इदं श्रृणुत ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।

अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥

वेदाभ्यास इति ॥ उपनिषदादेर्वेदस्य प्रन्थतोऽर्थतश्चावर्तनं, तपः कृष्ण्लादि, ज्ञानं ब्रह्मविषयं, इन्द्रियजयः, अविहितहिंसावर्जनं; गुरुग्रुश्रूपेसेतस्रकृष्टं मोक्षसाधनम् ॥ ८३ ॥

पाठा०-1 काष्ट्रानि.

## सर्वेषामपि चैतेषां श्चभानामिह कर्मणाम् । किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषामप्येतेषां वेदाम्यासादीनां शुमकर्मणां मध्ये किनि-कर्मातिशयेन मोक्षसाधनं स्यादिति विवर्के । ऋषीणो जिल्लासाविशेषादुत्तर-स्रोकेन निर्णयमाह ॥ ८४ ॥

## सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्पृतम् । तद्ध्यप्रयं सर्वेविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

सर्वेषामिति ॥ एषां वेदाभ्यासादीनां सर्वेषामि मध्य उपनिषद्कापरमार्थ-ज्ञानं प्रकृष्टं स्मृतं यसात्सर्वेविद्यानां प्रधानम् । अत्रैव हेतुमाह-यतो मोक्ष-स्तसात्प्राप्यते ॥ ८५ ॥

## पण्णामेषां तु पूर्वेषां कर्मणां प्रेट्य चेह च । श्रेयस्करतरं होयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

विकासित ॥ एवां पुनः वण्णां पूर्वोक्तानां नेदाभ्यासादीनां कर्मणां मध्ये वैदिकं कर्म परमार्थज्ञानमहिकामुध्मिकश्रेयस्करतरं ज्ञातन्यम् । पूर्वश्लोके मोक्ष-हितुत्वमात्मज्ञानस्रोक्तम्, इह तु ऐहिकामुध्मिकश्रेयोन्तरहेतुत्वमुन्यत इस-पौनरुत्तम् । तथा हि—प्रतिकोषासनानां संश्वायोदयं 'नाम ब्रह्मेखुपास्ते याव-'श्वाचो गतं तथास्य कार्मचौरो भवति'। गौविन्तरानस्तु पूषां पूर्वश्लोकोक्तानां वेदाभ्यासादीनां वण्णां कर्मणां मध्यात्सातंकमिष्क्षया नेदिकं कर्म सर्वदेहपर-लोके सातिशयं सातिशयेन कीर्तिस्वर्गनिःश्रेयःसाधनं ज्ञेयमिति न्याक्यातवान्। तद्युक्तम्; वेदाभ्यासादीनां वण्णामपि प्रत्येकं श्वतिविहितत्वात् । तेषु मध्ये सातिपेक्षया किंविदेवं किंविश्व नेति न संभवति । ततश्च कथं निर्धारणे पद्यी ? तस्माद्यथोक्तेव न्याख्या ॥ ८६ ॥

इदानीमैहिकामुष्मिकश्रेयःसाधनत्वमेवात्मज्ञानस्य स्पष्टयति— वैदिके कर्मयोगे तु सर्वीण्येतान्यशेषतः । अन्तर्भवन्ति क्रमशस्त्रसिस्तिस्मिन्कियाविधौ ॥ ८७॥

वैदिक इति ॥ वैदिके पुनः कर्मयोगे परमात्मोपासनारूपे सर्वाण्येतानि पूर्वश्लोकोक्तान्येहिकामुध्मिकश्लेयांसि तस्मिन्नुपासनाविधो क्रमशः संभवन्ति । अथवा 'सर्वाण्येतानि' इति वेदाभ्यासादीन्येव परामुश्यन्ते । परात्मज्ञाने वेदाभ्यासादीनि 'तमेतं वेदानुवचनेत ब्राह्मणा विविदिषन्ति यशेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (इद. ७.४।४।२२) इति श्रुतिविहिताक्रत्वेनान्तर्भवन्ति ॥८७॥

पाठा०-1 सर्वेषां.

# सुखाभ्युद्यिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च । प्रदृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

सुखेति ॥ वैदिकं कर्मात्र ज्योतिष्टोमादि प्रतीकोपासनादि च गृह्यते । स्व-गांदिसुखप्राप्तिकरसंसारप्रवृत्तिहेतुत्वात्प्रवृत्ताख्यं वैदिकं कर्म, तथा निःश्रेयसं मोक्षसदर्थं कर्म नैःश्रेयसिकं संसारनिवृत्तिहेतुत्वाक्षिवृत्ताख्यमित्येवं वैदिकं कर्म द्विप्रकारकं वेदितन्यम् ॥ ८८ ॥

पुतदेव स्पष्टयति-

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्थते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥ [ अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते । कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥ ]

इहेति ॥ इह काम्यसाधनं वृष्टिहेतुकारि यागादि, परत्र स्वर्गादिफलसाधनं ज्योतिष्टोमादि यत्कामतया क्रियते तत्संसारभवृत्तिहेतुत्वात्मवृत्तिमित्युच्यते । इष्टादृष्टफलकामनारहितं पुनर्शक्षज्ञानाभ्यासपूर्वकं संसारनिवृत्तिहेतुत्वान्नि-वृत्तमित्युच्यते ॥ ८९ ॥

> प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् । निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पश्च वै ॥ ९० ॥

प्रवृत्तिमिति ॥ प्रवृत्तकर्माभ्यासेन देवसमानगतित्वं तत्फलं कर्मणा प्रामोति । एतम प्रदर्शनार्थमन्यफलकेन कर्मणा प्रवृत्तेन फलान्तरमपि प्रामोति । निवृत्तकर्माभ्यासेन पुनः क्षरीरारम्भकानि पञ्च भूतान्यतिकामति । मोक्षं प्रामोतीलयुंः ॥ ९० ॥

#### सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मयाजी स्नाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥

सर्वेति ॥ सर्वभृतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेष्वहमेवात्मरूपेणासि सर्वाणि भूतानि परमात्मपरिणामसिद्धानि मय्येव परमात्मन्यासत इति सामान्येन जानशात्मयाजी ब्रह्मापंणन्यायेन ज्योतिष्टोमादि कुर्वन् स्वेन राजते प्रकाशत इति स्वराह ब्रह्म तस्य भावः स्वाराज्यं ब्रह्मत्वं लभते । मोक्षमामोतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः (छां २।१४।१)—'सर्वं खिल्वदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' तथा यज्ञवेदमञ्चः—'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभृतेषु चात्मानं ब्रतो न विज्ञगुप्सते' ॥ ९१ ॥

पाठा०—1 ज्ञातपूर्व तु. 2 सार्धिताम्.

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।

आत्मज्ञाने शमे च साद्वेदाभ्यासे च यतवान् ॥ ९२ ॥

यथेति ॥ शास्त्रचोदितान्यप्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि परित्रज्य ब्रह्मध्याने-निद्रयज्ञयप्रणवोपनिषदादिवेदाभ्यासेषु ब्राह्मणो यत्तं कुर्यात् । एतचेषां मोक्षो-पायान्तरक्कोपायत्वप्रदर्शनार्थं न त्वग्निहोत्रादिपरित्यागपरत्वमुक्तम् ॥ ९२ ॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।

प्राप्येतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥

पतिदिति ॥ पतदात्मज्ञानवेदाभ्यासादि द्विजातेर्जन्मसाफल्यापादकत्वा-जन्मनः साफल्यं विशेषेण ब्राह्मणस्य । यसादेतत्त्राप्य द्विजातिः कृतकृत्यो भवति न प्रकारान्तरेण ॥ ९३ ॥

इदानीं वेदादेव बहा ज्ञातन्यमिति प्रदर्शियतं वेदप्रशंसामाइ-

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्रश्चः सनातनम् ।

अंशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥

पितृदेविति ॥ पितृदेवमनुष्याणां दृब्यकब्यान्नदानेषु वेद एव चश्चरिव चश्चरनश्चरं तत्प्रमाणत्वादसंनिकृष्टफलकब्यदानादौ प्रमाणान्तरानवकाशात् । अशक्यं च वेदशास्त्रं कर्तुम् । अनेनापौरुषेयतोका । अप्रमेयं च मीमांसा-दिन्यायनिरपेक्षतयाऽनवगम्यमानप्रमेयमेवं ब्यवस्था । तत्रश्च मीमांसया ब्याकरणायक्षेश्च सर्वन्नसात्मकं वेदार्थं जानीयादिति ब्यवस्थितम् ॥ ९४ ॥

या वेदबाद्याः रैमृतयो याश्र काश्र क्रदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥

या वेदबाह्या इति ॥ याः स्मृतयो वेदमूला न भवन्ति दृष्टार्थवाक्याति 'चैत्यवन्दनात्स्वर्गो भवति' इत्यादीनि । यानि चासत्तर्कमूलानि देवताऽपूर्वादि-निराकरणात्मकानि वेदविरुद्धानि चार्वाकदर्शनानि सर्वाणि परलोके निष्क-लानि, यसाग्ररकफलानि तानि मन्वादिभिः स्मृतानि ॥ ९५ ॥ •

एतदेव स्पष्टयति--

उत्पद्यन्ते विनम्यन्ति यान्यतोऽन्यानि कानिचित् । तान्यवीकालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥

उत्पद्मन्त इति ॥ यान्यतो वेदादन्यमूलानि च कानिचिच्छास्राणि पौरुषेय-त्वादुत्पद्मन्ते एवमाशु विनश्यन्ति । तानि च इदानीतनत्वाद्विष्फलानि असल्यरूपाणि च; स्मृत्यादीनां तु वेदमूलत्वादेव प्रामाण्यम् ॥ ९६ ॥

# चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्रत्वारश्राश्रमाः पृथक् । भृतं भव्यं भविष्यं च सर्वे वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

चातुर्वण्यमिति॥ 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (क.सं.८।४।१९) इत्यादिवेदा-देव चातुर्वण्यं प्रसिध्यति । ब्राह्मणीभूतमातापितृजनित्विमिति तदुपजीवितया स्वर्गादिलोकोऽपि वेदादेव प्रसिद्धः । एवं ब्रह्मचर्याद्याश्रमा अपि चत्वारो वेदमूलकृवाद्वेदादेव प्रसिध्यन्ति । किं बहुना, यक्किंचिदतीतं वर्तमानं भविष्यं च तत्सर्वं 'अभो प्रास्ताहुतिः सम्यक्' (३।७६) इत्यादिन्यायेन वेदादेव प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

> शब्दः स्पर्शेश्व रूपं च रसो गन्धश्च पश्चमः । वेदादेव प्रस्यन्ते प्रसित्गुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

शब्द इति ॥ य इह लोके परलोके च शब्दाद्यो विषयाः प्रसूयन्ते प्रयु-ज्यन्ते एतेरिति प्रसूतयः, प्रसूतयश्च गुणाश्चेति सत्वरजस्तमोरूपाः तन्निबन्ध-नवैदिककर्महेतुःवाद्वेदादेव प्रसिध्यत्ति ॥ ९८ ॥

> विभर्ति सर्वभृतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तसादेतत्परं मन्ये यञ्जनतोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥

विभ्रतीति ॥ बेदशास्त्रं निलं सर्वभूतानि धारयति । तथा च 'हविरभौ हूयते सोऽभिरादित्यसुपसपिति, तत्स्यों रिश्मिभवेषिति, तेनान्नं भवति, अथेह भूतानासुत्पत्तिः स्थितिश्चेति हविर्जायते' इति बाह्मणम् । तस्माद्वेदशास्त्रमस्य जन्तोवेदिककर्माधिकारिपुरुषस्य प्रकृष्टं पुरुषार्थसाभनं जानन्ति ॥ ९९ ॥

> सेनीपत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च । सर्वेलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविद्हीते ॥ १०० ॥

सेनाप्त्यमिति ॥ सेनापत्यं, राज्यं, दण्डप्रणेतृत्वं, सर्वभूम्याधिपत्यादी-न्येतत्सर्वमुक्तप्रयोजनं वेदात्मकशास्त्रज्ञ एवाईति ॥ १०० ॥

•यथा जातनलो विह्वर्दहत्याद्रीनिप द्धमान् । तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥ [ न वेदनलमाश्रित्य पापकर्मरुचिभवेत् । अज्ञानाच प्रमादाच दहते कर्म नेतरत् ॥ ]

यथेति ॥ यथा वृद्धोऽभिराज्ञांनिष द्वमान्द्रहत्येवं अन्यतोऽर्थतश्च वेषुज्ञः अतिषिद्धायाचरणादिकर्मजनितं पापमात्मनो नाशयति । एवं च न केवर्छं . वेदः सर्गापनमादिवेतुः किं स्वहितनिषुत्तिहेतुरिति द्वित्तः ॥ १०१ ॥

पाठा०—1 प्रस्तुर्रेश्यभर्गतः. 2 सैनापत्यं.

# वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन् । इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

वेदशास्त्रार्थेति ॥ यस्तत्वतो वेदं तदर्थं च कमे ब्रह्मात्मकं जानाति स नित्यनैमित्तिककर्मानुगृहीतब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मचर्याद्याश्रमावस्थितोऽस्मिन्नेव लोके तिष्ठन् ब्रह्मत्वाय कल्पते ॥ १०२ ॥

> अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो घारिणो वराः । धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥१०३॥

अज्ञेभ्य इति ॥ उभयोः प्रशस्यत्वे सत्यन्यतरातिशयविवक्षायां श्रेष्ठ इती-ष्ठनो विधानादीषद्ध्ययना अज्ञास्तेभ्यः समग्रग्रन्थाध्येतारः श्रेष्ठाः । तेभ्यो-ऽधीतग्रन्थधारणसमर्थाः श्रेष्ठाः । तेन ग्रन्थिनः पठितविस्मृतग्रन्था बोद्धन्याः। धारिभ्योऽधीतग्रन्थार्थज्ञाः प्रकृष्टास्तेभ्योऽनुष्ठातारः ॥ १०३ ॥

# तपो विद्या च वित्रस्य निःश्रेयसकरं परम् । तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्चते ॥ १०४ ॥

तप इति ॥ 'तपः स्वधमेवृत्तित्वम्' इति भारतदर्शनात् आश्रमविहितं कमे आत्मज्ञानं च ब्राह्मणस्य मोक्षसाधनम् । तत्र तपसोऽवान्तरच्यापार-माह-तपसा पापमपहिन्त । ब्रह्मज्ञानेन मोक्षमामोति । तथा च श्रुतिः—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोमयं सह । अविद्यां मृत्युं तीर्वा विद्ययाऽमृत-मश्रुते' । विद्यातोऽन्यद्विद्यां कमें मृत्युवदुः स्वसाधनत्वान्मृत्युः पापं । श्रुत्ययं एवायं मनुना च्याख्यायोक्तः ॥ १०४॥

## प्रैत्यक्षं चानुमानं च शास्तं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५॥

प्रत्यक्षमिति ॥ धर्मस्य तत्त्वावबोधिमच्छता प्रसक्षमनुमानं च धर्मसाधन-भूतद्वव्यगुणजातितत्त्वज्ञानाय शास्त्रं च वेदमूलं स्मृत्यादिरूपं नानाप्रकार-धर्मस्यरूपविज्ञानाय सुविदितं कर्तव्यम् । तदेव च प्रमाणत्रयं मनोरिभ-मतम् । उपमानार्थापत्त्यादेश्वानुमानान्तर्भावः ॥ १०७॥

> आर्थ धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना । यस्तर्केणानसंधत्ते संधर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

आर्षिमिति ॥ ऋषिदृष्टत्वादार्षं वेदं धर्मीपर्देशं च तन्मूलस्मृत्यादिकं यस्त-वृत्तिरुद्धेन मीमांसादिन्यायेन विचारयति स धर्म जानाति नतुः मीमांसान-भिज्ञः । धर्मे करणं वेदः, मीमांसा चेतिकतेच्यतास्थानीयां । तदुक्तं मह-

पाठा॰—1 °ऽध्यवसायिनः (=तदनुगुणचिन्तनध्यानप्रवृत्ताः). 2 प्रसक्ष-मनुमानं च.

वार्तिककृता—'धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना । इतिकर्तेन्यताभागं मीमांसा प्रथिष्यति'॥ १०६॥

## नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः । मानवस्थास्य शास्त्रस्य रहस्यम्रपदिश्यते ॥ १०७ ॥

नैःश्रेयसमिति ॥ एतकिःश्रेयससाधनं कर्म निःशेषेण यथावदुदितम्। अत अर्थ्यमस्य मानवशाखस्य रहस्यं गोपनीयमिदं वक्ष्यमाणं श्रणुत ॥ १०७॥ अस्य शाखस्यासमस्तधर्माभिधानमाशक्कानया सामान्योक्त्या समग्रधर्मोः पदेशकस्यं योधयति—

## अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्वादिति चेद्भवेत्।

यं शिष्टा ब्राक्षणा ब्र्युः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८॥ अनामातेष्वित ॥ सामान्यविभिमासेषु विशेषेणानुपदिष्टेषु कथं कर्तव्यं स्यादिति यदि संशयो भवेत्तदा यं धर्म वक्ष्यमाणलक्षणाः शिष्टा ब्राह्मणा ब्र्युः स तत्र निश्चितो धर्मः स्यात्॥ १०८॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिचृंहणः।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥

धर्मेणेति ॥ श्रमचर्याधुक्तधर्मेण यैरङ्गमीमांसाधर्मशास्त्रपुराणाद्यपश्चंहितो येदोऽधिगतस्ते बाह्मणाः श्रुतेः प्रत्यक्षीकरणे हेतवः, ये श्रुतिं पठित्वा तद्र्थमु-पदिशन्ति ते शिष्टा विश्रेयाः ॥ १०९ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्म परिकल्पयेत्। ज्यवरा वापि ष्ट्रचस्था तं धर्मे न विचालयेत्।। ११०॥

[ पुराणं मानवो धर्मः साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ ]

वृद्गिति ॥ यदि यद्दाः सन्तोऽवहिता न भवन्ति तदा दशावरा श्यवरा-श्रोति यद्द्यमाणस्थाणा यस्याः सा परिषत् तद्भावे त्रयोऽवरा यस्याः सा वा सदाचारा यं धर्मं निश्चितुयासं धर्मत्वेन स्वीकुर्यास विसंवदेत् ॥ ११० ॥

> त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः । त्रयक्षाश्रमिणः पूर्वे परिपत्स्याद्द्यावरा ॥ १११ ॥

बैबिद्य इति ॥ वेदत्रपसंबन्धिकासात्रयाध्येता श्रुतिस्त्रस्यविरुद्धन्याय-श्रास्त्रः, मीमांसारमकवर्षविद्, निरुक्तः, मानवादिभर्मशास्त्रवेदी, त्रहाचारी, यृद्दस्थवानग्रस्यो इत्येषा द्वावरा परिषत्सात् ॥ ११९॥

पाठा०-1 नैः श्रेयसकरं. 2 रहस्यमुपवेक्यते.

ऋग्वेदविद्यजुर्विच सामवेदविदेव च । रे च्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंज्ञयनिर्णये ॥ ११२ ॥

ऋग्वेद्विदिति ॥ ऋग्यज्ञःसामवेदशाखानां येऽध्येतारस्तद्र्थज्ञाश्च त्रयः सा धर्मसंदेहतिरासार्थं ज्यवरा परिषद्दोद्धन्या ॥ ११२ ॥

तद्भावे,---

एकोऽपि वेदविद्धर्भं यं व्यवसेद्विजोत्तमः। स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामृदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥

एकोऽपीति ॥ एकोऽपि वेदार्थधर्मज्ञो यं धर्म निश्चिनुयात् प्रकृष्टो धर्मः स बोद्धव्यो न वेदानिभज्ञानां दशिमः सहस्तरप्युक्तः । 'वेदवित्'शब्दोऽयं वेदार्थधर्मज्ञपरः । एतच श्रेष्ठोपळक्षणम् । स्मृतिपुराणमीमांसान्यायशास्त्रः जोऽपि गुरुपरंपरोपदेशविच हेयः । तथा 'केवळं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः । युक्तिहीनविचारे तु धर्महातिः प्रजायते' । तेन बहुस्मृतिज्ञोऽपि यदि सम्यक् प्रायश्चित्तादिधर्म जानाति तदा तेनाप्येकेन धर्म उक्तः प्रकृष्टो धर्मो ज्ञेयः । अत एव यमः—'एको द्वौ वा त्रयो वापि यद्ग्युर्धर्म-पाठकाः । स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः' ॥ ११३ ॥

अत्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।

सहस्रशः समेतानां परिषद्धं न विद्यते ॥ ११४ ॥

अञ्चतानामिति ॥ सावित्र्यादित्रहाचारित्रतरहितानां, मञ्जवेदाध्ययनरहि-तानां, ब्राह्मणजातिमात्रधारिणां, बहूनामपि मिलितानां परिषक्तं नास्ति । भ्रमेनिर्णयसामर्थ्याभावात् ॥ ११४ ॥

> यं वदन्ति तमोभूता मूर्खी धर्ममतद्विदः । तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ॥ ११५॥

यं वदन्तीति ॥ तमोगुणबहुला मूर्जाः धर्मप्रमाणवेदार्थानिभज्ञा अत एव प्रभविषयधर्माविदः प्रायश्चित्तादिधर्मं यं पुरुषं प्रत्युपदिशन्ति तदीयं पापं शतगुणं भूत्वा वाचकान्बहून् भजेत ॥ ११५॥

एतद्दोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।

अस्माद्प्रच्युतो विप्रः प्रामोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥ एतद्व इति ॥ एतकिःश्रेयससाधकं प्रकृष्टं धर्मादिकं सर्वं युष्माकमितिः तम् । एतद्जुतिष्ठन्त्राह्मणादिः परमां गतिं स्वर्गापवर्गरूपां प्रामोति ॥ ११६॥

एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया । धर्मस्य परमं गुद्धं ममेदं सर्वम्रुक्तवान् ॥ ११७॥ एवमिति ॥ स भगवानैसर्यादिसंयुक्तो धोतनाहेवो मनुरुक्तकारेणेदं सर्वे धर्मस्य परमार्थे शुश्रुषुशिष्येभ्यः भगोपनीयं छोकहितेच्छया ममेदं सर्वमुक्तवानिति भृगुर्महर्षीनाह ॥ ११७ ॥

एवमुपसंहत्य महर्षीणां हितायोक्तमप्यात्मज्ञानं प्रकृष्टमोक्षोपकारकतया पृथकृत्याह---

> सर्वमात्मनि संपद्येत्सचासच समाहितः । सर्वं ह्यात्मनि संपद्यन्नाधर्मे क्रुरुते मनः ॥ ११८ ॥

सर्विमिति ॥ सदावमसद्भावं सर्वे ब्राह्मणो जानन् ब्रह्मस्वरूपमात्मन्युप-स्थितं तदात्मकमनन्यमना ध्यानप्रकर्षेण साक्षात्कुर्यात् । यस्मात्सर्वमात्म-त्वेन पश्यन्रागद्वेषाभावादधमें मनो न कुरुते ॥ ११८ ॥

एतदेव स्पष्टयति-

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् । आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥

आत्मैवेति ॥ इन्द्राद्याः सर्वदेवताः परमात्मैव सर्वात्मत्वात्परमात्मनः । सर्वे जगदात्मन्येवावस्थितं परमात्मपरिणामत्वात् । हिरवधारणार्थे । परमात्मैवेषां क्षेत्रज्ञादीनां कर्मसंबन्धं जनयति । तथा च श्रुतिः (कौ. मा. २।८)—
'एष होव साधु कर्म कारयति यमूर्ध्वं निनीषति । एष होवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषति । इति ॥ ११९ ॥

इदानीं वक्ष्यमाणब्रह्मध्यानविशेषोपयोगितया दैहिकाकाशादिषु बाह्माका-शादीनां लयमाह—

खं संनिवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् । पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्रोहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥ १२०॥ मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे कान्ते विष्णुं बले हैरम् । वाच्यप्ति मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१॥

खिमिति ॥ मनसीति ॥ बाह्याकाशमुद्राधविष्ठिश्वशरीराकाशेषु लीनमेक-त्वेन धारयेत । तथा चेष्टास्पर्शकारणभूतदैहिकवायौ बाह्यवायुं, भौद्रयेचा-क्षुषतेजसोरमिसूर्ययोः प्रकृष्टं तेजः, दैहिकास्वप्सु बाह्या भपः, वाह्याः पृथि-व्याद्यः शरीरपार्थिवभागेषु, मनसि चन्द्रं, श्रोत्रे दिशः, पादेन्द्रिये विष्णुं, बळे हरं, वागिन्द्रियेऽप्तिं, पारिवन्द्रिये मित्रं, उपस्थेन्द्रिये प्रजापितं लीन-मेक्त्वेन भावयेत् ॥ १२०-१२१॥

१ राघवीनन्द्रस्य - 'हरम्' इति प्रमादपाठः, 'अहरम्' इति वा क्रेक्न हरपुरय-तथा हरिविष्णुस्तत्ववीर्य इत्यः इत्यत्र न्याच्छे.

एवमाध्यात्मिकभूतादिकं लीनमेकत्वेन भावियत्वा,-

# प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरिप । रुक्मामं समधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

प्रशासितारमिति ॥ प्रशासितारं नियन्तारं ब्रह्मादिसम्बपर्यन्तस्य चेतनाचेतनस्य जातेर्योऽयमझ्यादीनामौष्ण्यादिनियमो यश्चादिस्तादीनां अमणादिनियमो यच कर्मणां फलं प्रतिनियतमेतस्य परमात्माधीनम् । तथा
च 'एतस्यैवाऽश्वरस्य प्रशासने गार्गि' (इ.३।८।९) द्वसाद्युपनिषदः । तथा
'भयादस्यामिस्तपित भयात्तपित सूर्यः । भयादिन्दश्च वायुश्च मृत्युर्धावित पद्धमः' इति । तथा अणोरणीयांसं सर्वात्मत्वात् । तथा च श्रुतिः (विता.५।९)—
'वालाप्रशतभागस्य शतधाकित्यस्य च । भागो जीवेति विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥' रुक्माभम् । यद्यपि 'अशब्दमस्पर्शमरूपमन्ययम्' (का.१।३।१७) इत्याद्युपनिषदा रूपं परमात्मनो निषद्धं तथाप्युपासनाविशेषे श्रुद्धसुवर्णाभम् । अत एव 'य एषोऽन्तरादिस्ये हिरण्मय' (छा.१।६।६) इत्यादि छान्दोग्योपनिषत् । स्वप्रधीगम्यं दृष्टान्तोऽयम् , स्वप्रधीसदशज्ञानप्राह्मम् । यथा स्वप्रधीश्रश्चरादिबाह्येन्द्रयोपरमे मनोमान्नेण जन्यत एवमात्मधीरि । अत एव व्यासः—'नैवासौ चक्षुषा प्राह्यो न च शिष्टेरपीन्द्रियैः । मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदार्शिभः ॥' एवंविधं परात्मानमनुविन्त्येत् ॥ १२२ ॥

# एतमेके वदन्त्यमिं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

एतमिति ॥ एतं च परमात्मानमितिवेनैके याज्ञिका उपासते । तथा 'तमेकमिम्' इत्यध्वर्यं उपासते । अन्ये पुनः स्वष्ट्रतात्स्वद्राख्यप्रजापित-रूपतयोपासते । एके पुनरैश्वर्ययोगादिन्द्ररूपतयोपासते । अपरे पुनः प्राण्वत्वेनोपासते । 'सर्वाण भूरादीनीमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युजिहतः' इत्यादिश्चतिद्रश्चेनात् । अपरे पुनरपगतप्रपञ्चात्मकं सिच-दानन्द्रस्वरूपं परमात्मानस्रपासते । मूर्वामूर्वस्वरूपे च ब्रह्मणि सर्वा प्रवो-पासनाः श्चतिप्रसिद्धा भवन्ति ॥ १२३ ॥

# एष सर्वाणि भूतानि पश्चभिन्यीप्य मूर्तिभिः। जन्मषृद्धिक्षयैनित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४॥

एष इति ॥ एष भारमा सर्वाच्याणिनः पञ्चभिः प्रशिन्यादिभिर्महासूतैः शरीरारम्भकैः परिगृद्धा पूर्वजन्मार्जिवकर्मामेश्रयोग्धनिस्थितिविनाशै स्थादि-षक्षवदसकुदुपावर्तमानैरामोश्वारसंसारिणः करोति ॥ १२४ ॥

इदानी मोक्षत्वेनोक्तसर्वधर्मश्रेष्ठतया सर्वत्र परमात्मदर्शनमनुष्ठेयत्वेनो-पसंहरति-

> एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥ िचतुर्वेदसमं पुण्यमस्य शास्त्रस्य धारणात् । भूयो वाप्यतिरिच्येत पापनियातनं महत्।। ]

एवं यः सर्वभूतेष्विति ॥ एवं 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' (१२।९) इत्याद्युक्तप्रकारेण यः सर्वभूतेष्ववस्थितमात्मानमात्मना पश्यति स ब्रह्म-साक्षात्कारात्परं श्रेष्ठं पदं स्थानं ब्रह्म प्राप्तोति । तत्रात्यन्तं लीयते, मुक्ती भवतीत्वर्थः ॥ १३५ ॥

> इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठनिद्वजः । भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्तुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥ [ मनुः स्वायंभ्रवो देवः सर्वशास्त्रार्थपारगः । तसास्यनिर्गतं धर्मं विचायं बहुविस्तरम् ॥ ये पठन्ति द्विजाः केचित्सर्वपापोपशान्तिदम् । ते गच्छन्ति परं स्थानं ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ ]

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ इत्येतदिति ॥ समाध्यर्थ 'इति'शब्दः । एतत्स्मृतिशास्त्रं स्रुणा प्रकर्षे-णोक्तं द्विजातिः पठन् विहितानुष्ठाननिषिद्धवर्जनात्सदाचारवान् भवति । यथापेक्षितां च स्वर्गापवर्गादिरूपां गतिं प्राप्त्रयादिति ॥ १२६ ॥

( अथ टीकाकृत्प्रशस्तिः । ) सारासारवचःप्रपञ्चनविधौ मेधातिथेश्रातुरी स्तोकं वस्तु निगृहमल्पवचनाद्गोविन्दराजो जगौ। प्रन्थेऽस्मिन्धरणीधरस्य बहुशः स्वातन्त्र्यमेतावता स्पष्टं मानवमर्थतत्त्वमखिलं वक्तं कृतोऽयं श्रमः ॥ १ ॥ प्रायो मुनिभिर्विवृतं कथयत्येषा मनुस्मृतेरर्थम् । दशभिर्भन्थसहस्रैः सप्तदशयुता कृता वृत्तिः ॥ २ ॥ सेयं मया मानवधर्मशास्त्रे व्यधायि वृत्तिर्विदुषां हिताय । दुर्बोधजातेर्दुरितक्षयाय भूयात्ततो मे जगतामधीशः ॥ ३ ॥ इति वारेन्द्रिनन्दनावासीयदिवाकरात्मजश्रीमत्कुह्रूकभद्दकृतायां मन्वर्थ-

मुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १२ ॥ इति श्रीकुल्कभद्दविरचिता मन्वर्थमुक्तावली समाप्ता ॥

समाप्तेषा मनुसंहिता

# परिशिष्टम् १.

## मुद्रितामुद्रितप्राच्यधर्मग्रन्थेषु मन्कित्वेनोद्धृतानां प्रचलितमनुसंहितायां चानुपलब्धानां मनुवचनानां समुचयः।

#### स्पृतिचन्द्रिकायाम्--

यत्क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन खर्गे महीयते । यत्त्वेश्वर्यात्र क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ १ ॥ ज्यवरैः साक्षिभिभीवयौ नृपत्राह्मणसन्निधौ। स्वभावेनैव यद्र्युस्तद्राह्यं व्यावहारिकम्। ततो यदन्यद्वित्र्युर्धमीर्थं तद्पार्थकम् ॥ २ ॥ ऋत्विजः समवेतास्त यथा सत्रे निमन्निताः। कुर्युर्यथाहतः कर्म गृह्वीयद्क्षिणां तथा ॥ ३ ॥ विभागे तु कृते किंचित् सामान्यं यत्र दृइयते। नासौ विभागो विज्ञेयः कर्तव्यः पुनरेव हि ॥ ४ ॥ विभागे यत्र संदेहो दायादानां परस्परम् ॥ ५ ॥ पुनर्विभागः कर्तव्यः पृथक्स्थानस्थितैरपि। आरम्भकृत्सहायश्च दोषभाजौ तद्र्धतः ॥ ६ ॥ गायत्रीमात्सारोऽपि वनं विप्रः सुयन्नितः। गायत्रीतश्चतुर्वेदी सर्वोशी सर्वविक्रयी ॥ ७ ॥ आसराणां कुले जाता जातिपूर्वपरिप्रहे । तस्यादर्शनमात्रेण निराशाः पितरो गताः ॥ ८ ॥ शिष्टाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ॥ ९॥ धर्मव्यतिक्रमो वै हि महतां साहसं तथा। तद्न्वीक्ष्य प्रयुद्धानः सीद्रसेव रजोवलः ॥ १० ॥ यथैव वेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा । अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥ ११ ॥ पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा संक्रमणे रवेः । राहोश्च दर्शने स्नानं प्रशस्तं नान्यथा निशि ॥ १२ ॥

पुराकल्पे कुमारीणां मौक्षीवन्धनमिष्यते । अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥ १३ ॥ पिता पितृज्यो भ्राता वा चैनामध्यापयेत्पुरः । स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्या विधीयते ॥ १४ ॥ वर्जयेद्जिनं दण्डं जटाघारणमेव च ॥ १५ ॥ समतिकान्तकालाच पतिताः सर्व एव ते। नैवावधिपूर्तावदापद्यिष च कर्हिचित् ॥ १६॥ हस्तदत्ता तु या भिक्षा छवणं व्यञ्जनानि च । भुक्त्वा ह्यञ्चितां याति दाता स्वर्गं न गच्छति ॥ १७ ॥ सायंत्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् । नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः। ऋषिदेवमनुष्याणां वेदश्रक्षुः सनातनः ॥ १८ ॥ द्शानां तु सहस्राणां युक्तानां ध्रुयेवाहिनाम् । सुपात्रे विनियुक्तानां कन्या विद्या च तत्समम्।। १९॥ शक्रध्यजनिपाते च उल्कापाते तथैव च। सामर्थ्ययने(१) ऋग्यजुषि नाधीयीत कदाचन ॥ २० ॥ अनध्यायस्त्रिरात्रं तु भूमिकम्पे तथैव च। अखार्य लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेत्र तु ॥ २१ ॥ नाभिहोत्रादिभिस्तत्स्याद्रक्षतो ब्राह्मणस्य वा । यत्कन्यां विधिवदत्त्वा फलमाप्नोति मानवः ॥ २२ ॥ कन्या द्वादशवर्षे या न प्रदत्ता गृहे वसेत्। भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत्स्वयम् ॥ २३ ॥ नष्टे मृते प्रव्रजिते छींबे च पतिते प्रतौ । पद्मत्स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ २४ ॥ अलाभे देवलातानां सरसां सरितां तथा। खद्धृत्य चतुरः पिण्डान्पारक्ये स्नानमाचरेत् ॥ २५ ॥ श्रप्निवत्क्रपिछासत्री राजा भिश्चर्महोदधिः। इंग्रमात्रा पुनन्सेते तसात्पश्येत नित्यशः ॥ २६ ॥

तृणं वा यदि वा काष्टं पुष्पं वा यदि वा फंडम्। अनापृष्टं तु गृह्वानो हस्तच्छेदनमहीते। समर्घ पण्यमाहृत्य महार्घ यः प्रयच्छति ॥ २७ ॥ स वै वाध्विको नाम यश्च वृद्धा प्रयोजयेत् ॥ २८॥ त्रासमात्रा भवेद्भिक्षा अयं प्रासचतुष्ट्यम् । अयं चतुर्गुणीकृत्य हन्तकारो विधीयते ॥ २९ ॥

#### [ बृद्धमनुः ]

प्रतिश्रुत्य न कुर्याचः स कार्यः स्याद्वलाद्पि । स चेन्न कुर्यात्तत्कर्म प्राप्नुयाहिशतं दमम् ॥ ३० ॥ पथि विकीय तद्भाण्डं विणगू भृत्यं त्यजेदादि । अथ तस्मिपि देयं स्याद्भतेरर्थं लभेत सः ॥ ३१ ॥ यो भाटयित्वा शकटं नीत्वा चान्यत्र गच्छति । भाटं न द्द्याद्दाप्यः स्यादरूढस्यापि भाटकम् ॥ ३२ ॥ स्थापितां चैव मर्यादामुभयोत्रीमयोस्तथा। अतिकामन्ति ये पापास्ते दण्ड्या द्विशतं दमम् ॥ ३३ ॥ अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता । पह्येव दद्यात्तितपण्डं कृत्स्नमंशं छभेत च ॥ ३४ ॥ कुर्यादनुपनीतोऽपि श्राद्धमेको हि यः सुतः । पितृयज्ञाहुतिं पाणौ जुहुयाद्वाह्मणस्य सः ॥ ३५ ॥ यस्यामस्तं रविर्याति पितरस्तामुपासते । तिथिं तेभ्यो यतो दत्तो ह्यपराह्यः स्वयंभुवा ॥ ३६ ॥ मध्ये वा यदि वाप्यन्ते यत्र कन्यां रविर्वजेत । पक्षः स कालः संपूर्णः श्राद्धं तत्र विधीयते ॥ ३७ ॥ ऋतुकाले नियुक्तो वा नैव गच्छेत्स्रियं कचित्। तत्र गच्छन्समाप्नोति हानिष्टं फलमेव च ॥ ३८॥ स्वयं धौतेन कर्तव्याः क्रिया धर्म्या विपश्चिता । समाहितोपलिप्ते तु द्वारि कुर्वीत मण्डले ॥ ३९ ॥ न नियुक्तः शिरोवर्ज्यं माल्यं शिरसि वेष्टयेत् ॥ ४० ॥ ४५ म० स्मृ०

अनुष्ठितं तथा देवेर्भुनिभिर्यदनुष्ठितम् । नानुष्टितं मनुष्यैसादुक्तं कर्म समाचरेत् ॥ ४१ ॥ खादिरस्य करञ्जस्य कदम्बस्य तथैव च। अर्कस्य करवीरस्य कुटजस्य विशेषतः ॥ ४२ ॥ प्रक्षादी च रवी षष्ट्यां रिक्तायां च तथा तिथी। तैलेनाभ्यञ्जमानस्तु धनायुभ्याँ प्रहीयते ॥ ४३ ॥ अन्यायोपात्तवित्तस्य पतितस्य च वार्धेषेः। न स्नायादुदपानेषु स्नात्वा क्रच्छं समाचरेत् ॥ ४४ ॥ मृते जन्मनि संकान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा। अस्पुदयस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ॥ ४५ ॥ संकान्त्यां भानुवारे च सप्तम्यां राहुदर्शने। आरोग्यपुत्रमित्रार्थी न स्नायादुष्णवारिणा ॥ ४६ ॥ स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोत्येव न संगयः ॥ ४७ ॥ षडोङ्कारं जपन्वित्रो गायत्री मनसा श्रुचिः। अनेकजन्मजैः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ४८ ॥ तिस्रो व्याहृतयः पूर्वषडोङ्कारसमन्विताः। पुनः संहत्य चोङ्कारमन्त्रस्याद्यन्तयोस्तथा ॥ ४९ ॥ सौद्धारचतुरावृत्य विज्ञेया सा शताक्षरा। शताक्षरां समावृत्य सर्ववेदफळं छभेत् ॥ ५० ॥ एतया ज्ञातया निसं वाड्ययं विदितं भवेत । उपासितं भवेत्तेन विश्वं भुवनसप्तकम् ॥ ५१ ॥ यथा योधन (?) हस्तेभ्यो राज्यं गच्छति धार्मिकः । एवं तिलसमायुक्तं जलं प्रेतेषु गच्छति ॥ ५२ ॥ एकैकस्य तिलैमिंशांसींस्नीन्कृत्वा जलाञ्चलिम् । यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नर्यति ॥ ५३ ॥ इहजन्मकृतं पापमन्यजन्मकृतं च यत्। अङ्गारकचतुर्देश्यां तर्पयंस्तद्यपोहति ॥ ५४ ॥ न पिवेन्न च मुझीत द्विजः सन्येन पाणिना । नेफब्स्वेन च बलं शुरेणावर्जितं पिबेत् ॥ ५५ ॥

पिवतो यत्पतेत्तोयं भोजने मुखनिःसृतम् । अभोज्यं तद्भवेदन्नं भोक्ता भुञ्जीत किल्विषी ॥ ५६ ॥ पीतावशेषितं कृत्वा ब्राह्मणः पुनरापिवेत् । त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्योद्धामहस्तेन वा पुनः ॥ ५७ ॥

#### स्मृतिरत्नाकरे-

यस्य धर्मध्वजो नित्यं स्वराड्ध्वज इवोच्छ्रितः। चरितानि च पापानि बैडाछं नाम तं विदुः ॥ १॥ रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्तमेदभिष्ठाश्च सप्तैतेऽन्यजजातयः ॥ २ ॥ आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत्। लोभाद्यः पितरौ मोहात्स कदर्य इति स्मृतः ॥ ३ ॥ योऽर्थार्थी मां द्विजे दद्यात्पठेचैवाविधानतः। अध्याये च धनं प्राहुर्वेद्विष्ठावकं बुधाः ॥ ४ ॥ प्रख्यापनं नाध्ययनं प्रश्नपूर्वप्रतिप्रहः । याजनाध्यापने वादः षड्विधो वेदविक्रयः ॥ ५ ॥ स्वभावाद्यत्र विचरेत्कृष्णसारमृगो द्विजाः । विज्ञेयो धार्मिको देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥ ६ ॥ निवर्तकं हि पुरुषं निवर्तयति जन्मतः । प्रवर्तकं हि सर्वत्र पुनरावृत्तिहेतुकम् ॥ ७ ॥ संसारभीरुभिस्तसाद्वियुक्तं कामवर्जनम् । विधिवत्कर्म कर्तव्यं ज्ञानेन सह सर्वदा ॥ ८॥ न देहिनां यतः शक्यं कर्तुं कर्माण्यशेषतः। तस्मादामरणाहुँ वै कर्तव्यं योगिना सदा ॥ ९ ॥ अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मे ज्ञानं विधीयते । धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं प्रथमं श्रुतिः ॥ १० ॥ हतं ज्ञानं कियाहीनं हतास्त्वज्ञानिनः कियाः। अपरयन्नन्धको दुग्धः परयन्नपि च पङ्गकः ॥ ११ ॥

नान्यचित्तश्चिरं तिष्ठेन्न स्पृशेत्पाणिना शिरः। न ब्रुयात्र दिंशः पश्येद्विण्मूत्रोत्सर्जने बुधः ॥ १२ ॥ परस्य शोणितस्पर्शे रेतोविण्मूत्रजे तथा । चतुर्णोमपि वर्णानां द्वात्रिंशन्मृत्तिकाः समृताः ॥ १३ ॥ दन्तवद्दनतलमेषु जिह्नास्पर्शे शुचिनं तु। परिच्युतेष्ववस्थानान्निगरेन्नैव तच्छुचिः ॥ १४ ॥ त्रीन्पिण्डानथवोद्धत्य स्नायादापत्सु ना सदा । अन्यैरिप कृते कृपे सरोवाप्यादिके तथा । तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ १५॥ नातुरो नारणकरन्नाक्तान्ते च नभस्तछे। न पराम्भसि नाल्पे च नाशिरस्कः कथंचन ॥ १६ ॥ गते देशान्तरं पत्यौ गन्धमाल्याञ्जनानि च । दन्तकाष्ठं च ताम्बूछं वर्जयेद्वनिता सती ॥ १७ ॥ आराध्यं देवमाराध्य बन्धूनप्यनुसृत्य च । भुक्तवा व्याधौ च न स्नायात्तैलेनापि निशाखपि ॥ १८ ॥ राहुद्शेनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु । स्नानदानादिकं कार्यं निशि काम्यव्रतेषु च ॥ १९ ॥ पुच्छे बिडालकं स्पृष्टा स्नात्वा विप्रो विशुध्यति । भोजने कर्मकाले च विधिरेष उदाहृतः ॥ २० ॥ प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च ह्याचान्तो वाग्यतः श्रुचिः । तिथिवारादिकं श्रुत्वा सुसंकल्प्य यथाविधि ॥ २१ ॥ नोपतिष्ठेत यः पूर्वामुपास्ते न च पश्चिमाम्। स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्मात्साधुकर्मणः ॥ २२ ॥ यस्य देशं न जानाति स्थानं त्रिपुरुषं कुलम् । कन्यादानं नमस्कारं श्राद्धं तस्य विवर्जयेत् ॥ २३ ॥ एवं संध्यामुपास्याथ पितरावप्रजान् गुरून्। त्रिवर्णमूर्वशिष्टांश्च पार्श्वस्थानभिवाद्येत् ॥ २४ ॥ अग्निहोत्रस्य शुश्रुषा संघ्योपासनमेव च ।

कार्य पत्न्या प्रतिदिनं बिलकर्म च नैत्यकम्। मुख्यकाले व्यतिकान्ते गौणकाले तथाचरेत् ॥ २५ ॥ आत्मशाखां परित्यच्य परशाखासु वर्तते । न जातु परशाखोक्तं बुधः कर्म समाचरेत् ॥ २६ ॥ समूलश्च भवेदभीः पितृणां यज्ञकर्मणि। मुलेन लोकाञ्जयति शकस्य च महात्मनः ॥ २७ ॥ माता पिता गुरुश्रीता प्रजादीनः समाश्रितः । अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्गा उदाहृताः ॥ २८ ॥ द्विजातिभ्यो यथा लिप्सेत्प्रकृष्टेभ्यो विशेषतः । अपि वा जातिमात्रेभ्यो न तु शुद्रात्कथंचन ॥ २९ ॥ उत्कृष्टं वाऽपकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥ ३० ॥ चणकत्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः । अनिषिद्धो यहीतव्यो मुष्टिरेकोऽध्वनिर्जितैः ॥ ३१ ॥ त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती । अतिदानं हि दानानां नास्ति दानं ततोऽधिकम् ॥ ३२ ॥ ज्ञानमत्तस्य यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवम् । अपि देवास्तमचेन्ति भगेब्रह्मदिवाकराः ॥ ३३ ॥ पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते । तच्छान्तिरौषथैदानैर्जपहोमार्चनादिभिः ॥ ३४ ॥ यत्तज्ज्ञात्वा द्विजो धर्मे पापं नैव समाचरेत ॥ ३५ ॥ गुरूणामध्यधिक्षेपो वेदनिन्दासुहद्वधः । त्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य च नारानम् ॥ ३६ ॥ तैलभेषजपाने तु औषधार्थं प्रकल्पयेत्। विषतैलेन गर्भाणां पुत्र ते नास्ति पातकम् ॥ ३७ ॥ अतिबालामतिकृशामतिवृद्धामरोगिणीम् । हत्वा पूर्वविधानेन चरेचान्द्रायणं द्विजः ॥ ३८ ॥ एकवर्षे हते वत्से कुच्छुपादो विधीयते । अबुद्धिपूर्ववेशः स्यात्प्रभृते नास्ति पातकम् ॥ ३९ ॥

अग्निविद्युद्विपन्नानां प्रमृते नास्ति पातकम् । यत्रितं गोचिकित्सार्थं मूढगर्भातिपातने ॥ ४० यक्षे कृते विपत्तिश्चेत्प्रायश्चित्तं समाचरेत्। गवां च पर्वतारोहे नदीतीरे तथैव च ॥ ४१ ॥ प्रायश्चित्तं प्रकुर्वन्ति द्विजा वेद्परायणाः ॥ ४२ ॥ द्विजातीनामयं देहों न भोगाय प्रकल्पते। इह क्वेशाय महते प्रेयानन्तसुखाय च ॥ ४३ ॥ यदा तूपघातो(?)च्छिष्टानि यानि च। ग्रध्यन्ति द्शभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च ॥ ४४ ॥ बालैरनपसंकान्तं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ ४५ ॥ आपोहिष्ठादिमन्नेण मार्जियित्वा यथाविधि । आपः पुनन्तु मन्नेण जलं पीत्वा समाहितः ॥ ४६ ॥ सुरभिमला सहाब्लिङ्गिर्माजीयत्वार्च्यमुत्सिपेत्। द्यौ पादौ संपुटौ कृत्वा पाणिभ्यां पूरयेज्ञलम् ॥ ४७ ॥ रवेरभिमुखस्तिष्ठं सिष्टर्वं संध्ययोः क्षिपेत् ॥ ४८ ॥ आर्द्रवासस्तु यः कुर्याज्ञपहोमौ प्रतिप्रहम् । तत्सर्वे निष्फलं विद्यादिसेवं मनुरत्रवीत् ॥ ४९ ॥ धात्र्याः खादेन तु दिवा द्धिसक्तं स्तथा निशि । सर्वे च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमयं प्रति ॥ ५० ॥ तिलाईद्धिमिश्राणां तिलशाकानि निस्तद्न् ॥ ५१ ॥ त्रयोद्द्यां तु सप्तम्यां चतुर्ध्यामधेरात्रतः। अर्वोङ्क नाध्ययनं कुर्योदिच्छेत्तस्य परायणम् ॥ ५२ ॥ रात्रौ यामद्वयाद्वीग्यदि पश्येत्रयोदशीम् । सा रात्रिः सर्वकर्मन्नी शङ्कराराधनं विना ॥ ५३ ॥ चण्डालादेस्तु संस्पर्शे वारुणं स्नानमेव हि । इतराणि तु चत्वारि यथायोग्यं स्मृतानि हि ॥ ५४ ॥ मनुष्यतर्पणे चैव स्नाने वस्नादिपीडने। निबीतिस्तूभये विप्रस्तथा मूत्रपुरीषयोः ॥ ५५ ॥

वस्तं त्रिगुणितं यस्तु निष्पीडयति मृढधीः । वृथा स्नानं भवेत्तस्य यचैवादशमाम्बुभिः ॥ ५६ ॥ और्ध्वपुंड्रो मृदा धार्यो यतिना च विशेषतः । भस्मचन्दनगन्धादीन्वर्जयेद्यावदायुषा ॥ ५७ ॥

## निर्णयसिन्धौ-

पुष्पालङ्कारवस्नाणि गन्धधूपानुलेपनम् । उपवासे न दुष्यन्ति दन्तधावनमञ्जनम् ॥ १ ॥ आदिष्टी नोदकं कुर्यादा व्रतस्य समापनात्। समाप्ते तृदकं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिभेवेत् ॥ २ ॥ यदा तु नैव कश्चित्स्यात्कन्या राजानमात्रजेत्। चत्वारो ब्राह्मणस्याद्याः शस्ता गान्धर्वराक्षसौ । राज्ञस्तथासुरो वैदये शूद्रे चान्यस्तु गर्हितः ॥ ३ ॥ षण्ढान्धवधिरादीनां विवाहोऽस्ति यथोचितम् । विवाहासंभवे तेषां किनष्टो विवद्देत्तदा ॥ ४ ॥ वसवः पितरो ज्ञेया रुद्रा ज्ञेयाः पितामहाः ॥ ५ ॥ प्रिपतामहास्तथादित्याः श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ६ ॥ अविद्वान्प्रतिगृह्यानो भस्मीभवति दारुवत् ॥ ७ ॥ सर्वायासविनिर्भुक्तैः कामकोधविवर्जितैः। भवितव्यं भवद्भिर्नः श्वोभूते श्राद्धकर्मणि ॥ ८ ॥ द्द्यात्रिभ्यः परेभ्यस्तु जीवेचेत्रितयं यदि । आशौचे च व्यंतिकान्ते नामकर्म विधीयते ॥ ९ ॥ वृद्धः शौचमृते छुप्तप्रसाख्यातभिषक्कियः। आत्मानं घातवेद्यस्तु भृग्वग्र्यनज्ञानाम्बुभिः॥ १०॥ तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः। नृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् ॥ ११ ॥ अस्वन्यी ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूपिता । ब्रह्मचर्यं चरेद्वापि प्रविशेद्वा हुताशनम् ॥ १२ ॥

मातापित्रोरुपाध्यायाचार्ययोरौध्वदेहिकम् । कुर्वन्मातामहस्यापि त्रती न भ्रदयते त्रतात् ॥ १३ ॥ इष्टिमायुष्मतीं कुर्यादीप्सितांश्च ऋतूंसतः ॥ १४ ॥ असंबन्धा भवेन्मातः पिण्डेनैवोदकेन वा । सा विवाह्या द्विजातीनां त्रिगोत्रान्तरिता च या ॥ १५ ॥ र्यश्रूद्रपतिताश्चान्या मृताश्चेहिजमन्दिरे । शौचं तत्र प्रवक्ष्यामि मनुना भाषितं यथा ॥ १६ ॥ दशरात्राच्छुनि मृते मासाच्छूद्रे भवेच्छुचिः । द्वाभ्यां तु पतिते गेहमन्त्यो मासचतुष्टयात् ॥ १७ ॥ असन्तं वर्जयेदेहिमिसेवं मनुरत्रवीत् ॥ १८ ॥ अर्धरात्रादधस्ताचेत्संक्रान्तिप्रहणं तदा । उपाकर्म न कुर्वीत परतश्चेत्र दोषभाकु ॥ १९॥ एकमातृजयोरेकवत्सरे पुरुषिक्षयोः । न समानिकयां कुर्यान्मात्भेदे विधीयते ॥ २०॥ पिता पितामहों भ्राता ज्ञातयो गोत्रजायजाः । उपानयेऽधिकारी स्यात्पूर्वाभावे परः परः ॥ २१ ॥ जीवन्यदि समागच्छेद्धतकुम्भे निमज्ज्य च । उद्भृत्य स्नापयित्वास्य जातकर्मादि कारयेत् ॥ २२ ॥ सप्तम्यां भानुवारे च मातापित्रोर्मृतेऽहनि । तिलैर्यस्तर्पणं कुर्यात्स भवेत्पितृघातकः ॥ २३ ॥ तैलाभ्यङ्गो नार्कवारे न भौमे नो संकानतो वैध्वो विष्टिषष्ठ्योः । पर्वस्वष्टम्यां च नेष्टः स इष्टः शोक्तान्मुक्त्वा वासरे सूर्यसूनोः।। २४॥ स्तुषास्त्रसीयतत्पुत्रज्ञातिसंबन्धिवान्धवाः ।

श्रोक्तान्मुक्त्वा वासरे सूर्यसूनोः।। २४ ॥
स्तुषास्त्रसीयतत्पुत्रज्ञातिसंबन्धिबान्धवाः ।
पुत्राभावे तु कुर्वीरम् सपिण्डान्तं यथाविधि ॥ २५ ॥
श्राद्धं क्रिच्यन्कृत्वा वा मुक्त्वा वापि निमिन्नतः ।
उपोष्य च तथा मुक्त्वा नोपेयाच ऋतावपि ॥ २६ ॥

निमन्त्र्य विप्रांस्तद्द्वर्जयेन्मैथुनं क्षुरम् । प्रमत्तानां च स्वाध्यायं कोधं शोकं तथानृतम् ॥ २७ ॥ मृत्मयं दारुजं पात्रमयःपात्रं च यद्भवेत । राजतं दैविके कार्ये शिलापात्रं च वर्जयेत् ॥ २८ ॥ असतं सतमाकण्यं कृतं यस्यौध्वदिहिकम् । प्रायश्चित्तमसौ स्मार्व कृत्वाग्नीनादधीत च ॥ २९ ॥ द्वादशाहत्रतं चयीत्रिरात्रमथवाऽस्य तु । स्नात्वोद्वहेत तां भार्यामन्यां वा तद्भावतः ॥ ३०॥ अग्रीनाधाय विधिवद्वात्यस्तोमेन वा यजेत्। अथैन्द्राप्नेन पशुना गिरिं गत्वा च तत्र तु ॥ ३१ ॥ क्रीवाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना त्रात्या विधर्मिणः । गर्भभर्तृद्रहश्चेव सुराप्यश्चेव योषितः ॥ ३२ ॥ दशाहस्यान्तरो यस्य गङ्गातोयेऽस्थि मज्जति । गयायां मरणं याद्क् ताद्दक्ष्ळमवाष्तुयात् ॥ ३३ ॥ द्वाद्शेऽहिन विप्राणामाशौचान्ते च भूभुजाम् ॥ ३४ ॥ वैदयानां तु त्रिपक्षादावथवा स्यात्सपिण्डनम् ॥ ३५ ॥

#### ग्रुद्रकमलाकरे—

जपस्तपस्तीर्थसेवा प्रव्रज्या मन्नसाधनम् ।
देवताराधनं चैव स्वीश्र्द्रपतनानि षट् ॥ १ ॥
विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधे ।
वर्यः प्रतोदरश्मीन्वा यष्टि श्रुद्रः कृतिकयः ॥ २ ॥
गृह्याभौ तु पचेदन्नं ठौकिके वापि नित्यशः ।
यस्मिन्नभौ पचेदन्नं तस्मिन्होमो विधीयते ।
द्विजस्य मरणे वेश्म विशुद्धाति दिनन्नयात् ॥ ३ ॥
वैजिकादमिसंबंधादनुरुन्ध्यादहं त्र्यहम् ।
तस्माद्यनेन रक्ष्यास्ता भर्तव्या मनुरन्नवीत् ॥ ४ ॥
ग्राम्यधर्मे च पक्सां च परिम्राहस्य रक्षणे ॥ ५ ॥

भर्ता दैवं गुरुभेती धर्मतीर्थत्रतानि च। तसात्सर्व परिह्यज्य पतिमेकं समाचरेत् ॥ ६ ॥ भुङ्के भुक्ते पतौ या तु स्वासीना चापि वाऽऽसिते । विनिद्रितो विनिद्राति सा स्त्री ज्ञेया पतित्रता ॥ ७ ॥ स्त्रियाः श्रुतौ वा शास्त्रे वा प्रत्रज्या नाभिधीयते । प्रजा हि तस्याः स्वो धर्मः सवर्णीदिति धारणा ॥ ८ ॥ ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्वावधेरूर्ध्वमब्दतः । अकृतोपनयाः सर्वे वृषला एव ते स्मृताः ॥ ९ ॥ प्रायश्चित्तं चिकित्सां च ज्योतिषं धर्मनिर्णयम । विना शास्त्रेण यो ब्र्यात्तमाहुर्बद्धघातकम् ॥ १० ॥ जीवञ्जातो यदि ततो मृतः सूतकमेव तु । सूतकं सकछं मातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकम् ॥ ११ ॥ विधवा कारयेच्छाद्धं यथाकालमतन्द्रिता । स्वमर्त्प्रभृतित्रिभ्यः स्वपिरुभ्यस्ययेव च ॥ १२ ॥ संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते । संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १३ ॥ पित्रोः खसरि तद्वच पक्षिणीं क्षपयन्निशाम् ॥ १४ ॥ भगिन्यां संस्कृतायां तु भ्रातर्यपि च संस्कृते । मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते ॥ १५ ॥ शालके तत्स्रते चैव सद्यः स्नानेन शुध्यति ॥ १६ ॥ षण्डं तु ब्राह्मणं हत्वा शुद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १७ ॥ शूद्रकन्यासमुत्पन्नो ब्राह्मणेन तु संस्कृतः । अपरो नापितः श्रोक्तः श्रद्रधर्माधिकोऽपि सः ॥ १८ ॥

#### संस्कारकौस्तुभे-

सर्वदेशेषु पूर्वाह्ने मुख्यं स्यादुपनायनम् । मध्याह्ने मध्यमं प्रोक्तमपराह्ने तु गर्हितम् ॥ १ ॥ विवाहेऽनधिकारेण ज्येष्ठकन्योत्थिता यदा । तुद्तुह्मां विना चापि कनिष्ठामुद्रहेत्तदा ॥ २ ॥ शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म राजा च भूभुजः ।
गुप्तो दत्तश्च वैद्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् ॥ ३ ॥
चाण्डालात्रं द्विजो भुक्त्वा सम्यक् चान्द्रायणं चरेत् ।
बुद्धिपूर्वे तु कुच्छ्राब्दं पुनःसंस्कारमेव च ॥ ४ ॥
प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन योजयेत् ।
यामद्वयं शयानस्तु ब्रह्मभूयाय कल्पते ।
चत्वारो ब्रह्मणस्याद्याः शस्ता गान्धर्वराक्षसौ ॥ ५ ॥

#### प्रयोगरते (नारायणमहीये)-

जातकर्मादिसंस्काराः स्वकाले न भवन्ति चेत्। चौलादर्वाक् प्रकुर्वीत प्रायश्चित्तादनन्तरम् ॥ १ ॥ लेखामात्रस्तु दृश्येत रिश्मभिस्तु समन्वितः। उदितं तु विजानीयात्तत्र होमं प्रकल्पयेत्॥ २ ॥

संस्कारमयुखे-

शूद्रोऽ येवंविधः कार्यो विना मन्नेण संस्कृतः ॥ १ ॥
ततोऽन्नप्राश्चनं मासि षष्ठे कार्ये यथाविधि ।
अष्टमे वाऽथ कर्तव्यं यद्वेष्टं मङ्गलं गृहे ॥ २ ॥
तिस्रो वर्णानुपूर्वेण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।
न्नाह्मणक्षत्रियविशां भार्याः स्वाः शूद्रजन्मनः ॥ ३ ॥
अथाद्रयोर्गृह्ययोर्योगं सपत्नीभेदजातयोः ।
सहाधिकारसिद्ध्यर्थमहं वक्ष्यामि शौनक ॥ ४ ॥
श्रुधितं तृषितं श्रान्तं वलीवदं न योजयेत् ॥ ५ ॥

#### आचारमयुखे—

यस्मिन्देशे तु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका । सैव तत्र प्रशस्ता स्थात्तया शौचं विधीयते ॥ १ ॥ भूत्रे तिस्रः पादयोस्तु इस्तयोस्तिस्र एव तु । मृदः पञ्चदशा मेध्ये इस्तादीनां विशेषतः ॥ २ ॥ निष्पीड्य स्नानवस्नं तु पश्चात्संध्यां समाचरेत्। अन्यथा कुरुते यस्तु स्नानं तस्याफळं भवेत् ॥ ३ ॥ असामध्यांच्छरीरस्य काळशक्त्याद्यपेक्षया । मन्नस्नानादिकं प्रोक्तं मुनिभिः शौनकादिभिः ॥ ४ ॥ वृत्तेणाच्छाद्य तु करं दक्षिणं यः सदा जपेत् । तस्य तत्सफळं जप्यं तद्धीनमफळं स्मृतम् ॥ ५ ॥ भोजनं तु न निःशेषं कुर्यात्प्राज्ञः कथंचन । अन्युत्र दिधसक्त्वाच्यपळळक्षीरमध्वपः ॥ ६ ॥ स्त्रीणां च प्रेक्षणात्स्पर्शाद्धास्यशृङ्कारभाषणात् । स्वन्दते ब्रह्मचर्यं च न दारेष्वृतुसंगमात् ॥ ७ ॥ ऋतौ तु गर्भं शङ्कित्वा स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् । अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मृत्रपुरीषवत् ॥ ८ ॥

श्राद्धमयूखे—

मुन्यनं त्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैदययोः ।
मधुप्रधानं द्र्द्रस्य सर्वेषां चाविरोधि यत् ॥ १ ॥
कच्छ्द्रादशरात्रेण मुच्यते कर्मणस्ततः ।
तस्माद्विद्वान्नेव दद्यात्र याचेन्न च दापयेत् ॥ २ ॥

### व्यवहारमयूखे—

दत्तकीतादिपुत्राणां वीजवपुः सिपण्डता । पञ्चमी सप्तमी चैव गोत्रं तु पालकस्य च ॥ १ ॥ स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तद्धिंनी । अप्रत्ता चेत्समूटा तु लभते मानपात्रकम् ॥ २ ॥

प्रायिश्वत्तमयूखे— पतत्यर्थं शरीरस्य मार्या यस्य सुरां पिवेत्। पतितार्थशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥ १॥

यो यस हिंस्याद्वव्याणि ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । एतस्योत्पाद्येनुष्टिं राज्ञा द्याच तत्समम् ॥ २ ॥ यत्पुंसः परदारेषु तचैनां चारयेद्व्रतम् ॥ ३ ॥ गोमूत्रं गोमयं क्षीरं द्धि सर्पिः कुशोद्कम् । स्नात्वा पीत्वा च हुत्वा च क्रमिदृष्टः शुचिर्भवेत् ॥ ४ ॥ असत्प्रतिप्रहीतारस्तथैवायाज्ययाजकाः । नक्षत्रैर्जीवते यश्च सोऽन्धकारं प्रपद्यते ॥ ५ ॥ अटव्यामटमानस्य ब्राह्मणस्य विशेषतः । प्रनष्टसिळेळे देशे कथं शुद्धिर्विधीयते ॥ ६ ॥ अपो दृष्ट्वेव विप्रस्तु कुर्याचैव सचैछकम् । गायज्याष्ट्रशतं जाप्यं स्नानमेतत्समाचरेत् ॥ ७ ॥ देशकाळं समासाद्यमवस्थामात्मनस्तथा । धर्मशौचेऽवतिष्ठेत न कुर्याद्वेगधारणम् ॥ ८ ॥ त्रिरात्रं वाष्युपवसे इयहं त्रिः पर्वणी भवेत । तथैवाम्भसि नमस्तु त्रिः पठेदघमर्षणम् ॥ ९ ॥ यदहा कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा। आसीनः पश्चिमां संध्यां प्राणायामैर्निहन्ति तै: ॥ १० ॥ पतितान्यश्वपाकेन संस्रष्टा चेद्रजस्वला । तान्यहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ ११ ॥ प्रथमेऽह्नि त्रिरात्रं स्याहितीये द्व्यहमेव तु । अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे नक्तमेव च ॥ १२ ॥ मातुर्मातृगमने पितुर्मातृगमने तथा । एकास्त्वकामतो गत्या द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १३ ॥

#### विवादभङ्गार्णवे—

त्रह्मदायागतां भूमिं हरेयुत्रीह्मणीसुताः ।
गृहं द्विजातयः सर्वे तथा क्षेत्रं क्रमागतम् ॥ १ ॥
देशनामनदीभेदात्रिकटेऽपि भवेद्यदि ।

दशरात्रेण या वार्ता यत्र न श्र्यतेऽथवा । गरोः शिष्ये पितः पत्रे दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः ॥ ३ ॥ एकोदरे जीवति तु सापन्नो न लभेद्धनम्। म्थावरेऽप्येवमेव स्थात्तदभावे लभेत वै ॥ ४ ॥ भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वरीसाधनम । नरके पीडने चास्य तस्माद्यक्षेन तं भरेत् ॥ ५ ॥ ये जाता रेऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः। वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः ॥ ६ ॥ ऋणमस्मिन्सन्नयसमृतत्वं च विन्दति । तेन चानृणतां याति पितॄणां जीवतां सुखम् ॥ ७ ॥ षाण्मासिकेऽपि काले तु भ्रान्तिः संजायते नृणाम् । धात्राक्षराणि स्पृष्टानि यत्रारूढान्यतः परा ॥ ८ ॥ धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थे तदनर्थकम । त्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धि नैव प्रयोजयेत् । कामी च खल धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पकम् ॥ ९ ॥ सर्वत्रादायकं राजा हरेद्वह्यस्ववर्जितम् । अदायकं तु ब्रह्मस्वं श्रोत्रियेभ्यः प्रदापयेत् ॥ १० ॥ विरोधे तु मिथस्तेषां व्यवहारो न सिध्यति ॥ ११ ॥ ऋतुस्नाता तु या भायी भर्तारं नोपगच्छति । तां प्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघीं विनिवासयेत् ॥ १२ ॥ स्वच्छन्दगा च या नारी तस्यास्यागो विधीयते । न चैव स्त्रीवधं कुर्यात्र चैवाङ्गविकर्तनम् ॥ १३ ॥ स्वच्छन्द्व्यभिचारिण्या विवस्तुंस्यागमत्रवीत् । न वधं न च वैरूप्यं बन्धं स्त्रीणां विवर्जयेत्।। १४।। दानात्प्रभृति या तु स्याचावदायुः पतित्रता । सा भर्तृलोकमाप्रोति यथैवारुम्धती तथा ॥ १५ ॥ यहन्धं लामकाले तु खजाता कम्यया सह। कन्यागतं तु बहिद्याच्छुद्धं वृद्धिकां स्मृतम् ॥ १६ ॥

वैवाहिकं तु तिहिद्याद्वार्थया यत्समागतम् । धनमेविविधं सर्वं विज्ञेयं धर्मसाधनम् ॥ १७ ॥ आरुष्ध संशयं यत्र प्रसमं कर्म कुर्वते । तिस्मन्कर्मणि तुष्टेन प्रसादः स्वामिना कृतः ॥ १८ ॥ तत्र लब्धं तु यत्किचिद्धनं शौर्येण तद्भवेत् । ध्वजाहृतं भवेद्यच विभाज्यं नैव तत्समृतम् ॥ १९ ॥ संप्रामादाहृतं यत्तु विद्राव्य द्विषतां बलम् । स्वाम्यर्थ्ये जीवितं त्यक्तवा तद्भुजाहृतमुच्यते ॥ २० ॥

#### ातहेमाद्रौ-

विहितस्याननुष्टानमिन्द्रियाणामनिष्रद्दः । निषिद्धसेवनं नित्यं वर्जनीयं प्रयत्नतः ॥ १ ॥

# ानहेमाद्रौ—

(मनुः)

इष्टे यज्ञे यद्दीयते दक्षिणादि तदेष्टिकम् ।
विवेदि च यद्दानं दीयते तद्धि पौर्तिकम् ॥ १ ॥
स्वर्गायुर्भूतिकामेन तथा पापोपशान्तये ।
मुमुक्षुणा च दातव्यं ब्राह्मणेभ्यस्तथाऽन्वद्दम् ॥ २ ।
ये व्यपेताः स्वकर्मभ्यः परिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमभिकाङ्कन्ति तांख्य शुद्भवदाचरेत् ॥ ३ ॥
अत्रता द्यनधीयामा यत्र भेक्ष्यचरा द्विजाः ।
तं प्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः ॥ ४ ॥
पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम् ।
असत्सु विनियुद्धीत तस्य देयं न किंचन ॥ ५ ॥
संचयं कुरुते यख्य प्रतिगृह्य समन्ततः ।
धर्मार्थं नोपयुद्धे यो न तं तस्करमचंयेत् ॥ ६ ॥
म कुर्यात्कस्यचित्पीडां कर्मणा मनसा गिराः।

संध्ययोर भयोर्जिप्ये भोजने दन्तथावने ।

पितृकार्ये च दैवे च तथा मूत्रपुरीषयोः ॥ ८॥
गुरूणां संनिधो दाने योगे चैव विशेषतः ।

एषु मौनं समातिष्ठन स्वर्ग प्राप्नोति मानवः ॥ ९॥
विष्णुः पराशरो दक्षः संवर्तव्यासहारिताः ।

शातातपो वसिष्ठश्च यमापस्तम्बगौतमाः ॥ १०॥
देवलः शङ्किलिखितौ भरद्वाजोशनोऽत्रयः ।

शौनको याज्ञवल्क्यश्च दशाष्टो स्मृतिकारिणः ॥ ११॥

#### श्राद्धहेमाद्रौ-

यत्किचिन्मधुसंमिश्रं गोक्षीरघृतपायसम् । दत्तमक्षयमित्याद्वः पितरस्त्वेव देवताः ॥ १ ॥ अलाभे भिन्नकालानां नान्दीश्राद्धत्रयं बुधः । पूर्वेद्युवी प्रकुवीत पूर्वीहे मात्रपूर्वकम् ॥ २ ॥ एकपिण्डकृतानां तु पृथक्त्वं नोपपद्यते । सपिण्डीकरणादुर्ध्वमृते कृष्णचतुर्द्शीम् ॥ ३ ॥ क्रवन्त्रतिपदि श्राद्धं सरूपान् लभते सुतान्। कन्यकां तु द्वितीयायां तृतीयायां तु बन्दिनः ॥ ४ ॥ पशून् क्षुद्रांश्चतुथ्यां तु पञ्चम्यां शोभनान्सुतान् । षष्ट्यां दृतं कृषिं चापि सप्तम्यां लभते नरः ॥ ५ ॥ अष्टम्यामपि वाणिज्यं लभते श्राद्धदः सदा । नवम्यामेकखुरकं दशम्यां द्विखुरांस्तथा ॥ ६ ॥ एकाद्द्यां तथा रौप्यं ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् । द्वादश्यां जातरूपं च रजतं कृष्यमेवं च ॥ ७ ॥ ज्ञातिश्रष्टवं त्रयोदस्यां चतुर्दस्यां तु सुप्रजाः । शीयन्ते पितरश्चास्य ये शस्त्रेण हता रणे ॥ ८॥ पक्षत्यादिविनिर्दिष्टान् विपुलान्मनसः प्रियान् । ' श्राद्धदः पञ्चद्दयां तु सर्वान्कामान्समभूते ॥ ९ ॥

सर्व वा यदि वाष्यर्धे पादं वा यदि वाऽश्वरम्। सकाशाद्यस्य गृह्वीयात्रियतं तस्य गौरवम् ॥ १० ॥ नानृग्त्राह्मणो भवति न वणिङ् कुशीलवः । न शुद्रवेषणं कुर्वन्नस्तेयो न चिकित्सकः ॥ ११ ॥ परपूर्वापतिं धीरा वद्नित दिधिषूपतिम् । द्विजोऽयेदिधिषूश्चैव यस्य सैव कुदुम्बिनी ॥ १२ ॥ यस्तयोरन्नमश्नाति स कुलाइयवते द्विजः ॥ १३ ॥ अतिथिं पूजयेदास्तु श्रान्तं वा हृष्टमानसम् । सबूषं गोशतं तेन दत्तं स्यादिति मे मतिः ॥ १४ ॥ येषामनं विनाऽतिथिर्विप्राणां त्रजते गृहात्। ते वै खरत्वमुष्टत्वमश्वत्वं प्रतिपेदिरे ॥ १५ ॥ किं ब्राह्मणस्य पितरं किं वा प्रच्छित मातरम्। श्रुतं चेद्स्ति वेद्यं वा तन्मातापितरौ समृतौ ॥ १६ ॥ अनर्हते यददाति न द्दाति यद्हते। अर्हानर्हानभिज्ञानात्सोऽपि धर्मादहीयते ॥ १७॥ परिच्यतेष्टवस्थानात्रिगरन्नेव तच्छुचि ॥ १८ ॥ निमन्य विप्रास्तदहर्वर्जयेन्मैथुनं क्षुरम्। प्रमत्ततां च खाध्यायं क्रोधं शोकं तथानृतम् ॥ १९ ॥ उपासनामौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि । पञ्चयज्ञान्नपक्तिश्च यचान्यद्वृद्यकृत्यकम् ॥ २० ॥ बह्नप्रयस्तु ये विप्रा ये वैकाप्रय एव च। तेषां सपिण्डनादृर्ध्वमेकोहिष्टं न पार्वणम् ॥ २१ ॥ पूर्वोह्नं वैदिकं श्राद्धमपराह्ने तु पार्वणम्। एकोदिष्टं तु मध्याहे प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥ २२ ॥ पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं क्षीणे राजनि शस्यते । वासरस्य वृतीयेंऽशे नातिसंध्यासमीपतः ॥ २३ ॥ यस्य चैव गृहे विष्रो वसेत्कश्चिद्भोजितः। न तस्य पितरो देवा हव्यं कव्यं च मुझते ॥ २४ ॥

अतिथिर्यस्य वे प्रामे भिक्षमाणः प्रयत्नतः ।
स चेन्निरसितस्तत्र ब्रह्महत्या विधीयते ॥ २५ ॥
अपि शाकंपचानस्य शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
स्वदेशे परदेशे वा नातिथिर्विमना भवेत् ॥ २६ ॥
यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवीषि च ।
पितृषु दैवयज्ञेषु दाता स्वर्गं न गच्छिति ॥ २७ ॥
श्राद्धेन यः कुरुते संगतानि न देवयानेन पथा स याति ।
विनिर्भुक्तं पिप्पलं वन्धतो वा स्वर्गाष्ट्रोकाद्भ्रस्यति श्राद्धमित्रः॥
यत्प्रोक्षितं भवेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधिनियुक्तश्च प्राणानामेव चात्यये ॥ २९ ॥
यस्तु भक्षयते मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
स लोकेऽप्रियतां याति व्याधिभिश्चेव पीड्यते ॥ ३० ॥

( बृद्धमनुः )

श्रवणाश्चिधनिष्ठार्द्रो नागदैवतमस्तके ।
यद्यमा रिववारेण व्यतीपातः स उच्यते ॥ ३१ ॥
यश्च व्याकुरुते वाचं यश्च मीमांसतेऽध्वरम् ।
यश्च वेत्त्यात्मकेवल्यं पङ्किपावनपावनाः ॥ ३२ ॥
यां कांचित्सिरतं प्राप्य कृष्णपक्षे चतुर्दशी ।
यमुनाया विशेषेण ब्राह्मणो नियतेन्द्रियः ॥ ३३ ॥
हिरण्यं वैश्वदेवे द्वाह्मै दक्षिणां बुधः ।
पित्रे तु रजतं देयं शक्या भूमिगवादिकम् ॥ ३४ ॥
प्रोषितस्य यदा कालो गतश्चेह्मदशाब्दिकः ।
प्राप्ते त्रयोदहो वर्षे प्रेतकार्याणि कारयेत् ॥ ३५ ॥

# मिताक्षरायाम्---

अकामतस्त्रहोरात्रं मेथेपूपवसेददः ॥ १ ॥ मानुषास्थिः शर्वं विक्षं रेतो मूत्रार्शवं वसा । सोकाशुद्द्विका शेष्म मर्गं चामेष्यमुख्यते ॥ १ ॥

विष्णो हव्यं च कव्यं च ब्रूयाद्रक्षेति च क्रमात् ॥ ३ ॥ सभासदश्च ये तत्र स्मृतिशास्त्रविदः स्थिताः । यथा लेख्यविधौ तद्वत्स्वहस्तं द्युरेव ते ॥ ४ ॥ निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पाद्छम्बनम् । त्रिकाद्वीक्तु पुण्यं स्यात्कोशपानमतः परम् ॥ ५ ॥ विभक्ता वाऽविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः। एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रयः ॥ ६ ॥ वाक्पारुच्ये य एवोक्ता प्रतिलोमानुलोमतः ॥ ७॥ त्राह्मणस्य वधे मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनाङ्कते । ललाटे वाभिशस्ताङ्काः प्रयाणं गर्दभेन तु ॥ ८॥ सूतके तु कुलस्यात्रमदोषं मनुरत्रवीत् ॥ ९ ॥ बहुनामेककार्याणां सर्वेषां शस्त्रधारिणाम्। यद्येको घातयेत्तत्र सर्वे ते घातकाः समृताः ॥ १० ॥ ततो मुसलमादाय सक्दद्रन्यातु तं खयम् ॥ ११ ॥ एतान्येव तथा पेयान्येकैकं तु ब्रहं ब्रहम्। अतिसांतपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत् ॥ १२ ॥ विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनम् । ऋते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः ॥ १३ ॥ ( बृहन्मनुः ) दशाहाभ्यन्तरे बाले प्रमीते तस्य बान्धवैः। शावाशौचं न कर्तव्यं सूत्याशौचं विधीयते ॥ १४ ॥

### पाराशरमाधवीये-

प्रजापतिर्हि यस्मिन्काले राज्यमभूभुजत् (?)।
धर्मेकतानाः पुरुंषास्तद्गऽऽसन्सत्यवादिनः ॥ १॥
तदा न व्यवहारोऽभूत्र द्वेषो नापि मत्सरः ।
नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रवर्तते ॥ २॥
द्विजान्विहाय संपद्येत्कार्याणि वृष्लैः सह ।
तस्य प्रश्चमितं राष्ट्रं बलं कोशं च नदयति ॥ ३॥

संदिग्धेर्षु तु कार्येषु द्वयोर्विवदमानयोः । दृष्टश्चतानुभूतत्वात्साक्षिभ्यो व्यक्तदर्शनम् ॥ ४ ॥ ब्राह्मणो वा मनुष्याणामादित्यस्तेजसामिव । शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥ सहामेव परं दानं सहामेव परं तपः। सत्यमेव परो धर्मो छोकोत्तरमिति स्थितिः ॥ ६ ॥ सत्ये देवाः समुद्दिष्टा मनुष्यास्त्वनृतं समृतम् । इहैव तस्य देवत्वं यस्य सत्ये स्थिता मतिः ॥ ७ ॥ नास्ति सत्यात्परो धर्मी नानृतात्पातकं परम्। साक्षिधर्मे विशेषेण सत्यमेव वदेत सः ॥ ८ ॥ ऋत्विक्पुरोहितामात्याः पुत्राः संबन्धिबान्धवाः । धर्माद्विचलिता दण्ड्या निर्वास्या राजभिः पुरात् ॥ ९ ॥ ऋणिकः सधनो यस्तु दौरात्म्यात्र प्रयच्छति । राज्ञा दापियतव्यः स्याद्धहीत्वा द्विगुणं ततः ॥ १० ॥ द्रव्यमस्वामिविकीतं मूल्यं राज्ञे निवेदितम् । न तत्र विद्यते दोषो न स्यात्तदुपविक्रयात् ॥ ११ ॥ आर्तस्य कुर्यात्सच्छंसन् यथाभाषितमादितः । सुदीर्घस्यापि कालस्य तहभेतैव वेतनम् ॥ १२ ॥ त एव दण्डपारुष्ये न्याप्य दण्डा यथाक्रमम् ॥ १३ ॥ यः कुमारी मेषपशून् ऋक्षांत्र्य वृषभांस्तथा। बाह्येत्साह्सं पूर्णे प्राप्नुयादुत्तमं वधे ॥ १४ ॥ महापापोपवक्तारो महापातकशंसकाः। आमध्यमोत्तमा दण्ड्या द्युस्ते च यथाऋमम्॥ १५॥ मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो मामदेशयोः ॥ १६ ॥ अन्त्याभिगमने त्वक्क्या कबन्धेन प्रवासयेत्। शुद्रस्तथाङ्क्य एव स्यादण्ड्यः स्याद्गमने वधः ॥ १७ ॥ अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं वापि मोहतः । चतुर्विशतिको दण्डस्तथा प्रत्रजिती हि सः ॥ १८॥

यः कारणं पुरस्कृत्य व्रतचर्या निषेवते । पापं त्रतेन संछाद्य बैडालं नाम तद्रतम् ॥ १९ ॥ सहस्रगुणितं दानं भवेइत्तं युगादिषु । कर्म श्राद्धादिकं चैव तथा मन्वन्तरादिषु ॥ २० ॥ बृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्यो सुतः शिशुः । अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥ २१ ॥ दीपोत्सवचतुर्द्दयां कार्ये त यमतर्पणम्। कृष्णाङ्गारचतुर्देश्यामपि कार्यं तथैव वा ॥ २२ ॥ यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च। वैवखताय कालाय सर्वभृतक्ष्याय च ॥ २३ ॥ औदुम्बराय द्वाय नीलाय परमेष्टिने । वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय ते नमः ॥ २४ ॥ चन्द्रसूर्यप्रहे नाद्यादद्यात्झात्वा विमुक्तयोः । अमुक्तयोरस्तगतयोर्देष्ट्वा स्नात्वा परेऽहनि ॥ २५ ॥ उपस्थाने च यत्त्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन हि । तात्कालिकमिति ख्यातं तदत्तव्यं मुमुक्षुणा ॥ २६ ॥ सिद्धमन्नं भक्तजनैरानीतं यन्मठं प्रति । उपपन्नं तदिलाहुर्मुनयो मोक्षकाङ्किणः ॥ २७ ॥ उभयत्र दशाहानि कुलस्यात्रं न भुज्यते । दानं प्रतिप्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥ २८ ॥ जाते कुमारे तदृहः कामं कुर्यात्प्रतिप्रहम् । हिरण्यधान्यगोवासास्तिलानां गुडसर्पिषाम् ॥ २९॥ मातुले श्रञ्जरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्गनामु च। आशौचं पश्चिणीं रात्रिं मृता मातामही यदि ॥ ३० ॥ श्वशुरयोश्च भगिन्यां च मातुलान्यां च मातुले ॥ ३१ ॥ प्राममध्ये मृतो यावच्छवस्तिष्ठति कस्यचित् । प्रामस्य तावदाशौचं निर्गते ग्रुचितामियात् ॥ ३२ ॥

प्रामेश्वरे कुलपतौ श्रोत्रिये च तपस्विनि । शिष्ये पञ्चत्वमापन्ने शुद्धिनिक्षत्रदर्शनात् ॥ ३३ ॥ तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे । तावत्कालं वसेत्खर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति ॥ ३४ ॥ अप्रात्त जातः क्षत्तायां श्वपाक इति कीर्स्यते ॥ ३५ ॥ ब्राह्मणस्य रणद्वारे प्यशोणितसंभवे । कृमिरुत्पद्यते यस्तु प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥ ३६ ॥ गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसंध्यं स्नानमाचरेत्। त्रिरात्रं पञ्चगव्याशी अधो नाभ्या विशुध्यति ॥ ३७ ॥ नाभिकण्ठान्तरोद्धते व्रणे चोत्पद्यते कृमिः। षडात्रं तु तदा शोक्तं शाजापत्यं शिरोत्रणे ॥ ३८ ॥ बिधेः प्राथमिकादस्माहितीये द्विगुणं चरेत्। तृतीये त्रिगुणं चैव चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥ ३९ ॥ अपात्रीकरणं त्वा .... तप्तकृच्छेण शुद्धाति । शीतकुच्छ्रेण वा शुद्धिमहः सांतपनेन वा ॥ ४० ॥ श्रुतिं पद्मयन्ति मुनयः स्मरन्ति च तथा स्मृतिम् । तस्मात्प्रमाणसुभयं प्रमाणैः प्रापितं सुवि ॥ ४१ ॥ वाक्याभावे तु सर्वेषा देशदृष्टमनन्तयेत् ॥ ४२ ॥ यस्य देशस्य यो धर्मः प्रवृत्तः सार्वकालिकः । श्रुतिस्मृत्यविरोधेन देशदृष्टः स उच्यते ॥ ४३ ॥ देशपत्तनगोष्ठेषु पुरमामेषु वादिनाम्। तेषां स्वसमयैर्धर्मः शास्त्रतोऽन्येषु तैः सह ॥ ४४ ॥ लेख्यं यत्र न विद्येत न भुक्तिने च साक्षिणः । न च दिव्यावतारोऽस्ति प्रमाणं तंत्र पार्थिवः ॥ ४५ ॥ डभयाभ्यर्थितेनैव मया ह्यमुकसृतुना । लिखितं श्रमकेनेति लेखकः खं तु तिहिखेत् ॥ ४६ ॥ शोधरें च छन्देन वेद्येद्धनिकं नृषे। स राज्ञणीचतुर्भागं दाप्यं तस्य च तद्धमम् ॥ ४७ ॥

यदि तस्मिन्दाप्यमाने भवेन्मोषे तु संशयः। मुषितः शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वापि साध्येत् ॥ ४८ ॥ न प्रातने प्रदोषश्च संध्याकालोतिकाल हि(?)। मुख्याभावेऽनुकल्पश्च सर्वस्मिन्कर्मणि स्मृतः ॥ ४९ ॥ पीत्वा योऽशनमश्रीयात्पात्रे दत्तमगर्हितम । भार्याभृतकदासेभ्य उच्छिष्टं शेषयेत्ततः ॥ ५०॥ अनिन्दन्भक्षयेत्रित्यं वाग्यतोऽन्नमुकुत्सयन् । पञ्चप्रासा महामौनं प्राणाद्याय्यायनं महत् ॥ ५१ ॥ महानद्यन्तरं यत्र गिरिवी व्यवधायकः । वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते ॥ ५२ ॥ पित्रोरुपशमे स्त्रीणामृहानां तु कथं भवेत्। त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादित्याह भगवान्यमः ॥ ५३ ॥ नभस्यस्यापरः पक्षो यत्र कन्यां ब्रजेद्रविः । स महालयसंज्ञः स्याद्गजच्छायाह्वयस्तथा ॥ ५४ ॥ सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशइण्डनिवर्तनम् । तान्येव दश गोचर्मदाता पापैः प्रमुच्यते ॥ ५५ ॥ समानोदकभावस्तु निवर्तेताचतुर्दश । जन्मनामस्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ॥ ५६ ॥ आषाढीमवधिं कृत्वा पञ्चमं पक्षमाश्रिताः । काङ्कान्ति पितरः क्विष्टा अन्नमप्यन्वहं जलम् ॥ ५७ ॥ तस्मात्तत्रैव दातन्यं दत्तमन्यत्र निष्फलम् । आषाढीमवधि कृत्वा यः पक्षः पञ्चमो भवेत् ॥ ५८ ॥ तत्र श्राद्धं प्रकुर्वीत कन्यास्थोऽकीं भवेन वा ॥ ५९ ॥

## धर्मसिन्धौ-

विवाहत्रतचूडासु माता यदि रजखला। तस्याः शुद्धेः परं कार्यं मङ्गलं मनुरत्रवीत्॥ १॥

#### व्यवहारतत्त्वे---

नाध्यापयति नाधीरे स ब्राह्मणञ्जवः स्मृतः ॥ १ ॥

#### दायतत्त्वे-

राजा लब्ब्बा निधि द्याहिजेभ्योऽधै द्विजः पुनः। विद्वानशेषमाद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः॥ १॥ इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्टांशमाहरेत्। अनिवेदितविज्ञाता दाप्यस्तं दण्डमेव च॥ २॥

## दायक्रमसंग्रहे-

पतितस्तु सुतः क्वीबः पङ्गुश्चोन्मत्तको जडः । अन्धोऽचिकित्स्यरोगार्तो भर्तव्यास्त निरंशकाः ॥ १ ॥ सामान्यं पुत्रकन्याऽऽधिः सर्वस्वं न्याययाचितम् । अदेयान्याहुरष्टेव यद्यान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ २ ॥

#### ्शंकरविजये---

पूच्येषु सेवका नीचाः पुण्यमागिकियानुगाः । तत्तदेव पदं चापुर्यथा जातिकुलस्थितिः ॥ १ ॥ विप्राणां दैवतं शंसुः क्षत्रियाणां तु माधवः । वैदयानां तु भवेद्रसा शुद्राणां गणनायकः ॥ २ ॥

# म नुस्य ति प चा नु ऋ मः।

| अकन्येति —                | अग्नीन्धनं   | अग्नेः सोमयमा —               | अतस्तु वि    | प           |
|---------------------------|--------------|-------------------------------|--------------|-------------|
|                           | अध्या. श्लो. |                               | अध्या. श्रं  | ने.         |
| अ                         |              | अप्तेः सोमयमाभ्यां च          | * ३ २१       | 9           |
| अकन्येति तु यः कन्याम्    | ८ २२५        | अप्रेः सोमस्य चैवादौ          | 3 6          | 4           |
| अकामतः कृतं पापम्         | 99 86        | अमी प्रास्ताहुतिः सम्यक्      | <b>ર</b> હ   | Ę           |
| अकामतः कृते पापे          | 99 84        | अझ्यभावे तु विप्रस्य          | <b>३ २</b> 9 | २           |
| अकामतस्तु राजन्यम्        | 99 920       | अझ्यगारे गवां गोष्ठे          | 8 6          | 36          |
| अकामस्य किया काचित्       | २ ४          | अश्याघेयं पाकयज्ञान्          | २ १४         | <b>४३</b>   |
| <b>अ</b> कारणपरिखका       | ३ १५७        | अम्याः सर्वेषु वेदेषु         | <b>३</b> 90  | ४४          |
| अकारं चाप्युकारं च        | २ ७६         | अघं स केवलं भुङ्के            | 3 9          | 36          |
| अकुर्वन्विहतं कर्म        | 99 88        | अङ्गावपीडनायां च              | २ २८         | 9           |
| अकृतं च कृतात्क्षेत्रात्  | १० ११४       | अङ्करीर्प्रन्थिभेदस्य         | 5 31         | ৩৩          |
| अकृता वा कृता वापि        | ९ १३६        | अङ्गुष्ठमूलस्य तखे            | ર ધ          | 18          |
| अकृत्वा भैक्षचरणम्        | २ १८७        | अचधुर्विषयं दुर्गम्           | 8 (          | ૭હ          |
| अकोधनान्सुप्रसादान्       | ३ २१३        | अच्छलेनैव चान्विच्छेत्        | 6 9          | ८७          |
| अक्रोधनाः शौचपराः         | ें३ १९२      | अजडश्रेदपीगण्डः               | 6 93         | 86          |
| अक्षमाला वसिष्ठेन         | ं ९ २३       | अजाविकं सैकशफम्               | 8 98         | 98          |
| अक्षारलवणाचाः स्युः       | ५ ७३         | अजाविके तु संरुद्धे           | ८ २          | ३५          |
| अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टम्  | 90 09        | अजीगर्तः सुतं हन्तुम्         | 90 9         | ०५          |
| अगारदाही गरदः             | - ३ १५८      | अजीवंस्तु यथोक्तेन            | 90           | 69          |
| अगाराद्भिनिष्कांतः        | ६ ४१         | अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रम्  | 99 90        | ५०          |
| अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये   | ८ ३८५        | अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्      | 99 3         | ३३          |
| अग्निद्ग्धानिमद्ग्धान्    | ३ १९९        | अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा       | 33 3.        | ४६          |
| अग्निदान्भक्तदांश्चैव     | ९ २७८        | अह्नेभ्यो प्रन्थिनः श्रेष्ठाः | 92 3         | <i>\$</i> • |
| अग्निपकाशनो वा स्यात्     | ६ १७         | अज्ञो भवति वै बालः            | २ १          | ५३          |
| अभिवायुर्विभ्यस्तु        | 9 33         | अण्डजाः पक्षिणः सर्पाः        | 9            | 88          |
| अप्तिं वाहारयेदेनम्       | 'c 998       | अण्व्यो मात्रा विनाशिन्य      | 1: 9         | ર્પ         |
| अभिहोत्रं च जुहुयात्      | ४ २५         | अत ऊर्घ तु छन्दांसि           | ्र           | ३९          |
| अप्तिहोत्रं समादाय        | ६ ४          | अत ऊर्घ्वं त्रयोऽप्येते       | 18           | <b>3</b> ,9 |
| अप्तिहोत्र्यपविष्याप्तीन् | 99 89        | अतः खल्पीयसि द्रव्ये          | 99           | 4           |
| अमीनात्मनि वैतानान्       | ं ६ २५       | अतपास्त्वनधीयानः *            | 8 9          | <b>\$</b> a |
| अमीन्धनं भैक्षचर्याम्     | ३ १०४        | अतस्तु विपरीतस्य              | G            | 3,          |
| म॰ भ॰ 1                   |              | •                             |              |             |
|                           |              |                               |              |             |

| अतिकान्ते दशा 🔭                 | अधा    | र्मिको | अधितिष्ठेश —              | अना    | र्यायां |
|---------------------------------|--------|--------|---------------------------|--------|---------|
|                                 | अध्या. | 'श्रो. |                           | अध्या. | श्लो.   |
| अतिकान्ते दशाहे च               | ч      | ७६     | अधितिष्ठेत्र कैशांस्तु    | ४      | 906     |
| अतिकामेत्प्रमत्तं या            | \$     | ৬৫     | अधियज्ञं ब्रह्म जपैत्     | Ę      | ८३      |
| अतिथि चाननुज्ञाप्य              | ሄ      | 922    | अधिविशा तु या नारी        | 8      | ८३      |
| अतिवादांस्तिति सेत              | Ę      | ४७     | अधीख विधिवदेदा <b>न्</b>  | Ę      | ₹ €     |
| अतैजसानि पात्राणि               | Ę      | ५३     | अधीयीरंस्रयो वर्णाः       | 90     | 9       |
| अतोऽन्यतममास्थाय                | 99     | ८६     | अधोद्दष्टिनैं कृतिकः      | ¥      | १९६     |
| अतोऽन्यतमया वृत्त्या            | ४      | 93     | अध्यक्षान्विवधानकुर्यात्  | ৩      | 69      |
| अत्युष्णं सर्वमनं स्यात्        | 3      | २३६    | अध्यम्यभ्यावाहनिकम्       | 9      | 988     |
| अत्र गाथा वायुगीताः             | \$     | ४२     | अध्यात्मरतिरासीनः         | Ę      | ४९      |
| <b>अथ</b> मूलमनाहार्थ <b>म्</b> | 6      | २०२    | अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः      | 3      | ७०      |
| <b>अद</b> ण्ड्यान्दण्डयत्राजा   | ٤      | १२८    | अध्यापनमध्ययनम्           | 9      | 66      |
| <b>अदत्ता</b> नामुपादानम्       | 98     | ঙ      | अध्यापनमध्ययनम्           | 90     | ७५      |
| अदत्त्वा तु य एतेभ्यः           | ŧ      | 994    | अध्यापयामास पितृन्        | 2      | 949     |
| अदर्शयित्वा तत्रैव              | ۷      | 944    | अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः   | 8      | 190     |
| अदातरि पुनर्दाता                | 6      | 959    | अध्येष्यमाणं तु गुरुः     | · * *  | ५३      |
| अदीयमाना भर्तारम्               | 9      | 59     | अनंशो क्रीवपतितौ          | 9      | २०१     |
| अदृषितानां द्रव्याणाम्          | \$     | 264    | अनिमरिनकेतः स्यात्        | Ę      | ४३      |
| अदेश्यं यश्च दिशति              | ۵      | ५३     | अनधील द्विजो वेदान्       | Ę      | ३७      |
| अद्भिरेव द्विजाग्याणाम्         | ঽ      | ३५     | अनन्तरः सपिण्डाद्यः       | ع      | 960     |
| अद्भिर्गात्राणि शुष्यन्ति       | 4      | 909    | अनन्तरमरिं विद्यात्       | ঙ      | 946     |
| अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचम्       | 4      | 996    | अनन्तरासु जातानाम्        | 90     | ڻُ      |
| अद्योऽप्तिर्बह्मतः क्षत्रम्     | 8      | ३२१    | अनपत्यस्य पुत्रस्य        | 9      | २९७     |
| अवात्काकः पुरोडाशम्             | ৩      | २१     | <b>अनपे</b> क्षितमर्थादम् | 6      | ३०९     |
| अद्रोहेणैव भूतानाम्             | . 8    | ३२     | अनभ्यासेन वेदानाम्        | ч      | ४       |
| अद्वारेण च नातीयात्             | ४      | ξυ     | अनर्चितं वृथामांसम्       | ষ      | २१३     |
| अधमणीर्थसिद्धार्थम्             | c      | ४७     | भनातुरः खानि खानि .       | ४      | 988     |
| अधर्भदण्डनं लोके                | 6      | 920    | अनादेयं नाददीत            | ¢      | 900     |
| अधर्मप्रभवं चैव                 | Ę      | ६४     | अनादेयस्य चादानात्        | e      | 909     |
| अधर्मेण च यः प्राह्             | . 3    | 999    | अनामातेषु धर्मेषु         | 93     | 900     |
| अधर्मणिधते तावत्                | 8      | 908    | अनारोग्यमनायुष्यम्        | 3      | 40      |
| अधस्तान्नोपदध्याच               | ٧      | • •    | अनार्थता निष्ठरता         | 90     | 40      |
| अधार्मिकं त्रिभिन्यीयैः         |        | 390    | अनार्यमार्थकर्माणम्       | 90     | \$ e    |
| अधार्मिको नरो यो हि             | ¥      | 900    | अनार्यायां समुत्पनः       | 90     | € €     |
|                                 |        |        |                           |        |         |

| अनाहिताझिना —           | अन्धो :  | मत्स्या |
|-------------------------|----------|---------|
|                         | अध्या.   | श्चे.   |
| अनाहितामिता स्तेयम्     | 99       | ६५      |
| भनित्यो विजयो यसात्     |          | 988     |
| अनिन्दितैः स्रीविवाहैः  | 3        | ४२      |
| अनियुक्तासुतश्चैव       | 8        | 383     |
| अनिर्देशाया गोः क्षीरम् | 4        | 6       |
| अनिर्दशाहां गां सूताम्  | 6        | २४२     |
| अनुक्तनिष्कृतीनां तु    | 99       | २०९     |
| अनुगम्येच्छया प्रेतम्   | ч        | १०३     |
| अनुपन्नन्पितृद्रव्यम्   | 3        | २०८     |
| अनुबन्धं परिज्ञाय       | Ģ        | १२६     |
| अनुभावी तु यः कश्चित    |          | ६९      |
| अनुमन्ता विशसिता        | 4        | 49      |
| अनुरक्तः ग्रुचिर्दक्षः  | ৩        | ६४      |
| अनुष्णाभिरफेनाभिः       | २        | ६१      |
| अनृतं च समुत्कर्षे      | 99       | ष्ष     |
| अनृतं तु वदन्दण्ड्यः    |          | ्र ३ ६  |
| अनृतावृतुकाळे च         | لع       | 943     |
| अनेकानि सहस्राणि        | ч        | 948     |
| अनेन क्रमयोगेन परिव     | जित ६    | 64      |
| अनेन क्रमयोगेन संस्कृ   | तात्मा२  | 368     |
| अनेन तु विधानेन         | -8       | 926     |
| अनेन नारीवृत्तेन        | ч        | 988     |
| अनेन विधिना निसम्       | , ષ      | 958     |
| अनेन विधिना यस्तु       | . 99     | 994     |
| अनेन विधिना राजा कु     | र्जाणः ८ | ३४३     |
| अनेन विधिना राजा वि     | मेथो ८   | 906     |
| अनेन विधिना श्राद्धम्   | 3        | 269     |
| अनेन विधिना सर्वीन्     | • ६      | 49      |
| अनेन विशो वृत्तेन       | ų        | २६०     |
| अन्तर्गतशवे श्रामे      | . 8      | 906     |
| अन्तर्दशाहे स्यातां चेत | , ,      | , ७९    |
| अन्धो जर्डः पीठसपीं     | 4        | ३९४     |
| अन्धो मत्स्यानिवाश्राति | <b>†</b> | : ९५    |
|                         |          |         |

| •                                   |               |       |
|-------------------------------------|---------------|-------|
| अञ्चमेषां परा — अप्र                | यतः           | सुखा  |
| 3                                   | ाध्या.        | श्लो. |
| अन्नमेषां पराधीनम्                  | 90            | 48    |
| अन्नहर्तीमयावित्वम्                 | 99            | 49    |
| अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि            | 4             | ३१७   |
| अन्नाद्यजानां स <del>र</del> वानाम् | 39            | १४३   |
| अन्यदुर्पं जातमन्यत्                | 3             | 80    |
| अन्यां चेद्दरीयित्वान्या            | ۷             | २०४   |
| अन्यानपि प्रकुर्वीत्                | ঙ             | ξo    |
| अन्ये कृत्युगे धर्माः               | 9             | cle   |
| अन्येषां चैवमादीनाम्                | 6             | ३२९   |
| अन्येष्वपि तु कालेषु                | ' 19          | १८३   |
| अन्योन्यस्याव्यभीचारः               | \$            | 909   |
| अन्वाधेयं च यहत्तम्                 | 3             | 734   |
| अपः शस्त्रं विषं मांसम्             | 90            | 66    |
| अपः सुराभाजनस्थाः                   | 99            | 380   |
| अपत्यं धर्मकार्याणि                 | 3             | 36    |
| अपललोभाया दु स्त्री                 | 4             | -     |
| अपदिश्यापदेश्यं च                   | 6             |       |
| अपराजितां वास्थाय                   | Ę             |       |
| अपराह्नस्तथा दर्भाः                 | 3             |       |
| अपसव्यममी कृत्वा                    | ₹             |       |
| अपह्रवेऽधमर्णस्य                    | 6             | 45    |
| अपां समीपे नियतः                    | 3             | -     |
| अपाङ्कयो यावतः पाङ्कया              | त् ३          |       |
| अपाङ्कदाने यो दातुः                 | ₹             | 958   |
| अपाङ्क्षयोपहता पङ्किः               | ₹             | १८३   |
| अपाममेश्व संयोगात्                  | ų             | 99₹   |
| अपि नः स कुछे जायात्                | ₹             | २७४   |
| अपि यत्सुकरं कर्म                   | · <b>\</b> \$ | ५५    |
| अपुत्रायां मृतायां तु               | 3             | 934   |
| अपुत्रोऽनेन विधिना                  | 9             | 936   |
| अपुष्पाः फलवन्तो ये                 | 9             | ४७    |
| अप्रणोद्योऽतिथिः सायम्              | 3             | 904   |
| अप्रयतः सुखार्थेषु                  | Ę             | 35    |

| अप्राणिभिर्यत्क्रियरो — अयं द्विजे | अयमुक्तो वि — अवेक्षेत गती   |
|------------------------------------|------------------------------|
| भध्या. न्हो.                       | अध्या. श्लो.                 |
| अप्राणिभिर्यत्कियते ९ २२३          | अयमुक्तो विभागो वः ९ २२०     |
| अप्सु प्रवेश्य तं दण्डम् ९ २४४     | अयाज्ययाजनैश्चैव ३ ६५        |
| <b>अ</b> प्सु भूमिवदिलाहुः ८ १००   | अयुध्यमानस्योत्पाद्य ४ १६७   |
| अबीजिकिक्यी चैव ९ २९१              | अरक्षिता गृहे रुद्धाः ९ १२   |
| अन्दार्धमिन्द्रमिलेतत् ११ २५५      | अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य ११ २५८ |
| अब्राह्मणः संप्रहणे ८ ३५९          | अराजके हि लोकेऽस्मिन् ७ ३    |
| अब्राह्मणाद्ध्ययनम् २ २४१          | अरोगाः सर्वसिद्धार्थाः १ ८३  |
| अभयस्य हि यो दाता ८ ३०३            | अर्थकामेष्वसक्तानाम् २ १३    |
| अभिचारेषु सर्वेषु ९ २९०            | अर्थसम्पादनार्थं च ७ १६८     |
| क्षभिपूजितलाभांस्तु ६ ५८           | अर्थस्य संप्रहे चैनाम् ९११   |
| अभियोक्ता न चेडूयात् ८ ५८          | अर्थानर्थावुमौ बुद्धा ८ २४   |
| अभिवादनशीलस्य २ १२१                | अर्थेऽपव्ययमानं तु ८ ५१      |
| अभिवादयेहृद्धांश्च ४ १५४           | अलंकारं नादबीत ९ ९२          |
| अभिवादात्परं विप्रः २ १२२          | अलंकृतश्च संपर्येत् ७ २२२    |
| अभिशस्तस्य वण्डस्य 💢 😮 २१९         | अलब्धं चैव लिप्सेत ७ ९९      |
| अभिषद्यातुयः कन्याम् ८३६७          | अलब्धमिच्छेद्ग्डेन ७ १०७     |
| अभोज्यमन्नं नात्तव्यम् ११ १६०      | अलाबुं दारुपात्रं च ६ ५४     |
| अमोज्यानां तु भुक्तवाच्चम् ११ १५२  | अलाभे न विषादी स्यात् ६ ५७   |
| अभ्यक्तमञ्जनं चाक्णोः २ १७८        | अलिक्षी लिक्षिवेषेण ४ २००    |
| अभ्यञ्जनं स्नापनं च २ २ १ १        | अल्पं वा बहु वा यस्य २ १४९   |
| अभ्रिकार्ष्णायसी दद्यात् ११ १३३    | अल्पानाभ्यवहारेण ६ ५९        |
| अमसैतानि षड् जग्ध्वा ५ २०          | अवकाशेषु चोक्षेषु ३ २०७      |
| अमित्रका तुकार्येयम् २ ६६          | अवकीणीं तु काणेन ११ ११८      |
| अमालाः प्राड्विवाको वा ९ २३४       |                              |
| अमालमुख्यं घमेज्ञम् ७ १४१          |                              |
| अमालराष्ट्रदुर्गार्थं ७ १५७        |                              |
| अमाले दण्ड आयत्तः 🕠 ६५             |                              |
| समानुषीषु पुरुषः ११ १७३            | •                            |
| अमाययैव वर्तेत ७ १०४               |                              |
| समावास्या गुरुं हन्ति ४ ११४        |                              |
| अमावास्यामप्रमी च ४ १२८            |                              |
| अमेध्ये वा पतेन्मराः ११ ९।         |                              |
| अयं द्विजैहिं निद्वद्भिः 🦠 ९ ६।    | अवेक्षेत गतीर्नृणाम् ६ ६१    |

| अवेद्यानो —                        | अहिंसये    | न्द्रि ० | अहिंसयैव भूता '—         | भारमै  | व ह्या        |
|------------------------------------|------------|----------|--------------------------|--------|---------------|
|                                    | अध्या.     | श्हो.    | •                        | अध्या. | श्रो.         |
| अवेदयानो नष्टस्य                   | 6          | ३२       | अहिंसयैव भूतानाम्        | २      | 949           |
| अव्यज्ञाङ्गीं सौम्यनाम्नी          | ş          | 90       | अहिंसा सत्यमस्तेयम्      | 90     | ६३            |
| अव्रतानाममन्त्राणाम्               | 92         | 998      | अहुतं च हुतं चैव         | 3,     | <b>ত</b> ই    |
| अवतैर्यद्विजैर् <del>युक्तम्</del> | 90         | 33       | अहोरात्रे विभजते         | ٠ ٩    | Ęų            |
| अशकुवंस्तु शुश्रूषाम्              | 6          | २५०      | अहा चैकेन रात्र्या च     | 4      | ६४            |
| अशासंस्तस्करान्यस्तु               | 9          | २५४      | अहा रात्र्या च याझन्तून  | ्६     | ६९            |
| अरमनोऽस्थीनि गोबाल                 | न् ८       | २५०      | आ                        |        | •             |
| अश्रोत्रियः पिता यस्य              | / <b>३</b> | १३६      | आकारैरिज्ञितैर्गला       | ۵      | २६            |
| अश्लीकमेतत्साधूना <b>म्</b>        | 8          | २०६      | आकाशात्तु विकुर्वाणात्   | 9      | ७६            |
| अष्टःपाचं तु शहस्य                 | 6          | ३३७      | आकाशेशास्तु विज्ञेयाः    | ४      | 968           |
| अष्टावष्टौ समश्रीयात्              | 99         |          | आगमं निर्गमं स्थानम्     | 6      | ४०१           |
| अष्टौ मासान्यथादित्यः              | \$         | ३०५      | आगस्यु ब्राह्मणस्यैव     | 9      | २४१           |
| असंस्कृतप्रमीता <b>नाम्</b>        | 9          | २४५      | आचम्य प्रयतो निल्मं जं   | रेव् ५ | ८६            |
| असंस्कृतान्पशूनमन्त्रैः            | 4          | ₹ €      | आचम्य प्रयतो निलमुभे     | २      | २२२           |
| असकृद्गर्भवासेषु                   | 93         | ७८       | आचम्योदक्परावृत्य        | ર      | २१७           |
| असंख्या मूर्तयस्तस्य               | 93         | 34       | आचारः परमो धर्मः         | . 9    | 906           |
| असंदितानां संदाता                  | 6          | ३४२      | आचारहीनः क्लीबश्च        | ्र ३   | 984           |
| असपिण्डं द्विजं प्रेतम्            |            | 303      | आचाराद्विच्युतो विप्रः   | 9      | ं <b>१०</b> ९ |
| असपिण्डा च या मातुः                | ३          | પ        | आचाराह्रमते ह्यायुः      | 8      | १५६           |
| असंभाष्ये साक्षिभिश्व              | 6          | ५५       | आचार्यं च प्रवक्तारम्    | 8      |               |
| असंभोज्या ह्यसंयाज्याः             | 9          | २३८      | आचार्यं खमुपाध्यायम्     | ч      | -89           |
| असम्यक्षारिणश्चैव                  | . 8        | २५९      | आचार्यपुत्रः ग्रुश्रूषुः | ર      |               |
| असाक्षिकेषु त्वर्थेषु              | ۷          | 905      | आचार्यश्च पिता चैव       | 3      | २२५           |
| अस्थिमतां तु सत्त्वाना             |            | 980      | आचार्यस्त्वस्य यां जातिग | ₹ २    | 986           |
| अस्थिस्थूणं स्नायुयुतम्            | Ę          | ७६       | आचार्ये तु खलु प्रेते    | ્ર     | २४७           |
| <b>अ</b> स्मिन्धर्मीऽखिलेनोक्त     | 9          | 900      | आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः | २      | २२६           |
| असं गमयति प्रेतान्ः                | ą          | २३०      | आचार्यो ब्रह्मलोकेशः     | ૪      | १८२           |
| अखतन्त्राः स्त्रियः कार्य          | િ ૧        | 3        | आच्छाद्य चार्चियत्वा च   | ર      | - 50          |
| अखामिना कृतो यस्तु                 | 4          | 988      | आतुरामभिशस्तां वा        | 99     | 335           |
| अहं प्रजाः सिस्टक्षंस्तु           | 9          | ३४       | आत्मनश्च परित्राणे       | 1 4    | ३४९           |
| <b>अह</b> न्यहन्यवेक्षेत           | 6          | ४१९      | आत्मनो यदि वान्येषाम्    | • •    | 338           |
| अहार्यं बाह्मणद्रव्यम्             | 8          | 968      | आत्मैव देवताः सर्वाः     | 193    |               |
| अहिंसयेन्द्रियासद्गैः              | Ę          | نونع     | आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी  | 6      | _ C¥          |

| <b>भा</b> ददीत न <u></u> भार्ष ध | वर्मीप | षार्पे गोमिथुनं —           | इदं श  | रणम   |
|----------------------------------|--------|-----------------------------|--------|-------|
| अध्या.                           | ઋો.    | 3                           | अध्या. | श्लो. |
| आददीत न शुद्रोऽपि ९              | ९८     | आर्षे गोमिथुनं शुल्कम्      | Ę      | ५३    |
| आददीताथ षष्ट्भागं द्रमा ७        | 939    | आवृत्तानां गुरुकुलात्       | v      | ८२    |
| आददीताथ षड्भागं प्रणष्टा ८       | 33     | आश्रमादाश्रमं गत्वा         | Ę      | ३४    |
| खादानमप्रियंकरम् ७               | २०४    | आश्रमेषु द्विजातीनाम्       | e      | ३९०   |
| आदाननिलाचादातुः ११               | 94     | भा षोडशाह्राह्मणस्य         | Ŗ      | 36    |
| आदिष्टी नोदकं कुर्यात् ५         | 66     | आसनं चैव यानं च             | Q      | 959   |
| आर्च यङ्यक्षरं ब्रह्म ११         | २६५    | आसनावसयौ शय्याम्            | ર      | 900   |
| आदादास्य गुणं त्वेषाम् १         | २०     | आसनाशनशय्याभिः              | 8      | 33    |
| क्षाधिः सीमा बालधनम् ८           | 989    | आसनेषूपऋप्तेषु              | Ę      | २०८   |
| आधिश्चोपनिधिश्चोभौ ८             | 984    | आसपिण्डिकया कर्म            | 3      | २४७   |
| आपः शुद्धा भूमियताः ५            | 926    | आ समाप्तेः शरीरस्य          | २      | २४४   |
| आपत्कल्पेन यो धर्मम् ११          | २८     | था समुद्रातु वै पूर्वात     | 3      | २२    |
|                                  | २११    | आसां महर्षिचयीणाम्          | Ę      | १२    |
|                                  | २८३    | <b>आसी</b> तामरणात्क्षान्ता | 4      | 946   |
| आपो नारा इति प्रोक्ताः 🤊 🤊       | 90     | आसीदिदं तमोभूतम्            | 9.     | 4     |
| आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु ८         | ६३     | आसीनस्य स्थितः कुर्यात्     | २      | १९६   |
| भामित्रतस्तु यः श्रादे ३         | 989    | आहरेत्रीणि वा दे वा         | 99     | 35    |
|                                  | 906    | आहवेषु मिथोऽन्योन्यम्       | હ      | 68    |
|                                  | 909    | आहताभ्युचतां भिक्षाम्       | 8      | २४८   |
| _ :                              | २६३    | था हैव सनखाग्रेभ्यः         | २      | 950   |
| <b>-</b>                         | १२५    | 2                           |        | ŕ     |
| आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्कः २      | ५२     | इच्छ्यान्योन्यसंयोगः        | રૂ     | 35    |
| आयोगवश्च क्षता च १०              | 9 6    | इतरानपि सख्यादीन्           | Ę      | 335   |
| आरण्यां व पश्रन्सवीन् १०         | ٤\$    | इतरे कृतवन्तस्तु            | 8      | २४२   |
| भारण्यानां च सर्वेषाम् ५         | 9      | इतरेषां तु पण्यानाम्        | 30     | 83    |
| आरभेतेव कर्माणि ९                | ३००    | इतरेषु तु शिष्टेषु          | 3      | 89    |
| मारम्भरचिताऽधैर्यम् १२           | ३२     | इतरेषु त्वपाङ्क्षयेषु       | Ę      | १८२   |
| भार्तस्तु कुर्यात्सस्यः          |        | इतरेषु ससन्ध्येषु           | 9      | 90    |
|                                  | 398    | इतरेष्वागमाद्धमीः           | 9      | 68    |
|                                  | ७६     | इत्येतत्तपसो वेवाः          | 99     | २४४   |
|                                  | 444    | इस्पेतदेवसामुक्तम्          | 93     | 480   |
|                                  | 299    | इखेतनमानवं शास्त्रम्        | 42     | 924   |
| अर्थे धर्मीपदेशं च               | 905    | इदं शरणमञ्जानात्            | Ę      | 88    |

| इदं शास्त्रं तु —                                 | उच्छेष         | णं तु  | उत्कृष्टायाभिक्षपार्थं -    | – उपनी   | य तु       |
|---|----------------|--------|-----------------------------|----------|------------|
|   | अध्या.         | श्वो.  | •                           | अध्या.   | श्चो.      |
| इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ                          | 9              | 40     | उत्कृष्टायाभिरूपाय          | 8        | 66         |
| इदं शास्त्रमधीयानः                                | 9              | 908    | उत्कोचकाश्चोपधिकाः          | \$       | २५८        |
| इदं खस्लयनं श्रेष्ठम्                             | 9              | 905    | उत्तमां सेवमानस्तु          |          | ३६६        |
| इदं तु वृत्तिवैकल्यात्                            | 90             | ८५     | उत्तमाङ्गोद्भवाज्यैष्ठयात्. | 7        | 63         |
| इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्व                          | 3              | ३०३    | उत्तमानुत्तमानगच्छन्        | ४        | २४५        |
| इन्द्रानिलयमार्काणाम्                             | હ              | ४      | उत्तमैरतमैर्निख <b>म्</b>   | ४        | 388        |
| इन्द्रियाणां तु सर्वेषाम्                         | २              | 33     | उत्थाय पश्चिमे यामे         | ও        | 984        |
| इन्द्रियाणां जये योगम्                            | ৩              | 88     | उत्थायावश्यकं कृत्वा        | ४        | <b>९३</b>  |
| इन्द्रियाणां निरोधेन                              | Ę              | ξo     | उत्पत्तिरेव विप्रस्य        | 9        | 96         |
| इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषं                       | २              | ९३     | उत्पद्यते गृहे यस्य         | · •      | 300        |
| इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्म                       | 9.2            | ५२     | उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च      | 92       | ९६         |
| इन्द्रियाणां विचरताम्                             | २              | 66     | उत्पादकब्रह्मदात्रोः        | २        | 988        |
| इन्द्रियाणि यशः खर्गम्                            | 99             | ४०     | उत्पादनमपत्यस्य             | 9        | २७         |
| इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु                           | ` <b>&amp;</b> | 9 ६    | उत्सादनं च गात्राणाम्       | २        | २०९        |
| इन्धनार्थमञ्जूष्काणा <b>म्</b>                    | 99             | ६४     | उदकं निनयेच्छेषम्           | Ę        | २१८        |
| इमं लोकं मातृभक्या                                | 3              | २३३    | उदकुम्भं सुमनसः             | २        | 962        |
| इमं हि सर्ववर्णानाम्                              | Š              | Ę      | उदके मध्यरात्रे च           | 8        | 908        |
| इमाजित्यमनध्यायान्                                | 8              | 909    | उदितेऽनुदिते चैव            | २        | ં ૧૫       |
| इयं भूमिहिं भूतानाम्                              | 9              | ३७     | उदितोऽयं विस्तरशः           | 9        | 240        |
| इयं विशुद्धिरुदिता                                | 99             | 68     | उद्धारो न दशखित             | 8        | 994        |
| इप्टिं वैश्वानरीं निखम्                           | 99             | २७     | उद्धृते दक्षिणे पाणौ        | વ        | <b>£</b> 3 |
| इह चामुत्र वा काम्यम्                             | 93             | 68     | उद्वबहीत्मनश्चेव            | 9        |            |
| इह दुश्रारितैः केचित्                             | 99             | 86     | उद्भिजाः स्थावराः सर्वे     | 9        | ४६         |
| ई   |                |        | उद्यतेराहवे शक्रैः          | وم       |            |
| र<br>ईशो दण्डस्य वरुणः                            | ę              | २४५    | उद्वर्तनमपस्नानम्           | ~8       | 938        |
| उं  | . •            | •      | उन्मत्तं पतितं क्रीबम्      | . 9      | ७९         |
| उक्तवा चैवानृतं साक्ष्ये                          | 99             | 22     | उपचारिकया केलिः             | 4        | ३५७        |
| उचावचेषु भूतेषु                                   | Ę              | چ<br>چ | उपच्छन्नानि चान्यानि        |          |            |
| रिवाय यु जूरा<br>रुचिछष्टमनं दातव्यम्             | 9.0            |        | उपजप्यानुपजपेत्             | ৩        |            |
| उच्छिष्टमग प्रतान्यम्<br>उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टः |                | 385    | उपधाभिश्व यः कश्चित         | 2        | -          |
| उच्छिषिके श्रिये कुर्यात्                         | ą              |        | उपनीय गुरुः शिष्यम्         | `<br>ः ३ |            |
| उच्छापम । अप अपाप<br>उच्छेषणं तुं तत्तिष्ठेत्     | ે ફ            |        | उपनीय तु तत्सर्वम्          |          |            |
| उच्छेषणं भूमिगतम्                                 | સ્             |        | उपनीय तु यः शिष्यम्         |          | -          |
| व्यच्छपण स्वापातम्                                | 3              | 709    | 1 2441A R 4. 141.4.         | `        | •          |

| उपपन्नो गुणैः ।—                 | ऋजवस्ते तु   | ऋणं दातुम — एकरात्रं तु         |
|----------------------------------|--------------|---------------------------------|
|                                  | अध्याश्लो.   | अध्या. श्रो.                    |
| उपपन्नो गुणैः सर्वैः             | 8 989        | ऋणं दातुमशक्तो यः ८ १५४         |
| <b>उ</b> पपातकसंयुक्तः           | 99 906       | ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य ६ ३५       |
| <b>उपरु</b> ध्यारिमासीत          | ७ १९५        | ऋणे देये प्रतिज्ञाते ८ १३९      |
| उपवासकृशी तं तु                  | 99 994       | ऋणे धने च सर्वस्मिन             |
| उपवेर्य तु तान्विप्रान्          | ३ २०९        | ऋतमुष्छिशिलं झेयम् ४ ५          |
| रुपसर्जनं प्रधानस्य              | 8 939        | ऋतामृताभ्यां जीवेतु ४ ४         |
| उपस्थमुद्रं जिह्ना               | ८ १२५        | ऋतुः स्ताभाविकः स्त्रीणाम् ३ ४६ |
| <b>उ</b> पस्पृशंस्त्रिषवणम्      | ६ २४         | ऋतुकालाभिगामी स्यात् ३ ४५       |
| रुपस्पृश्य द्विजो निखम्          | २ ५३         | ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः ४ १७९    |
| उपाकर्मणि चोत्सर्गे              | 8 998        | ऋत्विग्यदि घृतो यहे ८ २६०       |
| उपाध्यायान्द्शाचार्यः            | २ १४५        | ऋत्विजं यस्यजेद्याज्यः ८ ३८८    |
| उपानहीं च वासध                   | ४ ६६         | ऋषयः पितरो देवाः ३ ८०           |
| उपासते ये गृहस्थाः               | ३ १०४        | ऋषयः संय्तात्मानः ११ २३६        |
| डपेतारसुपेयं च                   | ७ २१५        | ऋषयो वीर्घसंच्यत्वात. ४ ९४      |
| डमयोईस्तयोर् <del>गु</del> क्तम् | ३ २२५        | ऋषिभिर्जाद्वाणेश्वेव ६ ३०       |
| <b>उ</b> माभ्यामप्यजीवंस्तु      | 90 62        | ऋषिभ्यः पितरो जाताः ३ २०१       |
| डभावि तु तावेव                   | ८ ३७७        | ऋषियज्ञं देवयज्ञम् ४ २१         |
| <b>उष्ट्रयानं समारु</b> ह्य      | 99 209       | प                               |
| इच्णे वर्षति शीते वा             | 99 993       | एक एव चरे जिल्म ६ ४२            |
| • ज                              | ,            | एक एव सुहद्धर्मः ८ १७           |
| ऊनद्विवार्षिकं प्रेतम्           | ५ ६८         | एक एवौरसः पुत्रः ९ १६३          |
| <b>ऊ</b> र्ष्वं विभागाजातस्तु    | ९ २१६        | एकः प्रजायते जन्तुः ४ २४०       |
| ऊर्षे नाभेर्भध्यतरः              | 9 97         | एकः शतं योधयति ७ ७४             |
| कर्षं नाभेयीनि खानि              | ५ १३२        | एकः शयीत सर्वेत्र २ १८०         |
| कर्वं पितुश्च मातुश्च            | 8 908        | एकं वृषभमुद्धारम् ९ १२३         |
| कर्षे प्राणा ह्युत्कामन्ति       | २ १२०        | एककालं चरेद्धैक्षम् ६ ५५        |
| ऋ                                | •            | एकं गोमिशुनं दे वा ३ २९         |
| ऋकेष्ट्याप्रयणं चैव              | <b>६ 9</b> 0 | एकजातिर्द्विजातींस्तु ८ २७०     |
| ऋक्षंहितां त्रिरभ्यस             | ११ २६२       | एकदेशं तु वेदस्य २ १४१          |
| ऋग्वेद विद्य जुर्विश्व           | 92 992       | एकमप्याशयेद्विप्रम् ३ ८३        |
| ऋग्वेदो देवदैवत्यः               | × 978        | एकमेव दु शहस्य १ ९१             |
| ऋची यज्षि चान्यानि               | 99 368       |                                 |
| ऋजनस्ते तु सर्वे स्युः           | 3 80         |                                 |

| एकाकिनश्चात्ययिके —           | पुतर्दि | द्रधान |
|-------------------------------|---------|--------|
|                               | अध्या.  | श्लो.  |
| एकाकिनश्रात्ययिके             | ัง      | 964    |
| एकाकी चिन्तयेनिसम्            | ४       | २५८    |
| एकाक्षरं परं ब्रह्म           | २       | ८३     |
| एकादशं मनो ज्ञेयम्            | २       | 97     |
| एकादशेन्द्रियाण्याहुः         | ર       | 68     |
| एकाधिकं हरेज्येष्टः           | 9       | 990    |
| एकान्तरे त्वानुलोम्यात्       | 90      | 93     |
| एका लिङ्गे गुदे तिसः          | 4       | 935    |
| एकैकं प्रासमश्रीयात्          | 99      | २१३    |
| एकैकं हासयेरिपण्डम्           | 99      | २१६    |
| एकैकमपि विद्वांसम्            | 3       | 928    |
| एकोऽपि वेदविद्धर्मम्          | 93      | 993    |
| एकोऽछब्धस्तु साक्षी स्यार     | ₹ 6     | ৩৩     |
| एकोऽहमस्भीत्यात्मानम्         | ۵       | 99     |
| एतचतुर्विधं विद्यात्          | ৩       | 900    |
| एतच्छीचं गृहस्थानाम्          | , Ug    | 930    |
| एतत्तु न परे चकुः             | 3       | 33     |
| एतत्रयं हि पुरुषम्            | ४       | 938    |
| एतदक्षरमेतां च                | ર       | 94     |
| एतद्दण्डविधिं कुर्यात्        | 6       | २२१    |
| <b>ए</b> तद्दन्तास्तु गतयः    | 9       | 40     |
| एतदुक्तं द्विजातीनाम्         | ч       | २६     |
| एतदेव चरेदब्दम्               | 99      | 928    |
| एतदेव विधि कुर्यात्           | 93      | 966    |
| एतदेव वतं कुर्युः             | 99      | 990    |
| एतदेव वतं कृत्स्नम्           | 99      | १३०    |
| एतदेशप्रस्तस्य                | ्र      | . ३०   |
| एतद्धि जन्मसाफल्यम्           | ૧ુર     | ९३     |
| <b>एतद्वद्रास्तथादि</b> खाः   | 99      | २२१    |
| एतद्वः सारफल्गुत्वम्          | 8       | ५६     |
| एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्म | णा ४    | 89     |
| एतद्विदन्तों विद्वांसस्त्रयी  | ં ૪     | 974    |
| एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः        | ৬       | २२६    |

|                                   |       | •                   |
|-----------------------------------|-------|---------------------|
| एतद्विधानमातिष्ठेत्ं —            | पुती  | रें <u>ङ्</u> गेर्न |
| • 3                               | घ्या. | શ્રો.               |
| एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः       | હ     | २२६                 |
| एतद्विधानं विज्ञेयम्              | \$    | 986                 |
| एतद्वोऽभिहितं शौचम्               | ų     | 900                 |
| एतद्दोऽभिहितं सर्वं निःश्रेय      | 93    | 995                 |
| एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं        | 3     | २८६                 |
| एतद्दोऽयं मृगुः शास्त्रम्         | 9     | 48                  |
| एतमेके वदन्खिमम्                  | 93    | १२३                 |
| एतमेव विधिं कृत्सम्               | 99    | २१७                 |
| एतयर्चा विसंयुक्तः                | २     | 06                  |
| एतसिन्नेनसि प्राप्ते              | 99    | 922                 |
| एताः प्रकृतयो मूलम्               | ও     | १५६                 |
| एतांस्त्वभ्युदितान्विद्यात्,      | ४     | 908                 |
| एता दृष्ट्वास्य जीवस्य            | 92    | २३                  |
| एतानाहुः कौटसाक्ष्ये              | 6     | 923                 |
| एतानेके महायज्ञान्                | ४     | 2,2                 |
| एतान्दोषानवेक्ष्य त्वम्           | . 6   | 909                 |
| एतान्द्रिजातयो देशान्             | २     | २४                  |
| एतान्येनांसि सर्वाणि              | 99    | ં હ                 |
| एतान्विगर्हिताचा <b>रान्</b>      | 3     | १६७                 |
| एतावानेव पुरुषः                   | 3     | 84                  |
| एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्        | ٩.    | . 38                |
| एताश्चान्याश्च सेवेत              | Ę     | २९                  |
| एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे         | 99    | 903                 |
| एते चतुर्णां वर्णानाम्            | 90    | 930                 |
| एतेभ्यो हि द्विजाय्येभ्यः         | 99    | ર                   |
| एते मनूंस्तु सप्तान्यान्          | 9     | 3 €                 |
| एते राष्ट्रे वर्तमानाः            | 3     | २२६                 |
| एते षद् सहशान्वर्णान्             | 90    | २७                  |
| एतेषां निप्रहो राज्ञः             | ۷     | ३८७                 |
| <b>ए</b> तेष्वविद्यमा <b>नेषु</b> | ર     | २४८                 |
| <b>एतेरु</b> पायैरन्यैश्च         | ٠,٩   | ३१२                 |
| एतैर्द्विजातयः शोध्याः            | 99    | २२६                 |
| <b>एतैर्लिक्वैनयेत्सीमाम्</b>     | 6     | २५३                 |
|                                   |       |                     |

| एतैर्विवादान्संत्य —             | एवं सर्वमिदं | एवं सर्वानिमान् -               | रुषोऽन | ापदि |
|----------------------------------|--------------|---------------------------------|--------|------|
| to washing and and washing and a | अध्या. हो.   | Company consistency consistency | अध्या. | %ો.  |
| <b>ए</b> तैविंवादान्संखज्य       | ४ १८१        | एवं सर्वानिमात्राजा             | 6      | ४२८  |
| <b>ए</b> तैर्वतेरपो <b>हे</b> त  | 99 958       | एवं सह वसेयुर्वा                | \$     | 999  |
| एतैर्वतैरपोहेत                   | ११ १०२       | एवं खभावं ज्ञात्वासी            | \$     | 95   |
| <b>ए</b> तैर्वतैरपोहे <u>य</u> ः | १९ १०७       | एवमाचारतो हृष्ट्वा              | 9      | 990  |
| एतैर्वतैरपोद्यं स्यातः           | 99 984       | एवमादीन्विजानीयात्              | 8      | २६०  |
| एघोदकं मूलफलम्                   | ४ २४७        | एवमेतैरिदं सर्वम्               | 9      | ४१   |
| एनसां स्थूलसूक्ष्माणाम्          | ११ २५२       | एष दण्डविधिः श्रोत्तः           | ۷      | २७८  |
| एनस्विभिरनिणिकैः                 | 99 960       | एष धर्मविधिः कृत्सः             | 90     | 939  |
| एवं कमीविशेषेण                   | ११ ५२        | एष धर्मोऽखिलेनोक्तः             | 6      | २१८  |
| एवं गृहाश्रमे स्थित्वा           | ६ १          | एष धर्मी गवाश्वस्य              | 8      | 44   |
| एवं चरति यो विप्रः               | २ २४९        | एष धर्मोऽनुशिष्टो वः            | Ę      | ८६   |
| एवं चरन्सदा युक्तः               | ९ ३२४        | एष नौयाबिनामुक्तः               | 6      | ४०९  |
| एवं दढवतो नित्यम्                | 99 49        | एष प्रोक्तो द्विजातीनाम्        | ₹      | ĘG   |
| एवं धर्म्याणि कार्याणि           | 9 949        | एष वै प्रथमः कल्पः              | ¥      | 980  |
| एवं निर्वपणं कृत्वा              | 7 750        | एष वोऽभिहितो धर्मः              | Ę      | 30   |
| एवं प्रयतं कुवीत                 | ७ २१०        | एष शौचविधिः कृत्स्नः            | ч      | १४६  |
| एवं यः सर्वभूतानि                | ३ ९३         | एष शौचस्य वः प्रोक्तः           | 4      | 990  |
| एवं यः सर्वभूतेषु                | १२ १२५       | एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्माप     |        |      |
| एवं यथोक्तं विप्राणाम्           | ५ २          | एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रका  | र १२   |      |
| एवं यद्यप्यनिष्ठेषु              | ं ९ ३१९      | एष सर्वाणि भूतानि               | 93     |      |
| एवं विजयमानस्य                   | vop. v       | एष स्नीपुंसयो हक्तः             | 8      | 903  |
| एवंविधासृपो देशान्               | ९ २६६        | एषा पापकृतामुक्ता               | 99     | 908  |
| एवंबृत्तस्य चपतेः                | ७ ३३         | एषामन्यतमे स्थाने               | C      | 338  |
| एवंदृत्तां सवर्णी स्त्री         | ् ५ १६७      | एषामन्यतमो यस्य                 | 3      | -    |
| एवं स जामत्खप्राभ्यां            | 9 40         | एषा विचित्राभिहिता              | 99     | 36   |
| एवं संचिन्स मनसा                 | ११ २३१       | एषु स्थानेषु भूयिष्ठं           | 6      | C    |
| एवं संन्यस्य कर्माणि             | ६ ९६         | एषोऽखिलः कर्मविधिः              | 3      | •    |
| एवं स सगवान्देवः                 | १२ ११७       | एषोऽखिछेनाभिहितौ दण             |        |      |
| एवं समुद्धतोद्धारे               | S 998        | एषोऽखिछेनाभिहितो धर             | मैं: ८ | •    |
| एवं सम्यग्घविर्हत्वा             | ३ ८७         | एषोदिता ग्रहस्थस्य              | R      |      |
| एवं सर्व विधायेदम्               | 4 146        | एषोदिता लोकयात्रा               | , 8    |      |
| फ्वं सर्वे स स्ट्वेदम्           | 3 33         | एषोऽनाबादनस्यो सः               |        | 169  |
| एवं सर्वेसिदं राजा               | ७ २१६        | एषोऽनापवि वर्णामास्             | 9      | 114  |

# मनुस्मृतिपद्यानुक्रमः

| एषोऽनुपस्कृतः —             | कामको      | धौ तु      |
|-----------------------------|------------|------------|
|                             | अध्या.     | श्हो.      |
| एषोऽनुपस्कृतः श्रोक्तः      | v          | 36         |
| एष्वर्थेषु पश्चन्हिंसन्     | 4          | 84         |
| प्रे                        |            |            |
| ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुः   | 6          | ३४४        |
| ओ                           |            |            |
| ओघवाताहृतं बीजम्            | 9          | 48         |
| ओंकारपूर्विकास्तिस्नः       | ٤          | 69         |
| ओषध्यः पश्चवो वृक्षाः       | لع         | ४०         |
| औ                           |            |            |
| औरभ्रिको माहिषिकः           | ş          | 955        |
| औरसः क्षेत्रजश्चेव          | \$         | 949        |
| औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ         | 9          | 954        |
| औषधान्यगदो विद्या           | 99         | २३७        |
| क                           |            |            |
| कणान्वा भक्षयेदब्दम्        | 99         | ९२         |
| कन्यां भजनतीमुत्कृष्टम्     | .; 6       | ३६५        |
| कन्याया दूषणं चैव           | 99         | <b>६</b> 9 |
| कन्यायां दत्तशुल्कायाम्     | . 9        | ९७         |
| कन्यैव कन्यां या कुर्यात    |            | ३६९        |
| कपालं वृक्षमूलानि           | Ę          | 8¥         |
| कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ       | ४          | १०२        |
| कर्णों चर्मच वालांश्व       | ۵          | २३४        |
| कर्मणां च विवेकार्थम्       | 9          | २६         |
| कर्मणापि समं कुर्यात्       | 6          | १७७        |
| कर्मात्मनां च देवानाम्      | . 9        | २२         |
| कर्मारस्य निषादस्य          | ४          | २१५        |
| कलविद्धं स्रवं हिंसन्       | 4          | 93         |
| कलिः प्रसुप्तो भवति         |            | ३०२        |
| कल्पयित्वास्य वृत्तिं च     | . 99       | २३         |
| काणं वाप्यथवा खडाम्         |            | २७४        |
| कानीनश्च सहोढश्व            | 8          | 980        |
| कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रम | ξ <u>j</u> | 988        |
| कामकोधौ तु संयम्य           | ٤          | 904        |

| कामजेषु प्रसक्तो '—              | कुछजे        | वृत्त |
|----------------------------------|--------------|-------|
| •                                | अध्या.       | श्चो. |
| कामजेषु प्रसक्तो हि              | Ġ            | ४६    |
| कामतो रेतसः सेकम्                | 99           | 970   |
| कामं तु क्षपयेद्देहम्            | فع           | १५७   |
| कामं तु गुरुपन्नीनाम्            | ેર           | २१६   |
| काममामरणात्तिष्ठेत्              | ١, ٩         | 63    |
| काममुत्पाच कृष्यां तु            | 90           | 80    |
| कामात्मता न प्रशस्ता             | 7            | ٠ ٦   |
| कामाइशगुणं पूर्वम्               | 6            | 929   |
| कामान्माता पिता चैनम्            | 3            | 980   |
| कामिनीषु विवाहेषु                | C            | 993   |
| कारावरो निषादात्तु               | 90           | ₹€    |
| कारुकाञ्छिलिपनश्चैव              | ৩            | १३८   |
| कारकानं प्रजां हन्ति             | ४            | २१९   |
| कार्पासकीटजीणीनाम्               | 99           | १६८   |
| कार्पासमुपवीतं स्यात्            | २            | 88    |
| कार्यं सोऽवेक्य शक्ति च          | ও            | 9.0   |
| कार्षापणं भवेदण्ड्यः             | . 6          | ३३६   |
| कार्णरीरवबास्तानि                | 3            | . 83  |
| कालं कालविभक्तीश्व               | 9            | २४    |
| कालशाकं महाशल्काः                | ३            | २७२   |
| कालेऽदाता पिता वाच्यः            |              | ૪     |
| किंचिदेव तु दाप्यः स्यार         | ₹ ८          | ३६३   |
| किंचिदेव तु विप्राय              | .99          | 383   |
| कितवान्कुशीलवान्क्रूरा <b>न</b>  | ξ \$         | 350   |
| किन्नरान्वानरान्मत्स्थान्        | 9            | 38    |
| कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च              | 99           | २४०   |
| कीनाशो गोवृषो यानम्              | \$           | 940   |
| कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि          |              | 350   |
| कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्व        | २            | 98    |
| कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पंच |              | 983   |
| कुर्याद्धृतपशुं सङ्गे            | , <b>u</b> , | \$ 00 |
| कुर्यादहरहः श्राद्धम्            | 3            | ८२    |
| कुलजे वृत्तसंपन्ने               | 4            | 308   |

| कुले मुख्येऽपि —            | कौत्सं ज   | <b>इवाप</b> | कौशेयं तिसिरि —                    | क्षेत्रकृ |       |
|-----------------------------|------------|-------------|------------------------------------|-----------|-------|
|                             | अध्या.     | ∘श्लो.      |                                    | अध्या.    | श्चो. |
| कुळे मुख्येऽपि जातस्य       | 90         | €0          | कौशेयं तित्तिरिईत्वा               | 93        | ६४    |
| कुविवाहै: क्रियालोपै:       | ¥          | <b>£</b> 3  | कौरोयाविकयोरूषैः                   | ч         | 920   |
| कुशीलवोऽवकीणीं च            | Ę          | 944         | कयविकयमध्वानम्                     | ৩         | 926   |
| कुसीदवृद्धिर गुण्यम्        | 6          | 949         | <b>क</b> व्यादसूकरोष्ट्राणाम्      | 99        | 948   |
| कुसूलधान्यको वा स्यात्      | ४          | v           | कव्यादांस्तु सृगान्हत्वा           | 99        | १३७   |
| कुहै चैवानुमत्यै च          | ą          | ٤٤          | ,क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वान <u>्</u> | ч         | 99    |
| कूटशासनकर्तृश्च             | 9          | २३२         | कियाभ्युपगमात्त्वेतत्              | 8         | ५३    |
| कूष्माण्डैर्वापि जुहुयात्   | 6          | 904         | क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थम्         | 9         | 908   |
| कृतदारोऽपरान्दारा <b>न्</b> | 99         | ٠,          | कीत्वा विकीय वा किंचित             | [ 6       | २२२   |
| कृतं त्रेतायुगं चैव         | 9          | 309         | कीत्वा खयं वाप्युत्पाद्य           | 4         | ३२    |
| कृतवापनो निवसेत्            | 99         | 30          | कुष्यन्तं न प्रतिकुष्येत्          | Ę         | 86    |
| कृतानुसारादधिका             | 6          | १५२         | ऋृप्तकेशनखरमश्रुः पात्री           | Ę         | ५२    |
| <b>क</b> ृतोपनयनस्यास्य     | २          | १७३         | <b>ऋ</b> प्तकेशनखश्मश्रुदीन्तः     | ૪         | ३५    |
| कृत्वा पापं हि संतप्य       | 99         | २३०         | क्षत्तुर्जातस्तयोप्रायाम्          | 90        | 98    |
| कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा     | , <b>4</b> | 936         | क्षत्रुपपुक्तसानां तु              | 90        | 88    |
| कृत्वा विधानं मूळे तु       | ও          | 968         | क्षत्रविद्रशृद्रयोनिस्तु           | 8         | २२९   |
| <b>कृत्वेतद्वलिकमैंवम्</b>  | ३          | 38          | क्षत्रसातिप्रहृदस्य                | 9         | ३२०   |
| कुरस्नं चाष्टविधं कर्म      | y          | 948         | क्षत्रियं चैव सर्पं च              | ४         | १३५   |
| कृमिकीटपतज्ञांश्व           | ` <b>9</b> | ४०          | क्षत्रियं चैव वैश्यं च             | E         | ४११   |
| कृमिकीटपतङ्गानाम्           | 93         | ५६          | क्षत्रियस्य परो धर्मः              | v         | 388   |
| कृमिकीटवयोहत्या             | 99         | ७०          | क्षत्रियाच्छू <b>द्रकन्यायाम्</b>  | 90        | 9,    |
| कृषिं साध्विति मन्यन्ते     | 90         | ८४          | क्षत्रियाद्विप्रकन्यायाम्          | 90        | 99    |
| कुष्टजानामोषधीनाम्          | 99         | 988         | क्षत्रियायामगुप्तायाम्             | 6         | ३८४   |
| कृष्णपक्षे दशम्यादौ         | . ३        | २७३         | क्षत्रियो बाहुवीर्येण              | 99        | ३४    |
| कृष्णसारस्तु चरति           | \$         | 33          | क्षत्रुपपुक्तसानां तु              | 90        | ४९    |
| केतितस्तु यथान्यायम्        | २          | 980         | क्षन्तव्यं प्रभुणां नित्यम्        | 6         | 398   |
| केशप्रहान्प्रहारांश्व       | ૪          | ८३          | क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यः            | २         | 68    |
| केशान्तः षोडशे वर्षे        | ঽ          | Eug         | क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसः     | ષ         | 900   |
| केशान्तिको ब्राह्मणस्य      | २          | 88          | क्षीणस्य चैव ऋमशः                  | v         | 966   |
| केशेषु गृहती हस्ती          |            | 263         | श्चदकाणां पश्चनां द्व              | 4         | 234   |
| कोष्ठागारायुधागार           | • •        | 960         | <b>छ</b> धार्तश्वात्तुमभ्यागात्    | 90        |       |
| कीटसाक्ष्यं तु कुर्वाणान्   |            | 923         | क्षेत्रं हिरण्यं गामश्रम्          | ું ૧      | 388   |
| कौत्सं जम्बाप इस्पेतत्      | 99         | २४९         | क्षेत्रकृपतडागानाम्                | ~ 4       | 953   |

| क्षेत्रजादीन्सुता — गु          | रून्मृत्यांश्चो | गुरोः कुले न ∸ चः                | क्वार्द्ध समा |
|---------------------------------|-----------------|----------------------------------|---------------|
|                                 | भध्या. श्हो.    | •                                | अघ्या. श्हो.  |
| <b>क्षेत्र</b> जादीन्सुतानेतान् | 9 960           | गुरोः कुले न भिक्षेत             | 3 968         |
| क्षेत्रभूता स्मृता नारी         | ९ ३३            | गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्त          | ध ६५          |
| क्षेत्रियस्यात्यये दण्डः        | 6.383           | गुरोर्गुरौ संनिहिते              | २ २०५         |
| क्षेत्रेष्वन्येषु तु पद्युः     | ८ २४१           | गुरोर्यत्र परीवादः               | े २ २००       |
| क्षेम्यां सस्यप्रदां निस्यम्    | ७-२१२           | गुल्मांश्र स्थापयेदाप्तान्       | ७ १९०         |
| क्षौमवच्छङ्खराङ्गाणाम्          | 4 989           | गुल्मान्वेणुंश्व विविधान्        | ८ २४७         |
| ख                               |                 | गृहं तडागमारामम्                 | ८ २६४         |
| खं सन्निवेशयेखेषु               | १२ १२०          | गृहस्थस्तु यदा पर्येत्           | ६ २           |
| खड़ो वा यदि वा काणः             | ३ २४२           | गृहिणः पुत्रिणो मौलाः            | ८ ६२          |
| खट्टाङ्गी चीरवासा वा            | 99 904          | गृहीत्वा मुसलं राजा              | 99 900        |
| खराश्वोष्ट्रमृगेभानाम्          | 99 86           | गृहे गुरावरण्ये वा               | ५ ४३          |
| खलात्क्षेत्रादगाराद्वा          | 99 90           | गोत्ररिक्थे जनयितुः              | ९ १४२         |
| <b>ख्यापनेनानुतापेन</b>         | ११ २२७          | गोपः क्षीरभृतो यस्तु             | ८ २३१         |
| ग                               |                 | गोमूत्रं गोमयं क्षीरम्           | ११ २१२        |
| गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्       | ७ २२४           | गोमूत्रमग्निवर्णवा               | 99            |
| गन्धर्वा गुह्मका यक्षाः         | १२ ४७           | गोरक्षकान्वाणिजिकान्             | ८ १०२         |
| गर्दभाजाविकानां तु              | ८ २९८           | गोवघोऽयाज्यसंयाज्य               | 99 49         |
| गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वात         | २ ३६            | गोऽश्वेष्ट्रयानप्रासाद           | २ ३०४         |
| गर्भिणी तु द्विमासादिः          | ८ ४०७           | गोषु ब्राह्मणसंस्थासु            | ८ ३२५         |
| गवा चान्नमुपाघातम्              | 8 209           | गौडी पृष्टी च माघ्वी च           | 99 58         |
| <b>गा</b> भें हों मे जीतकर्म    | २ २७            | ग्रहीता यदि नष्टः <b>स्यात्</b>  | ८ १६६         |
| गिरिपृष्ठं समारह्य              | ৩ ৭४৩           | प्रामघाते हिताभन्ने              | ९ २७४         |
| गुच्छगुरुमं तु विविधम्          | 9 86            | प्रामदोषान्समुत्पन <u>्</u> नान् | ७ ११६         |
| गुणांश्व सूपशाकाद्यान्          | ३ २२६           | त्रामस्याधिपतिं कुर्यात्         | ७ ११५         |
| गुरुं वा बाछदृदौ वा             | ८ ३५०           | प्रामादाहृत्य वाश्रीयात्         | ६ . २८        |
| गुरुणानुमतः स्नात्वा            | રૂ ૪            | प्रामीयक्कुलानां च               | ८ २५४         |
| गुम्तल्पवतं कुर्यात्            | 99 900          | प्रामेष्वपि च ये केचित्          | ९ २७१         |
| गुरुतल्पे भगः कार्यः            | ९ २३७           | श्रीब्मे पश्चतपास्तु स्यात्      | ६ २३          |
| गुरुतल्प्यभिभाष्यैनः            | 99 903          | घ                                |               |
| गुरुपन्नी दु युवितः             | २ २१२           | वृतकुम्भं वराहे तु               | ११ १३४        |
| गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः       | २ २१०           |                                  | ३ २४१         |
| गुरुषु त्वभ्यतीतेषु             | ४ २५२           | 1                                |               |
| गुरूनमृत्यांश्रोजिहीर्षन्       | ४ २५१           | 1 .                              | ८ १५६         |
| म॰ अ॰ 2                         |                 | •                                |               |

| चित्रणो दुश चिरस्थितमपि            | चूडाकर्म द्विजा — जार       | तो नि | षादा |
|------------------------------------|-----------------------------|-------|------|
| अध्या. न्ही.                       | भ                           | घ्या. | જો.  |
| चिकणो दशमीस्थस्य २ १३८             | चूडाकमे द्विजातीनाम्        | २     | ३५   |
| चण्डालश्वपचानां तु १० ५१           | चेलवचर्मणां शुद्धिः         | ч     | 998  |
| चण्डालात्पाण्डुसोपाकः १० ३७        | चैलाहमरमशानेषु              | 90    | 40   |
| चण्डालान्संस्त्रियो गत्वा ११ १७५   | चोदितो गुरुणा निलम्         | ર     | 959  |
| चण्डालेन तु सोपाकः १० ३८           | चोरैरुपश्चते प्रामे         | K     | 996  |
| चतुरः प्रातरश्रीयात् ११ २१९        | चौरैर्हतं जलेनोढम्          | C     | १८९  |
| चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रः ९ १५३       | छ                           |       |      |
| चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् ३ २४      | छत्राकं विद्वराहं च         | ч     | 98   |
| चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां ४ ८   | छायायामन्धकारे वा           | ४     | 49   |
| चतुर्णामपि चैतेषां प्राय ९ २३६     | छाया खो दासवर्गश्व          | ४     | 964  |
| चतुर्णामपि वर्णानाम् ३ २०          | छिन्ननास्ये भमयुगे          | 6     | २९१  |
| चतुर्थकालमश्रीयात् ११ १०९          | छुच्छुन्द्रिः शुभान्गन्धान् | 93    | ६५   |
| चतुर्थमाददानोऽपि १० ११८            | छेदने चैव यत्राणाम्         | 6     | २९२  |
| चतुर्थमायुषो भागम् ४ १             | জ                           |       |      |
| चतुर्थे मासि कर्तव्यम् २ ३४        | जगतथ समुत्पत्तिम्           | ٩     | 999  |
| चतुर्भिरपि चैवैतैः ६ ९१            | जिटलं चानधीयानम्            | ą     | 949  |
| चतुष्पात्सकलो धर्मः १८१            | जडमूकान्धबधिरान्            | v     | 988  |
| चत्वार्योहुः सहस्राणि १ ६९         | जनन्यां संस्थितायां तु      | 9     | 983  |
| चराणामज्ञमचराः ५ २९                | जन्मज्येष्ठेन चाह्वानम्     | 9     | १२६  |
| चरितव्यमतो निसम् ११ ५३             | जन्मप्रभृति यत्किचित्       | c     | 90   |
| चरूणां सुक्सुवाणां च 🕟 ५ ११७       | जपन्वाऽन्यतमं वेदम्         | 99    | y kg |
| चर्मचार्मिकभाण्डेषु ८ २८९          | जपहोमैरपैलोनः               | 90    | 999  |
| चाण्डालक्ष वराहस्य 🕻 २३९           | जिपत्वा त्रीणि सावित्र्याः  | 99    | 988  |
| चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः १२ ९७    | जपोऽहुतो हुतो होमः          | 3     | ४४   |
| चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्रोऽयम् १२ १  | जप्येनैव तु संसिध्येत्      | 3     | 60   |
| चान्द्रायणं वा त्रीन्मासान् ११ १०६ | जरां चैवाप्रतीकाराम्        | 93    | 60   |
| चान्द्रायणविधानैर्वा ६ २०          | जराशोकसमाविष्टम्            | Ę     | ७७   |
| चारणाश्च सुपर्णाश्च १२ ४४          | जाक्षलं सस्यसंप्रमम्        | (2)   | ६९   |
| चारेणोत्साहयोगेन ९ २९८             | जाविजानपदान्धर्मान्         | G     | 83   |
| चिकित्सकस्य मृगयोः ४ २१२           | जातिभंशकरं कर्म             | 99    | 168  |
| चिकित्सकानां सर्वेषाम् ९ २८४       | जातिमात्रोपजीवी वा          |       | 30   |
| चिकित्सकान्देवसकान् ३ १५२          | जातो नार्यामनार्यायाम्      | 9.0   | ę v  |
| निरस्थितमपि त्वाद्यस् ५ २५         | जातो निषादाच्छ्दायाम्       | 90    | 96   |

| जामयोऽप्सरसां — तं प्र         | तीतं        | स्वध  | तं यस्तु द्वेष्टि — तद्वदन | धर्म  | तोऽर्थे |
|--------------------------------|-------------|-------|----------------------------|-------|---------|
| , अ                            | घ्या.       | श्वो. | - স্থা                     | ध्या. | श्रो.   |
| जामयोऽप्सरसां लोके             | ४ ९         | १८३   | तं देशकालौ शक्ति च         | ড     | 9 &     |
| जामयो यानि गेहानि              | ¥           | 46    | तं प्रतीतं खधर्मेण         | Ę     | ર       |
| जालान्तरगते भानी               | 6           | १३२   | तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात् | ও     | 92      |
| जित्वा संपूजयेद्वान्           | હ ર         | २०१   | तं राजा प्रणयन्सम्यक्      | હ     | २७      |
| जीनकार्भुकवस्तावीन्            | 99          | १३८   | तं सहायैरनुगतैः            | 8     | २६७     |
| जीर्णोद्यानान्यरण्यानि         | <b>٩</b> '' | २६५   | तं हि खयम्भूः खादास्यात्   | 9     | 38      |
| जीवन्तीनां तु तासां ये         | 6           | 29    | त एव हि त्रयो लोकाः        | २     | २३०     |
| जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः        | 93          | 93    | तडागभेदकं हन्यात           | 3     | २७९     |
| जीवितात्ययमापन्नः              | 90          | 908   | तडागान्युद्पानानि          | 4     | २४८     |
| जीवेदेतेन राजन्यः              | 90          | 94    | ततः प्रमृति यो मोहात्      | 9     | ६८      |
| ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा     | 3           | 39    | ततः खयंभूभगवान्            | 9     | Ę       |
| ज्ञातिसंबन्धिभस्त्वेते         | 9           | २३९   | ततस्तथा स तेनोकः           | 9     | Ęo      |
| ज्ञानं तपोऽभिराहारः            | ч           | 904   | ततो दुर्गं च राष्ट्रं च    | ৩     | २९      |
| ज्ञाननिष्ठा द्विजा केचित्      | ३           | १३४   | ततो भुक्तवतां वेषाम्       | Ę     | २५३     |
| ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि          | Ę           | १३५   | तत्प्राज्ञेन विनीतेन       | 3     | ४९      |
| ज्ञानेनैवापरे विश्राः          | ४           | २४    | तत्र भुक्तवा पुनः किंचित्  | ٤     |         |
| ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि         | 3           | 932   | तत्र यत्त्रीतिसंयुक्तम्    | 33    | -       |
| ज्यायांसमनयोविंदात्            | 3           | १३७   | तत्र यद्रह्मजनमास्य        | *     |         |
| ज्येष्ठ एव तु गृहीयात्         | 3           | 904   | तत्र ये भोजनीयाः स्युः     | _     | 928     |
| ज्येष्ठ कुलं वर्धयति           | 8           | 909   | तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः  | ও     | •       |
| ज्येष्ठता च निवर्तेत           | 99          | 964   | तत्रात्मभूतैः कालज्ञैः     |       | २१७     |
| <b>उं</b> येष्ठश्चेव कनिष्ठश्च | \$          | 993   | तत्रापरिवृतं धान्यम्       | 6     | •       |
| ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायाम्  | 9           | 928   | तत्रासीनः स्थितो वापि      | ۵     |         |
| ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः        | 9           | 995   | तत्समुत्थो हि लोकस्य       | C     |         |
| उयेष्ठे न जातमात्रेण           | 9           | 908   | तत्स्यादायुधसंपन्नम्       | ও     | •       |
| ज्येष्ठो यवीयसो भार्याम्       | ٠,          | 46    | तथा च श्रुतयो बह्वयः       | ۶     |         |
| ज्योतिषश्च विकुर्वाणात्        | 9           | ७८    | तथा धरिममेयानाम्           | 6     | •       |
| झ                              | •           |       | तथा नित्यं यवेयाताम्       | ٩     |         |
| झला मला नटाश्वेव               | 92          | 84    | तथैव सप्तमें भक्ते         | 95    | -       |
| सहो महश्व राजन्यात्            | 90          | २२    | तथैवाझेत्रिणो बीजम्        | · Q   | ८ ५१    |
| ਫ਼ :                           |             |       | तदण्डमभवदैमम्              |       | 3 3     |
| र्डिभाइवहतानां च               | بع          | ९५    |                            |       | ف و     |
| ं त                            |             |       | तदाविशन्ति भूतानि          |       | ૧ ૧૯    |
| तं चेदभ्युदियात्सूर्यः         | Ŕ           | १ ३२० | तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु       | (     | ८ १०३   |

| तद्वै युगसहस्रा० -        | -तस्येह त्रिवि         | तां विवर्जयत — ते                   | प्रष्टाः | सु य  |
|---------------------------|------------------------|-------------------------------------|----------|-------|
|                           | <b>અ</b> ઘ્યા. ત્ર્હો. | 3                                   | मध्या.   | छो.   |
| तद्दै युगसहस्रान्तम्      | १ ७३                   | तां विवर्जयतस्तस्य                  | ४        | ४२    |
| तन्तुवायो दशपलम्          | ८ ३९७                  | ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे            | 99       | 204   |
| तपः परं कृतयुगे           | १ ८६                   | ताडियत्वा तृणेनापि संर              | 8        | 986   |
| तपलादिलयचेषः              | ७ ६                    | तान्प्रजापतिराहैख                   | 8        | २२५   |
| तपसापनुनुत्सुस्तु         | 99 909                 | तान्विदत्वा सुचरितैः                | \$       | 289   |
| तपसैव विशुद्धस्य          | ११ २४२                 | तान्सर्वानभिसंदध्यात्               | ঙ        | 948   |
| तपस्तस्वाऽसञ्चं तु        | 9 33                   | तापसा यतयो विश्राः                  | 92       | 86    |
| तपोबीजप्रभावैस्तु         | १० ४२                  | तापसेष्वेव विश्रेषु                 | Ę        | २७    |
| तपोमूलमिदं सर्वे          | ११ २३४                 | ताभ्यां स शकलाभ्यां व               | 9        | 93    |
| तपो वाचं रतिं चैव         | १ २५                   | तामिस्नमन्धतामिस्नम्                | ४        | 44    |
| तपो विद्या च विप्रस्य     | १२ १०४                 | तामिस्नादिषु चोमेषु                 | 98       | ७५    |
| तपोविशेषैविंविधैः         | २ १६५                  | ताम्रायःकांस्यरैत्यानाम्            | 4        | 118   |
| तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रः   | 99 298                 | ताबुभावप्यसंस्कार्यी                | 90       | 86    |
| तमसा बहुरूपेण             | १ ४९                   | तालुभी भूतसंपृक्ती                  | 93       | 38    |
| तमसो लक्षणं कामः          | १२ ३८                  | तासां क्रमेण सर्वासाम्              | ş        | 68    |
| तमोऽयं तु समाश्रित्य      | 9 44                   | तासां चेदवरुद्धानाम्                | 4        | २३६   |
| तयोर्निखं प्रियं कुर्यात् | २ २२८                  | तासामाद्याश्वतस्तर्                 | 3        | ४७    |
| तसादविद्वान्बिभयात्       | 8 989                  | तिरस्कृत्योचरेत्काष्ठं              | ४        | ४९    |
| त्रसादेताः सदा पूज्याः    | ३ ५९                   | तिलेमीहियवैमीषैः                    | ₹        | २६७   |
| तसादमें सहायार्थम्        | ४ २४२                  | तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठे <sub>त्त</sub> | 99       | 999   |
| तसादमें यमिष्टेषु         | ७ १३                   | तीक्ष्णश्चेव मृदुश्च स्मात्         | હ        | 980   |
| तस्माद्यम इव खामी         | ६ १७३                  | तीरितं चानुशिष्टं च                 | 8        | २३३   |
| तस्मिन्देशे य आचारः       | २ १८                   | तुरीयो ब्रह्महत्यायाः               | 99       | 938   |
| तस्मिन्नण्डे स भगवान्     | 9 93                   | तुलामानं प्रतीमानम्                 | 6        | ४०३   |
| तस्मिन्खपति सुस्थे तु     | १ ५३                   | तृणकाष्ट्रद्रमाणां च                | 99       | १६६   |
| तस्य कर्मविवेकार्थम्      | १ १०२                  | तृणगुल्मलतानां च                    | 93       | 46    |
| तस्य मृत्यजनं ज्ञात्वा    | 99 २२                  | तृणानि भूमिरुद्कम्                  | ₹        | 909   |
| तस्य मध्ये सुपर्याप्तम्   | , ७ ७६                 | ते चापि बाह्यान्सुबहुन्             | 90       | 75    |
| तस्य सर्वाणि भूतानि       | ७ १५                   | ते तमर्थमपृच्छन्त                   | २        | 943   |
| तस सोऽहर्निशस्यान्ते      |                        | तेन यदाःसमृत्येन                    | ও        | \$ 10 |
| तस्यार्थे सर्वभूतानाम्    | 12 38                  | - "                                 | 93       |       |
| तस्याहुः संप्रणेतार्भ्    | ७. २६                  | ते पृष्टास्तु यथा ज्रुयुः सम        |          |       |
| तसेह त्रिविधस्यापि        | ् १२ ४                 | ते पृष्टास्तु यथा ज्ञूयुः सीर       | ता ८     | २६५   |

| तेऽभ्यासात्कर्म —            | त्रयो  | धर्मा | त्रसरेणवोऽष्टौ ∸ र                | <b>, प</b> ड ह | यूहेन |
|------------------------------|--------|-------|-----------------------------------|----------------|-------|
| ,                            | अध्या. | श्रो. | <b>-</b> ≈                        | ध्या.          | श्लो. |
| तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषाम्    | 92     | ४४    | त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेयाः          | ۵              | १३३   |
| तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयम्       | હ      | ३९    | त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्याम्       | 5              | 98    |
| तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण        | 99     | 923   | त्रिणाचिकेतः पद्याप्तिः           | 3              | १८५   |
| तेषां प्राम्याणि कार्याणि    | હ      | 920   | त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य<br>-       | 92             | 99    |
| तेषां तु समवेतानाम्          | २      | 936   | त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यम्        | 6              | 900   |
| तेषां त्रयाणां ग्रश्रूषाम्   | २      | २२९   | त्रिभ्य एवं तु वेदेभ्यः           | 2              | ৩৩    |
| तेषां त्ववयवान्तस्कमान्      | 9      | . १६  | त्रिरहिम्निर्निशायां च            | 99             | २२३   |
| तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु     | Ę      | २२३   | त्रिराचामेदपः <b>पूर्वं</b> द्विः | २              | ξo    |
| तेषां दोषानिभख्याप्य         | 9      | २६२   | त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रम   | Į 4            | १३९   |
| तेषां न दयायदि तु            | 6      | 968   | त्रिरात्रमाहुराशौचम्              | 4              | 60    |
| तेषां वेदविदो ब्रुयुः        | 99     | ८५    | त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा           | 99             | ८०    |
| तेषां सततमज्ञानाम्           | 99     | ४३    | त्रिविधा त्रिविधैषा तु            | 93             | ४ 9   |
| तेषां खं खमभिप्रायम्         | ৩      | ५७    | त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि          | ४              | १९३   |
| <b>ते</b> षामनुपरोधेन        | २      | २३६   | त्रिष्वप्रमायन्नेतेषु             | २              | २३२   |
| तेषामर्थे नियुज्जीत          | ৩      | ६२    | त्रिष्वेतेष्वितकुरं हि            | २              | २३७   |
| तेषामाद्यमृणादानम्           | ۵.     | ४     | त्रींस्तु तसाद्धविःशेषात्         | 3              | 234   |
| तेषामारक्षभूतं तु            | 3      | २०४   | त्रीणि देवाः पवित्राणि            | 4              | १२७   |
| तेषामिदं तु सप्तानाम्        | 9      | 98    | त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत           | \$             | . 30  |
| <b>तेषामुद</b> कमानीय        | Ę      | २१०   | त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि         | 3              | २३५   |
| तेषु तेषु तु कृत्येषु        | \$     | २९७   | त्रीण्याद्यान्याश्रितास्वेषाम्    | ও              | ७२    |
| ते षोडश स्याद्धरणम्          | C      | १३६   | त्रैविद्यभ्यस्त्रयीं विद्याम्     | ও              | ४३    |
| तेषु सम्यग्वर्तमानः          | २      | ч     | त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की           | 93             | 999   |
| तैः सार्धं चिन्तयेन्निसम्    | ৩      | ५ ६   | व्यंशं दायाद्धरेद्विप्रः          | 9              | 949   |
| तैजसानां मणीनां च            | ч      | 999   | त्रयब्दं चरेद्वा नियतः            | 99             | १२८   |
| तौ तु जातौ परक्षेत्रे        | ३      | 904   | त्र्यहं तूपवसेद्युक्तः            | 99             | २५९   |
| तौ धर्म पश्यतस्तस्य          | 92     | 98    | च्यहं प्रातस्यहं सायम्            | 99             | २११   |
| खजेदाश्वयुजे मासि            | દ્     | . 94  | त्वाभेदकः शतं दण्ड्यः             | ۵              | २८४   |
| त्रयः परार्थे क्रिश्यन्ति    | Č      | 958   | त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य            | 9              | Ę     |
| त्रयाणामपि चैतेषां त्रिषु    | 92     | ३४    | द                                 |                |       |
| त्रयाणामपि चैतेषां यः        | 93     | ३०    | दक्षिणासु च दत्तासु               | ૮              | २१०   |
| <b>त्रया</b> णामप्युपायानाम् | y      | २००   | दक्षिणेन मृतं श्रूदम्             | لع             | , ९३  |
| त्रयाणामुदंकं कार्यम्        | 9      | 926   | दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वीः        | : ৬            | 94    |
| त्रयो धर्मा निवर्तन्ते       | 90     | ৬৩    | दण्डन्यूहेन तन्मार्गम्            | Ŋ              | 964   |

| •                          |                  |                                       |               |
|----------------------------|------------------|---------------------------------------|---------------|
| दण्डस्य पातनं '— ति        | वाकीर्ति         | दिवा चरेयुः - दैवा                    | चन्तं तदीहे   |
| WWW.                       | या. <i>'</i> छो. | 1                                     | अध्या. श्हो.  |
| दण्डस्य पातनं चैत्र        | ७ ५१             | दिवा चरेयुः कार्यार्थम्               | ९० ५५         |
| दण्डो हि सुमहत्तेजः        | ७ २८             | दिवानुगच्छेद्रास्तास् <b>तु</b>       | 99 990        |
| दत्तस्यैषोदिता धम्यी       | ८ २१४            | दिवा वक्तव्यता पाले                   | ८ २३०         |
| दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः  | ९ ३२३            | दीर्घाध्वनि यथादेशम्                  | ८ ४०६         |
| द्दौ स दश धर्माय           | ९ १२९            | दुराचारो हि पुरुषः                    | ४ १५७         |
| द्धि भक्ष्यं च शुक्तेषु    | 4 90             | दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च                | v 78          |
| दन्तजातेऽनुजाते च          | 4 46             | दूत एव हि संधते                       | ७ ६६          |
| द्भीः पवित्रं पूर्वीहः     | ३ २५६            | दूतं चैव प्रकुर्वीत                   | ७ ६३          |
| द्र्भनप्रातिभाव्ये दु      | ८ १६०            | दूतसंप्रेषणं चैव                      | ७ १५३         |
| दश कामसमुत्थानि            | ७ ४५             | दूरस्थो नार्चयेदेनम्                  | २ २०२         |
| दश पूर्वीपरान्वंश्यान्     | ३ ३७             | दूरादावसथानमूत्रम्                    | ४ १५१         |
| दशमासांस्तु तृप्यन्ति      | ३ २७०            | दूरादाहृत्य समिधः                     | २ १८६         |
| द्शलक्षणकं धर्मम्          | ६ ९४             | दूरादेव परीक्षेत                      | ३ १३०         |
| दश लक्षणानि धर्मस्य        | £ 83             | द्षितोऽपि चरेद्रमम्                   | <b>६ ६६</b>   |
| दशसूनासमं चक्रम्           | 8 64             |                                       | ४ २४६         |
| दश सूनासहस्राणि            | ४ ८६             | दृष्टिपूर्तं न्यसेत्पादम्             | ६ ४६          |
| दश स्थानानि दण्डस्य        | ८ १२४            |                                       | ३ २०३         |
| दशाब्दाख्यं पौरसख्यम्      | २ १३४            | देवतातिथिभृत्यानाम्                   | ३ ७२          |
| दशावरा वा परिषद्यं         | 92 990           |                                       | ४ १३०         |
| दशाहं शावमाशौचम्           | ५ ५९             | देवताभ्यस्तु तद्धत्वा                 | ६ १२          |
| दशी कुलं तु भुजीत          | ७ ११९            | देवत्वं सात्विका यान्ति               |               |
| दह्यन्ते ध्यायमानानाम्     | ६ ७९             | देवदत्तां पतिर्भायीम्                 | 9 94          |
| दातव्यं सर्ववर्णेभ्यः      | 6 80             | देवदानवगन्धर्वाः                      | ७ २३          |
| दातारो नोऽभिवर्धन्ताम्     | ३ २५             |                                       | 0 2 0         |
| दातृन्त्रतिप्रहीतृंश्व     | \$ 98;           |                                       | 9 49          |
| दानुधर्म निषेत्रत          | ४ ३२             | <ul><li>देवसं ब्राह्मणसं वा</li></ul> | 19 38         |
| दानेन वधनिणैकम्            | 39 93            | 2 2 2                                 | <b>३ ११७</b>  |
| • दारामिहोत्रसंयोगम्       | ३ १७             |                                       | 9 996         |
| दाराधिगमनं चैव             | 9 99             |                                       | ६ ६३          |
| दासी घटमपां पूर्णम्        | 99 96            | ३ दैखदानवयक्षाणाम्                    | ₹ 95€         |
| दास्यं तु कारयँ हो भात्    | e 89             |                                       | * 943         |
| द्वास्यां वा दासदास्यां वा |                  |                                       | * <b>1</b> 94 |
| दिवाकीतिंमुदक्यां च        | 4                | प देवायन्तं तरीहेत .                  | \$ 500        |
| ·                          |                  |                                       |               |

१९

| दैविकानां युगानां —         | धर्म ए     | व हतो      | धर्मशंच कृत 🚤              | नमो   | मुण्डः  |
|-----------------------------|------------|------------|----------------------------|-------|---------|
|                             | अध्या      | ા. શ્કો.   | •                          | अध्या | . श्लो. |
| दैविकानां युगानां तु        | 9          | ७२         | धर्मज्ञं च कृतज्ञं च       | હ     | २०९     |
| दैवे राज्यहनी वर्षम्        | 9          | ६७         | धर्मध्वजी सदा छुब्धः       | ٧     | 984     |
| दैवोढाजः सुतश्चैव           | Ę          | 36         | धर्मप्रधानं पुरुषम्        | ४     | २४३     |
| दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थम्    | &          | 932        | धर्मस्य ब्राह्मभो मूलम्    | • 99  | ८३      |
| द्यूतं च जनवादं च           | २          | 908        | धर्मार्थं येन दत्तं स्यात् | 6     | २१२     |
| चूर्तं समाह्यं चैवः         | 9          | 229        | धर्मार्थावुच्यते श्रेयः    | ঽ     | २२४ ं   |
| द्यूतमेतत्पुराकल्पे         | 9          | २२७        | धर्मार्थौ यत्र न स्याताम्  | २     | 992     |
| बौर्भूमिरापो हृदयम्         | ۷          | 68         | धर्मासनमधिष्ठाय            | 6     | २३ -    |
| द्रवाणां चैव सर्वेषाम्      | ч          | 934        | धर्मेण च द्रव्यवृद्धी      | 5     | 333     |
| द्रव्याणामल्पसाराणाम्       | 99         | 958        | धर्मेण व्यवहारेण           | 6     | 88      |
| द्रव्याणि हिंस्याची यस्य    | 6          | 266        | धर्मेणाधिगतो यैस्तु        | 93    | 909     |
| द्वयोरप्येतयोर्मूलम्        | v          | ४९         | धर्मेष्सवस्तु धर्मज्ञाः    | 90    | 920     |
| द्वयोस्त्रयाणां पद्यानाम्   | · <b>v</b> | 998        | धर्मापदेशं दर्पेण          | 6     | २७२     |
| दावेव वर्जयेशित्यम्         | ૪          | 920        | धर्मा विद्यस्त्वधर्मेण     | 6     | 93      |
| द्विकं त्रिकं चतुष्कं च     | c          | १४२        | धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यः   | 4     | ३२०     |
| द्विकं शतं वा गृहीयात्      | . 4        | 989        | धान्यं दृत्वा भवत्याखुः    | 93    | 83      |
| द्विजातयः सवर्णासु          | 90         | २०         | धान्यकुप्यपश्चस्तेयम्      | 99    | 44      |
| द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिः   | 6          | ३४१        | धान्यान्नधनचौर्याणि        | 93    | 988     |
| द्वितीयमेके प्रजनम्         | 8          | <b>६</b> 9 | धान्येऽष्टमं विशां शुल्कम् | 90    | 330     |
| द्विधा ऋत्वात्मनो देहम्     | 9          | ३२         | ष्टतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्   | Ę     | 53      |
| 'ब्रिविधां स्तस्करानिन्यान् | 9          | ३५६        | ध्यानिकं सर्वमेवैतत्       | Ę     | 63      |
| द्रौ दु यौ विवदेयाताम्      | 8          | 989        | ध्यायत्यनिष्टं यत्निचित्   | 3     | 39      |
| द्यौ दैवे पितृकार्ये त्रीन् | Ę          | 924        | ध्रियमाणे तु पितरि         | 3     | 270     |
| द्वी मासी मत्स्यमांसेन      | Ę          | २६८        | ध्वजाहतो भक्तदासः          | 6     | 894     |
| घ                           |            |            | न                          |       |         |
| धनं यो बिमृयाद्रातुः        | \$         | १४६        | न कदाचिद्रिजे तसात्        | 8     | 944     |
| धनानि तुं यथाशक्ति          | 99         | Ş          | न कन्यायाः पिता विद्वान    | 3     | 49      |
| धनुःशतं परीहारः             |            | २३७        | न कश्चियोषितः शक्तः        | Š     | 90      |
| धनुःशराणां कर्ता च          | Ę          | 940        | न कुर्वीत युधाचेष्टाम्     | ¥     | 44      |
| भन्वदुर्गं महीदुर्गम्       | v          | ya         | न कूटैरायुधर्द्दन्यात्     | v     | 50      |
| धरणानि दश होयः              | . 6        | 930        | नक्तं चार्न समश्रीयात्     | •     | 98      |
| धर्म शनैः संचितुयात्        | 8          | 236        | नगरे नगरे चैकम्'           | ų,    | 189     |
| धर्म एव इतो इन्ति           | c          | 94         | नमो मुण्डः कपालेन          | c     | 33      |
|                             |            |            |                            |       |         |

| न च वैश्यस्य न व          | गह्मणवधा       | न ब्राह्मणस्य स्व — न    | शुद्धे पातकं |
|---------------------------|----------------|--------------------------|--------------|
| 8                         | ाध्या. न्थ्रो. | 3                        | भच्या. श्लो. |
| न च वैश्यस्य कामः स्यात्  | ९ ३२८          | न ब्राह्मणस्य त्वतिथिः   | ३ ११०        |
| न च हन्यात्थलारूढम्       | v 99           | न भक्षयति यो मांसम्      | y yo         |
| न चोत्पातनिमित्ताभ्याम्   | £ 40           | न भक्षयेदेकचरान्         | ५ १७         |
| न जातु कार्मः कामानाम्    | २ ९४           | न भुधीतो दृतसिहम्        | ४ ६२         |
| न जातु ब्राह्मणं हन्यात्  | ८ ३८०          | न भोक्तव्यो बलादाधिः     | ८ १४४        |
| न तं स्तेना न चामित्राः   | ६३ ७           | न भोजनार्थं खे विप्रः    | ३ १०९        |
| न तथैतानि शक्यनते         | २ ९६           | न भातरो न पितरः          | ९ १८५        |
| न तस्मिन्धार्येदण्डम्     | 99 39          | न मांसभक्षणे दोषः        | ५ ५६         |
| न तादशं भवत्येनः          | ५ ३४           | न माता न पिता न स्त्री   | ८ ३८९        |
| न तापसैर्जाह्मणैर्वा      | ६ ५१           | न मित्रकारणाद्राजा       | ८ ३४७        |
| न तिष्ठति तु यः पूर्वा    | २ १०३          | न मुह्रोष्टंच मृद्रीयात् | ४ ७०         |
| न तेन वृद्धो भवति         | २ १५६          | न यज्ञार्थे धनं शुद्रात् | ११ २४        |
| न तैः समयमन्विच्छेत्      | १० ५३          | नरके हि पतन्खेते         | ११ ३७        |
| न त्वेवाधौ सोपकारे        | ६ १४३          | न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात् | ४ ८४         |
| न दत्त्वा कस्यचित्कन्याम् | 8 09           | न राज्ञामघदोषोऽस्ति      | 4.43         |
| नदीकूलं यथा वृक्षः        | ६ ७८           | नर्भवृक्षनदीनाम्री       | \$ S         |
| नदीषु देवखातेषु           | ४ २०३          | न लड्डयेद्धत्सत्त्त्रीम् | ४ ३८         |
| न द्रध्याणामविज्ञाय       | ४ १८७          | न लोकवृत्तं वर्तेत       | ४ ११         |
| न धर्मश्रक्ति लोके        | ४ १७२          | न वर्धयेदघाहानि          | ५ ८४         |
| न धर्मस्यापदेशेन          | 8 986          | न वार्येद्रां धयन्तीम्   | 8 48         |
| न निर्हारं क्रियः कुर्युः | ९ १९९          | न वार्यपि प्रयच्छेतु     | ४ १९२        |
| न निष्कयविसर्गाभ्याम्     | ९ ४६           | न विगर्धकथां कुर्यात्    | ४ ७२         |
| न नृत्येद्यवा गायेत्      | 8 68           | न विश्रं खेषु तिष्ठत्स   | d dox        |
| न पाणिपादचपलः             | ४ १७७          | न विवादे न कलहे          | ४ १२१        |
| न पादौ धावयेत्कांस्प्रे   | ४ ६५           | न विस्मयेत तपसा          | ४ २३६        |
| न पूर्व गुरवे किंचित्     | २ २४५          | न त्रथा शपथं कुर्यात     | ८ १११        |
| न पैतृयज्ञियो होमः        | ३ २८२          | नवेनानचिंता हासा         | ४ २८         |
| न फालकृष्टमश्रीयात्       | ६ १६           | न वैकन्यान युवतिः        | ११ ३६        |
| न फालकृष्टे न जले         | 8 86           |                          | 99 3         |
| न ब्राह्मणं परीक्षेत      | . ३ १४९        |                          | ३ १०६        |
| न जाह्मणक्षत्रिययोः       | \$ 38          |                          | 8 69         |
| न जाह्मणोऽवेद्येत         | ् ११ ३१        | · ·                      | _            |
| न बाह्म्यवधाद्भ्यान्      | 6 369          | न ग्रहे पातकं किंचित     | १० १२६       |

| नश्यतीषुर्यथा — नाद्य                   | ाद्वि | धिना       | नाधर्मश्चरितो —               | नाश्रोत्रियतते |
|---|-------|------------|-------------------------------|----------------|
| *************************************** | ष्या. | श्हो.      | •                             | अध्या. श्लो.   |
| नर्यतीषुर्यथा विद्धः                    | 8     | *3         | नाधर्मश्रितो लोके             | ४ १७३          |
| नइयन्ति हव्यकव्यानि                     | ą     | ९७         | नाधार्मिके वसेद्वामे          | 8 60           |
| न श्राद्धे भोजयेन्मित्रम्               | ર     | १३८        | नाधीयीत रमशानान्ते            | ४ ११६          |
| नष्टं विनष्टं कृमिभिः                   | 6     | २३२        | नाधीयीताश्वमारूढः             | . ४ १२०        |
| न संभाषां परिस्नीभिः                    | 6     | ३६१        | नाष्यधीनो न वक्तव्यः          | د <b>ډ</b> ټ   |
| न संवसेच पतितैः                         | ४     | ७९         | नाध्यापनाद्याजनाद्वा          | ૧૦ ૧૦ ફ        |
| न संहताभ्यां पाणिभ्याम्                 | ४     | <b>८</b> २ | नानिष्ट्वा नवसस्येख्या        | ४ २७           |
| न ससत्त्वेषु गर्तेषु                    | ४     | ४७         | नानुशुश्रुम जात्वेतत्         | 900            |
| न साक्षी नृपतिः कार्यः                  | 6     | EN         | नाष्ट्रमथादेकवासाः            | 8.84           |
| न सीदन्नपि धर्मेण                       | ४     | 909        | नान्यदन्येन संस्रष्टं         | ८ २०३          |
| न सीदेत्स्नातको विप्रः                  | ४     | ३४         | नान्यस्मिन्विधवा नारी         | 8 88           |
| न सुप्तं न विसन्नाहम्                   | y     | ९२         | नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह      | ५ १६२          |
| न स्कन्दते न व्यथते                     | 4     | ८४         | नाष्ट्रष्टः कस्यचिद्भयात्     | २ ११०          |
| न स्नानमाचरेद्धक्तवा                    | ४     | १२९        | नाष्मु मूत्रं पुरीषं वा       | ४ ५६           |
| न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टः                | ४     | 983        | नाबद्ध क्षत्रमधोति            | ९ ३५२          |
| न खामिना निसृष्टोऽपि                    | 6     | ४१४        | नामामणे गुरौ शिष्यः           | २ २४२          |
| न हायनैर्न पलितैः                       | २     | 948        | नाभिनन्देत मरणम्              | ६ ४५           |
| न हि दण्डादते शक्यः                     | ٩     | २६३        | नाभिव्याहारयेह्न              | २ : १७२        |
| न हीदशमनायुष्यम्                        | ሄ     | १३४        | नामजातिप्रहं त्वेषाम्         | ८ २७९          |
| न होढेन विना चौरम्                      | ٩     | २७०        | नामधेयं दशम्यां तु            | २ ३०           |
| ंनाकृत्वा प्राणिनां हिंसां              | 4     | 80         | नामधेयस्य ये केचित्           | २ १२३          |
| नाक्षेः क्रीडेत्कदाचित्तु               | ४     | ४४         | नामुत्र हि सहायार्थम्         | ४ २३९          |
| नामिं मुखेनोपधमेत्                      | ४     | ५३         | नायुधव्यसनप्राप्तम्           | ७ ९३           |
| नाजयन्तीं खके नेत्रे                    | ¥     | 88         | नारं स्ट्रष्ट्वास्थि सक्नेहम् | 4 60           |
| नाततायिवधे दोषः                         | 6     | ३५९        | नारन्तुदः स्यादार्तोऽपि       | २ १६१          |
| नातिकल्यं नातिसायम्                     | ሄ     | 980        | नार्तो न मलो नोनमत्तः         | ८ ६७           |
| नातिसांवरसरीं दृद्धिम्                  | ۵     | 943        | नार्थसंबन्धिनो नाप्ताः        | ८ ६४           |
| नात्ता दुष्यत्यदशाद्यान्                | 4     | है         | नाविनीतैर्वजेद्धर्यैः         | ४ ६७           |
| नात्मानमवमन्येत                         | ¥     | १३७        | नाविस्पष्टमधीयीत              | ४ २९           |
| नात्रिवर्षस्य कर्तव्या                  | 4     | 40         | नाधन्ति पितरस्तस्य            | ४ २४९          |
| नाददीत चपः साधुः                        | 8     | 283        | नाश्रीयाद्वार्थया सार्धम्     |                |
| नाचाच्छ्देख पक्षामम्                    | ¥     | <b>२२३</b> | नाश्रीयात्वंधिवेलासम्         | & da           |
| नाद्यादविधिना मांसम्                    | 4     | \$ \$      | नाश्रीत्रियतते यहे            | 8 50%          |

| नास्तिक्यं वेदनिन्दनं — वि    | युक्ती यो                  | निरस्य तु पुमान् — नोन       | मत्ताया न   |
|-------------------------------|----------------------------|------------------------------|-------------|
| ·                             | च्या. क्ष् <del>ठो</del> . | अ                            | ध्या. श्रो. |
| गस्तिक्यं वेदनिन्दां च        | ४ १६३                      | निरस्य तु पुमाञ्छुक्रम्      | ५ ६३        |
| नारित स्त्रीणां किया मन्त्रैः | 9 90                       | निरादिष्टधनश् <u>वे</u> त्तु | ८ १६२       |
| नास्ति स्त्रीणां पृथम्यज्ञः   | ष १५५                      | निर्घाते भूमिचलने            | 8 904       |
| नास्य कार्योऽमिसंस्कारः       | ५ ६९                       | निर्दशं ज्ञातिमरणम्          | ५ ७७        |
| नास्य च्छिद्रं परो विद्यात्   | ७ १०५                      | निर्भयं तु भवेद्यस्य         | ९ २५५       |
| नास्त्रमापातयेज्ञातु          | ३ २२९                      | निर्लेपं काघनं भाण्डम्       | ५ ११२       |
| निक्षिप्तस्य धनस्यैवम्        | ८ १९६                      | निवैतेतास्य यावद्भिः         | ७ ६१        |
|                               | 99 40                      | निवर्तेरंश्च तसात्तु         | 99 968      |
| निक्षेपस्यापहरणम्             |                            | निषाद्श्री तु चाण्डालात्     | १० ३९       |
| निक्षेपस्यापहर्तारम्          | ८ १९०                      | निषादो मार्गवं सूते          | १० ३४       |
| निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु        | ८ १८८                      | निषेकादिश्मशानः न्तः         | २ १६        |
| निक्षेपोपनिधी निखम्           | ८ १८५                      | निषेकादीनि-कर्माणि           | २ १४२       |
| निक्षेपो यः कृतो येन          | ८ १९४                      | निष्पद्यन्ते च सस्यानि       | ९ २४७       |
| निगृह्य दापयेचेनम्            | ८ २२०                      | नीचं शब्यासनं चास्य          | २ १९८       |
| निप्रहं प्रकृतीनां च          | ७ १७५                      |                              | ४ ११३       |
| निप्रहेण हि पापानाम्          | ८ ३११                      |                              | ष ६७        |
| निखं तस्मिन्समाश्वस्त         | ७ ५९                       |                              | ४ ३७        |
| निलं शुद्धः कारहस्तः          | . ५ १२९                    |                              | ४ १५        |
| तिलं सात्वा शुचिः कुर्या      | २ १७६                      | नैःश्रेयसमिदं कर्म           | १२ 9०७      |
| निखमास्यं शुचि स्त्रीणां      | ५ १३०                      | नैकः सुप्याच्छ्न्यगेहे       | ४ ५७        |
| नित्यमुद्धतपाणिः स्यात्       | २ १९३                      | नैकप्रामीणमतिथिम्            | \$ 40\$.    |
| निसमुद्यतदण्डः स्यात्         | ७ १०२                      |                              | ८ १४        |
| निखमुद्यतदण्डस्य              | ७ १०३                      | नैतैरपूतैर्विधवत <u>्</u>    | २ ४०        |
| नित्यान पाय एव स्यात्         | 8 900                      | , नैलके नास्लनध्यायः         | २ १०६       |
| निधीनां तु पुराणानाम्         | ८ ३९                       | नैष चारणदारेषु               | ८ ३६२       |
| निन्दितेभ्यो धनादानम्         | 99 69                      | , नोच्छिन्द्यादातमनो मूलं    | ७ १३९       |
| निन्धाखष्टासु चान्यासु        | 3 4                        | े नोच्छिष्टं कस्यचिद्यात्    | २ ५६        |
| निमेन्त्रितो द्विजः पित्र्ये  | ₹ 96                       | ८ नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्याः | 4 989       |
| निमन्त्रितान्हि पितरः         | ३ १८                       | ९ नोत्पाद्येत्स्ययं कार्यम्  | ८ ४३        |
| निमेषा दश चाष्टी च            | •                          | ४ नोदाहरेदस्य नाम            | २ १९९       |
| नियुक्तस्तु ययान्यायम्        |                            | ५ नोद्रहेत्कपिछां कन्याम्    | 3 6         |
| नियुक्तायामपि पुमान्          | 8 98                       | ४ नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु     | 's \$4      |
| नियुक्ती यो विधि हित्व        |                            | ३ नोन्मताया न कुष्टिन्या     | 5 800       |
|                               |                            |                              |             |

| नोपगच्छेत्प्रमत्तो — प        | रमं र  | रज्ञमा | परिखयं योऽभि 🛶 पार्धि       | गम         | ाहं च |
|-------------------------------|--------|--------|-----------------------------|------------|-------|
|                               | अध्या. | श्हो.  | - প্রঘ                      | या.        | %ो.   |
| नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि         | ४      | ४०     | परिस्रयं योऽभिवदेत्         | 6          | ३५६   |
| न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु  | 3      | २१६    | परस्परविरुद्धाना <b>म्</b>  |            | १५२   |
| प                             |        |        | परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्     | 8          | 958   |
| पक्षिजाधं गवाद्यातम्          | 4      | 924    |                             |            | ३५४   |
| पञ्च पश्वनृते हन्ति           | 6      | 96     |                             |            | १९७   |
| पद्यभ्य एव मात्राभ्यः         | 93     | 9 ६    | •                           |            | ३१३   |
| पश्चरात्रे पश्चरात्रे         | 6      | ४०२    | परित्यजेदर्थंकामौ           |            | 9.08  |
| पञ्च सूना गृहस्थस्य           | 3      | ६८     | परिपूतेषु घान्येषु          |            | ३३१   |
| पश्चानां तुत्रयो धर्म्याः     | Ę      | २५     | परिपूर्णं यथा चन्द्रम्      |            | ३०९   |
| पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु       | २      | १३७    | परिवित्तिः परिवेत्ता        | ર          | १७२   |
| पश्चारातस्त्वभ्यधिके          | ۵      | ३२२    | परिवित्तितानुजेऽन्दे १      | 9          | ξo    |
| पञ्चाश्रद्धाह्यणो दण्ड्यः     | 6      | २६८    | परीक्षिताः स्त्रियश्चेनम्   | v          | २१९   |
| पश्चाशद्भाग आदेयः             | હ      | १३०    | परीवादात्खरो भवति           | २          | २०१   |
| पश्चेतान्यो महायज्ञान्        | ર      | ७१     | परेण तु दशाहस्य             | 6          | २३३   |
| पणं यानं तरे दाप्यम्          | 6      | ४०४    | पलं सुवर्णाश्चत्वारः        | 6          | १३५   |
| पणानां द्वे शते सार्धे        | 6      | 936    | पशवश्च मृगाश्चेव            | 9          | ४३    |
| पणो देयोऽवकृष्टस्य            | •      | १२६    | पशुमण्ड्रकमार्जार्          | ४          | १२६   |
| पतिं या नाभिचरति मनो          | 4      | 3 & 14 | पशुषु खामिनां चैव           | 6          | . २२९ |
| पतिं या नाभिचरति              | 8      | २९     | पश्रूनां रक्षणं दानम्       | 9          | 80    |
| पति हित्वाऽपकृष्टं खम्        | ىع     | १६३    | पांसुवर्षे दिशां दाहे       | ጳ          | 9.94  |
| 'प्रतितस्योदकं कार्यम्        | 99     | १८२    | पाठीनरोहितावाद्यी           | 4          | 96    |
| पतिभीयाँ संप्रविश्य           | 3      | ۵      | पाणियहणसंस्कारः             | , <b>३</b> | .४३   |
| पतिवता धर्मपली                | ર      | २६२    | पाणिप्रहणिका मन्त्राः कन्या | 6          | २२६   |
| पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिः      | \$     | २००    | पाणिप्रहणिका मन्त्राः नियतं | ૮          | २२७   |
| पत्रशाकतृणानां च              | ৩      | 932    | पाणिमाहस्य साध्वी स्त्री    | 4          | 346   |
| पथि क्षेत्रे परिवृते          | 6      | 580    | पाणिभ्यां तूपसंगृह्य        | ₹          | २३४   |
| पयः पिबेन्निरात्रं वा         | 99     | 932    | पाणिमुचम्य दण्डं या         | C          | 360   |
| परकीयनिपाने षु                | * ×    | २०१    | पात्रस्य हि विशेषेण         | ও          | 62    |
| परदाराभिमर्शेषु               | 6      | 345    | पादोऽधर्मस्य कर्तारम्       | 4          | 96    |
| परदारेषु जायेते               | 3      | १७४    | पानं दुर्जनसंसर्गः          | 5          | 93    |
| <b>परद्र</b> व्येष्वभिध्यानम् | 93     | 4      | पानमक्षाः स्त्रियश्चेव      | Ġ          | ५०    |
| परपन्नीति या स्नी स्यात्      | २      |        | पारुष्यमचतं चैव             | ٧          | . ૬   |
| परमं यञ्जमातिष्ठेत्           | 6      | ३०२    | पार्धिणग्राहं च संप्रेक्ष्य | v          | 200   |

| पाषण्डमाश्रिता — पुन         | ाति पर्इं | पुंनाम्नो नरकाद्यः — प्रकार      | ावञ्चका  |
|------------------------------|-----------|----------------------------------|----------|
|                              | या. न्हो. | • अध्य                           | ા. શ્હો. |
| पाषण्डमाश्रितानां च          | 4 30      | 3.11.11                          | ३ १३८    |
| पाषण्डिनो विकर्मस्थान्       | ४ ३०      | Ball a dir way                   | ६ ३७२    |
| पिण्डनिर्वपणं केचित्         | ३ २६१     | 3.11. 9 111-11 1 1               | ३ ४९     |
| पिण्डेभ्यस्त्वित्पका मात्रा  | 3 399     | 201/4 1411 41                    | ९ १      |
| पिताचार्यः सुहन्माता         | ८ ३३५     | A GALLIL BULL IL                 | ८ ३२३    |
| पितामहो वा तच्छ्राद्धम्      | ३ २२२     | 3411511 4 341111                 | S 46     |
| पिता यस्य निश्तः स्यात्      | ३ २२१     | 3 . 4.                           | ६ २१     |
| पिता रक्षति कौमारे           | \$ 3      | पुष्पेषु हरिते धान्ये            | ८ ३३०    |
| पिता वै गाईपत्योऽिमः         | २ २३१     | पुष्ये तु छन्दसां कुर्यात्       | 8 86     |
| पितुर्भगिन्यां मातुश्व       | २ १३३     | पूजयेदशनं निलम्                  | २ ५४     |
| पितृदेवमनुष्याणाम्           | ३ २२२     | पूजितं ह्यशनं नित्यम्            | २ ५५     |
| <b>पितृभिर्भातृभिश्चेताः</b> | 3 44      | पूर्वं चिकित्सकस्यात्रम्         | ४ २२०    |
| पितृयज्ञं तु निर्वर्ष        | ३ १२२     | पूर्वी सन्ध्यां जपस्तिष्ठज्ञेश   | २ १०२    |
| पितृवेश्मनि कन्या तु         | ९ १७२     | पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सा | ८ ५०१    |
| पितुणां मासिकं श्राद्धम्     | ३ १२३     | पूर्वेद्युरपरेद्युवी श्राद्धकर्म | ३ १८७    |
| वितेव पालचेत्पुत्रान्        | 9 906     | पृथकपृथ्यवा मिश्रो वा            | ३ २६     |
| पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि    | 4 988     | पृथुःतु विनयाद्राज्यम्           | ७ ४२     |
| पित्रा विवदमानश्व            | ३ १५९     |                                  | 8 88     |
| पित्रे न दबाच्छुल्कं तु      | ९ ९३      | पृष्टोऽपव्ययमानस्तु              | ८ ६०     |
| पित्र्यं वा भजते शीलम्       | 90 49     | पृष्ट्वा खदितमिखेवम्             | २ २५१    |
| पित्रये रात्रयहनी मासः       | ૧ ૬૬      |                                  | ८ ३०व    |
| पित्रये खदितमिखेव            | ३ २५४     |                                  | £ 89     |
| पिश्चनः पौतिनासिक्यम्        | 99 40     | पैतृकं तु पिता द्रव्यम्          | 8 508    |
| पिशुना तिनोश्वा श्रम्        | 8 397     | व पैतृष्वसेयी भगिनीम्            | ११ १७१   |
| धीडनानि च सर्वाणि            | 9 29      | ५ पैशुन्यं साहसं द्रोहः          | 9 88     |
| युष्यान्यन्यानि कुर्वीत      | ११ ३      | ९ पौण्ड्रकाश्चीड्रविडाः          | do 88    |
| पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः    | 5 . \$    |                                  | ९ १३३    |
| पुन्नः कनिष्ठो ज्येष्ठायाम्  | ९ १२      |                                  | 8 938    |
| युत्रान्द्रादश यानाइ         | 8 94      |                                  | ४ १४९    |
| धुत्रा येऽनन्तरस्रीजाः       | 90 9      | ४ पेंबिल्याबलिताब                | es 90    |
| पुत्रिकायां कृतायां तु       | 9 93      |                                  | १० १२४   |
| पुत्रेण लोकासयति             | 9 9       | १७ प्रकाशमेततास्कर्यम्           | ं ९ २२२  |
| पुनाति पङ्कि वंदयांश्व       | 9 9       | प्रकाशवश्वकास्तेषाम्             | द म्प    |
| ~ ""                         | 1997      |                                  |          |

# मनुस्मृतिपद्यानुकमः २५ प्राक्तरान्पर्यपा । प्राङ्ग नाभिवर्ष — वकविचन्तये

| प्रक्षाल्य हस्ता — प्रा                 | क्रूलान्पर्युपा | प्राङ् नाभिवर्ध —           | बकविचन्तये      |
|---|-----------------|-----------------------------|-----------------|
| ,                                       | अध्या. श्हो.    | •                           | अध्या. श्लो.    |
| प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य                  | ३ २६४           | प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसः    | २ २९            |
| प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा                | ९ २२८           | प्राचीनावीतिना सम्यक्       | ३ २७९           |
| प्रजनार्थं महाभागाः                     | ९ २६            | प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः       | ८ २९४           |
| प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः             | . ९ ९६          | प्राजापत्यमदत्त्वाश्वम्     | •99 36          |
| प्रजानां रक्षणं दानम्                   | 9 . 68          | प्राजापत्यां निरुप्येष्टिम् | ६ ३८            |
| प्रजापतिरिदं शास्त्रम्                  | ११ २४३          | प्राज्ञं कुलीनं ध्र्रं च    | ७ २१०           |
| त्रजापतिहिं वैश्याय                     | ८ ३३७           | प्राणस्यान्नमिदं सर्वम्     | ५ २८            |
| प्रणष्टखामिकं रिक्थम्                   | ८ ३०            | प्राणायामा त्राह्मणस्य      | <b>&amp;</b> 00 |
| प्रणष्टाधिगतं द्रव्यम्                  | ८ ३४            | प्राणायामैर्दहेदोषान्       | ६ ७२            |
| <b>प्र</b> तापयुक्तस्ते जस्त्री         | ९ ३१०           | प्राणि वा यदि वाऽप्राणि     | ४ ११७           |
| प्रतिकूलं वर्तमाना                      | ९० ३१           | प्रातिभाव्यं वृथादानम्      | ८ १५९           |
| प्रतिगृह्य द्विजो विद्वान्              | ४ ११०           | प्रातिवेश्यानुवेश्यो च      | ८ ३९२           |
| <b>प्रतिगृ</b> ह्याप्रतियाह्य <b>म्</b> | ११ २५३          | प्रादुष्कृतेष्वभिषु तु      | ४ १०६           |
| प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम्                | २ ४८            | प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः  | <b>९</b> २४०    |
| प्रतिग्रहसमर्थोऽपि                      | ४ १८६           | प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति   | 99 953          |
| <b>त्र</b> तिप्रहाद्याजनाद्वा           | १० १०९          | प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य   | 99 80<br>99 968 |
| प्रतिवातेऽनुवाते च                      | २ २०३           | प्रायिक्ते तु चरिते         | •               |
| प्रतिश्रवणसंभाषे                        | २ १९५           | प्रियेषु खेषु सुकृतम्       | €७९<br>         |
| प्रतिषिद्धापि चेद्या तु                 | ९ ८४            | प्रेतशुद्धि प्रवक्ष्यामि    | y yw            |
| <b>प्रतु</b> दाज्ञालपादांश्व            | ५ १३            | प्रेते राजनि सज्योतिः       | ५ ८२            |
| ेप्रलक्षं चानुमानं च                    | १२ १०५          | प्रेलेह चेहशा विप्राः       | 8 99 <b>5</b>   |
| प्रत्यिमं प्रतिसूर्यं च                 | ४ ५२            | प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्व  | ३ १५३           |
| प्रसर्ह देशदष्टेश्व                     | ٤ . ३           | प्रोक्षणातृणकाष्ठं च        | ५ १२२           |
| प्रथिता प्रेतकृत्यैषा                   | ३ १२७           | प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्   | ५ २७            |
| प्रभुः प्रथमकल्पस्य                     | ११ ३०           | प्रोषितो धर्मकार्यार्थम्    | ९ ७६            |
| प्रमाणानि च कुर्वीत                     | ७ २३०           | फ                           |                 |
| प्रविश्य सर्वभूतानि                     | ९ ३०६           | फलं कतकदृक्षस्य             | ६ ६७            |
| प्रवृत्तं कर्म संसेव्य                  | ें १२ ९०        | फलं त्वनभिसंधाय             | ९ ५३            |
| प्रशासितारं सर्वेषाम्                   | १२ १२२          | फलदानां तु वृक्षाणाम्       |                 |
| प्रसाधनोपचार <b>शम्</b>                 | १० ३२           | फलमूलाशनैर्भेध्यैः          | ५ ५४            |
| प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य                  | ७ १९४           | ब                           |                 |
| प्राकारस्य च भेतारम्                    | ९ २८९           | बलं चैव बलाकां च            | ५ १४            |
| <b>प्राक्</b> लान्पर्युपासीनः           | .3 104          | बकविचन्तयेदर्थान्           | ्७ १०६          |
| म॰ अ॰ ३                                 |                 | •                           |                 |

| ÷.  | •       |            |  |                 |
|---|---------|------------|--|-----------------|
| अको अवति हत्या,                             | महावर्ष | स०         | ब्रह्महत्या सुरा — ब्राह   | प्रणेषु च वि    |
| 1   | अध्या.  | 避.         |  | अध्या. श्लो.    |
| म को क्षत्री है चारित्रम्                   | 12      | 66         | नहाह्ला सुरापान <b>म्</b>  | 99 48           |
| मण्यवामित्र मर्गाणि                         | 4       | २२८        | व्रह्महा च सुरापश्च  | ९ २३५           |
| मं न्यूनि, प्रति होता छ                     | 93      | 90         | बद्धाहा द्वादशसमाः   | 99 42           |
| मध्य है पूर्व लागाः                         | Seq.    | 23         | ब्रह्मारम्भेऽवसाने च   | २ ७१            |
| 等等級 用角的海拔                                   |         | 960        | ब्रह्मा विश्वसूजो धर्मः  | 98 40           |
| <b>等的作用者的逻辑数</b>                            | c       | 986        | व्रह्मोज्ञता वेदनिन्दा   | 99 48           |
| भ हतः 'विन्योभाषाः                          | v       | 80         | ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारम्   | ७ २             |
| नहाने प्रदेशभाद                             | c       | şυ         | ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्   | २ १२७           |
| महात्वरेगण । हो। सन्                        | 93      | 48         | बाह्मणं दशवर्षं तु   | न १३५           |
| मार्थनः संद्रान्य स्टब्स्याः स्ट्रा         | २       | २०८        | ब्राह्मणं भिश्चकं वापि   | 3 383           |
| 电动动线 多片語 編                                  | 99      | 990        | बाह्मणः क्षत्रियो वैश्यः   | १० ४            |
| क व्यक्तकारिक विकास                         | 6       | २७         | व्राह्मणः क्षत्रियो वापि   | 90 900          |
| कालका का सुकारी आ                           | 4       | 980        |  | 99 68           |
| <sup>मे</sup> निष्यादानुभागी ज              | د       |            | बाद्मणक्षत्रियविशाम्   | द व्यय          |
| म करताः चेतपुरा                             | ¥       | 68         |  | ८ २७६           |
| म के देशका का भी                            | 4       | ৩৫         | 1  | 99 9४९<br>३ 9६४ |
| चार्करति जानसम्बद्धाः                       | V.      |            | 1  | ३ १६८<br>८ ३३८  |
| <ul> <li>भारते शितुनेशे शिक्षेत्</li> </ul> | ч       |            |  | ११ २३५          |
| मार्थाली भारत्ये दिल्ली।                    | 6       |            |  | 99 60           |
| विकासका मुस्सिप्रम्                         |         |            |  | \$ 988.         |
| विभागे सर्वग्यानि                           | 33      |            | W  | २ १९०           |
| वीषभेष पंचायन्ति                            | 3.      |            | •2   | 99 96           |
| री अस्य चेत्र वीस्थाण                       |         |            |  | 90 94           |
| बीकामाधुनिवित्र स्थाप                       | **      | * * *      | A CONTRACTOR OF THE PARTY OF TH |                 |
| gardia a count                              |         | 4 9°       | 2  | ७ ३७            |
| कृद्धीस्त्र स्थ पर्नेपाम्                   |         | 2 4<br>6 4 |  | 9 286           |
| कुक्षा च सर्वे गर्वेम                       |         |            |  | 90 २४८          |
| शक्ति के श्वता सीव<br>कक्कारा पुरुषक        | 4.      | • · 4      | जाह्यणायावग्रीव  | A 36A           |
| अक्रमादा व गोडमीय                           | ar 1    | 9 94       | द जाहाणार्थे गवार्थे वा  | देह १० ६२       |
| ummi nag dujer                              | •       |            | कामार्थी राषाधी सा   | सधः १५ ७९       |
|   | 4 5 44  | W. 75.7    | क जाहाणी नवागुलां द  | S \$ 10 8       |
| 新書 本名はANE (U.V.                             |         |            | अवायोषु च विद्यांतः  | 3 84            |

| ब्राह्मणो जाय — भु                         | क्रवातोः | ऽ <del>न्</del> यत ∣ | भूतानां प्राणि - तद्यप               | ा साध         | वृत्ता     |
|--|----------|----------------------|--------------------------------------|---------------|------------|
|  | अध्या.   | श्लो.                | •                                    | अध्या.        | श्चो.      |
| ब्राह्मणो जायमानो हि                       | 9        | 88                   | भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः           | 9             | ९६         |
| ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ                      | २        | ४५                   | भूमावप्येककेदा <b>रे</b>             | 9             | 36         |
| <b>ब्राह्मदैवार्षगान्धर्व</b>              | 9        | 985                  | भूमिदो भूमिमाप्नोति •                | ¥             | २३०        |
| त्राह्मस्य जन्मनः कर्ता                    | २        | 940                  | भूमौ विपरिवर्तेत                     | ` <b>Ę</b>    | २२         |
| बाह्यस्य तु क्षपाहस्य                      | 9        | 84                   | भृतकाध्यापको यश्च                    | 3             | 948        |
| ब्राह्मादिषु विवा <b>हेषु</b>              | 3        | ३९                   | भृतो <sup>ः</sup> नातों न कुर्याद्यः | 6             | २१५        |
| ् <b>त्रा</b> ह्मेण वित्रस्ती <b>र्थेन</b> | २        | 46                   | भृत्यानामुपरोधेन                     | 99            | 90         |
| ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत                  | 8        | ९२                   | भृत्यानां च भृतिं विद्यात्           | \$            | ३३२        |
| ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः                    | Ę        | 29                   | मैक्षेण वर्तयेत्रिखम्                | २             | 986        |
| ब्रूहीति बाह्मणं पृच्छेत्                  | ૮        | 66                   | भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते                | २             | 928        |
| ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयात्                | 6        | षद                   | भोजनाभ्यज्ञनाद्दानात्                | 90            | 39         |
| भ  |          |                      | भ्रातुज्येष्ठस्य भार्या या           | 9             | ५७         |
| भक्ष्यं भोज्यं च विविधम                    | ( 3      | २२७                  | भ्रातुर्भार्योपसंत्राह्या            | २             | १३२        |
| <b>भ</b> क्षभोज्यापदेशैश्व                 | 9        | २६८                  | भ्रातुर्मृतस्य भार्यायाम्            | Ę             | १७३        |
| <b>भक्ष्यभो</b> ज्यापहरणे                  | 99       | 954                  | भ्रातृणामेकजातानाम्                  | \$            | 963        |
| भगवान् सर्ववर्णानाम्                       | 7        | 2                    | भ्रातृणां यस्तु नेहेत                | , <b>,</b> \$ | 300        |
| भद्रं भद्रमिति ज्ञूयात्                    | 8        | 938                  | <b>आतृणामविभक्तानाम्</b>             | . 5           | 294        |
| भरद्वाजः क्षुवार्तस्तु                     | 90       | 900                  | भ्रामरी गण्डमाली च                   | ₹             | 989        |
| भन्नतपूर्व चरेद्रैक्षम्                    | 3        | ४९                   | भ्रूणझावेक्षितं चैव                  | ४             | २व८        |
| भर्तारं लंघयेवा तु                         | 6        | १७६                  | म                                    |               |            |
| भर्तुः पुत्रं विजानन्ति                    | 5        | 32                   | मक्षिका विशुषरछाया                   | ч             | 933        |
| भर्तुः शरीरग्रश्रूषाम्                     | 9        | ८६                   | मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्               | ४             | 984        |
| भाण्डपूर्णीन यानानि                        | 6        | 804                  | <b>मङ्ग</b> लाचारयुक्तानाम्          | *             | 386        |
| भार्या पुत्रश्च दासश्च                     | 6        | 335                  | मङ्गलार्थं खस्ययनम्                  | 4             | 943        |
| भार्या पुत्रश्च दासभ                       | 6        | ४१६                  | मङ्गल्यं बाह्मणस्य स्यात्            | २             | 33         |
| भार्यायै पूर्वमारिण्यै                     | ų        | 986                  | मणिमुक्ताप्रवालानां ताम              | 99            | 950        |
| भिक्षामप्युदपात्रं वा                      | ٠, ३     | ९६                   | मणिमुक्ताप्रवालानां लोहा             | 5             | ३२९        |
| भिधुका बन्दिनश्वेत                         | c        | ₹ € 0                | मणिमुक्ताप्रवालानि                   | 92            | <b>ξ</b> 9 |
| भिन्दन्खवमता मन्त्रम्                      | ৬        | 940                  | मतकुदातुराणां च                      | *             | 200        |
| भिन्याश्वेव तडागानि                        | હ        | 984                  | मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैः             | ¢             | १६३        |
| भुकतस्ख्य विप्रेषु                         | · ₹      | 998                  | मत्स्यघातो निषादानाम्                | 90            | 84         |
| <b>भुक्तवान्विहरेचैव</b>                   | ¥        | 223                  | मत्स्यानां पक्षिणां चैव              | 1 0           | ३२८        |
| <b>अ</b> क्तवातोऽन्यतमस्याच                | म् ४     | २२२                  | मद्यपा साधुरता च                     | ٩             | 60         |

| मधैर्मुत्रैः पुरीवैर्वा - मा | तरं वा स्व           | माता पिता वा —           | मैत्रं प्रसाधनं |
|------------------------------|----------------------|--------------------------|-----------------|
| अ                            | ध्या. श्लो.          |                          | अध्या. श्रो.    |
| मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा    | ५ १२३                | माता पिता वा द्याताम्    | ५ १६८           |
| मधुपर्के च यज्ञे च           | ५ ४१                 | मातापितृभ्यां जामीभिः    | 8 960           |
| मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च        | ४ १३१                | मातापितृभ्यामुत्स्ष्टम्  | 8 909           |
| मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा       | ७ १५१                | मातापितृविहीनो यः        | 8 900           |
| मध्यमस्य प्रचारं च           | ७ १५५                | मातामहं मातुलं च         | .₹ 98€          |
| मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे      | 92 929               | मातुः प्रथमतः पिण्डम्    | 8 980           |
| मनः सृष्टिं विकुषते          | 9 44                 | मातुरप्रेऽधिजननम्        | २ १६%           |
| मनुमेकाप्रमासीनाम्           | 9 9                  | मातुलांख पितृव्यांख      | २ १३०           |
| मनुष्यमारणे क्षिप्तम्        | ८ २९६                | मातुस्तु यौतकं यत्सात्   | ९ १३१           |
| मनुष्याणां तु हरणे           | ११ १६३               | मातुष्वसा मातुलानी       | २ १३१           |
| मनुष्याणां पशुनां च          | ८ २८६                | मात्रा खहा दुहित्रा वा   | २ २१५           |
| <b>म</b> नोहैंरण्यगर्भस्य    | ३ १९४                | मानसं मनसैवायम्          | १२ ८            |
| मन्त्रतस्तु समृद्धानि        | 7 44                 | मारतं पुरुहतं च          | ११ १२१          |
| मन्त्रैः शाकलहोमीयैः         | ११ २५६               | मार्गशीर्षे शुभे मासि    | ७ १८२           |
| मन्यन्ते वै पापकृतः          | 6 64                 | मार्जनं यत्र पात्राणाम्  | ५ ११६           |
| मन्येतारि यदा राजा           | ७ १७३                |                          | ११ १३१          |
| मन्वन्तराण्यसंख्यानि         | 9 60                 | मासिकां हु योऽश्रीय      |                 |
| मनायमिति यो म्याद्           | ८ ३५                 | मिथो दायः कृतो येन       | c 994           |
| ममेदमिति यो ब्र्यात्         | · c ₹9               | मुखबाहूरपजानाम्          | do 2d           |
| मरीचिम <b>त्र्यक्रिरसी</b>   | 9 34                 | मुजालाभे तु कर्तव्या     | २ ४३            |
| मरुख इति तु द्वारि           | ₹ 66                 | मुण्डो वा जटिलो वा       |                 |
| मह् <u>षिंपितृदेवानाम्</u>   | 8 740                | मुन्यज्ञानि पयः सोमः     | ३ २५७           |
| महर्षिभिश्व देवैश्व          | 6 99                 | मुन्यके विविधे में ध्येः | ६ ५             |
| महान्तमेव चात्मानम्          | : 9 9t               |                          | 8 40            |
| महान्यपि समृद्धानि           | 3                    | मृगयाऽक्षा दिवाखप्रः     | 9 80            |
| महापश्चनां हरणे              | د کر غر <sup>ی</sup> | ४ मृतं शरीरमुत्स्ज्य     | ४ २४१           |
| महापातकसंयुक्तः              | 99 74                | • मृतवस्त्रभृतसु नारीषु  | १० ३५           |
| महापातकिन श्रेव              | ं ११ २३              | ९ मृते भर्तरि साध्वी स   |                 |
| महाव्याद्वतिभिर्होमः         |                      | २ मृतायैः शुध्यवे शोध    | म् ५ १०६        |
| मांचं राष्ट्री वर्षा महुः    | 97 6                 | व सहं गां देवतं विप्रम्  | × 35            |
| मांसमक्षयितासुत्र            |                      | । मृष्यन्ति ये चोपपति    |                 |
| मात्तरं मितरं जायाम्         |                      |                          |                 |
| मातरं वा खसारं वा            |                      |                          | ४ १५३           |

| मैत्राक्षज्योतिकः — यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः |         |       | यज्ञाय जिथः 🕶                                 | यत्रीनि       | विद्धो     |
|---|---------|-------|---|---------------|------------|
| अध  | या.     | श्हो. | ., 8  | मध्या.        | श्ची.      |
| मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतः                  | 33      | ७२    | यज्ञाय जग्धिमाँसस्य                           | 4             | ¥ 9.       |
| मैत्रेयकं तु वैदेहः                       | ) 0     | 33    | यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः                        | 4             | ३९         |
| मैथुनं तु समासेव्य                        | 9       | 908   | यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वेघ्या                   | 4             | <b>२२</b>  |
| मोहाद्राजा खराष्ट्रं यः                   | ષ્      | 999   | यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा                      | 99            | 34         |
| सौजी त्रिवृत्समा श्रक्षणा                 | २       | ४२    | यज्ञे तु वितते सम्यक्                         | 3             | 36         |
| मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डः               | ۵       | ३७९   | यज्ञोऽन्द्रतेन क्षरति                         | 8             | २३७        |
| मौलाञ्छस्रविदः शूरान्                     | હ       | 48    |   |               |            |
| म्रियमाणोऽप्याददीत                        | હ       | 933   | यज्वान ऋषयो देवाः                             | 93            | 88         |
| य   |         |       | यतश्च भयमाशङ्केत्<br>यतात्मनोऽप्रमत्तस्य      | 99            | 966        |
| यं तु कर्मणि                              | 9       | २८    | यतात्मनाऽत्रमत्तस्य<br>यत्करोत्येकरात्रेण     |               | 294        |
| यं तु पर्येन्निधिं राजा                   | ٠       | 36    | यत्करालकरात्रण<br>यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्  | 99            | 906        |
| यं ब्राह्मणस्तु शुद्रायाम्                | 9       | 906   | यत्कम अवताऽस्य स्वात्                         | ४<br>१२       | १६१<br>३५  |
| यं मातापितरी क्लेशम्                      | 2       |       | यत्किम कृत्या अपन्य<br>यत्किचित्पितरि प्रेते  | 35            | २७<br>२०४  |
| यं ब्राह्मणस्तु श्र्हायाम्                |         | 906   | यात्काचात्पतार अत<br>यात्किचित्स्नेहसंयुक्तम् | -             | <b>738</b> |
|   |         | 994   | यत्कित्तरस्य दातव्यम्                         | <b>५</b><br>४ | २२८        |
| यः किथात्कस्यचिद्धर्मः                    | ે.<br>ર | v     | यत्कित्वदपि वर्षस्य                           | °<br>G        | 930        |
| यः क्षिप्तो मर्षयत्यातैः                  | Ċ       | ३१३   | यत्कित्वदेनः कुर्वन्ति                        | 99            |            |
| यः संगतानि कुरुते                         | 3       | 980   | यरिकचिद्दा वर्षाण                             | 6             | 980        |
| यः साधयन्तं छन्देन                        | è       |       | यतिंकचिन्मधुना मिश्रम्                        |               | २७३        |
| यः खयं साधयेदर्थम्                        | ۵       | 40    | यत्तरकारणमव्यक्तम्                            | 9             |            |
| यः खाष्यायमधीतेऽन्दम्                     | 3       |       | यत्तु दुःखसमायुक्तम्                          | 92            | 26         |
| यः खामिनाननुज्ञातम्                       | ૮       | 940   | यत्तु वाणिजके दत्तम्                          | 3             | 969        |
| य आष्ट्रणोत्यवितथम्                       | २       | 388   | यतु स्यान्मोहसंयुक्तम्                        | 93            |            |
| य एते तु गणा मुख्याः                      | 3       | 969   | यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तम्                  | S             |            |
| य एतेऽन्ये त्वभोज्याचाः                   | ४       | २२१   | यक्रेन भोजयेच्छादे                            | Ę             |            |
| य एतेऽभिहिताः पुत्राः                     | 9       | 969   | यत्पुण्यफलमाप्रोति                            | Ę             |            |
| यक्षरक्षःपिशाचांश्व                       | 9       | ३८    | यत्राग्द्वादशसाहस्रम्                         | 9             |            |
| सक्षरक्षःपिशाचाचम् ै                      | 99      | 94    | यत्र त्वेते परिष्वंसात्                       | 90            | 59         |
| यक्सी च पशुपालश्च                         | ₹       | 948   | यत्र धर्मी ह्यधर्मेण                          | 6             | 98         |
| यवास्य सुकृतं किचित्                      | ø       | 34    | यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते                      | Ę             | ५६         |
| यजेत राजा ऋतुभिः                          | y       | vs    | यत्र वर्जयते राजा                             | Š             | २४६        |
| -   | 99      | ४४    | यत्र श्यामो लोहितांक्षः                       | v             | २५         |
| यज्ञश्वेत्प्रतिरुद्धः स्यात् (            | 99      | 99    | यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत                          | ۷             | ٧Ę         |
|   |         |       |   |               |            |

| यत्रापवर्तते युग्मस् —                  | यथेरिणे बीज  | यथैधस्तेजसा —             | यदि हि सी    |
|---|--------------|---------------------------|--------------|
| *************************************** | अध्या. श्लो  |                           | अध्या. श्लो. |
| यत्रापवर्तते युग्मम्                    | ८ २९३        | यथैधस्तेजसा विहः          | ११ २४६       |
| यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुम्                | १२ ३७        | यथैनं नाभिसंदध्युः        | 0 960        |
| यथर्तुस्तिज्ञान्यृत्वः                  | 9 30         | यथैव शुद्रो ब्राह्मण्याम् | 90 30        |
| यथाकथबिर्तिण्डानाम्                     | 99 220       | यथैवात्मा तथा पुत्रः      | ९ १३०        |
| यथा काष्ट्रमयो हस्ती                    | २ १५७        | यथोक्तमार्तः सुस्थो वा    | ८ २१७        |
| यथा खनन्खनित्रेण                        | २ २१८        | यथोक्तान्यपि कर्माणि      | 92 52        |
| यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु                  | 9 86         | यथोक्तन नयन्तस्ते         | ८ २५७        |
| यथा चैवापरः पक्षः                       | ३ २७८        | यथोदितेन विधिना           | 8 900        |
| यथा जातवलो विहः                         | 98 909       | यथोद्धरति निर्दाता        | ७ ११०        |
| यथा त्रयाणां वर्णानाम्                  | १० २८        | यदधीते यद्यजते            | ७ ३०५        |
| यथा दुर्गाश्रितानेतान्                  | υ <b>υ</b> ξ | यदन्यगोषु वृषभः           | g yo         |
| यथा नदीनदाः सर्वे                       | ६ ९०         | यदाणुमात्रिको भूत्वा      | 9 44         |
| यथा नयत्यस्यपातैः                       | 6 88         | यदा तु यानमातिष्ठेत्      | 969          |
| यथा स्रवेनीपलेन                         | े ४ १९४      | यदा तु स्यात्परिक्षीणः    | ७ १७२        |
| यथा फकेन युज्येत                        | ७ १२८        | यदा परमलानां दु           | 808          |
| यथा महाहदं प्राप्य                      | ११ २६३       | यदा प्रकृष्टा मन्येत      | ७ १७०        |
| सथा यथा नरोऽधर्मम्                      | 99 226       | यदा भावेन भवति            | ६ ८०         |
| यधा यथा निषेवन्ते                       | १२ ७३        | यदा मन्येत भावेन          | ७ १७१        |
| यथा यथा मनस्तस्य                        | 99 779       | यदावगच्छेदायलाम्          | ७ १६९        |
| सथा सथा हि पुरुषः                       | ४ २०         | यदा स देवो जागर्ति        | . १ ५३       |
| यथा यथा हि सदूसम्                       | १० २२८       | यदा खयं न कुर्यातु        | 6 8          |
| यया यमः प्रियद्वेष्यी                   | \$ 300       | यदि तत्रापि संपश्येत      | ७ १७६        |
| यथाईमेतानभ्यच्ये                        | 4 389        | यदि सु प्रायशो धर्मम्     | 92 29        |
| यथाल्पाल्पमदन्खाद्यम्                   | ७ १२९        | यदि ते तु न तिष्ठेयुः     | 306          |
| यथा वाद्यं समाश्रित्व                   | <b>9</b> 00  | यदि त्वतिथिधर्मेण         | ३ १११        |
| यथाविष्यधिगम्यैनाम्                     | \$ 40        | यदि त्वाखन्तिकं वासम      | २ १४३        |
| नथाशासं तु कृत्वैवम्                    | 8 50         | यदि न प्रणयेदाजा          | ७ २०         |
| यथाश्वमेघः कतुराद                       | 99 340       | यदि नात्मनि पुत्रेण       | ४ १७३        |
| यथा षण्डोऽफलः स्नीषु                    | 7 946        | यदि की यद्यवरजाः          | २ २२३        |
| सथा सर्वाणि भूतानि                      | \$ 399       | यदि संशय एवं स्यात्       | ८ २५३        |
| वधेवं शावमाशीचम्                        | 4 49         |                           | 6 R97        |
| यथेदमुक्तवाञ्छालं'                      | 2 115        |                           | 's 64        |
| अधेरिणे बीजसुता                         | ₹ 9¥₹        |                           | 2 4F         |
|   | 300          |                           |              |

| यदेतत्परिसंख्या — य                     | स्तु दो    | षवतीं | यस्तु दोषवर्ती य           | बास्येन सदा  |
|---|------------|-------|----------------------------|--------------|
|   | अध्या.     | श्हो. | ٠,                         | अध्या. श्हो. |
| <b>यदे</b> तत्परिसंख्यातम्              | 9          | ७१    | यस्तु दोषवतीं कन्याम्      | ८ २२४        |
| यदेव तर्पयसद्भः                         | 3          | २८३   | यस्तु पूर्वेनिविष्टस्य     | ९ २८१        |
| यद्गर्हितेनार्चयन्ति                    | 99         | 983   | यस्तु भीतः परावृत्तः       | . ७ ९४       |
| यदुस्तरं यदुरापम्                       | 99         | २३८   | यस्तु रज्जुघटं कूपात्      | ें ८ ३१९.    |
| यद्वयोरनयोर्वेत्थ                       | 6          | 60    | यस्त्वधर्मेण कार्याणि      | 6 908        |
| यद्धनं यज्ञशीलानाम्                     | 99         | २०    | यस्त्वनाक्षारितः पूर्वम्   | ८ ३५५        |
| यद्यायति यत्कुरुते                      | ષ          | ४७    | यस्त्वेतान्युपऋ्रप्तानि    | ८ ३३३        |
| यद्भक्षं स्थात्ततो दद्यात्              | Ę          | હ     | यसात्रयोऽप्याश्रमिणः       | ३ ७८         |
| यदात्परवशं कर्म                         | ४          | १५९   | यसादण्वपि भूतानाम्         | ६ ४०         |
| यद्दाति विधिवत्                         | ₹          | २७५   | यसादुत्पत्तिरेतेषाम्       | ३ १९३        |
| यदारोचेत विप्रेभ्यः                     | 3          | २३१   | यसादेषां सुरेन्द्राणाम्    | ري الا       |
| यदान्नमति तेषां तु                      | ч          | १०२   | यस्माद्वीजप्रभावेण         | १० ७२        |
| यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रः               | 3          | 948   | यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युः | ८ २०६        |
| यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्              | 9          | २०३   | यस्मिन्दर्भण्यस्य कृते     | ११ २३३       |
| यदास्य विहितं चर्म                      | २          | १७४   | यस्मिन्देशे निषीदन्ति      | ८ ११         |
| यदाचरति धर्म सः                         | 92         | २०    | यस्मिष्ट्रणं संनयति        | 3 900        |
| यदेकरिक्थिनौ स्याताम्                   | 8          | 9 ६ २ | यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये  | ८ २२८        |
| यदाष्ट्रं स्हभूयिष्ठम्                  | ۷          | २२    | यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु    | ८ ११७        |
| यद्वा यद्वा परद्रव्यम्                  | 98         | ६८    | यसमै द्यात्पिता त्वेनाम्   | ५ १५१        |
| यद्वेष्टितशिरा भुंके                    | ३          | २३८   | यस्य कायगतं ब्रह्म         | 99 50        |
| ंयचावि किंचिद्दाशानाम्                  | E          | 806   | यस्य त्रैवार्षिकं भक्तम्   | 99 4         |
| यन्मूर्खवयवाः सूक्ष्माः                 | 9          | 90    | यस्य दश्येत सप्ताहात्      | 6 906        |
| यनमें माता प्रख्छिभे                    | 8          | २०    | यस्य प्रसादे पद्मा श्रीः   | <b>99</b>    |
| यमान्सेवेत सततम्                        | 8          | २०४   | यस्य मन्त्रं न जानन्ति     | ७ १४६        |
| यमिद्धो न दहत्यिः                       | 6          | 994   | यस्य मित्रप्रधानानि        | ३ १३९        |
| यमेव तु शुचिं विद्यात्                  | २          | 994   | यस्य राज्ञस्तु विषये       | ७ १३४        |
| यमो वैवखतो देवः                         | 6          | 53    | यस्य वान्यानसी छुदे        | २ १६०        |
| यवीया <b>ङ्</b> येष्ठभार्याया <b>म्</b> | ેંઙ        | 930   | यस्य विद्वानिह वदतः        | c 98         |
| यश्वापि धर्मसमयात्                      | . \$       | २७३   | यस्य शहरतु कुरते           | د <b>٦</b> ٩ |
| यथैतान्त्रा <b>मुयात्सर्वान्</b>        | े २        | ९५    | यस्य स्तेनः पुरे नास्ति    | ३८६ २        |
| यस्तरुपजः प्रमीतस्य                     | 3 <b>S</b> | 350   | यस्या भियेत कन्यायाः       | 5 55         |
| यस्तु तत्कारयेनमोहात्                   | 5          | 60    | यस्यास्तु न भवेद्वाता      | <b>₹ 99</b>  |
| यस्तु दोषवतीं कन्याम्                   | 9          | ξv    | यस्यास्येन सदाश्रन्ति      | 9 94         |

| यां यां योनिं तु .— या   | वेद्धि     | हिता  | यासां नाददते — योऽ         | दसादा  | यिनो  |
|--------------------------|------------|-------|----------------------------|--------|-------|
| <u></u>                  | <br>अध्या. |       |                            | अध्या. | श्रो. |
| यां यां योनि तु जीवोऽया  | म् १२      | ५३    | यासां नाददते शुल्कम्       | 3      | 48    |
| या गर्भिणी संस्क्रियते   | 9          | १७३   | यास्तासां स्युईहितरः       | 8      | 983   |
| याजनाध्याप्ने निसम्      | 90         | 990   | युध्य कुर्वेन्दिनक्षेषु    | ¥      | २७७   |
| यातुकर्याप्रकुर्याल्बी   | ۵          | ३७०   | युगपत्तु प्रलीयन्ते        | 9      | 48    |
| यात्रामात्रप्रसिद्धार्थ  | ४          | 3     | युग्मासु पुत्रा जायनते     | ¥      | ४८    |
| याहरगुणेन भन्नी स्त्री   | 8          | २२    | ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव     | ড      | 358   |
| यादशं तूप्यते बीजम्      | 3          | ३६    | येऽक्षेत्रिणो बीजवतः       | \$     | ४९    |
| यादशं फलमाप्रोति         | 8          | 969   | ये तत्र नोपसर्वेयुः        | 8      | २६९   |
| यादशं भजते हि स्त्री     | 8          | 8     | ये द्विजानामपसदाः          | 90     | ४६    |
| यादशा धनिभिः कार्याः     | 6          | ६१    | येन केनचिदक्तेन            | c      | २७९   |
| यादशेन तु भावेन          | 92         | 69    | येन यस्तु गुणेनैषाम्       | 92     | ३९    |
| चाहशोऽस्य भवेदात्मा      | ૪          | २५४   | येन येन तु भावेन           | 8      | २३४   |
| यानशय्यासनान्यस्य        | 8          | २०२   | येन येन यथाङ्गन            | C      | ३३४   |
| यानदाय्याप्रदो भार्याम्  | ४          | २३२   | येनास्मिन्कर्मणा लोके      | 93     | ३६    |
| यानस्य चैव यातुःध        |            | 290   | येनास्य पितरो याताः        | 8      | 906   |
| यानि चैवंप्रकाराणि       | c          | 249   | ये नियुक्तास्तु कार्येषु   | \$     | २३१   |
| या नियुक्तान्यतः पुत्रम् | 8          | 980   | ये पाकयशाश्वत्वारः         | २      | ८६    |
| यानि राजप्रदेयानि        | y          | 996   | ये बकनतिनो विप्राः         | ሄ      | 90,0  |
| यानुपाश्रित्य तिष्टन्ति  | 9          | ३१६   | ये शुद्राद्धिगम्यार्थम्    | 99     | ४२    |
| या पत्या वा परित्यका     |            | 964   | येषां ज्येष्टः कनिष्ठो वा  | 3      | २११   |
| यामीस्ता यातनाः प्राप्य  | 93         | २२    | येषां तु याहशं कर्म        | 9      | ४२    |
| या रोगिणी स्यानु हिता    | \$         | ८२    | येषां द्विजानां सावित्री   | 99     | 989   |
| यावतः संस्पृशेदज्ञैः     | ₹          | 906   | ये स्तेनपतितक्षीयाः        | 3      | 940   |
| यावतो प्रसते प्रासान्    | . 3        | 933   | यैः कर्मभिः प्रचरितेः      | 90     | 900   |
| यावतो बान्धबान्यस्मिन्   | 6          | 90    | यैः कृतः सर्वभक्योऽभिः     | 5      | ३१४   |
| यानत्रयस्ते जीवेयुः      | २          | २३५   | <b>बैरभ्युपायेरेनां</b> सि | 99     | 290   |
| सावदुष्णं भवत्यषम्       | ¥          | 230   | यैर्येश्वायैर्थं खम्       | c      | ¥¢    |
| यावदेकानुदिष्टस्य        | 8          | 999   | योऽकामो दूषयेत्कन्याम      |        | 365   |
| यावन्ति पशुरोमाणि        |            | 35    | योगाधमनविकीतम्             | e      | 980   |
| यावानवध्यस्य वधे         | •          | 788   | यो मामवेशसंपानाम्          | - 4    | 390   |
| यावकापैत्यमेश्याकात्     | ; <b></b>  | 1 174 | यो जयेष्ठो जयेष्ठश्रातः स  | पाद ९  | 99.   |
| या वेदबाह्याः स्मृतयः    | 9:         | १ ९५  | यो ज्येष्ठो विनिक्षवीत     | ંવ     | 33    |
| या वेदबिह्ता हिंसा       | •          | 1 88  | योऽदत्तादायिनो हस्तात      |        | 18    |

## मनुस्मृतिपद्यानुन्भैः

| यो दत्त्वा सर्वभू —       | रथं हरे | त वा  | रथाश्वं हस्तिनं -                             | लोभ:  | स्वमो      |
|---------------------------|---------|-------|---|-------|------------|
|                           | अध्या.  | श्चो. | <b>\</b>                                      | अध्या | . श्लो.    |
| यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः   | Ę       | ३९    | रथाश्वं इस्तिनं छत्रम्                        | ٠     | ९६         |
| योऽधीतेऽहन्यहन्येतां      | २       | ८२    | रसा रसैर्निमातव्याः                           | 90    | 38         |
| योऽनधीख द्विजो वेदम्      | २       | १६८   | राजा कर्मसु युक्तानाम्                        |       | १२५        |
| यो न वेत्त्यभिवादस्य      | २       | 988   | राजतैर्भाजनैरेषाम्                            | * ₹   | २०२        |
| योऽनाहितामिः शतगुः        | 99      | 98    | राजतो धनमन्विच्छेत्<br>राजधर्मान्त्रवक्ष्यामि | 8     | <b>₹</b> ₹ |
| यो निक्षेपं याच्यमानः     | 6       | 969   | राजधमान्त्रवस्थाम<br>राजभिः कृतदण्डास्तु      | 6     | १<br>३१८   |
| यो निक्षेपं नार्पयति      | 6       | 989   | राजित्वस्नातकगुरून्                           | 3     | 998        |
| योऽन्यथा सन्तमात्माना     | म् ४    | २५५   | राजा कर्मसु युक्तानाम्                        |       | 924        |
| यो बन्धनवधक्केशान्        | ч       | ४६    | राजा च श्रोत्रियश्वैव                         |       | 350        |
| यो यथा निक्षिपेद्धस्ते    | 6       | 960   | राजानः क्षत्रियाश्वेव                         | 92    |            |
| यो यदैषां गुणो देहे       | 92      | २५    | राजानं तेज आदत्त                              | ٠,    | 296        |
| यो यस्य धम्यों वर्णस्य    | ₹       | 22    | राजा भवत्यनेनास्त                             | ٤     | 95         |
| यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेत् | 6       | 946   | राजा स्तेनेन गन्तव्यः                         | ٥     | 398        |
| यो यस्य मांसमश्राति       | Ŋ       | 94    | राज्ञो महात्मिके स्थाने                       | ષ     | -          |
| यो यस्पैषां विवाह         | 3       | ₹ ⊊   | राज्ञः कोषापहर्तृश्च                          | 9     | २७५        |
| यो याविष्ठह्वीतार्थम्     | G       | 48    | राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि                       |       | ३९९        |
| यो येन पवितेनैषाम्        | 99      | 969   | राज्ञश्व दद्युरुद्धारम्                       | •     | 90         |
| योऽरक्षन्बलिमादत्ते       | 6       | ७०६   | राज्ञो हि रक्षाधिकृताः                        | و     | १२३        |
| योऽर्चितं प्रतिगृहाति     | 8       | २३५   | रात्रिभिर्मासतुल्याभिः                        | ų     | ĘĘ.        |
| यो राज्ञः प्रतिगृह्णावि   | 8       | 60    | रात्री श्रादं न कुर्वीत                       | Ę     | 260        |
| यो लोभादधमो जाला          | 90      | 38    | राष्ट्रस्य संयहे नित्यम्                      | v     | 992        |
| योऽवमन्येत ते मूळे        | २       | 99    | राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्                      | 9     | २७२        |
| यो वैश्यः स्याद्वहुपश्चः  | 99      | 93    | रूपसत्त्वगुणोपेताः                            | ş     | ¥o         |
| योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय      | 99      | 98    | रेतःसेकः खयोनिषु                              | 99    | 40         |
| योऽसावतीन्द्रियप्राह्यः   | 9       | v     | छ   |       |            |
| योऽस्यात्मनः कारयिता      | 99      | 92    | रुक्षं शस्त्रभृतां वा स्यात्                  | 99    | ७३         |
| योऽहिंसकानि भूतानि        | ب دي    | 84    | लशुनं गृजनं चैव                               | 4     | ч          |
| षो हास्य धर्ममाचष्टे      | 8       | 69    | छताहिसरटानां च                                | 92    | 40         |
| र ५                       |         |       | लोकसंव्यवद्वारार्थम्                          | E     | 939        |
| रक्षणादार्यवृत्तानाम् 🦠   | 5       | २५३   | लोकानन्यान्सजेयुर्ये                          | 9     | ३१५        |
| रक्षन्धर्मेण भूतानि       | 6       | 305   | लोकानां तु विशृज्यर्थम्                       | 9     | 39         |
| रजसाभिष्ठतां नारीम्       | ¥       | 89    | लोकेशाधिष्ठितो राजा                           | . 4   | 30         |
| रथं हरेत वाध्वर्युः       | E       | २०९   | लोभः खप्रोऽष्टतिः                             | 72    | 3.3        |
|                           |         |       |   |       |            |

| लोभात्सहस्रं — वाग                 | देवत्यश्च च  | वाच्यर्था नियताः — वि       | ा <b>युतो</b> ऽशनि |
|------------------------------------|--------------|-----------------------------|--------------------|
|                                    | अध्या. श्री. | 3                           | मध्या. श्लो.       |
| लोभात्सहसं दण्ड्यस्तु              | ८ १२०        | वाच्यर्था नियताः सर्वे      | ४ २५६              |
| लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्          | 6 996        | वाच्येके जुह्वति प्राणम्    | ४ २३               |
| लोष्टमदीं तृणच्छेदी                | 8 49         | वाणिज्यं कारसेद्वैश्यम्     | ८ ४१०              |
| लोहशंकुमुजीषं च                    | 8 90         | वानस्पत्यं मूलफलम्          | ८ ३३९              |
| होहितान् इक्षनियीसान्              | 4 4          | वान्ताद्युरकामुख            | 92 09              |
| लौकिकं वैदिकं वापि                 | २ ११७        | वान्तो विरिक्तः स्नात्वा दु | 4 988              |
| 'ঘ                                 | ,            | वायोरिप विकुर्वाणात्        | ৭ ৩৬               |
| वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य               | 6 995        | वाय्वभिविश्रमादिसम्         | 8 86               |
| वधेनापि यदा त्वेतान्               | ८ १३०        | वारिदस्तृतिमाप्रोति         | ४ २२९              |
| वध्यांश्च हन्युः सततम्             | 90 48        | वार्षिकांश्वतरो मासान्      | ९ ३०४              |
| वनस्पतीनां सर्वेषाम्               | ८ २८५        | वासन्तशारदैर्मे ध्यैः       | Ę 99               |
| वनेषु च विद्वत्यैवम्               | <b>६</b> ३३  | वासांसि मृतचेलानि           | १० ५२              |
| बन्ध्याष्ट्रमेऽधिवेथाब्दे          | 8 69         | वासो दद्याद्धयं इत्वा       | ११ १३६             |
| वपनं मेखलादण्डौ                    | 99 949       | वासोदाखन्द्रसालोक्यम्       | ४ २३१              |
| वयसः कर्मणोऽर्थस्य                 | 8 96         | विंशतीशस्त्र तत्सवेम्       | v 99.0             |
| वरं खधर्मो विगुणः                  | 90 80        | विकयाची धनं किंचित          | ८ २०१              |
| वरुणेन यथा पार्शः                  | ९ ३०८        | विकीणीते परस्य स्तम्        | ८ १९७              |
| वर्जयेन्मधु मांसं च गंधं           | ६ १४         | विकोशन्लो यस्य राष्ट्रात्   | ७ १४३              |
| वर्जयेन्मधु मांसं च                | २ १७७        | विगतं तु विदेशस्थम्         | ५ ७५               |
| वर्णापेतमविज्ञातम्                 | 90 40        | विघसाशी भवेशित्यम्          | ३ २८५              |
| वर्तयंश्व शिलोञ्छाभ्याम्           | 8 90         | विद्युष्य तु हतं चौरैः      | ८ २३३              |
| वर्षे वर्षेऽक्षमेधन                | ५ ५३         | विद्युद्रयोरेवमेव           | ८ २७७              |
| वशाऽपुत्रासु चैवं स्यात्           | 4 34         | विश्वराहखरोष्ट्राणाम्       | 33 348             |
| षशे कृत्वेन्द्रियप्रामम्           | 2 900        | विण्मूत्रोत्सर्गशुद्धार्थम् | ५ १३४              |
| वसा शुक्रमस्चजा                    | ५ १३५        | वित्तं बन्धुर्वयः कर्म      | २ १३६              |
| वांसिष्ठविहितां वृद्धिम्           | 6 980        | विदुषा ब्राह्मणेनेदम्       | 3 305              |
| वसीत चर्म चीरं वा                  | ६ ६          | विद्ययैव समं कामम्          | २ ११३              |
| वस्नवदन्ति तु पितृन्               | ं ३ २८४      | विद्यागुरुष्वेतदेव          | २ २०६              |
| वस्त्रं पात्रमलंकारम्              | \$ 395       |                             | 3 80               |
| बाग्दण्डं प्रथमं दुर्योत्          |              |                             | 8 801              |
| वाग्दण्डोऽय मनोदण्डः               |              | 4                           | 8 997              |
| माम्दुष्टा <del>रा</del> स्कराचेवं | E 384        | विद्या शिल्पं सृतिः सेवा    |                    |
| बारदेवस्थेश चर्गाः                 | £ 9.4        | विद्युतोऽशनिमेषांश्र        | 9 80               |

| विद्युत्सनितवर्षे — | वीक्ष्यान्धो | नवतेः |
|---------------------|--------------|-------|
|                     |              |       |

| विद्युत्सानतवष — वाद्य                  | (14d) . | ~~~~         |
|---|---------|--------------|
| *************************************** | अध्या.  | શ્લો.        |
| विद्युतस्तनितवर्षेषु                    | ४       | १०३          |
| विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः                | २       | ٩            |
| विद्वांस्तु बाह्मणो ह्या                | 6       | ३७           |
| विधवायां नियुक्तस्तु                    | \$      | Ęo           |
| विधवायां नियोगार्थे                     | \$      | ६२           |
| विधाता शासिता वक्ता                     | 99      | 34           |
| विधाय प्रोषिते वृत्तिम्                 | 9       | ७५           |
| विधाय वृत्ति भार्यायाः                  | 5       | ७४           |
| विधियज्ञाज्जपयज्ञः                      | २       | 64           |
| विधिवत्प्रतिगृह्यापि                    | 8       | ७२           |
| विधूमे सन्नमुसल्टे                      | É       | ५६           |
| विनाऽद्भिरप्सु वाप्यार्तः               | 99      | २०२          |
| विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यम्               | ૪       | ६८           |
| विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा            | مع      | ९९           |
| विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता             | 99      | <b>9</b> 6 6 |
| क्रिज्ञमोगं प्रिमेश्वेष                 | · . §   | 43           |
| विप्रसेवेव श्रहस्य                      | 90      | 355          |
| वित्रस्य त्रिषु वर्णेषु                 | 30      | 90           |
| विप्राणां वेदविदुषाम्                   | \$      | ३३४          |
| विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठया             | र् २    | 944          |
| वित्रोध्य पादप्रहणम्                    | 3       | 290          |
| विभक्ताः सह जीवन्तः                     | \$      |              |
| विराद्धुताः सोमसदः                      | Ę       |              |
| विविधाश्वेव संपीडाः                     | 93      |              |
| विशिष्टं कुत्रचिद्दीजम्                 | 8       |              |
| विशीलः कामवृत्तो वा                     | 4       |              |
| विसन्धं ब्राह्मणः श्र्वात्              |         |              |
| विश्वभयक्षेत्र देवेभ्यः                 | , 3     |              |
| विश्वेश देवैः साध्येश                   | 19      | -            |
| विषद्मरगदेशास्य                         | v       |              |
| विषादप्यमृतं प्राह्मस्                  | 3       |              |
| निस्ज्य मासणांस्वास्त                   | 3       |              |
| वीक्यान्धो नवतेः काणः                   | 1       | 300          |

| वृको | मृगेभं | - | वेद्गो | विनष्टो ऽविन |
|------|--------|---|--------|--------------|
|------|--------|---|--------|--------------|

| Salar Sa |          |             |
|--|----------|-------------|
| <b>&gt;</b>  | अध्या.   | <i>?</i> ⊛. |
| हको मृगेमं व्याघ्रोऽश्व <b>म्</b>  | 93       | ६७          |
| वृतिं तत्र प्रकुवीत  | 6        | २३९         |
| वृत्तीनां लक्षणं चैव   | . 9      | 993         |
| वृथा कुसरसंयावम्   | * 4      | v           |
| य् <b>यासंकरजा</b> तानाम्  | 4        | 68          |
| वृद्धांश्व निलं सेवेत  | v        | 36          |
| वृषभैका <b>दशा</b> गाश्व   | 99       | 998         |
| <b>वृष</b> लीफे <b>नपी</b> तस्य  | 3        | 98          |
| वृषो हि भगवान्धर्मः  | ۷        | 36          |
| वेणुवैदलभाण्डानाम्   | 4        | ३२७         |
| वेतनस्यैव चादानम्  | 6        | نع          |
| वेदः स्मृतिः सदाचारः   | २        | 92          |
| वेदप्रदानादाचार्यम्  | २        | 909         |
| वेदमेवाभ्यसेनित्यम्  | ጸ        | 380         |
| वेदमेव सदाभ्यस्येत्  | 3        | 366         |
| वेदयशैरहीनानाम्  | ₹        | 963         |
| वेदविषापि विशोऽस्य   | ¥        | 909         |
| वेदविद्यावतन्नातान्  | 8        | ₹ 9         |
| वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः   | 93       | 902         |
| वेदानधील वेदी वा   | ₹        | 3           |
| वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानम्   | 93       | 19          |
| वेदाभ्यासस्तवो ज्ञानमि   | नेद्र १२ | ८३          |
| वेदाभ्यासेन सततम्  | ¥        | 386         |
| वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त  | 11 99    | २४५         |
| वेदार्थवित्प्रवका स  | ₹        | 965         |
| वेदाभ्यासो बाह्मणस्य   | 90       | 69          |
| वेदास्त्यागाध यशाध   | 2        | 54          |
| वेदोक्तमायुर्मर्खीनाम्   | 3        | 63          |
| वेदोऽधिलो धर्ममूलम्  | *        | •           |
| वेदोदितं खकं फर्म  | ¥        | 34          |
| वेदोदितानां निखानाम्   | , 11     | 8 . 1       |
| वेदोवकरणे चष   | *        | 904         |
| वेनो विनद्योऽधिनयास्   | 4        | , A.        |

| वैणवीं धारयेख . —                    | वात्यात्त | जाय      | वात्यानां याजनं —         | ग्रुचिरु | <b>क</b> हजी |
|--------------------------------------|-----------|----------|---------------------------|----------|--------------|
|                                      | अध्या     | . ुश्हो. |                           | अध्या.   | श्लो.        |
| वैणवीं धारयेद्यष्टिम्                | 8         | 3 &      | त्रात्यानां याजनं कृत्वा  | 99       | 990          |
| वैतानिकं च जुहुयात्                  | ŧ         | 9        | त्रीहयः शालयो मुद्राः     | 9        | ३९           |
| वैदिके कर्मयोगे तु                   | 93        | 60       | श                         |          |              |
| वैदिकैः कर्माभः पुण्यैः              | २         | २६       | शक्तः परजने दाता          | 99       | \$           |
| वैरिणं नोपसेवेत                      | ४         | 933      | शक्तितोऽपचमानेभ्यो        | 8        | ३२           |
| वैवाहिको विधिः                       | २         | ६७       | शक्तेनापि हि स्ट्रेण      | 90       | 928          |
| वैवाहिकेऽमौ कुर्वीत                  | ₹         | ६७       | शतं बाह्मणमाकुर्य         | 6        | २६७          |
| वैशेष्यात्प्रकृति श्रेष्ट्यम्        | 90        | ₹        | शत्रुसेविनि मित्रे च      | v        | 906          |
| वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्           | 6         | ३७५      | शनकैस्तु क्रियालोपात्     | 90       | ४३           |
| वैश्यं प्रति तथैवैते                 | 90        | 96       | शब्दः स्पर्शश्च रूपं च    | 98       | 96           |
| वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्                | 90        | 909      | शयानः प्रौढपादश्व         | ४        | 992          |
| वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु             | 90        | ८३       | शय्यां गृहान्कुशान्       | ४        | २५०          |
| वैश्यश्रद्रावि प्राप्तौ              | Ę         | 992      | शय्यासनमलंकारम्           | 8        | 90           |
| वैश्यग्रहोपचारं च                    | 9         | 994      | शय्यासनेऽध्याचरिते        | २        | 998          |
| वैदयश्रदी प्रयक्षेन                  | G         | 298      | शरणागतं परित्यज्य         | 99       | 986          |
| वैश्यश्रेत्स्त्रियां गुप्ताम्        | ٤         | ३८२      | शरीरकर्षेणात्प्राणाः      | ৩        | 992          |
| वैश्यस्तु कृतसंस्कारः                | \$        | ३२६      | शरीरजेः कर्मदोषैः         | 92       | \$           |
| वैश्यान जायते बाखात्                 | 90        | २३       | शरीरं चैव वाचं च          | <b>ર</b> | 999          |
| वैश्यानमागधवैदेही                    | 90        | 90       | शरः क्षत्रियया त्राह्यः   | Ę        | 88           |
| वैंड्योऽजीवन्खधर्मे                  | 90        | 90       | शर्मवद्वाद्मणस्य स्यात्   | २        | ३२           |
| वैश्वदेवस्य सिद्धस्य                 | Ę         | 83       | शस्त्रं द्विजातिभिशीत्यम् | C.       | ३४८          |
| वैश्वदेवे तु निर्श्ते                | 3         | 906      | शकासमृत्वं क्षत्रस        | 90       | ৩ৎ           |
| व्यवस्तपाणिना कार्यम्                | *         | ७२       | शाल्मलीफलके श्लक्षे       | 6        | ३९६          |
| व्यभिवारातु भर्तुः स्री              | 4         | 368      | शासनाद्वा विमोक्षाद्वा    | 6        | 398          |
| व्यभिचारातु भर्तुः स्त्री सं         | ोके ९     | ३०       | शिरोभिस्ते गृहीत्वोवीम्   | . 6      | २५६          |
| व्यभिचारेण वर्णानाम्                 | 90        | 28       | शिलानप्युञ्छतो निसम्      | . 3      | 900          |
| व्यवहारान्दिहञ्जस्तु                 | 6         | 9        | शिलोङ्सप्याददीत           |          | 993          |
| व्यसनस्य च मृत्योश्व                 | v         | 43       | शिल्पेन व्यवहारेण         | Ę        | 88           |
| <del>व</del> ्याघां रछाकु निकारगोपान | ( 6       | 360      | शिष्ट्रा वा भूमिदेवानाम्  | 99       | 63           |
| <b>म</b> तवद्देवदेवत्ये              | 2         | 968      | शुकानि च क्यायांश्व       | 99       | 243          |
| वतस्थमपि दौहित्रम्                   |           | 314      | छाचि देशं वि वेकं च       | 3        | 80€          |
| त्रालता बान्धवलागः                   |           | 69       |                           | • •      | 3,9          |
| बालातु जायते विप्रात्                | 70        | 7.9      | ग्रनिक्षप्रशुभूषुः        | \$       | 114          |

## मसुल्युतिपवासुनि

| शुक्षेद्रिप्रो दशा — श्रु   | तेरम  | युदितं  |
|-----------------------------|-------|---------|
|                             | अध्या | . શ્રો. |
| शुध्येद्विप्रो दशाहेन       | ų     | ८३      |
| शुनां च पतितानां च          | Ę     | 98      |
| शुभाशुभफलं कर्म             | 97    | . ३     |
| शुल्कस्थानं परिहरन्         | 6     | 800     |
| शुल्कस्थानेषु कुशलाः        | ۷     | ३९८     |
| ञुष्काणि भुक्तवा मांसानि    | 99    | 944     |
| ऋदं तु कारयेहास्त्रम्       | C     | ४१३     |
| श्र्वविद्धन्न विप्राणाम्    | Ċ     | 806     |
| शुद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन्  | 90    | 95.9    |
| श्रृद्रस्य तु सवर्णेव       | 8     | 940     |
| श्र्द्रां शयनमारोप्य        | 3     | 9.0     |
| शुद्राणां मासिकं कार्यम्    | ¥     | 980     |
| ग्र्वादायोगवः क्षता         | 90    | १२      |
| श्रुदायां बाह्मणाजातः       | 90    | ६४      |
| शुदावेदी पतत्यत्र           | ३     | 96      |
| राहेव भायी राहस्य           | 3     | 93      |
| श्रुहो गुप्तमगुप्तं वा      | ۵     | ३७४     |
| श्र्वो बाह्मणतामेति         | 9.0   | ξŊ      |
| शोचन्ति जामयो यत्र          | 3     | 40      |
| शोणितं यावतः पांसून्        | .8    | 388     |
| शोणितं यावतः पांस्त्नः      | 9.9   | २०७     |
| रमशानेष्वपि तेजस्वी         | 9     | 396     |
| श्रद्धानः शुभां विद्याम्    | R     | 236     |
| श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च     | ¥     | 234     |
| श्राद्धभुग्नृषलीतल्पम्      | . ३   | 5,00    |
| श्रादं सुक्तवा य उच्छिष्ट   | , 3   |         |
| आबण्यां प्रौष्ठपद्यां का    | *,    | 34      |
| श्रुतिवृत्ते विदित्वास्य    | V.    | 5       |
| श्रुतं देशं च जातिं च       | C     | २७३     |
| श्रुतिद्रैधं तु यत्र स्यात् | 3     | 38      |
| अतिरत वेदो विशेयः           | 3     | 90      |
| श्रुतिरमृत्युदितं धर्मम्    | ķ     | 344     |
| श्रुतिस्मृत्युदितं धमेम्    | 3     | 8       |

| श्रुतिरथवांगिरसीः '              | संक              | मध्वज                 |
|----------------------------------|------------------|-----------------------|
| •                                | अध्य             | ा. श् <del>ठो</del> . |
| श्रुतीरथर्वांगि <b>र</b> सीः     | 99               | ३३                    |
| श्रुत्वा स्रुष्ट्वा च दृष्ट्वा च | • 3              | 36                    |
| श्रुत्वैता रुषयो धर्मान्         | . 4              | 9                     |
| श्रेयः सु गुरुवदृत्ति नित्यमे    | व २              | २०७                   |
| श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापी        | t s              | 968                   |
| श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्ना    | ર                | 9.0                   |
| श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं      | 6                | 383                   |
| श्रोत्रियं व्याधितातौं च         | 6                | 394                   |
| श्रोत्रियस्य कदर्थस्य वदा        | ૪                | २२४                   |
| श्रोत्रियायैव देयानि हत्य        | 3.               | 926                   |
| श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिसन     | بغ               | 69                    |
| श्वकीडी इयेनजीवी च               | 3                | 9,5,8                 |
| श्वभिईतस्य यन्मांसम्             | 4                | 939                   |
| श्वमांसमिच्छन्नातों ऽत्तुं       | 90               | 908                   |
| श्ववतां शौण्डिकानां च            | ૪                | २१६                   |
| श्वस्रगालखरैर्दष्टः माम्यैः      | 99               | 255                   |
| श्वस्करखरोष्ट्राणां गोजा         | 32               | 44                    |
| श्वाविधं शल्यकं गोधाम्           | 4                | 96                    |
| <b>ष</b>                         |                  |                       |
| षदक्रमैको भवत्येषाम्             | 8,               | \$                    |
| षदत्रिंशदाब्दिकं चर्यम्          | 3                | 3                     |
| षडानुपूर्व्या विप्रस्य           | Ę                | 33                    |
| षण्णां तु कर्मणामस्य             | 90               | ws                    |
| षण्णामेषां तु सर्वेषाम्          | 35               | 6.5                   |
| षणासांदञागमांसेन                 | - <del>3</del> . | 758                   |
| षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशम्        | 3                | 958                   |
| षष्ठात्रकालता मासम्              | 9.9              | 200                   |
| ₩.                               |                  | , 14                  |
| संकरापात्रऋखासु                  | 99               | 35%                   |
| संकरे जातयस्त्वेताः              |                  | 80                    |
| संकल्पमूलः कामो वै               | ∵₹,              |                       |
| संकीर्णयोनयो ये तु               | 90               | 34                    |
| संकमध्वजयष्टीनाम्                | ·Q               | २८५                   |

| संग्रामेष्वनिवर्ति • —                             | सजाति   | नान            | स ताननुपरि — सभा                             | तः स   | गिक्षि<br>∾∽     |
|--|---|----------------|--|--------|------------------|
|  | अध्या.  | ,              | अ  | ध्या.  | <i>फो</i> .      |
| संप्रामेष्वनिवर्तित्वम्                            | v   | 66             | स ताननुपरिकामेत्                             | ৩      | 922              |
|  | 8   | 68             | स तानुवाच धर्मात्मा                          | 4      | 3                |
| संजीवनं महावीचिम्                                  | Ę   | 3              | स तानुवाच धमीत्मा                            | 92     | २                |
| संखज्य प्राम्यमाहारम्                              |   | 62             | स तैः पृष्टस्तथा सम्यक्                      | 9      | ४                |
| संधिं च विग्रहं चैव                                |   | र७६            | सित्तयां देशकाली च                           | 3      | 924              |
| संधि छित्त्वा तु ये चौर्य                          |   | ७२             | सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानम्                   | 93     | २६               |
| संधि द्विविधं विद्यात्<br>संध्यां चोपास्य राणुयात् |   | २२३            | सत्त्वं रजस्तमश्चेव त्रीन्व                  | 92     | २४               |
| संन्यस्य सर्वकर्माणि                               | Ę   | 34             | सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी                 | 6      | 69               |
| संप्राप्ताय त्वतिथये                               | ž,  | 99             | सत्यधर्मार्थयतेषु शौचे                       | 8      | 904              |
| संप्रीत्या भुज्यमानानि                             | •   | 988            | सत्यं ब्र्यात्प्रयं ब्र्यात्                 | 8      | 3 \$ 6           |
| संभवांश्च वियोनीषु                                 | 93  | ৩৩             | सत्यमर्थं च संपर्येत्                        | C      | 84               |
| संभूय खानि कर्माणि                                 | 6   | 299            | सत्यमुक्तवा तु विप्रेषु                      | 99     | 364              |
| संभोगो दश्यते यत्र                                 | 6   | २००            | सत्या न भाषा भवति                            | ¢      | 988              |
| संभोजनी साभिहिता                                   | Ę   | 989            | सत्यारृतं द्भुवाणिज्यम्                      | ¥      | Ę                |
| संमानाद्राह्मणो निलम्                              | ٠ ٦   | 982            | सखेन प्यते साक्षी                            | ٤      | ८३               |
| संमार्जनोप।अनेन                                    | ч   | 958            | संसेन शापयेद्धिप्रम्                         | 2      | 993              |
| संयोगं पतितैर्मत्वा परस्ये                         | व १२  | Éo             | स त्वप्सु तं घटं प्रास्य                     | 99     | 969              |
| संरक्षणार्थं जनत्नाम्                              | ę   | ĘC             | सदा प्रदृष्ट्या भाव्यम्                      | y<br>S | १५०<br>१६९       |
| 'सरक्ष्यमाणो राज्ञायम्                             | ঙ   | 356            | सहशं तु प्रकृशीयम्                           | ď      | १२५.             |
| संवत्सरं तु गव्येन                                 | 3   | २७१            | सहशस्त्रीषु जातानाम्                         |        |                  |
| संवत्सरं प्रतीक्षेत                                | 8   | 90             | सद्भिराचरितं यत्स्यात्                       | ٥      | ४६<br>९ <b>२</b> |
| संवत्सरस्थैकमपि                                    | ч   | २१             | सबः पतित मांसेन                              | 90     |                  |
| संवत्सराभिशस्तस्य                                  | 4   | \$ 10 \$       | सदाः प्रक्षालको वा स्यात्                    | ફ<br>ફ |                  |
| संवत्सरेण पतति                                     | 99  |                | सन्तुष्टो मार्यया मर्ता<br>सन्तोषं परमास्थाय | ٠<br>۲ |                  |
| संशोध्य त्रिविधं मार्गम                            |   | 924            |  | u      |                  |
| संसारगमनं चैव त्रिविष                              |   | 990            | सिपिण्डता तु पुरुषे                          | u      | -                |
| संस्थितसानपरास्य सर                                | ।।त्रा ५  | 999            | 0  | ¥      |                  |
| संहतान्योधयेदल्पान्                                |   | ; 349<br>; 349 | 2  |        | 994              |
| सकामां दूषयंस्तुल्यः<br>सक्रजस्वास्यवामीयम्        |   |                | 1 1  | •      | 3 254            |
| सक्रवंशो निपतति                                    | ing to the second of the seco | ( '8'          |  |        | . 454            |
| स चेतु पथि संरदः                                   | 14 July 18  | ८ २९           | ५ समझाचारिण्येकाहम्                          |        | 49               |
| सन्मतिज्ञानन्तरजाः                                 |   |                |  | न्     |                  |
|  |   | *              |  | ,      |                  |

## मनुस्मृतिपद्यार् क्रमः

| सर्वे वापि चरेद्रामम् । २ १८५ सर्वोपायस्तथा कुर्यात् ७ १७७<br>सर्वे वा दिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वेगाः षद यवो मध्यः ८ १३४   | सभाप्रपापुपशालाः — स    | वि परवशं    | सर्वभूतेषु चात्मा ∸ ।    | प विद्यादस्य     |
|--|-------------------------|-------------|--------------------------|------------------|
| सभां वा न प्रवेष्ट्यम् ८ १३ सर्वमात्मिन संपर्येत् १२ ११८ समसदर्शनात्माह्यम् ८ ७४ सर्व लक्षणहीनोऽपि ४ १५८ समवणीष्ठ ये जाताः ५ १५६ सर्ववणेषु चुल्याष्ठ १० ५ सर्ववणामि चेत्र १० ५ १० सर्ववणामि चेत्र १० १० सर्ववणामि चेत्र १० ५ १० सर्ववणामि चेत्र १० १० सर्ववणामि च्राच्या १० १० १० सर्ववणामि व्राच्या १० १० सर्ववणामि व्राच्या १० १० सर्ववणामि व्राच्या १० १० १० सर्ववणामि  | ચ                       | घ्या. श्लो. | `                        | अध्या. श्ली.     |
| सभां वा न प्रवेष्ट्यम् ८ १३ सर्वमात्मिन संपर्येत् १२ ११८ समसदर्शनात्माह्यम् ८ ७४ सर्व लक्षणहीनोऽपि ४ १५८ समवणीष्ठ ये जाताः ५ १५६ सर्ववणेषु चुल्याष्ठ १० ५ सर्ववणामि चेत्र १० ५ १० सर्ववणामि चेत्र १० १० सर्ववणामि चेत्र १० ५ १० सर्ववणामि चेत्र १० १० सर्ववणामि च्राच्या १० १० १० सर्ववणामि व्राच्या १० १० सर्ववणामि व्राच्या १० १० सर्ववणामि व्राच्या १० १० १० सर्ववणामि  | सभाप्रपापूपशालाः        | ९ २६४       | सर्वभूतेषु चात्मानम्     | 92 89            |
| समसवर्शनात्साक्ष्यम् ८ ०४ सवं त्रक्षणहीनोऽपि ४ १५८ समवर्णाष्ठ ये जाताः ५ १५६ सवं वर्षणहीनोऽपि ४ १५८ सवं वर्षणहोनोऽपि १ ८७ सवं वर्षणहोनोऽपि १ ८० सवं वर्षणहोनोऽपि १ ८० सवं वर्षणहोनोऽपि १ ८० सवं वर्षणहोन १ ८० सवं वर्  | सभां वा न प्रवेष्टव्यम् | ८ १३        |                          | '9 <b>२</b> '99८ |
| सममजाह्मणे दानम् ७ ८५ सर्व लक्षणहीनोऽपि ४ १५८ समवर्णास्र ये जाताः ९ १५६ समवर्णे हिजातीनाम् ८ २६९ सर्वस्थास्य तु सर्गस्य १ ८७ समहीमिखलां भुजन् ९ ६७ समान्यानकर्मा च ७ १६३ समाह्स्य तु तद्भेक्षम् १ ५० सर्वस्थान् १ १० ६३ सम्बद्ध्ये त् मासस्य ५ ४९ सम्बद्ध्ये त् मासस्य ५ ४९ समुत्याति च मासस्य ५ ४९ सम्बद्ध्यानम् १ १० ८६ सम्बद्ध्यानम् १ १ ८८२ सम्बद्ध्यानम् १ १ ८८२ सम्बद्ध्यानम् १ १ ८८० समोत्त्राम्यमे राजा ७ ८७ सम्बद्ध्यानम् १ १ ८० सर्वेषां ज्ञात्वानाम् १ १ ६२ सर्वेषां त्रात्वानाम् १ १ ६२ सर्वेषां त्रात्वानाम् १ १ १९ सर्वेषां त्रात्वानाम् १ १ १९ सर्वेषां त्रात्वानाम् १ १ १९ सर्वेषां व्यव्यानम् १ १ १० सर्वेषां व्यव्यानम् १ १ १० सर्वेषां व्यव्यानम् १ १ १० सर्वेषां व्यव्याम् १ १ १० सर्वेषां व्यव्यामम् १ १ १० सर्वेषां व्यव्यामम् १ १ १० सर्वेषां व्यव्यामम् १ १ १० सर्वेषामि वेषां मुख्याः ८ १० सर्वेषां व्यव्यामम् १ १ १० सर्वेषामि वोषाम् १ १ १० सर्वेषामि वोषामि वोषाम् १ १ १० सर्वेषामि वोषामि वोषामि १ १ १० सर्वेषामि वोषामि वोषामि १ १ १० सर्वेषामि वोषामि १ १ १ १० सर्वेषामि वोषामि १ १ १ १० सर्वेषामि वोषामि १ १ १ १ १ सर्वेषामि वोषामि १ १ १ १ १ सर्वेषामि वोषामि १ १ १ १ १ १ सर्वेषामि वोषामि १ १ १ १ १ सर्वेषामि वोषामि १ १ १ १ १ सर्वेषामि वोषामि १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ १ १ १ सर्वेषामि १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १  | समक्षदर्शनात्साक्ष्यम्  | 80 3        |                          | . 99 ×           |
| समवर्णी से जाताः ९ १५६ समवर्णे द्विजातीनाम् ८ २६९ स महीमखिलां भुजन ९ ६७ समानयानकर्मा च ७ १६३ समाहत्य तु तद्वेक्षम् २ ५१ समीह्य स घृतः सम्यक् ७ १९ समुत्याति च मांसस्य ७ १९ समुत्याति च मांसस्य ५ १९ समुत्याति च मांसस्य ५ १९० समेतिमाधमे राजा ७ ८७ समोत्तमाधमे राजा ७ ८७ सम्यद्विवष्टदेशस्तु ९ २५२ सम्यद्विवष्टदेशस्तु ९ २५२ सम्यद्विवष्टदेशस्तु ९ २५२ सम्यद्विवष्टदेशस्तु ९ १५२ सर्वेषां त्विविष्टिणे १९०२ सर्वेषां प्रत्वां द्वापा १९०२० सर्वेषां त्विविष्टिणे १९०२ सर्वेषां प्रत्वां द्वापा १९०२० सर्वेषां त्विविष्टिणे १९०२ सर्वेषां प्रत्वां व्वापा १९०२० सर्वेषां प्रत्वां द्वापा १९०२० सर्वेषां प्रत्वां त्वापा १९०२० सर्वेषां प्रत्वां द्वापा १९०२० सर्वेषां प्रत्वां प्रत्वां १९०२० सर्वेषां प्रत्वां द्वापा १९०२०  |                         | . ७ ८५      |                          | -<br>४ १५८       |
| समर्वणे द्विजातीनाम् ८ २६९ स महीमखिलां भुजन् ९ ६७ समानयानकर्मा च ७ १६३ समाह्र त तद्वेक्षम् २ ५१ समीह्र त घृतः सम्यक् ७ १९ समीह्र त घृतः सम्यक् ७ १९ समुत्यातं च मांसस्य ५ ४९ समुत्यातं च मांसस्य ५ ४९ समेत्वं वित्यादता घर्माः १ १०९ सम्यक्तात्रमाणे ९ २८२ समेत्वं वित्यादता घर्माः १ १०९ समुत्यानकुश्वलाः ८ १५७ समेत्वं वित्यां वस्तु ९ २८७ समेत्वं वित्यां वस्तु १ १९० समयक्वं विद्यां वस्तु १ १९० समयक्वं विद्यां वस्तु १ १९० समयक्वं विद्यां वस्तु १ १९० सर्वां त्वां त्वां त्वां त्वां व्याः १ १९० सर्वं त्वां त्वां त्वां त्वां व्याः १ १९० सर्वं त्वां त्वां वित्यां १ १९० सर्वं त्वां त्वां वित्यां १ १९० सर्वं त्वां त्वां व्याः १ १९० सर्वं त्वां त्वां वस्त्वां व्याः १ १९० सर्वं त्वां त्वां वस्तु । १०१० सर्वं त्वां वस्तु सम्यः १ १९० सर्वं त्वां वस्तु सम्यः १ १९० सर्वं वां वस्त्वां त्वां वस्तु । १९० सर्वं वां वस्त्वां त्वां वस्तु । १९० सर्वं वां वस्त्वां त्वां वस्तु । १९० सर्वं वां वस्त्वां वस्तु । १९०० सर्वं वां वस्तु वस्तु वस्तु । १९०० सर्वं वां वस्तु वस्तु । १९०० सर्वं वां वस्तु वस्तु वस्तु । १९०० सर्वं वां  |                         | ९ १५६       |                          | -                |
| स महीमखिलां भुजन   |                         |             |                          | -                |
| समानयानकर्मा च ७ १६३ साहरण तु तद्भक्षम् २ ५१ साहरण तु तद्भक्षम् ५ ५९ साहरण तु तद्भक्षम् ५ ५९ साहरण तु तद्भक्षम् ५ ५९ साहरण तु प्रयत्नेन ५ ५० साहरण तु प्रयत्ने साहरण तु तत्न ५ ५० साहरण तु साहरण तु तत्न ५ ५० साहरण तु तत्ने साहरण तु तत्न ५ ५० साहरण तृ प्रयत्ने साहरण तु तत्न ५ ५० साहरण तु तत्ने साहरण तु तत्न ५ ५० साहरण त्र प्रयत्ने साहरण तु तत्न ५ ५० साहरण तु त्र त्व साहरण तु तत्न ५ ५० साहरण तु त्र त्व साहरण तु तत्न ५ ५० साहरण तु त्व साहरण तु                    |                         |             |                          |                  |
| समाहस्य तु तद्वेक्षम् २ ५१ स्वीन् रसानपोहेत १० ८६ समीक्ष्य स धृतः सम्यक् ७ १९ स्वीम् रसानपोहेत १० ८६ समुत्पातिं च मांसस्य ५ ४९ सर्वेण तु प्रयत्नेन ७ ७१ सर्वेषां व्रस्ता धर्माः २ २३४ सर्वेषां व्रस्ता वर्माः २ २३४ सर्वेषां व्रस्ता वर्माः २ २३४ सर्वेषां व्रसामानी १० २० सर्वेषां व्रसामानी १० २० सर्वेषां व्रसामानी १० २० सर्वेषां व्रसामानी १० २० सर्वेषां व्रतिष्ठिष्टेवास्त १० १८ सर्वेषां प्रमानानाम् १० १०४ सर्वेषां व्रतिष्ठिष्टेवास्त १० १०४ सर्वेषामिषि चैतेषां १२ ८४ सर्वेषां व्रतिष्ठिष्टेवास्त १० १०४ सर्वेषामिषि चैतेषां १२ ८४ सर्वेषामिषि चैतेषां १२ ८४ सर्वेषामिषि चेतेषां १२ ८४ सर्वेषामिषि चेतेषां १२ ८४ सर्वेषामिषि चेतेषाम् १० १०० सर्वेषा धर्मषद्भागः १८ २०४ सर्वेषामिषि चेतेषाम् १० १०० सर्वेषामिष्टेवानाम् १० १०६ सर्वेषामिष्टेवानाम् १० १०६ सर्वेषापि चरेद्रामम् १० १८५ सर्वेषाचेवानाम् १० १०६ सर्वेषा प्रस्वेषा क्रयोत् १० १०५ सर्वेषा प्रस्वेषा क्रयोत् १२ १२४ सर्वेषा प्रस्वेषा क्रयोत् १२४ सर्वेषा प्रस्वेषा क्रयोत् १२४ सर्वेषा प्रद्वा मध्यः १२३४ सर्वेषा प्रद्वा मध्यः १२३४ सर्वेषा प्रद्वा मध्यः १३३४ सर्वेषा प्रद्वा मध्यः १२३४ सर्वेषा प्रद्वा मध्यः १२४४ सर्वेषा प्रद्वा प्रद्वा प्रद्वा प्रद्वा प्रद्वा प्रद्वा प्रद्वा प्रद्व |                         |             | सर्वाकरेष्वधीकारः        | ११ ६३            |
| समीक्ष्य स घृतः सम्यक् ७ १९ समुत्पतिं च मांसस्य ५ ४९ समुद्र्यानकुराजमार्गे ९ २८२ समुद्र्यानकुराजः ८ १५७ समीहिं विषमं वस्तु ९ २८७ समीत्तामाधमे राजा ७ ८७ समीत्तामाधमे राजा ७ ८७ समेहिं विषमं वस्तु ९ २५२ समें विष्मं वस्तु ९ २५२ समें वा प्रविच्येत ८ १८३ सर्वतीहषद्वराः १ १७३ सर्वता पुरुषो दण्डः ७ १९ सर्व प्व विकमस्थाः ९ २१४ सर्व पव विकमस्थाः ९ २१४ सर्व च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्व च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्व ता प्रविच्द्वाम् १ १०० सर्व ता प्रविच्द्वाम् १ १०० सर्व ता प्रविच्द्वाम् १ १०० सर्व ता स्वतः प्रतिग्रह्णीयात् १० १०२ सर्व ता सम्ववः दुःखम् १ ४ १६० सर्व वा पि चरेद्वामम् १ २ १०५ सर्व वा पि चरेद्वामम् १ १ १०५ सर्व वा पि चरेद्वामम् १ २ १०५ सर्व वा पिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्व वा पिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्व वा प्रव्यात् १ १ १०५  |                         |             | सर्वान्परित्यजेदर्थान्   | ४ १७             |
| समुत्पतिं च मांसस्य ५ ४९ सर्वेण तु प्रयत्नेन ७ ७१ समुत्पातिं च मांसस्य ५ ४९ सर्वेण तु प्रयत्नेन ७ ७१ समुद्रियानकुरुकाः ८ १५७ सर्वेषां व्राव्यात् १० २ सर्वेषां व्राव्यात् १० १० सर्वेषामपि चेतेषां १२ ८७ सर्वेषामपि चेतेषां १२ ८७ सर्वेषामपि चेतेषां १२ ८७ सर्वेषामपि चेतेषां १० १०० सर्वेषामपि चेतेषां १० १०० सर्वेषामपि चेतेषाः १० १०० सर्वेषा सर्वेषामप्याते तत् १० १०० सर्वेषा द्राव्या क्रयीत् १० १०० सर्वेषा क्रयात् १० १०० सर्वेषा क्रयात् १० १०० सर्वेषा क्रयात् १० १०० सर्वेषाः १००० सर्वेषाः १००० सर्वेषाः १००० सर्वेषाः १००० सर्वेषाः १०००० सर्वेषाः १०००० सर्वेषाः १०००० सर्वेषाः १०००० सर्वेषाः १०००० सर्वेषाः १०००० सर्वेषाः १००००० सर्वेषाः १०००००० सर्वेषाः १००००००००००००००००००००००००००००००००००००  |                         |             | सर्वान् रसानपोहेत        | १० ८६            |
| समुद्रयानकुशलाः ८१५७ सर्वे तस्याद्दता वर्माः १२३४ समुद्रयानकुशलाः ८१५७ सर्वेऽपि क्रमशस्त्रवेते ६८८ समिद्रिं विषमं वस्तु ९२८७ सर्वेषां ब्रावमाशीचम् ५६२ सर्वेषां द्वावमाशीचम् ५२०२ सर्वेषां द्वावमाशीचम् ५२०२ सर्वेषां द्वावमाशीचम् ५२०२ सर्वेषां द्वावमाशीचम् ५२०२ सर्वेषां प्वववमायत्तम् ५२०४ सर्वेषामपि चैतेषां १२८५ सर्वेषामपि चैतेषां १२८५ सर्वेषामपि चैतेषां १२८५ सर्वेषामपि चैतेषां १२८५ सर्वेषामपि चैतेषां १८८५ सर्वेषामपि चैतेषाम् ६८९ सर्वेषामपि चैतेषाम् १८९६ सर्वेषामपि चौतेषाम् १८९६ सर्वेषामपि चौतेषाम् १८९६ सर्वेषामचिनो मुख्याः ८२९० सर्वेषामविनो मुख्याः ८२९० सर्वेषामविनो मुख्याः ८२९० सर्वेषामेव शौचानाम् ५९६६ सर्वेषामेव शौचानाम् ६९६६ सर्वेषामेव सर्वेषामेव सर्वेषामेव सर्वेषामेव सर्वेषामेव सर्वेषामेव सर्वेषामेव सर्वेषामेव सर्वेषामेव  | ·                       | ७ १९        | सर्वासामेकपत्नीनाम्      | ९ १८३            |
| समेहिं विषमं वस्तु ९ २८७ समेहिं विषमं वस्तु ९ २८७ समोसिमाधमे राजा ७ ८७ सर्वेषां ज्ञासमाशीनम् ५ ६२ सम्यग्दर्शनसंपन्नः ६ ०४ सर्वेषां ज्ञासमाशीनम् ५ ६२ सम्यादर्शनसंपन्नः ६ ०४ सर्वेषां ज्ञासमाशीनम् ५ ६२ सम्याद्शिवष्टदेशस्तु ९ २५२ सर्वेषां त्राहिष्ट्रवेशस्तु ९ २५२ सर्वेषां प्रतिपयेत ८ १८३ सर्वेषां त्राहिष्ट्रवेशस्तु ९ १५३ सरस्वतीद्ष्यद्वयोः २ १७ सर्वेषां प्रनजातानाम् ९ ११४ सर्वे प्रविकर्मस्थाः ९ २१४ सर्वेषामिष नैतेषां १२ ८५ सर्वे प्रविकर्मस्थाः ९ २१४ सर्वेषामिष नैतेषां १२ ८५ सर्वे च तान्तवं रक्तम् १० ८० सर्वेषामिष नैतेषाम् ६ ८९ सर्वे च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्वेषामपि नैतेषाम् ६ ८९ सर्वे च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्वेषामपि नैतेषाम् ६ ८९ सर्वे च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्वेषामपि नैतेषाम् ६ ८९ सर्वे च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्वेषामपि नैतेषाम् १ २०२ सर्वे च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्वेषामपि नेतेषाम् १ २०२ सर्वे च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्वेषामपि नेतेषाम् ४ २३३ सर्वे ता समवेक्ष्येदम् २ ८ सर्वेषामेव शोचानाम् ५ १०६ सर्वे वापि चरेद्रामम् २ १८५ सर्वेषायेस्तथा क्रयांत ७ १७७ सर्वे वा दिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वे वा दिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वे वा दिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वे का द्वारामसेदम् १ १ १०० सर्वेषाः द्वारामम् ३ १२   | समुत्पतिं च मांसस्य     | ५ ४९        | सर्वेण तु प्रयत्नेन      | ७ ७१             |
| समेहिं विषमं वस्तु ९ २८७ समोलमाधमे राजा ७ ८७ समोलमाधमे राजा ७ ८७ सम्याद्र्शनसंपन्नः ६ ०४ सम्याद्र्शनसंपन्नः ६ ०४ सम्याद्र्शनसंपन्नः ६ ०४ सम्याद्र्विष्ट्रदेशस्तु ९ २५२ सर्वेषां तु विशिष्टेन ७ ५८ सर्वेषां त्रातेषाम् ९ १९४ सर्वेषां प्रविषां १९८५ सर्वेषां प्रविषां १९८५ सर्वेषां प्रविषां १९८५ सर्वेषां तिलसंबद्धम् १ ७५० सर्वेषां तिलसंबद्धम् १ १६० सर्वेषां त्रात्तां तित् ९ १५२ सर्वेषां प्रविष्टेषां कुर्यात् ७ १०६ सर्वेषां तिलसंबां तित् ९ १५२ सर्वेषां प्रविष्टेषां कुर्यात् ७ १०५   | समुत्सजेदाजमार्गे       | ९ २८२       |                          | २ २३४            |
| समीलमाधमे राजा ७ ८७ सर्वेषां शावमाशौचम् ५ ६२ सम्याद्रश्नित्यं स्वः ६ ०४ सर्वेषां तु स्वामानि १ २१ सर्वेषां तु विशिष्टेन ७ ५८ सर्वेषां तृ विशिष्टेन ७ ५८ सर्वेषां तृ विशिष्टेन ७ १८ सर्वेषां प्रविष्टेषां १२ ८५ सर्वेषां प्रविष्टेषां १२ ८५ सर्वेषां प्रविष्टेषां १२ ८५ सर्वेषां प्रविष्टेषां १२ ८५ सर्वेषां तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्वेषां प्रविष्टेषां १ १८८ सर्वेषां प्रविष्टेषां १० १०२ सर्वेषां मुख्याः ८ २१० सर्वेषां प्रविष्टेषां सर्वेषां स्वेषां स्वर्धां स्वर्धां स्वर्धां स्वर्धां स्वर्धां स्वर्धां सर्वेषां स्वर्धां सर्वेषां सर्वेषा  | समुद्रयानकुशलाः         | ८ १५७       | सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते   | \$ 66            |
| सम्याद्श्वेनसंपन्नः ६ ७४ सर्वेषां तु स नामानि १ २१ सम्याद्विष्टिदेशस्तु ९ २५२ सर्वेषां तु विशिष्टेन ७ ५८ सर्वेषां तु विशिष्टेन ७ १९ सर्वेषां ति नेतेषां १२ ८५ सर्वेषामि नैतेषां १२ ८५ सर्वेषामि नैतेषां १२ ८५ सर्वेषामि नैतेषां १२ ८५ सर्वेषामि नैतेषां १२ ८५ सर्वेषामि तु न्याय्यम् ९ २०२ सर्वेषामि सर्वेषामि तु न्याय्यम् ९ २०२ सर्वेषामि श्रीचानाम् ४ २३३ सर्वेषामे त्राचानाम् ५ १०६ सर्वेषामे त्राचानाम् ५ १०६ सर्वेषामे त्राचानाम् ५ १०६ सर्वेषामे त्राचानाम् ५ १०५ सर्वेषामे त्राचानाम् ५ १०५ सर्वेषा प्रस्त्रा कुर्यात् ७ १०५ सर्वेषा प्रस्त्रा कुर्यात् ५ १०५ सर्वेषा प्रस्त्रा कुर्यात् ५ १०५ सर्वेषा प्रस्त्रा कुर्यात् ५ १३४ सर्वेषा प्रस्त्रा क्रात्वानाम् १ १२४   | A billion               | ९ २८७       | 1                        |                  |
| सम्यिद्धिविष्टदेशस्तु ९ २५२ सर्वेषां तु विशिष्टेन ७ ५८ सर्वेषां तु विशिष्टेन ७ ५८ सर्वेषां तु विशिष्टेन ७ ५८ सर्वेषां तु विदित्वेषाम् ७ २०२ सर्वेषां व्यव्यातानाम् ९ ११४ सर्वेषां प्रविषां वित्यां १२ ८५ सर्वेषां प्रविषां १२ ८५ सर्वेषां प्रविष्टं रक्तम् १० ८० सर्वेषां प्रविष्टं रक्तम् १० ८० सर्वेषां प्रविष्टं प  | समोत्तमाधमै राजा        | 0 20        | सर्वेषां शावमाशौचम्      | ५ ६२             |
| स यदि प्रतिपद्येत ८ १८३ सर्वेषां तु विदित्वैषाम् ७ २०२ सर्वेषां प्रकातिहषद्वर्धोः २ १७ सर्वेषां प्रनजातानाम् ९ १९४ सर्वेषामि चैतेषां १२ ८५ सर्वे प्रव विकर्मस्थाः ९ २९४ सर्वेषामि चैतेषां १२ ८४ सर्वे क्षां च तान्तवं रक्तम् १० ८७ सर्वेषामि चैतेषां १२ ८५ सर्वे च तान्तवं रक्तम् १० ८७ सर्वेषामि तु न्याय्यम् ९ २०२ सर्वेषामि वृ न्याय्यम् ९ २०२ सर्वेषामि तु न्याय्यम् ९ २०२ सर्वेषामि वृ न्याय्यम् १ २०४ सर्वेषामि वृ न्याय्यम् १ २०६ सर्वेषामे वृ वृ व्यवेषाम् १ २०६ सर्वेषामे वृ वृ व्यवेषाम् १ २०६ सर्वेषामे वृ वृ व्यवेषामे १ १०० सर्वेषामे वृ वृ व्यवेषामे १ १००६ सर्वेषामे १ १००६ सर्वेषामे वृ वृ व्यवेषामे १ १००६ सर्वेषामे १ १ १००६ सर्वेषामे १ १ १००६ सर्वेषामे १ १००६ सर्वेषामे १ १ १००६ सर्वेषामे १ १ १००६ सर्  |                         | ६ ७४        | सर्वेषां तु स नामानि     | ं १ ूर१          |
| सरस्रतीदृषदृत्योः २ १७ सर्वेषां घनजातानाम् ९ ११४ सर्वेषा पृष्ठ्यो दण्डः ७ १९ सर्वेषामि चैतेषां १२ ८५ सर्वे पृष्ठ विकर्मस्थाः ९ २१४ सर्वेषामि चैतेषां १२ ८४ सर्वे च तान्तवं रक्तम् १० ८० सर्वेषामि चैतेषाम् ६ ८९ सर्वे च तान्तवं रक्तम् १० ८० सर्वेषामि जुन्याय्यम् ९ २०२ सर्वेषामि इतेषाम् ९ १८८ सर्वेताः प्रतिगृह्णीयात् १० १०२ सर्वेषामि इतेषाम् १ १०० सर्वेषामे व दानानाम् १ १०६ सर्वे प्रत्यशं दुःखम् १ १०० सर्वेषामे व द्यानामम् १ १०६ सर्वेषामे व द्यानामम् १ १०६ सर्वेषामे व द्यानामम् १ १०६ सर्वेषामे व द्यानामम् १ १०० सर्वेषामे १ १०० सर्वेषामे द्यानामम् १ १०० सर्वेषामे १ १०० स  | सम्यद्विवष्टदेशस्तु     | ९ २५२       |                          | ७ ५८             |
| स राजा पुरुषो दण्डः ७ १९ सर्व एव विकर्मस्थाः ९ २१४ सर्व एव विकर्मस्थाः ९ २१४ सर्व कर्मेदमायत्तम् ७ २०५ सर्व च तान्तवं रक्तम् १० ८० सर्व च तान्तवं रक्तम् १० ८० सर्व च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्व ता प्रतिग्रह्णीयात् १० १०२ सर्वता धर्मषङ्भागः १८ २०४ सर्व ता सम्वेद्धम् २ ८ सर्वेषामि व तोचानाम् ४ २३३ सर्व ता प्रतिग्रह्णामम् १ १६० सर्व वापि चरेद्धामम् १ १८५ सर्व वा स्विध्यातं तत् ९ १५२ सर्व वा स्विध्यातं तत् ९ १५२ सर्व स्व क्षाह्मणस्रेदम् १ १०० सर्व वा स्विध्यातं तत् ९ १५२ सर्व स्व क्षाह्मणस्रेदम् १ १०० सर्व वा स्विध्यातं तत् ९ १५२ सर्व क्षाह्मणस्रेदम् १ १००   | स यदि प्रतिपचेत         | 6.963       | सर्वेषां तु विदित्वैषाम् | ७ २०३            |
| सर्व एव विकर्मस्थाः ९ २१४ सर्वेषामि वैतेषां १२ ८४ सर्वे कर्मेदमायत्तम् ७ २०५ सर्वेषामि वैतेषाम् ६ ८९ सर्वे च तान्तवं रक्तम् १० ८७ सर्वेषामि तु न्याय्यम् ९ २०२ सर्वेषामि तु न्याय्यम् ९ १०० सर्वेषामि तु न्याय्यम् १ १०० सर्वेषामि तु न्याय्यम् ९ १०० सर्वेषामि त्योषा तु स्वेषामि त्योषा तु स्वेषामि त्यायम् १ १०० सर्वेषामि त्यायम् १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १  | सरस्रतीदषद्वर्योः       | २ १७        | 1 . *                    | 8 998            |
| सर्व कमेंद्रमायत्तम् ७ २०५ सर्वेषामि चैतेषाम् ६ ८९ सर्वे च तान्तवं रक्तम् १० ८७ सर्वेषामि तु न्याय्यम् ९ २०२ सर्वेषामि चितेषाम् ९ २०२ सर्वेषामि चितेषाम् ९ २०२ सर्वेषामि चितेषाम् ९ २०२ सर्वेषामि चितेषाम् ९ १८८ सर्वेषामि चितेषाम् १ १८८ सर्वेषामि च दानानाम् १ १२६ सर्वेषामे व दानानाम् १ १०६ सर्वेषामे व १०६ सर्वेषामे व दानानाम् १ १०६ सर्वेषामे व १०६ सर्वेषामे व दानानाम् १ १०६ सर्वेषामे व १०६ सर्वेषामे व दानानामे १ १०६ सर्वेषामे व १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १  | स राजा पुरुषो दण्डः     | ७ १९        | 1 .                      | १२ ८५            |
| सर्वे च तान्तवं रक्तम् १० ८७ सर्वेषामिप तु न्याय्यम् ९ २०२ सर्वे च तिलसंबद्धम् ४ ७५ सर्वेषामप्यभावे तु ९ १८८ सर्वेतः प्रतिग्रह्णीयात् १० १०२ सर्वेषामर्थिनो मुख्याः ८ २१० सर्वेतो धर्मषङ्भागः १८ ३०४ सर्वेषामेव दानानाम् ४ २३३ सर्वे तु समवेक्ष्येदम् २ ८ सर्वेषामेव शौचानाम् ५ १०६ सर्वे परवशं दुःखम् १ ४ १६० सर्वेषामेव शौचानाम् ५ १०६ सर्वे वापि चरेद्रामम् १ २८५ सर्वेषायेस्तथा कुर्यात् ७ १७७ सर्वे वा फिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वेषाः षद यवो मध्यः ८ १३४ सर्वे सं का ह्माणसेदम् १ १०० सर्वणीये द्विजातीनाम् ३ १२  | सर्व एव विकर्मस्थाः     | े ९ २१४     | 1 -                      | 92 68            |
| सर्वे च तिलसंबद्धम् ४ ०५ सर्वेषामप्यभावे तु ९ १८८ सर्वेतः प्रतिगृह्णीयात् १० १०२ सर्वेषामधिनो सुख्याः ८ २१० सर्वेषा धर्मषङ्भागः १८ ३०४ सर्वेषामेव दानानाम् ४ २३३ सर्वे तु समवेक्ष्येदम् २ ८ सर्वेषामेव शौचानाम् ५ १०६ सर्वे परवशं दुःखम् ५ ४ १६० सर्वेषामेव शौचानाम् ५ १०६ सर्वे वापि चरेद्रामम् १ २ १८५ सर्वेषायेस्तथा कुर्यात् ७ १७७ सर्वे वा फिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वेषाः षद यवो मध्यः ८ १३४ सर्वे सं का ह्मणसेदम् १ १०० सर्वणीये द्विजातीनाम् ३ १२   | सर्वं कर्नेदमायत्तम्    | ७ २०५       | सर्वेषामपि चैतेषाम्      | ६८९              |
| सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् १० १०२ सर्वेषामर्थिनो मुख्याः ८ २१० सर्वेतो धर्मषङ्भागः १८ ३०४ सर्वेषामेव दानानाम् ४ २३३ सर्वे तु समवेक्ष्येदम् २ ८ सर्वेषामेव शौचानाम् ५ १०६ सर्वे परवशं दुःखम् ५ ४ १६० सर्वे वापि चरेद्रामम् १ २ १८५ सर्वे पा दिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वेषाः षद यवो मन्यः ८ १३४ सर्वे स्वं ब्राह्मणस्रेदम् १ १०० सर्वणां दिजातीनाम् ३ १२  | सर्वे च तान्तवं रक्तम्  | 90 60       | ,                        | ९ २०२            |
| सर्वतो धर्मषद्भागः   | सर्वे च तिलसंबद्धम्     | ४ ँ ७५      | सर्वेषामप्यभावे तु       | 9 966            |
| सर्वं तु समवेक्ष्येदम् २ ८ सर्वेषामेव शौचानाम् ५ १०६ सर्वं परवशं दुःखम् ६ ४ १६० सर्वे दण्डिजतो लोकः ७ २२ सर्वे वापि चरेद्रामम् १ २ १८५ सर्वे पायैस्तथा कुर्यात् ७ १७७ सर्वे वा रिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वेषाः षद यवो मध्यः ८ १३४ सर्वे सं आह्मणस्पेदम् १ १०० सर्वणीये द्विजातीनाम् ३ १२  | सर्वतः प्रतिगृहीयात्    | १० १०२      | सर्वेषामर्थिनो मुख्याः   | ८ २१०            |
| सर्वे परवशं दुःखम् ६ ४ १६० सर्वो दण्डजितो लोकः ७ २२ सर्वे वापि चरेद्रामम् । २ १८५ सर्वेपायैस्तथा कुर्यात् ७ १७७ सर्वे वा दिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वेपाः षद यवो मध्यः ८ १३४ सर्वे सं झाझाणस्पेदम् १ १०० सर्वणीये द्विजातीनाम् ३ १२  | सर्वतो धर्मषड्भागः      | * ८ ३०४     | 1                        |                  |
| सर्वे वापि चरेद्रामम् । २ १८५ सर्वे पायैस्तथा क्रुर्यात् ७ १७७<br>सर्वे वा रिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वेषाः षद यवो मध्यः ८ १३४<br>सर्वे स्वं ब्राह्मणस्पेदम् १ १०० सर्वणित्रे द्विजातीनाम् ३ १२  | सर्वं तु समवेक्ष्येदम्  | २ ८         | 1                        | ५ १०६            |
| सर्वे वा फिक्थजातं तत् ९ १५२ सर्वपाः षद यवो मध्यः ८ १३४ सर्वे स्वं ब्राह्मणस्येदम् १ १०० सर्वणीत्रे द्विजातीनाम् ३ १२  |                         | ४ १६०       |                          | ७ २२             |
| सर्वं सं ब्राह्मणस्पेदम् १ १०० सवर्णाघे द्विजातीनाम् ३ १२  |                         |             | 1                        |                  |
|  | सर्वे वा रिक्थजातं तत्  | ९ १५२       |                          |                  |
| सर्वेकण्टकपापिष्ठम् ९ २९२ । स विद्यादस्य कृत्येषु  | ,                       | 9 900       | 1                        |                  |
|  | सर्वेकण्टकपापिष्ठम्     | ९ २९२       | । स विद्यादस्य कृत्येषु  | ७ इंड            |

| सम्याहतिप्रणवकाः —          | श्रीमा | साइसं वर्तमानं — सोम | पास्                        | क्वेः |         |
|-----------------------------|--------|----------------------|-----------------------------|-------|---------|
|                             |        | , झो.                | (                           | अध्या | . શ્કો. |
| सव्याहतिप्रणवकाः            | 99     | २४८                  | साहसे वर्तमानं तु           | c     | ३४६     |
| स सन्धार्यः प्रयत्नेन       | ş      | ७९                   | साहसेषु च सर्वेषु           | 4     | ७२      |
| सस्यान्ते नवसस्येख्या       | ४      | २६                   | सीताद्रव्यापहरते            | ٩.    | 233     |
| सहपिण्डिकयायां तु           | 3      | २४८                  | सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिः    | 90    | 9 9-3   |
| सह वापि व्रजेद्युक्तः       | ও      | २०७                  | सीमां प्रति समुत्पने        | 6     | 384     |
| सह सर्वाः समुत्पन्नः        | ও      | २१४                  | सीमायामविषद्यायाम्          | ٤     | २६५     |
| सहस्रं हि सहस्राणाम्        | 3      | 939                  | सीमाविवादधर्मेश्व           | ۵     | Ę       |
| सहस्रऋत्वस्त्वभ्यस्य        | 3      | ७९                   | सीमावृक्षांश्व कुर्वीत      | C     | २४६     |
| सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यः    | 6      | ३७८                  | सुखं ह्यवमतः शेते           | 3     | 363     |
| सहस्रं ब्राह्मणो दञ्चम्     | 6      | ३८३                  | सुखाभ्युदयिकं चैव           | 93    | 66      |
| सहासनमभिष्रेप्सुः           | 6      | २८१                  | सुप्तां मतां प्रमतां वा     | \$    | 38      |
| सहोभौ चरतां धर्मम्          | 3      | ३०                   | सुरवा खुत्वा च भुक्तवा च    | 4     | 384     |
| सांतानिकं वक्ष्यमाणम्       | 99     | 9                    | सुवीजं चैव सुक्षेत्रे       | 90    | ĘS      |
| सांवत्सरिकमाप्तैश्व         | •      | 60                   | सुरां पीत्वा द्विजो मोहात्  | 99    | . 80    |
| साक्षिणः सन्ति नेत्युक्तवाः | ¢      | 40                   | सुरा वै मलमन्तानाम्         | 99    | ५३      |
| साक्षिप्रश्नविधानं च        | 9      | 994                  | सुवर्णचौरः कौनख्यम्         | 99    | ४९      |
| साक्षी दष्टश्चतादन्यत्      | 6      | uk                   | सुवर्णस्तेयकृद्धिप्रः       | 99    | 88      |
| साक्यभावे तु चत्वारः        | 4      | २५८                  | सुवासिनीः कुमारीश्व         | ş     | 998     |
| साक्ष्यभावे प्रणिधिभिः      | 6      | १८२                  | सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत     | ξ     | £4      |
| साक्षेऽनृतं वदन्पारीः       | ૮      | ८२                   | सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गभ्यः | \$    | 4       |
| सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु   | 99     | 9.60                 | सूतानामश्वसारध्यम्          | 30    | ४७      |
| सा चेदक्षतयोनिः स्यात्      | 9      | 948                  | सूतो वैदेहकथेव              | 90    | २ ६     |
| सामध्वनातृग्यजुषी           | ¥      | 923                  | सूत्रकार्पासकिण्वानाम्      | 6     | ३२६     |
| सामन्ताञ्चेनमृषा ह्युः      | 6      | 363                  | सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः     | 3     | २२१     |
| सामन्तानामभावे तु           | 4      | २५९                  | सेनापैतिबलाध्यक्षी          | v     | 968     |
| सामादीनामुपायानाम्          | v      | 908                  | सेवेतेमांस्तु नियमान्       | 3     | 904     |
| सामा दानेन भेदेन            | 9      | 996                  | सेनापत्यं च राज्यं च        | 93    | 900     |
| सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य     | ₹      | 939                  | सोऽमिर्भवति वायुश्व         | V     | 9       |
| सारासारं च भाण्डानाम्       | \$     | ३३१                  | सोदर्या विभजेरस्तम्         | \$    | २१२     |
| सार्ववर्णिकमन्नाद्यम्       | 3      | 388                  | सोऽतुभूयासुर्गीदकान्        | 98    | 96      |
| सावित्राञ्छान्तिहोमांश्व    | ૪      | 940                  | सोऽभिष्याय शरीरात्स्वात्    | . , 9 | •       |
| सावित्री च जपेत्रिलम्       | 99     | 884                  | सोमपा नाम वित्राणाम्        | 1     | 980     |
| सावित्रीमात्रसारोऽपि        | 3      | 996                  | सोमपास्तु कवेः पुत्राः      | 1     | 986     |

| सोमविक्रयिणे वि                          | संधारि | स्वत्ये      |
|--|--------|--------------|
|  | अध्या. | <b>क्षो.</b> |
| सोमविकयिणे विष्ठा                        | ३      | 059          |
| सोमाश्यकानिलेन्द्राणाम्                  | 4      | 98           |
| सोमारीदं तु बह्वेना                      | 99     | ३५४          |
| सोऽसहायेन मूढेन                          | હ      | ३०           |
| सोऽस्य कार्याणि संपर्वेत्                |        | 90           |
| <b>र</b> कन्धेनादाय मुसलम्               | E      | ३१५          |
| स्तेनगायकयोश्वान्नम्                     | ४      | 290          |
| स्त्रियं स्पृशेददेशे यः                  | C      | ३५८          |
| स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तम्             | 9      | 986          |
| स्त्रियां तु रोचमानायाम्                 | 3      | €.5          |
| ब्रियाप्यसंभवे कार्यम्                   | Ġ      | ૭૦           |
| स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन                  | 93     | ६९           |
| स्त्रियो रज्ञान्यथो विद्या               | २      | २४०          |
| स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः              | E      | ६८           |
| स्त्रीणां सुखोद्यमऋूरम्                  | २      | 33           |
| स्त्राणामसंस्कृताना                      | 4      | ७२           |
| न्नीधनानि तु ये मोहात्                   | 3      | ५२           |
| स्त्रीधर्मयोगं तापस्यम्                  | 9      | 998          |
| स्त्रीपुंधर्मो विभागस्य                  | 6      | ৬            |
| <b>ब्रो</b> बालोन्मत्तरृद्धाना <b>म्</b> | 9      | २३०          |
| स्त्रीध्वनन्तरजातासु                     | 90     | ٠, ۴         |
| स्थलजीदकशाकानि                           | Ę      | 9 }          |
| स्थानासनाभ्यां विहरेत्                   | 99     | 258          |
| स्थावराः कृमिकीटाश्च                     | 93     | . ४३         |
| स्प्रशन्ति बिन्दवः पादौ                  | 4      | 983          |
| स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिराम्             | 99     | 386          |
| स्पृष्ट्वैतान्शुचिनिंखम्                 | * 8    | 385          |
| स्यन्दनाधैः समे युच्येत्                 | ঙ      | 988          |
| स्यात्साह्सं त्वन्वयवत्।                 | ۵      | ३३२          |
| स्रोतसां भेदको यश्व 🏃                    | 3      | 963          |
| सक्षेत्रे पंस्कृतायां तु                 | 9      | १६६          |
| खधर्मी विजयस्तस्य                        | 90     | 998          |
| खधाऽस्त्वित्वेव तं ब्रूयुः               | ₹      | 343          |

| स्वग्ने सिक्त्वा — • हन्ति   | हंसं  | वरी   |
|------------------------------|-------|-------|
| <b>\</b>                     | घ्या. | न्हो. |
| खप्रे सिक्तवा ब्रह्मचारी     | 7     | 969   |
| स्त्रभाव एष नारीणां          | ₹.    | 293   |
| स्त्रभावेनैव यहूयुः 🛴        | 6     | 66    |
| खमीसं परमांसेन               | -     | 48    |
| खमेव बाह्मणो भुद्धे          |       | 909   |
| खयं वा शिश्रवृषणी            | 99    | 908   |
| ख्यंकृतश्च कार्यार्थम्       | V3    | 368   |
| खयमेव तु यो द्यात्           | 4     | 964   |
| खराष्ट्रे न्यायवृत्तः        | ٠     | ₹₹.   |
| खर्गार्थमुगरार्थं वा         | 30    | 927   |
| खवीर्याद्राजवीर्याच          | 99    | 32    |
| खां प्रसृतिं चरित्रं च       | 8     | v     |
| <b>खादानाद्व</b> णसंसर्गीत्  | ં     | १७२   |
| स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्रये  | ₹     | २३२   |
| स्वाध्याये निलयुक्तः स्वात्  | 3     | بهاو  |
| खाध्याये निलयुक्तः स्यात्    | ξ     | 6     |
| खाध्यायेन वतेहोंमैः          | २     | ्२८   |
| खाध्यायेनाचयेदषीन्           | ₹     | 63    |
| खानि कर्माणि कुर्वाणाम्      | c     | 82    |
| खाम्यमाली पुरं राष्ट्रम्     | 9     | २९४   |
| खायंभुवसास्य मनोः            | 3     | €3    |
| खायंभुवाचाः सप्तेते          | 9     | ६३    |
| खारोचिषश्चोत्तमस्य           | 3     | ६२    |
| खेदजं दंशमशकम्               | 3     | 84    |
| खेभ्यः खेभ्यस्तु कर्मभ्यः    | 93    | .00   |
| स्वभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः | \$    | 996   |
| स्त्रे स्त्रे निविष्टः       | 9     | 34    |
| <b>E</b> .                   |       |       |
| हत्वा गर्भमविज्ञातम्         | 99    | 60    |
| इत्वा छित्त्वा च भित्त्वा    | ¥     | 33    |
| हत्वा लोकानपीमास्त्रीन्      | 99    | 289   |
| हत्वा हंसं बलाकां च          | 99    | 934   |

| हन्ति जातान हिस                         | विद्विन | ध्ययो | हिरण्यभूमिमश्चं —               | होमे   | पंदाने<br>~~~~ |
|---|---------|-------|---------------------------------|--------|----------------|
| *************************************** | अध्या.  |       |                                 | अध्या. | શ્હો.          |
| हन्ति जातानजातांश्र                     | 6       | ९९    | हिरण्यभूमिमश्वं गाम्            | ¥      | 308            |
| हरेतत्र नियुक्तायाम्                    | 9       | 984   | हिरण्यमायुरनं च                 | ٧      | 968            |
| हु भेये द्वाह्मणां स्तुष्टः             | Ę       | २३३   | हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या          | v      | २०८            |
| इवियं चिररात्रीय                        | ¥       | २६६   | हीनकियं निष्पुरुषम्             | 3      | ø              |
| ह्विष्पान्तीयमभ्यस्य                    | 99      | २५१   | हीनजातिस्त्रियं मोहात्          | ¥      | 94             |
| हृ विष्यभुग्वाऽनुसरेत्                  | 99      | ৩৩    | हीनाङ्गानतिरिक्ता <b>ङ्गान्</b> | ጸ      | 383            |
| हस्तिगोश्वोष्ट्रदमकः                    | 3       | 9 ६२  | हीनाञ्चवस्रवेषः स्यात्          | 3      | 188            |
| हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च                    | 93      | ४३    | हुंकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा      | 99     | २०४            |
| हिंसा भवन्ति कव्यादाः                   | 93      | 48    | हुत्वामी विधिवद्धोमान्          | 99     | 998            |
| हिसाहिसे मदुकूरे                        | 9       | २९    | हृद्राभिः पूयते विप्रः          | 2      | 48             |
| हिमवद्भिन्ध्ययोर्भध्यम्                 | २       | २१    | होमे प्रदाने भोज्ये च           | ₹      | २४०            |

इति मनुस्मृतिपद्यानुक्रमः समाप्तः।

## मन्वथेमुक्तावल्युद्धृत-ग्रन्थ-्ग्रन्थकुन्नामसूची ।

जैमिनिः अंगिराः (स्मृतिः) 949. ४,<u>३२</u>,३३,३५. तैत्तिरीयोपनिषद् आदिपुराणम् ३,४,९,२४४. ४४,२०७. दक्षः (स्पृतिः) १६१,२०५,२२२. आपस्तम्बः ४१,४६,६०,८३,११३, देवलः ( स्मृतिः ) ४२,११७,११८, 940,986,900. १२७,१२८,१६९,२०९,२२२. आभिधानिकाः (अमरः) १३८. आश्वलायनगृह्यसूत्रम् ४०,७०,७१, **धरणीधरः** 948. नारदः (स्पृतिः) २२४,२८९,२९५, १११,१२९,३३०,३३१,३६५. उशनाः (स्मृतिः) १२३,२७४, ३१६. निगमः ३५१. पराशरः (स्मृतिः) ऋग्वेद: ५,१४,२१२,३०९• पाणिनिः ऐतरैयोपनिषद् 4,0,90,94,96,80, 92. काल्यायनः (वार्तिकानि) ४५,४८,५२,५५,५९,६०, ξo, 336.349. ६८,६९,७८,८१,८५,९०, ९३,९४,१०८,१११,१२६, कात्यायनः ( स्मृतिः ) १०३,२९२, २९६,३१७,३२१,३२८,३४६. 138,943,339,359, कौषीतकिरहस्यबाह्मणम् ३३२,३६७. 986. गणसूत्राणि 90. पुराणम् पैठीनसिः ४८,१४२,१५६. गृह्यवचनम् 89 गोभिलः (स्पृतिः) बह्नचगृह्यसूत्रम् 903,908,993. गीतमः (स्मृतिः ) ३६,४४,४६,४९, बहुचबाह्मणम् . ३६५. बादरायणः (व्यासः) ४,६,११,२४. ७८,८९,९५,११०,११२,१४४, बौधायनः ७०,२२१. ने प्रपान है पे, २११, २२३, २२५, बृहदोरण्यकोपनिषद् १८,४६,२४४. *ः २९६,३२८,३४९,३५६,३६४,* बृहस्पतिः (स्मृतिः) १९५,२०९. ₹८४. ३०२,३१७,३२६,३७५,३८३, छन्दोगपरिशिष्टम् ४२,१८२,१९४. छान्दोग्यबाह्मणम् ब्रह्मपुराणम् 989. छान्दोग्योपनिषद् ५,६,७,३३,१८९. ब्रह्माण्डपुराणम् भगवद्गीता 281. भविष्यपुराणम् ३३,३५,३८,१३६. जयादिलः (टीकाकृत्) 909. ३२३. भोजदेवः जाबालिः १५९,१६९,२११. 936,304 मत्स्यपुराणम् जाबालोपनिषद् २३५.

33.

98.

वाजसनेयब्राह्मगम 9×9,320. मन्त्रः महाभारतम ٦. वायुप्राणम् व्यासः (स्मृतिः) मुण्डकोपनिषद् ८,२४१. मीमांसाभाष्यकारः ३०३. 60. मेधातिथ-मोविन्दराजी £,0,98, विधानम् २४,इं३,४२,५१,८२,८६,९६, विश्वरूप: 84, 84, 906, 958, 999, 942,993,924,930,938. 936,938,989,982,984, 960,969,962,964,908, ९०७,9५६,9७२. ं १८२,१८३,१८५,१८६,१९६, वैद्यकाः . २०३,२०९,२२३,२३५,२३६, २४४,२४५,२७४,२७७,२९०, २९५,२९७,३०५,३१४,३१५, शातातपः **\$23,386,349,304.** शौनकः योक्ष धर्मः ٤٩. यमुर्वेदः ३०८. युमाः ४०,९२३,१५८,६९९,२३०, 232. श्रवणम् . याश्वरुक्यः ४६,५५,५६,७३,८५, सांख्यकारिकाः **९५,9**9,4,93,4,969,962, ८- १९०,१९६,२०८,२११,२३८ २४१,२८०,२८४,२९५,३१४, 999. . 384,362. समन्तः क्रीगांसिः 998. सूत्रकारः वचनम 935,355. स्मृखन्तरम् बसिष्ठः (स्मृतिः) ४३,८६,१११, हारीतः (स्मृतिः) ३१,३४,८४, ११७,१२०,२१२,२३२,३५६, ¿५,१२४,१५०,१९४,१**९**६, २०७,२२०,२६८, 344

१३८,१५३. ८३,८६,११३. 998. 968,206. विष्णुः (समृतिः) ७०,१४०,२०५, २०६,२१३,२१६,३४०. विष्णुपुराणम् २,२१,२२,४०,५३. शंख लिखितौ (समृतिः) २११,२३४. श्वः ३९,१३३,१४०,२२०. 904. 68. श्रुतिः ११,१३,२४,३६,१०१,१२०, ~12x,444,44,4x,4x4,444, २६४,२८६,३०५,३०८,३८२. **३४२.** ١. सिद्धान्तकौमुदी (परिशिष्टम्) ७,३०, 200.

३७२.

988.

982.